

DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj)

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER'S No	DUE DATE	SIGNATURE

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

१९५



विद्वच्चूडामणिश्रीशङ्करमिश्रविरचितः

वैशेषिकसूत्रोपस्कारः

‘प्रकाशिका’ हिन्दीव्याख्योपेतः

व्याख्याकारः

आचार्य दुण्डिराज शास्त्री

सम्पादकः

श्री नारायण मिश्रः

काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालये संस्कृत-प्राध्यापकः



चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

१९६६

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविनायक प्रेस, वाराणसी

संस्करण : प्रथम, वि० संवत् २०२६

मूल्य : २०-००

© चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस

गोपाल मन्दिर रोड,

पो० बा० ८, वाराणसी-१ (भारतवर्ष)

फोन : ६३१४५

प्रधान शाखा

चौखम्बा विद्याभवन

चारक, पो० बा० ६६, वाराणसी-१

फोन : ६३०७६

THE
KASHI, SANSKRIT SERIES
195
१९५

VAISEṢIKASŪTROPASKARA

OF
ŚRĪŚAṆKARAMIŚRA

with
The 'Prakāśikā' Hindi Commentary

By
ĀCĀRYA DHUNḌHIRĀJASĀSTRĪ

Edited by
ŚRĪ NĀRĀYAṆA MIŚRA
Lecturer in Sanskrit, B. H. U., VARANASI.



THE
CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

VARANASI-1

1969

© The Chowkhamba Sanskrit Series Office

Gopal Mandir Lane,

P. O. Chowkhamba, Post. Box 8,

Varanasi-1 (India)

1969

Phone : 63145

Second Edition

1969

Price . Rs 20-00

Also can be had of

THE CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

Publishers and Oriental Book-Sellers

Chowk, Post Box 69, Varanasi-1 (India)

Phone : 63076

प्रस्तावना

वैशेषिक दर्शन तथा इसके प्रतिष्ठापक

चिर-काल से इस भारत भूमि में प्रवाहित होनेवाली दार्शनिक धाराओं की अन्यतर द्वैत धारा का ही एक अङ्ग वैशेषिक दर्शन भी है। इस दर्शन को क्रमबद्ध स्वरूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत करनेवाले महर्षि को 'कणाद' 'कारण', 'उलूक', 'औलूक्य', 'औलूक' तथा 'वैलूक' भी कहा जाता है।

वैशेषिक शब्द का अर्थ

यद्यपि इस दर्शन के प्रतिष्ठापक के विभिन्न नामों के आधार पर इस दर्शन के भी 'कणाद दर्शन' आदि अनेक नाम उपलब्ध हैं तथापि सबसे प्रसिद्ध नाम है 'वैशेषिक दर्शन'। इसके इस नामकरण के विभिन्न आधार विभिन्न व्यक्तियों द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं जिनका उल्लेख मैंने अपने अन्य ग्रन्थ—'वैशेषिक दर्शन : एक अध्ययन' के प्रथम अध्याय (उपोदात्त) के ६—७ पृष्ठों पर किया है। मेरी दृष्टि में 'वैशेषिक' नामकरण के मूलभूत 'विशेष' शब्द का अर्थ है 'व्यवच्छेदक'। इस दृष्टि से 'विशेष' शब्द की व्युत्पत्ति यह हो सकती है :—विशिष्यते = सर्वतो व्यवच्छिद्यते, येन स विशेषः। व्यवच्छेदकता साधर्म्य (समान धर्म) तथा वैधर्म्य (विरुद्ध धर्म) की अधिक युक्तिसङ्गत है। अतः 'वैशेषिक' शब्द की निम्नलिखित दो व्याख्याएँ हो सकती हैं :—

(क) विशेषाभ्याम् (चतुर्थी-द्विवचने) = व्यवच्छेदकाभ्याम् साधर्म्यवैधर्म्याभ्याम् भवतीति वैशेषिकं दर्शनम्, वैशेषिको दार्शनिकः,

(ख) विशेषाभ्याम् (तृतीया-द्विवचने) = व्यवच्छेदकाभ्यां व्यवहरतीति वैशेषिकं दर्शनम्, वैशेषिको दार्शनिकः।

वैशेषिकों की धार्मिक निष्ठा

प्रशास्तदेवाचार्य के 'पदार्थधर्मसंग्रह' के अन्तिम श्लोक से यह सिद्ध होता है कि महर्षि कणाद को महाेश्वर की कृपा से ही पदार्थतत्त्वज्ञान का अधिगम हुआ था। 'व्योमवती', 'किरणावली' तथा 'न्यायभूषण' में भी इस बात का समर्थन किया गया है। इस दृष्टि से वैशेषिकों को माहेश्वर कहा जा सकता है।

महेश्वर शब्द का प्रयोग साधारणतः शिव के लिए होता है। पशुपति शब्द भी शिव शब्द का पर्याय ही है।^१ इस दृष्टि से वैशेषिकों को माहेश्वर कहने का अर्थ शैव भी हो

१. द्रष्टव्य—वैशेषिक दर्शन : एक अध्ययन, पृ० ४—५।

२. व्योमवती, पृ० १९।

३. किरणावली, पृ० ४ (काशी)।

४. न्यायभूषण, पृ० १६३ (काशी)।

५. शांभुरीशः पशुपतिः शिवः श्ली महेश्वरः। अमरकोशः।

सकता है और पाशुपत भी। पद्मदर्शनसमुच्चय^१ आदि के अनुसार वैशेषिकों को इसीलिये यथास्थल शैव तथा पाशुपत भी कहा गया है।

किन्तु कुछ लोग आगमशास्त्र के आधार पर शिव तथा पशुपति में भेद मानकर उपर्युक्त मद्देखर शब्द को पशुपति का पर्याय मानते हैं और इस आधार पर वैशेषिकों को पाशुपत एवम् नैयायिकों को शैव मानने के पक्ष^२ में हैं।

‘न्यायकण्ठली’ की टीका में राजशेखर ने कणाद के आराध्य देव के रूप में ईश्वर को घतलाया है। परन्तु यह निश्चय करना सम्प्रति मेरे लिए कठिन है कि राजशेखर का ईश्वर शब्द शिवपर्याय है या पशुपतिपर्याय। ‘संक्षेपशारीरक’ में कणाद के आराध्य देव को ‘वृषभध्वज’ शब्द से अभिहित किया गया है।

ऐसी विषम परिस्थिति में यह निर्णय करना सम्भव नहीं है कि शिव तथा पशुपति में आगमशास्त्रीय भेद वैशेषिकों को मान्य था या नहीं, एवम् ये शैव थे या पाशुपत।

वैशेषिक सूत्र का स्वरूप तथा समय

वै० सू० की मौलिकता के विषय में अब तक मनीषियों की सम्प्रतिपत्ति नहीं हो सकी है। कुछ लोग सम्प्रति उपलब्धमान वै० सू० में कुछ सूत्रों को मौलिक तथा कुछ सूत्रों को उत्तरकाल में मद्धिवेशित^३ मानते हैं। सम्प्रति जो वैशेषिक सूत्र की तीन प्राचीन टीकाएँ उपलब्ध हैं—चन्द्रानन्द वृत्ति, मिथिला विद्यापीठ वृत्ति तथा उपस्कार, इनमें उल्लिखित सूत्रों के स्वरूप तथा संख्या में पर्याप्त मनभेद है। प्राचीन ग्रन्थों में उद्धृत वै० सू० की तुलना भी संशय में ही पर्यवस्य हो जाती है।

अतएव मौलिकता के निश्चय के बिना समय का निश्चय करना कठिन है। तथापि साधारणतः ई० १५० तृतीय-चतुर्थ शतक में वै० सू० की रचना मानी जा सकती है। विस्तृत विवरण के लिए *Primer of Indian Logic (Introduction)*, PP. IX—XX द्रष्टव्य है।

वैशेषिक सूत्र की व्याख्याएँ

वै० सू० की निम्नलिखित (किन्तु सम्प्रति अनुपलब्ध) प्राचीन व्याख्याएँ थीं—

(१) वारण^४, (२) ग्रामस्कृत व्याख्या, (३) रावणभाष्य, (४) कटन्दी,

१. मणिमद्रीयवृत्ति—का० ३, १३, ५९।

२. भारतीय दर्शन (म० म० उमेश मिश्र), पृ० २३८।

३. मतिमता प्रकृतो वृषभध्वज कणमुयादिमुनिप्रवरप्रभु ॥ संक्षेपशारीरक ३।२६४।

४. Bodas—Introduction to the तर्कसंग्रह, PP. 33-34.

५. Prof. Thakur—Introduction to the Vaisheshika Sutra, (Baroda—1961) PP. 16-21.

६. यह वै० सू० पर एक वार्त्तिक रहा होगा। इस पर एक ‘भाष्य’ तथा इन दोनों पर प्रदानमति की एक टीका का भी निर्माण हुआ था। द्रष्टव्य—

Prof. Thakur—Introduction to the वै० सू० (Baroda), PP. 14-15.

(५) आत्रेयभाष्य, (६) भाष्य, (७) भारद्वाज वृत्ति, (८) चन्द्रानन्द द्वारा उद्धृत वृत्ति, (९) शङ्कर मिश्र द्वारा उल्लिखित वृत्ति।

‘उपस्कार’ से प्राचीन वै० सू० की व्याख्याओं के नाम निम्नलिखित हैं :—

(१) कणादसूत्र निबन्ध^१ (अथवा वादीन्द्रवार्तिक), (२) चन्द्रानन्द वृत्ति^२, (३) मिथिला विद्यापीठ^३ वृत्ति।

‘उपस्कार’ से परवर्ती संस्कृत व्याख्याएँ (प्रकाशित) तीन हैं :—

(१) विवृति (जयनारायण), (२) चन्द्रकान्त भाष्य, (३) वैदिक वृत्ति^४।

उपस्कारकार आचार्य शङ्कर मिश्र

शङ्कर मिश्र का वंश पारिचय

मिथिला की ‘पञ्जी’^५ से यह ज्ञात होता है कि मिथिला में एक अत्यन्त प्राचीन उच्चन्तरीय ब्राह्मण वंश ‘सीहसम’ नाम से प्रसिद्ध था। इस वंश के बीजीपुरुष का नाम था हलायुध मिश्र। हलायुध मिश्र के वंश में (वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र) एक पं० सुरेश्वर मिश्र हुए। पं० सुरेश्वर मिश्र को पुरस्कार के रूप में एक ग्राम मिला था। पं० सुरेश्वर मिश्र के दो सोदर भ्राता थे जिनमें एक थे उनके अग्रज और दूसरे थे उनके अनुज। उनके अग्रज भ्राता का नाम था हलेस्वर मिश्र और अनुज का जीवेश्वर मिश्र। यतः तीनों सोदर भ्राता पुरस्कार के रूप में पं० सुरेश्वर मिश्र को प्रदत्त ग्राम में ही रहने लगे थे। अतः एव उस ग्राम (पुर) का नाम ‘सोदरपुर’ पड़ गया था। पश्चात् उनके वंश की ‘सोदर-पुर वंश’ के नाम से प्रसिद्धि हो गई।

पं० सुरेश्वर मिश्र के पुत्र हुए म० म० पं० विरवनाथ मिश्र। विरवनाथ मिश्र की द्वितीय पत्नी से प्रथम पुत्र हुए रविनाथ मिश्र। रविनाथ मिश्र का विवाह

१. यह ‘भाष्य’ ‘रावणभाष्य’ से या ‘आत्रेयभाष्य’ से भिन्न है या अभिन्न यह सन्दिग्ध है।

२. ‘भारद्वाज वृत्ति’, शङ्कर मिश्र द्वारा उल्लिखित ‘वृत्ति’ तथा चन्द्रानन्द द्वारा निर्दिष्ट ‘वृत्ति’ अभिन्न हैं या भिन्न यह विषय भी सन्दिग्ध ही है।

३. यह व्याख्या केवल द्वितीयाध्याय तक हस्तलेख में उपलब्ध है। इसका प्रकाशन गुरुवर प्राध्यापक श्री अनन्तलाल टाकुर जी के सम्पादकत्व में निकट भविष्य में ही होने वाला है।

४. यह ‘वृत्ति’ Gaekwad's Oriental Series NO. 136 में १९६१ ई० में प्रकाशित हो चुकी है।

५. यह वृत्ति ‘कणादसूत्रनिबन्ध’ का ही संहित रूप है—ऐसा माना जाता है।

६. प्रशस्तपाद के ‘पदार्थधर्मसंग्रह’ की वै० सू० का भाष्य मानना उचित नहीं है। देखिए—वैदिक दर्शन : एक अध्ययन, पृ० १४-१७।

७. मिथिला में राजा हरिसिंह देव के समय से मैथिल ब्राह्मणों की वंशावली को लिखित रूप में सरलित करने की प्रथा का प्रारम्भ हुआ था और वह प्रथा आज भी अक्षुण्ण है। इसी वंशावली के लेख को ‘पञ्जी’ कहा जाता है।

८. म० म० विरवनाथ मिश्र के ही (प्रथम पत्नी से) एक सुपुत्र पं० रमानाथ मिश्र

माण्डर वंश के घटेरवर' उपाध्याय की पुत्री से हुआ था। रविनाथ मिश्र के सुपुत्र हुए प० भवनाथ मिश्र।

प० भवनाथ मिश्र मीमांसाशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् थे। इनकी असाधारण प्रतिभा का परिचय शङ्कर मिश्र के कथन से भी पदे पदे मिलता है।

प० भवनाथ मिश्र की आर्थिक स्थिति बहुत दयनीय थी। किन्तु 'विकारहेतोः सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीरा' यह सूक्ति प० भवनाथ मिश्र के लिए अचरितः मानदण्ड का काम करती थी। वे कहीं याचना करने के लिए नहीं जाते थे। अपने घर ही शिष्यों के अध्ययनाध्यापन में हुई समाधि में वे अपनी गरीबी को भूल चुके थे। जिस प्रकार प० भवनाथ मिश्र अपनी विद्या तथा धीरता के कारण साक्षात् शङ्करतुल्य थे उसी प्रकार उनकी धर्मपत्नी 'भवानी' भी साक्षात् जगदम्बा भवानी का ही अवतार थीं। 'भवानी' के पावन सतीत्व के प्रकाश में 'भवनाथ' का वह अनन्यसाधारण निर्मल बुद्धि-वैभव तथा धैर्य ही प्रस्फुटित हो पाता था, उनकी समल अर्थहीनता नहीं। उक्त याचनाविमुखता के कारण ही प० भवनाथ मिश्र को लोग 'अयाधी' कहने लगा गए थे।

प० भवनाथ मिश्र का जीवन चिरकाल तक अध्ययनाध्यापन में ही बीत चुका था। किन्तु तब तक उन्हें कोई सन्तान नहीं हुई थी। अतः अपनी धर्मपत्नी 'भवानी' के साथ वे वैद्यनाथधाम (वर्तमान 'देवघर') जाकर भगवान् वैद्यनाथ की आराधना में लग गए। उन दोनों की आराधना से सन्तुष्ट भगवान् शङ्कर ने स्वप्न में उनसे कहा— 'मै स्वयम् तुम्हारे पुत्र के रूप में जन्म लूँगा'। स्वप्न में अपनी तप-मिद्धि का निश्चय कर वे अपने घर लौट गए। कुछ दिन बाद 'भवानी' के गर्भ से साक्षात् भगवान् शङ्कर ने ही जन्म लिया और पूर्ववर के अनुसार पिता प० भवनाथ मिश्र ने अपने सुपुत्र का नाम भी 'शङ्कर' रखा।

हुए। रमानाथ मिश्र के पुत्र का नाम था बराहनाथ मिश्र। बराहनाथ मिश्र के (द्वितीय) पुत्र हुए गुणे मिश्र और उन्हीं के सुपुत्र तत्त्वचिन्तामण्यालोकनिर्माता जयदेव (पद्मघर) मिश्र थे।

१ इस प्रसङ्ग में यह ज्ञातव्य है कि म० म० चिरवनाथ मिश्र की प्रथम पत्नी से उत्पन्न पुत्री से घटेरवरोपाध्याय के प्रथम पुत्र पशुपति उपाध्याय का पाणिग्रहण सम्पन्न हुआ था। पशुपति उपाध्याय के द्वितीय पुत्र शिवपति उपाध्याय के ही सुपुत्र थे हमारे प्रसिद्ध न्यायाचार्य यज्ञपति उपाध्याय। इस प्रकार म० म० श्री विश्वनाथ के (द्वितीयपत्नीजन्म-प्रथमपुत्रपरम्परा में) प्रपौत्र थे शङ्कर मिश्र, (प्रथमपत्नीजन्मप्रथमपुत्रपरम्परा में) बृद्ध प्रपौत्र थे पद्मघर जयदेव मिश्र और (प्रथमपत्नीजन्मपुत्रीपरम्परा में) प्रद्वीहित्र थे यज्ञपति उपाध्याय। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि शङ्कर मिश्र के वंश में शास्त्र-विशेषतः न्यायवैशेषिक शास्त्र—की कितनी सख्ति थी।

मिथिला के ब्राह्मण वंशों में शङ्कर मिश्र के वंश में जितने महामहोपाध्याय हुए हैं उतने अन्य किसी भी सम्प्रदाय के किसी वंश में नहीं। इस रहस्य का परिज्ञान मिथिला की 'पञ्जी' के अवलोकन से स्पष्टरूप में हो जाता है।

(प्रस्तावनालेखक को भी शङ्कर मिश्र के वंशज होने का सौभाग्य सम्प्राप्त है)।

ऐसी प्रसिद्धि है कि जब सती 'भवानी' प्रसववेदना का अनुभव कर रही थी उस समय चर्मकार का दोल आघात के बिना ही बजने लग गया था। उस स्थिति को देखकर चर्मकार अपनी पत्नी से किसी महापुरुष के जन्म के शुभाचसर की चर्चा कर ही रहा था कि प्रसूतिगृह में नवजात शिशु 'शङ्कर' के संस्कार के लिए चमाइन को बुलाने के लिए एक व्यक्ति पहुँच गया।

आह्वान के बाद चमाइन ने शिशु 'शङ्कर' का यथाप्रचलन संस्कार किया। किन्तु 'भवानी' अपनी निर्धनता के कारण उस मङ्गलमय अवसर पर भी चमाइन को कुछ दे नहीं पायीं। उन्होंने प्रतिज्ञा की कि उस शिशु 'शंकर' की प्रथमाजित सारी सम्पत्ति उस चमाइन को ही दे दी जाएगी।

शंकर का अवतार शिशु 'शंकर' शनैः शनैः बढ़ने लगा। पाँच वर्ष की उम्र भी नहीं पूरी हो सकी थी किन्तु पिता के प्रभाव से वह प्रणिभावात् बालक पर्याप्त प्रौढ़ हो चुका था।

एक दिन की बात है कि मिथिला के एक राजा (प्रायशः शिवसिंह¹) अपनी यात्रा के प्रसङ्ग में मगध्या हो जाने के कारण पंच भवनाथ मिश्र के घर के पास ही रुक गए। राजा ने शङ्कर मिश्र को अन्यान्य समवयस्क बालकों के साथ खेलते देखा। 'न हि तादृशा आकृतिविशेषा गुणविरहिणो भवन्ति'। राजा ने 'शंकर' की ओजस्विता पर आकृष्ट होकर शंकर मिश्र को अपने पास बुलाया और उस ओजस्वी शिशु से नाम पूछकर अन्त में उसके अध्ययन के विषय में भी पूछा। वार्ता के क्रम में 'शंकर' ने राजा से पूछा—'आपको मैं पुराना श्लोक सुनाऊँ या स्वनिर्मित?' उस पर आश्चर्यान्वित राजा ने 'शंकर' से कहा—'क्या आप स्वयम् भी श्लोक निर्माण कर लेते हैं?' उस पर 'शंकर' की सरस्वती निम्नलिखितरूप में प्रस्फुरित हो उठी—

बालोहं जगदानन्द न मे बाला सरस्वती ।

अपूर्णे वज्रमे वर्णे वर्णयामि जगत्प्रपन्न ॥

श्लोकश्रवण से अत्यन्त मुग्ध राजा ने 'शङ्कर' से अन्य श्लोक सुनाने को भी कहा। 'शङ्कर' ने अन्य श्लोक भी सुनाया जिसका उत्तरार्ध वैदिक मन्त्र है और पूर्वार्ध स्वीय रचना :—

चलितश्चकितरिद्विज्ञा प्रयागे तव भूपते ।

सहस्रशीर्षा पुरयः सहस्राच-सहस्रपात् ॥

'शङ्कर' की प्रतिभा पर राजा अत्यन्त प्रसन्न हो उठे और अपने कोष में उतनी स्वर्ण-मुद्रा लेने की अनुमति दे दी जितनी स्वर्ण मुद्रा वह शिशु 'शङ्कर' एक बार में ले आ सके। राजा की अनुमति के बाद 'शङ्कर' राजकीय कोष से लगभग ५०० सुवर्ण मुद्रा लेकर अपने घर लौट ही रहा था कि उसके पिता पंच भवनाथ मिश्र को, जो उस समय बाढ़ प्रकोष्ठ में अध्ययन में लगे थे, कुछ विशेष परिस्थिति का आभास मिल गया। अध्ययन की उपेक्षा कर उन बीजों की ओर उनके लिए आकृष्ट हो जाना सम्भावित न हो सका। उन्होंने कमरे से ही 'शंकर' को बाहर ही तब तक रुके रहने का आदेश देकर अपनी धर्मपत्नी से उसकी जाँच करने को कहा। जब पतिव्रता 'भवानी' बाहर आयीं

तो उन्होंने लगभग ५०० स्वर्णमुद्राओं से समन्वित अपने 'शंकर' को देखा। उस पर 'शंकर' को वहीं रुके रहने का आदेश देकर 'भवानी' ने अपने पतिदेव को भी वहीं बुलाया और मारी चीजें उन्हें दिखलायीं। तत्पश्चात् अपने पति की अनुमति पाकर 'भवानी' ने उस चमाइन को अपनी पूर्वप्रतिज्ञा के अनुसार बुलवाया और सारी मुद्राएँ उसे ही दे दीं। यद्यपि वह चमाइन मुद्राएँ लेना नहीं चाहती थी तथापि बहुत समझाने-बुझाने के बाद उसने लेना स्वीकार कर लिया। शंकर मिश्र की कीर्ति के साथ अपनी भी कीर्ति को अमर करने की इच्छा से उस चमाइन ने एक पोखरा शंकर मिश्र के घर के पास ही खुदवाया जो आज भी दरभंगा जिले के सरिसव ग्राम में शंकर मिश्र के निवास-स्थान के पास 'चमाइन पोखरा' के नाम से प्रसिद्ध है।

किन्तु प० भवनाथ मिश्र को फिर भी शान्ति न मिली। 'शंकर' की याचकता तथा दान-प्राप्त्युक्तता उनकी अयाचक मनोवृत्ति के लिए सर्वथा प्रतिवृत्त सिद्ध हुई। पुण्य हृदय से प० भवनाथ मिश्र निम्नलिखित श्लोक पढ़ते हुए घर बाहर करने लगे:—

अधीतमध्यापितमजित यज्ञो न शोचनीय किमपीह भूतले।

इत पर किं भवनाथशर्मण !

परन्तु बार बार श्लोक पढ़ने के बाद भी उनकी बुद्धि में श्लोक का चतुर्थ चरण नहीं आ रहा था। अब 'शंकर' ने कई बार अपने पिता के मुख से श्लोक के तीन ही चरण सुने तो अन्त में उसने चतुर्थ चरण की पूर्ति कर दी—

मनो मनोहारिणि जाह्नवीतटे ॥ १ ॥

यद्यपि अपने पुत्र की प्रतिभा पर उन्हें बहुत प्रमोद हुआ तथापि उनकी अयाचक मनोवृत्ति ने उन्हें घर से अलग हो जाने के लिए ही बाध्य कर दिया। कहा जाता है कि प० भवनाथ मिश्र ने अन्त में अपने निवास से कुछ दूर अपनी एक कुटी बनवा ली और वहीं अपने जीवन के अवशिष्ट दिनों का अन्त कर ब्रह्मसामुद्र्य की संप्राप्ति उन्होंने की।

मैथिलकुलारकार भारतविभूति आचार्य शंकर मिश्र के शास्त्रकाल का इतिवृत्त उपर्युक्त (किम्वदन्ती) रूप में ही प्रसिद्ध है।

शङ्कर मिश्र की शिक्षा-दीक्षा तथा विद्वत्ता

शंकर मिश्र ने सभी शास्त्रों का अध्ययन अपने पिता जी से ही किया था। उनके पिता प० भवनाथ मिश्र केवल भीमासाशास्त्र के ही नहीं अपितु अन्यान्य शास्त्रों के भी मर्मज्ञ विद्वान् थे। योग्य पिता की प्रतिभा ओजस्वी पुत्र की प्रतिभा के साथ मिलकर दूनी ही उठी।

१ तातादधीत्याखिलतन्त्रसारम्—'शब्दमणिमयूख' का प्रारम्भ-श्लोक। इससे अनिरिक्त, शंकर मिश्र ने विभिन्न शास्त्रों के अपने टीका-ग्रन्थों में निम्नलिखित श्लोक लिखा है जिससे इनके पिता के सर्वशास्त्रनिष्णातत्व का परिज्ञान होता है—

स्वभ्रातुर्जीवनायस्य व्याख्यामाख्यातवान् यत् ।

मत्पिता भवनाथो या तामिहालिम्बमुज्ज्वलाम् ॥

न्यायटीलावलीकण्ठाभरण, पृ० ८६४; आरम्भतत्त्वविवेकस्फुलता, पृ० ९४८ (वि० ६०), खण्डनटीका, पृ० ६३२।

अपने पिता के प्रति शंकर मिश्र की कितनी अटूट श्रद्धा थी उसका प्रमाण निम्न-लिखित दो श्लोकों में ही मिल जाता है —

(१) चिन्तामणेशिह गमीरतरेऽम्बुराजावाप्तापि कस्य तरणाय गतत्रपस्य ।
तीर्णो भया परमयं भवनाथसूक्तिपोनाथिरोहणतिरस्कृतमाध्वसेन' ॥

(२) या सूक्तिर्भवनाथवरत्रकमलाबुद्बुदावरी तत्कृतम्
सौभाग्य प्रतिपद्य शुद्धमतिभिः श्लाघापद लम्बिता ।

न्यस्ता सज्जनमानसे विजयतामापुष्पवन्तोदयं

ग्रन्थग्रन्थिविमोचनाय रचना वाचामिय शाकरी' ॥

शंकर मिश्र का पाण्डित्य सभी शास्त्रों में अप्रतिहत था । यद्यपि इनकी कृति मुख्यतः न्याय वैशेषिक शास्त्र से ही सम्बद्ध है तथापि अन्योन्य शास्त्रों में भी इनकी निपुणता का अपलाप नहीं किया जा सकता । 'खण्डनखण्डखाद्य' जैसे विचित्र ग्रन्थ पर भी इनकी लेखनी उन्नी प्रकार निर्बाध गति से चली है जिस प्रकार 'न्यायलीलावती' जैसे वैशेषिक-शास्त्र के छिद्रतम ग्रन्थ पर । यद्यपि 'खण्डनखण्डखाद्य' पर शंकर मिश्र ने प्राचीन तथा अर्वाचीन आचार्यों की बहुत-सी व्याख्याएँ हैं तथापि शंकर मिश्र की व्याख्या अनोखी है । अपने न्याय वैशेषिकशास्त्र के परिशीलन से सम्प्राप्त सूक्ष्मेविका के बल पर स्थल स्थल में खण्डनकार की तर्कपूर्ण आलोचना अद्यावधि पण्डितमण्डली की आकर्षणविन्दु रही है । यही कारण है कि प्रगल्भ^३ मिश्र जैसे प्रगल्भ विद्वान् को भी अपनी खण्डनटीका—'खण्डनदर्पण' (चौखम्बा) के प्रारम्भ में लिखना पड़ा है :—

श्रीमच्छंकरपर्यमानरचितोपायान् विलोड्यापि च ।

न्याय-वैशेषिकशास्त्र में तो इनके पाण्डित्य का यथायं वर्णन करना भी सम्भव नहीं है । कोई भी ऐसा महत्त्वपूर्ण न्याय-वैशेषिक का ग्रन्थ या व्याख्यान-ग्रन्थ नहीं है जिस पर आचार्य शंकर मिश्र की प्रतिभा का अप्रतिहत प्रकाश न पड़ा हो । जिस ग्रन्थ पर इनकी लेखनी चली है उस ग्रन्थ की अन्यान्य व्याख्या प्रायः^४ इनप्रभ एवम् उपेक्षित ही हो गई है ।

व्याख्या ग्रन्थों के अतिरिक्त न्याय वैशेषिकशास्त्र पर इनके कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ भी हैं जिनमें 'भेदरत्न' ('भेदप्रकाश') प्रमुख है । इस लघुकाय ग्रन्थ में अद्वैतवाद का इतना मार्मिक खण्डन किया गया है कि अद्वैतसम्प्रदाय के महान् आचार्य मधुसूदन सरस्वती को 'अद्वैतरत्नखण्डन' नाम का एक भेदरत्नखण्डनात्मक ग्रन्थ लिखना ही पड़ा । किन्तु 'रत्नेषु लुप्तेषु बहुध्वमत्यैरद्यापि रत्नाकर एव सिन्धु' ।

१. 'शन्दमणिमयूख' के अन्त में द्वितीय श्लोक ।

२. खण्डनखण्डखाद्यटीका, पृ० ४१६ ।

३. इनका वास्तविक नाम 'शुभङ्कर' था, क्योंकि केवलान्वयी अनुमान के व्याख्यान में तथा उपाधिवाद के अन्त में भी इन्होंने अपना नाम 'शुभङ्कर' ही बतलाया है । सम्भवतः वाक्यप्रागल्भ्य के कारण ही इन्हें 'प्रगल्भ' कहा जाने लगा था ।

—Dr. Mishra—History of Indian philosophy, Vol. II, P. 327.

४. किन्तु 'चिन्तामणिमयूख' को इस कथन का अपवाद माना जा सकता है ।

५. यह ग्रन्थ सरस्वती भवन, चाराणसी से १९३३ ई० में प्रकाशित हुआ है ।

दिदनाग तथा धर्मकीर्ति जैसे प्रचण्ड तार्किकों की प्रखर प्रतिभा से परिपूत बौद्धन्याय में आचार्य शङ्कर मिश्र के नैपुण्य का प्रमाण इनकी 'आत्मतत्त्वविवेक वक्ष्यलता' है। न्यायाचार्य उदयन के अर्थगम्भीर उत्तरपक्ष के माहामिष्यजन में इनकी समता के आधार पर यदि इन्हें नैयायिक मानना स्वाभाविक है तो पूर्वपक्षी बौद्धाचार्यों के विगूढाशय के प्रकाशन के आधार पर इन्हें बौद्धतार्किक मानना भी अस्वाभाविक न होगा।

पूर्वमीमांसा शास्त्र में इनके पाण्डित्य प्रकर्ष का परिज्ञान इनके विचित्र ग्रंथ 'वादि-विनोद' तथा 'आमोद' (न्यायकुसुमाञ्जलिष्याख्या) के अवलोकन से स्पष्टरूप में हो जाता है। 'शब्दमणिमयूख' के प्रारम्भ में इनके निम्नलिखित श्लोक—

तातादधीर्याखिलतन्त्रसारम् महार्णवादीन् बहुशो निरूप्य ।

श्रीशङ्करेणाचितशङ्करेण वितन्पते शब्दमणेर्मयूखः ॥

से भी इनके सर्वशास्त्रज्ञत्व के अवगम के साथ-साथ मीमांसा के प्रौढ़ पाण्डित्य का परिचय मिल जाता है, क्योंकि उक्त श्लोक में उल्लिखित 'महार्णव' वत्सेश्वर^१ का प्रमुख ग्रन्थ 'मीमांसामहार्णव' ही है। साथ ही, महान् मीमांसक पं० भवनाथ मिश्र के सुपुत्र एवम् शिष्य आचार्य शङ्कर मिश्र के मीमांसामर्मज्ञत्व में प्रमाण की विशेष आवश्यकता भी नहीं है।

आचार्य शङ्कर मिश्र के 'तातादधीर्याखिलतन्त्रसारम्' इस कथन की सार्थकता यदि संशेप में देखना हो तो हमें इनका 'वादिविनोद' देखना चाहिए। इस ग्रन्थ के विषय में इतना ही कहना पर्याप्त है—

लघुरपि बहुर्धनबहुभिन्तामनिरिच निबन्धोऽयम् ॥

सकलशास्त्रमूर्धन्य व्याकरणशास्त्र में आचार्य के पाण्डित्यप्रकर्ष में न्यायवैशेषिक, मीमांसा तथा व्याकरण की श्रिण्वेणी—'तत्त्वचिन्तामणि' के शब्दक्षण्ड—में इनका निमज्जन ही पर्याप्त प्रमाण है। 'न्यायकुसुमाञ्जलि' की व्याख्या 'आमोद' (५ स्तवक) तथा

१ यह 'महार्णव' 'वादिविनोद' पृ० ५३ में भी उल्लिखित है।

२ History of Navya Nyaya in Mithila के पृ० १३६ में 'महार्णव' के लेखक का नाम कुछ अशुद्ध Vatsesvara द्रष्टा है। लेखक का नाम वत्सेश्वर (Vatsesvara) है।

दृश्य—आलोक, पृ० १० (मिथिला विद्यापीठ, दरमङ्गा) तथा History of Navya-Nyaya in Mithila, P. 94

३ म० म० डॉ० उमेश मिश्र जी ने अपने History of Indian Philosophy, Vol. II के पृ० ३०८ में 'महार्णव' को एक अतिरिक्त ग्रन्थ मानने की सम्भावना व्यक्त की है। परन्तु 'महार्णव' को 'मीमांसामहार्णव' मानना ही अधिक उपयुक्त है, क्योंकि 'तत्त्वचिन्तामणि' की व्याख्या के लिए मणिकार गंगेश उपाध्याय की 'गुरुभिर्ज्ञात्वा गुरुणां मतम्' प्रतिज्ञा तथा ग्रन्थ में उसकी आद्यन्त वृत्ति के आधार पर व्याख्याकार में मीमांसा—प्राभाकर मीमांसा—का पाण्डित्य सर्वथा अपेक्षित है।

‘न्यायलीलावतीकण्ठाभरण’ में भी यत्र-तत्र इनके वैयाकरणत्व का स्पष्ट परिचय मिल ही जाता है।

किन्तु आचार्य शङ्कर मिश्र की लेखनी इन नीरस शास्त्रों तक ही नहीं अपि तु सरस काव्य-शास्त्र का भी निमज्जन करने में उदासीन नहीं रही। इस प्रसङ्ग में इनका निम्न-लिखित रसार्णवस्थ श्लोक द्रष्टव्य है :—

तर्कान्यासपरिग्रहान्तस्त्वान्तविग्रहान्तिहेतवे ।

ये श्लोका विहितास्तेषाम् संग्रहोऽयं विधीयते ॥^१

उपर्युक्त सचित्त विवरण से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि आचार्य शङ्कर मिश्र की प्रतिभा सर्वनोमद् थी। वस्तुतः प्रतिभा का अर्थ भी तो यही है। इसी अलौकिक प्रतिभा के कारण इनके विषय में निम्नलिखित श्लोक प्रसिद्ध है :—

शङ्करवाचस्पत्यो^२ शङ्करवाचस्पती मद्दशौ ।

पञ्चधरप्रतिपक्षी लक्ष्मीभूतो न च क्वापि ॥

शङ्कर मिश्र का समय

उपर्युक्त वशावली के आधार पर यह स्पष्ट है कि शङ्कर मिश्र पञ्चधर मिश्र से कुछ पूर्व-वर्त्ती तथा पञ्चपति उपाध्याय के सप्तसामयिक या ५-१० वर्ष पूर्ववर्त्ती थे। पञ्चधर मिश्र का समय १५ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध का अन्तिम भाग^३ माना गया है एवम् पञ्चपति उपाध्याय का समय १४५० ई० से पूर्व १४१०—२०^४ ई० के आस-पास है। अतः शङ्कर मिश्र का समय १४०० ई० या कुछ वर्ष बाद माना जा सकता है।

उक्त तिथि के समर्थन में यह भी ज्ञातव्य है कि वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय में शङ्कर मिश्रकृत खण्डनखण्डखाण्डीका की एक हस्तलिखित प्रति वर्त्तमान है। हस्तलेख का समय १५२६ सम्वत् (१४०३ ई०) है। श्रुवाय भग्निदर पुस्तकालय में भी शङ्कर मिश्र के ‘भेदप्रकाश’ का एक हस्तलेख विद्यमान है। यह १५१९ सम्वत् (१४९२ ई०) में काशी में शङ्कर मिश्र के जीवन-काल में ही लिखा गया था^५। इससे भी शङ्कर मिश्र का उक्त समय मानना स्वाभाविक है।

म० म० कुप्पूरचामी शास्त्री जयदेव मिश्र को १३०० ई० से^६ भी पूर्ववर्त्ती तथा शङ्कर मिश्र को १० वीं शताब्दी के उत्तरार्ध का^७ मानते हैं। परन्तु जयदेव मिश्र तथा शङ्कर मिश्र के वंशक्रम को ध्यान रखने पर उक्त मत सर्वथा अप्राप्य सिद्ध हो जाता है।

१. History of Indian Philosophy (Dr. Mishra), Vol. II के पृ० ३२४ में उद्धृत।

२. History of Navya-Nyaya in Mithula, PP. 124-25.

३. वही, पृ० १६३।

४. Dr. Mishra—History of Indian Philosophy, Vol. II, P. 324.

५. Primer of Indian Logic (Introduction), P. 38.

६. वही, पृ० ४०।

शङ्कर मिश्र की कृतियाँ -

शङ्कर मिश्र की निम्नलिखित कृतियाँ प्रमाणसिद्ध हैं -

(१) मयूख^१, (२) त्रिसूत्रीनिबन्ध^२ (न्यायसूत्र-१-३ पर उदयनाचार्य की उपटीका 'परिशुद्धि' की अक्षरानुसारिणी व्याख्या), (३) किरणावलीनिरुक्ति-प्रकाश^३, (४) भेदप्रकाश^४, (५) खण्डनखण्डनटीका^५, (६) वारिविनोद^६, (७)

१ 'वारिविनोद' (पृ० ५९), 'कणादरहस्य' (पृ० १०३), 'टीलावतीकण्ठाभरण' (पृ० ७३) तथा 'उपरकार' (३१११३, १७; ३१२११८, ७११२०, २६, ११२१११) आदि में शङ्कर मिश्र ने चिन्तामणटीका 'मयूख' का उल्लेख किया है। स्टेन (Stain) साहब ने Jammu Catalogue के पृ० १४४ में ह० ले० ग्रन्थ सख्या-१५३० के अन्तर्गत इसकी एक हस्तलिखित (अपूर्ण) प्रति का उल्लेख तथा विवरण प्रस्तुत किया है।

२. म. म. हरप्रसाद शास्त्री को इसका एक अपूर्ण हस्तलेख दिनाजपुर में मिला था। इसमें शङ्कर मिश्र की निम्नलिखित उक्ति बहुत ही महत्वपूर्ण है :-

प्रकाशदर्पणोद्योतकृद्भिर्व्याख्या कृतोऽभवत् ।

तथापि योजनानामात्रमुद्दिश्याय ममोद्यमः ॥

इस श्लोक में उल्लिखित 'प्रकाश' व्याख्या वर्धमान उपाध्याय की, 'दर्पण' व्याख्या घटेरवर उपाध्याय (शङ्कर मिश्र के पिता के मातामह) की एवम् 'उद्योत' व्याख्या दिवाकर उपाध्याय की रही।

दृष्टव्य—History of Navya-Nyaya in Mithila, P. 137.
History of Indian Philosophy, Vol. II, P. 309.

३ यह 'प्रकाश' व्याख्या उदयनाचार्य की 'किरणावली' पर थी। 'कणादरहस्य' (पृ० १००) में इसका संकेत मिलता है — 'किरणावलीनिरुक्तिप्रकाशे च कृतमुपाध्यायमेतत्'।

४. यह ग्रन्थ 'भेदरत्न' के नाम से सरस्वती भवन, वाराणसी से १९३३ ई० में प्रकाशित हो चुका है। म० म० डा० उमेश मिश्र जी का कथन है कि इसकी रचना प्रायशः खण्डनटीका के बाद आचार्य ने की थी (दृष्टव्य—History of Indian Philosophy, Vol. II, P. 390) परन्तु खण्डनटीका में 'भेदप्रकाश' का उल्लेख मिलने से ऐसा कहना उचित नहीं है —

विपश्चिन्तनधायमुदाहरो 'भेदप्रकाशो' (खण्डनटीका, पृ० १२५)।

५. यह टीका 'शङ्करी' के नाम से प्रसिद्ध है। यह टीका १८८८ ई० में लाजरस, वाराणसी से प्रकाशित हो चुकी है। सम्प्रति काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से तथा चौखम्बा संस्कृत कार्यालय से (हिन्दी अनुवाद के साथ) पुनः प्रकाशित हो रही है।

६ यह लघुकाय किन्तु अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ इलाहाबाद से १९१५ ई० में म० न० डॉ० गङ्गानाथ झा जी के सम्पादकत्व में प्रकाशित हो चुका है। इस ग्रन्थ के संहित वैषयिक विवरण के लिये 'म० म० डॉ० उमेश मिश्र जी का History of Indian Philosophy, (Vol. II, PP 310-19) भी दृष्टव्य है।

उपस्कार', (८) कणादरहस्य', (९) न्यायलीलावतीकृष्णभरण', (१०) आमतत्त्व-विवेककल्पलता', (१२) आमोद' (न्यायकुसुमाञ्जलिटीका)।

उपर्युक्त दार्शनिक ग्रन्थों के अतिरिक्त आचार्य शङ्कर मिश्र के कुछ काव्यग्रन्थ भी हैं :—

(१) गौरीदिगम्बर प्रहसन, (२) कृष्णविनोद नाटक, (३) मनोभवपरामव नाटक, रसाणव'।

उपस्कार

यद्यपि वै० सू० पर 'उपस्कार' से प्राचीन कई प्रामाणिक, संविष्ट एवम् विस्तृत व्याख्याएँ लिखी गईं तथापि शङ्कर मिश्र के समय तक एक 'वृत्ति'—जिसका उल्लेख 'उपस्कार' में अनेकशः किया गया है—से अतिरिक्त सभी व्याख्याएँ विनष्टप्राय हो चुकी थीं। यह तथ्य उपस्कार के निम्ननिर्दिष्ट श्लोक से प्रमाणित होता है—

१. इसका विवरण आगे किया जाएगा।

२. इसका प्रकाशन चौखम्बा संस्कृत कार्यालय से १९१७ में हो चुका है।

३. यह टीका वर्धमानोपाध्याय के 'प्रकाश' तथा 'प्रकाश' पर भारवि ठाकुर की 'प्रकाशिका' के साथ-साथ चौखम्बा संस्कृत कार्यालय से १९३४ ई० में प्रकाशित हो चुकी है।

४. यह व्याख्या विठ्ठलयोगिका इण्डिका तथा चौखम्बा संस्कृत कार्यालय से प्रकाशित हो चुकी है।

५. 'आमोद' आद्यन्त शङ्कर मिश्र की कृति है या रामभद्र सार्वभौम की या रामभद्र तथा शङ्कर मिश्र की सम्मिश्रित कृति इस विषय का विवरण सरस्वती भर्षन ग्रन्थ-माला से प्रकाशित 'कुसुमाञ्जलिविधिनी' की प्रस्तावना में म० म० गोपीनाथ कविराज जी, रामभद्रटीकासहित 'कुसुमाञ्जलिकारिका' (आशुतोष संस्कृत ग्रन्थमाला, कलकत्ता) की प्रस्तावना में प्रो० श्री नरेन्द्रचन्द्र येदान्ततीर्थ आदि द्वारा किया गया है। विशेष जिज्ञासा रखनेवालों को उक्त स्थल का अवलोकन करना चाहिए।

यह 'आमोद' गुणानन्दविद्यावागीश के 'विवेक' के साथ कलकत्ते से दो भागों में प्रकाशित हो चुका है। मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा से भी धरदराज की 'बोधिनी' तथा गुणानन्द विद्यावागीश के 'विवेक' के साथ इसका प्रकाशन अत्यासन्न है।

६. इन काव्य ग्रन्थों का विवरण डॉ० उमेश मिश्र के History of Indian Philosophy, Vol. II (PP. 321-22) से प्राप्त करना चाहिए।

प्राध्यापक दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य जी ने अपने History of Navya-Nyaya in Mithila (पृ० १३४) में एक 'पण्डितविजय' काव्य का भी शङ्कर मिश्र की कृति के रूप में उल्लेख किया है। इनके काव्यग्रन्थों से मेरा परिचय अत्यल्प है।

७. उदाहरणार्थ :—उपस्कार—१११२; ११२३; ११२६; ३११७ आदि द्रष्टव्य है।

८. श्रीयुत दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य जी का कथन है कि सम्भवतः शङ्कर मिश्र के पास 'वृत्ति' पूर्णतः नहीं थी अपि तु खण्डित रूप में ही।

९. द्रष्टव्य—History of Navya-Nyaya in Mithila, P. 142.

स्वभावावलम्बेन निरालम्बेऽपि गच्छतः ।

से खेलवन्ममाप्यत्र साहसं सिद्धिमेष्यति ॥

(उपस्कार—प्रारम्भ श्लोक सं० ३)

यत् उपस्कारकार के समस्त वै० सू० के मौलिक स्वरूप को प्रस्तुत करनेवाली कोई प्रामाणिक व्याख्या नहीं थी अतः 'उपस्कार' को वै० सू० के मौलिक स्वरूप के निर्धारण के लिए प्रमाण नहीं माना जा सकता है । किन्तु जहाँ तक कणाद के मौलिक सिद्धान्त के अविगम का प्रश्न है, 'उपस्कार' को एक प्रामाणिक ग्रंथ मानने में विप्रतिपत्ति नहीं है, क्योंकि 'उपस्कार' में कोई ऐसा विषय नहीं है जिसका मूल 'पदार्थधर्मप्रग्रह' में विद्यमान न हो । 'पदार्थधर्मप्रग्रह' प्रशास्त्रदेवाचार्य की कृति है और प्रशास्त्रदेवाचार्य ने वै० सू० पर लिखे गए वार्तिक—'वाच्य'—तथा 'वाच्यमाप्य' पर भी एक टीका लिखी थी जिसका संकेत 'नयचक्र' आदि में मिलता है । यदि प्राचीन तथा वै० सू० से घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध प्रशास्त्रदेव को महर्षि कणाद के मत का यथार्थ प्रतिपादक माना जाय तब तो यह मानना ही होगा कि प्रशास्त्रदेवाचार्य के मार्ग से ही प्रायेण वै० सू० की व्याख्या प्रस्तुत करनेवाला 'उपस्कार' महर्षि कणाद के सिद्धान्तों का प्रामाणिक प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थों के अन्यतम अवश्य है । प्रशास्त्रदेव को कणाद के सिद्धान्तों का यथावत् परिज्ञाता इसलिए भी मानना चाहिए कि 'आश्रयमाप्य' के आधार पर 'न्यायप्रवेशवृत्तिपद्धिका' में किए गए वै० सू० के पदार्थों का विवरण भी प्रशास्त्रदेवकृत विवरण से सर्वथा साम्य रखता है ।

किन्तु प्रशास्त्रदेव के अनुसरण का यह अर्थ नहीं है कि 'उपस्कार' में उनका अभ्यानुकरण किया गया है । शङ्कर मिश्र की अद्वितीय प्रतिभा स्थान स्थान पर अपना चमत्कार दिखलाने में पीछे नहीं रहती है । उपस्कारकार ने अपने शास्त्रान्तर के, विशेषतः नग्यन्यायशास्त्र के, मूल पाण्डित्य का प्रदर्शन गूढ़ विषयों के परिष्कार के लिए निरवृत्तरूप में किया ही है । इसका प्रमाण 'उपस्कार' में पदे पदे उपलब्ध है और विशेष रूप में मज्जलवाद (उप० ११११ ॥), मुक्तिवाद (उप० १११२ ॥), सहायनिरूपण (उप० १११३ ॥), न्यासिवाद (उप० १११४ ॥), पाकप्रक्रिया (उप० १११५ ॥), द्वित्वप्रक्रिया (उप० १११६ ॥) तथा बहुत्वमकारस्वरूप (उप० १११७ ॥) के विवेचन द्रष्टव्य हैं ।

शङ्कर मिश्र का पाण्डित्य चिर विप्रतिपक्ष विषयों में स्वतन्त्र एवम् प्रशास्त्र विचार प्रस्तुत करता है । 'मज्जलाचारण का प्रधान फल कार्यसमाप्ति है' इस प्राचीन मत का

किन्तु प्रथमाध्याय से दशमाध्याय तक के 'उपस्कार' में वृत्तिकार के उल्लेख से यह प्रतीत होता है कि 'वृत्ति' शङ्कर मिश्र के समय में सम्पूर्णतया उपलब्ध अवश्य थी । हाँ, इस आधार पर यह कल्पना निताम्न युक्तिपद्धत होगी कि 'वृत्ति' महावपुर्ग, कम से कम शङ्कर मिश्र की दृष्टि में, नहीं थी । यह सम्भावना भी असंभव न होगी कि 'वृत्ति' की रचना शङ्कर मिश्र से बहुत पहले नहीं हुई थी ।

१. दर्शनशास्त्र में प्राचीन तथा नवीन शब्द का कोई व्यवस्थित अर्थ नहीं है । यद्यपि 'तत्त्वचिन्तामणि' में प्राचीन मत के रूप में उद्धृत मज्जलविषयक मत को भीमासक्यों का मत माना जाना है (और 'किरणवली' में भी प्राचीन मत का ही अनुवाद है) तथापि मज्जल के फल के विषय में उभयविध मत अत्यन्त प्राचीन हैं । ई० पू० प्रथम शतक के

गङ्गेशोपाध्याय द्वारा अपनी अत्युच्च कृति—‘तत्त्वचिन्तामणि’ में सारोप खण्डन तथा ‘विन्नर्त्तस ही मङ्गल का मुख्य फल है’ इस मत के समुचित व्यवस्थापन के बाद भी उपस्कारकार ने पुनः अपनी प्रौढ़ प्रतिभा से प्राचीन मत का ही समर्थन किया है।

‘उपस्कार’ वृत्तिकार के कुछ मतों के अवगम में तो सहायक है ही, साथ ही, कुछ प्राचीन ग्रन्थों की विषयताओं को सुलझाने में भी यह बहुत ही उपयोगी है। उदाहरणार्थ, हम ‘पदार्थधर्मसंग्रह’ की द्वित्वप्रक्रिया के उस प्रसङ्ग को ले सकते हैं जहाँ विरोध के दो स्वरूप—सहानवस्थान तथा व्यघातक—बतलाए गए हैं। वर्तमान ‘पदार्थधर्मसंग्रह’ का स्वरूप ऐसा अस्पष्ट है कि साधारणतः पाठकों का चित्त विचलित होने लग जाता है। किन्तु ‘उपस्कार’ का यह कथन—‘इयञ्च प्रक्रिया ज्ञानयोर्व्यघातकपक्षे परमुपपद्यते, स एव च पक्षः प्रामाणिकः’ उपर्युक्त व्यामोह को सर्वथा निरस्त कर देता है।

संशयप्रकरण (वै० सू० २।२।१७) में नैयायिकों के मत के निराकरण में भी उपस्कारकार की सूक्ष्मेक्षिका स्पष्ट है।

उपर्युक्त कारणों से ही पण्डितमण्डली में ‘पदार्थधर्मसंग्रह’ के बाद महत्वपूर्ण स्थान ‘उपस्कार’ को ही प्राप्त है। वर्तमान समय में वै० सू० की अनेकानेक प्राचीन—‘चन्द्रानन्द वृत्ति’ तथा ‘मिथिला विद्यापीठ वृत्ति’ और अर्वाचीन—‘वैदिक वृत्ति’, ‘विवृत्ति’ (जयनारायण पञ्चानन) एवम् ‘चन्द्रशेखर-भाष्य’ आदि—व्याख्यासम्पत्ति के सुलभ होने पर भी ‘उपस्कार’ के महात्व में कोई अन्तर नहीं पड़ा है—यह तथ्य सुस्पष्ट है।

‘उपस्कार’ की टीका-सम्पत्ति

‘उपस्कार’ की जनप्रियता तथा प्रामाणिकता ने परवर्ती युग के मनीषियों को व्याख्या लिखने के लिए भी बाध्य कर दिया। किन्तु यह दुःखद अवश्य है कि लगभग ३०० वर्षों तक इस ग्रन्थ पर कोई व्याख्या नहीं लिखी गई।

सम्प्रति ‘उपस्कार’ की एक व्याख्या—‘परिष्कार’ महामहोपाध्याय पञ्चानन तर्करत्न की लेखनी से निकली हुई उपलब्ध है। इसका प्रकाशन कुछ दिन पूर्व कलकत्ते से हो चुका है।

दूसरी व्याख्या है पण्डितराज विश्वनाथ झा जी की, जिसकी हस्तलिपि व्याख्याकार के पौत्र प० श्री रुद्रधर झा जी, रीडर, व्यापकविभाग, का० हि० वि० वाराणसी, के

महाकवि कालिदास के ‘कुमारसम्भव’ में यह मतव्यय स्वरूप में उल्लिखित है :—

विपत्प्रतीकारपरेण मङ्गलं निषेव्यते भूतिसमुत्सुकैर्न वा ॥ (कुमारसम्भव—५।)

षष्ठ शतक के महावैयाकरण भर्गुहरि ने भी महाभाष्यटीका में समाप्ति को ही मङ्गल का फल माना है :—

‘अगर्हिताभीष्टार्थसिद्धिर्भङ्गलम्’ (महाभाष्यटीका, पृ०)

अतः निश्चित रूप में यह कहना कठिन है कि प्राचीन मत से किस आचार्य का मत विवक्षित है :—

१. उपस्कार—७।२।८ ॥

२. इस प्रसङ्ग में विशेष स्पष्टता के लिए मेरी दूसरी कृति—वैज्ञानिकदर्शन : एक अध्ययन, पृ० ११४-११५ द्रष्टव्य है।

२ वै० सू० भू०

पात है। इस व्याख्या की उपलब्धि का सर्वाधिक श्रेय पं० श्री मन्दिनाथ मिश्र जी, दस्तलेख विभाग, वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी को है। पं० श्री विरचनाप झा जी मिथिला के दरभंगा जिले के अन्तर्गत सुप्रसिद्ध 'ठाढ़ी' ग्राम के निवासी थे। इनकी अद्वितीय प्रतिभा पर केवल मिथिला को ही नहीं प्रत्युत समस्त भारत देश को उस समय भी गर्व था और आज भी है। इनके विशेष विवरण के लिए History of Navya-Nyaya in Mithila दृश्य है।

वर्तमान संस्करण

'उपस्कार' के कई संस्करण हो चुके हैं जिनमें विधिलेखिका दृष्टिका संस्करण— १८९३, जोषानन्द विद्याभारत-संस्करण तथा हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला-संस्करण— १९२३ प्रमुख हैं। सम्प्रति उक्त सभी संस्करण अप्रामाण्य हैं। अतएव एक नवीन संस्करण की आवश्यकता हुई और उसी की पूर्ति के लिए यह संस्करण प्रस्तुत है। इस संस्करण की विशेषता है व्याख्यात्मक हिन्दी अनुवाद। काशी के प्रतिष्ठित विद्वान् स्व० पं० दुर्गिराज शास्त्री ने हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला स० ३ के अन्तर्गत १९२३ ई० में प्रकाशित 'उपस्कार' में स्थल विशेष में संस्कृत भाषा में एक वृद्धाकार टिप्पणी जोड़ दी थी। किन्तु आजकल संस्कृत टिप्पणी का उपयोग अल्प है। इसीलिए स्व० शास्त्री जी ने अपने जीवन के अन्तिम अंश में 'उपस्कार' का हिन्दी भाषा में व्याख्यात्मक अनुवाद किया था। यद्यपि इसके प्रकाशन के समय शास्त्री जी हम लोगों के बीच नहीं रहे तथापि उनका पक्षशीर (उनकी अन्याय्य कृतियों के साथ) इस अवश्य कीर्ति के माध्यम से हमारे समक्ष आज भी प्रस्तुत है और अभिन्न में भी प्रस्तुत रहेगा।

'उपस्कार' के निगूढ़ आशय को समझने में यह अनुवाद अत्यन्त ही उपयोगी होगा। यद्यपि शास्त्री जी की भाषा पुराने ढंग की है और इसलिए आज के लोगों के लिए बहुत कठिन नहीं है तथापि दर्शनशास्त्र में भाषा से अधिक विषयवस्तु की महत्ता होती है। अतएव भाषा वा शैली की प्राचीनता से इस अनुवाद की गरिमा को विनष्ट नहीं माना जा सकता है।

इस सानुवाद 'उपस्कार' के प्रकाशन के लिए हम श्रीस्वच्छा प्रकाशन के अध्यक्ष को भी धन्यवाद दिए बिना नहीं रह सकते, क्योंकि आज के युग में प्राचीन संस्कृत ग्रंथों का समयानुरूप प्रकाशन का भारवहन एक असाधारण कार्य है।

आशा है, देवदाणी के समाराधक विद्वान् प्रस्तुत संस्करण की सारी शुक्तियों की उपेक्षा कर इसका स्वागत करेंगे और प्रकाशक को उत्तरोत्तर ऐसे उपयोगी ग्रंथों के संस्करण के लिए प्रोत्साहित भी करते रहेंगे।

संस्कृत-पालि विभाग,
का० हि० वि० वि० वाराणसी,
अगहन शु० ७, १९६९ ई०

विनीत—
श्री नारायण मिश्र

भूमिका

प्रकाश्यते कणादस्य श्रीवैशेषिकदर्शनम् ।
 'प्रशस्तपादभाष्येणोपस्कारेण च संयुतम् ॥ १ ॥
 श्रीमान् कश्यपवंशेऽभून्मुनिर्योगविभूतिमान् ।
 भक्षयित्वा धान्यकणांश्चक्रे यस्तप उत्तमम् ॥ २ ॥
 तत एव हि कणाद इति ख्यातोऽभवद् भुवि ।
 सत्पाद्भुततपश्चर्यापरितुष्टो महेश्वरः ॥ ३ ॥
 कृपयाऽखिलघस्तूनां हानदृष्टिं व्यधाच्छुभाम् ।
 तेनैवाखिलमर्त्यानामुपकाराय निर्मितम् ॥ ४ ॥
 दर्शनं कृन्नशास्त्रेषु प्रधानं युक्तिसंभृतम् ।
 "योगाचारविभूत्या यस्तोपयित्वा महेश्वरम् ॥ ५ ॥
 चक्रे वैशेषिकं शास्त्रं तस्मै कणभुजे नमः ॥"
 इति प्रशस्तपादीयभाष्यान्तिमवचोबलात् ॥ ६ ॥
 "कणादेन तु सम्प्रोक्तं शास्त्रं वैशेषिकं महत् ।
 गौतमेन तथा न्याय सांख्यन्तु कपिलेन वै" ॥ ७ ॥
 इति पद्मपुराणीयवाक्यजातबलादपि ।
 सूत्रकारस्योक्तमुने. कस्मिन्देशे कदा हभूत् ॥ ८ ॥
 स्थितिरित्यधुनाऽशक्यं निर्णेतुं धर्मचक्षुषाम् ।
 मिथिलायां कश्यपस्य गोत्रेऽभूदिति केचन ॥ ९ ॥
 अस्त्यैवाभूदुल्लेखेति सत्ताऽन्या कौतुकावहा ।
 यतस्तद्दर्शनं प्रोक्तमौलूक्यापरसंज्ञया ॥ १० ॥
 माधवेन स्वके ग्रन्थे सर्वदर्शनसङ्ग्रहे ।
 विवृतानामनेकत्र सूत्राणामर्थसङ्ग्रहम् ॥ ११ ॥
 कृत्वा प्रशस्तदेवस्तु व्यरचीद्भाष्यलक्षणम् ।
 वैशेषिकपदार्थानां धर्मसङ्ग्रहनामकम् ॥ १२ ॥
 निबन्धं सूत्रसमितं लोकानुग्रहकारकम् ।
 कालाद्यनिर्यणेऽप्यस्य भाष्यकारस्य धीमतः ॥ १३ ॥

१. प्रशस्तपादभाष्यसहित हिन्दीभाष्येण च वैशेषिकदर्शनस्य द्वितीय
 संस्करणं सवस्त्रेऽस्मिन् पुण्ये प्रकाशितम् ।

परमर्षि त्वमेवादृष्टात्स्यायनमुनेरिव ।
 कन्दल्यां श्रीधराचार्यमुनिरित्यादिकीर्तनात् ॥ १४ ॥
 मुक्तावल्यां विश्वनाथैराकरेति च शंसनात् ।
 सूत्रकारस्य समये भाष्यकारोऽप्यजायत ॥ १५ ॥
 इत्याहुः चेन्न ततोऽप्यस्य प्राचीनता ॥ १६ ॥
 क्यार्याश्चोदयनादीनामाचार्योणासनेकशः ॥ १६ ॥
 साक्षात्परम्पराप्राप्ताः सन्ति भाष्यस्य मुद्रिताः ।
 सूत्राणां त्वधुनाप्येका लभ्यते शङ्करोदिता ॥ १७ ॥
 राजकोयपरोश्चासु स्थापितोपस्कराह्वया ।
 भारद्वाजकृताप्यन्या वृत्तिः, सा नोपलभ्यते ॥ १८ ॥
 स चोपाकारकृत् कस्मिन्देगे काले ह्यभूदिति ।
 विचार्यतेऽधुना युक्त्या पारम्पर्यक्रमेण वै ॥ १९ ॥
 श्रीमान् श्रीश्रीधराचार्य, कन्दली व्यदधानमुदा ।
 गजान्मुधिविश्वभूषणे निरणाथलिमाश्रयन् ॥ २० ॥
 कन्दलीकारतः पश्चान्मिश्रोपाधिस्तु शङ्करः ।
 विदुषाममणीन्यांशशास्त्रपारङ्गनः सुधीः ॥ २१ ॥
 चिकुरस्य चतुर्दश्यां शताश्रमास इत्ययम् ।
 निर्गमो बह्विदुषां तत्र शास्त्रार्थसङ्ग्रहः ॥ २२ ॥
 पथ्यते साम्प्रतं तावत् प्रेक्षावत्कृतुरुप्रदः ।
 वृत्त्यावधानां लोकेषु प्रथितानामनेकशः ॥ २३ ॥
 पदार्थानान्तु वात्सर्न्येनाधगतिर्दुर्लभा भुवि ।
 ततस्तान् श्रमशो बद्ध्वा ज्ञानसौकर्यहेतवे ॥ २४ ॥
 दर्शयामास शास्त्रेऽस्मिन् मरुत्तुर्पथलान्भुनिः ।
 शुभलादिभेदभिन्नानां घटादीनां घटत्वतः ॥ २५ ॥
 यथा ज्ञानं हि सुलभं तथा सर्वत्र बुध्यताम् ।
 पदार्थतत्त्वज्ञानं वै मननाक्रियेण हि ॥ २६ ॥

१ अगस्त्यस्य श्रुतिप्रवररत्नग्रन्थे आगिरभगणे गीतमन्त्रो पठित्वा-
 दपि बोध्यम् ।

२. तदग्रन्यस्येति शेषः । तस्य चतुर्थी विद्या प्राणादित्युक्तमाकरे इति
 विश्वनाथभट्टाचार्याः । आकरे भाष्ये इत्यर्थः ।

मान्त्रेऽत्राह्नीकृतं निःश्रेयस्तदेतुकरं परम् ।
 द्रव्यं गुणाश्च कर्माणि नया जातिविशेषकौ ॥ २७ ॥
 समवाय इत्येते षट् पदार्था मावसंज्ञिताः ।
 अभावः सततोऽप्यन्य मुनेः सन्निविताश्रितः ॥ २८ ॥
 प्रतियोगिक्रियावर्जानिरूपयन्तया त्वन्मौ ।
 साक्षान्नोक्तो न तुच्छत्वादित्याचार्यमतमनया ॥ २९ ॥
 क्रियागुणेत्यादिनूत्रैर्नवान्नाद्याद्विकृत्यैः ।
 इत्थं राक्षान्तितं श्रोनच्छिन्नेनणिनडागवैः ॥ ३० ॥
 कैलासचन्द्रैर्गुह्यमिर्माप्यालोचनतत्परैः ।
 शक्तिनाष्टव्यसंख्यादिपरामितवस्तुषु ॥ ३१ ॥
 एतेषां लक्षमायोगो व्यवच्छेद्यो मुनेर्भवे ।
 गौतमोक्तप्रमाणदिपदार्थानाञ्च सन्तु ॥ ३२ ॥
 अन्तर्भावन्तया लोकप्रसिद्धानां समन्ततः ।
 तत्र क्रियागुणाधारं द्रव्यं नदविशं स्मृतम् ॥ ३३ ॥
 क्षित्यतेजोमहद्व्योमकालदिगुद्देशिनो मनः ।
 कृतिर्गन्धवर्ता या स्यान् गन्धन्वन्वत्र तद्वतः ॥ ३४ ॥
 शुक्लरूपं च मावुर्य समवेतं खले ननु ।
 आश्रयोपाधिकं नोल्लह्यं स्याद्यमुनाजले ॥ ३५ ॥
 आन्डादिजन्योररसोऽप्येवं स्यादिति तद्विदुः ।
 अग्नस्तपसाश्रयं द्रव्यं तेजो मान्वरूपवन् ॥ ३६ ॥
 जलन्पर्जनानामिभवाग्नेर्लुङ्गुन्पर्गप्रत्ययः^१ ।
 अपाकजोऽनुप्यामातन्पर्गन्तु पत्रने मतः ॥ ३७ ॥
 आकारं शब्दहेतुः स्यात्काळो ज्येष्ठादिधीकरः ।
 परस्मिन्पगमन्यन्निभ्र परं युगपच्चिरम् ॥ ३८ ॥
 क्षिप्रमेतादृशी बुद्धिः काललिङ्गमिति स्मृतम् ।
 सूर्योत्पत्तिमतानेप निमित्तमिति कथ्यते ॥ ३९ ॥
^२ इदमन्नादितोयं धोर्दिश्यं लिङ्गमिदेष्यते ।
 संयोगोपनययैव तद्देश सिद्धिर्मेप्यति ॥ ४० ॥

१. मतर्गं दुस्तिगुनानययोग इत्यर्थः । अग्निन्नेर वाग्ने तस्य मुखयया
 प्रतिपादितत्वात् ।

आत्मेन्द्रियाद्यधिष्ठाता करणं हि सकर्तृकम् ।
 इन्द्रियार्थप्रसिद्धिस्तु गुणत्वात्कचिदाश्रिता ॥ ४१ ॥
 रूपवच्चेत्यनुमितौ द्रव्यं यन्नवम पुनः ।
 प्रसिध्यति तदेवात्रात्मशब्देनोपपादितम् ॥ ४२ ॥
 आत्मेन्द्रियार्थसम्बन्धाज्ज्ञानमुत्पद्यते तु यत् ।
 तदन्त करणा^१दन्यत् अन्यञ्ज्ञानपदेशतः ॥ ४३ ॥
 ज्ञानवत्सुखदुःखेच्छाद्वेषयत्नाः पृथक्पृथक् ।
 आत्मनो लिङ्गतां यान्ति मनसोऽपि गतिमनया ॥ ४४ ॥
 शरीरादि न चात्मा स्यान्मतादिव्यभिचारतः ।
 चक्षुः श्रोत्रादिकरणं सकर्तृकमपेक्ष्यते ॥ ४५ ॥
 वात्यादिषदिति व्याप्त्या तदधिष्ठातृतात्मनि ।
 एवं प्राणादिभिलिङ्गैर्मनसः प्रेरणाच्च वै ॥ ४६ ॥
 अभिप्रेतेषु विषयेष्वतिरिक्तः स वेहव ।
 इन्द्रियेभ्यश्चेति सिद्ध स्याद्वैशेषिके मते ॥ ४७ ॥
 धन्धमोक्षादिव्ययथादेतोर्नानात्वमोरितम् ।
 सोऽयमात्माऽनादिमिथ्याज्ञानवासनयाऽवशः ॥ ४८ ॥
 देहादीन् स्वात्मरूपाश्च मत्वा रागादिवृत्तिभिः ।
 दुःखसंघातानुभवं कुर्वन् ससरति स्फुटम् ॥ ४९ ॥
 वैशेषिकपदार्थानां तत्त्वज्ञानं यदा भवेत् ।
 तेन मिथ्याज्ञाननाशे रागद्वेषाद्यभायतः ॥ ५० ॥
 प्रवृत्त्यपाये तु जन्मापाय ईशानुरुम्पया ।
 जन्मापाये दुःखनाश आत्यन्तिक इतीदृशः ॥ ५१ ॥
 निःश्रेयसपदार्थस्तु शास्त्रादस्माच्च नान्यतः ।
 अतोऽस्य दर्शनस्याहुरारम्भ इति तार्किकाः ॥ ५२ ॥
 आत्मेन्द्रियार्थसम्बन्धे भावाभावो मतेर्मतम् ।
 मनोलिङ्गं योगपदाभिमानो भ्रान्त इष्यते ॥ ५३ ॥

१ तथा च ज्येष्ठादिसूर्यनिर्माषट्वसम्बन्ध एव बाल इत्यर्थः ।

२ इदमम्यात्पूर्वमिदमरमादृशिमित्यादिवृद्धिरित्यर्थः । सयोगेति । तथा
 चासमवायिकाग्नसयोगाद्यवनमा बालवद्विमिद्विरित्यर्थः ।

३ साह्यव्यावृत्तिरनेन बोध्या ।

सुम्बादिप्रत्यये हेतुगुणत्वाद् युगपन्न हि ।
 अनेकैरिन्द्रियैर्वदं मनस्तस्मान्न चैकदा ॥ ५४ ॥
 अनेकेषाञ्च ज्ञानानां सम्भवोऽस्ति कदाचन ।
 अन्धकारस्तु न द्रव्यं तेजोऽभावः स ईरितः ॥ ५५ ॥
 आरोपितं रूपमिति कन्दलीकारसंमतम् ।
 द्रव्याश्रयो चागुणवानित्येतद्गुणलक्षणम् ॥ ५६ ॥
 रूपं रसमस्या गन्ध-स्पर्शसंख्या तथैव च ।
 परिमाणपृथक्त्वे तु संयोगश्च विभागकः ॥ ५७ ॥
 परत्वमपरत्वञ्च बुद्धयः मुख्यमेव च ।
 दुःखमिच्छा द्वेषयत्ना मुनिकण्ठाद्विनिर्गता ॥ ५८ ॥
 चञ्चलेन गुरुत्वञ्च द्रवत्वं स्नेह एव च ।
 संस्कारश्च तथा घर्माधर्मा शब्द-समुच्चिता ॥ ५९ ॥
 प्रसिद्धगुणभावत्वादेते नोक्तास्तु कण्ठतः ।
 चक्षुर्मात्रग्राह्यगुणो रूपं नीलादिभेदतः ॥ ६० ॥
 भवेत्सप्तविधं तत्र चित्रं नव्येन मन्यते ।
 रमनेन्द्रियग्राह्यस्तु गुणः स्यात्सप्तसङ्गकः ॥ ६१ ॥
 मधुरान्तादिभेदेन षड्विधः परिकीर्तितः ।
 घ्राणग्राहो भवेद्गन्धोऽमुरभिः सुरभिर्दिघा ॥ ६२ ॥
 त्वगिन्द्रियग्राह्यगुणः स्पर्शः शीतादिभेदतः ।
 त्रिविधस्तत्र रूपं स्याच्चक्षुषे सहकारि तु ॥ ६३ ॥
 रसनादां रमाशीनामेव हेतुत्वमिष्यताम् ।
 एतेषां पाकजत्वन्तु श्रुती नान्यत्र कुत्रचित् ॥ ६४ ॥
 पच्यन्ते बह्विसंयोगान्त्वतन्त्राः परमाणवः ।
 पीलुपाकमते, नैवावयविष्वस्ति मध्यगः ॥ ६५ ॥
 दुर्घटमन्न मन्यन्ते इतरेऽक्षपदानुगाः ।
 गणनावयवज्ञस्य हेतुः सस्याऽमिधीयते ॥ ६६ ॥
 सा चैकादिपरार्थान्ता नित्याऽनित्या च संमता ।
 मानव्यचहृती हेतुः परिमाणं प्रचक्षते ॥ ६७ ॥
 चतुर्धाऽणु महदीर्घं ह्रस्वञ्चेति प्रकीर्तितम् ।
 अस्मात्पृथग्निर् नेति वैजात्यात्प्रत्ययस्य हि ॥ ६८ ॥

पृथक्त्वमेव तद्धेतुर्भेदोऽपि विभियते ।
 अप्राप्तिपूर्विका प्राप्ति संगोगखिविधः स्मृतः ॥ ६९ ॥
 ज्ञेयनशैली यथा तेषु प्रथमस्त्वेककर्मजः ।
 भवेद्द्वितीय उभयकर्मजो मेपयोरिव ॥ ७० ॥
 अङ्गुलीतरुसयोगात् संयोगस्तरुस्तयोः ।
 मृतीयस्तत्प्रतिद्वन्द्वी विभागोऽपि गुणान्तरम् ॥ ७१ ॥
 इदं विभजते तस्मादित्येव हि प्रतीयते ।
 संयोगाभावतो नास्य चरितार्थत्वसम्भवः ॥ ७२ ॥
 संयोगवदमुप्यापि त्रैविध्यं स्वयमूह्यताम् ।
 विभागजविभागस्तु द्विविधः परिकीर्तितः ॥ ७३ ॥
 हेतुमात्रविभागोऽसौ हेत्वहेतुविभागजः ।
 दैशिक कालिकृत्वेति परत्वं द्विविधं मतम् ॥ ७४ ॥
 तद्वेषापरत्वं स्याद्, बुद्धिः साम्प्रतमुच्यते ।
 कृत्तनव्यवहृतेहेतुस्सा तावद्विविधा स्मृता ॥ ७५ ॥
 संशयो निश्चयश्चेति कोटिद्वयकपन्तु यत् ।
 अनिर्णयात्मकं स्थाः* पुरुषो वेति जायते ॥ ७६ ॥
 साधारणाद्विधर्माणां दर्शनात्संशयस्म तु ।
 तद्विरुद्धो निर्णयः त्याज्यान् निर्धारणं परम् ॥ ७७ ॥
 पुनः सा द्विविधा प्रोक्ता प्रमाप्रमेति भेदतः ।
 यथार्थानुभवो यस्तु प्रमा सा द्विविधा भवेत् ॥ ७८ ॥
 प्रत्यक्षमप्यनुमितिरिन्द्रियेभ्यश्च यद्वेत् ।
 सत्प्रत्यक्षं षड्विधं स्याच्चाक्षुषादिप्रभेदतः ॥ ७९ ॥
 व्याप्तिज्ञानात्साहचर्यनियमाख्यास्तु यद्वेत् ।
 ज्ञानं सानुमिति स्वार्थो परार्थेति च भेदतः ॥ ८० ॥
 द्विविधाऽन्त्या तु जायेत पञ्चावयवयोगतः ।
 तत्र लिङ्गं तु त्रिविधमन्वयव्यतिरेकतः ॥ ८१ ॥
 तदामासः पञ्चविधो व्यभिचारादिभेदतः ।
 निर्णयस्य प्रमाणत्वं खण्डितं तार्किकैः खलु ॥ ८२ ॥
 शब्दादीनां प्रमाणानामन्वर्भावोऽनयोर्भवेत् ।
 वैशेषिकमतेऽस्यास्तु भिन्ना स्यादप्रमा द्विधा ॥ ८३ ॥

विपर्ययः संशयश्च, पूर्वं प्रोक्तस्तु संशयः ।
 मिथ्याज्ञानं विपर्यासः स एव स्याद्विपर्ययः ॥ ८४ ॥
 यथा शंखः पीत इति भूयो बुद्धिर्विमल्यते ।
 अनुभूतिः स्मृतिश्चेति तत्रानुभव ईरितः ॥ ८५ ॥
 संस्कारजन्यं ज्ञानन्तु स्मृतिघोः संप्रकीर्तिता ।
 भाष्यकारमते बुद्धिर्विद्याविरोति यै द्विषा ॥ ८६ ॥
 विद्या चतुर्धा प्रत्यक्षलैङ्गिके स्मृतिरार्पणा ।
 प्रत्यक्षलैङ्गिके प्रोक्ते स्मृतिश्चोक्तानुभूतिवत् ॥ ८७ ॥
 लिङ्गादिदर्शनाज्ञाता शेषानुव्यवसायकृत् ।
 भार्पन्स्वाम्नायकर्तृणां ज्ञानं त्रैकालिकं हि यत् ॥ ८८ ॥
 अविर्यैवं चतुर्धा तु संशयादिप्रभेदतः ।
 अलोचनात्मकं ज्ञानं प्रत्यक्षेऽनुमितौ तथा ॥ ८९ ॥
 स्यादनव्यवसायस्तु स्वप्नज्ञानं तु लोच्यते ।
 त्रिविधं तत्र कथितः संशयश्च विपर्ययः ॥ ९० ॥
 इति बुद्धिप्रपञ्चोऽयं न्यायशास्त्रे सुयिस्मृतः ।
 अनुकूलतया वेद्यं सुखमात्मनि जायते ॥ ९१ ॥
 प्रतिकूलतया दुःखं धर्माधर्मादिहेतुकम् ।
 इच्छाद्वेषावात्मगुणावात्मानुभवगोचरी ॥ ९२ ॥
 फलोपायप्रभेदेन सा त्विच्छा द्विविधा भवेत् ।
 प्रवृत्तहेतुरिच्छा स्यान्निवृत्तेर्द्वेष उच्यते ॥ ९३ ॥
 प्रयत्नस्त्रिविधः प्रोक्तो न्यायशास्त्रविशारदैः ।
 प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च तथा जीवनकारणम् ॥ ९४ ॥
 श्वाश्वप्रशवासहेतुः स्याद्यत्नो जीवनहेतुकः ।
 गुरुत्वमाद्यपत्तनक्रियाहेतुर्गुणः स्मृतः ॥ ९५ ॥
 तथाऽऽद्यस्यन्दने हेतुर्द्रवत्वमपि कीर्तितम् ।
 पूर्णादिपिण्डीकरणहेतुः स्नेह उद्वहृतः ॥ ९६ ॥
 वेगश्च भावना चापि स्थितिस्थापक एव च ।
 संस्कारस्त्रिविधः प्रोक्तः तत्राद्यो नोदनाच्छरे ॥ ९७ ॥
 स्मृतिहेतुर्भाषिणाख्यः संस्कारश्च द्वितीयकः ।
 पूर्वविस्थापादको यः स स्थितिस्थापको यथा ॥ ९८ ॥

आकृष्टद्रुमशखादिपरित्यागे प्रहृश्यते ।
 सुखस्य कारणं धर्मो अन्यते शुभकर्मभिः ॥ ९९ ॥
 अन्यथा चिरनष्टेभ्य कथं तेभ्य फलोदयः ।
 अधर्मो दुःखहेतुः स्यादसौ निन्दितकर्मजः ॥ १०० ॥
 अदृष्टशब्दितावेतौ न्यायशास्त्रे प्रकीर्तितौ ।
 श्रोत्रेण गृह्यते योऽर्थः स शब्दो द्विविधः स्मृतः ॥ १०१ ॥
 ध्वनिषण्णविभेदेन भृदङ्गादिभ्यो ध्वनिः ।
 कण्ठाद्यन्योन्याभिघाताज्जातो वर्ण इतीष्यते ॥ १०२ ॥
 एकद्रव्य निर्गुणं च यत्सयोगविभागयोः ।
 अनपेक्षनिमित्तं तत्कर्मैतत्कर्मलक्षणम् ॥ १०३ ॥
 एतद्विषयादिभेदेन तत्तथात्पञ्चविधं यथा ।
 ऊर्ध्वसयोगफलकं कर्मोक्षेपणमुच्यते ॥ १०४ ॥
 विपरीतमक्षेपस्तद्वयं मुसलादिषु ।
 सत्यात्मभक्तसंयोगेऽप्यन्यसयोगकारणम् ॥ १०५ ॥
 भङ्गकौटिल्यजनकं कर्मकुञ्चनमीरितम् ।
 एषमाकुञ्चितज्ञानं यत्कर्मोत्पद्यते पुनः ॥ १०६ ॥
 अनारम्भकसंयोगनाशकं तत्प्रसारणम् ।
 एतच्चतुष्टयादन्यत् यत्किञ्चित्कर्म जायते ॥ १०७ ॥
 तत्सर्वं गमनं प्राहुर्भ्रमणाद्येवमूह्यताम् ।
 अनेकसमवेतं यन्नित्यं सा जातिरुच्यते ॥ १०८ ॥
 अनुवृत्तित्वबुद्धिस्तु प्रमाणं तत्र कीर्तितम् ।
 परापरादिभेदेन द्विविधा सा प्रकीर्तिता ॥ १०९ ॥
 एकस्मिन्नेव सत्तावद्भिन्नो यः समवेति सः ।
 विशेषो भोध्यते सोऽर्थः नानाविध इतीष्यते ॥ ११० ॥
 सर्वेषां ह्यणुकान्तानां तत्तदङ्गविभेदतः ।
 भेदोऽसौ परमाणूनां विशेषादेव केवलम् ॥ १११ ॥
 व्यावृत्तबुद्धिस्तत्र स्यात्प्रमाणमिति तद्विदः ।
 यस्मादयुतसिद्धानामिहेदमिति धीर्भवेत् ॥ ११२ ॥
 आधायार्थाधारभूतानां समवायस्त ईरितः ।
 अभावो भावभिन्नः स्यात्तत्र चतुर्विध उच्यते ॥ ११३ ॥

प्रागभावस्तथा ध्वंसोपत्यन्ताभाव एव च ।
 अन्योन्याभाव इत्येवं कार्योत्पत्तेः पुरस्त्विदम् ॥ ११४ ॥
 कार्यं भविष्यतीत्येवं प्रत्यक्षं सार्वलौकिकम् ।
 स चायं प्रागभावः स्वप्रतियोगिनि कारणम् ॥ ११५ ॥
 उत्पन्नपुनरुत्पत्तिर्वार्यतां कथमन्यथा ।
 विनाशकस्य दण्डादेर्व्यापारादप्यनन्तरम् ॥ ११६ ॥
 पूर्वं सहायसत्कार्यं ध्वंसः सोऽयं ऽग्रीयते ।
 ध्वस्तो घटः पटो नष्टः श्रुतपूर्वो न विद्यते ॥ ११७ ॥
 गकार इत्येवमादि स्फुटं प्रत्यक्षमीक्ष्यते ।
 त्रैकालिको योऽभावस्तु सोऽत्यन्ताभाव इष्यते ॥ ११८ ॥
 नास्तीत्येष प्रतीत्या यत्प्रत्यक्षमुपजायते ।
 सदप्यसद्भवेत्सोऽयमन्योन्याभाव इत्येते ॥ ११९ ॥
 अयं तदात्मनाऽभावो नास्ति कुम्भ- पटात्मना ।
 अघटो गौरगौरश्च इत्यादि प्रत्ययाद्धुवम् ॥ १२० ॥
 सिद्धपतोति, पदार्थानां संप्रहोऽयमुदीरितः ।
 सङ्क्षेपतो गीतमोक्षसूत्राणां प्रतिमाकरः ॥ १२१ ॥
 तत्र वैशेषिके शास्त्रे प्रशस्तेन कृतं शुभम् ।
 भाष्य श्रीशङ्करकृत उपस्कारश्च वै चिरात् ॥ १२२ ॥
 राजकीयपरीक्षासु स्थापितः किन्तु दुर्लभौ ।
 कन्दल्यादिसमेतस्य भाष्यस्य बहुमूल्यतः ॥ १२३ ॥
 उपस्कारस्यापि ततः काशीस्थेन सुधीमता ।
 चौखम्बासकृतग्रन्थश्रेण्या- सम्पादकेन हि ॥ १२४ ॥
 श्रेष्ठिवंशावतंसेन हरिदासात्मजेन वै ।
 श्रीजयकृष्णदासेन विदुषामुपकारिणा ॥ १२५ ॥
 प्रोत्साहितोऽहं व्यदधां भाष्योपस्कारयोरिदम् ।
 टीकां विवरणाख्यान्तु कन्दल्यादिसमाश्रयात् ॥ १२६ ॥
 विषमस्थलमात्रेषु मूलसाहाय्यकारिणोम् ।
 श्रीमद्भट्टाचार्यगुरोर्न्यायतत्त्वाधिवेदिनः ॥ १२७ ॥
 न्यायाचार्यस्य कृपया आश्लिषामप्यनुपहात् ।
 अन्यथा क्व च तच्छास्त्रं क्व मेऽल्पविषया मतिः ॥ १२८ ॥

तथापि मे साहसमिदं क्षनिष्यन्ते विचक्षणाः ।
 हित्वेष्ट्यां दयया चैनां करिष्यन्त्यात्मसाद्घुघम् ॥ १२९ ॥
 ये केचिदत्र दोषा स्युः सूचयिष्यन्ति माम्प्रति ।
 येन त्यामनुकम्प्योहं श्रोमता विदुषां सदा ॥ १३० ॥
 छात्राणामुपकारोलं भविता बहुधा खलु ।
 एकत्र भाष्यसूत्राणां सम्बन्धस्य प्रदर्शनात् ॥ १३१ ॥
 सूत्रपाठस्य चान्यत्राहसख्यापरिदर्शनात् ।
 मुद्रणैऽस्मिन्समावेशाद्भाष्योपस्कारयोरपि ॥ १३२ ॥
 अल्पमूल्येन लभ्यतामुल्लमोऽयं भविष्यति ।
 सहस्राद्योयमतः सर्वैरन्ते च कुसुमाञ्जलि ॥ १३३ ॥
 नाथान्त्यघटुकाहस्य पितुः पादाम्बुजग्ननोः ।
 अर्पितोऽयं सविनयं दुण्डिराजेन शास्त्रिणा ॥ १३४ ॥

विषयसूची

प्रथमाध्याय का प्रथम आह्निक

मङ्गलाचरण (उ०)	५०
मावतरण धर्म-निरूपण की प्रतिज्ञा	३
मङ्गलवाद (उ०)	३
धर्म का लक्षण	६
वेदप्रामाण्यनिरूपण	११
वै० दृ० के विषय तथा विषय एवं शास्त्र, निःश्रेयस तथा पदार्थतत्त्वज्ञान आदि के सम्बन्ध का निरूपण (उ०)	१३
मतान्तरनिरासपूर्वक निःश्रेयस का स्वरूपनिरूपण (उ०)	१६
पदार्थविज्ञानोपपादन (उ०)	१८
(प्रसङ्गतः) एवकारार्थविवेचन (उ०)	२०
द्रव्यों का उद्देश तथा विभाग	२६
गुणों का उद्देश तथा विभाग	३१
कर्मों का उद्देश तथा विभाग	३३
गमन के कर्मभेद होने की आशङ्का तथा उसका परिहार (उ०)	३६
द्रव्य-गुण-कर्म का साधर्म्य	३८
द्रव्य-गुण का साधर्म्य	४३
कर्म में कर्मजन्यत्वाभाव का उपपादन	४४
गुण-कर्म से द्रव्य का वैधर्म्य (द्रव्य में स्वकार्यनारयत्वाभाव तथा स्वकारण-नारयत्वाभाव का उपपादन)	४६
गुण में कार्यनारयत्व तथा कारणनारयत्व का उपपादन	४९
कर्म में कार्यनारयत्व का प्रतिपादन	५०
द्रव्य के लक्षण	५०
गुण-लक्षण	५३
कर्म-लक्षण	५५
समवायिकारण के प्रसङ्ग में द्रव्य-गुण-कर्म का साधर्म्य	५६
असमवायिकारण के प्रसङ्ग में द्रव्य-गुण-कर्म का साधर्म्य	५९
एक कर्म में अनेककार्यकारित्व की उपपत्ति	६१
कर्म में द्रव्यकारणत्वाभाव का प्रतिपादन	६१
अनेक कारणों (द्रव्य) से एक कार्य की उत्पत्ति का उपपादन	६२
कर्म में कर्मजन्यत्वाभाव का विवरण	६४
अनेकपदार्थपर्याप्त गुणों में अनेकद्रव्य-जन्यत्व का उपपादन	६५

कर्म में अनेकद्रव्यपर्याप्तत्वाभाव	६५
अनेक गुणों से एक द्रव्य कार्य की उत्पत्ति का निरूपण	६६
अनेक गुणों से एक गुणकार्य की उत्पत्ति का विवरण	६७
असमवायिकारणनिरूपण (उ०)	६८
एक कर्म में अनेककारणजन्यत्व	६९
कर्मजन्य गुणों का निरूपण	७०

प्रथमाध्याय का द्वितीय आह्निक

कार्यकारणभावव्यवस्थापन	७१
सत्कार्यवादखण्डन (उ०)	७४
व्यतिरेकमुख से कार्यकारणभावव्यवस्थापन	७७
सामान्य-निरूपण	७७
अपोहवाद तथा उसका खण्डन (उ०)	७९
सामान्य के विषय में प्रामाणिक सम्प्रदाय का मत तथा उसका निराकरण (उ०)	८३
सामान्य की सिद्धि के लिए पृथिवीरुक्त अनुमान का खण्डन (उ०)	८५
द्रव्यादित्रिकवृत्ति सत्ता के सामान्यपदमात्रवाच्यत्व का उपपादन	८५
सामान्य विशेषपदवाच्य जातियों के उदाहरण	८६
द्रव्यत्व जाति साधन (उ०)	८६
गुणत्व तथा कर्मत्व जातियों का साधन	८८
सामान्य-विशेष तथा 'विशेष' पदार्थ की परस्परभिन्नता का उपपादन	८९
'सत्ता' की सिद्धि	९०
'सत्ता' में द्रव्य गुण-कर्म भिन्नत्व का उपपादन	९०
द्रव्यत्व में द्रव्य गुण कर्म भिन्नत्व का उपपादन	९३
गुणत्व में द्रव्य गुण कर्म भिन्नत्व का निरूपण	९५
कर्मत्व में द्रव्य गुण-कर्म भिन्नत्व का प्रतिपादन	९६
द्रव्यादित्रयवृत्ति 'सत्ता' में आश्रय भेद से भिन्नत्व का निराकरण	९७

द्वितीयाध्याय का प्रथम आह्निक

पृथिवीनिरूपण	९९
गन्ध में पृथिवीविशेषगुणत्व का उपपादन (उ०)	१००
पृथिवी के लक्षण में इतरभेदसाधकत्व का पूर्वपक्षोपन्यासपूर्वक निरूपण	१०२
जल निरूपण	१०९
जलत्वजातिसाधन	११०
जल में मधुर रस का व्यवस्थापन (उ०)	१११
रनेह में जलाश्रितत्व का उपपादन (उ०)	११३
तेज-निरूपण	११५
वायु निरूपण	११६
आकाशादि पाँच द्रव्यों में रूपरसगन्धस्पर्श के अभाव का उपपादन	११७
जलीय द्रवत्व तथा पार्यय द्रवत्व में भिन्नता का उपपादन	११८

जलीय द्रवत्व तथा तैलस द्रवत्व में भिन्नता का निरूपण	११९
सुवर्ण के तैलसत्व का उपपादन (उ०)	१२०
वायुसाधक अनुमान को प्रामाणिकता के लिए शोत्वसाधकानुमान का विवरण	१२३
वायुसाधक अनुमान का निरूपण	१२५
शब्दविशेषहेतुक वाय्वनुमान (उ०)	१२६
प्रतिविशेषहेतुक वायुसाधक अनुमान (उ०)	१२६
कम्पहेतुक वायुसाधक अनुमान (उ०)	१२७
वायु-प्रत्यक्ष का निराकरण (उ०)	१२७
हृतरवापज्ञानमहकृत सामान्यतोदृष्टानुमान में वायुसाधकत्व का उपपादन	१३०
परमाणुस्वरूप वायु की सिद्धि	१३१
वायुपरमाणु में द्रव्यत्व की सिद्धि	१३२
परमाणु-साधन	१३३
परमाणु की नित्यता का उपपादन	१३४
वायुनानात्व का साधन	१३५
वायुसाधक हेतु की व्याप्ति प्रत्यक्षगृहीत नहीं है	१३६
वायुसाधक स्पर्शहेतुक अनुमान का निरूपण	१३७
'वायु' इस नामकरण में वैदिकत्व का प्रतिपादन	१३९
ईश्वरसाधकानुमाननिरूपण (उ०)	१४०
सांख्यसम्मत आकाशसाधकानुमाननिरूपण तथा उसका निराकरण	१४४
आकाश के शब्दहेतुकत्व का सोपपत्तिक प्रतिपादन	१४८
शब्द में स्पर्शवद्द्रव्यानाश्रितत्व का उपपादन	१४८
शब्द में आग्निगुणत्व तथा मनोगुणत्व का निराकरण	१५०
शब्द का आकाशसाधकत्व व्यवस्थापन	१५१
आकाश में द्रव्यत्व तथा नित्यत्व का प्रतिपादन	१५१
आकाश में एकत्व का उपपादन	१५२
आकाश में एकपृथक्त्व का उपपादन	१५३

द्वितीयाध्याय का द्वितीय आह्निक

गन्ध आदि के स्वाभाविकत्व तथा औपाधिकत्व का व्यवस्थापन	१५६
पृथिवी में गन्ध के स्वाभाविकत्व का उपपादन	१५७
तेज में उष्णस्पर्श के स्वाभाविकत्व का प्रतिपादन	१५८
जल में शीतस्पर्श के स्वाभाविकत्व का उपपादन	१५९
काल-साधक अनुमान	१६०
काल में द्रव्यत्व तथा नित्यत्व का उपपादन	१६३
काल में एकत्व का व्यवस्थापन	१६३
काल में औपाधिक अनेकत्व का उपपादन (उ०)	१६४
काल में जन्यमात्र की कारणता का व्यवस्थापन	१६५
दिक्-साधक अनुमान	१६६

काल तथा दिक् के परस्परगन्तार्य का निराकरण (३०)	१६०
दिक् में निम्न्यव तथा द्रव्यव का उपपादन	१६९
दिक् में एकत्व का व्यवस्थापन	१६९
दिक् के औपाधिक नामाव का निरूपण	१६९
(शब्द हेतुगत्व में सहाय के निराकरण के प्रसङ्ग में प्रथमतः) सहाय-कारण- निरूपण	१६२
सहायविरपक नैयायिक मत का निराकरण (३०)	१६४
सहाय-लक्षण (३०)	१७५
सहाय-द्वैविध्य प्रतिपादन (३०)	१७६
अनेक धर्मियों में दृष्ट सामान्यधर्म के सहायकारणत्व का प्रतिपादन	१७७
एक धर्मों में दृष्ट सामान्यधर्म के सहायकारणत्व का निरूपण	१७७
उपलब्ध्यमानावरूप समानधर्म में सहायकारणत्व का प्रतिपादन	१७८
शब्द लक्षण	१७९
रसोदवादनिराकरण (३०)	१८०
शब्द में त्राय-गुण-कर्मोन्मेषत्व का सहाय	१८१
शब्द में द्रव्यव का निराकरण	१८२
शब्द में कर्मव का निराकरण	१८३
शब्द में आकाशमाधक्यता के उपपादनार्थ व्यवस्थान का निराकरण	१८४
शब्द के अनिन्यव (जन्मव) का व्यवस्थापन	१८५
शब्द में कारणजन्यत्वमाधक सीमात्वादिप्रदर्शन	१८६
अभिप्रायि पक्ष में तीव्रवादि की अनुपपत्ति	१८७
शब्दोदाहक कारणों का निरूपण	१८८
शब्दानियवमाधक अनुमान	१८९
शब्दानियवमाधक सीमात्मकसम्मत हेतुओं का उपस्थापन	१८९
शब्दानियवमाधक अनुमानों का निराकरण	१९१
प्रत्यभिज्ञा में शब्दानियवसाधक्यता का निराकरण (३०)	१९३

तृतीयाध्याय का प्रथम आह्निक

द्वित्रयप्राप्त विषयों की प्रसिद्धि (ज्ञान) का आत्मपरीक्षा में उपयोग	१९७
ज्ञान (भादि) का शरीरेन्द्रियादिगुणत्व का स्पष्टन	१९८
शरीरकारण पार्यिवादि परमाणुओं में चैतन्याभाव का उपपादन	२००
घटादि में चैतन्याभाव के आधार पर भी भूतों में चैतन्याभाव का उपपादन	२०१
तादान्य हेतु की हेत्वाभासता	२०१
तदुत्पत्ति के आधार पर भी हेतुत्व का विवर्जन	२०२
हेतुत्ववरूप-निरूपण	२०३
एकार्यसमवायी हेतु का निरूपण	२०४
विरोधी हेतु के उदाहरण	२०४
हेतुत्व में व्याप्तिपूर्वकत्व का व्यवस्थापन	२०६

व्याप्तिवाद (उ०)	२०७
उपाधिस्वरूपनिरूपण (उ०)	२१४
हेत्वाभासस्वरूपनिरूपण	२१९
व्याप्यत्वामिदं, स्वरूपासिद्ध तथा विरुद्ध का उदाहरण	२२१
अनैकान्तिक हेत्वाभास का उदाहरण	२२३
हेत्वाभासनिरूपण (उ०)	२२४
वृत्तिकारसम्मत हेत्वाभाससूत्रव्याख्यान (उ०)	२२०
आत्मसाधक हेतु की निर्दोषता का वर्णन	२२७
परात्मसाधक अनुमान की व्याख्या	२३१

तृतीयाध्याय का द्वितीय आह्निक

मनसाधक अनुमान निरूपण	२३६
मन का अणुत्व	२३४
मन में द्रव्यत्व तथा नित्यत्व का साधन	२३६
प्रतिशरीर मन के धृक्त्व का व्यवस्थापन	२३७
आत्मसाधक अनुमान	२३९
आत्मा में द्रव्यत्व तथा नित्यत्व का प्रतिपादन	२४४
आत्मसाधक अनुमान की अनुपपत्ति अतएव आत्मा का आगमप्रमाणमात्र	
मिद्वत्त्व का प्रतिपादन करनेवाला पूर्वपक्ष	२४५
उक्त पूर्वपक्ष का खण्डन	२४७
आत्मा के प्रत्यक्षत्व का उपपादन (उ०)	२४९
प्रत्यक्ष मिद्वत्त्व आत्मा में अनुमान के नैरर्थक्य की आशङ्का	२५०
उक्त आशङ्का का समाधान	२५१
'देवदत्तो गच्छति' इत्यादि प्रतीतियों का औपचारिकत्वव्यवस्थापन	२५२
उक्त प्रतीतियों में औपचारिकत्व का संशय	२५३
उक्त संशय का निराकरण	२५४
अहमाकारक ज्ञान शरीरविषयक ही होता है—यह पूर्वपक्ष	२५५
उक्त पूर्वपक्ष का समाधान	२५६
आत्मप्रत्यक्षभाव के आधार पर अहमादिप्रतीति के शरीरविषयत्व की आशङ्का	२५८
उक्त आशङ्का का निराकरण	२५९
ऐकान्त्यसाधक पूर्वपक्ष	२६१
आत्मनानात्व का सिद्धान्त	२६२

चतुर्थाध्याय का प्रथम आह्निक

नित्यत्व का छद्मण	२६५
नित्य परमाणु साधक हेतु	२६६
परमाणु का अन्यावयवत्वव्यवस्थापन (उ०)	२६६
परमाणु में रूपादि का साधन	२६८
३ वै० सू० भू०	

सर्वानित्यत्व का निराकरण	२६८
परमाण्वनित्यत्वसाधक युक्तियों का निराकरण	२६९
परमाणु के अग्रयक्षत्वोपपादनार्थ-प्रत्यक्षकारण-निरूपण	२७१
वायु के प्रत्यक्षत्वाभाव का उपपादन	२७३
रूप (गुण) के प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक	२७४
उद्भवत्व तथा अनुद्भवत्व का निरूपण (उ०)	२७५
रसःप्राप्त्यन्तप्रत्यक्षत्व निरूपण	२७७
गुरुत्व के प्रत्यक्षाभाव का उपपादन	२७९
क्षुद्रिद्रव्यसमवेत होने पर संख्यादि गुणों एवम् कर्म के द्वीन्द्रियमाह्वार का निरूपण	२८०
अक्षुद्रिद्रव्यसमवेत होने पर सख्यादि गुणों एवम् कर्म की अग्रयक्षता का प्रतिपादन	२८१
उक्त आधार पर गुणात्वं तथा सत्ता के यथासम्भव सर्वेन्द्रियमाह्वार का उपपादन	२८२

चतुर्थाध्याय का द्वितीय आह्निक

पृथिव्यादि कार्य द्रव्यों के प्रकार	२८३
इन्द्रियत्व निरूपण (उ०)	२८३
शरीर के पञ्चभौतिकात्वं (पञ्चभूतोपादानत्व) का निराकरण	२८५
शरीर के त्रैभौतिकत्व का निराकरण	२८६
पार्थिवादि शरीर में जलादि परमाणुओं के विमिश्रत्व का प्रतिपादन	२८७
शरीर भेद निरूपण	२८८
अधोनिजशरीरोत्पत्तिकारण निरूपण	२८९
सर्गादि में परमाणुकर्म का उत्पादक	२९०
देवर्षियों के अधोनिज शरीर में प्रमाण	२९०
पार्थिवशरीरमात्र में योनिजत्व तथा अधोनिजत्व का व्यवस्थापन (उ०)	२९२
पार्थिवादि इन्द्रियों तथा विषयों का निरूपण (उ०)	२९२

पञ्चमाध्याय का प्रथम आह्निक

हस्तसमवेत कर्म की उत्पत्ति का निरूपण	२९५
हस्तकर्माधीन मुसलकर्म का निरूपण	२९६
उदूतलभिहत मुसल के उत्पत्तन में हस्तसयोग की अन्यथासिद्धता	२९६
मुसल ने साथ उत्पत्तनशील हस्त की क्रिया में अग्रतनवदात्मसयोग की अन्यथा सिद्धता	२९७
उत्पत्तनशील मुसल से संयुक्त हस्त के उत्पत्तन में कारण का निरूपण	२९८
मुसलहस्तसयोग से शरीरावयवों में कर्म की उत्पत्ति	२९८
पत्तन कारण निरूपण	२९९
तिर्यग्गामनादि में नोदनविशेष की कारणता	३००
नोदन विशेष-प्रयोजक	३०१

जोवनविशेष से दूरोत्थेपम की उत्पत्ति	३०१
वालकों के करादिविवेप में पुण्यापुण्यजनकत्वाभाव का अतिदेश	३०२
गृहदाहक आततायी के विषय में जलते हुए व्यक्ति द्वारा किए गए कर्म में पुण्यापुण्यजनकत्वाभावातिदेश	३०२
प्रयत्नापूर्वक कर्मनिरूपण	३०३
तृणादिकर्मनिरूपण	३०३
अदृष्टाधीनकर्मनिरूपण	३०४
क्रिया प्रारम्भ से फलप्राप्तिपर्यन्त अनेक कर्म	३०५
द्वितीयादि कर्मों में संस्कार-जन्यत्व	३०६
संस्कारविनाशोत्तरकाल में गुरुत्वप्रयुक्त पतन	३०७

पञ्चमाध्याय का द्वितीय आह्निक

अदृष्टकारणजन्य पृथिवीसमवेत कर्म का निरूपण	३०९
अदृष्टकारणजन्य पृथिवीकर्म का विवरण	३१०
जल पतन निरूपण	३११
स्पन्दनकारणनिरूपण	३११
सूर्यकिरण द्वारा बाष्प के उद्गमन का निरूपण	३१२
मूलमिक्त जल का अङ्कुरादि के ऊर्ध्वभाग तक अभिसर्पण की अदृष्टजन्यता	३१३
भोले आदि की उत्पत्ति तथा उनका विनाश	३१३
वज्रशब्दोत्पत्तिनिरूपण	३१६
पृथिवीकर्मोत्पत्तिविधि का तेज-कर्मोदि में अतिदेश	३१७
अग्न्यादि के ऊर्ध्वजलनादि की अदृष्टजन्यता	३१७
मन की द्वितीयादि क्रिया का निरूपण	३१८
सुखादि की उत्पत्ति	३१९
योग लक्षण	३२०
अपसर्पणादि की अदृष्टजन्यता	३२१
मोक्षस्वरूपनिरूपण	३२३
अन्धकार-स्वरूप निरूपण	३२४
अन्धकार की गति का अग्रत्व	३२५
दिक्, काल, आकाश तथा आत्मा की निष्क्रियता	३२६
कर्म-गुणादि की निष्क्रियता	३२६
निष्क्रिय गुणादि का द्रव्यसमवाय कर्म प्रयुक्त नहीं है	३२७
गुण की असमवायिकारणता का प्रतिपादन	३२७
दिक् में कर्म की समवायिकारणता नहीं है	३२८
काल में कर्म की समवायिकारणता का स्पष्टन	३२९

षष्ठाध्याय का प्रथम आह्निक

वेद-पौरुषेयत्व व्यवस्थापन	३३०
एक आत्मा के अदृष्ट में आत्मान्तरसमवेत सुखादि की कारणता का निराकरण	३३४

दुष्टमाहण भोजनादि से पुण्य की उत्पत्ति का निराकरण	३२९
दुष्ट की परिमाणा	३२९
दुष्टसम्पर्क में दोषजनकता	३४०
अदुष्टसम्पर्क में दोषजनकरवामाव	३४०
अदुष्टाभाव में दुष्टामन्त्रण के बाद पुनः अदुष्ट की उपलब्धि होने पर उसे आमन्त्रण देने का प्रतिपादन	३४१
होतृद्वय ब्राह्मण के अभाव में सप्त को, सप्त के अभाव में हीन को भी आमन्त्रित करने का विधान	३४१
दानादि की गति का प्रतिग्रह में भी अतिदेय	३४२
इस सूत्र का वृत्तिकारसम्मत व्याख्यान्तर (३०)	३४३
आपद्धर्म-निरूपण	३४३

पञ्चाध्याय का द्वितीय आह्निक

सकलकर्म में दृष्टकलजनकत्वामाव होने पर अदृष्टजनकता	३४६
अभिप्रेक्षणादि की अदृष्टजनकता	३४८
अधर्म साधन-निरूपण	३४९
उपधा तथा अनुपधा के लक्षण	३५०
शुचि निरूपण	३५०
अशुचि निरूपण	३५१
धर्माधर्म के सहकारी का विवेचन	३५२
रागद्वेष के मूल का विवेचन	३५४
धर्माधर्माचरणादि-श्रवृत्ति के प्रयोजक	३५७
धर्माधर्म-श्रयोजन निरूपण	३५८
मोक्ष-निरूपण	३५९

सप्तमाध्याय का प्रथम आह्निक

गुणलक्षण (३०)	३६१
रूपादि गुणों की अनित्यता	३६२
वक्तृ गुणों की नित्यता	३६३
अत्रादि परमाणुओं में रूपादि की नित्यता	३६३
अनित्य जलादि द्रव्यों में रूपादि की अनित्यता	३६४
कार्पद्रव्यसमवेत रूपादि गुणों के कारणगुणपूर्वकत्व का प्रतिपादन तथा दृष्टिहीन में रूपादि चार गुणों का पाकत्व	३६५
रूपत्व का जातित्व-व्यवस्थापन	३६५
गुणगुण्यमेदलक्षण (३०)	३६७
चित्ररूपव्यवस्थापन (३०)	३६८
चित्ररसादि का लक्षण (३०)	३६९
चाक्षुष प्रत्यक्ष में रूप का सहकारित्व (३०)	३७०
रस निरूपण (३०)	३७०

गन्ध निरूपण (उ०)	३७०
स्पर्श निरूपण (उ०)	३७१
पाकजप्रक्रिया-निरूपण (उ०)	३७१
पाकज रूपादि का अग्निसंयोगाऽसमवायिकारणकारक निरूपण	३७२
परिणाम के प्रत्यक्षत्वाऽप्रत्यक्षत्व का निरूपण	३७८
परिमाण तथा परिमेष में अमेद का निराकरण	३७९
परिमाण अमेद निरूपण (उ०)	३८०
दीर्घत्व-महत्त्वोत्पादककारण-निरूपण	३८०
अणुत्व ह्रस्वत्व-निरूपण	३८२
कुबलादि में अणुत्व व्यवहार का औपचारिकत्व	३८२
महत्त्वप्रत्यय के मुख्यत्व का निरूपण	३८४
परिमाण में परिमाणान्तर के साथ का निराकरण	३८५
कर्म में कर्मान्तर तथा गुण में गुणान्तर का निराकरण	३८५
कर्म तथा गुण में अणुत्व तथा महत्त्व का निराकरण	३८६
ह्रस्वत्व तथा दीर्घत्व में अणुत्व महत्त्व की स्थिति का अतिदेश	३८७
अनित्यगत का परिमाण का विनाश	३८८
नित्यगत परिमाण की नित्यता	३८९
परमाणु-परिमाण की पारिमाणिक संज्ञा	३९०
पारिमाणिक परमाणु-परिमाण की अपारिमाणिक (औपचारिक) परमाणु-परिमाणानुमेयता	३९०
आकाश तथा आत्मा का परिमाण	३९१
आकाश का एकत्व (उ०)	३९१
मन के अणुत्व का निरूपण	३९२
दिक् के परम महत्त्व का निरूपण	३९४
काल के परम महत्त्व का निरूपण	३९४
कारणभेद का औपचारिकत्व	३९५

सप्तमाध्याय का द्वितीय आह्निक

एकत्वादि संख्या का रूपादि मिश्रत्व	३९६
पृथक्त्व का गुणान्तरत्व	३९७
पृथक्त्व तथा अन्योन्याभाव में परस्पर गतार्थत्वाभाव (उ०)	३९८
एकत्व में एकत्व, पृथक्त्व में पृथक्त्व का अभाव	३९९
कर्म तथा गुण में एकत्वाभाव का निरूपण	४००
'एकं रूपम्' आदि प्रतीतियों का भ्रान्तित्व	४०१
द्रव्य में एकत्व प्रत्यय के औपचारिकत्व का निराकरण	४०१
कार्यकारण तादात्म्य खण्डन	४०२
अनित्य एकत्वादि का कारण गुणपूर्वकत्व	४०४
द्वित्वोत्पादविनाश प्रक्रिया (उ०)	४०५

द्विख त्रित्वादि में परस्पर बलवृत्त्य का उपपादन	४०९
यहुत्य सख्या विवेचन (३०)	४१०
संयोग निरूपण	४१३
विभाग निरूपण	४१७
विभाग के संयोगाभावरूपत्व का निराकरण	४१८
विभाग नाश निरूपण	४१९
संयोग में संयोगान्तर तथा विभाग में विभागान्तर का खण्डन	४२५
समवायिकारण तथा समवेत कार्य के परस्पर संयोग विभाग का अभाव	४२५
शब्द तथा अर्थ के संयोग तथा समवाय की अनुपपत्ति से शब्द तथा अर्थ के परस्पर असम्बद्धत्व की आशङ्का	४२६
ईश्वर सङ्केतप्रयुक्त शब्द से अर्थवोध का उपपादन	४३०
सङ्केतग्राहक-विवरण (३०)	४३०
शक्यार्थ निरूपण (३०)	४३२
परत्वापरत्वकोत्पत्ति निरूपण	४३३
वैशिक परत्वापरत्व के सात प्रकार से विनाश का विवरण (३०)	४३५
कालिक परत्वापरत्व के त्रिधा विनाश का विवरण (३०)	४३८
कालिक परत्वापरत्व की उत्पत्ति में विशेष	४३९
परत्वापरत्व में अन्य परत्वापरत्व की सत्ता का प्रतिषेध	४३९
समवाय निरूपण	४४०
वैशिष्ट्यसम्बन्ध खण्डन (३०)	४४४
समवाय का द्रव्यादिभिन्नत्व	४४४
समवाय का पुनरावृत्ति	४४५
समवायनाशत्व खण्डन (३०)	४४६
समवायप्रत्यक्षत्वखण्डन (३०)	४४६

अष्टमाध्याय का प्रथम आह्निक

बुद्धि आदि के विषय में साध्यमत तथा उसका खण्डन (३०)	४४८
ज्ञानभेद (३०)	४५०
आत्मा, मन आदि का अप्रत्यक्षत्व	४५०
इन्द्रियज प्रत्यक्ष प्रकार निरूपण (३०)	४५१
सर्विकल्प का प्रामाण्य-विषयक बौद्धमत तथा उसका खण्डन (३०)	४५२
निर्विकल्प साधकानुमान (३०)	४५३
गुणकर्म प्रत्यक्ष प्रयोजक निरूपण	४५४
सामान्य विशेष प्रत्यक्ष प्रयोजक निरूपण	४५५
द्रव्यगुणकर्म के ज्ञान में द्रव्यगणकमपेक्षितत्व	४५७
गुण कर्म के ज्ञान में गुणकमपेक्षितत्वाभाव	४५८
निरपेक्षपूर्वकालिक द्रव्यज्ञान में उत्तरकालिक द्रव्यज्ञान की कारणता का अभाव	४५९

अष्टमाध्याय का द्वितीय आह्निक

'अयम्' इत्यादि ज्ञान में बुद्धिविशेषापेक्षत्वव्यवस्थापन	४६२
'अर्थ' शब्द का पारिभाषिक अर्थ	४६४
द्रव्य में पञ्चात्मकत्वभाव	४६४
गन्धज्ञान में पृथिवी का प्रकृतित्व	४६५
रसादिज्ञान में जलादि का प्रकृतित्व	४६६

नवमाध्याय का प्रथम आह्निक

अपकार्यवाद निरूपण	४६७
ध्वंसात्मकभाव निरूपण	४६९
अन्योन्याभावसाधन	४७०
अत्यन्ताभावनिरूपण	४७१
ध्वंसप्रत्यक्षतामयीनिरूपण	४७२
प्रागभाव में ध्वंसप्रत्यक्षताविदेश	४७३
अन्योन्याभावप्रत्यक्षत्वोपपादन	४७४
अत्यन्ताभावप्रत्यक्षत्वोपपादन	४७६
गृहादि में घटाद्यभाव का संसर्गाभावावोपपादन	४७७
युक्तयोगि-प्रत्यक्ष निरूपण	४८०
वियुक्तयोगिप्रत्यक्षनिरूपण	४८२
मनःसंयुक्त समवाय में गुणादि प्रत्यक्ष का उपपादन	४८३
उपरकारकार का मत	४८३
आत्मगुण प्रत्यक्ष	४८४

नवमाध्याय का द्वितीय आह्निक

छेत्रिक ज्ञान निरूपण	४८५
पक्ष निरूपण (३०)	४८६
स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान (३०)	४९३
पञ्चावयव निरूपण	४९४
क्षुद्र प्रमाण का अनुमान में अन्तर्भाव	४९६
षेष्टा के प्रमाणान्तरत्व का स्रष्टन (३०)	५०२
शब्द के हेतुत्व का उपपादन	५०४
उपमानादि का अनुमान में अन्तर्भाव	५०६
स्मृतिनिरूपण	५१२
आर्यज्ञान निरूपण (३०)	५१३
स्वप्न निरूपण	५१३
स्वप्नान्तिक निरूपण	५१५
स्वप्नादि के कारण	५१६
अविद्याकारण निरूपण	५१६

अविद्या लक्षण	५१७
विद्या लक्षण	५१७
आर्पणज्ञान तथा सिद्धदर्शन के कारण तथा इस प्रसङ्ग में वृत्तिकारादि के मत	५१८
दशमाध्याय का प्रथम आह्निक	
सुख दुःख की परस्पराभावात्मकता का निराकरण	५२०
सुखदुःख के ज्ञानाभिप्राय का खण्डन	५२१
शरीर तथा शरीरावयवों में भी परस्पर भेद का उपपादन	५२६
ब्रह्म में समवायिकारणत्व का निर्धारण	५२८
ब्रह्म की निमित्तकारणता का उपपादन	५२८
कर्म में असमवायिकारणता का उपपादन	५२९
कारण रूपादि में कार्यरूपादि निरूपित असमवायिकारणता का प्रतिपादन	५३०
अवयवसंयोग में लब्धी प्रत्यासत्ति से अवयवि निरूपित असमवायिकारणता	५३१
महती प्रत्यासत्ति से भी अवयवसंयोग में अवयविपरिमाणनिरूपित	
असमवायिकारणता	५३१
निमित्तकारणनिरूपण	५३२
वेदप्रामाण्य निरूपण	५३२
ग्रन्थसमाप्ति	५३६

वैशेषिकसूत्रोपस्कारः

'प्रकाशिका' हिन्दीन्यास्योपेतः

प्रथमाध्याये प्रथमाह्निकम्

ऊर्ध्वचद्वजदाजूटक्रोडक्रोडसुरापगम् ।

नमामि यामिनोऽकान्तकान्तमालस्थलं हरम् ॥ १ ॥

याभ्यां वैरोपिके तन्त्रे सम्यग् व्युत्पादितोऽस्म्यहम् ।

कणादभवनाथाभ्या ताभ्यां मम नमः सदा ॥ २ ॥

सूत्रमात्राबलम्बेन निरालम्बेऽपि गच्छतः ।

ये खेलबन्ममाप्यत्र साहस सिद्धिमेष्यन्ति ॥ ३ ॥

तापत्रयपराहता विवेकिनस्तापत्रयनिवृत्तिनिदानमनुसन्धाना नाना-

॥ श्रीशिवमणोपाधुरङ्गाभ्या नमः ॥

कणाद महर्षि प्रणीत वैरोपिकदर्शनसूत्रों की प्राचीन तथा नवीन नैयायिकों के मत के अनुसार उपस्कार नामक व्याख्या का आरंभ करने हुए शिष्टाचार परंपरा से प्राप्त शिवनमस्काररूप मंगलाचरण चित्पत्रकाण्ड नैयायिक शङ्करमिश्र इस प्रकार करते हैं कि 'जिन शिवजी के मन्त्र पर लगे बंधे हुए जटासमूह के मध्य में श्रीगंगाजी ब्रीडा कर रही हैं, तथा रात्रि के स्वामी चन्द्रमा से दिनका भाल-स्थल अलंकृत है ऐसे शिवजी को मैं प्रणाम करता हूँ' ॥ १ ॥

इस प्रकार देवतानमस्काररूप मङ्गलाचरण करने के पश्चात् जिन गुह्यों के अनुपह से वैरोपिकदर्शन का रहस्य ज्ञात हुआ उन गुह्यों की भी प्रणामरूप मंगलाचरण करते हुए शङ्करमिश्र कहते हैं कि 'जिन कणादमहर्षि तथा भवनाथ गुह ने मुझे वैरोपिकदर्शन में अच्छी तरह बोध कराया उन दोनों गुह्यों को मेरा सदा प्रणाम है' ॥ २ ॥

इस प्रकार उपस्कार ग्रन्थ की निविष्ट समाप्ति होने के लिये देवता तथा गुह-प्रणामरूप मंगलाचरण करने के पश्चात्, 'उपस्कार व्याख्या रचनाकर कार्य यद्यपि केवल सूत्र के आधार पर अर्थात् सूत्रों की छोड़कर किसी दूसरी प्राचीन सूत्र-व्याख्या का आश्रय न करने के कारण आकाश में बिना आधार के खेल (ब्रीडा) के समान मैं संपूर्ण प्राचीन तथा नवीन नैयायिकों के मतों का संग्रह करनेवाली उपस्कार नामक व्याख्या कर रहा हूँ । यह मेरा साहस उन परमात्मा तथा गुह्यों की कृपा से अवश्य सिद्ध होगा' इस तृतीय पत्र में शङ्करमिश्र ने और व्याख्याकारों के समान मैं उच्छिष्टमोक्षी नहीं हूँ, यह प्रष्ट किया है ॥ ३ ॥

इस प्रकार मंगलाचरण तथा अपने व्याख्याग्रन्थ की विशेषता को वर्णन करने के पश्चात् प्रथम सूत्र की भूमिका (प्रसंगसंगति) का वर्णन करते हुए

श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेष्व्वात्मतत्त्वसाक्षात्कारमेव तदुपायमाकलयाम्यभूवः ।
तत्प्राप्तिहेतुमपि पन्थानं जिज्ञासमाना परमकारुणिक कणादं मुनिमुपसेदुरथ
कणादो मुनिस्तत्त्वज्ञानचैराग्यैश्वर्यसम्पन्नं पण्णां पदार्थानां साधर्म्य-

परममिथ्य वृत्ते हैं कि 'इस संसार में आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक
ऐसे तीन प्रकार के दुखों से पीड़ित बुद्धिमान ज्ञानी प्राणी जब उक्त दुःखत्रय के
आत्यन्तिक तथा ऐकान्तिक निवृत्ति के उपाय का अनुसंधान करते हुए नाना प्रकार के
श्रुति, स्मृति, इतिहास तथा पुराण ग्रन्थों को अध्ययन कर उनके रहस्य का ज्ञान
प्राप्त करते हैं तब उन्हें यह निश्चय होता है कि आत्मारूप मूल पदार्थ के साक्षात्कार
से ही ऐकान्तिक, आत्यन्तिक दुःखत्रयनिवृत्ति हो सकती है, दूसरे उपायों (प्रत्यक्ष
अथवा अदृष्टसाधक) से नहीं हो सकती । अतः आत्मतत्त्व का साक्षात्कार ही साधन
का निवर्तक उपाय है, ऐसा जानकर उसकी प्राप्ति के मार्ग की जिज्ञासा से अनेक
बुद्धिमान प्राणी, परमदयालु, कण-कण बटोर कर भोजन निर्वाह करने के कारण कणाद
नाम से प्रसिद्ध महर्षि के समीप उपस्थित हुए । अर्थात् आध्यात्मिक, आधिभौतिक
तथा आधिदैविक ऐसे तीन प्रकार के दुःख हैं, जिनमें प्रथम दुःख वह है जो आत्मा
तथा शरीर के संघर्ष से होता है, जिनमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, ईर्ष्या,
विषाद तथा प्रियपदार्थ का अदर्सन आत्मसंबन्धी, और दाह, पित्त, कफ इन तीनों के
प्रकोप से उत्पन्न व्याधियों से उत्पन्न दुःख शरीरसम्बन्धी है । द्वितीय दुःख श्रोत,
व्याघ्र इत्यादि हिंसक जीवों से उत्पन्न भूत (प्राणियों) के सम्बन्ध से उत्पन्न होने
के कारण आधिभौतिक कहा जाता है तथा तीसरा दुःख अग्नि, पर्जन्य इत्यादि
देवताप्रयुक्त दाह, शीत इत्यादि से तथा ज्वर, राक्षस, विनायक, छानि आदि प्रहों से
उत्पन्न होने के कारण आधिदैविक कहा जाता है । यद्यपि मनोहर स्त्री, माला,
सुखादुःख भोजन इत्यादि प्रियवस्तु भोगरूप प्रत्यक्ष उपाय से मानस तथा रसायनादि
आधिभौतिक के संघर्ष से शारीरिक दुःख निवृत्त होते हैं, तथा नीतिशास्त्र का अध्ययन,
निर्वाणस्थल में नियम इत्यादिको से आधिभौतिक एवं भणि, मन्त्र, औषधि आदिको से
आधिदैविक दुःख की भी प्रत्यक्ष उपायों से निवृत्ति होती है, तथापि उक्त दृष्ट उपायों
से उक्त दुःखत्रय अवश्य निवृत्त होते हैं तथा एक बार निवृत्त होने पर भी पुनः काला-
न्तर में उक्त दुःख नहीं होने ऐसा भी नियम न होने के कारण वह दुःखत्रय की
निवृत्ति क्रम से ऐकान्तिक (अवश्य होनेवाली) अथवा आत्यन्तिक (पुनः न होने-
वाली) नहीं है, इसी कारण विवेकी पुरुषों को ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक दुःख-
त्रय निवृत्ति के उपाय का अनुसंधान करने के लिये श्रुति, स्मृति आदि ग्रन्थों का
अध्ययन करना पड़ता है । दृष्ट उपायों के समान वैदिक (वेदोक्त) कर्म यागादि
कर्मरूप अदृष्ट स्वर्गसुखादिप्राप्तक कर्मों से भी आत्यन्तिक तथा ऐकान्तिक दुःख-
त्रय की निवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि उनमें भी निवृत्तिमार्ग के विरोधी पणु

चैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानमेवात्मतत्त्वसाक्षात्कारप्राप्तये परमः पन्था इति मनसि कृत्वा तच्च निवृत्तिबुद्ध्याद्धर्मादेतेषामनयासेन सेत्स्यतीति लक्षणतः स्वरूपतश्च धर्ममेव प्रथममुपदिशाम्यनन्तर पटपि पदार्थानुद्देशलक्षणपरीक्षाभिरुपदेक्ष्यामीति हृदि निधाय तेषामवधानाय प्रतिजानीते—

अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

अथेति शिष्याकाङ्क्षानन्तर्यमाह । अत इति । यतः श्रवणादिपटवोऽनसूय-

हिंसादिरूप वशुद्धि, तथा 'शीघ्रे पुण्ये मर्त्यलोकं विद्यन्ति' इय अभिमुक्तो की उक्ति के अनुसार पापादि कर्म से उत्पन्न पारलौकिक स्वर्गसुखादि भोग के अनन्तर नाश, तथा वैदिक कर्मों के स्वर्गादि रूप फलो में तरतमभाव (किसी कर्म से केवल स्वर्ग, किसी ज्योतिष्टोम पागादिकर्म से उससे अधिक पारलौकिक सुख) इस प्रकार के मूल वैधर्म्य के कारण ईर्ष्या आदि दोषों का समर्थ होने से भी वास्तविक पूर्वोक्त दुःखत्रय-निवृत्ति दृष्टफलक तथा अष्टफलक किन्ही कर्म से नहीं हो सकती, यह निश्चय कर जिज्ञासु शिष्यवर्गों ने शास्त्रों के अध्ययन से शास्त्र द्वारा आत्मतत्त्व-ज्ञान से ही आत्यन्तिक तथा ऐकान्तिक दुःख-निवृत्ति हो सकती है यह समझ कर महर्षि कणाद की शरण ली, यह यही पर तात्पर्य है । आगे शङ्करमिश्र कहते हैं कि उनकी आत्मतत्त्वसाक्षात्काररूप तावत्रय-निवर्तक उपाय की प्राप्ति का क्या मार्ग है, ऐसी प्रार्थना सुनकर तत्त्वज्ञान, वैराग्य तथा अग्निमादि-ऐश्वर्यसंपन्न कणादमहर्षि ने द्रव्यगुण आदि पदपदार्थों के साधर्म्य तथा वैधर्म्यरूप धर्मज्ञानद्वारा वास्तविक ज्ञानरूप तत्त्व-ज्ञान ही आत्मरूप मुख्य तत्त्व के साक्षात्कार—प्राप्ति का थोड़ा मार्ग है यह मन में निश्चय कर, वह तत्त्वज्ञान निवृत्तिरूप धर्म से ही इन जिज्ञासु शिष्यों को बनायास सिद्ध हो जायगा, इस कारण धर्म ही के स्वरूप तथा लक्षण का मैं इन्हें उपदेश करता हूँ, परन्तु द्रव्यादि पद पदार्थों का उद्देश तथा लक्षण और परीक्षा द्वारा उपदेश कहूँगा, ऐसा विचार कर शिष्यों की सावधान होकर सुनने के लिये प्रतिज्ञा करते हुए प्रथम सूत्र का इस प्रकार वर्णन किया—

पदपदार्थ—अथ = शिष्यजिज्ञासा के अनन्तर, अतः = शिष्यों के उपस्थित होने के कारण, धर्म = धर्म की, व्याख्यास्यामः = व्याख्या करेंगे ॥

भावार्थ—शिष्यों की आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक दुःख-त्रय की आत्यन्तिक एवं ऐकान्तिक निवृत्ति के उपाय की जिज्ञासा से श्रवणादि करने में सावधान शिष्यों के उपस्थित होने के कारण हम धर्म ही की प्रथम व्याख्या करते हैं क्योंकि वही तत्त्वज्ञान द्वारा आत्मसाक्षात्कार से दुःखत्रय-निवर्तक थोड़ा मार्ग (उपाय) का मूल है ॥

उपस्कार—इस कणाद महर्षि के प्रथम सूत्र की शङ्करमिश्र इस प्रकार व्याख्या

वैशेषिकसूत्रोपस्कारः

काश्चान्तेवासिन उपसेदुरित्यर्थः । यद्वा अथशब्दो मङ्गलार्थः । तदुक्तम्—

“ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ मङ्गलः पुरा ।

कण्ठ भित्त्वा विनिर्यातौ तेन माङ्गलिकाबुधौ” ॥ इति ॥

युक्तञ्चेतत् । कथमन्यथा सदाचापरम्परपरिप्राप्तकृतव्यताकस्य मङ्गलस्य वैशेषिकशास्त्र प्रणयतो महामुनेरनाचरण सम्भाव्यते । न च घृतमङ्गलस्यापि

करते हैं कि सूत्र में ‘अथ’ इस पद से विध्यो की आकांक्षा (निम्नांश) अर्थ बोधित होता है । जिस कारण व्यवस-मननादि करने में समर्थ तथा असूयारहित शुद्धचित्त शिष्य उपस्थित हैं इस कारण ऐसा ‘अत’ शब्द का अर्थ है । अथवा ‘अथ’ यह शब्द मङ्गलबोधक है । इसी कारण विद्वानों ने कहा है—“ओङ्कार तथा अथ शब्द ये दोनों सृष्टि के उत्पत्ति समय में ब्रह्मा के कण्ठ की ओर कर निकले हैं । अतः ये दोनों मङ्गलफलक हैं । ऐसा । यही पक्ष सगत भी है, अन्यथा ग्रन्थ के आरम्भ में शिष्यों की महाचार परम्परा से कर्तव्यताप्राप्त मङ्गलाचरण का अनुष्ठान वैशेषिक-दर्शन की रचना करने वाले महर्षि कणाद ऐसे विद्वान् न करें यह असम्भव है । अर्थात् साकरमिथ की मङ्गलार्थक अर्थ शब्द का प्रयोग करना यही पक्ष सम्मत है, किन्तु यहाँ पर यह विचारणीय है कि इस पक्ष में अथ शब्द मङ्गलवाचक है या नहीं ? प्रथम पक्ष में ‘अथातो’ इस पद में दूसरे पक्षों से अथ शब्द का अन्वय नहीं हो सकेगा, तथा ओङ्कार तथा अथ शब्द ‘माङ्गलिक’ अर्थात् मङ्गल के वाचक हैं यह कहा भी नहीं है, क्योंकि मङ्गल शब्द से स्वार्थमात्र में टिकने प्रत्यय हुआ है न कि वाचकता अर्थ में । द्वितीय पक्ष में ‘अथ’ शब्द के अन्वय होने के कारण पद न होने से शास्त्र (सूत्र) में उसका प्रयोग न बन सकेगा । इस पर कुछ विद्वान् ऐसा कहते हैं कि ‘यह अथ शब्द सूत्रग्रन्थातगत नहीं है किन्तु ग्रन्थकार ने शिष्टपरवरा के अनुरोध से प्रारम्भ में मङ्गलाचरण किया है । परन्तु अन्वयानुपपत्ति दोष का इस पक्ष में वारण होने पर भी अथ शब्द के मङ्गलरूपता के बोधक ‘तेन माङ्गलिकाबुधौ’ इत्याकारक प्रमाण-ग्रन्थ के अतर्गत दोष की निवृत्ति न होने के कारण यह पक्ष भी सगत नहीं है । अतः वास्तविक समाधान यही हो सकता है कि यह अथ शब्द दूसरे के लिए ले जाते हुए जलपूर्ण घट का दर्शन जिस प्रकार यह से यात्रा के निमित्त प्रस्थित पुरुष के लिये मङ्गलमूचक होता है, उसी प्रकार आन्तर्य अर्थ का वाचक होता हुआ भी अथ शब्द प्रयोगमात्र से मङ्गलाचरण रूप है । अतः कोई दोष मही हो सकता । मङ्गलाचरण करनेवाले बाणभट्ट आदि ऋद्धन्वरी ग्रन्थाधिकर्ताओं को ग्रन्थसमाप्तिरूप फल न होने से (अन्वय-व्यभिचारदोष के कारण) तथा मङ्गलाचरण न करनेवाले नाम्तिक-ग्रन्थकर्तव्यों को समाप्तिरूप फल होने से (व्यतिरेक व्यभिचारदोष के कारण) आरम्भ में मङ्गलाचरण करना अनुचित है, क्योंकि प्रेक्षावान् प्राणिमात्र की फलरहित कर्म में प्रवृत्ति नहीं होती, अतएव ‘प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्वोपि न प्रवर्तते’ अर्थात् विना प्रयोजन

फलादर्शनादकृतमङ्गलस्यापि फलदर्शनादननुष्ठानं न हि निष्फले प्रेक्षावान् प्रवर्तत इति वाच्यम् अकरणस्थले जन्मान्तरीयस्य करणस्थले चाङ्गवैगुण्यस्य कल्पनया सफलत्वनिश्चयात् । न हि शिष्टाचारानुमितश्रुतिबोधित-कतं व्यक्ताकृत्यापाततः फलादर्शनमात्रेणाकरणत्वशङ्कापि । न चैहिकमात्रफल-कत्वान्न जन्मान्तरीयानुष्ठानं पुत्रेष्टिवदैहिकफलकत्वानुपपत्तेः । कारीर्यादी तु तथा

के मन्दबुद्धि प्राणी भी किसी कर्म में प्रवृत्त नहीं होता ऐसी लोकप्रसिद्धि है— इस प्रकार आक्षेप मंगलाचरण के मिथ्यान्त पर पूर्वपक्षी नहीं कह सकता, क्योंकि नास्तिकग्रन्थों में जहाँ मंगलाचरण नहीं है वहाँ समाप्तिरूप फल से जन्मान्तर में किये मंगलाचरण के, तथा वादम्बर्वादि ग्रन्थों में जहाँ मंगलाचरण है, अङ्गों में वैगुण्य (न्यूनता) की कल्पना (अनुमान) से सफलता का निश्चय होने से पूर्वदर्शित, अन्वय तथा व्यतिरेक व्यभिचाररूप दोनों दोष नहीं आ सकते । क्योंकि प्राचीनतम काल से प्रचारस्थ में मङ्गलाचरण करने के शिष्टाचार से अनुमान कि ये 'समा-प्तिकामो मङ्गलमाचरेत्' अर्थात् प्रथमसमाप्ति की इच्छा करनेवाला मङ्गलाचरण करे— इस प्रकार वेदवाक्य से जिस मङ्गलाचरण की कर्तव्यता निश्चित है ऐसे मंगल का सामान्यरूप से कहीं फल न दिसाने से मंगल समाप्ति में कारण नहीं है, ऐसी शका करना अनुचित है । मङ्गलाचरण इस जन्म के फल का ही कारण होने से नास्तिकग्रन्थों में जन्मान्तर में उसने मंगल किया ऐसा अनुमान नहीं हो सकता, ऐसी पूर्वपक्षी शका नहीं कर सकता, क्योंकि पुत्रफलदायक पुत्रेष्टिमात्र के समान मङ्गलाचरण केवल इस जन्म में ही फल देता है । यह नियम नहीं हो सकता । केवल धान्यादि समृद्धि के लिए किये जाने वाले कारीरी आदि नाम के याग ही इसी जन्म में धान्यादिप्राप्ति की कामना से

१. यह ग्रन्थसमाप्ति मङ्गल से उत्पन्न है, अन्तिमवर्णध्वंसरूप समाप्ति के प्रतिपत्ती चरम वर्ण के अनुकूल कृतिमत्ता सम्बन्ध से समाप्ति कारण होने से, शिष्टा-चार से की हुई समाप्ति के समान इस मंगल के अकरणस्थल में, तथा वादम्बर्वादि मंगल करने के स्थल में यह मङ्गल अपने मित्र कारणों की सामग्री से रहित है, समाप्ति को उत्पन्न करने की योग्यता रहते समाप्ति का जनक न होने से, अरन्ध्र में रहनेवाले पटानुत्पादक दण्ड के समान, इस प्रकार के अनुमान की कल्पना से पूर्वोक्त अन्वय तथा व्यतिरेकव्यभिचार का धारण होने से, मंगल, सफल है, अनिदित शिष्टों के आचार का विषय होने से, दशपूर्णमासादि इष्टि के समान, इस अनुमान से सफलता सिद्ध हो सकती है, यही यहाँ शकरमित्र का आशय है ।

२. मंगल, वेद से बोधित समाप्ति की साधनता वाला है, समाप्ति के उद्देश से किये अवगति अविगीत शिष्टों के आचार का विषय होने से, जो जिसके उद्देश से शिष्टो से किया जाना है वह वेदबोधित 'उत्त कर्म का 'साधन' होता है जिस प्रकार दशपूर्ण-मास याग, इस प्रकार वेद के अनुमान का प्रकार है ।

कामनयेवानुष्ठानादैदिकमात्रफलकत्वम् । अत्र च समाप्तिरामोऽधिकारी स्वर्ग-
काम इव यागे तत्रापूर्व्यं द्वारमिह तु विघ्नध्वंस इति विशेषः निर्विघ्नमारब्धं
समाप्यतामिति कामनया प्रवृत्तेः । न च विघ्नध्वंसमात्रं फलं समाप्तिस्तु स्वकारणादे-
वेति वाच्यम्, तस्य स्वतोऽपुरुषार्थत्वात् समाप्तेस्तु सुखसाधनतया पुरुषार्थत्वात्
उपस्थितत्वाच्च । किञ्च दुरितध्वंसमात्रं न फलं तस्य प्रायश्चित्तकोर्तनकर्मनाशा-
पारगमनादिसाध्यतया व्यभिचारात् । प्रारब्धपरिसमाप्तिप्रतिषन्धकदुरि-
तध्वंसत्वेन फलत्वे समाप्तेरेव फलत्वोचितत्वात् । तत्रापि च हेहरण्य-
दानप्रयागस्तानादिजन्यत्वेन व्यभिचारात् तेषामपि मङ्गलस्याभिधान
साहसम् । किञ्च मङ्गले सति समाप्तेरावश्यकत्वमित्येवं मङ्गलस्य कारणता ।

किये जाने के कारण केवल इस जन्म के फल के देने वाले हैं यह हो सकता है ।

इस मङ्गलाचरण में ग्रह की समाप्ति की इच्छा करनेवाला ग्रहकार अधिकारी
है, जिस प्रकार स्वर्ग की इच्छा करनेवाला यागादि कर्म में, कालान्तर में स्वर्गरूप
फल देने वाला वहाँ 'अपूर्व' अदृष्ट नामक मध्य में व्यापार माना गया है, वहाँ काला-
न्तर में समाप्ति फल देनेवाला विघ्नध्वंस इतनी ही विशेषता है, क्योंकि विघ्न-
ध्वंसपूर्वक यह आरम्भ किया ग्रह समाप्त हो इस कामना से ग्रन्थादिनिर्माण में
प्रवृत्ति होती है ।

'मङ्गलाचरण का फल विघ्नों का नाश होना ही है, समाप्ति तो अपनी बुद्धि,
प्रतिभा इत्यादि कारण से ही होती है' ऐसा मध्यनेपायिकों के मत से नहीं कहा जा
सकता, क्योंकि वह विघ्नध्वंस समाप्ति के इच्छा के अर्थात् इच्छा का विषय
होने से स्वयंपुरुषार्थ नहीं है, अन्य की इच्छा के अर्थात् इच्छा का जो विषय
नहीं होता वही स्वयं पुरुषार्थ कहा जाता है । ग्रह की समाप्ति तो, स्वयं पुत्र का
साधन होने से तथा समाप्ति के लक्ष्य से ग्रन्थारम्भ में मङ्गलाचरण होने से समाप्ति
ही उपस्थित भी है, अतः स्वयं पुरुषार्थ है । यदि तब भी मत से 'प्रारम्भकर्म में
विघ्न न हों इस कामना से मङ्गलाचरण में प्रवृत्ति होने से समाप्ति कैसे उपस्थित
हो सकती है' ऐसी शंका हो तो शङ्करमिश्र प्राचीन मत में तब भी मत पर दोष देने हैं
कि केवल विघ्ननाश मङ्गल का फल हो नहीं सकता, क्योंकि प्रारम्भिकता से, किये
पाप के कथन से, अथवा कर्मनाशा नदी के पार जाने से भी पापरूप विघ्नों का
नाश होता है वह मङ्गलजन्य न होने के कारण व्यभिचार दोष आ जायगा ।
प्रायश्चित्तादिकों को मङ्गल मानना भी साहसमात्र है । क्योंकि सुवर्णदान, प्रयाग-
स्नानादिकों से भी पापनाश होने के कारण एक से हुए पापनाश में दूसरे कारण
के न होने से व्यभिचारदोष आ जायगा । यहाँ पर पूर्वपक्षी ऐसा आक्षेप कर
कता है कि 'यदि पूर्वोक्त सिद्धान्तमत से नास्तिक ग्रन्थों में जन्मान्तर के

तदुक्तम् “श्रौतात् साङ्गत् कर्मणः फलावश्यम्भावनियमात्” इति । अत एव विकल्पितमपि कारणं कारणमेव फलानन्तर्यनियमस्यैव वैदिककारणत्वान् । विकल्पे तु वैजात्यकल्पनं वैजात्यमेव यत्रान्वयव्यतिरेकगम्या कारणता तत्र फल-पूर्वभावनियमो ग्राह्यो न तु वेदेऽपि तत्र व्यतिरेकभागस्य गुरुत्वेनानुपस्थितेः तथा च साङ्गे भङ्गले समागिरावश्यक्रीति न व्यभिचारः ।

मंगल की अनुमान से सिद्धि की जाय तो दूसरे जन्म में ग्रन्थसमाप्ति होने के उद्देश से पूर्वजन्म में मङ्गलाचरण करने की अपत्ति आवेगी तथा पूर्वोक्त समाप्ति मंगलजन्य है, समाप्ति होने से, इस अनुमान में स्वयंसिद्ध विघ्नाभाव वाले प्रयक्तों की ग्रन्थसमाप्ति में मंगलजन्यता न होने से समाप्तिरूप हेतु में व्यभिचार-दोष भी आ जायगा, क्योंकि उसमें मङ्गलजन्यता नहीं है—इस आक्षेप का उत्पत्तिकार ऐसा उत्तर करते हैं कि मंगलाचरण करने पर समाप्ति आवश्यक है इस कारण मंगल की कारणता है, इसी कारण कहा है कि श्रौत साङ्गकर्म से फल अवश्य होता है यह नियम है । और इसी कारण विकल्प से बोधित कारण भी कारण ही होता है, क्योंकि फल का पश्चात् होने का नियम ही वैदिक (वेदोक्त) कारणता है । अर्थात् कार्य के पूर्व रहने का नियम ही यदि कारणता हो तो ‘श्रीहिमिः यवर्वा यजेत’ धान या जौ से याग करे, इस विकल्प कारणस्थल में धान से होनेवाले याग के स्थल में यागजन्य अदृष्ट तथा ‘स्वर्गादि फल के पूर्व में यवकरणक याग तथा यव से होनेवाले याग के स्थल में याग से उत्पन्न अदृष्ट स्वर्गादि फल के पूर्वकाल में श्रीहिकरण याग का भा सत्ता माननी पड़ेगी, वह नहीं है, अतः वैदिक स्थली में पश्चात् फल होना ही कारणता है, जो प्रत्येक में भी वर्तमान ही है । यह शङ्करमिश्र का यहाँ गूढ़ आशय है । यदि ‘कारणभेद के समान उम-उम याग से उत्पन्न अदृष्ट तथा स्वर्गादि रूप कार्य में विलक्षणता मानकर उम-उम भिन्न कारण में अपने-अपने कार्य के सम्पन्न पूर्वकाल में वर्तमानत्वरूप कारणता क्यों न मानी जाय, जिससे पूर्वप्रदर्शित वैदिक स्थल में भी पूर्व में नियम से रहना यह भी कारणता संगत हो जायगी, ऐसी पूर्वपक्षी चका करे तो इसके उत्तर में उत्पत्तिकर्ता कहते हैं कि विकल्पकारणतास्थल में कार्य में विजातीयता मानना तो विरुद्ध होने से साहसमात्र है, क्योंकि यदि फल में विलक्षणता मानी जाय तो दोनों कारणों से सम्पन्न हुए याग से भी विलक्षण फल की उत्पत्ति होने लगेगी ।

यद्यपि पूर्वपक्षी कह सकता है ‘कि तो भी पूर्वोक्त व्यभिचार का वारण कैसे होगा’ तो उसके उत्तर में शङ्करमिश्र कहते हैं कि जिस लौकिक स्थल में अवश्य तथा व्यतिरेक दोनों प्रकार की व्याप्ति से कारणता का बोध होता है वही पर फल के पूर्वकाल में कारण के रहने का नियम होता है, वेदोक्त कारणस्थल में व्यतिरेक भाग के गुरु होने से उत्पन्न नहीं होता, अतः साङ्गे मङ्गलाचरण होने पर समाप्त-

साध्यो धर्मोऽदृष्टमेव तदा विधिरूपः ।

वृत्तिकृतम् अद्भ्युद्य' सुख निःश्रेयसमे- ककालीनसकलात्मविशेषगुण-
ध्वस । प्रमाणञ्च धर्मे देवदत्तशरीरादिक भोक्तृविशेषगुणमेस्तिभूतपूर्वक
कार्यत्वे सति सद्भोगसाधनत्वात्तन्निमित्तस्त्वदित्याहुः ।

तदेतद्व्याख्यानं प्रत्येकसमुदायाभ्यां न व्यापकम् इत्यर्वाचीनैरुपेक्षितम् ।

यस्तुतस्तु को धर्मः किलक्षणश्चेति सामान्यतः शिष्यजिज्ञासायां यतोऽभ्यु-

यहाँ पर निदिध्यासनादि योगजन्य भी धर्म बराम्भ द्वारा मुक्तिफल देने से निवृत्ति-
रूप हो सकता है, इसलिये 'यदि' पद को शर्करामिश्र ने उसके बारणार्थ प्रयोग किया
है । प्रवृत्तिलक्षण के समान निवृत्तिरूप धर्म भी अदृष्ट ही है, अतः यह सूत्र धर्म-
सामान्यलक्षण का ही बोधक है ऐसा मानने वाले वस्तुकार के मत को उपस्कार
में दिखाते हैं कि "अद्भ्युद्यनाम सुख, तथा एक काल में होने वाले आत्मा के संपूर्ण
ज्ञानादि विशेष गुणों का नाशरूप निःश्रेयस (मुक्ति)" (जिससे ही वह धर्म कहाता
है ऐसा द्वितीय सूत्र का अर्थ वस्तुकार के मत में है) ससारावस्था में कालान्तर के
संपूर्ण विशेष गुणों के ध्वस को लेकर मुक्तिव्यवहार की आपत्ति के बारण के लिये
'एक काल में होने वाले' यह विशेषण, एक ससारी जीव की भी कुछ आत्मा के, गुणों
के नाश के होने से अतिव्याप्तिदोष बारण के लिये 'सम्पूर्ण' ऐसा विशेष गुणों में
विशेषण दिया है । मुक्तारमा में समोपादि सामान्यगुण रहने से निःश्रेयसव्यवहार न
होगा, इसलिये विशेष पद दिया है तथा अन्तिम अदृष्ट के माधक्षण में भी निःश्रेय-
सवस्था वाले अन्तिम दुःख के रहने से उनमें मुक्तिव्यवहार का निवारण करने के
लिये संपूर्ण अदृष्ट ध्वस को छोड़कर संपूर्ण विशेष गुण ध्वस को मुक्ति कहा है । किन्तु
सम्पूर्ण उस आत्मा का दुःखध्वस ही निःश्रेयस है ऐसा लक्षण क्यों नहीं किया यह
सूक्ष्म विचार से विचारणीय है ।

वस्तुकार के मत से धर्म की सत्ता में अनुमानप्रमाण दिखाते हुए शङ्करमिश्र
कहते हैं कि देवदत्त आदि मनुष्यों का शरीर, भोक्ता आत्मा के विशेष गुण से प्रेरित
पुष्यिवी आदि भूत से निर्मित है, कार्य होते हुए देवदत्तादि आत्मा ॥ सुखदुःखादि भोग
का साधन होने से, देवदत्तादिकों से बनाए हुए मालादिकों के समान, यह अनुमानप्रमाण
है । ऐसा वस्तुकार कहते हैं । किन्तु यह व्याख्याय सुखजनकत्व तथा निःश्रेयसजनकत्व
दोनों प्रत्येक लक्षण धर्म का मानने से प्रथम लक्षण की निवृत्तिरूप धर्म में तथा
अन्तिम लक्षण की प्रवृत्तिरूप धर्म में अव्याप्तिदोष होगा । सुख तथा निःश्रेयसजनक
को धर्म कहते हैं, ऐसा लक्षण किया जाय तो केवल एक के जनक धर्म में अव्याप्ति-
दोष हो जायगा, इस कारण नवीनों ने इस वस्तुकार की व्याख्या की उपेक्षा की है ।

अग्रिम में 'धर्मविशेषप्रसूनात्' इत्यादि चतुर्थ सूत्र में निवृत्तिरूप धर्म का
ग्रहण न हो सकेगा, क्योंकि सामान्यरूप से धर्म का ज्ञान नहीं है, इस कारण धर्म की

यनिःश्रेयससिद्धिरित्युपतिष्ठते तथा च यतोऽभ्युदयसिद्धिर्यतश्च निःश्रेयससिद्धि-
उद्गम्यं धर्मः । एव पुरुषार्थासाधारणकारणधर्म इति वक्तव्ये परम-
पुरुषार्थयोः सुखदुःखाभावयोर्निशेपतः परिचयार्थमभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिरित्युक्तं
वर्गापवर्गयोरेवान्येऽज्ञानधीनेच्छाविषयत्वेन परमपुरुषार्थत्वात् । साधयिष्य-
। च दुःखाभावमपि पुरुषार्थत्वम् ॥ २ ॥

ननु निवृत्तिलक्षणो धर्मस्तत्त्वज्ञानद्वारा निःश्रेयसहेतुरित्यत्र श्रुति-
प्रमाणम् । श्रुतेरेव प्रामाण्ये वयं विप्रतिपद्यामहे अनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः ।
पुत्रेष्टौ कृत्यामपि पुत्रानुत्पादादनृतत्वम् “उदिते जुहोति अनुदिते जुहोति
समयाध्युषिते जुहोति” इति विधेः प्राप्त एवोदितादिकाले होमो व्याह्रियते
‘इयावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति य उदिते जुहोति शबलोऽस्याहुतिमभ्य-

सामान्य रूप से व्याख्या करते हुए उपस्कार में कहते हैं कि—वस्तुतः धर्म क्या
है ? उसका क्या लक्षण है ? इस प्रकार सामान्यरूप से शिष्यों को जिज्ञासा होने
॥ ‘यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः’ यह पूर्वप्रदर्शित सूत्र उपस्थित होता है, ऐसा होने
से जिससे अभ्युदय सिद्ध होता है, और जिससे निःश्रेयस सिद्ध होता है, वह दोनों
धर्म हैं । अतः पुरुषार्थ का विशेष कारण धर्म होता है ऐसा कहना प्राप्त रहते परम-
पुरुषार्थ सुख तथा दुःखाभाव इन दोनों का विशेष रूप से परिचय होने के लिये ‘अभ्यु-
दयनिःश्रेयससिद्धिः’ अर्थात् ‘अभ्युदय निःश्रेयससिद्धि’ ऐसा कहा है, क्योंकि स्वर्ग
तथा अपवर्ग ही अग्न्य की इच्छा के अधीन इच्छावासे न होने से परमपुरुषार्थ हैं । ‘धर्म-
विरोधात्’ इत्यादि चतुर्थ सूत्रमें दुःखाभाव भी पुरुषार्थ है यह सिद्ध किया जायगा ॥२॥

उपोद्घातसंगति से तृतीय सूत्र की अवतरणिका देते हुए शङ्करमिश्र पूर्वपक्ष-
मत से शंका करते हैं कि निवृत्तिरूप धर्म तत्त्वज्ञान द्वारा निःश्रेयस (मुक्ति) का
कारण है इस विषय में श्रुति ही प्रमाण हो सकती है, किन्तु हम तो श्रुति के प्रमाण
हीमें विप्रतिपत्ति (विवाद) करते हैं, क्योंकि उसमें अनृतत्व (असत्यता), व्याघात
(परस्पर वचनों का विरोध) तथा पुनरुक्त (पुनर्वचन) रूप तीन दोष होने हैं । क्यों-
कि पुत्रप्राप्ति के लिये ‘पुत्रेष्टि’ नामक याग करने पर भी पुत्र की उत्पत्ति नहीं होती,
अतः प्रथम अनृतत्वदोष आना है । तथा ‘उदिते जुहोति, अनुदिते जुहोति, समयाध्युषिते
जुहोति’ अर्थात् सूर्योदय होने पर, सूर्योदय के पूर्व तथा सन्धिकाल में हवन करना
चाहिये, इस विधि वाक्य में सूर्योदयादि त्रिकाल में हवन की प्राप्ति होने पर ही उक्त
त्रिकाल में होम का व्याघात (निषेध) भी ‘इयावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति य उदिते जुहोति,
शबलोऽस्याहुतिमभ्यवहरति योऽनुदिते जुहोति, इयावतावलावस्याहुतिमभ्यवहरति यः
समयाध्युषिते जुहोति’ अर्थात् ‘इयाव’ नामक देवताओं का कुत्ता उसके आहुति को खा
जाता है जो सूर्योदय होने पर आहुति देता है शबल नामक कुत्ता उसकी आहुति को
खा जाता है जो सूर्योदय के पूर्व आहुति को देता है, तथा इयाव और शबल दोनों

बहरति योऽनुदिते जुहोति इयावरायलावस्याहुतिमभ्यवहरतो यः समयाभ्युपिते जुहोति” इत्यादिना । तथा “त्रिं प्रथमामन्वाह विरुक्तमामन्वाह” इत्यनेन प्रथमोत्तमसामिवेन्योन्निरुच्चारणामिधानात् पीनरुस्त्यमेव । न चाग्नायप्रतिपादकं त्रिंश्विदस्ति नित्यत्वे त्रिप्रतिपत्तौ नित्यनिर्दोषत्वमपि सन्दिग्धम् पौरुषेयत्वे तु भ्रमप्रमादविप्रतिपत्तिकरणापाटवादिसम्भावनया आप्नोक्तत्वमपि सन्दिग्धमेवेति न निश्चयसं न वा सत्र तत्त्वज्ञानद्वारं न वा धर्म इति सचमेतदाकुलमत आह—

तद्वचनादाग्नायस्य प्रामाण्यम् ॥ ३ ॥

सदित्यनुपक्रान्तमपि प्रसिद्धिसिद्धतयेत्यरं परामृशति, यथा “तदग्रामाण्यम-

कुचे उसकी आहुति ला जाते हैं जो सन्धिकाल में हवन करता है” इत्यादि वाक्य से विरोधदोष भी आता है । तथा उसी प्रकार ‘त्रिं प्रथमामन्वाह विरुक्तमामन्वाह’ अर्थात् तीन बार प्रथम मन्त्र को बहे और तीन ही बार उत्तम (अन्तिम) मन्त्र को बहे, इस विधिवाक्य से प्रथम तथा अन्तिम सामिधेनी^१ यज्ञों के तीन बार उच्चारण के कथन से पुनरुक्त दोष भी आता है । और नहीं है आग्नाय (वेदरूप आगम) के प्रामाण्य को वर्णन करने में कोई प्रमाण । क्योंकि उसकी निरूपता में विवाद होने से, नित्य निर्दोष होने भी वेद में सदिग्ध है । यदि वेद को पौरुषेय (पुरुष से युक्त) माना जाय तो,^१ भ्रान्ति, असावधानता, अज्ञान तथा इन्द्रियों का अमाश्रय इत्यादि प्राणिमात्र में होनेवाले दोषों की संभावना होने से आप्त पुरुष में वेद कथित है यह भी सन्दिग्ध है, अतः आगम में प्रामाण्य का निश्चय न होने के कारण निश्चयस्वरूप फल अथवा तत्त्वज्ञानरूप उत्पत्ति व्यापार, तथा धर्म यह संपूर्ण सिद्धान्ती का वर्णन करना असम्भव है—इस पूर्वपक्षीयता के समाधान में क्याव महर्षि का तृतीय सूत्र वर्णन करते हैं—

पदपदार्थ—तद्वचनात् = ईश्वर से निमित्त होने के कारण, आग्नायस्य=वेदरूप आगम की, प्रामाण्यम् = प्रामाण्यता है ॥ ३ ॥

भाषार्थ—नित्यानिर्दोष ईश्वररूप परमब्रह्म से प्रणीत होने के कारण वेद को अवश्य धर्म में प्रमाण मानना होगा, अतः उसके निमित्त आगम में ‘अनृतत्व’ आदि कोई दोष नहीं हो सकते यह सूत्र की व्याख्या में स्पष्ट किया जायगा ॥ ३ ॥

उपत्कार—प्रस्तुत अर्थ के न होने पर भी ‘वत्’ यह पद प्रसिद्धिवाचकतापद को लेकर साधारण प्रसिद्धि से निवृत्त होने के कारण ईश्वरवाचक है । इस कारण ईश्वर से निमित्त होने के कारण आग्नाय (वेद) को प्रामाण्य है, अर्थात् ईश्वरप्रणीत होने से वेद प्रमाण है । यदि द्वितीय सूत्र में प्रस्तुत सनिहित धर्म को लेकर वेद में प्रामाण्य

१ अग्नि को प्रज्वलित करने के मन्त्र को सामधेनी मन्त्र कहते हैं । अतएव कोश में कहा है—‘ऋक् सामधेनीं घाय्या च या स्यादग्निसमिध्वने’ अर्थात् ‘अग्नि प्रज्वलित करने के मन्त्र का नाम है सामधेनी ।

नृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः” इति गौतमीयसूत्रे तच्छब्देनानुपक्रान्तोऽपि वेदः परामृश्यते । तथा च तद्वचनात्तेनेश्वरेण प्रणयनादात्मन्यस्य वेदस्य प्रामाण्यम् । यद्वा तदिनि सन्निहितं धर्ममेव परामृशति तथाच धर्मस्य वचनात् प्रतिपादनात् आत्मन्यस्य वेदस्य प्रामाण्यम्, यद्धि वाक्यं प्रामाणिकमर्थं प्रतिपादयति तत्प्रमाणमेव यत इत्यर्थः । ईश्वरस्तदात्मन्वच्च साधयिष्यते । यद्योक्तम्— “अनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः” इति नत्रानृतत्वे जन्मान्तरीयफलकल्पनम्, कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यकल्पनं या, श्रौतात् साङ्गत् कर्मणः फलावश्यम्भाय-निश्चयात् । न च कारीरीवदैहिकमात्रफलकत्वम् तत्र हि शुष्यच्छस्यसस्त्रीवनका-मस्याधिकारं पुत्रेष्टी पुत्रमात्रकामभ्येति विशेषात् । न च व्याघातोऽपि उदि-सादिहोमं विशेषतः प्रतिज्ञाय सदन्यकाले होमानुष्ठाने “श्यावोऽस्याहुतिमभ्य-वहरति” इत्यादिनिन्दाप्रतिपादनात् । न च पुनरुक्ततादोषोऽपि एकादशसामि-

का निर्वाह हो सकता है तो असनिहित (अप्रस्तुत) ईश्वर को ‘तत्’ पद से सूत्र में ग्रहण करना अयुक्त है ऐसा माना जाय तो इस पक्ष से भी वेद का प्रामाण्य सिद्ध करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि अथवा ‘तत्’ यह पद सन्निहित धर्म का ही ग्रहण करता है, तथा च धर्म के वचन (प्रतिपादन) में आत्मन्य (वेद) को प्रामाण्य है, अर्थात् वेद में धर्म का वर्णन होने से वेद प्रमाण है, क्योंकि जो वाक्य प्रमाणविषय (प्रामाणिक) अर्थ को प्रतिपादन करता है वह प्रमाण ही होता है । ईश्वर तथा उसकी आप्तता (यथार्थ वस्तुता) यह दोनों अग्रिम ग्रन्थ में सिद्ध किया जायगा । और जो पूर्वपक्षी और ने कहा कि अनृतत्व, व्याघात तथा पुनरुक्त ऐसे तीन दोष आने के कारण वेद अप्रमाण है ; उसमें ने अनृतत्व दोष जन्मान्तर में पुनरुक्त फल मानने से अथवा कर्म (यागादि) कर्मकर्ता तथा साधनो में विगुणता रूप अंगहीनता होने के कारण नहीं हो सकता, क्योंकि वेशोक्त साङ्गकर्म से फल अवश्य होता है यह निश्चित है । यद्वा शंकरमिश्र ने दिया हुआ ‘यद्वा’ इसमें वाकार विकल्परूप अर्थ का ही बोधक है न कि अनास्था (अथद्वा) का । इस कारण पुत्रेष्टि याग का ऐहिक (इम लोक में) ही पुत्रप्राप्तिरूप फल न होने के कारण जन्मान्तर में पुत्रप्राप्तिरूप फल की कल्पना हो सकती है, इसी आशय से आगे ‘नच’ इत्यादि शका ग्रन्थ संगत होता है । वृष्टिप्रतिबन्ध के कारण धान्य शुष्क होने पर कारीरी नामक याग जिस प्रकार केवल इम जन्म ही में वृष्टि द्वारा धान्य को देना है, उस प्रकार वैदिक कर्म ऐहिक फल-दायक ही होता है, अतः पुत्रेष्टियाग ऐहिक फलमात्र का उदाहरण है यह पूर्वपक्षी नहीं कह सकता, क्योंकि कारीरी याग में शुष्क (सूखने वाले) धान्य को पुनर्जीवित करने की इच्छा करने वाले पुरुष की अधिकार है, और ‘पुत्र याग में सामान्य रूप से पुत्रमात्र की कामना रखने वाले पुरुष को अधिकार है यह विशेषता है । तथा पूर्व पक्षी से कहा हुआ व्याघात दोष भी नहीं आ सकता, क्योंकि सूर्योदय आदि तीन

धेनीनां प्रकृतौ पाठात् "पञ्चदशाक्षरेण वाग्वज्रेणाववांचे तमिमं भ्रातृव्यम्"
इत्यत्र सामिधेनीनां पञ्चदशाक्षरस्य प्रथमोत्तमसामिधेन्योस्त्रिभिधानमन्त-
रेणानुपपत्तेर्मन्थाभिधानात् ॥ ३ ॥

शिष्याकाङ्क्षानुरोधेन स्वरूपतो लक्षणतश्च धर्मं व्याख्यायाभिधेयसम्बन्ध-
प्रतिपादनाय सूत्रम्—

धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां
पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निश्रेयसम् ॥ ४ ॥

कालो मे से किसी काठ में हवन करने की विशेष रूप से प्रतिज्ञा कर जो हवन-
कर्ता उससे भिन्न बाल में हवन करता है उसके हव्यभाग को देवताओं के कुत्ते
श्याव तथा श्वल खा जाते हैं इत्यादि रूप से निम्ना का प्रतिपादन 'श्यावोऽस्याहुतिम-
भ्यधहरति' इत्यादि तीन वाक्यों में किया है। इसी प्रकार पूर्वपक्षी का दिया
हुया तृतीय पुनरुक्ततादोष भी नहीं हो सकता क्योंकि प्रकृत (मुख्य) याग में एकादश
(ग्यारह) ही सामधेनी मन्त्रों का पाठ होने से, 'पञ्चदश (पन्द्रह) आवरण वाले,
वाणी (मन्त्र) रूप वध से पीडा देता हूँ, उस इस सन्तु को' इस अर्थवाद वाक्य में
सामधेनी मन्त्रों का पञ्चदश संख्या होना प्रथम, तथा अन्तिम मन्त्र को तीन बार
कहे बिना सगत नहीं हो सकता इस कारण पुनरुक्तिदोष भी नहीं आ सकता,
मदोकि सप्रयोजन पुनर्वचन दोष यह नहीं होता किन्तु निष्प्रयोजन पुनर्वचन ही
पुनरुक्तिदोष कहाता है ॥ ३ ॥

प्रथमसूत्र में वैशेषिकदर्शन के निर्माण का प्रयोजन, अधिकारी, विषय तथा
सम्बन्धरूप अनुबन्धचतुष्टय सूचित होने पर भी उसमें शिष्यों की उरकट जिज्ञासा
को निवृत्त करने के लिये स्वयं सूत्रकार ने उसका प्रतिपादन किया है, इस अभिप्राय
से साकरमिथ उपस्कार में कहते हैं कि शिष्यों की जिज्ञासा के अनुरोध (आग्रह)
नि स्वरूप तथा लक्षण द्वारा धर्म की व्याख्या कर अभिधेय (विषय), तथा सम्बन्ध
का वर्णन करने के लिये चतुर्थ सूत्र कणाद महर्षि ने इस प्रकार कहा है। यहा पर
विषय और सम्बन्ध यह दोनों अवशिष्ट प्रयोजन तथा अधिकारी का भी उप-
लक्षण (जताने वाला) है, अतः प्रेक्षावानों की वैशेषिकदर्शन के अध्ययन करने की
प्रवृत्ति प्रदर्शित अनुबन्ध चतुष्टय होने से सगत है,। यद्यपि नि श्रेयसरूप प्रयोजन
सूत्र में स्पष्ट होने से साकर मिथ ने नहीं किया है, अधिकारी तो अर्थात् प्राप्त होता
है, कि जो पदार्थ तत्त्वज्ञान प्राप्ति द्वारा नि श्रेयस का अर्थ होता है।

पदपदार्थ—धर्मविशेषप्रसूतात्=धर्मविशेष से उत्पन्न, द्रव्यगुणकर्मसामान्य-
विशेषसमवायानां=द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय नामक,
पदार्थानां=पदपदार्थों के, साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां=समान धर्म तथा विरुद्ध धर्म रूप धर्मों
से, तत्त्वज्ञानात्=वास्तविक ज्ञान से, नि श्रेयसम्=मोक्ष होता है ॥ ४ ॥

एतादृशं तत्त्वज्ञानं वैशेषिकशास्त्राधीनमिति तस्यापि निःश्रेयसहेतुत्वं दण्डापूर्णाधिक्यम् । तत्त्वं ज्ञायतेऽनेनेति करणव्युत्पत्त्या शास्त्रपरत्वे धर्मविशेष-प्रसूनादित्यनेनानन्वयापत्तेः । सर्वपदार्थप्रवाजो द्वन्द्वश्चात्र समासः सर्वपदार्थ-तत्त्वज्ञानस्य निःश्रेयसहेतुत्वात् । तदत्र शास्त्रनिःश्रेयसयोर्हेतुहेतुमद्भावः, शास्त्रतत्त्वज्ञानयोर्व्यापारव्यापारिभावः, निःश्रेयसतत्त्वज्ञानयोः कार्यकारणभावः, द्रव्यादिपदार्थशास्त्रयोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः सम्बन्धोऽवगम्यते । एतेषाञ्च

भाषार्थ—वैशेषिकदर्शन के मत में विशेष धर्म द्वारा उत्पन्न द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय नामक पदपदार्थों के वास्तविक (यथार्थ) ज्ञान से जो उनके परस्पर समान (साधारण) धर्मों तथा विरुद्ध (विशेष) धर्मों के ज्ञान-रूप धर्मज्ञान से हो उत्पन्न होता है, वही आत्यन्तिक आध्यात्मिकादि त्रिविध दुष्टों की निवृत्तिरूप निःश्रेयस का जनक है । इस सूत्र में वैशेषिकदर्शन का अभिधेय द्रव्यादि पदपदार्थ हैं, तथा दर्शनमूत्रों का तथा पदपदार्थों का प्रतिपाद्यप्रतिपादक-भावसम्बन्ध है यह भी दृष्टि होता है ॥ ४ ॥

उपस्कार—इस चतुर्थ सूत्र में 'साधर्म्यवैधर्म्याम्ना' इस पद में जिस प्रकार तृतीया विभक्ति का अमेद अर्थ है, जिससे 'वाग्येन धनवान्' इस वाक्य में वाग्येन इन तृतीया विभक्ति से वाग्यरूप धनवाला ऐसा अर्थ होता है, उसी प्रकार साधर्म्य तथा वैधर्म्यरूप तत्त्वज्ञान से ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिये । इस आशय में शंकरमिश्र सूत्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि ऐसा सूत्रोक्त तत्त्वज्ञान वैशेषिकदर्शनशास्त्र के अधीन है इस कारण शास्त्र में भी निःश्रेयस की कारणता दण्डापूर्णा अथवा कैमुतिकन्याय से निवृद्ध होती है, अर्थात् भूते ने दण्डे को खाया तो उस में लगे हुए मालपुत्रों को खाया यह जैसे अर्थात् प्राप्ति होता है, उसी प्रकार शास्त्र से पदार्थ तत्त्वज्ञान होता है इससे शास्त्र भी निःश्रेयस में कारण है यह अर्थात् सिद्ध होता है, यदि 'तत्त्वं ज्ञायते जाना जाता है' इस प्रकार करणअर्थ की स्युन्पत्ति की लेकर तत्त्वज्ञानपद का शास्त्र ऐसा अर्थ किया जाय, तो तत्त्वज्ञान-पद का सूत्र में 'धर्मविशेषप्रसूनात्' इस पद के साथ अन्वय न बनेगा, क्योंकि वैशेषिक-शास्त्र में होनेवाला पूर्वोक्त तत्त्वज्ञान धर्मविशेष से उत्पन्न होता है । इस सूत्र में 'द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषममवायानां' इस समस्त पद में द्रव्य इत्यादि पद-पदार्थों को प्रधान मान कर द्वन्द्वसमास करना चाहिए क्योंकि द्रव्यादि सम्पूर्ण पदार्थों का तत्त्वज्ञान निःश्रेयस का कारण है । तस्मात् इस सूत्र में शास्त्र तथा निःश्रेयस का कारणकार्यभाव, शास्त्र तथा तत्त्वज्ञान का व्यापारव्यापारिभाव, निःश्रेयस और तत्त्वज्ञान का कार्यकारणभाव, एवं द्रव्य आदि पदपदार्थ तथा शास्त्र का प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावसम्बन्ध है यह बोधित होता है । इन सम्पूर्ण सम्बन्धों के ज्ञान से भोज्य चाहनेवाले प्राणियों की इस वैशेषिकदर्शनशास्त्र में प्रवृत्ति

सम्बन्धानां ज्ञानान्नि श्रेयसार्थिनामिह शास्त्रे प्रवृत्तिः, मोक्षमाणाश्च मुनेर्गृही-
ताप्रभावा एव शास्त्रे प्रवर्तन्ते । नि श्रेयसमात्यन्तिको दुःखनिवृत्तिः । दुःख-
निवृत्तेश्चात्यन्तिकत्वं समानाधिकरणदुःखप्रागभावसमानकालीनत्वं युग-

होगी है । यदि पूर्वपक्षी कहे कि उक्त साधर्म्य तथा वैधर्म्यस्य तत्त्वज्ञान नि श्रेयस
का कारण है इसमें क्या प्रमाण ? तो शंकरदेव ऐसा उत्तर देने हैं कि मुक्ति की इच्छा
करनेवाले दिव्य प्राणी महर्षि कणाद को आप्तोद्भवकारी समझ कर ही शास्त्र के
अध्ययन में प्रवृत्त होते हैं, अर्थात् आप्तोत्तमाहेतुक अनुमान ही तत्त्वज्ञान नि श्रेयस
का कारण है इसमें प्रमाण है ।

इस प्रकार वैशेषिकदर्शनशास्त्र में प्रवृत्ति के कारण विषय तथा सम्बन्ध का
वर्णन करने के पश्चात् साक्षात् सूत्र में निदिष्ट नि श्रेयसम्पर प्रयोजन का लक्षण
वर्णन करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि आत्यन्तिक (अवश्य होनेवाली) दुःखत्रय-
निवृत्ति का नाम है नि श्रेयस । उस दुःखनिवृत्ति की आत्यन्तिकता यह है कि एक
ही आत्मारूप आश्रय में दुःख के प्रागभाव की समानकालता न होना, अर्थात् एक ही
आत्मा में जो दुःखों का नाश अग्रिम दुःखों के प्रागभाव के समान काल में न होता हो
(यहाँ इस लक्षण में प्रलयसमय के दुःखध्वंसों के अन्य आत्मा के दुःख प्रागभाव
के समान काल में होने में अव्याप्तिदोष के वारणार्थ स्वसमानाधिकरण यह विशेषण
दिया गया है । तथा इस काल के दुःखध्वंस में अतिव्याप्तिदोष के वारणार्थ दुःख
प्रागभाव के असमकालीन ऐसा विशेषण दिया गया है यह जान लेना ।)

शंकरमिश्र कहते हैं अथवा जो अंशवश में प्रागभाव नहीं मानते उनके मत से 'एक
काल में उत्पन्न एक ही आत्मा में होने वाले सम्पूर्ण आत्मा के विशेष गुणों के नाश की
समानकालीनता ही दुःखनिवृत्ति की आत्यन्तिकता कहाती है', अर्थात् एक ही मुक्त
होने वाले आत्मा के एक ही समय में उत्पन्न सम्पूर्ण आत्मा के बुद्ध्यादि विशेष गुणों
के नाश की समानकालता आत्यन्तिकता है । (तात्पर्य यह है कि एक काल में
उत्पन्न अपने से भिन्न एक अधिकरण में योग्य विशेषगुण की उत्पत्ति के लक्षण में
उत्पन्न होने वाले जो एक आश्रय में वर्तमान सम्पूर्ण सत्कार अदृष्टादि रूप गुण,
(दूसरे आत्मविशेषगुणों के समानाधिकरण योग्य बुद्धोत्पत्ति क्षण में उत्पन्न न होने
से) उनके जो ध्वंस उनकी समानकालीनता ही आत्यन्तिकता कहाती है । यहाँ
पर उस आत्मा मिश्रकाल में होनेवाले उस आत्मा के विशेष गुण के ध्वंस के
भी उस उत्पत्ति के क्षण में उत्पन्न न होने से अव्याप्तिदोष हो जायगा, क्योंकि यह
आत्मविशेषगुणध्वंस भी समूहान्तर्गत है, इसलिये युगपदुत्पन्न ऐसा विशेषण दिया
है तथा उसी ध्वंस के उत्पत्ति के क्षण में उत्पन्न दूसरे आत्मा के विशेषगुणों
का ध्वंस भी समूहान्तर्गत होने से तत्त्वज्ञानकालीनता को लेकर आत्मा में अतिव्याप्ति-
दोष वारण के लिये समानाधिकरण यह विशेषण दिया है । यदि 'सर्व' यह विशेष-

पदुत्पन्नममानाधिकरसर्वात्मप्रियोगुणध्वससमानकालीनत्वं वा । अशेष-
विशेषगुणध्वंभावधिकदुःखप्रागभावो वा मुक्तिः । न चासाध्यत्वान्नार्थं पुरुषार्थः
कारणविघटनमुखेन प्रागभावस्यापि माध्यत्वात् । न च तस्य प्रागभाव-
त्वश्रुतिः प्रतियोगिजनकाभावत्वेन तथात्वात् । जनकत्वञ्च स्वरूपयोग्यता
मात्रम्, नहि प्रागभावश्चरमसामग्री चेन तस्मिन् सति कार्यमवश्य-

गुण में विशेषण न दिया जाय तो किसी दुःख-ध्वम के साथ एक काठ में उलझ
होने से कुछ आत्मा के विशेष गुणों के ध्वम को लेकर अतिव्याप्तिशेष आ जायगा
अतः सर्वपद दिया गया है ।

(सम्पूर्ण विशेषगुणध्वमस्वरूप अवधि होना है साध्य हो सकना है इन अभिप्राय से
लघुरूप दुःखनिवृत्ति को आरम्भिकता के आशय से शङ्करमिथ निःश्रेयस का
लक्षण ऐसा कहते हैं कि) सम्पूर्ण आत्मा के विशेषगुणों का ध्वस जिसकी अवधि हो
ऐसे दुःख के प्रागभाव हो को मुक्ति कहते हैं । (इस लक्षण में विशेषगुणपद में
उसी मुक्त होनेवाले आत्मा के विशेषगुण सेना चाहिये नहीं तो महाप्रलय के पूर्व-
क्षण में निःश्रेयस अप्रसिद्ध हो जायगा । विशेषगुणध्वंस की अवधि वह पदार्थ है जो
उम आत्मविशेष विशेषगुणों के ध्वम के आधारलक्षण में वर्तमान अवधि का निरूपण
करना, इसमें स्वरूपसम्बन्धरूप है अवधिना, अर्थात् सम्पूर्ण आत्मा के विशेषगुण के
ध्वंसकाल को प्रारम्भ कर जितना समय है तन्मात्रवृत्तता को लेकर उस आत्मा
की मुक्ति में लक्षण समन्वय हो जायगा । यही पर पूर्वपक्षो ऐसी शक्य नहीं कर सकना
कि प्रागभाव के अनादि होने में उसमें साध्यता न होने के कारण उक्त दुःखप्राग-
भाव मुक्ति कैसे हो सकनी है ? क्योंकि दुःखों के कारणों के निवृत्ति द्वारा अर्थात्
दुःखप्रागभाव के प्रतियोगी दुःखादिकों के कारण के समावपनादन द्वारा दुःखप्राग-
भाव अनादि होने पर भी माध्य हो सकना है (साध्यरूप से व्यवहार किया जा
सकता है) क्योंकि सिद्ध पदार्थ में ही इच्छाविषय माध्यतारूप विषयता नहीं होती ।
ऐसा मानने से उसमें प्रागभावस्वरूप की हानि भी न होगी, क्योंकि प्रतियोगी
को उत्तरण करनेवाले अभाव की प्रागभाव कहते हैं यह प्रागभाव का लक्षण उक्त
दुःखमाध्वरूप मुक्तिलक्षण में भी वर्तमान ही है, क्योंकि जनकता (कारणता)
यहां पर कार्य को उत्पन्न करने की स्वरूपयोग्यतामात्र है न कि फलजनकता,
कारण यह कि प्रागभाव कोई अन्तिम कार्य की सामग्री नहीं है जिससे उसके रहने
पर कार्य अवश्य होगा, यदि ऐसा हो तो कार्य भी अनादि हो जायगा । अर्थात् 'जन-
कत्वं च' इस व्याख्यान में शङ्करमिथ ने प्रागभाव साधारण जनकता का उपपादन
किया है, अतः उस व्यक्ति के प्रति उस व्यक्ति के प्रागभाव की कारणता जो सर्व-
वादियों को अभिमत है, जिसमें 'यद्विशेषयोस्तत्सामान्ययो' अर्थात् जिनके विशेषों का
उनके सामान्यों का (कार्यकारणभाव होता है) इस न्याय में विलक्षण प्रतियोगिता-

म्भयेत् तथा सति कार्यस्याप्यनादित्वप्रसङ्गात्, तथा च यथा सहकारि-
विरहादियन्त काल नाजो जनत् तथाप्येऽपि सद्विरहान्न जनयिष्यति, हेतू-
च्छेदे पुरुषव्यापारात्' इत्यस्यापि प्रागभावपरिपालन एव तात्पर्यात्। अत एव
गीतमोयद्वितीयसूत्रे "दुःख जन्मप्रवृत्तिदोषमिध्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तद-
नन्तरापायादपवर्ग' इत्यत्र कारणाभावात् कार्य्याभावाभिधानं दुःखप्रागभावरूपा-
मेव मुक्तिं द्रष्टव्यम्। नहि दोषापाये प्रवृत्त्यपायः, प्रवृत्त्यपाये जन्मापायः,
जन्मापाये दुःखापाय इत्यपायो ध्वसः, किन्त्वनुत्पत्तिः। सा प्रागभाव एव।
नच प्रतियोग्यप्रसिद्धि सामान्यतो दुःखत्वेनैव प्रतियोगिप्रसिद्धे प्रायश्चित्तवत्,

विशिष्ट मे प्रागभावरूप अलक्ष्णधर्म मे कारणता अवश्य माननी पडेगी ऐसा यहाँ
उनके उपस्कारप्रवृत्ति का आशय है। अतः चकरमिय आगे कहते हैं कि 'तथा च'
ऐसा होने से जिस प्रकार सहायक के अभाव से इतने समय तक प्रागभाव ने
कार्य को उत्पन्न नहीं किया उसी प्रकार आगे भी सहायक के विरह से कार्य को
उत्पन्न न करेगा। क्योंकि 'हेतूच्छेदे पुरुषव्यापारात्' अर्थात् दुःख-कारणों के नाश करने
में पुरुष प्रयत्न करते हैं इस सूत्र का भी प्रागभाव के परिपालन में तात्पर्य है और
इसी कारण गीतम के द्वितीय म्यायसूत्र में 'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिध्याज्ञानानामुत्तरोत्तरा-
पाये तदनन्तरापायादपवर्ग' इस सूत्र में मिध्याज्ञानादिरूप कारणों के अभाव से दोषादि-
रूप कार्यों के अभाव का कथन दुःखप्रागभावरूप मुक्ति की ही निश्चयरूप से सिद्ध
किया है, क्योंकि 'रागद्वेषादि दोषों के निवृत्ति से प्रवृत्ति की निवृत्ति तथा प्रवृत्ति
की निवृत्ति से जन्म की निवृत्ति तथा जन्म की निवृत्ति से दुःख की निवृत्ति' इस
स्थल में अपाय शब्द का अर्थ ध्वस नहीं है, किन्तु अग्रिमशब्द के न होने से अग्रिम-
दुःखों की अनुत्पत्ति (न होना) वह प्रागभाव रूप ही है। इस दुःखप्रागभावरूप
निर्धेयस की सिद्धि में जो प्रथम 'हेतूच्छेदे' यह सूत्र प्रमाण दिया है, उसका यदि
दुःखप्रागभाव में तात्पर्य न हो तो दुःखध्वस के ही पुरुषव्यापार से साध्य होने
के कारण उक्त सूत्र में 'हेतूच्छेदे' यह पद व्यर्थ ही जायगा, किन्तु इस दुःखप्रागभावरूप
मुक्ति के पक्ष में यह विचारणीय है कि सामान्यरूप से उत्तरकाल में सम्बद्ध दुःख-
प्रागभाव सत्सारदशा साधारण होने से दुःखप्रागभाव के अधिकरण आत्मा में वर्तमान
तथा दुःख के असमानकाल के दुःखध्वस से विशिष्ट ही दुःखप्रागभाव की मुक्ति
बढ़ना पड़ेगा, जो मुक्त पुरुष को आगे दुःख उत्पन्न न होने के कारण मुक्तिकाल में
इसका प्रागभाव नहीं है, तथा अविध्य ही दुःखप्रागभाव का प्रतियोगी होता है, इस
कारण उक्त विशिष्ट प्रागभाव अप्रसिद्ध है। यदि कहो कि 'तब तो मुझे दुःख न हो
इस कामना के निर्विषय होने से प्रेक्षावान् प्राणियों की पूर्वजन्म कर्मजन्म अग्रिम दुःख-
फल की निवृत्ति के लिये प्रार्थारचत्तादि कर्म में प्राणियों की प्रवृत्ति न होगी' तो यह
नहीं हो सकता, क्योंकि वह प्रवृत्ति उत्तरोत्तरकाल में होनेवाले दुःखों के अत्यन्ताभाव

तत्रापि प्रत्यवायध्वंसद्वारा दुःखानुत्पत्तेरेवापेक्षितत्वात् लोकेऽप्यहिकण्टकादि-
निवृत्तेर्दुःखानुत्पत्तिफलकत्वदर्शनात् दुःखसाधननिवृत्त्यर्थमेव प्रेक्षावतां प्रवृत्तिः ।

केचित्तु दुःखात्यन्ताभाव एव मुक्तिः । स च यद्यपि नात्मनि प्रत्ययापि लोष्टा-
दिनिष्ठ एवात्मनि साध्यते । सिद्धिश्च तस्य दुःखप्रागभावासहवर्तिदुःखध्वंस एव
तस्य तत्सम्बन्धतयोपगमात्, तस्मिन् सति तत्र दुःखात्यन्ताभावप्रतीतिः । एवञ्च
सति “दुःखेनात्यन्तं विमुक्तश्चरति” इत्यादिभूतिरप्युपपादिता भवतीत्याहुः ।

को विषय करती है, ऐसा मानने से निर्वाह हो जायगा । यदि कही कि ‘अत्यन्ताभाव
नित्य होने से उसमें साध्यता विरुद्ध है’ तो यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि प्रागभाव
के समान अत्यन्ताभाव भी साध्य हो सकता है । इसी अर्थ में शंकरमिश्र ने
‘वामुक्तिः’ पहाँ पर वास्तव्य का अनादर से प्रयोग किया है, क्योंकि असाध्यता-
रूप अत्यन्ताभाव तथा प्रागभाव दोनों पक्ष में समान होने के कारण दुःखध्वंस ही
मुक्तिपदार्थ है ऐसा शंकरमिश्र ने आगे सिद्धान्त किया है । उक्त प्रकार के दो प्रमाणों
से सिद्ध दुःखप्रागभावरूप मुक्ति के पक्ष में शंकरमिश्र कहते हैं कि प्रायश्चित्त के
समान सामान्यरूप से दुःखस्वरूप में दुःख प्रसिद्ध होने के कारण दुःखप्रागभाव के
प्रतियोगि दुःख की अप्रसिद्धि है ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता, क्योंकि प्रायश्चित्त
करने में प्रत्यवाय (पापजन्यरूप) के नाश के द्वारा अग्रिमुदुःख की अनुत्पत्ति
(प्रागभाव) ही अपेक्षित होता है, तथा लोकव्यवहार में सर्प, कण्ठक आदिकों के
निवृत्ति करने का भी अग्रिम सर्पादिजन्य दुःखों से निवृत्त होता ही फल देखने में
आता है, इससे यह सिद्ध होता है कि प्रेक्षावान् पुरुषों को दुःखों के साधनों से निवृत्ति
होने के लिए ही प्रवृत्ति होती है ।

(इस प्रकार दुःखप्रागभावरूप मोक्ष को दिखाकर प्राचीन नैयायिकों के एक-
देशमत से दुःखात्यन्ताभावरूप मुक्ति का वर्णन करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—
दुःखों का अत्यन्ताभाव ही कुछ नैयायिकों के मन से तिथ्येय है, वह दुःखात्यन्ता-
भाव यद्यपि आत्मा में नहीं हो सकता, क्योंकि दुःखप्रागभाव के साथ न रहनेवाले
दुःखध्वंसरूप उनके सम्बन्ध के आश्रय आत्मा में ध्वंस तथा प्रागभाव का अत्यन्ता-
भाव के साथ विरोध होने से अत्यन्ताभाव या अंसभव है, तथापि मृत्तिकादि द्रव्यों में
वर्तमान दुःखात्यन्ताभाव का ही आत्मा आश्रय है, दुःखप्रागभाव के साथ न रहने
वाले दुःखध्वंसरूप सम्बन्ध के आश्रय होने से, इस अनुमान से सिद्ध हो सकता
है । जिस दुःखात्यन्ताभाव की सिद्धि की दुःखप्रागभाव के साथ न रहनेवाले दुःख-
ध्वंस में ही है, क्योंकि उसे दुःखात्यन्ताभाव का सम्बन्ध माना गया है । उसके रहने
से आत्मा में दुःखात्यन्ताभाव प्रतीत होता है और ऐसा होने से अर्थात् दुःखात्यन्ता-
भाव के मोक्ष मानने में “दुःखेनात्यन्तं विमुक्तश्चरति”—“दुःख से अत्यन्त मुक्त होकर
रहना है” इस अभिप्राय वाली श्रुति भी सगत हो जाती है ऐसा प्राचीननैयायिक कहते

तन्न दुःखात्यन्ताभावस्यासाध्यत्वेनापुरुषार्थत्वात् । दुःखध्वंसस्य च न तत्र सम्बन्धत्वं परिभाषापक्षे “दुःखेनात्यन्तं विमुक्तश्चरति” इति श्रुतेर्दुःखप्रागभावा-
स्यैव कारणविषयतन्मुख्येनात्यन्ताभावसमानरूपत्वतात्पर्यकत्वात् । नन्वय न
पुरुषार्थं निरुपाधोच्छादयित्वाभावात् दुःखकाले सुख तावन्नोत्पद्यते इति
सुखायिनामेव दुःखाभावार्थं प्रवृत्तेरिति चेन्न वैपरीत्यस्यापि सुखदत्त्वात् सुखे-
च्छापि दुःखाभावोपाधिकोत्पत्त्येव किं न स्यात्, शोकाकुलानां सुखनिमुखानामपि
दुःखाभावमाश्रमभिसन्धाय विषमक्ष्णोद्वन्धनादौ प्रवृत्तिदर्शनात् । ननु पुरु-
षार्थोऽप्ययं ज्ञायमान एव मुक्तेस्तु दुःखाभावस्य ज्ञायमानतैव नास्ति अन्यथा

है । (इस प्रकार के दुःखात्यन्ताभावरूप मुक्तिपक्ष का सञ्जन करते हुए शकरमिश्र
कहते हैं कि) यह नहीं हो सकता, क्योंकि दुःखात्यन्ताभाव भी नित्य होने के कारण
अमाध्य होने में पुरुषार्थ नहीं हो सकता । (यदि कहें कि ‘पूर्वोक्त दुःखध्वंसरूप
सम्बन्ध के साध्य होने से दुःखात्यन्ताभाव भी साध्य हो जायगा’ तो शकरमिश्र कहते
हैं कि) प्राचीनमन मे ध्वंस के अधिकरण मे अत्यन्ताभाव की सत्ता विरुद्ध होने से
सम्बन्धिसमानदेशता नहीं हो सकती, तथा दुःखध्वम . अत्यन्ताभाव का सम्बन्ध
हो भी नहीं सकता, यदि हो तो वह पारिभाषिक भी हो जायगा, अर्थात् कल्पनिक
होगा, क्योंकि उपरोक्त ‘दुःखेनात्यन्तं विमुक्तश्चरति’ इस श्रुति का दुःख कारणों के
निवृत्ति द्वारा दुःखप्रागभाव हो दुःखात्यन्ताभाव के समान हो जाता है ऐसा तात्पर्य
है । यहाँ पर दुःखध्वंसरूप मुक्तिपक्षार्थ के विषय मे पूर्वपक्षी पुन शका करता है
कि—‘यह दुःखध्वम भी पुरुषार्थ नहीं हो सकता, क्योंकि वह निरुपाधिक अन्वेषा-
नधीन इच्छा का विषय नहीं है कारण यह कि दुःख के समय सुख उत्पन्न नहीं होता,
इस कारण सुखानियों की ही दुःखनिवृत्ति के लिये प्रवृत्ति होती है’ । (इस शका का
समाधान शकरमिश्र ऐसा करते हैं कि)—नहीं, ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि इसके
विपरीत कहा जा सकता है कि—सुख की इच्छा दुःखाभावरूप उपाधि से होती है ऐसा
क्यों न हो, कारण यह है कि अत्यन्त शोक से व्याकुल प्राणिशो को सुख की इच्छा
न होने पर भी केवल हम इस दुःख से छुटकारा पावें इस इच्छा से विषमसण,
फासी इत्यादि कर्मों मे प्रवृत्ति देखने मे आती है, इस कारण दुःखध्वंसरूप मुक्ति
के निरुपाधिक इच्छाविषय होने से पुरुषार्थता सिद्ध हो है । इस पर पुन पूर्वपक्षी
ऐसा आक्षेप करता है कि ‘ज्ञायमान (जाना हुआ) ही कोई पुरुषार्थ हो सकता है,
दुःखाभावरूप मुक्ति तो ज्ञान का विषय ही नहीं है, तो यह पुरुषार्थ कैसे होगा’, यदि
ज्ञात न हुआ भी पुरुषार्थ हो तो, भूच्छा (बेहोशी) आदि अवस्था प्राप्ति के लिये भी
प्राणियों की प्रवृत्ति होने लगेगी, अर्थात् फल की इच्छा में फल का ज्ञान कारण है,
प्रकृतदुःखाभावरूप नि श्रेयस तो ज्ञात नहीं है, अतः उस विषय की इच्छा न होने
के कारण उसमे पुरुषार्थ तो नहीं हो सकता, ऐसा पूर्वपक्षी का अभिप्राय है ।

मच्छाद्यवस्थार्थमपि प्रवर्त्ततेति चेन्न श्रुत्यनुमानाभ्यां ज्ञायमानस्यावेद्यत्वानुप-
पत्तेः । अस्ति हि श्रुतिः “दुःखेनात्यन्तं विमुक्तश्चरति” “तमेव विदित्वाऽति-
मृत्युमेति” इत्यादिका । अनुमानमप्यस्मिन्-दुःखसन्ततिरत्यन्तमुच्छिद्यने
सन्नतित्वान् प्रदोषसन्तनिवदित्यादि । चरमदुःखध्वंसस्य दुःखसाक्षात्कारेण
क्षण विषयोकरणात् प्रत्यक्षवेद्यताऽपि । योगिना योगजधर्मबलेनागामिनो
दुःखध्वंसस्य प्रत्यक्षोपगमाच्च । तथापि सुल्यायज्ययतया नाय पुरुषार्थो दुःख-

इस आक्षेप का समाधान करते हुए उरुस्कार मे कहते हैं कि श्रुति तथा अनुमान-
प्रमाण से दुःखध्वंसरूप मोक्ष के ज्ञात होने के कारण ज्ञान मे अविषयतारूप
अवेद्यता नहीं हो सकती । क्योंकि “दुःखेनात्यन्तं विमुक्तश्चरति” “तमेव विदित्वाऽति-
मृत्युमेति” अर्थात् दुःख से अत्यन्त रहित हो जाता है, उसको जान कर ही संसार
से छुटकारा पाता है इत्यादि श्रुति से दुःखध्वंसरूप मुक्ति है यह जाना जाता है ।
तथा विनाशार्थि प्रत्यक्षार गवेद्योपाध्याय ने वर्णन किया हुआ दुःखों का समुदाय,
अत्यन्त विनाशी है, समुदायरूप होने से, दीप के सन्तान (ज्वालामुह) के समान
इत्यादि अनुमानों से भी आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूप मोक्ष जाना गया है अतः उक्त मोक्ष
मे अज्ञातत्व नहीं हो सकता । वहा पर अपने (दुःख के) आधार के असमकालिक
ध्वंस की प्रतियोगिता अत्यन्त उच्छेद शब्द का अर्थ है, जिससे दुःखत्व, अपने आश्रय
के असमकालीन दुःखध्वंस का प्रतियोगी है, सन्तान होने से, प्रदीप सन्तान के समान
यह उक्त अनुमान का सारार्थ निकलना है । यहा पर सततित्व जातिविशेष है,
जो उन-उन आत्माओं के अधर्मरूप अदृष्ट से उत्पन्न दुःखसमुदाय मे वर्तमान होने से
'यह दुःख है' इत्यादि रूप से अनुगत बुद्धि से ही प्राणिमात्र को मानसप्रत्यक्ष से
होने के कारण प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है । अर्थात् भिन्न भिन्न नानाकाल के कार्यमात्र मे
रहनेवाले धर्म को सन्तान कहते हैं ।

इस प्रकार दुःखध्वंसरूप मुक्ति की श्रुति तथा अनुमानप्रमाण द्वारा ज्ञातना
सिद्ध करने के पश्चात् उसमें प्रत्यक्षप्रमाण दिनाते हैं कि अन्तिम दुःखध्वंस का
दुःख के प्रत्यक्ष से (जहा मरण के पूर्वकाल मे दुःखध्वंस के प्रत्यक्ष की सामग्री हो
ऐसे स्थल मे) क्षणमात्र विषय होने के कारण दुःखध्वंस का प्रत्यक्ष से भी अनुभव होने
के कारण भी दुःखध्वंसरूप मोक्ष ज्ञान ही है । कार्यसहभाव ही विषय मे कारणता
होनी है, नकि पूर्ववर्तमानता इस मत से यह कहा गया है (यदि ऐसा दुःखध्वंस के
विषय मे प्रत्यक्ष न माना जाय तो भी शंकरमिश्र कहते हैं कि) योगियों को योग-
ममाधि मे उत्पन्न धर्म के बल से दुःखध्वंस का प्रत्यक्ष होता है यह भी माना गया
है इसमे प्रत्यक्षप्रमाण भी दुःखध्वंस मे श्रुति तथा अनुमान के समान प्रमाण है यह
सिद्ध होने के कारण दुःखध्वंस से अज्ञायमान होने से पुरुषार्थ नहीं हो सकता यह
पूर्वपक्षी का अक्षेप असंगत है । इस पर पुन पूर्वपक्षी दांका करता है कि 'तथापि आप

वत् सुखस्यापि हाने द्वयोरपि समानसामग्र्योक्तवादिति चेत् उत्सर्गतो योत
 रागाणां दुःखदुर्दिनमोरूपा सुखव्यतिक्तिकामात्रेऽलम्ब्ययवतां सत्र प्रवृत्तेः
 ननु तथापि दुःखनिवृत्तिर्न पुरुषार्थः अनागन्तुः सनिवृत्तेरशक्यम्यात् अनांत
 दुःखस्यातीतत्वात् वर्तमानदुःखस्य पुरुषप्रयत्नमन्तरेणैव निवृत्तेरिति चेत्
 हेतुच्छेदे पुरुषव्यापारात् प्रायश्चित्तवत् । तथाहि सवासनं मिथ्याज्ञानं संसार
 हेतुस्तदुच्छेदश्चात्मनस्त्वज्ञानात् तत्प्रज्ञानञ्च योगविधिसाध्यमिति तद्वत्
 प्रवृत्त्युपपत्तेः ।

ननु नित्यसुखाभिव्यक्तिरेव मुक्तिर्नतु दुःखाभाव इति चेन्न नित्यसुखं

(प्राप्ति) तथा व्यय (हानि) इन दोनों की समानता होने के कारण यह दुःखवत्
 पुरुषार्थ नहीं हो सकता, क्योंकि दुःख के समान सुख की भी हानि (नाश) हो
 जायगा, क्योंकि दुःख तथा सुख दोनों की सरीर इन्द्रियादिक्रम सामग्री समान ही है
 अर्थात् इष्ट (सुख) तथा अनिष्ट (दुःख) दोनों के समान होने से दुःख की हानि
 होना इष्ट होने पर भी सुख की हानि अनिष्ट होने पर भी दुःख की उपरोक्त सामग्री
 से उत्पन्न होने के कारण उन सुख के हानि के लिये किसी प्राणी की प्रवृत्ति नहीं हो
 सकती । अतः दुःख का चम पुरुषार्थ नहीं हो सकता । (इस शका के उत्तर में
 शंकरमिश्र ऐसा समाधान करते हैं कि) सामान्यका से रापरहित विरक्त पुरुषों का
 जो दुःखरूप दुर्दिन (देखाच्छादि) में भग्न करनेवाले अतएव जुगन्तु के
 समान चमकवाले सुख के लेशमान को न भी चाहने वाले प्राणिमो की दुःखवत्सका
 भोज के लिये प्रवृत्ति हो सकती है । इस पर पुनः आक्षेप करनेवाला यदि ऐसा
 आक्षेप करे कि—तथापि दुःखवत् इस कारण पुरुषार्थ नहीं हो सकता, कि भविष्य
 में होनेवाले दुःखों के वर्तमान में न रहने से उनकी निवृत्ति नहीं हो सकती
 क्योंकि दुःख तो नष्ट हो ही चुके हैं, वर्तमान दुःख बिना पुरुष के प्रयत्न के भोग
 निवृत्त हो ही जायेंगे, अतः दुःखनिवृत्ति पुरुषार्थ नहीं हो सकती । (तो इस आक्षेप
 का समाधान शंकरमिश्र ऐसा देते हैं कि) अग्निमदुःख के निवृत्ति के लिये प्रायश्चित्त
 के समान दुःख के कारणों के उच्छेद के लिये पुरुष प्रयत्न करते हैं, अतः प्रयत्न
 शीघ्र नहीं हो सकता । तथाच वासनासहित मिथ्याज्ञान संसारबंधन का कारण है
 जिसका नाश आत्मा के वास्तविक ज्ञान से (विरोधी होने के कारण) होगा, अतः
 आत्मा का तत्त्वज्ञान योगदर्शनोक्त योग (समाधि) से होता है, अतः उसके लिये
 प्रवृत्ति हो सकती है ।

(भीमासबाधित मुक्ति का सङ्गठन करने के लिये उनके मत से मुक्तिपरायण
 की शका दिखाते हैं कि) 'नित्यसुख का आनिर्भाव होना ही मोक्ष है, न कि दुःख-
 ध्वंस' । किन्तु यह सगत नहीं है क्योंकि इस नित्यसुख में कोई प्रमाण नहीं है । यः ।

प्रमाणाभावात्, भावे वा नित्य तदभिव्यक्तेर्मुक्तसंसारिणोरविशेषापातात् अभिव्यक्तेरुत्पाद्यत्वेन तन्निवृत्तौ पुनः संसारापत्तेश्च ।

ब्रह्मात्मनि जीवात्मलये मुक्तिरिति चेन्न लयो यद्येकोभानस्तदा याधात् नहि द्वयमेकं भवति । लिङ्गशरीरापगमो लयो लिङ्गश्चैकादशेन्द्रियाणि तेषां शरीरस्य च विगमो लय इति चेन्न एतावता दुःखसामग्रौ विरहस्योक्तत्वात् तथाच दुःखाभाव एव मुक्तिरिति पर्यवसानात् ।

एतेनाविद्यानिवृत्तौ केवलात्मस्थितिर्मुक्तिः आत्मा च विज्ञानसुखारमक इत्येकदण्डमममपास्तम् । आत्मनो ज्ञानत्वे सुखत्वे च प्रमाणाभावात् । न

मीमांसक कहे कि 'आनन्द ब्रह्मणो रूपं नित्यं विज्ञानमानन्द ब्रह्म अर्थात् आनन्द ब्रह्म का रूप है, वह नित्य, ज्ञान तथा आनन्दरूप ब्रह्म है, इत्यादि धृति ही मुक्ति में नित्य-सुख है इस विषय में प्रमाण है' तो यह मानने पर भी नित्य उस सुख की अभिव्यक्ति के नित्य होने से मुक्त आत्मा तथा सारी आत्मा से कोई विशेषता न होगी । अभिव्यक्ति को उत्पत्तिद्योग्य अनित्य माना जाय तो उसकी निवृत्ति आवश्यक होगी, जिसमें मुक्त आत्मा को पुनः संसारबन्धन प्राप्त होने लगेगा । यह दोष नित्यसुख के समान नित्यज्ञान भी मीमांसक को समानग्याय से मानना होगा जिससे नित्यज्ञानाश्रय ईश्वर भी उन्हें स्वीकार करना होगा जो अनीश्वरवादी भी मीमांसक के लिये उपनिषद्वादी हो जायगा इस दोष को भी सूचित करता है । अतः नित्यमुद्याभिव्यक्तिरूप नि श्रेयस पक्ष असंगत है ।

प्रथम (त्रिदण्ड नामक वेदान्तिमत का खण्डन करते हुए शङ्करमिश्र कहते हैं कि)— 'ब्रह्मरूप आत्मा में जीवरूप आत्मा के लय को मुक्ति कहते हैं, ऐसा वेदान्तिविशेष का मत भी अयुक्त है, क्योंकि यहाँ पर लय शब्द का अर्थ यदि एकत्वरूप प्राप्ति ऐसा किया जाय तो बाध दोष आजायगा, कारण यह कि दो पदार्थ एक नहीं हो सकते । यदि लिङ्गशरीर (सूक्ष्म शरीर) की निवृत्ति होना लय शब्द का अर्थ है लिङ्ग शब्द का अर्थ है मन, पाँच ज्ञानेन्द्रिय तथा पाँच कर्मेन्द्रिय ऐसे एकादश इन्द्रिय एवं शरीर इनके नाश को लय कहते हैं' ऐसा वेदान्ती कहे तो यह नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा लय मानने से तो उक्त दुःख की सामग्री का अभाव ही लय शब्द का अर्थ होगा, तथाच दुःख की निवृत्ति ही मुक्ति है यह तात्पर्य वेदान्ती का भी है यह सिद्ध होने से नैयायिकमत ही सिद्ध होगा ।

द्वितीय (एकदण्ड वेदान्ति मत का भी खण्डन करते हुए शङ्करमिश्र कहते हैं कि)— इसीसे 'अविद्या के निवृत्त होने पर केवल आत्मारूप में स्थित होना मुक्तिपर्याय है, और आत्मा, विज्ञान तथा सुखरूप है, ऐसा एकदण्डवेदान्तियों का मत भी खण्डित हो जाता है, क्योंकि आत्मा के ज्ञान तथा सुखरूप होने में कोई प्रमाण नहीं है । (अर्थात् उक्त दोनों वेदान्तिमतों में माया के अधीन होने वाले प्रपञ्च (संसार) की माया के निवृत्ति

च “नित्यं विज्ञानमानन्द ब्रह्म” इति श्रुतिर्मानम् तस्या ज्ञानवत्त्वानन्दवत्त्व-
प्रतिपादकत्वात् भवति हि अहं जाने अहं सुखीतिप्रसूतिः नत्वाहं ज्ञानम् अहं
सुखमिति । किञ्च ब्रह्मण इदानीमपि सत्त्वात् मुक्तमंसारिणोरविशेषावतिः
अविद्यानिवृत्तेऽप्युपपत्त्यत्वात् ब्रह्मणश्च नित्यत्वेनासाध्यत्वात्, तत्साक्षात्कारस्य
तदात्मकत्वेनासाध्यत्वात्, एवमानन्दस्यापि तदात्मकत्वेनासाध्यत्वमेवेति तदर्थं
प्रवृत्त्यनुपपत्तिरेव ।

से ही निवृत्ति होने के कारण मोक्षकाल में माया की निवृत्ति आवश्यक है । त्रिदण्ड
नामक प्रथमवेदान्तिमत में भी “लिङ्गशरीरावयवम्” इत्यादि ग्रन्थ में अविद्या ही को माया
रूप में पारिभाषिक व्याख्या की है, एवं च दोनों मत में अविद्या ही के दुष्ट के कारण
होने में दुःखाभाव ही मुक्तिवधायक है यह सार निकलता है जो दोनों मत आत्मा के
ज्ञान तथा सुखरूप होने में कोई प्रमाण न होने से असंगत है यह कह चुके हैं । यदि
वेदान्ति कहे कि ‘नित्यं विज्ञान ब्रह्म’ यह श्रुति ही ब्रह्म अस्मिन्मात्रात्मके ज्ञान तथा सुख-
रूप होने में प्रमाण है तो यह नहीं ही सकता, क्योंकि उक्त श्रुति, आत्मा ज्ञानगुण तथा
आनन्द (सुख) का आधायक है यह प्रतिपादन करती है, इसी कारण प्राणिमात्र को ‘मैं
जानता हूँ मैं सुखी हूँ’ ऐसा अनुभव होता है न कि मैं ज्ञान हूँ ‘मैं सुख हूँ’ । यदि वेदा-
न्ति कहे कि मैं ज्ञान हूँ इत्यादि प्रतीति ‘मैं गौरवर्ण हूँ’ इत्यादि प्रतीति के समान धन-
रूप है’ तो शङ्करमिश्र वेदान्तिमत पर दूसरा ऐसा दोष देते हैं कि ब्रह्म के इस समय में
भा धर्मान्मान होने से मुक्त आत्मा तथा ससारी आत्मा में अविशेषना दोष आ जायगा ।
तथा अविद्या में प्रमाण न होने से अविद्या की निवृत्ति पुरुषार्थ भी नहीं हो सकती,
और ब्रह्म निश्च होने से साध्य न होने के कारण पुरुषार्थ भी नहीं हो सकता, उसका
साक्षात्कार भी अद्वैत के कारण ब्रह्मरूप होने से साध्य न होने के कारण पुरुषार्थ
नहीं हो सकता । इसी प्रकार आनन्द भी ब्रह्मरूप होने के कारण असाध्य होने से
पुरुषार्थ नहीं हो सकता अतः आनन्दरूप वृक्ष की प्राप्ति के लिये प्रेक्षायात् पुरुषों की
प्रवृत्ति न हो सकेगी (यहाँ पर नैयायिकों का यह तात्पर्य है कि प्रमाणाभावे से अविद्या
अदृष्ट को छोड़कर कोई दूसरा पदार्थ नहीं है । अतः अदृष्टनिवृत्ति अथवा अदृष्ट के अधीन
दुःखों की निवृत्ति ही मोक्ष है । यदि वेदन्ती-जगत्, माया से निमित्त है, मिथ्या होने से,
इन्द्रजाल के खेल के समान, ऐसा अनुमान अविद्या (माया) में प्रमाण दे, तो जगत् में
मिथ्यात्वरूप हेतु ही सिद्ध होने के कारण उससे मायानिमित्तत्व कैसे सिद्ध
हागा । यदि वेदान्ति जगत्, मिथ्या है, ब्रह्म सिद्ध होने से इस अनुमान से जगत् में
मिथ्यात्व सिद्ध करे, तो ब्रह्मसिद्धहेतु मिथ्यात्व का साधक नहीं हो सकता ऐसी
उसमें अप्रयोजकत्व धरा हो सकती है, अन्यथा जगत् सत्य है, काल में रहनेवाले जमाव
का अप्रतियोगि होते हुए, ब्रह्म भिन्न है, इस अनुमान से जगत् में सत्यता ही क्यों न
मानो जाय, क्योंकि काल में जगत् (संसार) का अभाव तो उपलब्ध होता ही नहीं ।

निरूप्यत्वा चित्सन्ततिर्मुक्तिरिति चेन्न । दुःखादिरूपस्य उपप्लवस्य विगमो यदि निरूप्यत्वत्वम् तदा तन्मात्रस्यैव पुरुषार्थत्वेन चित्सन्ततेरनुवृत्तौ प्रमाणाभावः तदनुवृत्तेरपि शरीरादिसाध्यत्वेन ससारानुवृत्तेरावश्यकत्वादिति सिद्धं दुःखनिवृत्तिरेवोच्छरूपा नि श्रेयसमिति ।

तत्त्वस्य ज्ञानमिति कर्मणि पण्ये । साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामिति प्रकारे तृतीया । तत्र साधर्म्यमनुगतो धर्मः, वैधर्म्यञ्च व्यावृत्तो धर्मः । यद्यपि कश्चित् साधर्म्यमपि कुतश्चिद्वैधर्म्यं कुतश्चिद्वैधर्म्यमपि केपाञ्चिन् साधर्म्यम् तथापि साद्रूप्येण ज्ञानं विवक्षितम् । अत्र च द्रव्यादिपदार्थानामुद्देश एव विभागः पर्यवसन्नः । स च न्यूनाधिक-

तत्मात् अविद्या मे प्रमाण न होने से वेदान्तिमतु असंगत है । (इस प्रकार वेदान्तिमत का खण्डन कर बौद्धमतसिद्धमुक्तिपदार्थ का खण्डन करने के लिये प्रथम उनका मत शङ्करमिथ्य दिलाते हैं कि)—सासारिक उपद्रवरूप बाधरहित क्षणिक विज्ञान सतानधारा ही मुक्ति पदार्थ है, न कि नित्यविज्ञानरूप ब्रह्मा । इस मत का शङ्करमिथ्य ऐसा खंडन करते हैं कि यदि इस लक्षण मे दुःखादिरूप सासारिक उपप्लवो (उपद्रवो) की निवृत्ति ही निरूप्यत्वता कही जाय तो सासारिक दुःखादिरहित रूप ही साधारण पुरुषार्थ सिद्ध होने से, ऐसे मुक्तिकाल मे क्षणिक विज्ञान सतानधारा रहनी है इसमे क्या प्रमाण है । और यह विज्ञानसतानधारा धारीर तथा इन्द्रियादिको से ही उत्पन्न होती है, इसलिये मुक्तिकाल मे बौद्ध को समारानुवृत्ति (संसार मे पुन आगमन) को अवश्य मानना पड़ेगा, अतः यही सिद्ध होता है कि पूर्वप्रदर्शित आत्मनिक दुःखनिवृत्ति ही नि श्रेयण है ।

'धर्मविशेषप्रसूतात्' इत्यादि चतुर्यं सूत्र के पदों का असरार्थ वर्णन करते हुए शङ्कर-मिथ्य कहते हैं कि 'तत्त्वज्ञानात्' इस समस्तपद मे 'तत्त्वस्य ज्ञान' ऐसी कर्म मे पड़ी है तथा 'साधर्म्यं वैधर्म्याभ्यां' यह तृतीया विभक्ति प्रकार अर्थ मे है । जिससे साधर्म्य तथा वैधर्म्य प्रकार के उत्तरविषयक ज्ञान मे नि श्रेयस होता है । ऐसा सूत्राश का अर्थ होता है । उनमें अनुगत धर्म को साधर्म्य तथा व्यावृत्तधर्म को वैधर्म्य (विशेष) कहते हैं । यद्यपि कहीं-कहीं साधर्म्य (समानधर्म) भी किसी-किसी पदार्थ से विभेदधर्म (वैधर्म्य) तथा किसी पदार्थ से वैधर्म्य (विशेष) भी कुछ पदार्थों का साधर्म्य (अनुगत धर्म) होता है, तथापि साधर्म्य तथा वैधर्म्यरूप से ज्ञान होना यहाँ विवक्षित होने के कारण कोई दोष न होगा, क्योंकि जिसका साधर्म्यरूप से ज्ञान है अथवा वैधर्म्यरूप से ज्ञान है वही वही गृहीत होता है (आगे अमन्बन्ध को व्यावृत्ति करना ही जिसका फल है ऐसे चतुर्यं सूत्र मे कहे हुए द्रव्यगुण आदि पदार्थों के विभाग का विवेचन करने के लिये पूर्वपक्षिमत से रक्षा करते हैं कि) इस सूत्र मे द्रव्यगुण इत्यादि पदार्थों का उद्देश्य (नाशमात्र से कथन) ही पदार्थों का विभाग सूचित करता है जिसका द्रव्यादिकों से न्यून, तथा अधिक पदार्थ नहीं है, यह प्रयोजन बोधित होता

सङ्ख्याव्यवच्छेदफलकस्तेन पदेव पदार्था इति नियमः पदार्थवत्यति, स चानुप-
पन्नः व्यवच्छेदस्य पदार्थान्तरस्य प्रतिपत्तौ नियमानुपपत्तिः, अप्रतीती व्यव-
च्छेदानुपपत्तिः । ननु नायमन्ययोगव्यवच्छेदः किन्त्ययोगव्यवच्छेदः पदार्थेषु
पङ्कलक्षणायां ते व्यवच्छिद्यत इति चेन्न पदार्थपदेन प्रसिद्धपदार्थमात्रोपसम्पदे
सिद्धसाधनात् अन्यस्य चाप्रतीतेरेव । किञ्च लक्षणानां मिलितानामयोगो
व्यवच्छेदः प्रत्येक वा ? आद्ये मिलितयोगः सर्वत्रेति व्यवच्छेदानुपपत्तिः ।
अन्येऽपि प्रत्येकायोगः परस्पर सर्वत्रेति व्यवच्छेदानुपपत्तिरेवेति चेन्न ।
शक्तिसङ्ख्यासादृश्यादिषु पदार्थेषु पराभिमतेषु पङ्कलक्षणायोगः परैकव्यते

है, जिससे द्रव्य, गुण, कम, सान्नाय, विशेष तथा समवाय ऐसे पद ही पदार्थ हैं यह
नियम है ऐसा सिद्ध होता है, किन्तु यह नियम नहीं हो सकता, क्योंकि पदार्थ
पद ही हैं इनसे व्यावृत्तियोग्य (निवेपयोग्य) दूसरे पदार्थ का ज्ञान होता हो तो
पद ही पदार्थ हैं यह नियम नहीं बन सकना, क्योंकि दाते अतिरिक्त समान पदार्थ भी
वर्तमान है यह सिद्ध होता है । यदि सिद्धान्ती कहे कि उस व्यावृत्तियोग्य दूसरे
सातवें पदार्थ की प्रतीति (ज्ञान) नहीं है, वो अभाव का प्रतिपोगी के ज्ञानपूर्वक ज्ञान
होने का नियम होने से उसकी व्यावृत्ति नहीं हो सकती । महा पर यदि सिद्धान्ती
ऐसी दाका करे कि यह पदार्थविभाग म्यूनाधिक सङ्ख्या की व्यावृत्ति नहीं करता,
अर्थात् इसका दूसरे पदार्थ में पदार्थत्व जाति के सम्बन्ध की निवृत्ति करना फल नहीं है,
किन्तु द्रव्यादि पद पदार्थों में पदार्थत्वजाति के असम्बन्ध (न रहने की) व्यावृत्ति करना
ही फल है, अर्थात् द्रव्यादि पद पदार्थों में द्रव्यादि पद पदार्थों के लक्षणों का असम्बन्ध
(न रहना) व्यावृत्ति होता है । जिससे पद द्रव्यादिकों से अतिरिक्त पदार्थ नहीं हो
सकने । यह तात्पर्य सिद्धान्ती का है । इस सिद्धान्ती की छद्मा पर पूर्वपक्षी पुनः
आक्षेप करता है कि ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि वहाँ पर पदार्थपद से यदि प्रसिद्ध
पदार्थमात्रों को समझ लिया जाय, तो उनके सिद्ध होने से उनकी सिद्धि इस मूल से
यदि हो तो सिद्धसाधन दोष हो जायगा, उनसे भिन्न पदार्थ की प्रतीति होती ही नहीं,
तथा हम सिद्धान्ती से यह भी प्रश्न करते हैं कि उक्त द्रव्यादि पद पदार्थों में निमित्त
(एकत्रित) सम्पूर्ण द्रव्यादि पद पदार्थों के लक्षणों के असम्बन्ध की व्यावृत्ति करना
सिद्धान्ती का अभिमत है अथवा प्रत्येक लक्षण की । प्रथमपक्ष में मिलित सम्पूर्ण
द्रव्यादिकों के लक्षणों की असम्बन्ध द्रव्यादि संपूर्ण पदार्थों में होने से व्यावृत्ति न बन
सकेगी । अन्तिमपक्ष में भी प्रत्येक द्रव्यादि लक्षण का असम्बन्ध परस्पर द्रव्यादि पद
पदार्थों में सर्वत्र है इस कारण भी असम्बन्ध की व्यावृत्ति नहीं हो सकती । अतः
सिद्धान्ती का पद पदार्थों में पदार्थ-जाति के असम्बन्ध की व्यावृत्ति भी विभाग का फल
मानना असंगत है । (इस प्रकार की पूर्वपक्षी की छद्मा का समाधान शङ्करमिश्र इस
प्रकार करते हैं कि)—अन्य दार्शनिकों का अभिमत छक्ति, सादृश्य दृष्टादि पदार्थों ।

तद्यव्यच्छेदो नियमार्थः, तथाच षडेव पदार्था इत्यस्य प्रतीयमानेषु पण्णां लक्षणानां मध्ये अन्यतमलक्षणयोगोऽस्त्येव न त्वयोग इत्यर्थः । तत्र विशेष्य-सङ्गतस्यान्ययोगव्यवच्छेदो विशेषणसङ्गतस्यायोगव्यवच्छेदः क्रियासङ्गतस्य चात्यन्तायोगव्यवच्छेदस्तावत् प्रतीयते । तत्र शक्तिप्रयमेवकारस्येत्येके व्यवच्छेदमात्रे शक्तिरयोगान्ययोगादयस्तु व्यवच्छेद्याः समभिध्याहारलभ्या इत्यपरे । धर्मविशेषप्रसूतादिति तत्त्वज्ञानादित्यस्य विशेषणम् । तत्र धर्मविशेषो

द्रव्य आदि षट् पदार्थों के लक्षणों का सम्बन्ध नहीं है, ऐसा उनका कहना है उनकी व्यावृत्ति करना पूर्वोक्त विभाग नियम का प्रयोजन है, जिससे 'षट् एव पदार्थाः' पद ही पदार्थ हैं, इस नियम से अन्य दार्शनिकों के मन से प्रतीत होनेवाले शक्ति, सादृश्यादि पदार्थों में द्रव्यादि षट् लक्षणों में से किसी न किसी एक लक्षण का सम्बन्ध अवश्य है, न कि असम्बन्ध, जिसमें पदार्थ षट् ही हैं यह सिद्ध होता है । यहाँ शंकरमिश्र ने 'प्रतीयमानेषु' प्रतीत होनेवाले पदार्थों में ऐसा इसलिये कहा कि जिससे पूर्वपक्षी यह नहीं कह सकता कि अभाव पदार्थ में द्रव्यादि षट् लक्षणों का असम्बन्ध होने से असम्बन्ध व्यावृत्तिरूप नियम नहीं बन सकता—क्योंकि भावरूप पदार्थों में ही द्रव्यादि षट् लक्षणों के असम्बन्ध की व्यावृत्ति करना ही प्रस्तुत है, अभावपदार्थ तो भावपदार्थों की अपेक्षा करने से सूत्रमत से अन्य पदार्थ होने पर भी अप्रधान होने के कारण यहाँ उसका उल्लेख नहीं किया है, किन्तु वह परिरोप से सिद्ध होता है ऐसा आगे कहेंगे । (अवधारणार्थक व्यवच्छेद के बोधक एवकार का प्रसंग से अथ का वर्णन शंकरमिश्र इस प्रकार करते हैं कि)—उसमें ये विशेष्यपद के साथ वर्तमान एवकार का अन्य में सम्बन्ध की व्यावृत्ति करना अर्थ होता है, जैसे 'पार्येव धनुर्धरः' अर्जुन ही धनुषधारी है इस वाक्य में पार्येव (विशेष में सगत एवकार से अर्जुन से भिन्न में धनुषधारिता नहीं है यह अर्थ होता है ।) विशेषण के साथ वर्तमान एवकार का 'असम्बन्धव्यावृत्ति' अर्थ होता है । जैसे 'पीत एव पट' पीला ही वस्त्र है, इस वाक्य में पीतगुण का वस्त्र में सम्बन्ध नहीं है यह व्यावृत्त होता है तथा क्रिया में सम्बन्ध एवकार से अत्यन्त असम्बन्ध की व्यावृत्ति होना प्रतीत होता है, जैसे 'पचति एव देवदत्तः' देवदत्त पकाता ही है, इस वाक्य से देवदत्तादि पुरुषों में पाकक्रिया के अत्यन्त व्यावृत्ति का बोध होता है । इसमें कुछ विद्वानों का उक्त प्रकार से एवकार की तीन अर्थों में तीन शक्ति हैं ऐसा मत है, जिसमें तीन अर्थ में शक्ति मानने से गौरव होगा, अतः कुछ दार्शनिकों का ऐसा मत है कि केवल व्यवच्छेदरूप व्यावृत्ति ही में एवकार की एक शक्ति है, अन्य में सम्बन्ध की व्यावृत्ति इत्यादि प्रदर्शित अर्थों का ज्ञान तो समभिध्याहृत साथ में उच्चारण किये हुए विशेषादिकों के सम्बन्ध से ही लब्ध होता है ।

(पुनः अवशिष्ट चतुर्थ सूत्र की व्याख्या करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि) —'धर्म-विशेषप्रसूतात्' धर्मविशेष से उत्पन्न यह पद 'तत्त्वज्ञानात्' तत्त्वज्ञान से इस अर्थ

निवृत्तिलक्षणो धर्मः । यदि तु तत्त्वं ज्ञायतेऽनेनेति तत्त्वज्ञानं शास्त्रमुच्यते तदा धर्मविशेष ईश्वरनियोगप्रसादरूपो वक्तव्यः । श्रूयते हीश्वरनियोगप्रसादावधिगम्य कणादौ महर्षिं शास्त्रं प्रणीतवानिति । तत्त्वज्ञानमात्मतत्त्वसाक्षात्कार इह विश्विनस्तस्यैव सवासनमिच्छाज्ञानोन्मूलनक्षमत्वात् । “तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यं पन्था विन्यतेऽयनाय” इत्यत्र “द्वे ब्रह्मणो वेदितव्ये”

के पक्ष का विशेषण है उसमें धर्मविशेष यहां पर निवृत्तिरूप धर्म ग्रहण करना चाहिये ।

(पूर्व में कथित रीति से यदि तत्त्व जिससे जाना जाय ऐसे अर्थ से तत्त्वज्ञान शब्द का शास्त्ररूप अर्थ किया जाय, तो पूर्वप्रदर्शित अन्वय को अनुपपत्तिरूप दोष का उद्धार करने के लिये धर्मविशेषपद का अर्थ अर्थ हो सकता है इस अभिप्राय से शंकरमिश्र कहते हैं कि)—यदि ‘तत्त्व ज्ञायते अनेने’ जिससे तत्त्व जाना जाय । इस कारण व्युत्पत्ति से तत्त्वज्ञानपद से शास्त्र कहा जाता है ऐसा पक्ष पूर्वप्रदर्शित पक्ष लिया जाय तो चतुर्थ सूक्तोक्त धर्मविशेष ईश्वर की आज्ञा तथा अनुग्रह कहना होगा, क्योंकि सुनने में आता है कि (पाणिनि महर्षि के समान) ईश्वर की आज्ञा तथा अनुग्रह को प्राप्त कर महर्षि कणाद ने भी वैरोपिकदशोक्त शास्त्र का निर्माण किया । (अर्थात् साधर्म्यं तथा धर्म्यैक्यं धर्मविशिष्टं द्रव्यादि पदपदार्थों का निरूपण करनेवाला वैरोपिकदर्शनशास्त्र साधर्म्यं तथा वैधर्म्यं से द्रव्यादि पदपदार्थों का निरूपण करता है ।) यहाँ पर धर्म के ईश्वरकृत आज्ञा तथा अनुग्रह के कारण होने पर भी कारण तथा कार्य के अनेक के कहने की इच्छा से धर्म में ईश्वर की आज्ञा तथा अनुग्रह-रूपता कही है यह जानना चाहिये । इस सूत्र में (उक्त सूत्रस्य तत्त्वज्ञान शब्द के शास्त्र रूप अर्थ के पक्ष में आगे शंकरमिश्र कहते हैं कि) तत्त्वज्ञान शब्द से अपनी आत्मा के वास्तविक साक्षात्कार (प्रत्यक्ष) का ग्रहण करना चाहिये, (नकि इस सूत्र में, क्योंकि इस सूत्र की व्याख्या के अन्त तक इसी पक्ष का विस्तार किया गया है, अतः यदि मध्य में पूर्वप्रदर्शित पक्ष को लिया जाय तो क्रमसग्न दोष आ जायगा) क्योंकि उस स्वात्म तत्त्व साक्षात्कार ही को वाचनासहित मिथ्याज्ञान के समूल उच्छेद करने में साधर्म्यं है । कारण यह कि स्वात्माविषय में उत्पन्न हुए मिथ्याज्ञान के संहारबन्धन के कारण होने से स्वात्मविषय ही तत्त्वज्ञान उसका विरोधी है । यहाँ ‘एव’ पद से शंकरमिश्र का इसी पक्ष में आशय सूचित होता है (यदि कहो कि सूत्र में ‘तत्त्वज्ञान शब्द में ज्ञानपद सामान्यरूप से ज्ञानवाचक होने के कारण साक्षात्काररूप विशेष ज्ञानरूप अर्थ की वाचकता मानना विरुद्ध है’ तो इसके उत्तर में शंकरमिश्र धृति-प्रमाण से ज्ञानपद विशेषार्थक हो सकता है यह सिद्ध करते हुए कहते हैं कि) ‘तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेतिनान्यं पन्था विन्यतेऽयनाय’ अर्थात् उस परमात्मा को जानकर ही संहार से उत्तीर्ण होता है दूसरा मोक्ष का मार्ग नहीं है, इस धृति में तथा ‘द्वे ब्रह्मणो

इत्यत्र च वेदनपदस्य साक्षात्कारपरत्वात्, "पश्यत्यचक्षुः" इत्यादिपि तथा ।
अ च शास्त्रान्मनननिदिध्यासनपरम्परयेति हेतुपञ्चम्या तथैवाभिधानात् ॥४॥

इदानीमपवर्गभागितया सर्वपदार्थाश्रयतया च प्रथमोद्दिष्टस्य द्रव्यपदार्थस्य
विभागं विशेषोद्देशश्च कुर्वन्नाह—

वेदिष्ये' दो द्रव्य जानना, इस धृति में भी वेदन पद का साक्षात्काररूप ज्ञान ऐसा
प्रतिपादन किया है, इसी प्रकार 'पश्यत्यचक्षुः' बिना चक्षुइन्द्रिय के देखता है, इस धृति
में चाक्षुषप्रत्यक्ष का ज्ञानरूप अर्थ किया जाता है । (अर्थात् यद्यपि दृष्टिघातु के
चाक्षुषप्रत्यक्ष अर्थ है तथापि 'पश्यति अचक्षुः' इत्यादि धृति में दृष्टिघातु के सामान्यज्ञान
रूप अर्थ होने के कारण योग्यता से 'तत्त्वज्ञान' इस पद के ज्ञानघातु का भी साक्षा
त्काररूप अर्थ लेना भी विवक्षित नहीं है ।) और वह स्वात्मतत्त्व का साक्षात्कार
वैशेषिकदर्शनरूप शास्त्र से मनन तथा निदिध्यासन आदि की परम्परा से प्राप्त
होता है । इति इसलिये जिस कारण आत्मसाक्षात्कार शास्त्र से प्रयोज्य है इस
प्रकार यहाँ पर आत्मसाक्षात्कार ही सूत्रकार को विवक्षित है । क्योंकि हेतु
बोधक 'तत्त्वज्ञानात्' इस पद्यमी विभक्ति से ऐसा ही कहा गया है । अतः यह शक
नहीं हो सकती कि आत्मसाक्षात्कार के प्रयोजक वैशेषिकशास्त्र को उक्त रूप में
परम्परया मुक्ति में कारण माना जाय तो सूत्र में 'तत्त्वज्ञानात्' इस हेतु पद्यमी विभक्ति
के मुक्ति में साक्षात् कारणता का कदन असम्भवी हो जायगा, क्योंकि प्रदर्शित परम्परया
मुक्ति में शास्त्र कारण है यही सूत्र में वर्णित है, (अर्थात् जिस प्रकार द्रव्यादिप
पदार्थों का तत्त्वज्ञान मुक्ति में आत्मसाक्षात्कारादि सहायन द्वारा प्रयोजक है उस
प्रकार वैशेषिकशास्त्र भी उसी के द्वारा प्रयोजक कारण है ॥ ४ ॥

इस प्रकार चतुर्थ सूत्र में वैशेषिकदर्शनशास्त्र के अभिधेय तथा सम्बन्ध का
वर्णन करने के पश्चात्, द्रव्यादिपदपदार्थरूप अभिधेयो (विषयो) में से द्रव्यो को
प्रथम उद्देश का बीज दिखाते हुए क्रमानुसार उनके विभाग तथा विशेष उद्देश
का वर्णन करने के लिये पंचम सूत्र का अवतरण देते हुए शंकरमिथ कहते हैं कि,)—
अपवर्ग (मोक्ष) के भागी अधिकारी होने से तथा पुण, कर्म आदि अर्वाधिष्ट सत्प
पदार्थों के आघार होने के कारण भी पट्टपदार्थों में प्रथम उद्दिष्टद्रव्यपदा
का विभाग तथा विशेष उद्देश को करते हुए सूत्रकार कहते हैं—इस शब्दा के क
से पूर्वग्रन्थ के अनन्तर उत्तरग्रन्थ वर्णन करने में इस प्रकार उपोद्घात संग
दिखाई है कि मोक्ष ही मुख्य प्रयोजन है, जिसका आत्मा ही अधिकारी है, इ
कारण उसके ज्ञान की इच्छा अन्य पदार्थों के ज्ञान की इच्छा के प्रतिबन्धक हो
के कारण तथा आत्मा के द्रव्य पदार्थ होने से प्रथम पट्टपदार्थों में द्रव्यो क
उद्देश किया गया है । अतएव प्रोक्त पंचम सूत्र में इस प्रकार है—

पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिग्मात्मा मन इति
द्रव्याणि ॥ ५ ॥

इतिकारोऽवधारणार्थः । तेन नवैव द्रव्याणि नाविकानि न न्यूनानि
वेत्यर्थः । ननु विभागबलादेव न्यूनाधिकसप्तद्रव्याण्यप्युच्छेदसिद्धौ किमिति कारणेति
चेत् उद्देशमात्रपरतयाऽपि सूत्रसम्भवे विभागतात्पर्यस्फोरणार्थमेवेतिकाराभिधा-
नात् । सुवर्णादीनामोश्वरस्य चात्रैवान्तर्भावात् अन्यकारस्य चाधिकत्वेनाशङ्क्य-
मानस्याभावत्वव्युत्पादनादेतद्व्यवसेयम् । असमासकरणन्तु सर्वेषां प्राधान्य-

पदपदार्थः—पृथिवी = पृथिवी, आप = जल, तेज = तेज, वायु = वायु, आकाश =
आकाश, काल = काल, दिग् = दिशा, आत्मा = जीवात्मा, मन = अन्तःकरण, इति
एते, द्रव्याणि = द्रव्यपदार्थं नौ हैं ॥ ५ ॥

भार्यार्थः—वैशेषिकदर्शन में पृथिवी १, जल २, तेज ३, वायु ४, आकाश ५, काल
६, दिशा ७, आत्मा ८ तथा मन ९ ऐसे नव ही पदार्थ हैं जिनमें पृथिव्यादिको के अन्त-
र्गणित भेदों का समावेश होने से तथा परस्पर विरुद्ध होने से ग्यून या अधिक द्रव्यों की
शका नहीं हो सकती जो व्याख्या में उपस्कारकार स्वयं वर्णन करेंगे ॥ ५ ॥

(इन पञ्चम सूत्र को व्याख्या करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—इन सूत्र के
अन्त में आये हुए इति इस शब्द का अर्थ है अवधारण जिससे पृथिवी आदि सूत्र में
वर्णन किये नव ही द्रव्य हैं न उससे अधिक न ग्यून (कम) यह अर्थ होता है ।
यहाँ पूर्वपक्षी ऐसा पूर्वपक्ष करता है कि 'पृथिवी आदि नौ द्रव्यों के विभाग के उक्ति से
ही जब ग्यून तथा अधिक द्रव्यों के होने की संख्या का निरास हो सकता है तो उसके
ज्ञान के लिये अवधारणार्थ इति शब्द की क्या आवश्यकता है' तो इसके उत्तर में
शङ्करमिश्र कहते हैं कि सूत्र में केवल पृथिवी आदि द्रव्यों का केवल विशेष उद्देश भी
ही मक्ता है, अतः सूत्र का विशेष उद्देश के समान द्रव्यपदार्थ के विभाग के वर्णन
से भी तात्पर्य है यह सूचित करने के लिये अवधारणार्थक इति शब्द को सूत्रकार ने
प्रयोग किया है ।

(इस प्रकार इति शब्दार्थ का विचारकर उक्त द्रव्यादिपदार्थ में ही अतिरिक्त
कल्पित पदार्थों का अन्तर्भाव होता है इस आशय से शंकरमिश्र कहते हैं कि) सुवर्णं
इत्यादिकों का तथा ईश्वर का भी इन्हीं पदार्थों में अन्तर्भाव होने ॥ तथा पद-
पदार्थों में अतिरिक्त पदार्थ अन्वकार है ऐसी शंका किये जाने वाले अन्वकार के तेज
के अभाववत्त्व है ऐसा वैशेषिकदर्शन में प्रतिपादित होने से भी द्रव्यादि पद ही पदार्थ हैं
यह निश्चय से जानना चाहिये । इस सूत्र में पृथिवी आदि द्रव्यों के बोधक पृथिवी आदि
पदों का समास सूत्रकार ने क्यों नहीं किया ? इस सदेह के निवारणार्थ शङ्करमिश्र कहते
हैं—कि पृथिवी इत्यादि सम्पूर्ण नौ द्रव्य प्रधान हैं यह बोध होने के लिये सूत्रकार ने समास

न्यप्रदर्शनाय । लक्षणमेतेषान्तु वैधर्म्यावसरे सूत्रकृदेव दर्शयिष्यति । ननु सुवर्णं न तावत् पृथिवी निर्गन्धत्वात्, न जलं स्नेहसांसिद्धिकद्रवत्वशून्यत्वात्, न तेजो गुरुत्ववत्त्वात्, अत एव न वायुर्न वा कालादि, ततो नवभ्यो भिद्यत इति चेन्न, आद्याद्वितीययोरनामासत्त्वम् तृतीयस्य स्वरूपासिद्धत्वं ततः परं सिद्धसाधनं हेतोः स्वरूपासिद्धिश्च । सार्थायप्यते च सुवर्णस्य तैजसत्वमिति ॥ ५ ॥

गुणत्वेन रूपेण गुणानां सर्वद्रव्याश्रितत्वं द्रव्याभिव्यङ्ग्यत्वं द्रव्याभिव्यञ्जकत्वञ्चेति द्रव्यान्तरं गुणानामुद्देशं विभागश्चाह—

नही किया है । इन पृथिवी आदि नौ द्रव्यों का लक्षण वैधर्म्य के निरूपण के अवसर में स्वयं सूत्रकार ही कहेंगे । (सुवर्ण अधिक दक्षम द्रव्य हो सकता है । इस प्रकार पूर्वपक्षी के मत से साक्षात् दिखाते हैं कि)—सुवर्ण पृथिवी नहीं हो सकता, क्योंकि गन्धरहित है, तथा जल नहीं हो सकता क्योंकि स्नेह तथा स्वाभाविक द्रवत्व सुवर्ण में नहीं है । (यह दो भिन्न भिन्न हेतु हैं, अन्यथा स्नेह या द्रवत्व इन दोनों में से एक व्यर्थ हो जायगा), तथा सुवर्ण गुरुत्वाश्रय होने से तेज भी नहीं हो सकता, और गुरुत्वाधार होने से ही सुवर्ण न वायु हो सकता है—न काल, न आकाश, न दिशा, न आत्मा, न मन, इस कारण पृथिवी आदि नौ द्रव्यों से भिन्न है, अर्थात् सुवर्ण के अधिक द्रव्य होने के कारण नौ ही द्रव्य हैं यह सिद्धान्त असंगत है । (इस शका का समाधान करते हुए उक्त अनुमानों में हेतुदोष दिखाते हुए शकरमित्र कहते हैं कि)—निर्गन्धत्वरूप प्रथम तथा स्नेह और स्वाभाविक द्रवत्वशून्यत्वरूप द्वितीय हेतु में कोई दोष नहीं है क्योंकि सुवर्ण तेजद्रव्य है । तृतीय गुरुत्वाश्रयत्वरूप हेतु में स्वरूपासिद्धि दोष है, क्योंकि उस सुवर्ण में गुरुत्व पार्थिवभाग के मिश्रण से पार्थिवभाग प्रयुक्त है न कि तेजोभाग प्रयुक्त । आगे के वायु आदि के निषेधसाधक गुरुत्वाधारता हेतु में जो सिद्ध होने से सिद्ध का साधन करने के कारण सिद्धसाधनता दोष होने से सिद्धसाधक दुष्टहेतु है । तथा सुवर्ण के तेजोभाग में गुरुत्व न होने के कारण हेतु का स्वरूप सिद्ध न होने से स्वरूपासिद्ध दुष्टहेतु है । तथा अग्रिम तेजोनिरूपण ग्रन्थ में सुवर्ण तेजोद्रव्य है यह सिद्ध किया जायगा ॥ ५ ॥

(द्रव्य के उद्देश के पश्चात् कर्मसामान्य इत्यादि पदार्थों के उद्देश के पूर्व गुणपदार्थों के उद्देश में बीज दिखाते हुए पट्ट सूत्र का अवतरण देते हैं कि)—गुणत्व सामान्यरूप से अग्रिम चतुर्विंशति गुण सम्पूर्ण नौ द्रव्यों में आश्रित होते हैं तथा द्रव्य पदार्थों में अभिव्यक्त (प्रगट) होते हैं, और अभिव्यञ्जक (प्रगट करनेवाले) भी होते हैं, इस विशेष के कारण द्रव्यों के पश्चात् गुणपदार्थों का उद्देश तथा विभाग सूत्रकार कहते हैं—

रूपरसगन्धस्पर्शाः सङ्ख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभा-
परत्यापरत्वे बुद्ध्यः सुखदुःखे इच्छोद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः ॥ ६ ॥

चकारेण गुरुत्वद्रवत्वस्नेहसंस्कारधर्मावर्मशब्दान् समुचिनोति ते हि प्रसि-
गुणभावा एवेति कण्ठतो नोक्ता । गुणत्वञ्चामीषा यथास्थानं लक्षणतः स्वरू-
प्तश्च वक्ष्यति । रूपरसगन्धस्पर्शानां समानकालोनरूपरसगन्धस्पर्शसामान्या-
करण्यं नास्तीति सूचनार्थं समासः । सङ्ख्यापरिमाणयोस्तु समानकाली-

पदपदार्थ—रूपरसगन्धस्पर्शाः = रूप,^१ रस,^२ गन्ध,^३ स्पर्श,^४ सङ्ख्या,^५ परिमाण,^६
पुण्यत्व,^७ संयोग,^८ विभाग,^९ परत्वं,^{१०} अपरत्वं,^{११} बुद्धि,^{१२} सुख,^{१३} दुःख,^{१४} इच्छा,^{१५}
द्वेष,^{१६} प्रयत्न,^{१७} भी, गुणाः = गुण हैं ॥

भावार्थ—वैशेषिकमत में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, सङ्ख्या, परिमाण, पुण्यत्व,
संयोग, विभाग, परत्वं, अपरत्वं, बुद्धि (ज्ञान) सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न
ऐसे सूत्रकार के कण्ठ से कहे हुए सङ्ग्रह, तथा चकार से लोक व्यवहार में गुणरूप
प्रसिद्ध गुरुत्व द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अवर्म तथा शब्द ऐसे संपूर्ण चतुर्विध
(चौबीस) गुण हैं ॥ ६ ॥

उपस्कार—इस गुण-विभाजक सूत्र में चकार से गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार,
धर्म, अवर्म, तथा शब्दनामक सात गुणों सङ्ग्रह होता है, क्योंकि ये लोकव्यवहार
में गुणरूप से प्रसिद्ध हैं इस कारण सूत्रकार ने रूपादि गुणों के समान सूत्र में क
से उच्चारण नहीं किया है । यह चतुर्विंशति (चौबीस) गुण पदार्थ हैं । इन
उचित स्थानों में क्रम के अनुसार लक्षण तथा स्वरूप से वर्णन किया जायगा
इनमें से रूप, रस, गन्ध, तथा स्पर्शनामक चार गुणों के बोधकरूप, रस, गन्ध
तथा स्पर्श शब्दों का, एक काल में रहनेवाले दूसरे रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श शब्दों
का सामानाधिकरण्य (एक आश्रय में रहना) नहीं है, यह सूचित करने के लि
सूत्रकार ने द्वन्द्व समास किया है ।

यहां शकरमिश्र ने 'स्वकालीन' अपने काल के ऐसा न कहकर 'समानकालीन'
एक काल में रहनेवाले ऐसा नवो कहा ? ऐसी शका के विचारण में यह उत्तर होगा
अपने काल में वर्तमान अपने से भिन्न रूपादिकों का बोध होने के लिये समानकालीन
ऐसा कहा है, अन्यथा अपने साथ अभेद से समानकालीनता तथा सामानाधिकरण्य
सेकर शोष हो जायगा । भिन्न काल में रूपादि गुणों का दूसरे रूपादि गुणों
सामानाधिकरण्य रहता हो है, अतः समानकालीन ऐसा विशेषण रूपादि गुणों
दिया है । यहां पर 'समास' इस पद से पदान्तर के व्यवधान से रहित अपने उच्चारण
करनेवाले से उच्चारण किये शब्द से प्रतिपादित होना रूप सहधरितता सूचित
गई है, यदि समास न किया जाय तो रूप आदि शब्द के उत्तर आनेवाली विभक्ति

सद्व्यापारिमाणसामानाधिकरण्यसूचनायासमासो बहुवचननिर्देशश्च । यद्यप्येकत्वसमानाधिकरणं नैकत्वान्तरं न वा महत्त्वदीर्घत्वसमानाधिकरणं महत्त्वदीर्घत्वान्तरम् तथापि द्वित्वादीनामन्योन्य सामानाधिकरण्यं महत्त्वदीर्घत्वादीनाञ्च विजातीयपरिमाणयोः सामानाधिकरण्यमस्त्येव । (पृथक्त्वञ्च यद्यपि द्विपृथक्त्वादिसमानाधिकरण तेन सद्व्यावद् बहुत्वेनैव निर्देष्टुमर्हति तथाप्यवधिष्यद्भक्त्यलक्षणं सद्व्याप्तौ वैधर्म्यं सूचयितुमेकवचननिर्देशः ।

से व्यवधान होने के कारण उक्त मातृवर्ण्य ममाम संगत न होगा—यह सूचित किया है । इस प्रकार 'रूपरमयस्पर्शा' इस पद में ममाम का प्रयोजन दिखाकर 'संख्या. परिमाणानि' इन दो पदों को पुणक् रखने में, अर्थात् इनका समास न रखने का सूत्रकार का क्या आशय है (यह दिखाने के लिये शकरमिश्र कहते हैं कि)—महत्वा तथा परिमाण का समानकाल में रहनेवाली एक संख्या तथा परिमाण गुण के क्रम से दूसरी संख्या तथा परिमाण गुण के साथ एक अधिकरण में वर्तमानता होती है, अर्थात् एक काल में एक आधार में दो संख्या तथा परिमाण रहते हैं यह सूचित करने के लिये परस्पर समास नहीं किया है, तथा बहुवचन भी सूत्रकार ने दोनों में दिखाना है ।

(संख्या तथा परिमाण के विषय में जो समास न करने का प्रयोजन कहा उसमें आपत्ति देने हुए शकरमिश्र कहते हैं कि)—यद्यपि एकत्र महत्वा के आश्रय में दूसरी एकत्र संख्या, अथवा महत् तथा दीर्घपरिमाण के आश्रय में क्रम से दूसरा महत् तथा दीर्घ परिमाण नहीं रहता, तथापि द्वत्वादि मत्वाद्यो का परस्पर में (त्रित्वादिकों के साथ) तथा महत् और दीर्घ आदि परिमाणों का विजातीय परिमाणों के साथ सामानाधिकरण्य होता ही है, अर्थात् दो वदार्थों में द्वित्व संख्या तथा तीसरे पदार्थ को लेकर त्रित्व संख्या, एवं महत् परिमाणवाने पदार्थ में विजातीय दीर्घ परिमाण (और अगु परिमाणवाले पदार्थ में विजातीय ह्रस्व परिमाण रहता है, अतः संख्या तथा परिमाण गुणों में समानकालीन संख्या तथा परिमाणों का सामानाधिकरण्य सिद्ध होता है । (इस प्रकार संख्या तथा परिमाण के समास न करने का तथा बहुवचन का प्रयोजन दिखाकर पुणक्त्व-गुण में 'पुणक्त्व' इस पद में एकवचन के प्रयोग का प्रयोजन उपस्कार में दिखाते हैं कि)—यद्यपि पुणक्त्व गुण द्विपुणक्त्वादिकों के आश्रय में रहता है (अर्थात् जिसमें एकपुणक्त्व तथा द्विपुणक्त्वादिक रहता है क्योंकि यह एक दूसरे से पुणक् है यह दो में पुणक् है इत्यादि प्रतीति होती है) अतः संख्या गुण के समान उसमें भी 'पुणक्त्वानि' ऐसा सूत्र में बहुवचन कहना उचित था, तथापि संख्यागुण से यह पदार्थ उस पदार्थ से पुणक् है, इस प्रकार 'उस पदार्थ से' इस पदार्थ से पुणक्त्व गुण में अवधि का बोध होने के कारण

संयोगविभागयोर्द्वयोरप्यौकर्मजन्यत्वसूचनाय द्विवचनम् । परत्वापरत्वयो-
रन्योन्याश्रयनिरूपयतया दिक्काललिङ्गत्वाविशेषसूचनाय च द्विवचनम् । बुद्धीनां
विद्याभिज्ञेन साहचर्याभिमतैरुमात्रबुद्धिनिराकरणसूचनाय बहुवचनम् । सुख-
दुःखयोर्द्वयोरपि भोगत्वावच्छेदौकर्यजनकत्वम् अविशेषेण आहृष्टोद्भाय-
कत्वम्, सुखस्यापि दुःखत्वेन भावनञ्च ख्यापयितुं द्विवचनम् । इच्छाद्वेयोर्द्व-

चलस्य (वंशस्य) है यह सूचित करने के लिये एकवचन का सूत्रकार ने निर्देश
दिया है । संयोग तथा विभाग इन दोनों गुणों में एक क्रिया से उत्पन्न होना
समान है यह सूचित करने के लिये द्विवचन का प्रयोग समास में किया है । परत्व
तथा अपरत्व गुण में परस्पर आचारी से निरूपण होना, (अर्थात् दूर की अपेक्षा से
समीपस्थ पदार्थ का बोध होना तथा ज्येष्ठ प्राणी की अपेक्षा से कनिष्ठ का बोध
होना स्वयम् से वैश्विक तथा कालिक परत्व और अपरत्व गुण का परस्पर की अपेक्षा
से बोध होने के कारण) एवं विद्या तथा कालरूप परत्व तथा अपरत्व गुण के साधक
हेतुओं का समान होना भी सूचित करने के लिये 'परत्वापरत्वे' इस पद में द्विवचन
दिया है । बुद्धि (ज्ञान) के विद्या-अविद्याविभेद के प्रदर्शन से सात्यशास्त्र में अभिमत
बुद्धि पदार्थ का निराकरण करने के लिये 'बुद्धय' इस पद में बहुवचन दिया है ।
सुख तथा दुःख दोनों गुणों में भोगरूप साधारण एक कार्य को उत्पन्न करना समान
है, और साधारणरूप से प्राणी के सुख-दुःखभोग से उनके धर्म तथा अधर्मरूप
अदृष्ट की सिद्धि भी होती है, एवं (मुमुक्षु पुरुष को सुख भी दुःखरूप समझना
चाहिये यह भी सूचित करने के लिये 'सुखदुःखे' इस पद में द्विवचन का प्रयोग
किया है । इच्छा तथा द्वेष दोनों कामिकादि तीन प्रकार की प्राणी की प्रवृत्ति होने
में कारण हैं यह सूचित करने के लिये 'इच्छाद्वेषौ' यह द्विवचन दिया है । शास्त्र में
विधान किये तथा निषिद्ध प्रयत्न गुणों के, जो दशविध (दस प्रकार) पुण्य के कारण
होते हैं और दस ही पाप के कारण होते हैं यह सूचित करने के अभिप्राय से
'प्रयत्नाः' ऐसा बहुवचन का प्रयोग किया है ।

(यहाँ पर शास्त्र में विहित तथा निषिद्ध पुण्य और पाप के दस प्रकार के होने
के कारण उसके कारण प्रयत्न भी दस प्रकार है । जिसमें से दान, रक्षा, सेवा ऐसे
तीन धारीरिक तथा सत्य, हित, प्रिय तथा स्वाध्याय ऐसे चार वाचिक एवं लोभ न
करना, दया और श्रद्धा ऐसे तीन मानसिक ऐसे दस विहित पुण्यकर्म हैं । तथा हिंसा,
स्तेय (चोरी) निषिद्ध विषय मंथनादि भोग ऐसे तीन धारीरिक, मिथ्या, कठोर,
बुगमोक्षोरी तथा अव्यवस्थित वचन ऐसे चार वाचिक एवं दूसरे का दोह करना, दूसरे
का धन चाहना एवं नास्तिकपना ये तीन मानसिक ऐसे दस पापजनक कर्म हैं यह
ज्ञान लेना ।)

योरपि प्रवृत्तिं प्रति कारणत्वसूचनाय द्विवचनम् । प्रयत्नानां विहितनिषिद्धगो-
चराणां दशविधाना पुण्यहेतुत्वं दशविधानाश्च पापहेतुत्वमभिसन्धाय
बहुवचनमित्युन्नेयम् ।

यद्वा रूपरसगन्धस्पर्शानां भौतिकेन्द्रियव्यवस्थाहेतुत्वज्ञापनार्थं पाकजप्रक्रि-
याव्यवस्थापनार्थं वा ते समस्योक्ता । सङ्ख्यायां द्वित्वबहुत्यादी विप्रतिपत्ति-
रिति तन्निराकरणसूचनार्थं बहुत्वेनाभिधानम् । पृथक्त्वे तु सङ्ख्याबहुत्वेनैवा-
स्थाप्य बहुत्वमिति सूचनायावधिज्ञानव्यञ्जनोपत्य सङ्ख्यातो वैधर्म्यमिति
सूचनाय च पृथगभिधानम् । परिमाणे तु दीर्घत्वह्रस्वत्वादिविप्रतिपत्तिनिरापाय
बहुवचनम् । संयोगविभागयोरन्योन्यविरोधज्ञापनाय द्विवचनम् । परत्वापर-
त्वयोर्द्वैशिककालिकभेदेन भिन्नजातीयत्वसम्भवेन चतुष्पापत्तौ गुणविभागो
न्यूनः स्यात् इति तथापि द्विवचनमित्याशुन्नेयम् । एतेषाञ्च लक्षणममे-
ष्यते ॥ ६ ॥

(उक्त प्रकार का सामानाधिकरण्य ममानुपपत्ता का प्रयोजन न स्वीकार करने
के पक्ष से उक्त सूत्र का दूसरा अर्थ करते हुए सकारदेव कहते हैं कि)—अथवा रूप,
रस, गन्ध तथा स्पर्श इन चार गुणों के भौतिक चक्षु आदि इन्द्रियों की व्यवस्था
(चक्षु तेजस ही है । रसनेन्द्रिय जलीय ही है) के कारण हैं यह सूचित करने के लिये
तथा यह पाकज होते हैं, इस पाकज प्रक्रिया की व्यवस्थापना के लिये भी इन चारों
में द्वाद्दसमास सूत्र में दिखलाया है । संख्या में द्वित्वादि संख्याओं के विषय में वादियों
का विवाद है । (अर्थात् कुछ विद्वान् द्वित्वादि संख्या को नहीं मानते) अतः उस (न
मानने) के पक्ष का निरास करने के लिए संख्या ऐसा बहुवचन का प्रयोग किया
है । पुण्यवत्त्वनामक गुण में संख्या की अनेकता से ही बहुरूप संख्या सिद्ध होती है यह
सूचित करने के लिये तथा पूर्वप्रदर्शित रीति से पुण्यत्व गुण में 'यह इससे पुण्य है'
इस प्रकार अवधि से प्रकट होने के कारण संख्या से विलक्षणता है, अतः पुण्यत्वगुण
को समास न कर 'पुण्यत्व' इस प्रकार उसे संख्या से पुण्य कह दिया है । परिमाण गुण
में तो दीर्घ तथा ह्रस्व परिमाण को कुछ विद्वानों ने महत् तथा अतृ परिमाण से भिन्न
नहीं माना है उसका निरास करने के लिए बहुवचन दिया गया है । संयोग तथा
विभाग गुण का परस्पर में विरोध है यह बतलाने के लिए 'संयोगविभागो' ऐसा द्विवचन
दिया है । परत्व तथा अपरत्व दो गुणों का दैशिक तथा कालिक भेद से विभिन्न जाति
के होने से चार संख्या प्राप्त होने पर गृणों का चतुर्विधनिरूपण विभाग न्यून हो जायगा
इस कारण 'परत्वापरत्वे' इस पद में भी द्विवचन दिया गया है इत्यादि जान लेना
चाहिये । यहाँ पर 'इत्यादि' इस आदि पद से प्रवृत्ति, निवृत्ति तथा जीवनयोनि नाम
के तीन भेद से प्रयत्न गुण भी तीन प्रकार का है यह जान लेना चाहिये । संकरमिश्र
कहते हैं कि इन चतुर्विध गुणों का लक्षण आगे कहा जायगा ॥ ६ ॥

कर्मणां द्रव्यजन्यतया गुणजन्यतया च रूपवद्रव्यसमवायाच्च प्रत्यक्षतेति द्रव्यगुणाभिधानानन्तरं कर्मोद्देशविभागावाह—

उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि ॥ ७ ॥

उत्क्षेपणम् अवक्षेपणम् आकुञ्चनं गमनमिति कर्माणि । इतिरवधारणार्थं, भ्रमणादेरपि गमनान्तर्गतत्वात् । अत्र च उत्क्षेपणत्वावक्षेपणत्वाकुञ्चनत्व-प्रसारणत्वगमनत्वानि कर्मत्वसाक्षाद्व्याप्या पञ्च जातयः । नन्वेतदनुपपन्नं गमनस्य कर्मपर्यायत्वात् सर्वत्र गच्छतीति बुद्धेर्दृष्टत्वादुत्क्षेपणत्वादीनां चतसृणां जातीनां परस्परान्यन्ताभावसमानाधिकरणानां सामानाधिकरण्या-न्तुभवात् चतस्र एव कर्मत्वव्याप्या जातय इति चेत् । सत्यं कर्मपर्याय एव

(सङ्गति दिक्वाते हुए द्रव्य तथा गुणों के उद्देश के अन्त में कर्म के निरूपण करने में बीच स्फुट करते हुए उक्तमिथ सप्तमसूत्र का अवतरण देते हैं कि) —कर्म पदार्थों के द्रव्य से उत्पन्न होने तथा गुणों से भी उत्पन्न होने के कारण एक रूप के आधार-द्रव्यों में समवेत होने के कारण भी द्रव्य तथा गुणों के वृत्त के पश्चात् क्रमप्राप्त कर्म पदार्थ का उद्देश तथा विभाग सप्तमसूत्र में महर्षि कणाद इस प्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—उत्क्षेपण = ऊर्ध्वप्रदेश में फेंकना, अवक्षेपण = अधोदेश में फेंकना, आकुञ्चन = अपनी ओर खींचना, प्रसारण = फैलाना, गमन = गमन करना, इति = इस प्रकार, कर्माणि = पांच कर्मपदार्थ हैं ॥ ७ ॥

भाषार्थ—वैशेषिकमत में ऊपर फेंकना, नीचे फेंकना, सिकोड़ना, फैलाना, चलना-फिरना इत्यादिरूप गमन ऐसे पांच ही कर्मपदार्थ हैं ॥ ७ ॥

उपस्कार—उत्क्षेपण ऊपर फेंकना^१ अवक्षेपण (नीचे फेंकना^२) आकुञ्चन (अपनी ओर खींचना^३) प्रसारण (फैलाना^४) तथा गमन (चलना-फिरना^५) इत्यादि ऐसे पांच कर्म हैं । इस सूत्र में भी इति यह पद अवधारणा (निश्चय) बोधक है क्योंकि भ्रमण, व्यत्यन आदि कर्मों का गमन कर्म में अन्तर्भाव है । यहाँ पर उत्क्षेपणत्व, अवक्षेपणत्व, आकुञ्चनत्व, प्रसारणत्व तथा गमनत्व ऐसी पांच जातियाँ कर्मत्व सामान्य जाति की सारात् व्याप्य (कम देश में रहनेवाली) अपर जातियाँ हैं । यहाँ पूर्व-पक्षी शका करता है कि—यह पाँच प्रकार के सिद्धान्ति से कहे हुए कर्म के भेद नहीं हो सकते, क्योंकि गमन तथा कर्म में दोनों पर्यायत्वचरम अष्टत्वे, क्योंकि पर्यायपूर्ण उत्क्षेपणादि कर्मों में 'गच्छति' जाता है यह ज्ञान देने में जाता है, तथा उत्क्षेपणत्व, अवक्षेपणत्व इत्यादि चार जातियों का जो परस्पर जैसे उत्क्षेपण के आश्रय में वर्तमान उत्क्षेपणत्व जाति के जो अवक्षेपण के व्यत्यन्ताभाव के अविकरण में रहती है, इस प्रकार भिन्न-भिन्न में रहनेवाली उत्क्षेपणत्वादि जातियों के एक आश्रय में रहने का अनुभव न होने के कारण चार ही कर्मत्व की व्याप्य (अपर) जातियाँ हैं यह सिद्ध होता

गमनं पृथगभिधानन्तु भ्रमणरेचनस्यन्दनोर्ध्वज्वलननमनोज्ञमनादीनां भिन्न-
भिन्नबुद्धिव्यपदेशभाजामेकेन शब्देन सङ्ग्रहार्थम् । यद्वा 'गमनत्वमपि कर्म-
त्वव्याप्या पञ्चमो जातिरेव तेन भ्रमणरेचनादिष्वेव गमनप्रयोगो मुख्यः
उत्क्षेपणावक्षेपणादिषु यदि गमनप्रयोगस्तदा भाक्तः । स्वाश्रयसंयोगविभागा-
समवायिकारणत्वमेव गौणमुख्यसाधारणो धर्मः । गमनत्वजातेस्त्वनियतदि-
ग्देशासंयोगविभागासमवायिकारणत्वमेव व्यञ्जकम्, तच्च भ्रमणादिषु सर्वत्रेति

है । (इस शब्द का समाधान शङ्करमिश्र इस प्रकार करते हैं कि)—पूर्वपक्षी का
का यह कहना सत्य है, क्योंकि गमन शब्द कर्म का पर्याय ही है । तथापि उसको पुनः
इस कारण कहा है कि भिन्न-भिन्न ज्ञान तथा व्यवहार जिनका होता है ऐसे भ्रमण,
रेचन, स्थान, ऊर्ध्वज्वलन, नमन (झुकना) उन्नमन (ऊपर उठना) इत्यादि कर्मों
का सग्रह एक गमन पद से हो । (अर्थात् उत्क्षेपणादि चार कर्मों से भिन्न कर्म ही
यहाँ गमनशब्द का अर्थ है जिससे भ्रमणादि कर्मों का सग्रह होता है ।) पूर्वपक्षी
यहाँ ऐसी शक्ति नहीं कर सकता कि तब तो उत्क्षेपणादि चार कर्मों का भी गमन-
पद से ही सग्रह हो सकने में उनको भी पुनः कहना व्यर्थ हो जायगा—क्योंकि
महर्षि कणाद मुनि की इच्छा के अधीन होने से इस विषय में प्रश्न (आपत्ति) नहीं
हो सकती । (गमनत्व कर्मत्व की मातात् व्याप्य (अपर) जाति नहीं है, इस
प्रथम उत्तर का अनादर कर दूसरे प्रकार से उत्तर देते हुए शङ्करमिश्र कहते हैं कि)—
अथवा गमनत्व जाति भी कर्मत्व की उत्क्षेपणत्वादि जातियों के समान पञ्चम व्याप्य
(अपर) जाति ही है, जिससे भ्रमण-रेचन आदि कर्मों में ही गमन शब्द का प्रयोग
मुख्य होता है, और उत्क्षेपणादि चार कर्मों में यदि गमनशब्द का प्रयोग हो तो वह
भाक्त (गौण) होगा । अपने (क्रिया के) आधार द्रव्य में संयोग तथा विभाग का
असमवायिकारण होना ये ही मुख्य तथा गौण कर्मों में गमनशब्द के प्रयोग का
सामान्य धर्म है । (क्योंकि भ्रमणादि मुख्य तथा उत्क्षेपणादि गौण कर्मों में अपने
आधार द्रव्य में संयोग तथा विभाग की उत्पत्ति करते हैं) । (कहे हुए गमनपद का
भ्रमणादि कर्मों में मुख्य प्रयोग होने का कारण दिखाते हुए आगे शङ्करमिश्र कहते
हैं कि) गमनत्व जाति का अनियमित दिशाप्रदेश के साथ संयोग तथा विभाग का
असमवायिकारण होना ही व्यञ्जक (बोधक) है, और वह भ्रमण, रेचन आदि
सम्पूर्ण कर्मों में है, इस कारण गमनपद के ग्रहण से ही उनका ग्रहण हो जाता है ।
निकृष्णगत् (निकलना) प्रवेशनत् (प्रवेश करना) इत्यादिक जाति नहीं हो सकती,
क्योंकि एक ही कर्म में एक गृह से दूसरे गृह में जानेवाले मनुष्य में किसी देखनेवाले
पुरुष को 'प्रविशति' प्रवेश करता है, तथा किसी दूसरे देखनेवाले पुरुष को 'निकृष्ण-
मति' निकलता है ऐसा ज्ञान होता है, इस कारण जातिबाधक साक्यदोष हो जायगा ।

गमनग्रहणेनैव तेषां ग्रहणमिति । निष्क्रमणत्वप्रवेशनत्वादिका तु न जातिः परस्मिन्नेव कर्मणि गृहाद् गृहान्तरं गच्छति पुरुषे कस्यचित् द्रष्टुं प्रविशतीति प्रत्यय कस्यचित्च निष्क्रामतीति तत्र जातिसङ्करः स्यात् तथा भ्रमणादेरेकस्या जलप्रणाल्या निष्क्रम्यापरां प्रविशति निष्क्रामति प्रविशतीति प्रत्ययद्वयदर्शनादुपाधिसामान्यमेवैतदध्ययसेयम् । उत्क्षेपणादी तु मुपलमुत्क्षिप्तामीतीच्छाजनितेन प्रयत्नेन प्रयत्नवदात्मसयोगादसमवायिकारणाद्वस्ते तावदुत्क्षेपणं तत्र उत्क्षेपणविशिष्टहस्तनोदनादसमवायिकारणात् मुपलेऽप्युत्क्षेपणाख्यं कर्म युगपद्भा । तत्र ऊर्ध्वमुत्क्षिप्तयोर्हस्तमुपलयोरवक्षेपणेच्छाजनितप्रयत्नवदात्मसयोगाद्वस्तनोदनाद्य युगरदेव हस्ते मुपले चावक्षेपणम् उत्पल-

(यथात् उपरोक्त एक कर्म में प्रवेश तथा निर्गम ऐसे दोनों जानो के होने से एव केवल गृह में प्रवेश करनेवाले पुरुष में केवल प्रवेशज्ञान तथा गृह से केवल निकलनेवाले पुरुष के केवल निर्गमज्ञान होने के कारण भिन्न भिन्न में वर्तमान होते हुए एक में दोनों का समावेश होने के कारण भूतत्व तथा मूलत्व के समान साकार्यदीप्त होने के कारण जातिसंकरदोष होने से निष्क्रमण-प्रवेशनत्वादि जाति के गमन से भिन्न कर्म नहीं हो सकते । इसी प्रकार आगे भी जानना ।)

(निष्क्रमणत्व-प्रवेशनत्वादि जातियों के समान भ्रमणत्वादि जातियों में भी साङ्ख्य दोष दिखाते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—उसी प्रकार भ्रमणादि कर्मों में भी एक जल बहने की एक नाली से निकल कर दूसरी नाली में प्रवेश करनेवाले जल में निकलता है, तथा प्रवेश करता है ऐसे दोनों ज्ञान किसी द्रष्टा को होते हैं, तथा किसी को केवल निकलता है, और किसी द्रष्टा को प्रवेश करता है ऐसे भिन्न २ ज्ञान होने से जाति का बाधक साकार्य दोष होने के कारण भ्रमणत्वादि कर्मों जाति नहीं है, किन्तु अवलम्ब उपाधिरूप जाति से भिन्न कर्म है । (इस प्रकार सामान्यरूप से कर्म पदार्थ का विवेचन करने के पश्चात् पाच कर्मों में से प्रथम उत्क्षेपण कर्म का निरूपण उपस्कारकर्ता इस प्रकार करते हैं कि)—उत्क्षेपणादि कर्मों में तो मुसल के ओहीनवह्मिति इत्यादि विधि के अनुसार (यज्ञसम्बन्धी धान को कटने के लिये) हस्त को ऊपर उठाता है ऐसी इच्छा से उत्पन्न प्रयत्न से प्रयत्नवात् आत्मा के समीपस्थ असमवायिकारण से समवायिकारणरूप हस्त में उत्क्षेपण होता है जिससे हस्त ऊर्ध्वदेश में जाता है इसके पश्चात् उत्क्षेपण सहित हस्त के नोदन समीप से जो मुसल में उत्क्षेपण का असमवायिकारण है मुसलरूप समवायिकारण में भी उत्क्षेपण क्रिया होती है, जबवा एक ही समय में हस्त तथा मुसल में उत्क्षेपण क्रिया होती है (किन्तु इस पक्ष में हस्तमात्र का नोदन-समीप मुसल के उत्क्षेपण में असमवायिकारण होता है) ।

(इस प्रकार उत्क्षेपण कर्म का वर्णन कर शंकरमिश्र अवक्षेपण कर्म का वर्णन

पातानुकूलं सञ्जायते । ततो दृढतरद्रव्यसंयोगाद् यद् कस्मान्मुपलस्योर्ध्वगमनं भवति तत्र नेच्छा न वा प्रयत्नः कारण किन्तु संस्कारमात्रादेव मुपलस्योत्पत्तनम् तच्च गमनमात्रं नतृक्षेपण भाक्तस्तत्रोत्क्षेपणव्यवहारः । एवमनुलोमप्रति-लोमवायुद्वयसङ्घट्टवशाद्वाय्वोऽन्तरेणित-नूलकादौ चोत्क्षेपणव्यवहारो भाक्तः । एवं स्रोतोद्वयसङ्घट्टवशाज्जलोर्ध्वगमनेऽपि एवमुत्क्षेपणावक्षेपणव्यवहारः शरीरतदवयवतत्संयुक्तमुपलतोमरादप्येव मुख्यः भवति हि हस्तमुत्क्षिपति मुपलमुत्क्षिपति तोमरमुत्क्षिपतीति एवमवक्षिपतीत्यपि । आकुञ्चनन्तु सत्त्वेवावयवानामारम्भकसंयोगेषु परस्परमवयवानामारम्भकसंयोगोत्पादक वस्त्राद्यवयविकीटित्यो-

करते हैं कि)—इसके पश्चात् ऊष्णप्रदेश में गये हुए हस्त तथा मुसल दोनों की नीचे फेंकने की इच्छा से उत्पन्न प्रयत्नवान् आत्मा के सयोग तथा हस्त के नोदनसयोग से भी एक ही समय में हस्त तथा मुसल में अवक्षेपण नीचे जाने की क्रिया होती है, जो ऊल्ल में ही मुसल के गिरने के अनुकूल होती है । इसके पश्चात् अत्यन्त दृढ ऊल्ल द्रव्य के सयोग से जो अकस्मात् (निष्कारण) मुसल ऊपर जाता है, उसमें न इच्छा कारण है न प्रयत्न कारण है, किन्तु (ऊल्ल के टक्कर खाने से उत्पन्न) केवल वेगनादक संस्कार से ही मुसल का उत्पत्तन (ऊपर उठना) रूप कर्म होता है अतः वह दमना माना है न कि उत्क्षेपण कर्म, अतः उसमें होनेवाला उत्क्षेपण है, व्यवहार उसमें गौण है । इसी प्रकार अनुकूल तथा प्रतिकूल (अर्थात् परस्पर विषट्) दो वायु द्रव्यों के परस्पर सघर्ष के कारण दो वायु तथा उनसे ही लाये हुए रई आदि लघु द्रव्यों में भी उत्क्षेपण आदि व्यवहार इच्छा तथा प्रयत्न के न होने से गौण हैं, न कि मुख्य । इसी प्रकार दो जल प्रवाहों के परस्पर सघर्ष (टक्कर खाने) से जल के ऊर्ध्वादि गति में उत्क्षेपणादि व्यवहारों को गौण जानना चाहिये एवं इससे यह सिद्ध होता है कि उत्क्षेपण तथा अवक्षेपण का व्यवहार शरीर तथा उसके अवयव हस्तादिकों में संयुक्त मुसल, तथा तोमर आदि दास्त्रों में ही आत्मा की इच्छा तथा प्रयत्न का समव होने से मुख्य है, क्योंकि हस्त ऊपर की ओर फेंकता है मुसल को ऊपर फेंकता है, तोमर को ऊपर फेंकता है ऐसा जात होता है । इसी प्रकार नीचे फेंकता है इत्यादिक भी प्रतीति होती है ।

(इस प्रकार उत्क्षेपण तथा अवक्षेपण का प्रयत्नपूर्वक तथा बिना प्रयत्न के ऐसे दो प्रकार से वर्णन कर क्रमप्राप्त आकुञ्चन कर्म का स्वरूप वर्णन करते हैं कि)—आकुञ्चन कर्म तो अवयवि-द्रव्य के आरम्भ करनेवाले अवयवों के सयोग के रहते हुए ही परस्पर में अवयवों के (द्रव्यादिक को) उत्पन्न न करनेवाले सयोग को उत्पन्न करनेवाली वस्त्रादि अवयवि-द्रव्यों में कुटिलता (सकोच) की उत्पन्नक क्रिया होती है, जिससे कमल संकुचित होता है, वस्त्र संकुचित होता है, चर्म (चमड़ा)

त्पादकं कर्म यतो भवति सद्बुचति पद्म सद्बुचति वस्त्र सद्बुचति चर्मैतिप्रत्ययः ।
 एवमवयवानां पूर्वत्यजानारम्भकसयोगिनाशकं कर्म प्रसारण यतो भवति
 प्रसरति वस्त्र प्रसरति चर्म प्रविक्रसति पद्ममित्यादिप्रत्यय । एतच्चतुष्टयभिन्न
 यन् कर्मजातं तत्सर्वं गमनविशेषः । तत्र भ्रमणं प्रयत्नवदात्मसयोगादस्ते
 कर्मयता हस्तेन नोदनाख्यसयोगादवघट्टनाच्च चक्रादौ तिर्यक्सयोगानुकूल कर्म ।
 रेचनाद्यपि व्याख्येयम् । स्फुटोक्तिरिष्यति चाग्ने तदेतेषां कर्मणां विहितयागस्नान-
 दानादिषु धर्मानुकूलप्रयत्नवदात्मसंयोगजन्यत्वं निषिद्धदेशगमनहिंसाकलञ्ज-
 भक्षणादिषु चाधर्मानुकूलप्रयत्नवदात्मसंयोगजन्यत्वमध्यक्षेयमिति ॥ ७ ॥

द्रव्यादीनामुद्देशानन्तरं त्रयाणां साधर्म्यप्रकरणमारभते । तत्र द्रव्यादीनां

सिद्धिज्ञाता है इस प्रकार प्रतीति होती है । (यहाँ वस्त्रादि असमवायिकारण और
 असमवायिकारण अवयवारम्भक संयोग, आकुचन कार्य है यह जानना) । इसी प्रकार
 अवयवों के पूर्व में उत्पन्न द्रव्य के न उत्पन्न करनेवाले आकुचन में हुए संयोग
 को नष्ट करनेवाली क्रिया का नाम प्रसारण है, जिससे कपड़ा फैलता है, कमड़ा
 फैलता है, कमल विकसित होता है, ऐसी प्रतीति होती है । इन चार कर्मों से भिन्न
 जो २ कर्म हैं वे सम्पूर्ण गमन कर्म के ही विशेष हैं । उनमें से प्रयत्नविशिष्ट आत्मा
 संयोग से हस्त में, तथा नर्मवान् हस्त के नोदनात्मक संयोग, अवघट्टन (जोर से
 चम्पाने) से तथा चक्र आदिको में तिरछे स्रूणं दियावो में संयोग होने के अनुकूल
 क्रिया को भ्रमण कहते हैं । इसी प्रकार रेचन स्पन्दन इत्यादि क्रिया भी गमन-
 विशेष हैं । आगे भी इनका स्पष्टीकरण करेंगे (मुख्यरूप असमवायिकारण से
 नैमित्तिक द्रव्य के आधार द्रव्य से होनेवाले उत्तरसंयोगानुकूल कर्म को रेचन तथा
 द्रव्यवहन असमवायिकारणवाली उत्तरसंयोगानुरूप क्रिया को स्पन्दन कहते हैं, जो
 गमनरूप जाति की ध्यात्म जातिवा है, यह स्वयं जान लेना चाहिये ॥)

(शंकरमिश्र उक्त कर्मों में शास्त्रीय उपयोगिता का वर्णन करते हैं कि)—
 उक्त कर्मों में शास्त्रों में विधान किये याग, स्नान तथा दान आदि पुण्य कर्मों में धर्म
 के अनुकूल प्रयत्न करनेवाले आत्मा के संयोग से उत्पन्न होना तथा शास्त्र से
 निषिद्ध देशगमन, हिंसा, कलञ्ज (पियाज-लहसून) इत्यादिको के भक्षण, अस्पृश्य का
 स्पर्श करना आदि पापकर्मों में अधर्म के अनुकूल प्रयत्न करनेवाले आत्मा के संयोग
 से उत्पन्न होना निश्चित होता है ॥ ७ ॥

इस प्रकार द्रव्य, गुण तथा कर्म पदार्थ के उद्देश (नामकीर्तन) के पश्चात् उसके
 साधर्म्य (समानधर्म) के निरूपण प्रकरण का सूत्रकार शारम्भ करते हैं । (यहाँ पर
 कर्म के वर्णन के पश्चात् त्रयप्राप्त सामान्य पदार्थ का उद्देश करना सगत होने के
 कारण मध्य में साधर्म्य का वर्णन करना असगत है इस वाक्य का उत्तर देते हुए शंकर-

त्रयाणां साधर्म्यस्य तत्त्वज्ञानानुसूतया प्रथमं शिष्याकाङ्क्षितत्वात् सामान्या-
दिपदार्थत्रयस्य उद्देशात् प्रागेव त्रयाणां साधर्म्यमाह—

सदित्यं द्रव्यवत्कार्यं कारणं सामान्यविशेषवदिति द्रव्यगुण-
कर्मणामविशेषः ॥ = ॥

विशेषे सत्यपि अयमविशेषशब्दः साधर्म्यपरः सदिति । सदाकारप्रत्यय-
व्यपदेशविषयत्वम् त्रयाणामेव सत्तायोगित्वात् । अनित्यमिति । ध्वंसप्रति-
योगित्वं यद्यपि न परमाण्वादिसाधारणं तथापि ध्वंसप्रतियोगित्वपदार्थ-

मिश्र कहते हैं कि)—उनमें से द्रव्यगुण तथा कर्मपदार्थ के समानधर्म के सर्वज्ञान के अनुकूल होने के कारण सामान्यादि पदार्थ के ज्ञान के प्रथम द्रव्य, गुण तथा कर्म-
पदार्थ के साधर्म्य क्या है ? इस प्रकार शिष्यों की जिज्ञासा होने के कारण सामान्य, विशेष तथा समवाय ऐसे तीन पदार्थों के उद्देश के पूर्व ही द्रव्यादि तीन पदार्थों का साधर्म्य दिखाते हुए अष्टम सूत्र कणाद महर्षि कहते हैं—

पदपदार्थ—सत्=सत्ताजातिमान, अनित्य=अनित्य, द्रव्यवत्=समवायिकारण जिसका द्रव्य हो, कार्य=कार्य, कारण=कारण, सामान्यविशेषवत्=अनुगत बुद्धि से सिद्ध सामान्य तथा व्यावृत्तिबुद्धि से सिद्ध विशेष का आधार, इति=इति प्रकार, द्रव्यगुण कर्मणा = द्रव्य, गुण तथा कर्म तीन पदार्थों का, अविशेषः = समान धर्म हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—द्रव्य, गुण तथा कर्म इन तीनों पदार्थों के सत् रूपाकारक बुद्धि विषय होना, अनित्यता, द्रव्यरूप समवायिकरण की आधारता, कार्यता (कार्य होना) कारणता (कारण होना) तथा अनुगतबुद्धि से सिद्ध सामान्य, तथा व्यावृत्तिबुद्धि विशेष की आधारता इतने समान धर्म हैं ॥ ७ ॥

उपश्लेष—इस सूत्र में द्रव्यादित्रय में विशेष होने पर भी यह अवशिष्ट सत् समान धर्म का बोधक है । द्रव्यादि तीन पदार्थों ही में सत्तानामक परजाति का सम्बन्ध होने के कारण 'सत्' है' इत्याकारक व्यवहार का विषय होना इन तीनों का समान धर्म है तथा इन तीनों का अनित्यता समान धर्म है । ध्वंस का प्रतियोगी होने रूप अनित्यता यद्यपि पृथिव्यादि परमाणुओं में नहीं है तथापि ध्वंस-प्रतियोगित्व शब्द को ध्वंस के प्रतियोगी पदार्थ में वर्तमान पदार्थ के विनाश करनेवाले उपाधि (धर्म) की आधारता व्यर्थ करना चाहिये (जिससे ध्वंस के प्रतियोगी अनित्य घटादिक में वर्तमान द्रव्यस्वरूप पदार्थविभाजक धर्म के परमाणुओं में भी रहने के कारण अनित्य का लक्षण सगुण होने से अव्याप्तिदोष न होगा) (यहाँ पर ध्वंसप्रतियोगी) में वर्तमान जाति की आधारतादात्र इसका ही ध्वंसप्रतियोगित्व शब्द का अर्थ करने से भी परमाणु में दिया दोष निवृत्त हो सकता है, तो पदार्थविभाजक उपाधि-मत्ता पर्यन्त का शरकरमिश्र ने अनुधावन क्यों किया, यह विचारणीय है । इस प्रकार

विभाजकोपाधिमत्त्वं विवक्षितम् । द्रव्यवदिति । द्रव्यं समवायिकारणतयाऽ-
स्यास्तोति द्रव्यवत्, एतदपि परमाण्वादौ नास्तोति द्रव्यसमवायिकारणरू-
पवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वं विवक्षितम् । कार्यमिति । प्रागभावप्रति-
योगिवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वं विवक्षितम् । कारणमिति । ज्ञानेतरकार्य-
नियतपूर्ववर्तिजातीयवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वम् तेन स्वसाक्षात्कारे
विषयतया कारणे गोत्वादौ नातिप्रसक्तिर्न वा पारिमाण्यव्याप्तिरिति चेद-
स्याति । सामान्यविशेषवदिति । सामान्यं सद्विशेषोऽन्योन्यव्यापकतया द्रव्यत्वगुणत्व-

अतिव्यतिरेकभाष्यं के अर्थ के वर्णन के पश्चात् तीसरे द्रव्यवत् इस साधर्म्य का शकरमिश्र
अर्थ दिवाते हैं 'जिसका समवायिकारण द्रव्य ही उसे द्रव्यवत् कहते हैं', किन्तु
मह भी नित्य तथा कारणरहित परमाणु आदिको में नहीं है इस कारण द्रव्यवत्
द्रव्य का द्रव्यरूप समवायिकारणवालों में वर्तमान पदार्थविभाजक धर्म का आश्रय
होना ऐसा जातिघटित अर्थ विवक्षित है। ऐसा अर्थ करने से पूर्वप्रदर्शित प्रकार
से अव्याप्ति दोष हट जायगा, क्योंकि घटादिकार्य जो कपालादिरूप द्रव्य सम-
वायिकारण से उत्पन्न है उनमें वर्तमान द्रव्यत्वजाति की आधारता परमाणु आदि
में भी है ।)

(चतुर्थं कार्यरूपस्य समानधर्म का शकरमिश्रार्थं कहते हैं कि) —प्रागभाव
के प्रतियोगि द्रव्यादिको में वर्तमान पदार्थविभाजक द्रव्यादि जातिमत्त्व ऐसा कार्यत्व
शब्द का अर्थ महा कहना इष्ट है, (क्योंकि केवल प्रागभाव की प्रतियोगिता नित्य होने के
कारण परमाणु आदिकों में नहीं हो सकती, अतः पदार्थविभाजकधर्मवत्ता परमाणुको में
रहनेसे अव्याप्तिदोष न आवेगा, यह पूर्वोक्तरीत्या जान लेना चाहिये) । (पाचवें कारणत्व-
रूप साधर्म्य का अर्थ शकरमिश्र इस प्रकार पददृश्य सहित दिवाते हैं कि) —कारणता
शब्द के ज्ञान से मित्य कार्यों के नियम से पूर्व में वर्तमान पदार्थ में रहनेवाली जाति-
वाले में वर्तमान पदार्थविभाजक धर्मवत्ता—ऐसा अर्थ है, ऐसा लक्षणार्थ करने से गोवादि
जाति के प्रत्यक्ष ज्ञान से विषय होनेके कारण ज्ञानरूप कार्यके पूर्ववृत्ति गोत्वादि जाति
में लक्षण जाने से अतिव्याप्ति दोष नहीं होगा (क्योंकि वह कार्य ज्ञानभिन्न नहीं है अतः,
उक्त लक्षण से ज्ञानेतर पद दिया है तथा परमाणु पारिमाण्य जो किसी का कारण नहीं
है उनमें अव्याप्तिदोष भी नहीं होगा (क्योंकि घटादि कार्यद्रव्य के रूपादि के नियम
से पूर्ववर्ति कपालादि रूप कारणों में वर्तमान गुणत्व जाति की आधारता परमाणु-
परिमाण्य में भी है) । (षष्ठ 'सामान्यविशेषवान्' इस साधर्म्य का अर्थ शकरमिश्र स्वयं
ऐसा करते हैं कि) सामान्य अनुपनरूप होते हुए परस्पर में भेद-साधन करने के कारण
द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्वादि जातियां सामान्य विशेष हैं । (उनकी अधिकरणता द्रव्य,
गुण तथा कर्म में क्रम से होने से लक्षण सगत होता है) । (वही पर पाचवें कारणत्वरूप
साधर्म्य में अतिव्याप्तिदोष देने के आशय में पूर्वपक्षिमह से शकरमिश्र याकादिवाते हैं कि) —

कर्मत्वादि तद्वत्त्वमित्यर्थः । ननु “गां दद्यात्” “गौ. पदा न स्पष्टव्या” इति श्रुतेर्धर्माधर्मजनकत्वं जातेरपीति कारणत्वमतिव्यापीति चेन्न अवच्छेदकता-मात्रेण जातेर्विनियोगात् । उपलक्षणञ्चैतन् स्वसमवायार्थशब्दाभिधेयत्वमपि त्रयाणां साधर्म्यं द्रष्टव्यम् । यदि तु कार्यत्वानित्यत्वेकारणवतामेव “कारण-त्वञ्चान्यत्र पारिमाण्डल्यादिभ्यः” इति प्रशस्तदेवाचार्यव्यवस्थितं साधर्म्य-

गा दद्यात् (गोदान करे) गौ. पदा न स्पष्टव्या—गौ को पँर से स्पर्श न करे इत्यादि शास्त्र मे ऋषय धर्म नथा अधर्मकी कारणता सामान्यरूप से गोमात्र के दान तथा पँर से स्पर्श न करना अभिप्रेत होनेके कारण द्रव्यादि-त्रय का कारणता-साधर्म्यं जाति पदार्थ मे भी जाने से अतिव्याप्ति दोष हो जायगा—(इस बाहु का समाधान इस प्रकार करते हैं)—उक्त शास्त्र मे केवल विशेषणरूप से गोत्वजाति का प्रयोग किया गया है, अतः दोष न होगा । (अर्थात् न्यायमत मे जाति तथा आकृति विशिष्ट व्यक्ति ही पद का अर्थ होने के कारण उक्तरूप व्यक्ति ही के दान तथा स्पर्श की योग्यता होने के कारण गोत्वरूप जाति का केवल विशेषणरूप से ही ज्ञान होता है) ।

इम प्रकार सूत्रोक्त द्रव्य, गुण तथा कर्म के साधर्म्यों का वर्णन कर उक्त साधर्म्य से भिन्न और भी साधर्म्यों का सूचक है यह दिखाते हुए आगे कहने हैं कि (यह सूत्रस्व साधर्म्य उपलक्षण सूचक है, अतः द्रव्यादि-त्रय पदार्थ मे समवेत शब्द से कहा जाना तथा उक्त त्रय पदार्थ में समवेत अर्थ को कहना यह भी दोनों साधर्म्य हैं । (कोई २ पुस्तक मे ‘स्वसमवायं शब्दाभिधेयत्व’ ऐसा भी पाठ है, जिसका वैशेषिकदर्शन मे मकेत किये अर्थशब्द से द्रव्य, गुण तथा कर्म ही का बोध होता है, यह साधर्म्य द्रव्यादि-त्रय का है यह सरल अर्थ होता है) (इस प्रकार स्वमन से अष्टम सूत्र की व्याख्या कर प्रशस्त-पादभाष्य के मतानुसार उक्त सूत्र के कुछ साधर्म्यों का सङ्करमिश्र विचार करते हुए आगे कहने हैं कि)—यदि कार्यत्व तथा अनित्यत्व कारणवान् पदार्थों का ही साधर्म्य है, यह ‘कारणता परमाणु परिमाण आदिको की छोड़कर अन्य पदार्थों मे ही रहती है’ ऐसा प्रशस्तदेव आचार्य का निश्चित किया हुआ साधर्म्य सूत्र मे कहा जाय तो विशेष में पदार्थ-विभाजक उपाधिमत्तारूप विशेषण देने की सूत्रकार के मतानुसार आवश्यकता नहीं है । (अर्थात् आकाशादिकों मे ‘अन्यत्र पारिमाण्डल्यादिभ्यः’ इस उक्ति से ही अतिव्याप्ति-दोष का निवारण होने से जातिघटित पूर्वोक्त लक्षण करने की आवश्यकता नहीं, यही सूत्रकार की भी अभिमत है) । (सूत्र के कार्य तथा कारणपद की विशेष अर्थबोधक व्याख्या करते हुए शङ्करमिश्र कहते हैं कि)—द्रव्यादि पदार्थत्रय का गुणजनकत्व तथा गुणजन्यत्व भी ‘अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः’ इस आप्योक्ति से साधर्म्य है यह सिद्ध होता है । (यहां पर सुख दुःख के साक्षात्कार से भिन्न अनुभव मे न रहनेवाली गुण में वर्तमान जन्यता से निरूपित (कही गई) कारणता नियामक भूम की आधारता गुणजनकता

मुच्यते तदा पदार्थविमाजकोपाधिमत्तया न विशेष्यं सूत्रोक्तरीत्या । प्रयोगां
गुणजनकत्वं गुणजन्यत्वञ्चान्यत्र नित्यद्रव्येभ्य इति ॥ ८ ॥

इदानीं द्रव्यगुणयोरेव साधन्यमाह—

द्रव्यगुणयोः सजातीयारम्भकत्वं साधन्यम् ॥ ९ ॥

एतदेव सूत्रान्तरेण स्पष्टयति—

द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम् ॥ १० ॥

आह का अर्थ जानना चाहिये । जिसमें मूल-द्रव्य के आकारकार में धर्मिण गुण की उत्पत्ति न होने के कारण मूल-द्रव्य आकारकार से भिन्न ऐसा विशेषण दिया है । द्रव्य-परिमाण के ज्ञान में वर्तमान जगत्ता में निरुद्धि कारणता का विनामकत्व होनेसे अति-व्याप्तिशेष निवारण के लिए अनुसङ्गति पद दिया है मूलकार के मत से यह साधन्य है, क्योंकि 'जगत् नित्यद्रव्येभ्य' ऐसी भाष्योक्ति को लेकर चर्करनिध ने यह अर्थ कहा है । इसी प्रकार दण्डकार के दण्डजगत्त्व का भी दृष्ट में वर्तमान कारणता से निरुद्धि कारणताविनामकताअर्थ धर्म की अधिकारता ऐसा अर्थ जानना चाहिये । (यदि कहो कि यह भाष्यकार को धर्मिण अर्थ है यह मूल से कीं बोधित होता है तो जगत् ऐसा कहने से अपरिण्य सदन्यम् इस मूल के एकदेश का 'नित्यद्रव्येभ्योऽपि' नित्य मूल-विशेष से भिन्न ऐसा अर्थ करने से नित्य द्रव्यों से भिन्नो का यह साधन्य है यह धर्मि-जन है) ॥ ८ ॥

एव प्रकार अतुल्य मूल की व्याख्या कर नवम मूल का दण्डकारकार व्यवहार से ही दूर करते हैं कि, माग्यत द्रव्य तथा गुण दो ही पदार्थों का समान धर्म मूलकार करते हैं—

पदपदार्थ—द्रव्यगुणयोः=द्रव्य तथा गुण पदार्थ का, सजातीयारम्भकत्वं=वर्तमान जाति के पदार्थ की उत्पत्ति करना, समान धर्म है ॥ ९ ॥

साधन्य—द्रव्य समान जाति के द्रव्यों की, गुण वर्तमान जाति के गुणों की ही उत्पत्ति करते हैं, अतः द्रव्य तथा गुणपदार्थ का समान जाति के कारण की उत्पत्ति करना साधन्य है ॥ ९ ॥

नवम मूल की स्वयं दण्ड मूलकार से कदाच महर्षि ने व्याख्या की है, अतः सङ्ग-पद होने के चर्करनिध दण्ड मूल का व्यवहार करते हैं कि इसी नवम मूल को दूसरे (दण्ड) मूल से मूलकार सङ्ग करते हैं—

पदपदार्थ—द्रव्याणि=पृथिवी आदि द्रव्य, द्रव्यान्तर=दूसरे द्रव्यों को, आर-भन्ते=उत्पन्न करते हैं, गुणाः च=और गुणपदार्थ, गुणान्तर=दूसरे गुण को (उत्पन्न करते हैं) ॥ १० ॥

अन्त्यावयविविभुद्रव्याणि तथान्त्यावयवविगुणान् द्वित्वद्विषुयस्त्वपरत्वा-
परत्वादीन् गुणांश्च विहाय सजातीयारम्भकत्वं साधर्म्यं द्रष्टव्यम् । सजातीया-
रम्भकवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमन्वं वा विवक्षितं तेनाजनकद्रव्यव्यक्तीनाम-
प्युपग्रहः ॥ १० ॥

ननु कर्माणि कुतो न कर्मान्तरभारमन्त इत्यत आह—

कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते ॥ ११ ॥

विदिरयं ज्ञानार्थो न तु सत्ताभिधायो । सजातीयारव्यद्रव्यगुणयोरिव

भावार्थ—पुष्पिवो आदि नो द्रव्यो मे से कुछ द्रव्य दूसरे द्रव्यों को जैसे कपाल,
तनु आदि क्रम से घट-पट आदि द्रव्यों को, तथा गुणरूपादि के दूसरे गुणों को (जैसे
तनुओं के रक्त आदि रूप पट के रक्त आदि रूपों को उत्पन्न करते हैं), अतः द्रव्य
तथा गुण मे नवम सूत्र मे सूचित सजातीयारम्भकत्व साधर्म्यं सिद्ध होता है ॥ १० ॥

उपस्कार—अन्तिम घटादिरूप अवयवि द्रव्य, तथा आकाशादि व्यापक द्रव्य,
तथा अन्त्यावयवि घटादि द्रव्यों के रूपादिगुण, एवं द्वित्वादिसंख्या, द्विषुयस्त्व, परत्व,
अपरत्व इत्यादि गुणों को भी छोड़कर नवम सूत्र मे कहा हुआ द्रव्य तथा गुणों का
समान धर्म जानना अथवा समान जाति के उत्पादन मे वर्तमान पदार्थविभाजक धर्म
की आवश्यकता ऐसी सजातीयारम्भकत्व का जातिघटित अथ करने से उपरोक्त अन्त्याव-
यवि आदि द्रव्यों मे जो सजातीयों की उत्पन्न नहीं करते उनका भी संग्रह हो जाता है
(अर्थात् उनमे सजातीयारम्भकत्व न रहने से जो अव्याप्ति शोष होता था उनमे भी
कपालादिसजातीयारम्भक द्रव्यादिकों मे वर्तमान द्रव्यत्व के रहने मे उक्त शोष निवृत्त
हो जायगा, इसी प्रकार अन्तिम गुणों मे भी जान लेना ॥ १० ॥

एकादश सूत्र का उपस्कार मे अवतरण देते हैं कि—यंथा है कि—कर्मपदार्थ दूसरे
कर्मों को कर्मो नहीं उत्पन्न करते । इस पर सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—कर्म = कर्मपदार्थ, कर्मसाध्य = कर्म से उत्पन्न, न विद्यते = नहीं
जात होता ॥ ११ ॥

भावार्थ—द्रव्य तथा गुणपदार्थ के समान एक क्रिया से दूसरी क्रिया उत्पन्न
होती है इसमे प्रमाण नहीं है ॥ ११ ॥

उपस्कारकार भी इस सूत्र मे 'विद्यते' इस पद में 'विद' यह धातुरूप प्रकृति 'विद
जाने' इस धातुपाठ से ज्ञान अर्थ मे लेना नकि 'विदसत्तायाम्' इस धातुपाठ का
सत्ता अर्थ का वाचक । अर्थात् जिससे समानजातीय के आरम्भ करनेवाले द्रव्य तथा
गुण के समान कर्म से कर्म उत्पन्न होता है इसमें प्रमाण नहीं है । तात्पर्य यह है कि
ज्ञानार्थकत्व पक्ष मे ही संकरमिश्र से कहे हुए प्रमाण नहीं हैं इस अर्थ से ही शिष्यों
की हेतु की आकांक्षा निवृत्त होती है अतः विदधातु का सत्तारूप अर्थ नहीं लेना यह
सूत्र का अर्थ है ।

कर्मसाधने कर्मणि प्रमाणं जानीत्यर्थः । इदमत्राकृतम् । कर्म यदि कर्म जनयेत्
 स्वोत्पत्त्यनन्तरमेव जनयेत् शब्दवत् । तथाच पूर्वकर्ममेव यावत्सयोगि-
 तृत्वेऽप्येव विभागे जनिने द्वितीयं कर्म केन सह विभागं जनयेत् विभागस्य
 नयोगादुक्तत्वात् नयोगान्तरस्य च तत्राधिकरणेऽनुत्पन्नत्वान्, विभागजनने
 तु कर्मसंज्ञकत्वेन । न च क्षणान्तरे कर्मान्तरं जनयिष्यतीति बाध्यम् ममयम्य
 क्षेत्रायोगान् अपेक्षणीयान्तराभासान्, पूर्वमयोगनाशकत्वेऽपि जनने विभाग-
 जनकस्यानुपपत्तिरेव, उत्तरमयोगोत्पत्तिकालेऽपि जनने तथैव । उत्तरसंयोगो-
 त्पत्त्यनन्तराद्युक्तम् कर्मसाग एव । तथाच शुभ्रं 'कर्मसाध्यं न विद्यते'
 इति ॥ ११ ॥

गुणकर्मभ्यां द्रव्यस्य वैचर्म्यमाह—

न द्रव्यं कार्यं कारणञ्च वधति ॥ १२ ॥

यहां यह प्रमाण है कि एक कर्म यदि दूसरे कर्म को उत्पन्न करेगा तो द्रव्य के
 समान अपनी उत्पत्ति के पश्चात् ही करेगा, और ऐसा होने से प्रथम क्रिया से ही
 द्वितीये मनुक्त द्रव्य से प्रथम द्विती क्रिया से विभाग उत्पन्न होने पर द्वितीय
 क्रिया जिन मनुक्त द्रव्यों से दूसरे विभाग को उत्पन्न करेगी, क्योंकि
 विभाग संयोगपूर्वक ही होता है, दूसरा कोई सुयोग उस आधार में उत्पन्न
 हुआ ही नहीं है, यदि द्वितीय क्रिया प्रथम को उत्पन्न न करे तो (सुयोगविभाग
 योगवर्धन कारण कर्म—सुयोग तथा विभाग के निरपेक्ष कारण को कर्म कहते हैं, यह
 कर्मोत्पत्ति द्वितीय कर्म में न रहने से) ब्रह्माप्ति होर हो जायगा) । 'दूसरे क्षण में
 प्रथम क्रिया दूसरी क्रिया को उत्पन्न करेगी' ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यदि
 प्रथम क्रिया द्वितीय क्रिया को उत्पन्न करने में समर्थ है, तो वह (क्षेप) काष्ठविरम्भ
 को नहीं कर सकती । क्योंकि उसे दूसरे क्षण की क्रियान्तर को उत्पन्न करने
 में अवस्था (आधानकता) नहीं है । पूर्वसुयोग के क्षण के तृतीय क्षण में प्रथम क्रिया
 द्वितीय क्रिया को उत्पन्न करे तो भी पूर्वोक्त रीति से विभाजनकता नहीं हो सकती ।
 यदि उत्तर नवग के उत्पत्ति के अनुरूप क्षण में प्रथम क्रियान्तर को उत्पन्न करे, तो भी वही
 विभाजनकता न होना दोष ही जायगा । उत्तरसंयोग के उत्पत्ति के पश्चात् प्रथम
 क्षण में प्रथम क्रिया स्वतः नष्ट हो जायेगी ही है । तथाच—'कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते'
 एक क्रिया से दूसरी क्रिया उत्पन्न होती है इसमें प्रमाण नहीं है—ऐसा सूत्र में टीका
 ही कहा है ॥ ११ ॥

इस प्रकार ११ वें सूत्र की व्याख्या कर उत्तराक्षर में आदेश सूत्र का अवतरण
 ऐसा है कि—गुण तथा कर्म इन दो पदार्थों से द्रव्य का विच्छेद धर्म सूत्रकार
 कहते हैं—

पदपदार्थे—न = नहीं, द्रव्यं = द्रव्यपदार्थ, कार्यं = कार्य को, कारणं च = और

द्रव्यं न स्वकार्यं हन्ति न चा स्वकारणं हन्ति, कार्यकारणभावापन्नयो-
र्द्रव्ययोर्वध्यघातकभावो नास्त्येत्यर्थः । आश्रयनाशारम्भकसंयोगनाशाभ्यामेव
द्रव्यनाशादिति भावः । वदतीति सूत्रो निर्देशः ॥ १२ ॥

गुणस्य कार्यकारणवध्यत्वमाह—

उभयथा गुणाः ॥ १३ ॥

कार्यवध्या कारणवध्याच्चेत्यर्थः । आद्यशब्दादीनां कार्यवध्यत्वं चरमस्य
तु कारणवध्यत्वम्, उपान्त्येन शब्देन अन्त्यस्य नाशात् ॥ १३ ॥

कारण को भी, वधति नष्ट करता है । (इस सूत्र में गुणपाठ में उपलब्ध न होने के
कारण 'वधति' यह भाष्य प्रयोग है यह जानना चाहिये) ॥ १२ ॥

भावार्थ—शब्द ज्ञानादि गुणों के समान दो द्रव्यों का परस्पर में नाशनाशकभाव
नहीं है, अर्थात् एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का नाशक तथा कोई द्रव्य दूसरे द्रव्य से नष्ट नहीं
होता ॥ १२ ॥

उपस्कार—शब्दादि गुणों के समान कोई द्रव्य अपने कार्य द्रव्य को अथवा
अपने कारण द्रव्य को नष्ट नहीं करता । यदि पूर्वपक्षी यहाँ पर ऐसी दावा करे—कि
द्रव्य में कर्मपदायं का वैधर्म्य नहीं हो सकता, क्योंकि 'कार्यविरोधि कर्म' इस अप्रति
१४ सूत्र से कर्म में कार्य से नाश होने की, और इस सूत्र में कार्य के नाशक न होने की
उक्ति है—तो उसके उत्तर में शंकराचार्य कहते हैं कि कार्यता तथा कारणतावस्था
प्राप्त दो द्रव्यों का परस्पर वध्यघातकभाव नहीं है यह अर्थ है । आश्रय का नाश तथा
उत्पादक संयोग के नाश ही से द्रव्यनाश होता है यह भाव है । 'वधति' यह सूत्रोक्त
निर्देश है (प्रकृतव्याकरणानुसार न होने से ॥ अर्थात् कार्य द्रव्य में नाशयता, कारणद्रव्य
में नाशकत्व, तथा कारण द्रव्य में नाशयता तथा कार्य द्रव्य में नाशकता नहीं है ऐसे
सूत्र क्रम के अनुसार अर्थ के क्रम से अर्थ करने पर द्रव्य में कार्य से नाशयता के अभाव
का भी लाभ होने से वैधर्म्य की उपपत्ति हो सकती है । इस पक्ष में सूत्र में द्रव्य पद
द्वितीयान्त कर्म, कार्य और कारण पद प्रथमान्त कर्तृ पद हैं यह भी जानना
चाहिये ॥ १२ ॥

त्रयोदश सूत्र का अवतरण देते हुए शंकरदेव कहते हैं कि गुणपदार्थ कार्य तथा
कारण दोनों से नष्ट होते हैं, यह सूत्रकार बहते हैं—

पदपदार्थ—उभयथा = कार्य तथा कारण दोनों से, गुणाः = गुणपदार्थ (नष्ट
होते हैं) ॥ १३ ॥

भावार्थ—किन्तु गुणपदार्थ कार्यगुण तथा कारणगुण दोनों से नष्ट होते हैं ॥ १३ ॥

उपस्कार—गुणपदार्थ कार्य गुणों से नष्ट होते हैं तथा कारणगुणों से भी नष्ट
होते हैं । क्योंकि प्रथम आदि कारण शब्दों का द्वितीय आदि कार्य शब्दों से नाश होता

गुणानां कार्यकारणोभयविरोधित्वमुक्त्वा कर्मणः कार्यविरोधित्वमाह—
कार्यविरोधि कर्म ॥ १४ ॥

कार्यं विरोधि यत्येति बहुव्रीहिः, स्वजन्योत्पत्तिसयोगनाशयत्वात् कर्मणः ।
 द्रव्याणां कार्यकारणविरोधित्वं नियममेव । गुणकर्मणोस्त्वनियमः, आधयना-
 शासमवायिकारणनाशनिमित्तनाशविरोधिगुणानां नाशकत्वस्य वक्ष्य-
 माणत्वात् ॥ १४ ॥

शिष्याकाङ्क्षानुरोधेन त्रयाणां साधर्म्यमभिधायेदानीं त्रयाणां लक्षणमार-
 भमाण आह—

क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम् ॥ १५ ॥

है, और अन्तिम शब्द कारण शब्द से नष्ट होता है, क्योंकि उत्पत्त्य (प्रथम के पूर्व)
 शब्द से अन्तिम शब्द का नाश होता है (यही प्रक्रिया ज्ञान सुख आदि आत्मगुणों के
 नाश में जाननी चाहिये) ॥ ११ ॥

(चतुर्दश सूत्र का अवतरण उपस्कार में ऐसा देने हैं कि) त्रयोदश सूत्र में गुण
 पदार्थों में कार्य तथा कारण गुणों से नाश होता है यह कहकर कर्मपदार्थ कार्य से
 (उत्तर सयोग से) नष्ट होता है यह सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—कार्यविरोधि = कार्य से नष्ट होता है, कर्म = कर्म पदार्थ ॥ १४ ॥

भावार्थ—कर्मपदार्थ अपने उत्तर सयोग रूप कार्य से नष्ट होता है ॥ १४ ॥

उपस्कार—इस सूत्र में 'कार्य विरोधि' इन विशेषण पद में कार्य विरोधी है
 जिसका ऐसा अन्य (कर्म) पदार्थ प्रधान बहुव्रीहि समास करना, क्योंकि क्रिया से
 चतुर्थ क्षम में उत्पन्न उत्तर सयोग क्रिया का नाश करता है । द्रव्यपदार्थों में कार्य
 तथा कारण द्रव्यों से नाश न होना यह १२ सूत्र में उक्त साधर्म्य नियमित है । गुण
 तथा कर्मपदार्थ में कार्य तथा कारण से नष्ट होने का नियम नहीं है, क्योंकि आधय
 रूप समवायिकारण का नाश, समोनादि रूप असमवायिकारण का नाश तथा निमित्त
 कारण का नाश, तथा विरोधी गुण गुणों के नाशक होते हैं यह कहा जायगा ॥ १४ ॥

शिष्यों की जिज्ञासा के अनुसार द्रव्य, गुण, तथा कर्म इन तीनों पदार्थों के साधर्म्य
 का वर्णन कर सूत्रकार सप्रति उक्त तीनों पदार्थों का क्रम से लक्षण कहने के लिये यह
 सूत्र कहते हैं—क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम् ॥ १५ ॥

पदपदार्थ—क्रियागुणवत् = कर्म और गुण का आधय होना, समवायिकारण =
 समवायि कारण होना इति = यह तीन, द्रव्यलक्षणम् = द्रव्य पदार्थों का सामान्य
 लक्षण है ॥ १५ ॥

भावार्थ—क्रिया तथा गुण के आधय, और समवायिकारण को द्रव्य कहते
 हैं ॥ १५ ॥

क्रियाश्च गुणाश्च विद्यन्तेऽस्मिन्निति क्रियागुणवत् । अत्र लक्षणशब्दश्चिह्न-
वचनः, समानासमानजातीयव्यवच्छेदकव्यतिरेकिलिङ्गविशेषवचनश्च लक्ष्यतेऽने-
नेतिव्युत्पत्तिबलात् । क्रियाया कर्मणा द्रव्यमिदमिति लक्ष्यते गुणवत्त्वेन च समाना-
समानजातीयेभ्यो व्यावृत्तं द्रव्यं लक्ष्यते, तत्र समानजातीया भावत्वेन गुणाद-
यः पञ्च, असमानजातीयस्त्वभावः, तेन द्रव्यं गुणादिभ्यो भिन्नं गुणवत्त्वान्
यन्न गुणादिभ्यो भिद्यते तन्न गुणवत् यथा गुणादिति । गुणवत्त्वं यद्यप्याद्यक्षणेऽ-
वयविनि नास्ति तथापि गुणात्यन्ताभावविरोधिमत्त्वं विवक्षितम् गुणप्राग
भावप्रध्वंसयोरपि गुणात्यन्ताभावविरोधित्वात् । एवं समवायिकारणत्वमपि

उपस्कार—क्रिया और गुण भी जिसमें वत्तमान हो वह क्रिया तथा गुणवान् होता
है । इसमें द्रव्यलक्षणं इस पद में लक्षणशब्द चिह्न का बोधक है । (तथा चिह्न पद
का लिङ्ग का बोधक होने से व्यतिरेकि हेतुक ही यहाँ पर इतर गुणादि पदार्थों से
भेद साधक लिङ्ग होमा इस आशय से श्चकारमिश्र कहते हैं कि) समानजातीय तथा
असमानजातीय पदार्थों से भेद सिद्ध करने वाले व्यतिरेकि लिङ्ग विशेष का बोधक भी
चिह्न शब्द है, क्योंकि 'अनेन' जिससे 'लक्ष्यते' लक्षित पदार्थ (लक्षण से जाना जाय)
ऐसी व्युत्पत्ति के बल से चिह्न शब्द लिङ्गबोधक हो सकता है । क्रिया से—कर्म से
'द्रव्य इति' यह द्रव्य है 'इति' ऐसा 'लक्ष्यते' लक्षण से जाना जाता है, 'गुणवत्त्वेन च' और
गुणाधारता से भी भिन्न द्रव्य पदार्थ अनुमित होता है, क्योंकि उसमें द्रव्य के भावरूप
से समानजातीय गुण आदि पाँच पदार्थ तथा असमानजातीय अभाव पदार्थ हैं उससे
द्रव्यपदार्थ, गुणादिपदार्थों से भिन्न हैं, गुणाधार होने से, जो गुणादिको से भिन्न नहीं
होता वह गुणवान् नहीं होता, जैसे गुणादि पदार्थ (इस व्यतिरेकि अनुमान से द्रव्य
गुणादि पदार्थों से भिन्न है यह सिद्ध होता है) । अर्थात् 'व्यावृत्तिर्बह्वारो वा लक्षण-
स्य प्रयोजनम्' इस उक्ति से इतर भेदरूप साध्य में उसकी अव्यय प्रसिद्धि न होने के
कारण अन्वयव्याप्ति न होने से केवल व्यतिरेक व्याप्ति मात्र से उत्पन्न
अनुमिति का कारण होने से यह प्रदर्शित व्यतिरेकिलिङ्गरूप लक्षण है यह सिद्ध
होता है ॥ (गुणवत्त्व शब्द के अर्थ का विचार करते हुए श्चकारमिश्र कहते
हैं कि) यहाँ पर गुणाधारता रूप द्रव्य का लक्षण प्रथम उत्पत्ति क्षण में यद्यपि घटादि
द्रव्यों में न रहने से अव्याप्ति दोष आ सकता है, तथापि गुणों के अत्यन्ताभाव का
विरोधी होना ऐसा गुणवत्त्व शब्द का अर्थ विवक्षित है, जिससे उत्पत्ति क्षण में घट
में गुणप्रागभाव होने से गुणों के ध्वंस तथा प्रागभाव का प्राचीन मत में ही विरोध
होने के कारण गुणात्यन्ताभाव विरोधित्व के रहने से उक्त दोष निवृत्त हो जायगा ।
(अर्थात् गुणवत्त्व लक्षण का गुणवान् में वत्तमान पदार्थ विभाजक धर्मवत्ता ऐसा अर्थ
करना चाहिये, नहीं तो नव्यमत में गुण प्रागभाव तथा गुण ध्वंस का उसके अत्यन्ता-

घटपदार्थभेदकमेव द्रव्यपदार्थस्य लक्षणम् । न च साध्याप्रसिद्धिर्गुणादि-
भेदस्य घटादावेव प्रत्यक्षसिद्धत्वान् । नचात्र सिद्धसाधनं घटत्वावच्छेदेनेतर-
भेदस्य सिद्धत्वेऽपि द्रव्यत्वावच्छेदेन साध्यत्वात्, पक्षतावच्छेदकभेदे न
सिद्धसाधनं यथा नित्ये बाह्यमनसो इत्यत्र इति केचित्तत्र पक्षतावच्छेदका-

भाव मे विरोध होने मे प्रमाण न होने से प्रथम क्षण में घटादि अवयवी द्रव्य में
अध्याप्तिरूप फिर भी बना रहेगा । (आगे तृतीय समवायिकारणत्व रूप लक्ष-
णात् के विषय में शंकरमिश्र कहते हैं कि समवायिकारणत्व भी गुणादि पद पदार्थों
से द्रव्यों में भेद सिद्ध करने वाला ही द्रव्यपदार्थ का लक्षण है । यहाँ इस उक्त अनु-
मान मे इतर भेदरूपसाध्य अप्रसिद्ध है यह पूर्वपक्षी नहीं कह सकता, क्योंकि गुणादि
पदार्थों का भेद घट आदि द्रव्यों मे प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध है । तब तो 'घटादिकों
मे प्रत्यक्ष से सिद्ध ही गुणादि भेद को घटादि द्रव्यों मे गुणादि भेद साधक हेतु सिद्ध
की सिद्ध करने के कारण सिद्ध साधन दोष था जायगा' ऐसा भी पूर्वपक्षी नहीं कह
सकता क्योंकि घटत्वविशिष्ट घटादि विशेष द्रव्यों में गुणादि पदार्थों का भेद सिद्ध होने
पर भी द्रव्यत्वविशिष्टसाध्यात्म्य रूप से सम्पूर्ण द्रव्यों मे इतर भेद साध्य ही है न कि
सिद्ध, अतः पक्षतानियामक धर्म का भेद होने पर सिद्धसाधन दोष नहीं होता, जिस
प्रकार 'बाह्यमनसो नित्ये' बाह्य इन्द्रिय तथा मन नित्य है, ऐसा यहाँ पर कुछ विद्वान्
कहते हैं । अर्थात् जिस प्रकार मनमात्र में मनस्त्वधर्म से नित्यता सिद्ध होने पर भी
बाह्य तथा मन उभय में उभयत्वेन नित्यता सिद्ध नहीं है उसी प्रकार घटत्वादिविशिष्ट
घटादिको मे गुणादि भेद सिद्ध होने पर भी द्रव्यत्वरूप से सम्पूर्ण द्रव्यों में गुणादि भेद
सिद्ध नहीं है, अतः सिद्ध साधन दोष न होगा ।

शंकरमिश्र कहते हैं कि यह मत ठीक नहीं है, क्योंकि पक्षतावच्छेदधर्मविशिष्ट
किमी भी पक्ष मे अर्थात् 'सामानाधिकरण्येन' साध्यसिद्धि रहने पर भी पक्षता नहीं हो
सकती (अर्थात् उक्त मतविशेष के उत्तर में अभाव साध्यक स्थल में साध्यमान
का न रहना ही पक्ष की पक्षता होती है और भाव तथा अभावसाधारण एकरूप-
पक्षता माननेवाले सिद्धान्तों के मत मे तो पक्षमात्र ही अनुमिति होने मे किसी एक
पक्ष मे साध्य की सिद्धि भी अनुमिति की प्रतिबन्धक होती है, प्रकृतमे द्रव्य, गुणादिकों
से भिन्न है, यह अनुमिति भी द्रव्यत्वधर्मविशिष्ट संपूर्ण द्रव्यों में अवच्छेदावच्छे-
देन अनुमिति है, तो कैसे सिद्धसाधन दोष होगा, अथवा उसके परिहार के लिए
पक्षतावच्छेदक के भेद के दिसाने के लिये मतविशेष से द्रव्यत्व तथा घटत्वरूप के
प्रदर्शन का आयास किया जायगा । ऐसा 'पक्षतावच्छेदकावच्छिन्ने' इत्यादि शंकरमिश्र
के उत्तर का भाव है । उक्त मतान्तर मे व्यतिरेकि अनुमान मे पक्षता का असम्भव
होने के कारण 'व्यतिरेकिलिङ्गविरुद्धवचन' इसमे व्यतिरेकि पद केवल व्यतिरेकि तथा
अव्यव्यतिरेकि दोनों का बोधक है, क्योंकि अन्य परामर्श भी हो सकता है । यह
जानना चाहिये ।

वच्छिन्ने कचिदपि साध्यसिद्धौ पशुताश्रुतेस्तथायावदयकत्वात् । इति शब्दश्च
इत्यादिपरस्तेन सहयावत्त्वपरिमाणवत्त्वपृथक्त्ववत्त्वसंयोगवत्त्वविभागव-
त्त्वान्यपि द्रव्यलक्षणत्वेन संगृह्यन्ते ॥ १५ ॥

द्रव्यानन्तर गुणानामुद्देशान् तल्लक्षणमाह—

द्रव्याश्रयगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुण-
लक्षणम् ॥ १६ ॥

द्रव्यमाश्रयितुं शोभनस्येति द्रव्याश्रयो । एतच्च द्रव्येऽपि गतमत आह—
अगुणवानिति । तथापि कर्मण्यतिन्याप्रित्यक्त आह संयोगविभागो-
त्त्वाकारणम् । तथापि संयोगविभागधर्माधर्मश्रृङ्खलानादीनामसमूहः स्यादत-
ल्लक्षणमनपेक्ष इति । अत्रानपेक्ष इत्यनन्तरं गुण इति पूरणोपम्, संयोगविभागो-

(आगे १५ वें सूत्र की अवशिष्ट व्याख्या करने हुए शंकरमिथ कहते हैं कि)—सूत्र
में इति शब्द का अर्थ है इत्यादि इन अर्थों से सहयावत्ता, परिमाणाधारता, पृथक्त्व-
वत्ता, संयोग तथा विभाग की आधारता रूप भी द्रव्य साधारण्य के लक्षणों का समूह
होना है ॥ १५ ॥

द्रव्य के अनन्तर क्रमप्राप्त गुणों का उद्देश होने से गुणों का लक्षण सूत्र में ऐसा
कहते हैं—

पदपदार्थ—द्रव्याश्रयो = द्रव्यों में आश्रित, गुणरहित, तथा संयोग और गुणों में
दूसरे की अपेक्षा न करना हुआ जो कारण नहीं होता, इति = यह, गुणलक्षणम् =
गुणों का सामान्य लक्षण है ॥ १६ ॥

भावार्थ—द्रव्य में आश्रित होनेवाले, गुणरहित, तथा संयोग और विभाग में
कारण न हों और निरपेक्ष हों, अर्थात् संयोग तथा विभागों में निरपेक्ष होने हुए जो
कारण न हो उन्हें गुण कहते हैं, ऐसा गुणों का सामान्य लक्षण है ॥ १६ ॥

उपस्कार = द्रव्यों में आश्रित होना जिसका स्वभाव है उसे गुण कहते हैं । किन्तु
यह लक्षण द्रव्यों, कर्म तथा ज्ञान आदिकों में भी द्रव्याधारता होने से अतिव्याप्ति
दोष में ग्रस्त हो जायगा । जिसके वारण के लिए 'अगुणवान्' ऐसा दूसरा लक्षण
किया है । तथापि (द्रव्यादिकों में अगुणवत्ता न रहने के कारण उक्त दोष का निवारण
होने पर भी) कर्मपदार्थ में द्रव्याश्रितता तथा अगुणवत्ता होने से अतिव्याप्ति दोष
होगा, अतः उसके वारण के लिये 'संयोगविभागेषु अकारण' संयोग तथा विभागों में
कारण न हो ऐसा कहा है । (कर्म के संयोग तथा विभाग में कारण होने से दोष नहीं होगा)
तथापि उक्त दोष का वारण होने पर भी संयोग, विभाग, धर्म, अवधर्म, ईश्वर का ज्ञान
इत्यादि गुणों में लक्षण के न जाने से अव्याप्ति दोष होगा अर्थात् इनका समूह गुणों में
न होगा, अतः 'अनपेक्ष' यह विशेषण दिया है (अर्थात् 'संयोग तथा विभाग गुणसंयोग

‘अनपेक्ष’ सन् कारणं यो न भवति सगुण इत्यर्थः । संयोगविभागादीनां संयोग-विभागौ प्रति सापेक्षत्वात् । नित्यवृत्तिनित्यवृत्तिसत्ताव्याप्यजातिमत्त्वं गुणत्वम् । संयोगविभागौ मिलितौ प्रतिस्मवायिकारणत्वासमवायिकारणत्वरहिते सामान्यवति यत् कारणम् तद्गुणत्वामिव्यञ्जकम् । संयोगविभागयोः प्रत्येकमेव संयोगविभागकारण- कत्वं न मिळितयो धर्माधर्मभरक्षानादीनां द्वयोर्निमित्त-

तथा विभाषिकेपे मे कारण होते है ऐसा कहेंगे, और धर्म, अधर्म तथा ईश्वर का ज्ञान एवं प्रयत्न तो कार्यसामान्य में कारण होने से इनमें उक्त गुणलक्षण का अव्याप्ति दोष होगा) ।

शुकरमिश्र कहते हैं कि यहाँ पर ‘अनपेक्ष’ इस पद के आगे गुण- ऐसा पदगुण करना चाहिये, जिससे समीप तथा विभागों में निरपेक्ष होता हुआ जो कारण नहीं होता (अर्थात् सापेक्ष ही संयोग तथा विभाग में कारण होता है उसे गुण कहते हैं । यह अर्थ है, क्योंकि संयोगविभाग इत्यादि गुण संयोग तथा विभाग दो गुणों में सापेक्ष कारण होने हैं । (यहाँ पर केवल संयोग का प्रवेश किया जाय तो कारण तथा अकारण के संयोग में संयोग के निरपेक्ष कारण होने से, तथा केवल विभाग का प्रवेश माना जाय तो कारण तथा अकारण के विभाग में विभाग के निरपेक्ष कारण होने से अव्याप्ति दोष आ जायगा । अतः दोनों का प्रवेश किया है तथा व संयोग को विभाग में तथा विभाग को संयोग में भी निरपेक्ष कारणता न होने में अव्याप्ति दोष न होगा । इस पर यह नहीं साँका हो सकती कि—सब तो संयोग विभाग में तथा विभाग संयोग में सामान्यरूप से कारण न होने से ही उक्त अव्याप्ति दोष का कारण हो सकता है तो अनपेक्ष पद देने की क्या आवश्यकता है, जिससे वह व्यर्थ हो जायगा—क्योंकि धर्म, अधर्म इत्यादिकों को संयोगादि कार्यों की उत्पत्ति में नियम से संयोगादिकों की अपेक्षा होने से उनमें अव्याप्ति दोष के कारण के लिये अनपेक्ष पद सापेक्ष हो सकता है । इससे संयोग तथा विभाग कार्य में जो निरपेक्ष कारण हो उससे भिन्न होते हुए गुणवान् से भिन्न होता हुआ द्रव्यों के आश्रित हों उन्हें गुण कहते हैं । यह गुणों का निष्कृष्ट लक्षण दिसलाया गया है ।

(सूत्र के इतिपद से सूचित दूसरा गुणों का लक्षण शुकरमिश्र इस प्रकार दिखाते हैं कि)—निरय परमाणुओं में वर्तमान, नित्य अणुपरिमाण में वर्तमान न तथा सत्ताजाति व्याप्य गुणत्वरूप जाति का आश्रय होना भी गुणों का सामान्य लक्षण है । (परमाणुओं में वर्तमान द्रव्यत्वजाति को लेकर द्रव्यों में अतिव्याप्ति वारणार्थ यहाँ प्रथम नित्यपद दिया है । यदि द्वितीय नित्यपद न दिया जाय तो द्व्यणुक में वर्तमान द्रव्यत्वजाति के द्रव्यों में वर्तमान होने से पुनः अतिव्याप्ति हो जायगी, जिसके वारणार्थ द्वितीय नित्यपद दिया है । सत्ताजाति को लेकर द्रव्य तथा कर्म में

कारणत्वमात्रं न समवायिकारणत्वं नाप्यसमवायिकारणत्वमिति तेषां संप्रहः ।
यद्वा संयोगविभागसमवायित्वासमवायिकारणत्वशून्यत्वं सामान्यसमानाधि-
गुणत्वव्यञ्जकम् । सामान्यवत्त्वे सति कर्मान्यत्वे च सत्यगुणवत्त्वमेव वा गुण-
लक्षणम् ॥ १६ ॥

गुणानन्तरमुद्दिष्टस्य कर्मणो लक्षणमाह—

एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम् ॥ १७ ॥

उक्त दोष के निवारण के लिये 'सत्ताभ्याप्य' यह विशेषण दिया है । अन्यतरत्वधर्म को लेकर उक्त दोष के वारण के लिये जातिपद दिया है यह भी जान लेना । (अथवा शंकरमिश्र कहते हैं कि)—मिले हुए संयोग तथा विभाग के प्रति समवायिकारण तथा असमवायिकारण न होनेवाले जातिमान् पदार्थ में जो कारणता है वही गुणत्व-जाति की अभिव्यञ्जक है, संयोग तथा विभाग प्रत्येक ही भिन्न भिन्न में संयोग तथा विभाग क्रम से कारण होते हैं न मिले हुए संयोग तथा विभाग में धर्म अधर्म, तथा ईश्वर ज्ञानादि गुण, संयोग तथा विभाग में केवल निमित्त कारण होते हैं, न समवायिकारण होते हैं, न असमवायिकारण इस कारण इनका भी संप्रह हो जाता है (अर्थात् अभ्याप्ति दोष न होगा ।) (यहाँ पर द्रव्य में गुणत्व की आपत्ति के वारणार्थ समवायिकारणतारहित तथा प्रागभाष में आपत्तिवारणार्थ सामान्यवान् ऐसा विशेषण अथवा कल्प में दिया है । यदि कारणत्व पद न दिया जाय तो प्रमेयत्व धर्म को लेकर सभी पदार्थों में गुणत्व प्राप्त होगा । अतः कारणत्व पद दिया है । धर्मादि निमित्त कारणों के संप्रहार्थ यह समवायि तथा असमवायिपद का लक्षण में देने का प्रयोजन दिखाया है) । (किन्तु अनुपनिमाण में कारणता न स्वीकृत होने से उसका संप्रह इस अथवा कल्प के लक्षण में भी न होगा इसलिये अन्य प्रकार से गुण का लक्षण उपस्कार में करते हैं कि)—अथवा संयोग तथा विभाग में समवायि तथा असमवायिकारणता से शून्य होते हुए जो जाति के आधार हो उन्हें गुण कहते हैं, अर्थात् उक्तरूप गुणत्व का व्यञ्जक है ।

इससे भी और लघुलक्षण करते हैं कि जाति का आधार होते हुए तथा कर्म से भिन्न होते हुए जो गुणवान् नहीं होते उन्हें गुण कहते हैं । (इससे आत्मादिकों में कर्म में तथा द्रव्यों में अतिव्याप्ति दोष के परिहार के लिये क्रम से दो विशेषण-तथा विशेष्य दिया है यह जान लेना चाहिये ॥ १६ ॥

क्रमप्राप्त कर्मलक्षण की अवतरणिका देते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि गुण पदार्थ के पश्चात् उद्देश किये कर्म पदार्थ का सूत्रकार इस प्रकार लक्षण कहते हैं—

पदपदार्थ—एकद्रव्यं = एक ही द्रव्य में आश्रित, निर्बुण तथा संयोग और विभाग को उत्पन्न करने में निरपेक्ष कारण इति = इस प्रकार, कर्मलक्षणम् = कर्मपदार्थ का लक्षण है ॥ १७ ॥

एकमेव द्रव्यम् आश्रयो यस्य तदेकद्रव्यम्, न विद्यते गुणोऽस्मिन्नित्य-
गुणम्, सयोगविभागोपवनपेक्षकारणमिति स्वोत्पत्त्यनन्तरोत्पत्तिकभाव-
भूतानपेक्षमित्यर्थः । तेन समवायिकारणापेक्षाया पूर्वसयोगाभावापेक्षायाञ्च
नासिद्धत्वम् । स्वात्पत्त्यनन्तरोत्पत्तिकानपेक्षत्वं वा विवक्षितम् पूर्वसयोगध्वंस-
स्यापि स्वोत्पत्त्यनन्तरानुत्पत्तिकत्वात्, अभावत्वेन तस्याद्यक्षणसम्बन्धा-

भाषार्थ—द्रव्य तथा गुणपदार्थों के पश्चात् उद्दिष्ट कर्म पदार्थ वह है जो
एक द्रव्य में ही आश्रित एवं गुणरहित तथा संयोग और विभागगुणों को उत्पन्न
करने में किसी अन्य की आवश्यकता न रखे ॥ १७ ॥

उपस्कार—जिसका एक द्रव्यपदार्थ आधार हो वह एक द्रव्य कहाता है
तथा गुण जिसमें न हो उसे अगुण कहते हैं तथा संयोग और विभाग को उत्पन्न
करने में निरपेक्ष कारण हो, अर्थात् अपनी (क्रिया की) उत्पत्ति के पश्चात् उत्पन्न
होनेवाले भावपदार्थ की अपेक्षा न करे वह कर्मपदार्थ है । (यहां पर) अनेक द्रव्यों
की आश्रय करनेवाले कारण तथा अकारणके संयोग तथा विभाग में अतिव्याप्ति
दोष होने के कारण 'एकद्रव्य' ऐसा विशेषण दिया है जिसका अनेक द्रव्याध्यभिप्राय
अर्थ है, संयोग तथा विभाग के अनेक द्रव्याचिन होने से उक्त दोष न होगा । परमाणु
के अनाश्रय होने के कारण उसमें अनेक द्रव्याभिनभिप्राय है, अतः उसमें अतिव्याप्ति
दोष के परिहार के लिये अगुण विशेषण दिया है । परमाणु में रूपादि गुण होने से
उक्त दोष न होगा । रूपा इत्यादि एक एक गुण में अनिव्याप्ति दोष आ जायगा
क्योंकि वे भी एक द्रव्य में आश्रित तथा गुण होने से निर्गुण भी हैं, अतः अन्तिम
संयोग तथा विभाग में निरपेक्षकारणत्व विशेषण दिया है, (अर्थात् मिलित संयोग
तथा विभाग में जो निरपेक्षकारण हो उसे कर्म कहते हैं, यह कर्मपदार्थ का
निष्कृष्ट (साररूप) लक्षण का अर्थ है । संयोग अववा विभाग उन दोनों में निरपेक्ष
कारण नहीं होते, अतः उक्त दोष न होगा । कुछ विद्वानों का महा ऐसा मत है कि
संयोग का निरपेक्षकारण, तथा विभाग का निरपेक्षकारण इस प्रकार प्रत्येक तीनों
विशेषणों से मुक्त दो लक्षण हैं दोनों में अन्तिम विशेषण न देने से रूपादि एक-एक गुणों
में अतिव्याप्ति दोष आ जायगा) । (सूत्र के अनपेक्षपद की स्वयं व्याख्या शंकरमिश्र
ने जो उपरोक्त की है उसमें नित्यज्ञान में अतिव्याप्ति दोष के परिहारार्थ सविषयक
से भिन्न ऐसा विशेषण भी देना चाहिये ।)

'अनपेक्षकारण' इस विशेषण के किये हुए अर्थ के पदों का सार्वत्रिक दिखाने हुए
शंकरमिश्र स्वयं कहते हैं कि—उत्पत्ते (अर्थात् द्वितीय उत्पत्तिपद के देने से) समवायि-
कारण क्रियाश्रय द्रव्य की अपेक्षा करने पर भी (उस द्रव्यकी क्रिया की उत्पत्ति के पश्चात्
उत्पत्ति न होने के कारण तथा भावभूत पद के देने से । पूर्व संयोग के नाश की अपेक्षा
करनेसे भी अनिर्दिष्ट दोष न होगा क्योंकि वह पूर्वसंयोग का नाश भावपदार्थ नहीं है) ।

भावात् । नित्यावृत्तिसत्तासाक्षाद्ब्याप्यजातिमत्त्वं कर्मत्वम्, चलतीतिप्रत्यया-
साधारणकारणतावच्छेदकजातिमत्त्वं वा, गुणान्यनिर्गुणमात्रवृत्तिजातिमत्त्व

(भावभूतपद न देने के कारण ऐसा भी लघु दूसरा लक्षण हो सकता है इस अभिप्राय से शंकरमिश्र आगे कहते हैं कि)—अथवा 'अपनी (क्रिया की) उत्पत्ति के पश्चात् उत्पन्नहुए की अपेक्षा न करना' यह 'संयोगविभागेऽपेक्ष कारण' इसका अर्थ हो सकता है, क्योंकि पूर्वसंयोग नाशवाली क्रिया की उत्पत्ति के पश्चात् उत्पत्ति नहीं होती है, कारण यह कि अभाव होने से उसमें आदिक्षण का सम्बन्ध नहीं हो सकता । (अर्थात् ध्वंसरूप अभाव आदिक्षणसम्बन्ध से रहित है, अभाव होने से प्राग् अभाव के समान इस प्रकार अनुमान से ध्वंसमें भी आदिक्षण का सम्बन्ध नहीं है यह सिद्ध हो सकता है । यहाँ पूर्वपक्षी ऐसी शका नहीं कर सकता कि 'तो ध्वंस उत्पन्न हुआ—ऐसा व्यवहार कैसे होता है' क्योंकि घटादि रूप प्रतियोगियों के सम्बन्ध से होने के कारण 'उत्पन्न हुआ' यह व्यवहार गीन है । यहाँ पर 'वा' पद देने से शंकरमिश्र को यह लक्ष-
णार्थरक्ष अभिमत नहीं है यह सूचित होता है, क्योंकि घटादि द्रव्यों में आदिक्षण के सम्बन्धके-समान उनके नाश में भी आदिक्षणसम्बन्ध प्रत्यक्ष सिद्ध होने से उक्त अनुमान में दिया हुआ अभावत्व हेतु ध्वमिचारी होने से आदिक्षणसम्बन्ध के अभाव का साधक नहीं हो सकता । तथा यदि प्रतियोगि सम्बन्ध की उत्पत्ति मानी जाय तो सम्बन्ध भी अतिरिक्त पदार्थ मानना पड़ेगा यह विषय यहाँ पर विचार योग्य है ।)
(कर्मपदार्थ का शंकरमिश्र दूसरा लक्षण दिखाते हैं कि)—नित्यपदार्थों में न रहने वाली तथा सत्ताजाति की साक्षात् व्याप्य (अपर) जाति का आश्रय होता ही कर्मों का लक्षण है । (यहाँ पर द्रव्यपदार्थ में भी सत्ता की साक्षात् व्याप्य द्रव्यत्वजाति के रहने से, तथा घटत्व आदि जाति को लेकर घटादि द्रव्यों में लक्षण जाने से अतिव्याप्ति दोष आ जायगा, अतः उसके कारणार्थ कम से नित्यवृत्ति तथा सत्ता साक्षात् व्याप्य यह दोनों जाति में विशेषण दिये हैं, द्रव्यत्वजाति के परमाणु आदि द्रव्यों में रहने से तथा घटत्वजाति के सत्तासाक्षात् व्याप्य न होने से उक्त दोष निवृत्त हो जाता है । यह जान लेना चाहिये) । (कर्मत्वजानि प्रत्यक्ष सिद्ध है इस कारण से शंकरमिश्र दूसरा भी कर्म का लक्षण दिखाते हैं कि)—'चलति चलना है इत्याकारक लोकोपिद ज्ञान के विशेष कारणता की निगमक जाति का आधार होना भी कर्म का लक्षण है । 'तथा अगुण' इस सूत्र से पद के अनुसार गुणभिन्न तथा निर्गुणमात्र में वर्तमान जाति के आधार को कर्म कहने हैं । इस लक्षण में गुण में अतिव्याप्ति कारणार्थ गुणान्य तथा द्रव्य में अतिव्याप्ति कारणार्थ निर्गुण पद दिया है, तथा उन दोनों में उक्त दोष के निरासार्थ मात्र पद दिया है जिसका उससे भिन्न में न रहना ऐसा अर्थ है यह जानना । (सूत्र में दिये हुए संयोगविभाग इत्यादि

६।, स्वोत्पत्त्यव्यवहितोत्तरक्षणवृत्तिविभागकारणतावच्छेदकजातिमत्त्वं वा । स चायं चक्षतीतिप्रत्ययसाक्षिकः पदार्थो नाचिरलदेशोत्पादनादिनोपपाद्य', क्षणभङ्गस्याग्रे निराकरिष्यमाणत्वात् । लक्षणस्य इतरभेदसाधकताप्रकारः पूर्वोक्त एव ॥ १७ ॥

इदानीं कारणमुखेन त्रयाणामेव साधर्म्यप्रकरणमुपक्रमते—

द्रव्यगुणकर्मणां द्रव्यं कारणं सामान्यम् ॥ १८ ॥

विशेषण के अनुसार शकरमिश्र कर्म का लक्षणान्तर ऐसा करते हैं कि—अपनी (क्रिया) उत्पत्ति के व्यवधानरहित उत्तरक्षण में वर्तमान विभाग की कारणता की नियामक-जाति का आधार होना भी कर्म का लक्षण हो सकता है । (इस लक्षण में उत्पत्ति-पद न दिया जाय तो विभाग के प्राग्भाव में अतिव्याप्ति होय होगा, क्योंकि उसके अव्यवहित उत्तरक्षण में उत्पन्न होने वाले विभाग में वह कारण है, प्राग्भाव की अनादिता के कारण उत्पत्ति न होने में होय न होगा । (उक्त कर्मलक्षणों से सिद्ध कर्मपदार्थ के विधय में क्षणभगवादि बौद्धों के आशय से शका कर उसका समाधान करते हुए शकरमिश्र आगे कहते हैं, कि)—वह यह कर्मपदार्थ जिसमें 'चलति' चलता है इत्यादि प्रतीति ही साक्षि (प्रमाण) है, बौद्धमत से अविरल देशोत्पादन (निरन्तर देश में उत्पत्ति) इत्यादिको से उपपादन सिद्ध करने योग्य नहीं है, क्योंकि हम क्षण क्षण में पदार्थों का नाश होता है इसका आगे खण्डन करेंगे । (अर्थात् क्षण-विनाशो चलनकर्म के आधार पदार्थ की समानजाति के ज्ञान से ही सिद्धि हो सजने के कारण उसके कारणता की नियामक कर्मत्व जाति मानने की क्या आवश्यकता है यह महा पर बौद्धों की शका का आशय है । जिसका आगे विस्तार से खण्डन किया जायगा) । (आगे शकरमिश्र कहते हैं कि)—उक्त कर्म के लक्षण से कर्म-पदार्थ में द्रव्यादि पदार्थ से भेदसिद्धि करने का प्रकार वही पूर्वोक्त है जो द्रव्य, गुणादि लक्षणों में कहा गया है ॥ १७ ॥

अट्टारहवें सूत्र का अवतरण देते हुए शकरमिश्र कहते हैं कि साम्प्रत कारण द्वारा द्रव्य, गुण, तथा कर्म इन तीन पदार्थों का ही साधर्म्य (समानधर्म) निरूपण का प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है—

पदपदार्थ—द्रव्यगुणकर्मणां = द्रव्य, गुण तथा कर्मपदार्थ का, द्रव्यं = द्रव्य, कारण = समवायिकारण होता है, सामान्यम् = समान (एक) ॥ १८ ॥

भावार्थ—जो द्रव्य, चतुर्विंशति गुण तथा उत्क्षेपणादि पांच कर्मपदार्थों में द्रव्य ही एक समवायिकारण होते हैं, अतः द्रव्य समवायित्व द्रव्य, गुण तथा कर्म का समान धर्म है ॥ १८ ॥

समानमेव सामान्यम् एकमित्यर्थः, अनयोः समाना मातेतिवत् । एक-
स्मिन्नेव द्रव्ये समवायिकारणे द्रव्यगुणकर्माणि वर्तन्ते इत्यर्थः । द्रव्यसम-
वायिकारणकवृत्तिजातिमत्त्वं त्रयाणां साधर्म्यम् ॥ १८ ॥

गुणासमवायिकारणकत्व त्रयाणां साधर्म्यमाह—

तथा गुणः ॥ १९ ॥

गुणासमवायिकारणकवृत्तिजातिमत्त्वं त्रितयसाधर्म्यम् । द्रव्याणां संयोगो-
ऽसमवायिकारणम्, कार्यगुणानां रूपरसगन्धस्पर्शसङ्ख्यापरिमाणपृथक्त्वा-
दीनां सजातीयकारणगुणासमवायिकारणकत्वम्, बुद्ध्यादीनामात्मगुणानां

उपस्कार—(सूत्र की व्याख्या करते हुए सूत्र के सामान्य शब्दका अर्थ कहते हैं कि)
समान ही का नाम है सामान्य अर्थात् एक, जिस प्रकार इन दोनों की माता समान
(एक) है वह व्यवहार होता है, उसी प्रकार एक ही द्रव्य में जो समवायिकारण
है, द्रव्य, गुण तथा कर्मपदाय रहते हैं यह अर्थ सूत्र का है । द्रव्यरूप समवायिकारण
वाले द्रव्य, गुण तथा कर्मपदार्थों में क्रम से वर्तमान द्रव्यत्व, गुणत्व, तथा कर्मत्व
जाति की आधारता द्रव्य, गुण तथा कर्म में रहती है यह द्रव्य, गुण तथा कर्मपदार्थों
का साधर्म्य है ॥ १८ ॥

(इस प्रकार अद्वारहवें सूत्र की व्याख्या कर उन्नीसवें सूत्र की व्याख्या करने के
लिये उसका अवतरण देते हैं कि—गुणासमवायिकारणवत्ता अर्थात् गुणपदार्थ जिनमें
असमवायिकारण होते हैं, यह भी द्रव्य, गुण तथा कर्म इन तीन पदार्थों का साधर्म्य है
यह सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तथा=उसी प्रकार, गुणा=चतुर्विधति रूपादि गुण—द्रव्य, गुण तथा
कर्म में असमवायिकारण होते हैं ॥ १९ ॥

भावार्थ—द्रव्य, गुण तथा कर्मों के द्रव्य में समवायिकारणत्व के समान गुणासम-
वायिकारणकत्व भी साधर्म्य है ॥ १९ ॥

उपस्कार—गुण जिनमें असमवायिकारण होते हैं ऐसे द्रव्य, गुण तथा कर्मपदार्थों में
वर्तमान द्रव्यत्व, गुणत्व तथा कर्मत्वजाति की आधारता द्रव्य, गुण तथा कर्म में रहती
है, अतः गुणासमवायिकत्व भी द्रव्य, गुण तथा कर्मपदार्थों का साधर्म्य है । जिसमें
द्रव्यपदार्थों का संयोग गुण असमवायिकारण होता है । रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या,
परिमाण तथा पृथक्त्व इत्यादि कार्य के गुणों में समानजाति के रूपादि कारणों
के गुण असमवायिकारण होते हैं (जैसे पटरूप में तन्तुरूप इत्यादि) । ज्ञान, सुख इत्यादि
आत्माओं के विशेष गुणों में मन तथा आत्मा का संयोग असमवायिकारण होता है ।
पृथिवी के परमाणुओं के पाकज रक्तादिरूपगुणों में अग्निसंयोग असमवायिकारण होता
है । कर्मपदार्थों में ब्रह्मादिकों का जोदन तथा अभिघात नामक संयोग, गुरुत्व,

मनःसयोगासमवायिकारणकत्वम् । पार्यवपरमाणुगुणानामग्निर्मयोगासम-
वायिकारणकत्वम् । कर्मगन्तु बहुधादिनोदनाभिधानगुह्यद्रवत्वमंस्कारादृष्ट-
वदात्मसयोगप्रयत्नवदात्मसयोगासमवायिकारणकत्वं यथायथं स्वयमूहनी-
यम् । क्वचिदेकस्यापि गुणस्य त्रयाणां द्रव्यगुणकर्मणामारम्भकत्वम् । तद्यथा
वेगवत्तूलपिण्डसयोगमूलपिण्डान्तरे कर्म करोति द्वितूलकञ्च द्रव्यमारमते
तत्परिमाणञ्च । क्वचिदेको गुणो द्रव्यगुणावारमते यथा तूलपिण्डसयोग एव
देवानपेक्षप्रचयाख्यो द्वितूलकं द्रव्यं तत्परिमाणञ्चारमते ॥ १९ ॥

द्रवत्व, संस्कार धर्माधिरूप अदृष्टत्वात् आत्मा का संयोग तथा प्रयत्नवान् आत्मा
का संयोग इत्यादि असमवायिकारण होते हैं यह यथोचित स्वयं जान लेना चाहिये
(अर्थात् आत्मा के प्रयत्न के बिना बाह्य पृथिवी आदि चार भूतद्रव्यों में नोदनादि
सयोगों से कर्म होता है, जिस प्रकार कीचड़ पर घीरे से खसी हुई पत्थर या ईंट
की गोली कम से कीचड़ के माथ नीचे जाती है, वह गुरुत्व के अधीन गोली का संयोग
नोदन है, उसमें अधोगमनरूपा क्रिया गोली में होती है, उससे नोदन संयोगरूप गुण
असमवायिकारण होता है । इसी प्रकार वेग की अपेक्षा करनेवाले विमान के
जनक कम के कारण अभिघात नामक संयोग से पत्थर आदि कड़े पदार्थ पर गोली
के गिरने से जो कम होना है उसमें अभिघात असमवायिकारण है । तथा गुरुत्व के
प्रतिबन्धक हस्तसयोगादिकों के न रहने मुसल के अधोगमनरूप कर्म में गुरुत्व तथा
जल के पृथ्वी पर से गड़े में बहु कर जाने में द्रवत्व तथा वाणादिकों की गति में वेग
संस्कार असमवायिकारण होते हैं । एवं प्राणशायु के श्वासप्रश्वासादि कर्मों में इच्छा,
ईप्सा तथा प्रयत्नपूर्वक आत्मा का संयोग असमवायि कारण होता है । इसी प्रकार
उपभोग से पूर्वधारीर के उपभोग के सहचारी धर्माधिरूप अदृष्ट का लय होकर
दूसरे आत्ममन संयोग की सहायतावाले धर्माधर्म से मृत धारीर से बाहर जाने की
जो क्रिया होती है उसमें अदृष्टवान् आत्मा का संयोग असमवायिकारण होता है
यह यहा पर जान लेना चाहिये जिसका प्रशस्तपादभाष्य में विस्तार से बयान किया
गया है ।) (आगे शरकरमिश्र कहते हैं कि)—जिसी स्थल में एक भी गुण, द्रव्य
गुण तथा कर्म इन तीनों पदार्थों को उत्पन्न करता है, अर्थात् तीनों का एक ही
गुण असमवायिकारण होता है, जैसे वेगवान् तूल (रुई) के पिण्ड (मोले) का संयोग
दूसरे तूलपिण्ड में चलनक्रिया को करता है और इन दो तूलपिण्डोंवाले
एक अवयवि (एक मोलम्प) द्रव्य, तथा उसके दूसरे महत् परिमाण को भी
उत्पन्न करता है । किसी स्थल में एक गुण द्रव्य तथा गुण दो को उत्पन्न
करता है । जैसे तूलपिण्ड का संयोग ही जो वेग की अपेक्षा न करनेवाला प्रवय
संयोग कहा जाता है, केवल द्वितूलकपिण्डरूप द्रव्य तथा उसके परिमाण का
जनक होता है जहा चलनक्रिया नहीं होती ॥ १९ ॥

अत्रचिदेकस्य कर्मणोऽनेककार्यकारित्वमाह—

संयोगविभागवेगानां कम समानम् ॥ २० ॥

कारणमित्यनुपद्वः । यत्र द्रव्ये कर्मोत्पन्न तेन सम यावद्द्रव्यं संयुक्त-
भासीत् तावत्सङ्ख्याकान् विभागान् जनयित्वा तावतः संयोगानपि पुनरन्यत्र
जनयति, वेग पुनरेकमेव स्वाश्रय करोति वेगपदं स्थितिस्थापकमप्युप-
लक्षयति ॥ २० ॥

ननु क्रियावता द्रव्येणारम्भकसंयोगे जनिते तेन च द्रव्यमारब्धं यत्तदपि
कर्मजन्यमेष कर्मणस्तत्पूर्ववर्तित्वाद्वाह—

न द्रव्याणां कर्म ॥ २१ ॥

इस प्रकार उन्नीसवें सूत्र की व्याख्या कर बीसवें सूत्र का अवतरण देते हैं कि—
कही पर एक कर्म अनेक कार्यों को करता है यहा कमपदाय का साधर्म्य है यह
सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—संयोगविभागवेगानां = संयोग तथा विभाग और वेगों का, कर्म=क्रिया,
समान = एक (कारण है) ॥ २० ॥

भावार्थ—कर्मपदाय संयोग, विभाग तथा वेगसंस्कार इन तीनों गुणों को उत्पन्न
करता है अतः कर्मपदाय का संयोग विभाग वेगजनकत्व साधर्म्य है ॥ २० ॥

उपस्कार—सूत्र की व्याख्या करते हुए सूत्र में न दिये कारणपद की १८ वें सूत्र
से अनुवृत्ति कर सूत्र को पूरण करते हैं कि 'कारण' ऐसी १८ वें सूत्र से अनुवृत्ति करनी
चाहिये । जिस द्रव्य में उत्पन्न क्रिया उस द्रव्य में जितने द्रव्य पूर्व में संयुक्त थे उतने
विभागों को उत्पन्न कर उतने ही दूसरे में संयोगों को उत्पन्न करती है, किन्तु वेग
को एक ही अपने आधारद्रव्य में उत्पन्न करती है । यहाँ वेगपद स्थितिस्थापक नामक
संस्कार को भी सूचित करता है । यहाँ पर 'यत्र' इत्यादि व्याख्या में द्रव्यादिकों के
समान कर्म भी अनेक कार्यों को करता है इस कथन से जातिपटित धर्मविशिष्ट नाना-
कार्यता से निरूपण की हुई कारणता के आधार में वर्तमान जाति की आधारता तीनों
का साधर्म्य है, एवं 'वेग' इत्यादि व्याख्या में दूसरे वेग के गुणग्रन्थत्व की सूचना से
गुण तथा कर्म का संयोगादिकों के असमवायिकारण में वर्तमान पदार्थविभाजक कर्मत्व
रूप धर्म की आश्रयता समान धर्म है यह भी सूचित होता है ॥ २० ॥

(एक्कीसवें सूत्र के अवतरण का अर्थ करते हुए पूर्ववादीमत से शङ्का दिखाते हैं
कि)—क्रियावाने अवयव द्रव्य से आरंभकसंयोग उत्पन्न होकर उससे जो द्रव्य उत्पन्न
हुआ वह भी क्रियाजन्य ही है, क्योंकि क्रिया उसके पूर्वकाल में वर्तमान है इस शका के
उत्तर में सूत्रकार कहते हैं ।

पदपदार्थ—न = नहीं होता, द्रव्याणां = द्रव्यों का, कर्म = कर्मपदार्थ कारण नहीं
होता ॥ २१ ॥

कर्म द्रव्याणां न कारणमित्यर्थः ॥ = १ ॥

कुत एवमत्र आह—

व्यतिरेकात् ॥ २२ ॥

व्यतिरेकादिति । निवृत्तेरित्यर्थः । उत्तरसंयोगेन कर्मणि निवृत्ते द्रव्यमुत्पद्यते इति न कर्मणो द्रव्यकारणत्वं विनश्यद्भ्रम्यञ्च कर्म न द्रव्यकारणम् । किञ्च कर्म द्रव्यस्यासमवायिकारणं वा भवेन्नित्तकारणं वा ? न तावदाद्य द्रव्यस्यासमवायिकारणनाशनाश्रयत्वेन अवयवकर्मनाशादेव द्रव्यनाशापत्तेः । न द्वितीय महापटनाशोऽवस्थितसंयोगेभ्य एव खण्डपटोत्पत्तौ निष्कर्मणामेवावयवानां द्रव्यारम्भदर्शनाद्व्यभिचारात् ॥ २२ ॥

वहूनामेकस्यारम्भरूपमुक्त्वा इदानीमेकस्मिन् कार्ये वहूनामारम्भकत्वमाह—

भावार्थ—प्रदर्शित पूर्वपक्षो को सफा का उत्तर यह है कि कर्मपदार्थ द्रव्यों का कारण नहीं होता ॥ २१ ॥

उपस्कार—कर्म द्रव्यो का कारण नहीं होता ॥ २१ ॥

ऐसा क्यों ? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार स्वयं कहते हैं—

पदपदार्थ—व्यतिरेकात् = अभाव होने से ॥ २२ ॥

भावार्थ—उत्तरसंयोगरूप कार्यकर कर्म के निवृत्त हो जाने के कारण द्रव्य का कर्म कारण नहीं हो सकता ॥ २२ ॥

उपस्कार—व्यतिरेकात् इस पद का अर्थ है निवृत्ति । उत्तरसंयोगरूप कार्य को उत्पन्न कर क्रिया के निवृत्त होने पर द्रव्य की उत्पत्ति होती है इस कारण क्रिया द्रव्य की कारण नहीं हो सकती, विनाशावस्था में रहने वाली क्रिया द्रव्य की कारण नहीं होती । (यदि 'निष्क्रमक न होने से संयोग के समान क्रिया भी द्रव्य में कारण क्यों न मानी जाय' ऐसी आपत्ति पूर्वपक्षो करे तो शंकरमिश्र दूसरा शेष देने हैं कि)—पूर्वपक्षी यह बतावे कि क्रिया द्रव्य की असमवायिकारण होगी, या निमित्तकारण ? इनमें से प्रथमपक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि असमवायिकारण के नाश से द्रव्य का नाश होने से अवयवों की क्रिया का नाश होने से ही द्रव्यनाश होने अगोचा । द्वितीय (निमित्तकारण) पक्ष भी नहीं हो सकता क्योंकि यहाँ वस्तु के नष्ट होने पर जितने तन्तु संयोग बचे हैं उन्हीं से खण्डवस्तु की उत्पत्ति होने में क्रियारहित ही अवयवों से द्रव्य की उत्पत्ति देखने में आती है अतः व्यभिचार हो जाता है ॥ २२ ॥

समानजाति के एककार्य के उत्पादक अनेक कारणों में वर्तमान पदार्थविभाजक धर्मवत्ता द्रव्य तथा गुण दो ही का साधर्म्य है न कि कर्म का । इस प्रकार के धर्मिण सूत्र के तात्पर्य का विवरण करते हुए शंकरमिश्र २३ वें सूत्र का अवतरण देते हैं

द्रव्याणां द्रव्यं कार्यं सामान्यम् ॥ २३ ॥

द्रव्ये च द्रव्याणि चेति द्रव्याणि तेषां द्रव्याणाम् । तत्र द्वाभ्यां तन्तुभ्यां द्वितन्तुकः पटो बहुभिरपि तन्तुभिरेकः पट आरभ्यते नन्वेकतन्तु-कोऽपि पटो दृश्यते यत्रैकेनैव तन्तुना तानप्रतिनन्त्री भवत इति चेन्न तत्रैकस्य संयोगाभावेनासमवायिकारणाभावात् पटानुत्पत्तेः । न चाशुक्ततन्तुसंयोगोऽ-समवायिकारणम् अवयवावयविनोरयुनसिद्धत्वेन संयोगाभावात् आरभ्यारम्भक-भावान्भ्युपगमात्, मूर्त्तानां समानदेशताविरोधात् । दृश्यते तावदेवमिति चेन्न

किं) — इस प्रकार अनेक कार्यों का एक कारण होना है यह वर्णन कर सप्रति एक कार्य के अनेक कारण उत्पादक होते हैं इस आशय से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—द्रव्याणां = अनेक द्रव्यों का, द्रव्य = एक द्रव्य, कार्यं = कार्यं होना है, सामान्यम् = यह साधारण (सामर्थ्य) है ॥ २३ ॥

भावार्थ—अनेक कार्यों के एक की उत्पादकता के समान एक द्रव्य कार्यं में अनेक द्रव्य कारण होते हैं, जैसे दो तन्तुओं से एक द्वितन्तुक पट तथा अनेक तन्तुओं से भी एक पट उत्पन्न होता है ॥ २३ ॥

उपस्कार—दो तन्तुओं में एकभिन्ननाम्न अनेकता होने के कारण श्रुतमिथ 'द्रव्याणां' इस सूत्ररूप पद का विग्रह दिखाते हुए सूत्र की व्याख्या करते हैं कि—दो द्रव्य और बहुत द्रव्य प्रथम द्रव्य शब्द से सूत्र में लेना । उसमें से दो तन्तु द्रव्यों में एक दो तन्तुवाला पट, तथा बहुत में तन्तुओं में एक पट उत्पन्न होता है । यहाँ पर पूर्वपक्षी शका करता है कि 'जहाँ पर एक ही तन्तु में तानाबाना होता है, वहाँ एक तन्तु से भी एक पट की उत्पत्ति दीव्यती है (अतः दो तथा अनेक तन्तुओं से ही पट की उत्पत्ति होती है यह सिद्धान्त असंगत है' इस शका का उत्तर यह है कि)—ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि एक का संयोग होना असंगत होने के कारण असमवायिकारण के न रहने से पटरूप कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती । पूर्वपक्षी 'तन्तु के अवयव अंगुओं के तथा अवयवि तन्तुओं के संयोग को उस पट में असमवायिकारण है' ऐसा नहीं कह सकता, क्योंकि अवयव तथा अवयवि के अयुत सिद्ध होने के कारण उनका संयोग-सम्बन्ध नहीं हो सकता । (अर्थात् अयुतसिद्ध दो का अप्राप्ति की प्राप्तिरूप संयोग होना असंभव है ।) तथा पट और एकतन्तु में उत्पाद्य उत्पादकभाव स्वीकृत भी नहीं है, एवं मूर्त अनेक द्रव्यों की समानदेशता का विरोध भी है (अर्थात् अयुतमिद्ध रहित मूर्तद्रव्य एकदेश में नहीं रहते, प्रकृत में अशु तथा तन्तुओं में समानदेशता होने से अयुतसिद्ध है । अतः पूर्वपक्षी के कथनानुसार अशुतन्तुसंयोग उक्त पट की उत्पत्ति में असमवायिकारण नहीं हो सकता) यदि पूर्वपक्षी कहे कि—'ऐसा (एकतन्तु में ही तानेबाने से पटोत्पत्ति) होना दिखता है' तो यह नहीं हो सकता क्योंकि वहाँ

तत्र चेमाद्यभिघातेन महावयविनस्तन्तोर्नाशात् खण्डावयविनानातन्तुपत्ती
तेषामन्योन्यसयोगान् पटोत्पत्तेः, वस्तुगत्या तत्र नानाभूतेषु तन्तुषु एकत्वा-
भिमानात् ॥ २३ ॥

ननु यथा द्रव्याणां द्रव्यं कार्यं गुणानाञ्च गुणस्तथा किं कर्मणामपि कर्म
कार्यमित्यत आह—

गुणवैधर्म्यान् कर्मणां कर्म ॥ २४ ॥

कार्यमिति शेषः । द्रव्यगुणयोः सजातीयारम्भकत्वं साधर्म्यमुक्तम् । तत्र कर्म
कर्मसाध्यं न विद्यते इति सूत्रेण कर्मणां कर्मजनकत्वं प्रतिपिद्धमेव तदिदानीद्यते
इति भावः ॥ २४ ॥

पर वेमा (बुनने के साधन) से अभिघात नामक संयोग से महा अवयवि तन्तु के नाश
से खण्ड अवयवि) नाना तन्तुओं की उत्पत्ति होने पर उनके परस्पर संयोग से पट
की उत्पत्ति होती है, वस्तुतः वहाँ नाना रूप तन्तुओं में एकता का अभिमान (भ्रमा-
त्मक ज्ञान) होता है ॥ २३ ॥

इस सूत्र पर पूर्वपक्षी के सदेह को दिखाते हुए शंकरमिश्र अग्रिम सूत्र का ऐसा
अवतरण देते हैं कि पूर्वपक्षी यहाँ पर ऐसा सदेह करता है कि)—जिस प्रकार अनेक
द्रव्यों का एकद्रव्य तथा अनेकगुणों का एक गुण कार्य होता है उसी प्रकार अनेक कर्मों
का भी एक कर्म कार्य होता है, इस सदेह पर सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—गुणवैधर्म्यात् = गुणों के विरुद्धधर्मों के होने के कारण, न = नहीं
होना, कर्मणा = अनेक कर्मों का, कर्म = दूसरा कर्म (कार्य) ॥ २४ ॥

भाषार्थ—गुणों के विरुद्ध धर्मवान् होने से अनेक गुणों का एक गुण कार्य होने
के समान अनेक कर्मों का एक कर्म कार्य नहीं होता है ॥ २४ ॥

उपस्कार—सूत्र में कार्यपद की योजना करने हुए शंकरमिश्र सूत्र का आशय
दिखाते हैं कि कर्म कार्य है ऐसे छेप अवशिष्ट भाग की योजना करना । द्रव्य
तथा गुणपदार्थों का समान जातीय को उत्पन्न करना समानधर्म कह चुके हैं, उसमें
कर्म कर्म से उत्पन्न होता है, इसमें प्रमाण नहीं है इस अभिप्राय को कर्म कर्मसाध्य
न विद्यते इस सूत्र में कर्मपदार्थ कर्मजनक होते हैं ऐसा निषेध कर चुके हैं उसी
का इस सूत्र में कणाद ने अनुवाद किया है यह भाव है । (अर्थात् उक्त अर्थ के प्रयोजन
वाले अर्थ को पुनः कथन को अनुवाद कहते हैं, अतः 'कर्म कर्मसाध्य न विद्यते' इस
सूत्र से सामान्यतः कर्म में कर्मसाध्यता का निषेध होने पर भी अनेक कर्मों में कर्मसाध्य
नहीं होते ऐसा निषेध न होने के कारण उसका ज्ञान होने के लिये इस सूत्र में अनुवाद
किया गया है ॥ २४ ॥

इदानीं व्यासव्यवृत्तीनां गुणानाम् अनेकद्रव्यारभ्यत्वं दर्शयन्नाह—

द्वित्वप्रभृतयः संख्याः पृथक्त्वसंयोगविभागाश्च ॥ २५ ॥

अनेकद्रव्यारभ्या इति शेषः । द्वित्वादिसमभिख्याहृतं पृथक्त्व-
पदमपि द्विष्ट्यक्त्वादिपरम् । एवञ्च द्वित्वादिकाः परार्धपर्यन्ताः सङ्ख्या द्विष्ट-
यक्त्वादीनि च संयोगा विभागाश्च द्वाभ्यां बहुभिश्चैव द्रव्यैरारभ्यन्ते इत्यने-
कवृत्तित्वममोषाम् । तच्च समवाय्यम्योन्ध्यामावसामानाधिकरण्यम् ॥ २५ ॥

नन्ववयविद्रव्याणां गुणानाञ्चोक्तानां यथा व्यासव्यवृत्तित्वं तथा कर्मणामपि
किं न स्यादत आह—

(पचीसवें सूत्र का अवतरण देते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—साम्प्रत व्यासव्य
(मिलकर) वृत्ति (रहनेवाले) गुणों की अनेक द्रव्यों से उत्पत्ति होती है । यह
व्यासव्य वृत्तिगुणों का साधर्म्य है यह सूत्रकार दिखाते हुए कहते हैं—

पदपदार्थ—द्वित्वप्रभृतय = द्वित्व (दो-तीन) आदि संख्या, पृथक्त्व, संयोग
तथा विभाग (अनेक द्रव्यों से उत्पन्न होते हैं) ॥ २५ ॥

भावार्थ—दो से परार्धपर्यंत संख्या, पृथक्त्व, संयोग तथा विभाग इतने गुण
अनेक द्रव्यों से ही उत्पन्न होते हैं एक में नहीं ॥ २५ ॥

उपस्कार—(सूत्र की ग्यूनता पूर्ति करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—
सूत्रोक्त द्वित्वादि संख्या पृथक्त्व, संयोग तथा विभाग नामक, गुण 'अनेकद्रव्यारभ्या'
इति शेष अनेक द्रव्यों में उत्पन्न होते हैं ऐसा अवशिष्ट पद रख कर सूत्र की व्याख्या
करनी चाहिये और इस सूत्र में द्वित्वादिपद के साथ उपचारण किया पृथक्त्वपद भी
द्विपृथक्त्वादिकों का ही बोधक है, जिससे द्वित्व (दो) से लेकर परार्ध तक संख्या,
द्विपृथक्त्व त्रिपृथक्त्वादि रूप पृथक्त्व, संयोग तथा विभाग इतने गुण दो तथा अनेक
द्रव्यों से उत्पन्न होते हैं अतः इन गुणों का अनेक वृत्तित्व (एक भिन्न में वर्तमानता)
साधर्म्य है । (अर्थात् अनेक द्रव्यों से उत्पन्न एक कार्य में वर्तमान पदार्थ विभाजक
धर्माधारता द्रव्य तथा गुणों का साधर्म्य है) उस अनेक वृत्तित्व शब्द का समवायि-
पदार्थों के परस्पर भेद के आश्रय में वर्तमान होना अर्थ है । { जैसे दो घड़ों का
परस्पर में भेद है । जिसमें द्वित्व संख्या रहती है } ॥ २५ ॥

पूर्वपक्षिमत से आक्षेप दिखाते हुए अग्रिम सूत्र का अवतरण शंकरमिश्र देते हैं कि-
यहां पूर्वपक्षी ऐसा आक्षेप करता है कि—'अवयविरूप द्रव्यों तथा द्वित्वादि गुणों को भी
जिस प्रकार अनेक वृत्तित्व है, अर्थात् यह जैसे अनेक ही में वर्तमान होते हैं, उसी
प्रकार कर्मपदार्थों भी अनेक वृत्ति क्यों नहीं होते—इसका उत्तर देते हुए सूत्रकार
कर्म में गुण द्रव्यों का बंधर्म्य कहते हैं—

असमवायात् सामान्यकार्यं कर्म न विद्यते ॥ २६ ॥

असमवायादित्यत्र द्रव्ययोर्द्रव्येष्विति योग्यम्, तथा च न द्रव्ययोरेक कर्म समवैति न वा द्रव्येष्वेकं कर्म समवैति, तेन सामान्यस्य समुदायस्य कार्यं कर्म न विद्यते । अत्रापि विदिज्ञानार्थो न सत्तावचनः । यदि कर्म व्यासज्यवृत्ति स्यात् एस्मिन् द्रव्ये चलति द्वयोर्द्रव्ययोर्वहुषु च द्रव्येषु चलतीति प्रत्ययः स्यात्, न चैतत् तस्मान्न कर्म व्यासज्यवृत्तीत्यर्थः । ननु शरीरतदवयवानां कर्म शरीरतदवयवैर्बहुभिरारभ्यत एव कथमन्यथा शरीरे चलति करचरणादायपि चलतीति—प्रत्यय एवमन्यात्राप्यवयविनोति चेन्न अवयविकर्मसामान्या अवयवकर्मसामग्र्योच्चात्स्वात् तथोपलब्धे, न तु वैपरीत्यं, न अवयवे चलति सर्व-

पदपदार्थ—असमवायात् = समवेत न होने से, सामान्य कार्य, कर्म समुदाय का कार्य, कर्म = एक कर्म, न विद्यते = नहीं जाना जाता ॥ २६ ॥

भावार्थ—अवयवविद्रव्य तथा द्वित्वादि गुणों के अनेकवृत्तितः के समान, कर्म-पदार्थों में भी अनेक द्रव्यसमवेतता है इसमें प्रमाण नहीं है ॥ २६ ॥

उपस्कार—(सूत्र में मूलतापूर्ति करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—सूत्र के 'असमवायात्' इस पद के साथ 'द्रव्ययोः द्रव्येषु' दो द्रव्यों में तथा अनेक द्रव्यों में ऐसी योजना करनी चाहिये, तथा च ऐसा होने से, दो द्रव्यों में अथवा अनेक द्रव्यों में एकत्रिणा समवेत नहीं होती, अतः समुदाय (समूह-अनेक) का कर्मपदार्थ कार्य नहीं है । इस सूत्र में भी 'विद्यते' इस पद में विदि धातु का स्वरूप अर्थ है न कि विदधातु सद्भाववाचक है । यदि कर्मपदार्थ भी पूर्वोक्त द्रव्य तथा गुणों के समान अनेक वृत्ति हों तो एक द्रव्य के चलने पर दो द्रव्यों तथा अनेकद्रव्यों में चलते हैं यह प्रतीति होने लगेगी, ऐसी प्रतीति नहीं होती, अतः कर्मपदार्थ अनेक वृत्ति नहीं है । यहाँ पर पूर्वपक्षी ऐसी शका करता है कि शरीर तथा उसके हस्तपाद इत्यादिकों की क्रिया शरीर तथा अवयव हस्तपाद इत्यादि अनेकों से उत्पन्न होती है, अन्यथा नहीं तो शरीर के चलने से हस्तपाद आदि अवयवों में भी चलनक्रिया का ज्ञान कैसे होगा ? इसी प्रकार अन्य अवयवि स्थलों में भी (अनेकवृत्ति क्रिया भी द्वित्वादि सत्ता के समान हो सकती है) तो उसका उत्तर शंकरमिश्र ऐसा देते हैं कि—ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता, क्योंकि अवयवि में वर्तमान क्रिया की सामग्री अवयवों की क्रियाओं की सामग्रियों से भ्रष्ट होने के कारण ऐसी उपलब्धि (ज्ञान) होता है, नकि इसके विपरीत, क्योंकि हस्तपादादि अवयवों के चलने से सर्वत्र शरीररूप अवयवों में चलनप्रतीति नहीं होती, अन्यथा ऐसा न हो तो कारण तथा अकारण के संयोग से कार्य तथा अकार्य का संयोग भी न होगा, क्योंकि कारण की क्रिया से ही कार्य का संयोग हो सकता है । (अर्थात् अवयवों शरीरादिकों की क्रिया की-सामग्री जहाँ होती है वहाँ अवयवों

त्रावर्याविति चलतीति प्रत्ययः, अन्यथा कारणाकारणसंयोगात् कार्यकार्य-
संयोगोऽपि न स्यात् कारणकर्मण्यव कार्यस्यापि संयोगोपपत्तेः ॥ २६ ॥

पुनर्वहूनामेकं कार्यमाह

संयोगानां द्रव्यम् ॥ २७ ॥

बहूना संयोगानां द्रव्यमेकं कार्यमित्यर्थः । निःस्पर्शानां द्रव्याणाम् अन्त्या-
वयविना विजातोयद्रव्याणाञ्च ये संयोगास्तान् बिहायेति द्रष्टव्यम् ॥ २७ ॥

इदानीं बहूना गुणानामेक गुणकार्यमाह—

रूपाणां रूपम् ॥ २८ ॥

(हस्तपादादि) में क्रिया होने की सामग्री अवश्य होती है यह नियम है, तकि अव-
यवों में क्रिया की जहाँ सामग्री होती है वहाँ अवयवों शरीरादिकों में क्रिया होने की
सामग्री होती है यह नियम है, इसी कारण शरीर के चलने से हस्तपादादिकों में चलन
प्रसीत होता है । यदि ऐसा न माना आय तो अवयवरूप कारण की क्रिया से ही
निर्वाह होने से हस्त अवयवरूप कारण तथा अकारण पुस्तक के संयोग से शरीररूप
कार्य तथा अकार्य पुस्तक का संयोग मानने की कोई आवश्यकता न होगी) ॥ २६ ॥

(सत्ताइसवें सूत्र का अवतरण शंकरमिश्र देते हुए कहते हैं कि)—युतः अनेकों का
एककार्य होता है यह सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—संयोगानां = अनेक संयोगों का, द्रव्य = द्रव्य (एक कार्य होता है ॥

भावार्थ—अनेक द्रव्यों के एकद्रव्यरूप कार्य के समान अनेक संयोगरूप गुणों का
भी एकद्रव्य कार्य होता है ॥ २७ ॥

उपसंसार—बहुत से संयोगों का द्रव्यपदार्थ एककार्य होता है । स्पर्शशून्य द्रव्य,
तथा अस्तिम अवयवरूप द्रव्य, तथा विरुद्ध जाति के द्रव्यों के संयोगों को छोड़कर
जो हमारे संयोग हैं उनका यह साधर्म्य जानना चाहिये । (इस सूत्र में द्रव्यपद उप-
संक्षण है क्योंकि नाना गुण से उत्पन्न एक कार्य में वर्तमान जाति का आधार होता
यह द्रव्य गुण तथा कर्म तीनों पदार्थों का साधर्म्य हो सकता है । तथा संयोगानां इस
सूत्रस्थ पद में बहुवचन विवक्षित नहीं है, क्योंकि स्पर्शादिरहित द्रव्यों के संयोग कारण
नहीं होते, यही शंकरमिश्र ने 'निःस्पर्शानां' इत्यादि व्याख्या में स्पष्ट किया है यह जान
लेना चाहिये ॥ २७ ॥

(अट्ठाइसवें सूत्र का अवतरण शंकरमिश्र ऐसा देते हैं कि)—साम्प्रत अनेक गुणों
का एक गुण कार्य होता है इस अभिप्राय से सूत्रकार कहते हैं कि—

पदपदार्थ—रूपाणां = अनेकरूपों का, रूपं = एकरूप गुण कार्य होता है ॥

भावार्थ—अनेक संयोगों के एकद्रव्य कार्य होने के समान अनेकरूप गुणों का
एकरूप गुण कार्य होता है ॥ २८ ॥

रूपमेकं कार्यमित्यन्वयः । रूपपदमुभयमपि लाक्षणिकम्, अजहत्स्वार्था-
चेय लक्षणा । कारणैकार्थममवायप्रत्यासत्त्या जन्यजनकभावाप्रयत्वञ्च शक्य-
लक्ष्यसाधारणो धर्मस्तेन रूपरसगन्धस्पर्शस्नेहसंतिद्विकद्रवत्वेकत्वैकवृथक्त्वानि
संगृह्यन्ते । एते हि कारणे वर्त्तमाना कार्येषु समानजातीयमेकमेव गुणमार-
भन्ते । द्विधा असमवायिकारणानाद्वयः । केचित् कारणैकार्थप्रत्यासत्त्या
जनयन्ति, कारणमिह समवायिकारणं तच्च जन्यस्य रूपादिलक्षणस्य कार्यस्य
तेन रूपादिलक्षणकार्यस्य यत् समवायिकारण घटादि तेन सह कपाले वर्तमान
रूप कारणैकार्थसमवायेन घटरूपमारभते, एवं रसाद्यपि । क्वचित् कार्यैकार्थ-
प्रत्यासत्त्याऽसमवायिकारणत्वम् यथा कारणमपि शब्दो नभसि कार्यमपि

उपस्कार—अनेकरूपों का एकरूप गुण कार्य होता है । ऐसा सूत्र में अन्वय करना ।
रूपपद पट्टयन्त तथा प्रथमान्त दोनों ही लाक्षणिक हैं, और यह 'अजहत्स्वार्था' नामक
अपने मुख्यार्थ का परिमाण न करनेवाली लक्षणा है । 'अर्थात् अजहत्स्वार्थलक्षणा के
रूपपद से 'कारणैकार्थप्रत्यासत्ति' कारण के साथ एक अर्थ में सन्निकृष्टसम्बन्ध से
घटादिकों में वर्तमान स्नेहादि गुणों का भी संग्रह होता है, एवं च कारण ॥ गुण
अनेक कार्यों में एक ही समानजाति के गुण उत्पन्न करते हैं यह तात्पर्य है । (प्रदर्शित
लक्षणा के सपादकधर्म का वर्णन करते हैं कि)—समवायिकारण रूप एक द्रव्य में
सम्बन्धरूप सन्निकट से कार्यकारणभाव का आधार होना यह जप (मुख्यार्थ)
तथा लाक्षणिक अर्थ में वर्तमान साधारण धर्म है, जिससे रूप (मुख्यार्थ) तथा रस,
गन्ध, स्पर्श, स्नेह, सांसिद्धिकद्रवत्व, एकत्वसम्बन्ध, एक वृथक्त्व इतने गुणों का संग्रह
होता है, क्योंकि यह सम्पूर्ण गुण कारण में वर्तमान होते हुए कार्यों में समानजाति के
एक ही गुण को उत्पन्न करते हैं । असमवायिकारण दो प्रकार के होते हैं । कोई अपने
समवायिकारणरूप एक द्रव्य में सन्निहित होकर (कार्य को उत्पन्न करते हैं) यही पर
कारण शब्द से समवायिकारण सेना और वह अन्यरूप कार्य के सेना, इससे रूपादि-
स्वरूप कार्य का जो समवायिकारण घटादि द्रव्य है उसके साथ समवायिकारण कपाल
में वर्तमान रूप कार्यैकार्थ समवायिसम्बन्ध से घट के रूप को उत्पन्न करता है । इसी
प्रकार रसादि कार्य को भी । किन्ती किसी स्थल में कार्य के साथ एक अर्थ में सन्निहित
होना रूप कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति से असमवायिकारण होता है, जैसे कारणरूप भी शब्दगुण
आकाश में दूसरे शब्द को उत्पन्न करता है (यहाँ कार्यरूप द्वितीय शब्द आकाश में
वर्तमान है और आकाश अर्थ में उत्पादक प्रथम शब्द भी है अतः कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति
है) आकाश के समान पाण्डिपरमाणुओं में अग्निसंयोग से रूपादि गुण भी कार्यैकार्थ
सम्बन्ध ही ॥ उत्पन्न होते हैं । अर्थात् कार्य परमाणुरूप तथा अग्निसंयोग दोनों एक

शब्दान्तरमारमते, नभस्येय रूपाद्यपि पार्थिवपरमाणावग्निसंयोगेन कार्य-
कार्यसमवायप्रत्यासत्त्या जन्मते ॥ २८ ॥

एकस्य कर्मणोऽनेककार्यत्वमाह—

गुरुत्वप्रयत्नसंयोगानामुत्क्षेपणम् ॥ २९ ॥

उत्क्षेपणमेकं कार्यममीषामित्यर्थः । अत्र गुरुत्वस्य हस्तलोष्टादिवर्त्तिनो
निमित्तकारणत्वम्, प्रयत्नवदात्मसंयोगस्यासमवायिकारणत्व हस्तनिष्ठोत्क्षे-
पणस्य, लोष्टनिष्ठोत्क्षेपणस्य तु हस्तनोदनमसमवायिकारणम् । अत्रागुरुत्वे
पणपदमवक्षेपणादावपि लाक्षणिकम् ॥ २९ ॥

ननु मूर्त्तगुणानां कार्याणां कारणगुणपूर्वकत्वं स्वाश्रयगुणपूर्वकत्वञ्चोक्तम्,
द्रव्यकर्मणोश्च न कर्म कारणमित्युक्तम् तथाच कर्मणः किमपि न कार्यमित्या-
यानम्, तथाचातीन्द्रियाणां सूर्योद्दिग्नोनाम् अनुमानमपि दुर्लभं लिङ्गाभावात्
अन. संयोगाविभागवेगानां कर्मेति सूत्रोक्तमेव स्मारयन्नाह—

हीपादिव परमाणुओं में वसंतमान होने से कार्यकारणनिरूप्य से असमवायिकारण
है ॥ २८ ॥

(उन्नीसवें सूत्र का शंकरमिश्र अवतरण देने हैं कि)—एकक्रिया अनेककार्यों को
उत्पन्न करती है इस आशय से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—गुरुत्वप्रयत्नसंयोगानामुत्क्षेप, प्रयत्न तथा संयोग गुणों का, उत्क्षेपणं
ऊर्ध्व फेंकना (एककाव है) ॥ २९ ॥

भावार्थ—अनेक संयोगों के एकद्रव्यकार्य के समान गुरुत्व, प्रयत्न तथा संयोग
इन तीनों गुणों का उत्क्षेपण कर्म एककार्य होता है ॥ २९ ॥

उपलक्षार—उत्क्षेपणक्रिया गुरुत्व, प्रयत्न तथा संयोग इन तीनों गुणों का एककार्य
होती है, यह सूत्र का अर्थ है । यहाँ पर हस्त तथा मुक्तिका के ढंले में वर्तमान गुरुत्व
उत्क्षेपणक्रिया में निमित्त कारण है, प्रयत्नवान् आत्मा का संयोग (असमवायिकारण
हाथ में होने वाली उत्क्षेपणक्रिया का) है, मुक्तिका के ढंले में होनेवाली उत्क्षेपण
क्रिया का तो हस्त का नोदन नामक संयोग असमवायिकारण है । इस सूत्र में भी
उत्क्षेपणपद उत्क्षेपणादि क्रिया का उपलक्षण (सूचक) होने से लाक्षणिक है ॥ २९ ॥

(२०वें सूत्र का अवतरण शंकापूर्वक शंकरमिश्र दिखाते हैं कि)—यहाँ पूर्वपक्षी
ऐसा आश्रय करता है कि 'पूर्वद्रव्यों के गुण जो कार्य होते हैं उनमें कारण गुणपूर्वकता
तथा अपने आधार के गुणपूर्वकता होती है, यह पूर्वग्रन्थ में प्रतिपादित है, तथा
द्रव्य और क्रिया में कर्म कारण नहीं होता यह भी कहा है, जिससे कर्म का कोई भी
कार्य नहीं होता ऐसा प्राप्त होता है, एवं च ऐसा होने से अतीन्द्रिय (प्रत्यक्ष न होने
वाली) सूर्यादि ग्रहों के गति का अनुमान भी न हो सकेगा, क्योंकि कोई उसका साधक

संयोगविभागाश्च कर्मणाम् ॥ ३० ॥

जन्या इति शेष । व्यक्त्यभिप्रायेण बहुवचनं संस्कारोऽप्युपलक्षणीय ॥ ३० ॥

ननु द्रव्यकर्मणी न कर्मकार्ये इति पूर्वमुक्तम्, संयोगविभागौ तु संयोग विभागव्याप्योवेच तथाचेदानो कर्मण कारणत्वाभिधानं विरुद्धमित्यत आह—

कारणसामान्ये द्रव्यकर्मणां कर्माकारणमुक्तम् ॥ ३१ ॥

कारणसामान्यपदेन तत्प्रकरणमुपलक्ष्यते तेन कारणसामान्याभिधानप्रकरणे

हेतु नहीं है (यद्यपि कर्मपदार्थ का कोई कार्य न होने के कारण क्रियावत्स्वरूप हेतु से सूर्य के गति का अनुमान न हो सकेगा ।" इस वाचका के समाधानार्थ 'संयोगविभागाणां कर्म' इस सूत्र में कही हुई उक्ति को स्मरण कराते हुए सूत्र का कहते हैं—

पदपदार्थ—संयोगविभागा = संयोग तथा विभागगुण, कर्मणां = कर्मपदार्थों में, (कार्य हैं) ॥ ३० ॥

भावार्थ—शुद्धवादियों के उल्लेख कायं के समान । संयोग तथा विभागगुण कर्मपदार्थ के कार्य हैं ॥ ३० ॥

उपस्कार—(सूत्र की भूमतापूर्ति करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—संयोग तथा विभागगुण 'जन्या' कार्य हैं ऐसा अवशिष्टपद देकर व्याख्या करना । इस सूत्र में 'संयोगविभागो' न कह कर व्यक्तियों के आशयसे इन सूत्र में 'संयोग विभागा' कर्मणां' ऐसा बहुवचन का प्रयोग किया है । तथा संयोग और विभाग से संस्कार भी उपलक्षण रूप से अथवा चकार से ग्रहण करना चाहिये ॥ ३० ॥

(पूर्ववर्ती की सकापूर्वक अन्तिम सूत्र का अवतरण उपस्कार में ऐसा है कि) पूर्वप्रथ में द्रव्य तथा कर्म क्रिया के कार्य नहीं होते ऐसा कहा गया है (२१ सू०) संयोग तथा विभाग संयोग तथा विभाग के कार्य ही हैं तो यहाँ कर्म को संयोगविभाग का कारण कहना विरुद्ध है इस र्थका का समाधान सूत्रकार ऐसा करते हैं—

पदपदार्थ—कारणसामान्ये = कारणसामान्य के वर्ण में, द्रव्यकर्मणां = द्रव्य तथा कर्मों का, कर्म = कर्मपदार्थ, अकारण = कारण नहीं होता, उक्तम् = कहा है ॥ ३१ ॥

भावार्थ—सामान्यरूप से कारण के कथनप्रकरण में द्रव्य तथा कर्म में कर्म कारण नहीं होता यह कहा गया है न कि सर्वथा कारण नहीं ही होता यह कहा है ॥ ३१ ॥

उपस्कार—(सूत्र की व्याख्या में शंकरमिश्र पूर्ववर्ती की सूत्र का उत्तर देते हैं कि) सूत्र में कारणसामान्य इस पद से उसका प्रकरण सूचित होता है, इससे कारण-

द्रव्यकर्मणो प्रति कर्मणोऽकारणत्वमुक्तं न तु सर्वथाप्यकारणमेव कर्मति
विरक्षितम् । चेन 'संयोगविभागाश्च कर्मणामिति' सूत्रं व्याहन्त्येतेति
भावः ॥ ३१ ॥

इति शाङ्करे वैशेषिक्सूत्रोपस्थारे प्रथमाध्यायस्य
प्रथमाह्निकम् ।

सामान्य के कथन प्रकरण में द्रव्य तदा कर्म में कर्मवशात् कारण नहीं होता यह कहा
है न कि सर्वथा (किमो प्रकार) यह कारण नहीं होता यह सूत्रकार का विव-
क्षित है, जिससे 'संयोगविभागाश्च कर्मणाम्' इस सूत्र में उक्त कर्मों की कारणता कथन
का विरोध आवेगा यह भाव है ॥ ३१ ॥

इस प्रकार प्रथमाध्याय प्रथमाह्निक में वैशेषिक्सूत्रों की
उपरकार व्याख्या समाप्त हुई ।

प्रथमाध्याये द्वितीयाह्निकम्

मन्वनेन प्रघट्टकेन द्रव्यादीनां त्रयाणां पदार्थानां कार्यकत्वघटितं
कारणैरुत्पद्यतिञ्च साधर्म्यमुक्तम्, तच्चानुपपन्नं कार्यकारणभावम्यैवासिद्धे-
रित्यत आह—

कारणाभावात्कार्याभावः ॥ १ ॥

दृश्यते हि मृच्छकर्मलिलकुलालसूत्रादी समवहितेऽपि दण्डाभावाद्
घटाभावः, भूमलिलादी समवहितेऽपि बीजाभावादङ्कुराभावः, स च दण्डघटयो-
र्बीजाङ्कुरयोर्वा कार्यकारणभावमन्तरेणानुपपन्नः । अन्यथा वेमाद्यभावेऽपि

(प्रथम सूत्र नष्ट एकापूर्वक अवतरण एकरमिथ्य देते हैं कि)—इस पूर्वोक्त सत्यमें
में द्रव्य गुण तथा कर्म इन तीन पदार्थों के कार्य की एकता को लेकर तथा कारण
की एकता को लेकर भी साधर्म्य वर्णन किया गया है, किन्तु वह असंगत है क्योंकि
कार्यकारणभाव ही असिद्ध है क्योंकि उसमें प्रमाण नहीं है । ऐसी शका के समा-
धान में सूत्रकार कहते हैं—(अर्थात् 'चिन्ता प्रवृत्तिसिद्धयर्थापुपोद्घातं विदुर्बुधा'
प्रस्तुत विषय विचाररूप उपोद्घात सत्तति से कार्य कारणभाव सिद्ध करते हैं—

पदपदार्थ—कारणाभावान् = कारण के अभाव से, कार्याकारणभाव, = कार्य का
अभाव होता है ॥ १ ॥

भाषार्थ—तत्तु आदि कारणों के न रहने पर वस्तु आदि कार्य नहीं होते, ऐसा
प्रत्यक्ष सिद्ध होने से बिना तत्तु के वस्तु का न होना तत्तु वस्तु के कारण है तथा
पद कार्य है यह कार्यकारणभाव सिद्ध होता है ॥ १ ॥

उपस्कार—मृत्तिका, चूरा, पानी, कुम्भार, सूत्र इत्यादिकों के समीप होने पर
भी अन्न घलमे का दण्ड न हो तो घट नहीं होता यह दिखाई पड़ता है । पृथिवी, जल
इत्यादि समीप होने पर भी बीज के न रहने पर अङ्कुर नहीं होता, यह दोनों दण्ड
तथा घट के एव बीज तथा अङ्कुर के कार्यकारणभाव के बिना नहीं हो सकता, अन्यथा
बिना कार्यकारणभाव के पद बुनने के साधन वेमा के अभाव में भी घट का अभाव,
तथा कढ़ी के अभाव में भी अङ्कुर का अभाव होता है ऐसा कहा जायगा । (अतः
कार्यकारणभाव प्रत्यक्षासिद्ध है, केवल प्रत्यक्ष से ही नहीं अनुमान से भी कार्यकारण-
भाव सिद्ध होता है इस भाव से एकरमिथ्य कहते हैं)—किन्तु और घट पर आदि
कार्य कदाचिद् होते हैं यह भी अनुभवसिद्ध है, वह कदाचित् होना भी कारण कार्य-
भाव माने बिना नहीं बन सकता, क्योंकि किसी काल में न रह कर किसी काल में

घटाभावः शिलाशकलाद्यभावेऽप्यङ्कुराभावः स्यात् । किञ्च घटपटादीनां कादाचित्कत्वमनुभूयते तदपि हेतुफलभावमन्तरेणानुपपन्नम्, नहि किञ्चित्कालासत्त्वे सति किञ्चित्कालसत्त्वरूपं कादाचित्कत्व भावानां कारणापेक्षामन्तरेण सम्भवति तदा हि स्यादेव न स्यादेव वा नतु कदाचित् स्यात् न हि भावो न भवत्येष नाप्यहेतोर्भवति नाप्यस्मादेव भवति, न वा निरुपाख्यशशविपाणादेर्भवति, किन्तु वण्डवेमादेः सोपाख्यस्यावधेर्घटपटादी कार्ये दर्शनात् अवधिस्तु कारणमेव । एवं कार्यकारणभावभावे प्रवृत्तिनिवृत्ति न स्याताम् तथा च निरीहः जगज्जायेत न होष्टसाधनतःज्ञानमन्तरेण प्रवृत्तिरनिष्टसाधनताज्ञानमन्तरेण निवृत्तिः ॥ १ ॥

ननु सदेवोत्पद्यते नासत् “सदेव सौम्येदमम आसीत्” इत्यादिश्रुतिः-

वर्तमानत्वरूप कदाचित्कता पदार्थों में कारण की आवश्यकता के बिना सगन नहीं हो सकती । (यहाँ घटादि कार्य) सकारण है, कदाचित् होने से जो कदाचित् नहीं होता वह कारणवान् नहीं होता, जैसे आत्मा ऐसा अनुमान करना चाहिये) । क्योंकि यदि कारण की अपेक्षा न हो तो घटादि कार्य ही होगा, या नहीं ही होगा, न कि कदाचित् होगा । (अर्थात् कारण की अपेक्षा न होने से घटादि कार्यों की सत्ता तथा उनके अभाव में कालविशेष का नियम न होना अनुचित होने से कादाचित्कता न बनेगी) । क्योंकि कार्य आवश्यक नहीं ही होता ऐसा नहीं है, न बिना कारण के होता है, न अस्मात् होना है, अथवा असिद्ध होने से निराकार्य शशविपाण आदिको से होता है, किन्तु दण्ड, वेमा, इत्यादि प्रसिद्ध कारणरूप अवधि घटादि कार्य के होने में देखी जाती है, कारण ही तो कार्य की अवधि होती है अर्थात् नियमित (अवधि) कारण वाले ही कार्यों के दिवाने से घटादि कार्य की उत्पत्ति तथा उनके कारणविकों का निषेध नहीं हो सकता, इसी कारण उदयनाचार्य ने कहा है ।

हेतुभूतिनिषेधो न स्वानुपात्यविधिर्न च । स्वभाववर्णनार्थवन्वधेर्नियतत्वता ॥

अर्थात् कार्य के कारण तथा उत्पत्ति का निषेध नहीं हो सकता तथा अलीक (असिद्ध कारण से भी कार्य नहीं हो सकते, एवं स्वभाव से भी कार्य नहीं हो सकते, क्योंकि ससार के सपूर्ण कार्यों में कारणरूप अवधि नियमित है) । (इसी प्रकार कार्य-कारणभाव न मानने में दूसरा भी बाधक दिखाते हुए उपस्कार में कहने हैं कि)—यदि कार्यकारण भाव न माना जाय तो प्राणीमात्रों की हितकर्मों में प्रवृत्ति तथा अहित कर्मों से निवृत्ति भी न हो सकने से प्राणिमात्र निरीह—(इच्छारहित) हो जायेंगे, क्योंकि यह मेरे हित का साधन है ऐसे ज्ञान के बिना हितकर्मों में प्रवृत्ति तथा यह मेरे अहित का साधन है ऐसे ज्ञान के बिना अहितकर्मों से प्राणिमात्र की निवृत्ति दोनों नहीं होगी ॥ १ ॥

(साख्यमत से संका करते हुए द्वितीय सूत्र का अवतरण देते हैं कि)—सह ही

प्रामाण्यात् अन्यथाऽसत्त्वाविशेषे तन्तुभ्य एव घटो न कपालेभ्य इति नियमो न स्यादिति चेत् परिणामवादिभिरपि स्वीकृतकारणत्वर्यं नियमोऽभ्युपगन्तव्य एव, अन्यथा घटाभिन्नव्यक्तिः कपालेऽप्येव न तन्तुत्विति कथं स्यात् । किञ्च यद्यभिन्नव्यक्तिरपि पूर्वमासीदेव तदा तस्या अपि नित्यत्वे आविर्भावतिरोभावान्वेषोत्पादविनाशवृत्तिरिति चेत् । अथाविर्भावतिरोभावौ कारणपेक्षौ, तदा घटपटादीनामपि कारणपेक्षैरासत्तामभ्युत्पत्तिरित्यायासम् । यत्तु कारणं प्रति तिरमानुपपत्तिरित्युक्तम्, तत्र स्वभावनियमेनैवोत्तरम् । ॥ ३ ॥ स्वभावनियमोऽन्यद्व्यतिरेकाद्यगम्यो भवति, भवति हि दण्डमन्तरेण न घटो टण्डे सति घट इति सर्वसाक्षिकोऽनुभवः । एवञ्चानन्यथासिद्धनियतपूर्ववृत्तिर्जातीयस्य सह-

कार्य उत्पन्न होता है न कि पूर्व में अमत्, क्योंकि 'सदेव मोक्षेदमम आसीत्' यह सम्पूर्ण दायमान जगत् सृष्टि के पूर्व सत् ही था, इत्यादि धृति इस विषय में प्रमाण है, अन्यथा यदि उत्पत्ति के पूर्व कार्य असत् हो तो असत्ता के समाप्त होने के कारण तन्तुओं से ही घटकार्य उत्पन्न होता है कपालों से नहीं होगा यह नियम न ही सकेगा, इस प्रकार साध्यप्रतापलब्धों का कर, तो परिणामवादी सात्वमना-वलम्बियों को भी जितने कार्य का कारण स्वीकार किया है यह पूर्वोक्त कार्यकारण-भाव का नियम मानना ही पड़ेगा, अन्यथा न मानने से घट की अभिव्यक्ति (प्रगट्ता) कपालों में ही होती है तन्तुओं में नहीं होगी यह नियम न बन सकेगा । (यदि जहाँ अमेदसम्बन्ध में कार्य सत् होता है वही कार्य की अभिव्यक्ति होती है ऐना नियम होने से कपालों में ही घट की अभिव्यक्ति होगी ऐना साध्यवादी कहें तो उस पर हाकरमिष न्यायमत से कहते हैं कि) — वह साध्यों को अभिमत घटादिकार्यों की अभिव्यक्ति यदि पूर्व में थी तो उसके भी नित्यत्व होने से आविर्भाव (अभि-व्यक्ति) तथा तिरोभाव ही उत्पाद तथा विनाश हैं यह कहना व्यर्थ हो जायगा । और यदि कार्य के आविर्भाव तथा तिरोभाव कारण की अपेक्षा करते हैं, तो घट-पट इत्यादि कार्यों को भी कारण की अपेक्षा है, अतः असत् घटादि कार्यों की ही उत्पत्ति होती है यह सिद्ध होता है । और जो सत्ता में साध्यवादी ने असत्ता समान होने से तन्तुओं से ही घट उत्पन्न होता है इस नियम की असंगति दिखाई-उत्तम स्वभावनियम द्वारा ही उत्तर होता है, (क्योंकि साध्यों ने जिस प्रकार सत्य आकाश का गुण होता है मन का नहीं ऐसा माना है, उस पर ऐसा क्यों ? ऐसा प्रश्न करने पर स्वभावनियम ही इसका कारण साध्यों को कहना पड़ेगा, उसी प्रकार यहाँ भी घट का कारण कपाल ही है न तन्तु ऐसा स्वभावनियम ही नैयायिक उत्तर देगा) । (आगे हाकरमिष कहते हैं कि) — वह स्वभावनियम अन्वय (कारण के रहने से कार्य का रहना), तथा (व्यतिरेक) कारण के न रहने से कार्य का न होना, इस प्रकार अन्वय तथा व्यतिरेक ही से जाना जाता है, क्योंकि दण्ड के न

कारिवैकल्यप्रयुक्तकार्याभाववत्त्वं वा कारणत्वम् । यद्यपि “यवैर्यजेत ब्रीहिभिर्वा” इत्यादौ नियतपूर्ववृत्तित्वं नास्ति न हि यवकरणकयागनिष्पाद्ये फले ब्रीहिरण-कयागस्य पूर्ववृत्तित्वम् तथापि विकल्पितं विहितकारणं कारणमेव, फलैकजा-त्येऽपि द्वयोः कारणत्वोपपत्तेः । तथा च सहकारिवैकल्यप्रयुक्तकार्याभाववत्त्वं लोभवेदसाधारणो कारणता, नियतपूर्ववृत्तित्वन्तु अन्वयव्यतिरेकगम्या कारणता लौकिको, नहि “स्वर्गकामो यजेत” इत्यादौ व्यतिरेकभागोऽपि विषयः प्रवृत्तेर-

रहने से घट कार्य नहीं होना, दण्ड के रहने से घट होता है, ऐसा प्राप्तिमात्र को प्रत्यक्ष अनुभव होता है । अतः अन्वयव्यतिरेकघटित कारणत्व का यह मार अर्थ है कि अन्वयसिद्ध न होते हुए जो कार्य के नियम से पूर्ण में वर्तमान हो उनसे समान-जाति के होना, अथवा कारण के अभाव में कार्य का अभाववान् होना ही कारणता पदार्थ है । (महा प्रथम लक्षण में दण्डत्वादिरूप अन्वय सिद्धों में कारण का लक्षण न जान इसलिये अन्वयसिद्धत्व विशेषण दिया है । उस पद में अन्वय वस्तु इत्यादि अन्वयसिद्धिवाले भी घटमान में अन्वयसिद्ध न होनेवाले तद्वत्त्वत्वादिको में अतिव्याप्ति निवारणाय निमित्तपद दिया है तथा अरण्य में वर्तमान दण्ड में उक्त दोषवारणाय जातीयत्वपर्यन्त अनुमरण किया है) । (सकरमिथ ने वैदिकस्थल में ‘यवैर्ब्रीहिभिर्वा’ इत्यादि त्रिकल्पस्थल की कारणता में नियतपूर्ववृत्तित्ता न होने के कारण उस स्थल के साधारण कारणता को ‘अथवा’ इस शब्द में कहा है । तथा ‘यवैः’ इत्यादि वैकल्पिक कारणतास्थल में ब्रीहिकरणकयाग के न रहने पर भी यवकरणक याग से फल की उत्पत्ति होने के कारण कारणाभाव तथा कार्याभाव की अनुभवसाक्षिक प्रयोज्य प्रयोजक प्रतीति के न होने से सहकारी पद महा दिया है । उदासीन में अन्वयसिद्धता के विरह से वह हेतु न हो सकेगा यह भी यहाँ जान लेना चाहिये) । (उक्त दोनों प्रकार के कारण के लक्षणों की समालोचना करते हुए सकरमिथ आगे कहते हैं कि)—यद्यपि ‘यवैर्यजेत ब्रीहिभिर्वा’ इत्यादि वैकल्पिक कारणता स्थल में नियत पूर्ववृत्तित्वरूप प्रथम कारण का लक्षण नहीं है, क्योंकि यवकरणक याग से उत्पन्न फल के पूर्व में ब्रीहिकरणक याग नहीं है, तथापि शास्त्र में विधान किया हुआ विकल्पित कारण भी कारण होता ही है, क्योंकि फल एक जाति का होने पर भी दोनों कारण हो सकते हैं, इससे यहाँ सिद्ध होता है कि सहकारि विकल्पा प्रयुक्त कार्याभाववत्त्वरूप कारणता लोक तथा वेद उभय साधारण कारणता है, और नभं नियतपूर्ववृत्तित्वरूप अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों सहचारों से जाननेयोग्य कारणता केवल लौकिक स्थल में होती है, क्योंकि ‘स्वर्गकामो यजेत’ स्वर्ग चाहनेवाला पुरुष याग करे इत्यादि वैदिक कारणता स्थल में व्यतिरेक (याग के के न रहने से स्वर्ग नहीं होता) भाग भी कारणता का विषय होता है, क्योंकि स्वर्गार्थी पुरुष की याग में प्रवृत्ति केवल याग होने से स्वर्ग होता है । इस अन्वय

अथमाश्रयानादेवोपपत्तेः, अत एव "विकल्पे उभयमशास्त्रार्थः" इत्यपि घटते, तज्जातीयस्य फलस्य एकेनैवोपपत्तेरपरानुष्ठानवैयर्थ्यात् । अत एव "श्रीतात् साक्षात् कर्मण फलावश्यम्भावनियमः" इत्यप्युचितम् "आगममूलत्वाच्चास्त्रार्थस्य व्यभिचारो न दोषाय" इत्याचार्याभिधानमृज्यर्थतात्पर्यमेव । तृणा-
रणिमणिस्थले तु कार्यवैजात्यभावस्यैव तत्रान्वयव्यतिरेकगम्यत्वात् कारण-
तायाः व्यतिरेकाद्व्यतिरेकस्याप्यवश्यत्वात् । विकल्पस्थले तु फलवैजात्यरूपने-
राजसूषवाजपेयाद्यादि वैकल्पिको व्यतिरेक इत्यदि किं कार्यकारणभावनि-
यमोपपादयन्नाह—

व्याप्तिज्ञान मे ही हो सकती है, (इस अन्वयज्ञान मे प्रवृत्ति होने के कारण ही 'विकल्पे उभयमशास्त्रार्थः' अर्थात् विकल्परस्थले अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों शास्त्र के विषय नहीं हैं, यह भी समान होता है (अथवा व्यतिरेक की अपेक्षा होने से उक्त विकल्प स्थल मे दोनों शास्त्र के विषय होने लगेंगे) क्योंकि उस जाति का फल दो मे से एक के करने से जब हो सकता है तो दूसरे के करने की आवश्यकता नहीं है अर्थात् दूसरा व्यर्थ है ।

इसी कारण 'श्रीतात्साक्षात्कर्मणः फलावश्यम्भावनियमः' अर्थात् "वेदोक्त साङ्ग कर्म करने से फल अवश्य होता है यह नियम है"—यह कहना भी उचित है । किन्तु "आगममूलत्वाच्चास्त्रार्थस्य व्यभिचारो न दोषाय" वैकल्पिक कारणता आगम (शास्त्र) प्रमाण से सिद्ध होने के कारण एक के न रहने पर भी फल की उत्पत्ति होने के कारण मानेवाला व्यतिरेक व्यभिचार दोषजनक नहीं हो सकता ऐसा आचार्य उदयन का इस विषय में सरल तात्पर्य ही है (इस उपस्कारग्रन्थसे यहां यह स्पष्ट होता है कि शंकरमिश्र वैदिक कारणतास्थल मे केवल कारण के होने से कार्य होना यह अन्वय ज्ञान ही प्रयोजक मानते हैं, और (उदयनाचार्य दोनों अन्वय तथा व्यतिरेक के ज्ञान को प्रयोजक मानकर व्यतिरेक व्यभिचार शास्त्रमूलक होने से दोषजनक नहीं होता ऐसा मानते हैं) । "यदि वैकल्पिक उक्त कारणतास्थल मे कार्य की विलक्षणता न हो तो तृणादिजन्य बह्विस्थल मे भी अग्निरूप कार्य में वैविध्य न माना जायगा" इस धाका के उत्तर में शंकरमिश्र कहते हैं कि—तृण, अरणि, मणि इत्यादिकों से अग्नि की उत्पत्तिस्थल मे तो अग्निरूप कार्य मे विलक्षणता मानना आव-
श्यक है, क्योंकि वहां कारणता अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों से बोधित होती है, अतः कारण के अभाव में कार्य का अभाव होना आवश्यक है । किन्तु 'यदेवां' इत्यादि विकल्प स्थलों मे तो कार्य मे विलक्षणता की कल्पना करे तो राजसूय यात्रपेय यादि पात्रो मे भी वैकल्पिककारणता माननी पड़ेगी (इस प्रकार है जब कार्यकारणभाव अनुभव सिद्ध है) इस कारण, कार्यकारणभावरूप नियम ही को सिद्ध करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

न तु कार्याभावात् कारणाभावः ॥ २ ॥

यदि कार्यकारणभावनियमो न भवति तदा कार्याभावादपि कारणाभावः स्यात् । कार्यभावः कारणाभावं प्रत्यतन्त्रं कारणाभावस्तु कार्याभावं प्रति तन्त्रम्, तेन दुःखाभावार्थं जन्माभावे, जन्माभावार्थं प्रवृत्त्यभावे, तदर्थश्च दोषाभावे, तदर्थं मिथ्याज्ञाननिवृत्तये, तदर्थश्चात्मसाक्षात्काराय सुमुक्षुणां प्रवृत्तिः प्रयोजनमीपोद्घातिरस्याप्यस्य द्विसूत्रकप्रकरणस्य ॥ २ ॥

पदार्थत्रयोद्देशलक्षणानन्तरमिदानीमुद्दिष्टस्य सामान्यपदार्थस्य लक्षणमाह—

पदपदार्थ—नतु = नकि, कार्याभावात् = कार्य के अभाव से, कारणाभाव = कारण का अभाव होता है ॥ २ ॥

भावार्थ—यदि कार्यकारणभावनियम न माना जाय तो जैसे कारण का अभाव कार्य के अभाव का प्रयोजक होता है उसी प्रकार कार्य का अभाव भी कारण के अभाव का प्रयोजक होने लगेगा, अतः कार्यकारणभावनियम मानना आवश्यक है ॥ २ ॥

उपस्कार—यदि कार्यकारणभाव का नियम न हो तो कार्य के अभाव से भी कारण का अभाव होगा । कार्य का न होना कारण के न होने में प्रयोजक नहीं है, किन्तु कारण का न होना कार्य के न होने में प्रयोजक है । (इस कार्य कारणभाव रूप नियम के दो सूत्र के प्रकरण या शिष्यों के सावधान होने के लिये साक्षात् प्रयोजन की दिशाते हैं कि)—इस कार्यकारणभाव के नियम के होने के कारण ही दुःख का भाव होने के लिये जन्म के अभाव में, जन्म के अभाव के लिये पुष्प-प्रापकर्मों में प्रवृत्ति न होने के लिये और उसके लिए राग द्वेषादि दोषों के न होने के लिये और उनके लिये मूलकारणमिथ्याज्ञान की निवृत्ति होने के लिये, और उसके लिये आत्मात्म मुख्य पदार्थ के साक्षात्कार रूप ज्ञान के लिये मोक्षेच्छा प्राणियों की सात्त्वाध्ययन में प्रवृत्ति होती है यही उपोद्घात सगति से प्राप्त भी इस प्रथम दो सूत्रों का प्रकरण का प्रयोजन (अर्थात् 'चिन्ता प्रकृतसिद्धयर्थामुपोद्घातं विदुर्बुधाः' प्रस्तुत विषयक विचार की उपोद्घात कहते हैं इस लक्षण के अनुसार प्रस्तुत में उपयोगी कार्यकारणभाव का ज्ञान न हो तो वैशेषिक दर्शनरूप इस सात्त्विक के अध्ययन में मुमुक्षुओं की प्रवृत्ति न होगी) ॥ २ ॥

(इस प्रकार कार्यकारणभाव के दिखाने के पश्चात् सामान्य तथा विशेषपदार्थ के वर्णन करने में अवसर संपत्ति की सूचना देते हुए शंकरमिश्र तृतीय सूत्र का अवतरण देते हैं कि)—द्रव्य, गुण तथा कर्म इन तीनों पदार्थों के उद्देश क्रमानुसार लक्षण करने के पश्चात् साम्प्रतकाल में क्रमप्राप्त प्रथम उद्देश किये सामान्यपदार्थ का लक्षण सूत्रकार करते हैं—

सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम् ॥ ३ ॥

सामान्यं द्विविधं परमपरम् । तत्र परं सत्ता अपरं सत्ताव्याप्यं द्रव्य-
त्वादि । तत्र सामान्यस्य तद्विशेषस्य च लक्षणं बुद्धिरेव । अनुरक्तबुद्धिः
सामान्यस्य व्यावृत्तबुद्धिर्विशेषस्य । इतिना द्वयमवच्छिद्य परामृश्यते तेन
बुद्ध्यपेक्षमिति नपुंसकनिर्देशः । वृत्तिकारस्तु विशेषान्वयमाह परन्तु “नपुंसक-
मनपुसकैर्नैकवच्चान्यान्यतरस्याम्” इत्यनेनैकवद्भावो नपुंसकता चेत्याह—
बुद्धिरपेक्षा लिङ्गं लक्षणं चा यस्य तद्बुद्ध्यपेक्षम् । सत्र नित्यमनेकव्यक्तिवृत्ति

पदपदार्थ—सामान्य = जातिपदार्थ, विशेष = विशेषजातिपदार्थ, इति = यह
हीनो, बुद्ध्यपेक्षम् = अनुगत तथा व्यावृत्तिरूप बुद्धि की अपेक्षा से सिद्ध होता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—इस सूत्र में सामान्य तथा विशेष पद विभागसहित लक्ष्यबोधक है,
तथा इति बुद्ध्यपेक्ष यह लक्षण है । इति पद का उभयविद्धिपृ ऐसा अर्थ है, तथा च
अनुवृत्तिव्यावृत्ति बुद्धिरूप दो प्रकार के सामान्य हैं यह सूत्र का अर्थ होता है ॥ ३ ॥

उपस्कार—सामान्य पर तथा अपर ऐसा दो प्रकार का है । उनमें से सत्ता नामक
सामान्य परसामान्य है, तथा द्रव्यत्व, गुणत्व आदि अपर सामान्य है । उनमें सामान्य
तथा उसके विशेषों का भी बुद्धि ही लक्षण है । जिनमें अनुगत ज्ञान सामान्य का तथा
व्यावृत्त (भेद) ज्ञान विशेष का लक्षण है । यहाँ पर इतिपद से सामान्य तथा
विशेष द्वयरूप का ग्रहण होने के कारण ‘बुद्ध्यपेक्ष’ ऐसा सामान्य में नपुंसकलिङ्ग
का निर्देश है ।

प्राचीन वृत्तिकार ने इतिपद का प्रत्येक सामान्य तथा विशेष में अन्वय किया
है । (किन्तु उनके पास में सूत्र के इतिपद का कोई विशेष प्रयोजन नहीं आता ऐसी
‘आह’ इस पद से शकरमिश्र ने वृत्तिकार के मत में अथवा सूचित की है (यह वृत्ति-
कार कौन है यह अभी तक ठीक ठीक मालूम नहीं हुआ है) । (अपने पास में ‘बुद्ध्यपेक्षम्’
इस पद में नपुंसकलिङ्ग तथा एकवचन प्रयोग की संगति दिखाते हुए शकरमिश्र कहते
हैं कि)—परन्तु ‘नपुंसकमनपुसकैर्नैकवच्चान्यान्यतरस्याम्’ अर्थात् नपुंसकलिङ्गविभक्त से
नपुंसकलिङ्ग तथा एकवचन विकल्प से होता है, इस पाणिनीय व्याकरण सूत्र के अनुसार
सूत्रकार ने इस सूत्र में ‘बुद्ध्यपेक्ष’ यह नपुंसकलिङ्ग तथा एकवचन कहा है—
बुद्धि ही है । अपेक्षा लिङ्ग सूत्र के अथवा लक्षण जिसका वह बुद्ध्यपेक्ष कहाता है ।
(अर्थात् सामान्यत्व इस में, अस्त्व तथा अपस्त्व को सिद्ध करने में कम से अनुगत
तथा व्यावृत्त बुद्धि लिङ्ग है । (अर्थात् द्वार पदार्थों से व्यावृत्ति करनेवाला यही हेतु
है । अथवा व्यवहारसाधकपक्ष से शकरमिश्र ने लक्षण वा ऐसा पदान्तर
दिलाया है) । उसमें निश्च होता हुआ जो अनेक व्यक्तियों में समवायसम्बन्ध से वर्त-
मान हो, अथवा निश्च होता हुआ जो अपनी आधार व्यक्तियों के परस्पर अन्योन्याभाव
के आश्रयों में वर्तमान हो उसे सामान्य कहते हैं । इन शकरमिश्र ने किये दो लक्षणों में

सामान्यम् । नित्यत्वे सति स्वाश्रयान्योन्याभाससामानाधिकरण्यं वा । परमपि सामान्यमपरमपि तथाऽपरन्तु सामान्यं विशेषसंज्ञामपि लभते यथा द्रव्य-
मिदमित्यनुवृत्तप्रत्यये सत्येव नायं गुणो नेद कर्मेति विशेषप्रत्ययः । तथा च
द्रव्यत्वादीनां सामान्यानामेव विशेषत्वम् ।

रतु विधिरूपं सामान्यं नास्त्येव अनुगतमतेरतद्रव्यावृत्तैवोपपत्तेः भवति
हि गौरवमिति प्रतीतेरगोव्यावृत्तोऽयमिति विषयः जातिवादिनाऽपि गोत्वादि-

सूत्र के सामान्यपद ही के समानों के धर्मरूप अवयवार्थ से नित्य यह अर्थ काठा है ।
इस प्रथम लक्षण में संयोगादिकभी अनेक वृत्ति होती हैं, अतः उनमें अतिव्याप्तिदोष के
निरासार्थ धर्मवाचक यत् प्रत्यय का धर्मविशेष नित्यता ही है । अतः संयोग नित्य न होने
से उक्त दोष नहीं होगा । नित्यव्यापक के परिमाण में अतिव्याप्ति निरास के लिये
समानपद से प्राप्त अनेक वृत्तिपद दिया है, आकाशपरिमाण एकवृत्ति होने से उक्त दोष
नहीं होगा । अस्त्यन्ताभाव में नित्यता तथा अनेकवृत्तित्व होने से उक्त दोष धारणार्थ
वृत्तिपद से समवेत ऐसा अर्थ करना जिससे अभाव समवायसम्बन्ध से वृत्ति न होने से
उक्त दोष का निरास हो जायगा । तृतीय लक्षण समानपद के भेद घटित अभिप्राय
से संकरमिश्र में किया है । इसमें भी नित्यवादी विशेषण का फल प्रथम लक्षण के
समान जान लेना चाहिये । (जहाँ अपरसामान्य जिस प्रकार सामान्यपद से बोधित
होते हैं उसी प्रकार विशेषपद से भी बोधित होते हैं इस अभिप्राय से संकरमिश्र
कहते हैं कि)—परसत्तारूप सामान्य भी उक्त लक्षण है, तथा अपर द्रव्यत्वादि-
सामान्य भी, किन्तु अपरसामान्य द्रव्यत्वादि विशेष सज्ञा को भी प्राप्त करता है, क्योंकि
जैसे यह द्रव्य है, इस प्रकार अनुगत प्रतीति होते हुए भी यह गुण नहीं है यह कर्म नहीं
है इस प्रकार विशेष ज्ञान भी होता है, अतः द्रव्यत्व गुणत्वादि सामान्यों को ही विशेष-
पता भी है । (किन्तु बोद्धो का यहाँ ऐसा पूर्वपक्ष है)—कि भावपदार्थरूप जातिपदार्थ
है नहीं, क्योंकि अनुगत ज्ञान अतद्रव्यावृत्ति (तद्भिन्न के अभाव ही) से हो सकता है,
क्योंकि यही गो है इस ज्ञान का गो गोमित्र अश्वदिको से भिन्न है यही विषय है,
कारण यह कि जातिवादि नैयायिकों को भी गोत्वजातिविशिष्ट गोज्ञान में गोमित्र
अश्वदिको का भेद अवश्य ही मानना पड़ेगा, क्योंकि गो में गोत्वजाति का वैशिष्ट्य
गोमित्र अश्वदि भेद को छोड़कर दूसरा नहीं हो सकता तथा गोपद की गोरूप अर्थ
में प्रवृत्त होने का निमित्त भी गोमित्र अश्वदि भेद ही है । (अर्थात् प्राचीन नैया-
यिकों के मत में अभाव का अभाव जिस प्रकार प्रथम अभाव के प्रतिरोधिता
के नियामक सम्बन्धरूप होता है, इसी प्रकार इतर पदार्थ का भेद भी प्रथम
भेद प्रतियोगिता के नियामक सम्बन्धरूप होता है इस कारण जातिवादी नैयायिकों ने
माना हुआ गोत्वादि जातियों का भी आदि व्यक्तियों में समवाय गोमित्र अश्वदि भेद

विशिष्टप्रत्ययस्य तद्विषयत्वाभ्युपगमात् न हि वैशिष्ट्यमतद्वयावृत्तेरन्यत्-
गवादिपदप्रवृत्तिनिमित्तेष्वगोव्यावृत्त्यादिरेव । किञ्च गोत्व कुत्र वर्तते न
नावद् गवि गोत्ववृत्ते पूर्वं तस्याभावात्, नाप्यगवि विरोधात्, यत्र गोविण्ड
उत्पद्यते तत्र तुन आगत्य गोत्वं वर्तते, न तासु तथैवासीत् देशस्यापि तस्य
गोत्वापत्ते । नापि गोत्वमपि तदानीमेवोत्पन्न नित्यत्वाभ्युपगमात्, नाप्यन्यत
आगत निष्क्रियत्वाभ्युपगमात्, न च एकस्यैव नित्यस्य नानाव्यक्तियुक्तिव
कार्त्स्न्यैकदेशिकत्वानुपपत्ते । न हि कृन्स्नमेकत्रैव वर्तते अन्यत्र सद्विशिष्ट-
प्रत्ययानुदयप्रसङ्गात् । नात्येकदेशेन जातेरेकदेशस्याभावात् । तदुक्तं—

न याति न च तत्रासीन्न चोत्पन्न न चाशवत् ।

से अतिरिक्त नहीं है, अतः अतद्व्यावृत्ति से ही निर्वाह होने के कारण अनुगत बुद्धि को
निर्णायक भावरूप जातिपदार्थ के मानने की आवश्यकता नहीं है ऐसा बोझों के षण्ण
का आशय है । (तथा सामान्य एव विशेष के लक्षण द्वारा भी जातिपदार्थ का लक्षण
करते हुए बोझों का मत आगे सकरमिष्य ऐसा कहते हैं कि)—नैयायिकमत से सिद्ध
गोत्वजाति कहीं रहती है ? गोत्व के रहने के पूर्व गोव्यक्ति के न रहने से गोव्यक्ति में
गोत्व रहता है यह नहीं हो सकता, न गोत्वजाति योगिन् अश्वदिकों में रहती है,
क्योंकि विरोध है । तथा जहाँ गोशरीर उत्पन्न होता है वहाँ कहीं से आकर गोत्व
उसमें रहता है, वही गोत्वजाति नहीं थी, यदि होती, तो वह देश भी गोत्वजातिमान
हो जायगा (अर्थात् यदि गोशरीर के उत्पन्न होनेवाले देश में पहिले से ही वर्तमान
गोत्वजाति उत्पन्न होनेवाले गोशरीर का आश्रय करे तो उस देश (स्थल) का भी यह
गो है ऐसा व्यवहार होने लगेगा) गोत्वजाति भी गोशरीर के उत्पत्तिकाल में ही
उत्पन्न होती है, यह भी नहीं मान सकते, क्योंकि उसे नैयायिक निश्च मानते हैं । न
गोत्वजाति दूसरे गो से आती है यह भी हो सकता है क्योंकि जातिपदार्थ में क्रिया
नहीं होती । और निश्च तथा एक जातिपदार्थ नाना आधार व्यक्तियों में नहीं रह सकता
है, क्योंकि वह जातिपदार्थ संपूर्णरूप से जबवा एकदेश से व्यक्ति में रहती है वे दोनों
पक्ष नहीं माने जा सकते, क्योंकि एक गोत्वादि जातिपदार्थ संपूर्णरूप से एक ही व्यक्ति
में नहीं रह सकता, यदि रहे तो दूसरी गो में गोत्व की प्रतीति न होगी । तथा जातिरूप
अलण्ड पदार्थ का एकदेश न होने के कारण गोत्वजाति व्यक्ति में एकदेश से भी
नहीं रह सकती । इसमें बौद्धमत में यह उक्ति प्रमाण है—

न याति न च तत्रासीन्न चोत्पन्न न चाशवत् ।

जहाति पूर्वं नाधारमहो ब्वसनसत्तविः ॥

अर्थात् जातिपदार्थ कहीं जाता नहीं, न पूर्व में उस व्यक्ति स्थल में रहा, न
उत्पन्न होता है, न सावयव है, प्रथम आधार व्यक्ति को न छोड़ता है, अतः

जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसन्ततिः ॥ इति ।

सामान्यमस्ति तच्च संस्थानमात्रव्यवस्थं गोत्वघटत्वादिवत् न तु गुण-
कर्मगतमपीति सगोत्रकलहः ।

अत्रोच्यते सामान्यं नित्यं व्यापकञ्च व्यापकत्वमपि स्वरूपतः सर्वदेश-
सम्बद्धत्वम् । न देशानां गोव्यवहारापत्तिः समवायेन तद्व्यवहाराभ्यापगमात्
काले रूपादिमत्त्वेऽपि कालो रूपवानित्यप्रतीतिव्यवहारवत् । न च कालो
नास्त्येव पञ्चस्कन्धसक्षाभेदमात्रमित्यभ्यापगमादिति वाच्यम् कालस्य साधयि-

आश्चर्यं है । ऐसा जातिपदार्थ मानने का नैयायिकों को एक प्रकार का व्यसन लग गया
है । (इन प्रमाण में यह है 'न याति' इससे यदि जाति में गमन माना जाय तो वह
सक्रिय हो जायगी, तथा 'तत्रासीत्' इस वाक्य से देश में गोत्व की आपत्ति,
तथा 'नचोत्पन्न' इस वाक्य से अनित्यता की आपत्ति एवं 'न चावयत्' तथा
जहाति इन वाक्य से भी कार्त्स्न्यकदेशविकल्प की अनुपपत्ति नैयायिक मत पर सूचित
की है) । (इस प्रकार बौद्धमत से जातिपदार्थ मानने में आपत्ति दिखाकर गुण-
त्वादजाति को नहीं माननेवाले, किन्तु वेद को प्रमाण मानने से समान गोत्र-
वाले भीमासकों की भी जातिपदार्थ के विषय में आपत्ति दिखाते हुए शकरमिश्र
आगे कहते हैं कि—जाति पदार्थ है, किन्तु वह केवल व्यवसंस्थानरूप आकार
से प्रपट होता है जैसे गी के आकार में गोत्व, घट के आकार से घटत्व, गुण कर्म
आकाररहित होने से गुणत्व कर्मत्वादि जातियाँ नहीं है ऐसा सगोत्र भीमासकों का
भी सङ्ग है ।

(दोनों मतों का क्रम से समाधान करते हैं कि)—यहाँ ऐसा हमारा कहना है
कि सामान्य पदार्थ पूर्वकथित प्रकार से नित्य तथा व्यापक भी है । जिसमें सपूर्ण
देशों में सम्बन्ध होना भी व्यापकता है । देशों में गोव्यवहार की बौद्ध की दिखाई
हुई आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि नैयायिक समवायसम्बन्ध से व्यक्तियों में
जाति का व्यवहार मानते हैं, जिस प्रकार कालिकसम्बन्ध से रूपाध्य भी काल में
'काल रूपवान् है' ऐसी प्रतीति तथा व्यवहार समवायसम्बन्ध से उसमें रूप न रहने
से नहीं होते । (अर्थात् काल के समान देशिकसम्बन्ध से देश में गोत्वजाति के
रहने पर भी समवायसम्बन्ध में देश में गोत्व न होने के कारण वह देश गी नहीं
हो सकता ।) काल का दृष्टान्त ही असिद्ध है क्योंकि काल हो में प्रमाण
नहीं है । इस आशय से बौद्ध की पुनः शंका दिखाकर उसका क्षण्डन
करते हुए शकरमिश्र कहते हैं कि)—'रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा तथा
संस्कार नामक पाच स्कन्धमात्र काल हैं ऐसा हम बौद्ध मानते हैं' ऐसा भी
बौद्ध नहीं कह सकते क्योंकि हम आगे अतिरिक्त कालपदार्थ की सिद्धि करेंगे ।

प्यमाणत्वात् । तथा च यत्र पिण्ड उत्पद्यते तत्राद्यमेव गोत्व तेन सम्बध्यते जातः सम्बद्धश्चेत्येकः काल इत्यभ्युपगमात् । एतेन कोटरयाश्रये वर्तते इत्यत्र यत्र प्रतीयते इत्युत्तरम् । कुत्र प्रतीयते इत्यत्र यत्र वर्तते इत्युत्तरम् । गोत्व-वृत्तेः पूर्वं न पिण्ड कोटगासीदित्यत्र नासीदित्येवोत्तरम् । एवञ्च “न याति न च तत्रासीत्” इत्यादिकं परिदेवनमात्रम् । अतद्व्यावृत्तिरेव गोत्वमित्यत्र गौग्यमिति विधिमुख्य प्रत्यय एव बाधकः । न ह्यनुभवोऽपि व्याख्यायते तदुक्तम्—

अर्थात् उपरोक्त पक्षरूप के अन्तर्गत अत्यवधिज्ञान ही दाघ समुदायादिरूप काल-पदार्थ होने से बौद्धमत से कालिकसम्बन्ध के न होने से ‘इस समय घट है’ इत्यादि प्रतीति बौद्धमत में मधोमसम्बन्ध से घटाधारदेश ही को विषय करती है, कालिक-सम्बन्ध से नहीं, तथा कालरूप रसादि विज्ञान में रूपसम्बन्ध न होने से भी काल रूपवान् है इत्यादि प्रतीतियों की आपत्ति न आ सकेगी ।

(पूर्वप्रदर्शित बौद्धमत के जातिपदार्थ विषय में आपत्तियों का क्रम से उत्तर देते हुए आगे शंकरमिश्र कहते हैं कि)—ऐसा होने से जिस स्थल में गोशरीर उत्पन्न होता है वहा रहनेवाला ही गोत्वसामान्य उस गोशरीर से सम्बद्ध होता है क्योंकि गोशरीर उत्पन्न हुआ और गोत्वजाति से सम्बद्ध हुआ यह एक ही काल है ऐसा नैयायिकों का मत है । इस कथन में किस प्रकार के आधार में जाति रहती है ? इस पूर्वोक्त बौद्ध के प्रश्न में जहा गोत्वजाति की प्रतीति होती है वहा रहती है, यह उत्तर नैयायिकों का है तथा कहा जातिकी प्रतीति होती है ? इस प्रश्न का जहा जाति रहती है वहा प्रतीति होती है यह उत्तर है । गोत्वजाति के रहने के पूर्व वह गो कौसी थी ? इस प्रश्न का उत्तर है कि वह गो नहीं ही थी । एवं च ऐसा होने से ‘न याति न च तत्रासीत्’ इस प्रमाण द्वारा बौद्धों का जातिपदार्थ का खण्डन करना केवल अवहेलना (अपमान) मान्य करना है । (यही पर नैयायिकों के लक्षण का यह आशय है कि जिस प्रकार लघिकविज्ञानवादी बौद्धों के मत में जसत् रूप भी पूर्वविज्ञान उत्तरविज्ञान में अदृष्टफल को उत्पन्न करता हुआ प्रगट होता है उसी प्रकार ‘व्यकथाकृतिज्ञानय पदार्थः’ भ्या० सू० व्यक्ति, आकृति तथा जाति तीनों के अनुसार समुदाय को पद का अर्थ मानने वाले नैयायिकमत में भी व्यक्ति को उत्पत्ति के समय उसमें वर्तमान ही जाति प्रगट होती है ऐसा मानने में कोई दोष नहीं है) । (इसी प्रकार भावरूप जातिपदार्थ न मानकर बौद्धमतानुसार अभावरूप जाति मानने में बाधक प्रमाण देते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—‘अतद्व्यावृत्ति’ ही गोभित्त अश्वदि मे भेद ही गोत्वजाति है इस बौद्धमत में ‘यह गो है’ इस प्रकार भावपदार्थ को वर्णन करनेवाला जातिज्ञान ही बाधक है । क्योंकि इस प्राणिमान के अनुभव से

‘विधिज्ञः प्रत्ययोऽन्योऽयं व्यतिरेकासमर्थकः’ इति ।

न हि गौर्यमिति प्रत्ययेऽगोव्यावृत्तिरपि भासते । काऽस्नैकदेश-
विकल्पस्तदा भवेत् यद्येकस्य सामान्यस्य कास्नै भवेदेकदेशो वा । कृत्स्नता
एतेकाशेषता सा चैकस्मिन्नोपपन्ना । गौर्यमित्याद्यनुभव एवासद्विषयो न
वस्तुव्यवस्थापनक्षम इति । अत्रोत्तर वक्ष्यते ।

प्राभाकरास्तु सत्थानमात्रव्यङ्ग्यं सामान्यमाचक्षते । सद्बन्धनुगतप्रतीति-
साक्षिकं सदा किमपराद्ध गुणकर्मगतैः सामान्यैः भवति हि रूपरसादाधनुगतधीः
सा च जातिव्यवस्थापिकैव बाधकामावात् । रूपत्वादिजातिषु न तावद्व्यक्तय-

सिद्ध भावरूप जातिज्ञान की व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है । अतएव प्राचीन
नैयायिकों ने कहा है—‘विधिज्ञः प्रत्ययोऽन्योऽन्यव्यतिरेकामर्थकः’ इति यथात् विधि
(भावरूप) से उत्पन्न, प्रत्यय = ज्ञान, अन्य = दूसरा, अय = यह, व्यतिरेकासमर्थकः =
अभावरूप का समर्थन नहीं कर सकता, ऐसा । गी है इस ज्ञान में गोभिन्न के भेद की
प्रतीति भी नहीं होती । बौद्ध का दिखाया हुआ साकल्य से जाति व्यक्ति में रहती है कि
एकदेश से इस प्रकार का विकल्प तो तब होगा यदि एक अखण्ड जातिपदार्थ में
सकलतारूप कास्नै हो अथवा उसका एकदेश हो, क्योंकि अनेकों की कृत्स्नता
सम्पूर्णता होती है (अर्थात् उद्देश्यता निवामक का व्यापक यावत्त्व ही है अशेषत्व) वह
एक में नहीं हो सकता । (तथा अखण्ड एक होने से उसका एकदेश (अंश) भी
नहीं हो सकता । यदि बौद्ध कहे कि यह भी है इत्याकारक अनुभव ही गोभिन्न भेद-
रूप अभावविषय में होता है न कि सत् (भाव) कर जातिविषय में तो इसका उत्तर
असंवाद के खण्डन के समय आगे कहेंगे ।

वेद को प्रमाण मानने के कारण हमारे सभी प्रभाकर भीमासक ने जो आकार-
मान ही से जाति व्यक्त होती है ऐसा कहा है उसमें हम यह कहते हैं कि वह आकार
अध्य जाति यदि अनुगत बुद्धि से सिद्ध होती है तो गुण तथा कर्मगत गुणत्व, कर्मत्व
जातियों ने क्या अपराध किया है, क्योंकि रूपरसादि गुण में भी यह गुण है । ऐसी
प्रतीति होती है, और वह जाति गुणत्वादि जातियों की भी व्यवस्थायक है, क्योंकि
संस्की जातिता में व्यक्त्य भेदादि कोई दोष बाधक नहीं है । कारण यह कि—

‘व्यक्तेरभेदस्तुन्यत्वं सद्गुरोऽप्यानवस्थितिः ।

रूपरसानिरपम्बन्वो जातिबाधकसंग्रहः ॥’

अर्थात् आधार व्यक्ति का एक होना, समानता, साकार्य, अनवस्था, रूपरसानि,
असम्बन्ध, इतने जाति के बाधक होते हैं इस उदयनाचार्य की उक्ति से जातिबाधको
के विशेषों के अभाव से गुणत्वादिक भी जाति हो सकती हैं इस अभिप्राय से क्रम से
गुणत्व कर्मत्वादि जातियों में जातिबाधको का निरास करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं
कि—रूपत्व-रसरसादि जातियों में आकाश एक व्यक्ति में रहनेवाली आकाशत्वजाति के

भेदो बाधक आकाशत्वादिवत्, रूपरसादिव्यक्तीनामनेकत्वात् । नापि बुद्धित्वज्ञानत्वादिवत् घटत्वकलसत्वादिवद्वा तुल्यत्वं बाधकम् । तच्चान्यूनानति-
रिक्तव्यक्तिकत्वम् गुणत्वापेक्षया न्यूनव्यक्तिकत्वात् नीलत्वाद्यपेक्षया बाधक-
व्यक्तिकत्वात् । अत एव न सङ्कटः भूतत्वमूर्चत्ववत्, परस्परात्यन्ताभावसामा-
नाधिकरण्ये सति जात्यन्तरेण सामानाधिकरण्याभावान् । नाप्यनवस्था रूपत्व-
दिगतसामान्यान्तरानभ्युपगमात् । नापि रूपहानिविशेषत्ववत्, यदि विशेषाः
द्रव्याग्निसत्वे सति जातिमन्तः स्युः गुणाः कर्माणि वा स्युः विभुवृत्तित्वे सति
यदि जातिमन्तः स्युर्गुणाः स्युरिति यथा विशेषपदार्थस्वरूपहानिस्तथा प्रकृतेऽभा-
वात् । नापि समवायत्ववदसम्बन्धः समवाये समवायाभ्युपगमेऽनवस्थाभयात्-

समान रूपत्वादि जातियो का आचार व्यक्तियों का अनेक बाधक नहीं हो सकता,
क्योंकि रूपरस इत्यादि गुण व्यक्ति अनेक हैं तथा बुद्धित्व तथा ज्ञानत्व, घटत्व
तथा कलशत्व के पर्याप्त (नाम) मात्र का भेद होने से जिस प्रकार ज्ञानत्व तथा बुद्धित्व
अथवा घटत्व तथा कलशत्व दो जाति नहीं होतीं, उसी प्रकार रूपत्व-रसत्वादि जाति में
समानता भी बाधक नहीं है । क्योंकि न्यून तथा अधिक व्यक्तियों में न रहना ही समानता
होती है । प्रकृत में ऐसा नहीं है, क्योंकि गुणत्वजाति की अपेक्षा से रूपत्वादि जातियाँ
न्यून व्यक्तियों में रहती हैं तथा नीलत्वादि जातियों की अपेक्षा से वह अधिक रक्तादि-
व्यक्तियों में रहती हैं । इसीसे भूतत्व तथा मूर्तत्व के समान साकार्यदोष भी नहीं है,
(परस्पर अभाव के आश्रय में रहते हुए एक आश्रय में रहना यह साकार्य दोष कहा जाता
है, जिस प्रकार भूतत्व के अभाववाले मन में मूर्तत्व है, तथा मूर्तत्व के अधिकरण
आकाश में भूतत्व है, और भूतत्व मूर्तत्व दोनों पृथिवी, जल, तेज तथा वायु इन चारों
में रहते हैं, अतः साकार्य है । उसी प्रकार परस्पर के अभाव का आश्रय
में रहने हुए दूसरे जाति से एक आश्रय में वर्तमानता न होने से (रूप-
त्वादि जातियों में साकार्य भी बाधक नहीं है) तथा रूपत्वादि जातियों
में रूपत्वत्व उसमें भी रूपत्वत्व इत्यादि दूसरी जातियाँ न मानने के कारण अनवस्था
(अप्रामाणिक अनन्तपदार्थ कल्पना) दोष भी नहीं हो सकता । एवं विशेषत्व जाति
मानने के समान रूपत्वादि जाति मानने में स्वरूपहानि दोष भी नहीं है, यदि विशेष
पदार्थ द्रव्याश्रित होते हुए जाति के आश्रय हो तो वे गुण अथवा कर्मपदार्थ में अन्तर्गत
हो जायेंगे, एवं व्यापको में रहते हुए जाति के आधार हों तो गुण में अन्तर्गत हो
जायेंगे, इस प्रकार जैसे विशेषपदार्थ के स्वरूप की हानिरूप दोष आता है उस
प्रकार रूपत्वादि जाति मानने में स्वरूपहानिरूप दोष नहीं आ सकता और नहीं
समवायत्व के जातिबाधक के समान समवायसम्बन्ध न होना रूपत्वादि जाति मानने
में बाधक हो सकता है क्योंकि समवाय में दूसरा समवाय मानने से अनवस्थादोष के
भय हैं असम्बन्ध समवायत्व जाति मानने में बाधक हो सकता है, प्रकृत में रूपत्वादि

थास्तु, प्रकृते तु समवायस्यैव सम्बन्धस्याभ्युपगमात् । यद्यपि समवायत्वजाति-
बाधको व्यक्त्यभेद एव तथापि यन्मते उत्पादविनाशशीलाः बहवः समवाया-
स्तन्मते द्रष्टव्यम् । अभावत्वादिजात्यभ्युपगमे वा बाधकमेतत् । विवादपदमनु-
गतबुद्धिः अनुगतनिमित्तसाम्या अबाधितानुगतमतिवत्त्वात् दामकुसुमबुद्धिवत्
इति जातो मानमिति वृत्तिकारास्तचिन्त्यम् ॥ ३ ॥

सामान्य विशेष इति द्वैविध्यं यदुक्तं तदुपपादयन्नाह—

भावोऽनुवृत्तेरेव हेतुत्वात् सामान्यमेव ॥ ४ ॥

भावः सत्ता अनुवृत्तेरेव हेतु न तु व्यावृत्तेरपि हेतुः । तथा च विशेषसंज्ञां
न लभते ॥ ४ ॥

जातियो का रूपादि आधार व्यक्तियो में समवाय ही मानने के कारण असम्बन्ध रूप-
त्वादि जातियो के स्वीकार करने में बाधक नहीं हो सकता । यद्यपि समवायरव जाति
मानने में समवायरूप आधार व्यक्ति के एक होने से व्यक्ति का अमेद होना ही बाधक
हो सकता है, तथापि जिनके मत में उत्पत्ति तथा विनाशस्वभाव अनेक समवाय माने
जाते हैं उनके मत से असम्बन्ध को समवायरव जाति का बाधक कहा है । अथवा
अभाव में अभावत्व जाति के मानने में असम्बन्ध को बाधक मानकर यह कहा है
क्योकि अभाव का भी समवायसम्बन्ध नहीं होता किन्तु स्वरूपसम्बन्ध । विवादप्रस्त
अनुगतज्ञान, अनुगत (एक) निमित्त से होता है, बाधारहित अनुगतज्ञान
अनुगत (एक निमित्त) से होता है । बाधारहित अनुगतज्ञान न होने से माला
में गुये पुष्पो के ज्ञान के समान, (यहाँ मानात्मक ज्ञान के वारणार्थ ब्रह्माक्षित
पद दिया है) ऐसा अनुमान ही जातिपदार्थ अतिरिक्त मानने में प्रमाण है ऐसा
वृत्तिकार का मत है, जो विचारणीय है । (यहाँ चकरमिश्र ने 'विचारणीय है' इस
शक्ति से उक्त अनुगत धर्मप्रकारक ज्ञान प्रत्यक्ष सिद्ध होने से उसमें अनुमानप्रमाण
की कोई आवश्यकता नहीं है, तथा इस अनुमान से वह अनुगत बुद्धि का निमित्त बोद्धो
द्वारा माना हुआ अनदव्यावृत्ति ही क्यो न सिद्ध होगा ऐसी वृत्तिकार के मत में अपनी
अथवा सूचित की है) ॥ ३ ॥

(चतुर्थ सूत्र का अवतरण इस प्रकार चकरमिश्र दिखाने हैं कि)—सामान्य तथा
विशेष इस प्रकार जातिपदार्थ जो दो प्रकार के पूर्व में कहे हैं उसी का सम १ : ५
हुए सूत्रकार कहते हैं कि—

पदपदार्थ—भाव=सत्ता, अनुवृत्ते एव = अनुगत बुद्धि का ही, हेतुत्वात् = कारण
होने से, सामान्य एव = सामान्य ही है ।

भावार्थ—सामान्य तथा विशेष नामक दो प्रकार की जातियो में सत्ता नामक
जाति अनुगत बुद्धि का ही कारण होने से वह केवल सामान्यरूप ही जाति है नकि
विशेषरूप ॥ ४ ॥

केषां सामान्यानां विशेषसंज्ञेत्यपेक्षायामाह—

द्रव्यत्व गुणत्व कर्मत्वञ्च सामान्यानि विशेषाश्च ॥ ५ ॥

चकार पृथिवीत्वादीनि-द्रव्यगतजातीः, रूपत्वादीनि-गुणगतजातीः उत्क्षेपणत्वादोनि-कर्मगतजाती. समुच्चिनोति । द्रव्यत्वमित्यादावसमास परस्परं व्याप्यव्यापकभावाभावसूचनार्थः । सामान्यानि विशेषाश्चेत्यत्राऽसमासः सामान्यत्वे सस्येव विशेषत्वं यथा ज्ञायेत् तदर्थम्, अन्यथा सामान्यविशेषा इति पट्टीसमासभ्रमः स्यात्, तथा च सामान्यत्वे सति विशेषत्व न प्रतीयेत । ननु द्रव्याकारानुगतमतिसाक्षिकं न द्रव्यत्वम्, पृथिव्यादौ कथञ्चित् तत् सत्त्वेऽपि व्याकाशादौ तदसम्भवात् । न च गुणत्वावच्छिन्नकार्यसमवायिकारणसाधच्छेदकतया तत्सिद्धिं नित्यानित्यवृत्ततया गुणत्वस्य कार्यसामवच्छेद-

उपस्कार—भाव नाम सत्ता अनुवृत्ति ही की कारण है, नकि व्यावृत्ति (भेद) की भी कारण । इस कारण विशेष सत्ता को नहीं प्राप्त करती ॥ ४ ॥

किन जातियों की विशेष सत्ता है ? इसे जानने की अपेक्षा में सूत्रकार कहते हैं—
पदपदार्थ—द्रव्यत्व=द्रव्यत्व, गुणत्व=गुणत्व, कर्मत्व च = और कर्मत्व भी, सामान्य = सामान्य नामक, विशेषा च = और विशेष नामक भी हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—द्रव्यत्व, गुण तथा कर्मत्व एव चकार से संपृहीत पृथिवीत्व, रूपत्व, उत्क्षेपणत्वादि जातियां भी सामान्य तथा विशेष नामक भी हैं ॥ ५ ॥

उपस्कारः—(सूत्र में) चकार पृथिव्यादि भी द्रव्यों में रहनेवाली पृथ्वीत्व, जलत्वादि जाति तथा रूपादि बहुविसति गुणों में वर्तमान रूपत्वादि जाति तथा उत्क्षेपणादि पाच कर्मों में वर्तमान उत्क्षेपणत्वादि जातियों का संग्रह करता है । सूत्र में 'द्रव्यत्वगुणत्व कर्मत्वानि' ऐसा समस्त पद, द्रव्यत्व, गुणत्व तथा कर्मत्व जातियों का परस्पर व्याप्य-व्यापकभाव नहीं है यह सूचित करने के लिए नहीं रखता । तथा 'सामान्यानि-विशेषाश्च' यहाँ पर सामान्यरूप होते हुए ये विशेषरूप भी होते हैं यह जानने के लिए 'सामान्यविशेषा' ऐसा समस्तपद नहीं दिया है । नहीं तो 'सामान्यविशेषा' इस समस्तपद में 'सामान्यविशेषा' ऐसा पट्टीतत्पुरुष समास का भ्रम होने से द्रव्यत्वादि जातियां सामान्यरूप होते हुए विशेषरूप भी हैं यह ज्ञान न होगा । यहाँ पर पूर्वपक्ष ऐसा हो सकता है कि 'द्रव्य है द्रव्य है' इत्याकारक अनुगतज्ञानरूप प्रत्यक्ष-प्रमाण से (द्रव्यत्व जाति) सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि पृथ्वी, जल आदि द्रव्यों में किसी प्रकार द्रव्यत्वजाति के होने पर भी वायु, आकाश, काल इत्यादि द्रव्यों 'द्रव्यं द्रव्यं' ऐसा प्रत्यक्ष न होने के कारण (द्रव्यत्वजाति कैसे सिद्ध हो सकती है) । गुणत्व-विशिष्ट सम्पूर्ण गुणरूप काम के समवायिकारण द्रव्यों में वर्तमान समवायिकारणता के नियामकरूप होने से द्रव्यत्वजाति की सिद्धि हो सकती है, ऐसा नहीं कह सकते, नित्य तथा अनित्य दोनों प्रकार के गुणों में गुणत्वजाति के रहने के कारण

कत्वान्, गुणत्वार्थमपि पर्यनुयोगस्य सादृश्यत्वात्। मैवम् संयोगत्वाव-
च्छिन्नकार्यसमवायिकारणतावच्छेदकतया द्रव्यत्वसिद्धेः। सा हि न पृथिवी-
त्वावच्छेद्या न्यूनवृत्तित्वात्, नापि सत्तावच्छेद्याऽधिकवृत्तित्वात् अवश्यं
ह्यवच्छेदकेन भवितव्यम्, अन्यथाऋत्तिकतावत्तेः। तत्र परमाणुषु द्व्यणुकासम-
वायिकारणवत्तया द्व्यणुकेषु त्र्यणुकासमवायिकारणवत्तया विभुचतुष्टयस्य सर्व-
मूर्तसंयोगितयैव सिद्धेः नमसि इन्द्रियमन-सयोगाधारतया वायौ तृणादिनोद-
नाश्रयतया प्रत्यक्षद्रव्येषु प्रत्यक्षतयैव संयोगाभ्युपगमस्यावश्यकत्वात्। अजस्तु

गुणत्वजाति द्रव्यरूप कारणों में वर्तमान कारणता को निरूपित करनेवाली गुणों में
वर्तमान कार्यता की नियामक नहीं हो सकती, (क्योंकि न्यून नया अधिक में न रहनेवाला
ही धर्म नियामक होता है, नित्यगुणों में रहने से जो किसी के कार्य नहीं होते गुणत्व
अधिक में रहने से द्रव्यनिष्ठ कारणतानिरूपित गुणनिष्ठकार्यता का नियामक नहीं हो
सकता) तथा गुणत्वजाति के लिए भी प्रश्न उसी प्रकार हो सकता है (अर्थात् गुणत्व जाति
कैसे सिद्ध होती है यह प्रश्न समान ही है) तस्मात् द्रव्यत्वजाति सिद्ध नहीं हो सकती।
(इस पूर्वगम के समाधान में शंकरमिश्र कहते हैं कि)—ऐसा नहीं, क्योंकि सामान्यरूप
से संपूर्ण संयोगरूप कार्यों में वर्तमान कार्यता में निरूपित द्रव्यों में वर्तमान समवायि
कारणता के नियामक होने से द्रव्यत्वजाति सिद्ध होती है। अर्थात् संयोगत्वविशिष्ट
संपूर्णसंयोग में वर्तमान कार्यता से निरूपित द्रव्यों में वर्तमान कारणता किसी धर्म से
मुक्त है, कारणता होने से, घटकधर्म निरूपित दण्ड में वर्तमान कारणता के समान इस
अनुमान से वह अनुमानतिरिक्त में वर्तमान धर्म द्रव्यत्व ही होगा इस प्रकार
द्रव्यत्वजाति की सिद्धि होती है। (इसी का आगे शंकरमिश्र स्पष्टीकरण करते हैं
कि)—इस संयोग में वर्तमान कार्यता निरूपित द्रव्य में वर्तमान कारणता का नियामक
धर्म पृथिवीत्वादिक नहीं हो सकता, क्योंकि न्यून में वर्तमान है, न सत्ता जाति उस
कारणता की नियामक हो सकती है, क्योंकि वह गुण तथा कर्मों में रहने से अधिक
में रहती है। उक्त कारणता का नियामक धर्म तो अवश्य मानना पड़ेगा, नहीं तो संयोग-
रूप कार्य आकाशिक होने लगेगा, (अर्थात् द्रव्यों को छोड़कर गुणादिकों में संयोग-
रूप कार्य क्यों नहीं होता यह आपत्ति आ जायेगी। उसमें परमाणुरूप द्रव्यों में दृष्टशून्य
कार्य के असमवायिकारण होने से द्व्यणुकों में त्र्यसरेणुरूप कार्य के असमवायिकारण
होने से तथा आकाश, काल, दिक् तथा आत्मा इन चार व्यापक द्रव्यों में सम्पूर्णमूर्तद्रव्यों
की संयोगिता होने से एष मन में इन्द्रिय तथा मन के संयोग का आशय होने से, वायु
में तृणादिकों के नोदन नामक संयोग के आधार होने से तथा प्रत्यक्ष द्रव्यों में प्रत्यक्ष से
ही संयोग मानना आवश्यक है। नित्यसंयोग तो है नहीं, यदि होता तो कम तदा
नित्य दोनों प्रकार के संयोगों में वर्तमान होने के कारण संयोगत्वजाति अधिक
वृत्ति होने से संयोग में वर्तमान कार्यता की नियामक न होती। यदि नित्य संयोग माना

संयोगो नास्त्येव येन संयोगत्वस्यापि कार्यकार्यवृत्तिनया कार्यतावच्छेदकता न स्यात् । एवं विभागसमवायिकारणतावच्छेदकतयाऽपि द्रव्यत्वसिद्धेः सुप्रति-
पदत्वात् ।

गुणत्वन्तु संयोगविभाग समवायिकारणत्वासमवायिकारणत्वशून्ये सामा-
न्यवति यत् कारणत्व तद्वच्छेदकतयैव सिद्धमित्युक्तत्वात् । कर्मत्वमपि प्रत्य-
क्षद्रव्येषु चलतीति प्रत्ययसाक्षिकम् । अन्यत्र तु संयोगविभागानुमेयम् संयोग-
विभागोभयासमवायिकारणतावच्छेदकतयाऽपि कर्मत्वसिद्धेरावश्यकत्वात् ।
अत एवादित्यस्य देशान्तरप्राप्त्या गत्यनुमानम्, तत्र च देशान्तरस्याकाशादेरतो-
न्द्रियत्वैऽपि तत्किरणसंयोगविभागयोस्तन्मण्डलेन प्रत्यक्षत्वात् तत एव गत्य-

ही जाय तो भी हम द्रव्यत्वजाति की सिद्धि इस प्रकार कर सकते हैं । (इस आशय से शंकरमिश्र कहते हैं कि)—विभागरूप कार्य में वर्तमान कार्यता से निरूपित द्रव्य में वर्तमान समवायिकारणता के नियामक होने से भी द्रव्यत्वजाति की सिद्धि हो सकती है, (क्योंकि जिस प्रकार संयोगरूप कार्य में द्रव्य ही समवायिकारण होते हैं अर्थात् द्रव्यों में ही संयोग होता है उसी प्रकार विभागरूप कार्य भी द्रव्यों में ही होता है यह नियम है) । यहाँ भी संयोग के समान अनुमान का प्रयोग ज़रूरी चाहिए ।

(इसी प्रकार गुणत्वजाति की सिद्धि दिखाते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—संयोग तथा विभाग कार्य में जो समवायि तथा असमवायिकारण न हों तथा सामान्याश्रय हों । ऐसे गुणों में वर्तमान जो कारणता उस कारणता के नियामक धर्मरूप से गुणत्वजाति की सिद्धि होती है (यहाँ भी पूर्वोक्त प्रकार से मिलित संयोग तथा विभाग की कारणता से शून्य ऐसा जगत् लेना चाहिए नहीं तो संयोगविशेष में कारण संयोग में अव्याप्ति दोष आ जायगा । इसी प्रकार विभाग में भी यह जान लेना चाहिए । (इसी प्रकार कर्मत्वजाति की सिद्धि करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—कर्मत्वजाति तो 'चलति' चलता है, जाता है इत्यादि कर्मों के प्रत्यक्ष सिद्ध होने के कारण प्रत्यक्ष द्रव्यों में प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है, अप्रत्यक्ष द्रव्यों में संयोग तथा विभागरूप क्रिया के कारणों से क्रिया की अनुमान से सिद्ध हो सकती है, क्योंकि संयोग तथा विभागरूप कारणों में वर्तमान कर्मता से निरूपित क्रिया में वर्तमान कारणता के नियामक धर्मरूप से भी कर्मत्वजाति की सिद्धि होना आवश्यक है । कर्म के संयोगादि कार्य में कारण होने से ही सूर्यनारायण की गति का देशान्तर संयोगरूप प्राप्ति से सूर्य गतिवाने हैं देशान्तरप्राप्ति होने ॥ ऐसा अनुमान होता है । उस अनुमान में आकाशादिरूप देशान्तर (भिन्न देश) के स्पर्शरहित होने के कारण अप्रत्यक्ष होने पर सूर्य के किरणों के संयोग तथा विभागों का सूर्यमण्डल से प्रत्यक्ष होता है, उसी देशान्तरप्राप्ति से सूर्य की गति का पूर्वोक्त अनुमान होता है । अर्थात् आकाशरूप देशान्तर के अतीन्द्रिय होने पर यहाँ सूर्यमण्डल ही देशान्तर है उससे उसके किरणों के संयोग तथा विभाग के प्रत्यक्ष होने

नुमानम् । देशान्तरप्राप्तिमान् आदित्यः अविनाशित्वे द्रव्यत्वे च सति प्राङ्मुखोपलब्ध्यस्य प्रत्यङ्मुखत्वेन तेनैवोपलब्ध्यतया प्रत्यभिज्ञायमानत्वादिति देशान्तरप्राप्त्या अनुमित्या आदित्यगत्यनुमानमित्युद्घोतकराचार्याः ॥ ५ ॥

ननु य एव विशेषपदार्थं उद्दिष्टं स एव किं सामान्यविशेषत्वेनाभिधीयते इति शिष्याकाङ्क्षामपनयन्नाह—

अन्यत्रान्त्येभ्यो विशेषेभ्यः ॥ ६ ॥

अन्त्या विशेषा नित्यद्रव्यवृत्तयो येऽभिहिताः तान् वर्जयित्वा सामान्यविशेषाभिधानमित्यर्थः । अन्तेऽवसाने भवन्तीत्यन्त्या, यतो न व्याप्यत्वात्तरमस्ती-

के कारण देशान्तरप्राप्ति से सूर्यगति के अनुमान में कोई बाधा नहीं आ सकती । आकाश के अतीन्द्रिय होने से उसके संयोग तथा विभागों के भी अतीन्द्रिय होने से प्रत्यक्ष न होने के कारण लिङ्ग (साधक) न होने पर भी अनुमान हो सकता है । { इस बाधय से व्यापवातिकार के मत से सिद्ध अनुमान दिखाते हुए शंकरमिश्र आगे कहते हैं कि) —सूर्य, देशान्तरप्राप्ति वांते है, अविनाशी तथा द्रव्य होते हुए जिस पूर्वाभिमुख पुरुष को दिखाई पड़कर पश्चिमाभिमुख होने पर उसी पुरुष को वही सूर्य है ऐसी प्रत्यभिज्ञा होने से इस प्रकार अनुमान से सिद्ध देशान्तरप्राप्तिरूप हेतु से पूर्वोक्त सूर्यगति का अनुमान होता है ऐसा उद्योतकर भारद्वाज आचार्य कहते हैं । यहाँ लेख तथा वस्ती के विकार के कारण प्रतिक्षण में विनाशी पूर्वाभिमुख तथा पश्चिमाभिमुखी पुरुष से देखे हुए तयार वही यह दीप है इस प्रत्यभिज्ञा विषय भी दीप से व्यभिचार निरासार्थ अविनाशी होते हुए यह विशेषण दिया है तथा सूर्य के रूप में उक्त दीप परिहारार्थ द्रव्य होते हुए यह विशेषण दिया है, इस अनुमान में प्रथम पूर्वदिशा में स्थित पश्चात् किसी द्वारा पश्चिम में ले आया हुआ मणि इत्यादिक दृष्टान्त ज्ञान सेना चाहिये ॥५॥

(पष्ठ सूत्र का अवतरण प्रश्नोक्तपूर्वक देते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि) —प्रश्न है कि जो अन्त्य विशेष पदार्थ कहा गया है क्या वही सामान्यविशेषरूप सूत्रकार ने कहा है ? ऐसी शिष्यों की जिज्ञासा के निवृत्त्यर्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अन्यत्र = छोड़कर, अन्त्येभ्यः = अन्त, विशेषेभ्यः = विशेष पदार्थों को ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमाणु आदि नित्यद्रव्यों के परस्पर भेद से 'साधक' अन्त्यविशेष पदार्थों से यह सामान्यरूप होते हुए विशेष सामान्य भिन्न हैं ॥ ६ ॥

उपस्कार—नित्य द्रव्यों में वर्तमान अन्त्यविशेष पदार्थ जो कहे हैं उनको छोड़कर सामान्य होते हुए विशेष कहे गये हैं यह अर्थ है । किन्तु अन्त में (अवसान में) होते हैं वे अन्त्य अर्थात् जिनका दूसरा भेदक नहीं है ऐसी यहाँ उदयनाचार्य की व्याख्या है । (अर्थात् एकमात्र में वर्तमान तथा जातिधूम्य विशेष कहते हैं । इसमें गुण के भी एकमात्र

त्याचार्याः । उत्पादविनाशयोरन्तेऽवसाने भवन्तीत्यन्त्या नित्यद्रव्याणि तेषु भवन्तीत्यन्त्या विशेषा इति वृत्तिकृतः । ते हि विशेषा एव व्यावृत्तियुद्धिहेतवो न सामान्यरूपा अपीति ॥६॥

सत्तासामान्यमित्यत्र बहूना विप्रतिपात्तस्तत्र प्रमाणमाह—

सदिति यतोद्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता ॥ ७ ॥

इतिकारेण यतो प्रत्ययव्यवहारयोः प्रकारमुपदिशति । तथा च द्रव्यादिषु त्रिषु सत्तदिति प्रकारको यत्र प्रत्ययः सदित् सदित्मित्याकारकः शब्दप्रयोगो वा यदधीन सा सत्ता ॥ ७ ॥

ननु द्रव्यगुणकर्मभ्यः पृथग्भावेन सत्ता नानुभूयतेऽतो द्रव्याद्यन्यतममेव

वृत्ति होन से तथा अभाव के जातिशून्य होने से उनमें अतिव्याप्तिवारणार्थ दो पद दिये हैं । यदि कोई अभाव एकमात्र में रहता हो तो उसमें उक्त दोषवारणार्थ वृत्तिता समवायमन्वय में लेने में दोष न होगा वह उदयन वर आशय है । (वृत्तिकार के मत से इस सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—व्यक्ति तथा विनाश के अन्त (अवसान) में होनेवाले अन्त्य नाम नित्यद्रव्य उनमें जो हों वे अन्त्य—विशेष ऐसा वृत्तिकार कहते हैं । वे विशेष ही हैं । भेद बुद्धिमात्र के कारण नकि द्रव्यत्वादिकों के समान सामान्य-रूप होते हुए विशेषरूप भी । (यहाँ पर वृत्तिकार के मत में सूत्र के अन्त्य इस पद में 'अन्त्या निर्याः, अन्त्याश्च नित्यद्रव्यवृत्तयश्च' ऐसे एक शेष समास मानने से नित्य होते हुए नित्य द्रव्यों में वर्तमान होना ऐसा विशेषों का लक्षण सिद्ध होता है ॥ ६ ॥

(सप्तम सूत्र का अवतरण देते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—सत्ताजाति के विषय में अनेक विद्वानों का विवाद है अतः सत्ताजाति में सूत्रकार का प्रमाण देते हैं कि—

पदपदार्थ—सत् = सत् है, इति = इस प्रकार (ज्ञान तथा व्यवहार), यत = जिससे (होता है), द्रव्यगुणकर्मसु = द्रव्य, गुण तथा कर्मपदार्थों में, सा = यह, सत्ता = सत्ता नामक सामान्य है ॥ ७ ॥

भावार्थ—जिस जाति को लेकर तो पृथ्वी आदि द्रव्य, रूप आदि चतुर्विंशति गुण तथा उत्प्रेषण आदि पाँच कर्मों में 'सत् है सत् है' ऐसा ज्ञान तथा व्यवहार होता है वह सत्ता नामक सामान्य कहाता है, अर्थात् 'सत् है सत् है' यह अनुगत बुद्धि ही सत्ता-जाति में प्रमाण है ॥ ७ ॥

उपस्कार—इस सूत्र में 'इति' इनपद में ज्ञान तथा व्यवहार दोनों का प्रकार सूत्रकार ने कहा है । ऐसा होने में द्रव्यगुण तथा कर्मों में 'सत् है सत् है' इस प्रकार का ज्ञान जिसके अधीन होता है, अथवा 'यह सत् है यह सत् है' इत्याकारक शब्द का प्रयोग (व्यवहार) भी जिसके अधीनता में होता है वह सत्ताजाति कहती है ॥ ७ ॥

सत्ता यतो हि यद् भिन्नं भवति तत्ततो भेदेनानुभूयते यथा घटः पटात्, न च सत्ता तेभ्यो भेदेनानुभूयते इति तदात्मिकैवेत्यत आह—

द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं सत्ता ॥ ८ ॥

द्रव्यादयोऽननुगतः सत्ता चानुगता । तथा च अनुगतत्वाननुगतत्वलक्षणवि-
रुद्धधर्माभ्यामेन तेभ्यो भेदस्य सिद्धत्वात् । यत्तु तेभ्योऽन्यत्र नोपलभ्यते तदयुत-
सिद्धिबलान् घटपटयोस्तु युतसिद्धिः । न च व्यक्तिस्वरूपमेव सत्ता, व्यक्तीनाम-
ननुगतान् । स्वरूपत्व यद्यनुगतं तदा सैव सत्ता, अननुगतैरपि स्वरूपैरनुगत-
व्यवहारश्चेत्तदा गोत्वादिभिरपि गतम् । अत एव यत्र सत्ता समर्थेति तादृ-

गुण तथा कर्म से भिन्न सत्ता जाति के अनुगत नहीं होता, अतः द्रव्यादित्रय में ही कोई एक द्रव्य गुण या कर्म सत्ता हो सकती है, क्योंकि जो जिससे भिन्न होता है वह उससे भिन्नरूप से जाना जाता है, जैसे घट पट से भिन्न ज्ञान होता है प्रकृत में द्रव्य, गुण तथा कर्मपदार्थों के स्वरूप से सत्ताजाति का पृथक् अनुभव नहीं होता, अतः सत्ताजाति द्रव्य, गुण तथा कर्मरूप ही है, इस शका का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि—

पदपदार्थ—द्रव्यगुणकर्मभ्यः = द्रव्य, गुण तथा कर्मपदार्थों से, अर्थान्तर = दूसरा पदार्थ है, सत्ता = सत्ता नामक जाति ॥ ८ ॥

भावार्थ—सत्ता नामक जाति, जो पृथिव्यादि द्रव्य, रूपादि चतुर्विंशति गुण तथा उत्क्षेपण आदि पञ्च कर्म पदार्थों से भी अतिरिक्त है, अर्थात् द्रव्यादि आचार (व्यक्ति) स्वरूप नहीं है ।

उपस्कार—जो द्रव्य चौबीस रूपादिगुण तथा उत्क्षेपण आदि पञ्च कर्मरूप व्यक्ति अनु-
गत नहीं है, अर्थात् व्यक्तियों में अनुगत नहीं है, और सत्ता 'सत् सत्' इस प्रकार की अनु-
गत ज्ञान की कारण होने से अनुगत है, अतः अनुगतता तथा अननुगततास्वरूप विरुद्धधर्म
के भेदक होने से द्रव्यादि व्यक्तियों से सत्ता जाति में भेद सिद्ध होता है । अर्थात् यदि
सत्ताजाति के अननुगत (भिन्न-भिन्न) द्रव्यादि व्यक्तिरूप माना जाय तो 'सत् सत्'
इत्याकारक अनुगत ज्ञान नहीं हो सकेगा । साकरमिथ्य कहते हैं कि—जो द्रव्या-
दिको से भिन्न सत्ता उपलब्ध नहीं होती इसका कारण यह है कि, द्रव्य आदि व्यक्ति
तथा सत्ताजाति यह अयुतसिद्ध (पृथक् सिद्ध नहीं) है, घट और पट ये दोनों युत-
सिद्ध (पृथक् सिद्ध) है तथा द्रव्यादि व्यक्ति अनुगत नहीं हैं इस कारण व्यक्तियों का
स्वरूप सत्ताजाति नहीं हो सकती । यदि द्रव्यादि व्यक्तियों के स्वरूप में वर्तमान
स्वरूपस्वयं धर्मअनुगत (संपूर्ण स्वरूपां में वर्तमान) होने से अनुगत हो तो वही सत्ता
कही जायगी और यदि अनुगमरहित भी व्यक्तियों के स्वरूपों से ही 'सत् सत्' ऐसा
व्यः २ विनः सत्ताजाति के माना जाय तो गो आदि ि में गो दि जा ॥

शैराधारैरेव तद्व्यवहारोपपत्तौ किं सत्तयेत्यपास्तम् । अत एवार्थक्रियकारित्वं
चा प्रामाणिकत्वं सत्त्वमित्ययुक्तं तदननुसन्धानेऽपि सन् इति प्रत्ययात् ॥ ८ ॥

भेदकान्तरमाह—

गुणकर्मसु च भावाच्च कर्म न गुणः ॥ ९ ॥

न गुणो न कर्मेति वक्तव्ये व्यत्ययेनाभिधानं न द्रव्यमित्यपि सूचयति । न
हि कर्म कर्मसु वर्तते न वा गुणो गुणेषु न वा द्रव्यं गुणे कर्मणि वा, सत्ता तु
गुणे कर्मणि च वर्तते तेन द्रव्यगुणकर्मवैधर्म्योक्तोभ्यो भिन्नैव सत्ता ॥ ९ ॥

भेदकान्तरमाह—

भी न सिद्ध होती । 'सत् सत्' ऐसे अनुगत व्यवहार होने के कारण ही जिस द्रव्यादि
व्यक्ति में सत्ताजाति समवायसम्बन्ध से वर्तमान होती है, उन व्यक्तिकरूप आधारों
से ही 'सत् सत्' ऐसा व्यवहार सिद्ध हो जायगा, सत्ता जाति मानने की क्या आवश्य-
कता है ऐसा किसी पूर्वपक्षी का यहाँ कहना भी लज्जित हो जाता है और इसी कारण
व्यर्थक्रिया को करना अर्थात् किसी कार्य को करना, अथवा 'प्रामाणिकत्वं' प्रमाण से
सिद्ध होना यही द्रव्यादिकों में सत्ताजाति कहाती है । ऐसा कुछ बौद्धादि दार्शनिकों
का मत भी असंगत है, क्योंकि कार्यकारी है अथवा प्रमाणसिद्ध है ऐसा ज्ञान न होने
पर भी 'सत्' है ऐसा ज्ञान होता हो है ॥ ८ ॥

इस (सत्ताजाति द्रव्यादि व्यक्तियों से भिन्न है) विषय में दूसरा हेतु सूचकार देते हैं—

पदपदार्थ—गुणकर्मसु च = और गुण तथा कर्मपदार्थों में भी, भावात् = रहने के
कारण, न = नहीं है, कर्म = कर्मपदार्थ, न = नहीं है, गुणः = गुणपदार्थ ॥ ९ ॥

भावार्थ—सत्ता नाम का जातिपदार्थ चौबीस गुण तथा पाँच उल्लेखनादि कर्मरूप
पदार्थों में भी रहने के कारण भी गुण या कर्मपदार्थ में अन्तर्भूत नहीं हो सकता,
क्योंकि कर्मपदार्थ कर्म में तथा गुणपदार्थ गुणों में नहीं रहता ॥ ९ ॥

उपस्कार—इस सूत्र में क्रम के अनुसार 'न गुणो न कर्म' गुण नहीं है कर्म नहीं
है ऐसा कहना प्राप्त रहते व्यर्थव्य (क्रम के उत्त्पन्न) से न कर्म है न गुण है ऐसा
कहने से 'न द्रव्य' द्रव्य भी नहीं है यह सूचित होता है । जिस कारण कर्मपदार्थ कर्मों
में नहीं रहता है अर्थात् एक क्रिया दूसरे क्रिया की आधार नहीं होती, तथा गुण-
पदार्थ गुणों में नहीं रहते, एवं द्रव्यपदार्थ, गुण अथवा कर्म में नहीं रहते, और सत्ता-
जाति गुण और क्रिया में भी रहती है, इस कारण द्रव्य, गुण तथा कर्मपदार्थ के
विरुद्धधर्माध्य होने से द्रव्य, गुण तथा कर्मरूप आधार व्यक्तियों से भिन्न है ॥ ९ ॥

उक्त विषय में दूसरा सत्ता को व्यक्तियों से भिन्न करनेवाला हेतु सूचकार
देते हैं—

सामान्यविशेषाभावेन च ॥ १० ॥

यदि सत्ता द्रव्यं गुणः कर्म वा स्यात् तदा सामान्यविशेषवती स्यात् । न च सत्तायां सामान्यविशेषा द्रव्यत्वादय उपलभ्यन्ते न हि सत्ता सत्ता द्रव्यं गुणः कर्म वेति केनास्त्रिदनुभवः ॥ १० ॥

एव सत्ताया द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरत्वमभिधाय द्रव्यत्वस्य तेभ्योऽर्थान्तर-
त्वमाह—

अनेकद्रव्यवत्त्वेन द्रव्यत्वमुक्तम् ॥ ११ ॥

अनेकं द्रव्यं समवायितया यस्यास्ति सद्नेकद्रव्यवत् । अनेकपदमिह सर्व-
पर तेन पृथक्त्वादिभ्यो भेदः, नित्यत्वन्तु सामान्यवृक्षणाप्राप्तमेव तेनावयवि-

पदपदार्थ—सामान्यविशेषाभावेन च—और सामान्य तथा विशेष के सत्ता में न होने से भी ॥ १० ॥

भावार्थ—सत्ता को व्यक्तिरूप माना जाय तो द्रव्यादिकों में द्रव्यत्वादिकों के समानसामान्यविशेषरूप धर्मवान् हो जायगी। अतः यह व्यक्तिरूप नहीं है ॥ १० ॥

उपस्कार—गुणादि रूप सत्ताजाति को सादात्म्यसम्बन्ध से गुणादि व्यक्तियों में वर्तमानता मानी जायगी' इस सत्ता के समाधानार्थ दूसरा भेदक हेतु 'सामान्यविशेषाभावेन' इस सूत्र में दिखाते हुए चरकमिथ सूत्र की व्याख्या करते हैं कि—यदि सत्ता-जाति द्रव्य, गुण अथवा कर्म हो तो वह द्रव्यादिकों के समान सामान्यविशेषा-विकरण होगी, किन्तु सत्ता में द्रव्यत्व गुणादि आदि सामान्यविशेषों की उपलब्धि नहीं होनी, क्योंकि सत्ताजाति द्रव्य है, गुण है अथवा कर्म है ऐसा किसी को अनुभव नहीं होना । (अर्थात् सत्ताजाति द्रव्यादि व्यक्तिरूप मानी जाय तो उसमें द्रव्यादिकों के समान द्रव्यरसादि विशेषणविभिन्न ज्ञान होने लगेगा ॥ १० ॥

(एकादश सूत्र का अवतरण देते हुए चरकमिथ कहते हैं कि)—इस प्रकार सत्ता-जाति का द्रव्यगुण तथा कर्मरूप आधार व्यक्तियों से भेद कहकर द्रव्यत्वजाति का भी आधार व्यक्तियों से भेद सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अनेकद्रव्यवत्त्वेन = अनेक द्रव्य समवायिकारणवान् होने से, द्रव्यत्वं द्रव्यत्वजाति, उक्तं = बही गयी ॥ ११ ॥

भावार्थ—अनेक द्रव्यमान में समवेन नित्य द्रव्यत्वजाति होती है यह सत्ता के समान कहा गया है, (अर्थात् द्रव्यत्वजाति सिद्ध कर चुके हैं) ॥ ११ ॥

उपस्कार—अनेक (बहुत से) द्रव्यवृत्तिक समवायि हों वह अनेक द्रव्यवान् होता है । यहाँ अनेक पद से संपूर्ण नौ द्रव्य व्यं सेना, जिससे केवल पृथिवी आदि द्रव्यों में वर्तमान पृथिवीत्वादि जातियों से द्रव्यत्व में भेद सिद्ध होता है । इस द्रव्यत्वजाति में भी नित्यता पूर्वप्रदर्शित जातिसामान्यसङ्गण से ही प्राप्त होती है । जिससे द्रव्यविशेषों

इयो भेदः, अनेकद्रव्यवत्त्वश्च अनेकद्रव्यमात्रसमवेतत्वं तेन सत्ताया भेदः । तेन नित्यमनेकद्रव्यमात्रसमवेतं द्रव्यत्वम्, अजं संयोगो नेष्यत इत्युक्तम् । द्रव्यत्वश्च साधितमेव । द्रव्यत्वमुक्तमिति । द्रव्यत्वमपि सत्तावदेव व्याख्यातमित्यर्थः ॥ ११ ॥

ननु द्रव्यत्वमपि जाति स्यादथादमिन्नमेव स्यात् को दोष इत्यत आह—
सामान्यविशेषाभावेन च ॥ १२ ॥

ये अनेक द्रव्यसमवेतता होने पर भी उनसे द्रव्यत्वजाति से भेद सिद्ध होता है । (इस कथन में—'द्रव्यविशेष्य मे व्यभिचारदोषकारणार्थं हो अनेक पद का सर्व ऐसा अर्थ करना ऐसा सर्वपद के देने का सार्यक्य हो सकता है, तो पृथिवीत्व के भेद के लिये यह कहना शक्यमिथ का असंगत है।' ऐसी शका नहीं हो सकती, यह सूचित होता है । क्योंकि सामान्यजातिलक्षण के नित्यपद ही से उक्त दोष का कारण हो सक्ने से पृथिवीत्व के भेद तक का शक्यमिथ ने अनुसरण किया है । (तथापि अनेक पद का सर्व अर्थ करना असंगत है, क्योंकि इसका सत्ता में व्यभिचार होने से दूसरे जाति से भेद की सिद्धि नहीं हो सकती । इस शका के समाधानार्थं शक्यमिथ कहते हैं कि)—यहाँ पर अनेक द्रव्यवत्त्व का अर्थ है, अनेक केवल द्रव्यमात्र से समवेत, ऐसा कहने से सत्ता में द्रव्यत्व का भेद सिद्ध हो जायगा (अर्थात्, जैसे इस हेतु से द्रव्यादि व्यक्तियों से भेद सिद्ध होता है वैसे दूसरी जातियों से भेद सिद्ध करना भी समान हो जायगा) । (आगे शक्यमिथ कहते हैं कि)—इस प्रकार अवयवि से भेद सिद्ध होने के लिये नित्यपद देने से नित्य तथा केवल अनेक द्रव्यों में समवेत जाति का नाम द्रव्यत्व है ऐसा सिद्ध होता है । नित्यसंयोग नहीं ही मानते ऐसा कह चुके हैं (जिससे नित्यसंयोग में अनिश्चयिदोष न होगा) । (ऐसे द्रव्यत्वसामान्य मानने में क्या प्रमाण है ? इस प्रश्न के उत्तर में शक्यमिथ कहते हैं कि)—द्रव्यत्वजाति भी सिद्ध कर चुके हैं । सूत्र के द्रव्यत्वमुक्तम् इस वाक्य का द्रव्यत्वसामान्य भी सत्ताजाति के समान व्याख्या किया गया ऐसा अर्थ है ॥ ११ ॥

उपस्कार—(संकापूर्वक ११ सूत्र का अवतरण शक्यमिथ दिखाते हैं कि)—द्रव्यत्वरूप जाति भी अपने आधार द्रव्यव्यक्तियों से अविभक्त अर्थात् व्यक्तित्वरूप ही क्यों न मानी जाय मानने में क्या दोष होगा ? इस शंका का समाधान सूत्रकार करते हैं कि—

पदपदार्थ—सामान्यविशेषाभावेन च = सामान्य तथा विशेष के द्रव्यत्व में न होने से भी ॥ १२ ॥

साधार्थ—द्रव्यत्वजाति को पृथ्वी आदि द्रव्यव्यक्तिरूप माना जाय तो उसमें सामान्य तथा विशेषों की बाधरता आ जायगी ॥ १२ ॥

यदि द्रव्यत्वं जानिद्रव्याद्यात्मिकैव स्यात् तदा तस्यां पृथिवीत्वजलत्वने-
जत्वाद्यः सामान्यविशेषाः स्युरित्यर्थः । न हि भवति द्रव्यत्वं पृथिवी जलं
नेत्रो वेति केषाञ्चिन् प्रत्यय इत्यर्थः ॥ १२ ॥

गुणत्वमाह—

तथा गुणेषु भावाद् गुणत्वमुक्तम् ॥ १३ ॥

गुणेष्वेव भावात् समवायान् गुणत्व द्रव्यगुणकर्मण्यो भिन्नं सत्तावदेशोक्त-
मित्यर्थः ॥ १३ ॥

भेदकान्तरमाह—

सासान्यविशेषामावेन च ॥ १४ ॥

उपस्कार—यदि द्रव्यत्वकृत् जाति पृथ्वी, जल इत्यादि आधारद्रव्यव्यक्ति-
स्वरूप हों तो उनमें पृथ्वीत्व, जलत्व, तेजत्व आदि सामान्यविशेष होंगे यह सूत्र का
अर्थ है, क्योंकि द्रव्यत्व, पृथिवी है, जल है, या तेज है ऐसा किसी को ज्ञान नहीं होता
यह तात्पर्य है ॥ १२ ॥

गुणत्वजाति को सूत्रकार सिद्ध करते हैं—

पदपदार्थ—गुणेषु=रूपादि चतुर्विंशति गुणो मे भावात्=वर्तमान होने से,
गुणत्व गुणत्वजाति, उक्तम्—कही गयी ॥ १३ ॥

भावार्थ—पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में वर्तमान द्रव्यत्वजाति के समान स्वरूप
इत्यादि चौबीस गुणो मे समवायसम्बन्ध से वर्तमान गुणत्वसामान्य भी कहा है
यह जान लेना ॥ १३ ॥

उपस्कार—रूपादि चतुर्विंशति गुण मे ही समवायसम्बन्ध से वर्तमान द्रव्य, गुण
तथा कर्म व्यक्तियों से भिन्न गुणत्वजाति भी सत्ता के समान कही गयी यह सूत्र का
अर्थ है । (यहाँ गुणेषु इति बहुवचन तथा 'एव' इम एवकार से शङ्करमिश्र ने सम्पूर्णता
तथा इतर मे न रहना इन दोनों के साम्य से गुणविज्ञो में अवर्तमान होते हुए सम्पूर्ण
गुण मे वर्तमानता यह गुणत्वजाति का अर्थ सूचित किया है इसी प्रकार आगे भी
जान लेना ॥ १३ ॥

द्रव्यादि व्यक्तियों से गुणत्वजाति भी भिन्न है यह सिद्ध करनेवाली सूत्रकार
द्वारा हेतु देते हैं—

पदपदार्थ—सामान्यविशेषामावेन च सामान्य तथा विशेष न होने से भी ॥ १४ ॥

भावार्थ—गुणत्वजाति को द्रव्यादि व्यक्तिरूप माना जाय तो उसमे सामान्य
तथा विशेषरूप धर्म की आधारता आ जायगी ॥ १४ ॥

यदि द्रव्यगुणकर्मभ्यो गुणत्वमतिरिक्तं न भवेत्तदा द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वं
तद्वान्तरजातिमत्तया उपलभ्येतेत्यर्थः ॥ १४ ॥

द्रव्यगुणकर्मभ्यो भेदक कर्मत्वस्याह—

कर्मसु भावात् कर्मत्वमुक्तम् ॥ १५ ॥

कर्मत्वेव भावात् समवायात् कर्मत्वमपि जात्यन्तरं द्रव्यगुणकर्मभ्यो भिन्न-
मुक्त सत्तावदित्यर्थः ॥ १५ ॥

भेदकान्तरमाह—

सामान्यविशेषाभावेन च ॥ १६ ॥

कर्मत्व यदि द्रव्याद्यात्मक भवेत्तदा द्रव्यत्वादिसामान्यविशेषतत्र समवेया-
दित्यर्थः । सेयमेकाकारा चतुसूत्रो सत्ताद्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वानां चतसृणां

उपस्कार—अदि द्रव्य, गुण तथा कर्मरूप आचार व्यक्तियो से गुणत्वजाति
मतिरिक्त न हो तो द्रव्यत्व, गुणत्व तथा कर्मत्व उसकी अवान्तरजातियो का आश्रयरूप
उपलब्ध होने लगेगा, अर्थात् गुणत्व पुष्टिही है, रूप है अथवा कर्म है ऐसी प्रतीति नहीं
होती अतः गुणत्व भी व्यक्तिरूप नहीं है ॥ १४ ॥

इसी प्रकार कर्मत्वजाति में भी सूत्रकार द्रव्य, गुण तथा कर्मरूप आश्रमों से भेद
सिद्ध करते हैं—

पदपदार्थ—कर्मसु = उत्प्रेषणादि पञ्चकर्मों में, भावात् = वर्तमान होने से, कर्मत्व =
कर्मत्वजाति, उक्तम् = कहा गई ॥ १५ ॥

भावार्थ—उत्प्रेषणादि पाँच कर्मों में ही समवायसम्बन्ध से वर्तमान होने के
कारण कर्मत्वरूप जाति भी आचारव्यक्तियों से भिन्न कही है ॥ १५ ॥

उपस्कार—उत्प्रेषणादि पाँच कर्मपदार्थों में ही समवायसम्बन्ध से वर्तमान होने
के कारण कर्मत्वजाति भी द्रव्य, गुण तथा कर्मरूप आचारव्यक्तियों से सत्ताजाति
के समान भिन्न है यह कहा गया यह सूत्र का अर्थ है ॥ १५ ॥

इसी विषय में हमारा भेदसाधक हेतु सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—सामान्यविशेषाभावेन च = सामान्य तथा विशेष के न होने से ॥ १६ ॥

भावार्थ—कर्मत्वजाति को द्रव्य, गुण तथा कर्मरूप आचारव्यक्तिरूप माना
जाय तो हममें द्रव्यत्वादिसामान्यविशेषों का ज्ञान होने लगेगा ॥ १६ ॥

उपस्कार—कर्मत्वजाति यदि द्रव्य, गुण तथा कर्मरूप आचारव्यक्ति स्वरूप हो
तो द्रव्यत्व, गुणत्व आदि सामान्यविशेषों का उसमें सम्बन्ध होने लगेगा । इस प्रकरण
में 'यहाँ पर 'सामान्यविशेषाभावेन च' इस सूत्र के चार बार कहने से पुनरुक्तिदोष
के निवारणार्थ सकरमिथ कहते हैं कि)—यह एक भी आकारवाले चार सूत्र क्रम से

जातीनां द्रव्यगुणकर्मभेदप्रतिपादनाय एकप्रकरणेनोक्त्यवधेयम् ॥ १६ ॥

ननु सत्ता द्रव्यगुणकर्मसु वर्तमाना द्रव्यत्वाद्यवच्छेदभेदेन भिन्नैव कथं न स्यादत आह—

सदितिलिङ्गाविशेषाद् विशेषलिङ्गाभावाच्चेको भावः ॥ १७ ॥

सदित्यासारक ज्ञान शब्दप्रयोगो वा सत्ताया लिङ्गम् । तच्च द्रव्यगुणकर्मसु समानमविशिष्टम् । तेन भावः सत्ता एकैव तेषु वर्तते अन्यथा द्रव्यत्वादितिस्तु-
ल्यव्यक्तिवत्तया सत्ता या न स्वात् तानि वा न स्युः । विशेषलिङ्गाभावाच्चेति ।
विशेषो भेदस्तत्र यल्लिङ्गमनुमानं तदभावाच्च न भेद इत्यर्थः । भवति हि स

सत्ता द्रव्यरूप गुणरूप, तथा कर्मरूप नाम की चार जातियों का द्रव्यगुण तथा कर्मरूप आधार व्यक्तियों से भेद-प्रतिपादनार्थं सूत्रकार ने एक प्रकरण में दिये हैं मत्र पुनर्वक्ति दोष न होगा यह जानना चाहिये । (ऐसा होने से सत्ता आदि भिन्न भिन्न पक्ष वाले द्रव्यादि भेदरूप साध्यबाले पृथिवीत्व आदि विशेषणज्ञानविशेष्यत्व के अभाव-
रूप हेतुबाले अनुमानों के पक्षहेतुभेद से भिन्न होने के कारण पुनर्वक्ति दोष नहीं है यह यहाँ सातत्य है) ॥ १६ ॥

(सत्तापूर्वक १७ वें सूत्र का अवतरण ऐसा शकरमित्र देते हैं—एक है सत्ता-
जाति द्रव्य, गुण तथा कर्मपदार्थों से वर्तमान द्रव्यत्वादिरूप विशेषण के भेद से भिन्न-भिन्न क्यों न मानी जाय ? इस सत्ता के समाधानार्थं सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—सत् इति = सत् है इस प्रकार, लिङ्गाविशेषात्=लिङ्ग में विशेष न होने से, विशेषलिङ्गाभावात् च=और भेदाधिक विशेषलिङ्ग न होने से भी, एक = एक है, भावः = सत्ताजाति ॥ १७ ॥

भाषार्थ—‘सत् सत् है’ इत्याकारक ज्ञान तथा व्यवहार रूप सत्ता जाति साधक लिङ्ग से सर्वत्र समान होने से तथा सत्ता के भेदसाधक विशेष लिङ्ग के न होने से भी सत्ता जाति एक ही है ॥ १७ ॥

उपरकार—‘सत् है’ इत्याकारक ज्ञान अथवा शब्दप्रयोगरूप व्यवहार सत्ता-
जाति का साधक लिङ्ग (हेतु) है । और वह द्रव्य, गुण तथा कर्मपदार्थों में अवशिष्ट (समान) है । तस्मात् एक ही भाव (सत्ता) जाति द्रव्यादि तीन पदार्थों में रहनी है, नहीं तो द्रव्यादि पदार्थत्रय के समान व्यक्ति (आधार) होने के कारण पर्याय होने से पटत्व तथा कलशत्व के समान या तो सत्ता जाति न होगी अथवा द्रव्यत्व गुणत्व तथा कर्मत्व दूसरी जातियों न होगी । (यदि वही कि सत्ता ही दूसरी जाति उक्त दोष के कारण न मानेंगे, तो इसका उत्तर द्वितीय हेतु से संकर मिथ ऐसा देते हैं कि)—
विशेष लिङ्ग न होने से भी (अर्थात् विशेष (भेद) में जो लिङ्ग (अनुमान) उसके

एवाय दीप इत्यनुगमस्तत्र यथा विशेषलिङ्ग दीर्घह्रस्वत्वादिपरिमाणभेदस्तथात्र विशेषलिङ्ग नास्तीति भावः ॥ १७ ॥

इति श्रीभगवत्कृष्णादसूत्रोपस्कारे शाङ्करे प्रथमाध्यायस्य
द्वितीयमाह्निकम् ।

न रहने से भी) सत्ताजानि का भेद नहीं है । जिस प्रकार वही यह दीपक है ऐसा अनुगत प्रत्यभिज्ञा ज्ञान होता है उससे जैसे विशेष लिङ्ग (हेतु) लम्बा (दीर्घ) छुट्टा (छोटा) इत्यादि परिमाण का भेद है इस प्रकार सत्ता भिन्न-भिन्न होने से कोई विशेष साधक हेतु नहीं है ॥ १७ ॥

इस प्रकार भगवत्कृष्णाद महषिकृत सूत्रोपस्कार की
शंकरमिश्रकृत उपस्कार व्याख्या में प्रथमाध्यायका
द्वितीयमाह्निक समाप्त हुआ ।

द्वितीयाध्याये प्रथमाह्निकम्

द्वितीयाध्यायस्य प्रथमाह्निकस्य नवनां द्रव्याणां लक्षणमर्थः । तत्र पृथिव्य-
स्तेजसां लक्षणप्रकरणम्, ईश्वरसिद्धिप्रकरणम्, आकाशानुमानप्रकरणम् । तत्र
प्रथमोद्दिष्टायाः पृथिव्या लक्षणमाह—

रूपरसगन्धस्पर्शरतो पृथिवी ॥ १ ॥

रूप नीलपीताद्यनेकप्रकारं पृथिव्या एव, तथाच नीलरूपसमानाधिकरण-
द्रव्यत्वव्याप्यजानिमत्प्र लक्षणम् । एवं रसः कटुकपायाद्यनेकप्रकारकः पृथिव्या-

(द्वितीयाध्याय प्रथमाह्निक)

उपस्कार — द्वितीयाध्याय के प्रथमाह्निक का पृथिवी आदि नौ द्रव्यों का लक्षण
करना विषय है । (१) उसमें भी पृथिवी, जल तथा तेज इन तीन द्रव्यों के लक्षण के
प्रकरण हैं, (२) ईश्वर के सिद्धि का प्रकरण तथा (३) आकाश के अनुमान का
प्रकरण (ऐसे तीन प्रकरण हैं) उसमें (पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में प्रथम उद्दिष्ट
क्रमप्राप्त पृथिवी के द्रव्य का लक्षण सूचकार कहते हैं—

पदपदार्थ—रूपरसगन्धस्पर्शरतो = रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्शगुण की आश्रय
पृथिवी = पृथिवी नामक द्रव्य है ॥ १ ॥

भावार्थ—शुक्ल, रक्तादि भेद में सात प्रकार के रूप, मधुर, अम्ल इत्यादि छ
प्रकार के रस तथा सुगन्ध और दुर्गन्ध नाम के दो गन्ध, तथा उष्ण-शीत आदि नाम
के तीन प्रकार के स्पर्शों में से अनुष्णाशीत नामक स्पर्श का भी समवायसम्बन्ध से
आधार द्रव्य को पृथिवी कहते हैं ॥ १ ॥

उपस्कार—नील, पीठ, रक्त, शुक्ल, हरित, कपित तथा बिज नाम के अनेक
(सप्त) प्रकार का रूप नामक गुण पृथिवी द्रव्य का ही है । अतः नीलरूप के
आश्रय में वर्तमान द्रव्यत्व की व्याप्य (अपर) पृथिवीत्व नामक जाति के आश्रय को
पृथिवी कहते हैं, यह पृथिवी का जातिघटित लक्षण जानना । (इस लक्षण में केवल
द्रव्यावध्याप्यवशात् जाति की आधारता वामुद्रव्य में होने से अतिव्याप्ति दोष के
निरासार्थ नीलरूप के आश्रय में वर्तमान ऐसा विशेषण दिया है, नीलरूपाश्रय में वामु-
त्वजाति के न रहने से उक्त दोष का निरास हो जायगा । रूप समानाधिकरण इतना
ही कहने से शुक्लरूप में रहने के कारण जलत्वजाति को लेकर जल में उक्त दोष वार-
णार्थ 'नील' पद दिया है जल में नीलरूप न रहने से अतिव्याप्ति का निरास होजायगा ।
द्रव्यत्व जाति को लेकर फिर भी जलादिको में उक्त दोषवारणार्थ द्रव्यत्वव्याप्य पद
तथा पृथिवीजलाभ्यन्तरत्वधर्म को लेकर जल में उक्त दोष के निरासार्थ जातिपद
दिया है, अन्वयस्वरूप जाति न होने से उक्त दोष का वारण हो जायगा । इसी प्रकार

मेव, तथाच कटुरससमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वं लक्षणम् । एवं कपा-
यादिपदप्रक्षेपेण लक्षणान्यूहनीयानि । गन्धो द्विविधः सुरभिरसुगन्धिश्च, तथाच
गन्धसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वं लक्षणम् तथा गन्धसमानाधि-
करण-गन्धासमानाधिकरणगुणासमानाधिकरण-जात्यधिकरणद्रव्यत्वं द्रष्टव्यम् ।
न च पाषाणादौ गन्धरसयोरननुभवान् तत्राव्यापकमिदमुभयमपीति वाच्यम्

आगे भी ऐसे पदों के जो लक्षणघटक हैं फल जान लेना चाहिए, अत्रिक विशेष उन-
उन लक्षणों में दिनाहोंगे) । (आगे रूपपदघटित लक्षण के समान रसरसघटित
लक्षण दिखाते हुये चरममिथ कहते हैं कि) —इसी प्रकार मधुर, अम्ल, लवण, कटु,
कषाय तथा तिक्त इस भेद से अनेक प्रकार का रस भी पृथिवी द्रव्य में ही है, अतः
कटुरस के आधार में वर्तमान द्रव्यत्व की व्याप्य पृथिवीत्वजाति की समवायसम्बन्ध
से आश्रय द्रव्य को भी पृथिवी कहते हैं यह पृथिवी का लक्षण है । इसी प्रकार कषाय
इत्यादि रस शुद्धों को लेकर भी पृथिवी के जातिघटित लक्षण स्वयं जान लेना
चाहिये । गन्ध नामक गुण सुरभि (सुगन्धि) तथा असुरभि (दुर्गन्धि) इस भेद से
ही प्रकार है, अतः गन्ध के आधार में वर्तमान द्रव्यत्व की व्याप्य पृथिवीत्व जाति के
आश्रय को पृथिवी कहते हैं, यह गन्धगुण को लेकर पृथिवी का अतिघटित लक्षण
जानना (इस लक्षण में द्रव्य के उत्पत्तिकाल में घटादि द्रव्यों में गन्ध गुण न होने के
कारण अतिव्याप्तिदोष-वारणार्थ 'गन्धवत्त्व' ऐसा न कहकर गन्ध के आधार में वर्तमान
ऐसा कहा है द्वितीय क्षण में उसी घट में गन्ध के रहने से उसमें वर्तमान पृथिवीत्व के
प्रथम क्षण में भी होने से उक्त दोष निवृत्त हो जायगा) ।

(चरममिथ इस प्रकार दूसरा जातिघटित लक्षण ऐसा करते हैं कि) —गन्धाधार
में वर्तमान तथा गन्ध के आश्रय में न रहने वाले जलादि गुणों के आश्रय में वर्तमान
पृथिवीत्वरूप जाति के आधार द्रव्य का पृथिवी नाम है । (इस लक्षण में गन्धासमा-
नाधिकगुणासमानाधिकरण आत्मत्व जानि को लेकर आत्मा में अतिव्याप्ति-वारणार्थ
गन्धसमानाधिकरण पद जाति में विशेषण दिया है । गन्धसमानाधिकरण द्रव्यत्वजाति
को लेकर जलादि द्रव्यों में उक्त दोषवारणार्थ गुणसमानाधिकरण विशेषण जाति में
दिया है । गन्धसमानाधिकरण होने पर भी पृथिवी रूपगुण की आश्रय है, अतः
पृथिवी में लक्षण न जाने में अव्याप्तिदोष के वारणार्थ गन्धसमानाधिकरण ऐसा
गुण में विशेषण दिया है रूप के गन्धसमानाधिकरण होने से जलादिकों में रहने वाले
शीतस्पर्शादिक ही लेने पढ़ने उनकी पृथिवीत्वजाति असमानाधिकरण है पृथिवीत्वजाति
को लेकर पृथिवी में लक्षण जाने से उक्त दोष न होगा) तथा यहाँ आत्यधिकरण तक
ही पृथिवी का लक्षण है, द्रव्यत्वपद पृथिवी द्रव्य है यह सूचित करने के लिये दिया
है), (उक्त पृथिवी लक्षण में अव्याप्ति दोष दिखकर उसका वारण करते हुए चरम,

तत्रापानतो गन्धरसयोरननुभवेऽपि तदीयमस्मसु तदुपलम्भात्, य एवावयवाः पापाणारम्भकास्त एव तद्भस्मारम्भका अपीति नात्र्याप्तिः । कथं तर्हि सुरभिः समोरणः तित्कं कारवेल्लजलाभति-प्रतीतिरिति चेन्न पाथिवोपाधिकत्वात् तयो-गन्धरसयोः । स्पर्शोऽप्यनुष्णाशीतः पाकजः पृथिव्यामेव नथाच पाकजस्पर्श-मानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वं लक्षणम् । पाकजत्वञ्च विशेषान्तरव्यङ्ग्यं पृथिवोस्पर्श एव, विशेषान्तरञ्च शिरोपलवद्भोक्तुसुमादौ स्पर्शविशेषे स्पृष्टतरम् न त्वेवं जलादिस्पर्श । यद्यप्यवयविनि पाकादग्निसंयोगान् स्पर्शादयो न जायन्ते तथापि तत्परम्पराप्रभवतया तत्रापि वैजात्यविशेषोऽनुसरणीयः ।

मिश्र कहते हैं कि)—यहाँ पर पूर्वपक्षी ऐसी सका नही कर सकता कि पापाण इत्यादि पृथिवी मे गन्ध तथा रस का अनुभव न होने से यह लक्षण नजाने से अग्याप्ति होप रसवत्त्व तथा गन्धवत्त्व दोनों मे हो जायगा' क्योंकि सामान्यरूप से उनमें गन्ध तथा रस का अनुभव न होने पर भी पापाण के भस्म मे गन्ध तथा रस की उपलब्धि होनी है, जो ही अवयव पापाणरूप पृथिवी के उत्पादक हैं वही उसके भस्म के भी उत्पादक हैं, इस कारण अग्याप्ति ही दोष न होगा । (अर्थात् जो द्रव्य जिस द्रव्य के भाग से उत्पन्न होता है वह उसके समवायिकारण का कार्य होता है इस व्याप्ति से भस्म मे पापाण के समवायिकारण पृथिवीपरमाणुओं का कार्य है यह सिद्ध होने से पापाणपरमाणुओं के पृथिवी होने से उनसे उत्पन्न पापाण मे भी उसी पृथिवीत्व हेतु से गन्धगुण की अनुमान से सिद्ध हो जायगी) । (पुन पूर्वपक्षित-मत से शंका करते हुये शंकरमिश्र कहते हैं कि)—'यदि गन्धगुण तथा छ प्रकार का रस पृथिवी मे ही है तो सुगन्धि वायु है ऐसी वायु मे गन्धगुण की एक तीता करैला का पानी है ऐसी जल में तिक्तरस की प्रतीति क्यों होती है' इसका उत्तर यह है कि—उक्त दोनों प्रतीतियों में वायु तथा जल मे गन्ध तथा रस औपाधिक है न वास्तविक है क्योंकि वायु मे तथा करैले के जल मे श्रम से सुगन्धि की प्रतीति गुलाब तथा करैलाकर पृथिवी के सन्वन्ध मे प्रतीत होती है अत्र वह स्वाभाविक नहीं है । इसी प्रकार अग्नि संयोग से परिवर्तित होने के कारण पाकज, अनुष्णाशीनस्पर्श भी पृथिवी द्रव्य मे ही है, जिसका पाकज स्पर्श के आधार मे वर्तमान तथा द्रव्यत्व की व्याप्य पृथिवीत्वजातिमत्ता भी पृथिवी का जातिघटित लक्षण जानना चाहिये ।

कठिनता (कटापन) तथा मृदुत्व (मोलायमपन एवं विशेषस्पर्श) से प्रगट होने-वाला पाकदहन भी पृथिवी का स्पर्श ही है । जो उक्त विशेषता गुलाब के फूल तथा लौंग के फूल इत्यादिको के विशेष स्पष्ट से स्पष्ट प्रतीत होती है, जो जलादिकों के स्पर्श मे नहीं है । यद्यपि अवयविद्वय मे अग्निसंयोगकर पाक से स्पर्श आदि गुण नहीं होते तथापि अवयवों की परम्पराक्रम से उत्पन्न होने के कारण उनमे भी विज्ञान स्पर्श मानना पड़ेगा (अर्थात् अवयविद्वय के स्पर्श मे अवयवों का स्पर्श

ननु लक्षणामिदं व्यतिरेकिलिङ्गमितरभेदसाधकं व्यवहारसाधकं वा ? तत्र पृथिवीतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्त्वात् यन्नेतरभिन्नं तन्न गन्धवत् यथा जलादि, इतरभेदाभावव्यापकाभावप्रतियोगिगन्धवती चेय, तस्मादितरभिन्ना । तत्रेतरभेदस्य साध्यस्य प्रसिद्धौ ततो हेतोर्व्यतिरेके सपक्षविपक्षव्यावृत्ततयाऽसाधारण्यम् अव्यतिरेके चान्वयित्वम् । अप्रसिद्धौ च अप्रसिद्धविशेषणः पक्षः । तथा च तत्र न सन्देहो, न वा सिपाधयिषा न वा तादृशिष्टज्ञानरूपाऽनुमितिः । किञ्च व्यति

कारण है और उसमें पाक कारण है, इस कारण अवयवविद्वद्भ्य के स्पर्श में भी परस्पर (क्रम) से पाकजग्यता होने से अवयव विजातीयता स्वीकार करनी पड़ेगी) ॥ (यहाँ साकरमिथ पूर्वपक्षी का आक्षेप दिनाते हैं कि)—यह पृथिवी का व्यतिरेकिलिङ्गरूप लक्षण क्या जलादिपदोदश (जल से मन तक आठ, तथा गुण से समवाय तक के ५) पदार्थों से पृथिवी में भेद सिद्ध करता है, अथवा 'यह पृथिवी है' ऐसा व्यवहार सिद्ध करता है । उसमें पृथिवी, जलादिको से भिन्न है, गन्धाश्रय होने से, जो जलादि, जल, दिको से भिन्न नहीं होता, वह गन्धाश्रय नहीं होता, जैसे जलादिकजलादि भेद के अभाव के व्यापक गन्धाभाव के प्रतियोगी गन्धवाली यह पृथिवी है, तस्मात् गन्धाश्रय होने से जलादिको से भिन्न है । (अर्थात् प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमनरूप पाँच अवयव वाक्ययुक्त पृथिवी में जलादि भेदसाधक अनुमान होगा) । इस अनुमान में जलादि भेदरूप साधने यदि प्रसिद्ध है तो जिसमें साध्य प्रसिद्ध है उस सपक्ष में यदि गन्धवत्त्व हेतु नहीं रहता ऐसा माना जाय तो निश्चिन साध्यवाले सपक्ष तथा निश्चित साध्याभावाश्रय विपक्ष दोनों से गन्धवत्त्व हेतु के व्यावृत्त होने के कारण असाधारण दोष माने के कारण गन्धवत्त्व हेतु असाधारण नामक अभिचारी दुष्ट हेतु हो जायगा । और यदि साध्य प्रसिद्धिवाले सपक्ष में गन्धवत्त्व हेतु वर्तमान हो तो गन्धवत्त्वहेतु अनवयव्याप्तिवाला होने से अन्वयि हो जाने के कारण व्यतिरेकी हेतु न हो सकेगा । और यदि जलादि भेदरूप साध्य प्रसिद्ध न हो तो पृथिवीरूप पक्ष (उद्देश्य) अप्रसिद्ध विशेषण ही जायगा, क्योंकि पृथिवीरूप विशेष्य में जलादि भेदरूप विशेषण असिद्ध है, और ऐसा होने से वहाँ (अनुमिति का कारण) सदाय न हो सकेगा या न साध्यसिद्धि करने की इच्छारूप सिपाधयिषा होगी तथा 'जलादिभेदयुक्त पृथिवी है' इत्याकारक विधिष्ट ज्ञानस्वरूप अनुमिति मान होगी । (अर्थात् साध्यनिगम के अन्वीन, साध्य तथा उसके अभाव के साथ रहने वाले धर्म के आश्रय धर्मज्ञान रूप (सहाय का कारण) के न होने से सन्देहरूप पक्षता (सन्दिग्ध साध्यवाले को पक्ष कहते हैं ऐसा पक्षलक्षण) न रहने के कारण सहायपक्षतावादी मत से अनुमिति न होगी) तथा जो केवल पक्ष में साध्य के साधन की इच्छा (सिपाधयिषा) रूप पक्षता को अनुमिति का कारण मानते हैं उनके मत में भी जलादि भेद-

रेकयोर्वाप्तिस्तथा च न व्याप्तस्य पक्षधर्मत्व पक्षधर्मत्व न व्याप्तत्वमिति चैव
म्यम् । अत एवोपनयवैयर्थ्यमपि व्याख्यायते न त्वगृहीतव्याप्तिरुपमपि । तदुक्तम्—

साध्याप्रसिद्धिर्बैयर्थ्यं व्यर्थतोपनयस्य च ।

अन्वयेनेव सिद्धिश्च व्यतिरेकिणि दूषणम् ॥ इति ।

एवं व्यवहारसाध्यकेऽपि । तत्र यद्यपि व्यवहार' पृथिवीपदवाच्यत्वम् तद्य
पृथिवीत्वजातावप्यस्ति तत्र च पृथिवीत्व हेतुर्नातोत्यसाधारण्यम् तथापि पृथि-

रूप साध्य अप्रसिद्ध होने के कारण सिपाधयिषा न रहने से अनुमिति न होगी । यह
दोनों मत अप्रुक्त है क्योंकि घर में पड़े २ घनपजना सुनकर मनुष्य को 'आकाश बाइल
वाला है' ऐसा अनुमान होता है, जिसे न आकाश में मेघों का संदेह है, न मेघ सिद्ध
करने की इच्छा है, अतः सिपाधयिषा के अभाव से युक्त सिद्धज्ञानरूप प्रतिषेधक का
अभाव ही पक्षता है ऐसा सिद्धातिमत से सिपाधयिषा विरह विशिष्ट सिद्धयभाव को
पक्षता मानने के मत में भी पक्षतानियामक व्यापक इतरभेद प्रतियोगिकताविशिष्ट
समगंधाली पुषिषी पक्षके इतरभेद साध्य के अर्थात् सम्पूर्ण पुषिषी में जलादिभेदसाधक
अनुमिति न हो सकेगी, यह महा पर शकर्मिण का आशय है । यदि सम्पूर्ण पक्ष
(पुषिषीमात्र) में इतरभेद साध्य के अनुमिति होने में साध्याश में विशेषण रूप से
पक्षतावच्छेदक पुषिषीत्व का भान होना है नकि उसकी व्याप्ति ऐसा कहे तो
शकर्मिण पूर्वपक्षिमत से ऐसा दूसरा भी दोष देते हैं कि इस पूर्वोक्त अनुमान में
जलादिभेदाभावरूप साध्याभाव तथा गंधाभावरूप हेतु के अभाव की व्याप्ति
दिनाई गई है, ऐसा होने से हेतुभाव की व्याप्ति में युक्त साध्याभाव (जलादिभेदा-
भाव) पक्ष का धर्म नहीं है, अर्थात् प्रस्तुत अनुमान में यह हेतु नहीं है और जो पक्ष
का धर्म है गन्धवत्त्व, वह व्यतिरेक व्याप्ति का आधार है, अतः वैयर्थ्यदोष भी आ
जायगा (अर्थात् जिसमें व्याप्तिज्ञान है वह हेतु नहीं है और जो हेतु है उसमें व्याप्ति-
ज्ञान ही है इस विधमता से व्याप्ति तथा पक्षधर्मताविशिष्ट हेतु का प्रतिपादन करना
रूप उपनय वाक्य भी न बन सकेगा । इसी अतिप्राय से शकर्मिण पूर्वपक्षिमत से
कहते हैं कि) — इसी कारण उपनय वाक्य की व्यर्थता प्राचीनों ने बही की है नकि
अगृहीतव्याप्तिरुपम भी, अर्थात् व्याप्ति का ग्रहण न होना (अर्थात् अगृहीत व्याप्तिकता
उपनय से नहीं कही जाती) अतएव प्राचीनों ने यह कहा है—

साध्यप्रासिद्धिः = साध्य की असिद्धि, वैयर्थ्य = पूर्वोक्त वैयर्थ्य, व्यर्थता = व्यर्थ
होना, उपनयस्य च = और उपनय वाक्य का, अन्वयेन एव = अन्वय व्याप्ति से ही,
सिद्धिः = सिद्धि होना, व्यतिरेकिणि = व्यतिरेकि अनुमान में, दूषण = दोष है ॥

इसी प्रकार पुषिषीत्व ऐसे व्यवहारसाध्यक व्यतिरेकि अनुमान में भी उक्त दोष
जानना । उसमें यद्यपि 'पुषिषीव्यवहार' शब्द का अर्थ होगा पुषिषीपद से कहा

वीत्यप्रवृत्तिनिमित्तकपृथिवीपदवाच्यत्व साध्यमिति नासाधारण्यम् । यद्वा पृथिवीत्व काचित्तरूपदप्रवृत्तिनिमित्त जातित्वात् घटत्ववदिति सामान्यतः सिद्धी पृथिवीपद पृथिवीत्वप्रवृत्तिनिमित्तकम् इतराप्रवृत्तिनिमित्तकत्वे सति सप्रवृत्तिनिमित्तकत्वात् यज्ञैव तज्ञैवमिति साध्यम् । यथावात्रापि साध्याप्रसिद्धिरेवेति चेत् ।

मैवम् इतरेषा जलादीनाम् भेदस्य घट एव प्रसिद्धे । वाय्वादेरतीन्द्रियस्यापि भेदस्य अन्योन्याभावस्य घटादी प्रत्यक्षत एव सिद्धत्वात् अन्योन्याभाग्रहे अविकरणयोग्यतामात्रस्य सम्प्रत्वान् रतम्भ पिशाचो न भव-

जाना, और वह पृथिवीत्व जाति में है, (क्योंकि जातिविशिष्ट व्यक्ति तत्त्व का अर्थ होता है) उस (पृथिवीत्व) में पृथिवीत्व हेतु नहीं है (अतः प्राचीनमन से सप्तविषय-व्यावृत्तत्वेन) असाधारण्य दोष सम्भवत् न जाने से वह असाधारण व्यभिचारी दुष्ट हेतु हो जायगा । पूर्वपक्षी कहता है कि 'यथापि पृथिवीरूप पक्ष में पृथिवी ऐसा व्यवहार करना चाहिए इस साध्य का पृथिवीत्व जिसके प्रवृत्ति का निमित्त है ऐसे पृथिवी पद से कहा जाय ऐसा अर्थ करने से पृथिवीत्व जाति में उक्त साध्य न रहने से असाधारण्य दोष न आवेगा । (यदि अभी तक पृथिवीपदवाच्यता की पृथिवीत्वनिमित्तक होने की निश्चि ही नहीं हुई है, तो ऐसा विशेष साध्य का अर्थ कैसे किया जा सकता है ऐसा कहो तो पूर्वपक्षी दूसरे प्रकार से साध्याप्रसिद्धि दिवाने के लिये अनुमान करता है) कि पृथिवीत्व, किसी न किसी पद के प्रवृत्ति का कारण है, जाति होने से घट पद के प्रवृत्तिके निमित्त घटत्वज्ञानि के समान, इस प्रकार सामान्य श्वाति के बल से सामान्यरूप से किसी पद की प्रवृत्तिनिमित्तता पृथिवीत्व जाति में निश्चि होने पर पृथिवी पद, पृथिवीत्वप्रवृत्तिनिमित्तवाला है, पृथिवी को छोड़कर दूसरे किसी जलादि पदों को प्रवृत्ति के निमित्त न होता हुआ सामान्यतः प्रवृत्तिनिमित्तवाला होने से जो ऐसा नहीं होता (वह पृथिवीत्वप्रवृत्तिनिमित्तक नहीं होता) वह ऐसा नहीं होता (इतर के प्रवृत्ति का निमित्त न होते हुए सप्रवृत्तिनिमित्त नहीं होगा) ऐसा साध्य है ऐसा होने से इन व्यवहारसाधक अनुमान में भी साध्याप्रसिद्धि इतरभेद साधक अनुमान के समान दोष आता ही है (इसी प्रकार वयमपि दोष भी इसमें जान लेना चाहिये ।)

(इस प्रकार के पूर्वपक्षी के आरोप का समाधान शकरमिश्र ऐसा करते हैं कि)— ऐसा नहीं कह सकते हैं क्योंकि पृथिवी भिन्न जलादि त्रयोदश पदार्थों का भेद घटरूप पृथिवी में ही प्रसिद्ध है । अतएव भी वायु आकाशादि पदार्थों का भेद अर्थात् परस्पर अभाव घट आदिकों में प्रत्यक्ष में ही सिद्ध है, क्योंकि परस्परभाव (भेद) के ग्रहण करने में साधारण की प्रत्यक्षता ही प्रयोजक है, कारण यह कि 'रतम्भ पिशाच नहीं है' इत्यादि अन्योन्याभाव के पिशाचरूप प्रतियोगी के प्रत्यक्ष न होने पर भी

तोत्यादौ तथा दर्शनान् । न चैवं घट एवह दृष्टान्तोऽस्तु किं व्यतिरेकिणा ।

ऋजुमार्गेण सिद्ध्यन्त को हि वक्ष्येण साधयेत् ।

इति वाच्यम् अन्यतिरेकिलिङ्गं चेदनामासं, तदाऽयमपि मार्गो वक्ररुचि प्रत्यप्रतिहन एव । साध्याप्रसिद्धेर्निरासे तन्मूलकदोषाणां निरस्तत्वात् । व्यतिरेकसङ्चारेण अन्यव्याप्तेरेव अज्ञानव्यतिरेकव्याप्त्याऽन्यव्याप्तेरनुमानाद्वा न वैयर्थ्यम् । नवोपनयवैयर्थ्यम्, गृहीतव्याप्तेरेव हेतोः पक्षे उपसंहरान् । तदुक्तम्—

स्वप्न प्रसन्न के योग्य ही है ऐसा देखने में आता है । यदि पूर्वपक्षी कहे कि तब तो घट ही की दृष्टान्त लेकर पृथिवी इतरमिन्न है, गन्वाश्रय होने में घट के समान, ऐसा अन्वयी ही अनुमान हो जायगा, तब पूर्वोक्त व्यतिरेकी अनुमान करने की अपा आवश्यकता है इसी कारण कहा है कि ऋजुमार्गेण (सीधे मार्ग से) निश्चयान्तःसिद्ध होने वाले विषय को, क = कोन, हि = निश्चय में, वक्र (टेव) मार्ग से, साधयेत् = सिद्ध करेगा, तो यह कहना अयुक्त है क्योंकि यह घट दृष्टान्त से अन्वयव्याप्तिवाला हेतु यदि निर्दुष्ट हो (अर्थात् इसमें घट में भी पृथिवीपदवाच्यता रूप साध्य के संदेह से पञ्जला होने से दृष्टान्तासिद्धिरूप दोष व्यतिरेकिलिङ्गरूप वक्रमार्ग से बल बाल आप देंगे इसी कारण यह व्यतिरेकिलिङ्ग से साध्यसिद्धि रूप मार्ग स्वीकृत किया है इसी अमित्राय से शंकरमिश्र कहते हैं कि)—तो यह मार्ग भी वक्रमार्ग से जाने वाले के लिये निर्वाह ही है (अर्थात् प्राणायामसाधन में सीधे नाक को न दबाकर हाथ की परिश्रम देने हुए धुमाकर हस्त से प्राणायाम साधन करनेवाला सीधे हस्त से नाक नहीं दबाता, उसी प्रकार प्रसिद्ध घटादिकों में प्रत्यक्ष से जलादि भेद गृहीत न होने पर भी उसके दृष्टान्त से अन्वयी हेतु न मानकर व्यतिरेकि द्वारा ही पृथिवी में जलादि भेद सिद्ध करना यह वक्रमार्ग से प्रेम रखनेवाले के मत से संगत है) (आगे पूर्वोक्त संपूर्ण दोषों का निराम करने के लिये शंकरमिश्र कहते हैं कि) । इस प्रकार साध्याप्रसिद्धिरूप दोष का निराकरण होने से उसके कारण आये हुए वैयर्थ्य आदि संपूर्ण दोषों का निराम हो गया । अथवा "पृथिवी जलादि मिन्न है" इस अनुमान में जहाँ इतर भेद नहीं होता, वहाँ गन्वाश्रयता नहीं होनी इस प्रकार के साध्याभाव तथा हेत्वभाव के माहर्ष्य ज्ञान में जहाँ-जहाँ गन्धवत्त्व होता है वहाँ २ इतर भेद रहता है इस प्रकार के अन्वयव्याप्ति का ही ग्रहण होने से, अथवा साध्याभाव तथा हेत्वभाव के (व्यतिरेक व्याप्ति में साध्य तथा हेतु के अन्वयव्याप्ति का अनुमान करने के कारण वैयर्थ्य दोष भी न होगा) (यदाधर मट्टाचार्य ने व्यतिरेक महचार से उत्पन्न भी अन्वयव्याप्तिज्ञान से अन्वयव्याप्तिवाली अनुमिति स्वीकृत की है, इस कारण यहाँ गन्धवत्त्व हेतु में व्यतिरेकता संगत ही है । यहाँ पर ऐसा कहो कि यदि

नियम्यतानियन्तृत्वे भावयोर्योदशो मते ।

॥ एव विपरीते तु विज्ञेये तदभावयोः ॥ इति ।

व्यवहारस्तु गन्धवतो पृथिवीत्सुपदेशादेव यथा कम्बुघोषादिमान् घट-
पदवाच्य इति । तथा कुत्रचिदेव घृतादौ मृदादौ च गन्धवत्त्वेनोपलक्षणेन
पृथिवीत्वे पृथिवीपदप्रवृत्तिनिमित्तत्वं येनोपदेशाद् गृहीतम्, गन्धवत् सर्व
पृथिवीत्वेन प्रवृत्तिनिमित्तेन पृथिवीपदवाच्यं गन्धवत्त्वात् यन्नैवं तन्नैव-

व्यतिरेक सहचार व्यतिरेक व्याप्ति ज्ञान के बिना ही गन्धवत्प्रवृत्तिज्ञान को करे तो
गन्धवत्प्रवृत्तिज्ञान उदाहरणादिको की क्या आवश्यकता है ? तो इसी दोष के कारणार्थ
संकरमिश्र ने अनुमानवाला उपरोक्त दूसरा पक्ष दिखाया है । अर्थात् इस प्रकार भी
गन्धवत्त्व हेतु में व्यतिरेकता बनी ही रहेगी इस कारण वैषम्य दोष न आयेगा)
(वैषम्य के समान उपनयम्यवैषम्य दोषों का भी निरास करते हैं कि)—
उपनय भी वयं नहीं हो सकता, क्योंकि व्याप्तिज्ञान जिसमें हुआ है ऐसे ही हेतु
का पक्ष में उपसंहार उपनय वाक्य से किया गया है अतएव उपनयार्थ ने कहा है
कि—नियम्यता (व्याप्यता) तथा नियन्तृता (व्यापकता) भावयोः = भावरूप साध्य
तथा साधन दोनों की, यादृशी = जैसी, मते = मानी गई हैं, तएव = वे ही दोनों,
विपरीते = विपरीत तु, विज्ञेये = किन्तु जाननी चाहिये, तदभावयोः = उनके
अभाव—साध्यभाव और हेतुभाव की ॥ (अर्थात् घूम तथा बह्ति आदि पदार्थों का
जिस प्रकार घूम व्याप्य है तथा बह्ति व्यापक है ऐसा व्याप्यव्यापक भाव है उसी
अभावो घूमाभाव तथा बह्तिभाव उसके विपरीत बह्तिभाव व्याप्य है और घूमाभाव
व्यापक है ऐसा व्याप्यव्यापकभाव होता है) । (आगे गन्धवत्त्व हेतु में पूर्वोक्त
व्यवहारसाध्यक व्यतिरेकहेतुक अनुमिति की कारणता स्थापन करते हुए संकरमिश्र
कहते हैं कि)—पृथिवी है ऐसा शब्दप्रयोगरूप व्यवहार तो 'गन्धवासी पृथिवी होती है,
इस प्रकार के उपदेश से सिद्ध होता है, जिस प्रकार घट पदार्थ को न जाननेवाले
पुरुष को 'कम्बुघोषादिमान्' शब्दाकार भर्जनज्ञाने आदि लक्षणवाला, घटपद का
वाच्य (अर्थ) है (इसी प्रकार गन्धवासी पृथिवी होनी है यह भी व्यवहार सिद्ध हो
आयेगा) । (इसी का स्पष्टीकरण करते हुये संकरमिश्र कहते हैं कि)—उसी प्रकार
किसी घूम आदि तथा मृत्तिकादि पार्थिव द्रव्यों में गन्धवत्त्व के सूचन से ज्ञानो-
पदेश द्वारा पृथिवीत्व आति इन घृतादिकों में पृथिवी कहलाने के प्रवृत्ति का निमित्त
है ऐसा ज्ञान जिस पुरुष को हुआ, उसे गन्धवत्त्व संपूर्ण द्रव्य पृथिवीरूप प्रवृत्तिनिमित्त
से पृथिवी कहलाने योग्य हैं, गन्धवत्त्व होने से, जो उक्त निमित्त से पृथिवी नहीं कह-
लाता यह गन्धवान् नहीं होता, जैसे जल ॥ इस प्रकार व्यतिरेकी अनुमान होता ही है ।
(किन्तु यहाँ पर पूर्वपक्षी पुनः ऐसा आक्षेप करता है कि)—पूर्वोक्त भेदसाधक

मिति व्यतिरेको तस्याप्यवतरत्येव । ननु भेदसाधकव्यतिरेकिणि भेदो वैयर्थ्यं स्वरूपभेदो वा अन्योन्याभावो वा ? न तावदाद्यौ प्रत्यक्षत एव तदवगमात् । न तृतीयः अभावभेदस्यापि साध्यत्वेन तदन्योन्याभावस्य सत्ताभावात्, तेन सद्ध स्वरूपभेदे साध्ये साध्याननुगमादिति चेन्न अभावप्रतियोगिकान्योन्याभावस्यापि साध्यत्वात् स व्यतिरेकिस्तदाऽस्त्येव न चेन् स्वरूपमादाय तत्पर्यवसानात् । वस्तुतो भिन्न एव तद्वैधर्म्यस्य तदन्योन्याभावव्याप्यत्वात्, न चानवस्था यावत्येवानुभवस्तावत्येवाविश्रामात् अन्यत्र

व्यतिरेकी अनुमान ये भेद शब्द का १—वैयर्थ्य (विरुद्ध धर्म), अथवा २—स्वरूप का भेद, अथवा ३—अन्योन्याभाव (परस्पर का अभाव अर्थ है) वैयर्थ्य तथा स्वरूपभेद ये दोनों प्रथम के पक्ष नहीं हो सकते, क्योंकि पृथिवी जल का विरुद्ध धर्म है और उनका स्वरूप भी प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है (तो उनके अनुमान की क्या आवश्यकता है) अन्योन्याभाव-रूप तृतीय पक्ष भी नहीं हो सकता, क्योंकि पृथिवी में जलादि पदार्थों के भेद के समान अभावपदार्थ का भेद भी साध्य होने से पृथिवी में अभावभेदका भेद नहीं है । (यहाँ पर यदि पृथ्वीतरता अभाव में ही होने से अभावभेदरूप साध्य के पृथिवी में वर्तमान होने से उसका अभाव उसमें अनिष्ट ही है ऐसा मध्यस्थ प्रश्न करे तो इसी के समाधानार्थ शंकरमिश्र ने अभावभेद के अन्योन्याभाव का ग्रहण किया है, अर्थात् अभाव भेद का भेद भी शक्तिवद्भावभेदरूप होने से साध्य होने के कारण उसे भी पृथिवी पक्ष में रहना आवश्यक होगा, किन्तु अभावभेद के अधिकरणरूप होने से पृथिवी-स्वरूप होने के कारण उसका (पृथिवी का) भेद पृथिवी में नहीं है । यह उपरोक्त उपस्कारप्रश्न का तात्पर्य है) । (पूर्वपक्षी के मत से शंकरमिश्र आगे कहते हैं कि)—पृथिवी से इतरान्तर्गत अभाव के साथ साथ स्वरूप का भेद भी यदि साध्य (इतरभेद) का अर्थ किया जाय तो अभाव के साथ स्वरूपभेद तथा जलादिको से अन्योन्याभाव का ग्रहण होने के कारण इतरभेदरूप साध्य अनुगत (एक) न होगा—(इस आक्षेप का समाधान करते हैं कि)—अभावप्रतियोगीवाला अन्योन्याभाव भी साध्य है, अर्थात् जलादि भेद के समान अभावभेद भी साध्य है) । और वह अभाव को अधिकरण रूप न माननेवालों के पक्ष से यदि अनिरुद्ध है तो वह भी पृथिवी में वर्तमान हो है, और नहीं है तो अभावस्वरूप को लेकर पृथिवीरूप पक्ष में वृत्तित्व आ ही जायगा (अर्थात् अभावभेद का भेद भी अपने आधार अभावसामान्यरूप होने के कारण पृथिवीरूप पक्षवृत्तित्व आने में कोई दोष नहीं है यह उपस्कार का यहाँ तात्पर्य है) । अभावभेद का भेद अभावरूप नहीं हो सकना क्योंकि यदि अभाव { के केवलान्वयि (सदैवविद्यमान) होने के कारण वह भी केवलान्वयि ही जायगा ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो शंकरमिश्र कहते हैं कि वास्तविक में तो अभावप्रतियोगीवाला भेद अधिकरण से

स्वननुभवेनैव विज्ञामात् । यत्तु त्रयोदशान्योन्याभावाद्ययोदशसु प्रसिद्धाः मिलिताः पृथिव्यांताः ग्रन्थे इति तत्तच्छ्रुं प्रत्येकं प्रसिद्धैरतन्त्रत्वात् मिलितप्रसिद्धैरभावात् किन्तु निर्गन्धत्वाच्चिद्वन्नप्रतियोगित्वाकान्योन्याभावः भाष्येत प्रतियोगितावच्छेदकभेदेनाभावभेदस्यावश्यकत्वात् स च घटादावेव प्रत्यक्षसिद्ध इत्युक्तत्वात् । आकाशादीं का गतिरिति चेत् आकाशमितरभिन्न शब्दाप्रयत्वात् यन्नैवं तन्नैवमित्यादौ पक्षकदेशे यद्यपि न साध्य प्रसिद्धम् तथापि यद् यद्वैधर्म्यवान् सन् तत्प्रतियोगिगान्योन्याभाववर्द्धति सामान्यप्रवृत्तक्यातिशयेन शब्दाभयत्वात्पन्ताभावप्रतियोगिकाकान्योन्याभावस्य पूर्वमेष सिद्धौ केवलं पक्षनिष्ठमेषा

भिन्न हो है, क्योंकि जिसमे जिसका विरुद्धधर्म रहता है उसमे उसका भेद अवश्य रहता है ऐसी ज्ञाति है, (अर्थात् यदि अभावभेद पृथिवीरूप हो तो भावरूपता तथा अभाववृत्ता रूप उनमे विरुद्धधर्म न बनया । इसी प्रकार अभावभेद के पृथिवीरूप मानने से भेद का भेद उसका भेद मानने से प्राप्त अवस्थादीप के कारणार्थ शंकरमिश्र कहते हैं कि)—वही तब भेद का अनुभव होता है उनमे ही विद्यमान मानने से यह दीप न जायेगा । भेदधार मानने का अनुभव न होने से विश्राम ही कायगा ।

और जो कोई विद्वान् 'पृथिवी जलादि त्रयोदश पदार्थों से भिन्न है' इस अनुमान मे 'त्रयोदश पदार्थों के अन्योन्याभाव तब जन्म नहीं है' इत्यादि रूप से त्रयोदश पदार्थों मे प्रसिद्ध हैं उनका समुदाय पृथिवी मे मिड किया जाता है'—ऐसा कहते हैं (अर्थात् जलत्वादिविशिष्टाभाव कूट (समूह) को वे साध्य करते हैं) वह भी युक्त नहीं है क्योंकि प्रत्येक के भेदकी प्रसिद्धि उक्तानुमान मे प्रयोजक नहीं है, और मिलित जलादि भेदकूट कही प्रसिद्ध नहीं है, अतः गन्धाभाववान् भित्तने जलादिक हैं उन संपूर्णों का भेद उक्तानुमान मे साध्य रहना होगा, क्योंकि पृथिवी गन्धाभाववालों से भिन्न है इस अभाव के प्रतियोगी गन्धाभाववान् मे रहनेवाली प्रतियोगिता के नियामक निर्गन्धत्वरूप के भिन्न होने से अभावभेद मानना आवश्यक है, और वह गन्धशून्यों का सामान्यभेद घटादि पृथिवी मे प्रत्यक्ष से मिड है यह कह चुके हैं । यदि पूर्वपक्षी ऐसी छाका करे कि—'आकाश पृथिवी आदिकां से भिन्न है' इस अनुमान मे आकाश की पृथिवी के एकरेश घट के समान एकरेश न होने से क्या उपाय होगा अर्थात् कहीं प्रसिद्धि होगी तो यद्यपि आकाश, पृथिव्यादिकों से भिन्न है, गन्दाश्रय होने से, 'जो पृथिव्यादि, पृथिव्यादिकों से भिन्न नहीं होने से गन्दाश्रय नहीं होते' इस अनुमान मे आकाश का प्रदेश न होने से पत्र के एकरेश में साध्य प्रसिद्ध नहीं है, तथापि जो जिसके विरुद्धधर्म का आधार होता है वह उन प्रतियोगिवाले अन्योन्याभाव का आधार होता है (जैसे घट पट के विरुद्ध (घटत्व) धर्म का आधार होने से वह पट से भिन्न है) इस सामान्यरूप से ज्ञात व्याप्ति के सामर्थ्य से शब्द के आधार के अत्यन्ताभाव के आधार पृथिव्यादि प्रतियोगीवाले अन्योन्याभाव

इदानीं बोध्यते वह्निरिव पर्वतनिष्ठनया इत्यन्योऽस्मत्सिद्धान्तः तद्वैधर्म्यस्य तदन्योन्याभावव्याप्यत्वात् । शब्दाश्रयत्वात्यन्ताभाववस्त्वमेव विपक्षे न गृहीतमिति चेत् तर्हि शब्दाश्रयत्वस्य न लक्षणत्व न वा लिङ्गत्वं विपक्षगामित्य शङ्काभस्तत्त्वादिति ॥ १ ॥

पृथिव्यनन्तरमुद्दिष्टानामेषां लक्षणमाह—

रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः ॥ २ ॥

शुक्लमधुरशोण एव रूपरसस्पर्शाः द्रव्यत्वञ्च सांसिद्धिकं स्नेहस्तु स्व-

(आकाश पृथिव्यादि नहीं है) की प्रथम ही सिद्धि होने के कारण केवल उक्त अनुमान के आकाशस्वरूपपक्ष में ही केवल पृथिव्यादि भेद सिद्धि जो पूर्वसामान्य व्याप्ति से सिद्ध नहीं थी वह 'आकाश पृथिव्यादिकों में भिन्न है' इस अनुमान से कही जाती है, जिस प्रकार महान्त में घूमसामान्य की वह्निसामान्य के साथ प्रथम व्याप्ति ही ग्रहण होने पर पर्वत में घूमदर्शन से पर्वत में वह्नि की सिद्धि की जाती है (यह शंकरमिश्र कहते हैं) हमारा दूसरा सिद्धान्त है । (अर्थात् पक्ष के एकदेश में साध्य-प्रसिद्धि के समान सामान्यरूप से व्याप्ति के सामर्थ्य से जहाँ किसी पदार्थ में साध्य की प्रसिद्धि कर अनुमान का निर्वाह हो सकता है ऐसा शंकरमिश्र का अपने सिद्धान्त का गूढ़ अभिप्राय है) । (इस सिद्धान्त में हेतु दिखाते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—क्योंकि पृथिव्यादिकों का आकाश में शब्दाश्रयत्वस्व विरुद्धपक्ष, पृथिव्यादिकों के भेद से व्याप्य है । यदि पूर्वपक्षी कहे कि विपक्ष पृथिव्यादिकों में शब्दाधारता नहीं है यही ज्ञात नहीं है (तो उनका भेद आकाश में कैसे गृहीत होगा), तो शंकरमिश्र कहते हैं कि तब तो 'शब्दाश्रयत्व' आकाश का लक्षण अथवा इतरभेदसाधक व्यतिरेकलिङ्ग भी न हो सकेगा, क्योंकि शब्दाश्रयत्व की पृथिव्यादिकों में रहने की शङ्का ही उसे छा डालेगी, (अर्थात् शब्दाश्रयत्व हेतु वि पक्ष में रहने की शंका से दुष्ट हो जायगा) ॥१॥

(प्रथम सूत्र की व्याख्या के पश्चात् क्रमप्राप्त जललक्षण सूत्र का अवतरण देते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—पृथिवी के पश्चात् उद्दिष्ट जलपदार्थ का सूत्रकार लक्षण करते हैं—

पदपदार्थ—रूपरसस्पर्शवत्य = रूप, रस तथा स्पर्शगुणवाला, आप. = जल होता है ॥ २ ॥

भावार्थ—चतुर्विधति गुणों से विशेषरूप रस, तथा स्पर्श नामक विशेष गुण के समवायसम्बन्ध से आधारद्रव्य को जल कहते हैं ॥ २ ॥

उपस्कार—क्रम से शुक्ल, मधुर तथा शीत ही जल में रूप, रस तथा स्पर्शगुण (रहने हैं) तथा स्वामाविक द्रवत्व भी (जल में रहता है) किन्तु स्नेह स्वरूप से रहता है (अर्थात् सूत्र के रूपादि पद उनके विशेष शुक्लादिकों के जैसे बोधक हैं उस प्रकार स्नेहपद उसके किसी विशेष को नहीं कहा है किन्तु यथाश्रुत स्नेह ही को) ।

रूपतः । ननु शुरुमेव रूपमपामित्युक्तम् कालिन्दीजलादौ नैत्यम्योपलम्भान् ।
 मधुर एव रस इत्यप्युक्तम् जम्बोरकरवोररमादौ आम्लपत्रैकपादेतरलम्भान् ।
 शीत एव स्पर्श इत्यप्यनुपपन्नम् मध्यन्दिने औष्ण्यस्यैवोपलम्भान् । सांमिद्धि-
 कश्च द्रवत्वमव्यापकम् हिमनरकादावभावान् । स्नेहस्तु स्वरूपासिद्धोऽतिव्या-
 पकश्च जलेऽननुभवान् घृतादौ पार्थिवेऽनुभवाच्च । न च जलत्वं ज्ञानिरेव
 जललक्षणम् व्यवस्थापकाभावेन वदनुपपत्तेः । न च स्नेहसमवायिकारणता-
 वच्छेदकत्वेन सत्सिद्धिः स्नेहत्वस्य कार्याकार्यवृत्तितया कार्यतानवच्छेद-
 कत्वात् सम्माद्देशकाभावाद् जलं न भिद्यत इति, चेन्मेवम् अभास्वरमुक्तमात्र-

यहाँ पर पूर्वपक्षी ऐसा वाक्षेप करता है कि जल का शुक्ल ही रूप है यह कहना
 असंगत है, क्योंकि यमुना नदी के जल में नीलरूप उपलब्ध होता है । तथा जल
 का मधुर ही रस है यह भी कथित है, क्योंकि आम्रन करंदा आदि के जलाशय में
 सदा तथा तीव्रतर उपलब्ध होता है । एवं स्वाभाविक द्रवत्व गुण भी ओछे तथा दूध
 में न रहने से अव्यापक होने से जल का लक्षण नहीं हो सकता (अर्थात् रूपादि चार
 गुणों से किये हुए जल के लक्षणों में अव्याप्ति दोष जाना है) स्नेह (विह्वारः)
 नामक गुण भी जल में स्वरूपतः सिद्ध है (क्योंकि जल में स्नेह उपलब्ध नहीं होता)
 तथा घृत, तेल आदि पृथिवीद्रव्य में उपलब्ध होने से अतिव्याप्तिदोष भी जाता है ।
 जलत्वज्ञानि का वाक्षार होना भी जल का लक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि जलत्व-
 ज्ञानि की सिद्धि में कोई प्रमाण नहीं है । स्नेहकर कार्य का समवायिकारण है जल,
 उसमें वर्तमान कारणता के नियामक होने से जलत्वज्ञानि की अनुमानप्रमाण से निश्चि-
 त हो सकती है (अर्थात् स्नेह में वर्तमान कार्यता से निरूपित जल में वर्तमान समवायि-
 कारणता किसी नियामकधर्म से युक्त है, कारणता होने से, दण्ड में वर्तमान घटककार्य
 की कारणता क नियामक दण्डत्वज्ञानि के समान इस अनुमान में जलत्वज्ञानि की
 निश्चि होगी) ऐसा सिद्धान्ती नहीं कह सकता, क्योंकि 'स्नेहत्वज्ञानि नित्य तथा
 अनित्य दोनों प्रकार के स्नेहों में वर्तमान होने से नित्यरूप अधिक स्नेह में वर्तमान
 होने के कारण कार्यतानियामक नहीं हो सकती, अतः जल द्रव्य का पृथिवी आदि
 द्रव्यों से भेद निश्चि करनेवाला लक्षणरूप व्यतिरेकिजिह्व न होने के कारण जलद्रव्य
 पृथिव्यादि द्रव्यों से भिन्न नहीं है ।' (इस वाक्षेप का उत्तर संकरमिश्र ऐसा देते हैं
 कि)—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि परस्परकाशक न होनेवाला श्वेतरूप ही जलद्रव्य
 का पृथिव्यादिकों से भेद सिद्ध करनेवाला वक्त दोषरहित लक्षण हो सकता है । यमुना
 जलादिकों में पृथिवी के सम्मिश्रण से औसाधिक (अस्वाभाविक) नीलिमा प्रतीत होगी है,
 क्योंकि वाक्काश में फेकने पर उठी यमुना के जल में श्वेत ही रूप का ग्रहण होता है ।
 यदि कहो कि तथापि स्फटिकादि मणिरूप पृथिवी में शुक्लरूप होने से अतिव्याप्तिदोष

रूपस्यैव तद्देहभत्वात् कालिन्दोजलादी नैव्यस्याश्रयोपाधिकत्वात् वियद्विकीर्ण-
कालिन्दोजले धावल्यस्योपलम्भात् । तेनाभास्वरशुक्लेतररूपासमानाधि-
करणरूपवद्वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षादव्याप्यज्ञानिमत्त्वम् अपा लक्षणम् । रसोपि मधुर-
एव जम्बीरकरवीररसाम्न्यतैक्यादेः पार्थिवोपाधिकत्वात् । जले माधुर्यं
नानभूयत एवेति चेन्न कपायद्रव्यभक्षणानन्तरं तदभिव्यक्तेः । न च हरोतक्या
एव तन्माधुर्यं जलाभिव्यङ्ग्यम् तत्र कपायरसस्यैवोपलम्भात् हरोतक्यास्त्रा-
मलक्यामिव कपाय एव रसः तस्यैवानुभवात् । न च गुणविरोधेन तत्र रसा-
नारम्भः । अवयवानामपि तत्र कपायरसवत्त्वात् नृदसत्वप्रवाद्वास्तु तत्तद्रस-

होगा' तो उसके कारण के लिए शुक्लरूपत्व लक्षण का चकरमिथ आनिषट्ति लक्षण
करते हुए कहते हैं कि)—उप (शुक्लरूपवत्) से अभास्वर शुक्लरूप से भिन्न रूपों के
आधार में अवर्तमान तथा रूपाश्रय में वर्तमान एवं द्रव्यत्व की साक्षात्
व्याप्य जलत्व जाति का आश्रय होना यही जल का लक्षण है यह जानना है (इसमें
पृथिवी में रूपवद्वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षादव्याप्य पृथिवीत्वजातिपटा होने के कारण
अभिव्याप्ति दोष-निराकार्य अभास्वरशुक्लरूपेतररूप समानाधिकरण विशेषण
दिया है, पृथिवी में अभास्वर शुक्लरूप भिन्न रक्तादि रूप होने से उक्त दोष न होगा ।
जल में शुक्ल रूप समानाधिकरण जलत्व जाति के रहने से अशुभव दोष-वारणार्थ ध्रुवने
तर, तथा तेज में उक्त दोषवारणार्थ अभास्वरपद दिया है यह जानना । वायुत्व जाति
को लेकर वायु में अतिव्याप्ति-वारणार्थ रूपवद् । दृति तथा द्रव्यत्व को लेकर पृथिवी
में उक्त दोष के निराकार्य द्रव्यत्व साक्षात् व्याप्य ऐसा विशेषण जाति में दिया है ।
परत्वादि के वारणार्थ साक्षात् तथा जलघटाग्न्यतरत्व को लेकर घट में अतिव्याप्ति-
वारणार्थ जातिपद दिया है यह भी जान लेना चाहिये) । (आगे रस को लेकर पूर्व-
पक्षी के दिने शेषों का वारण करते हुए चकरमिथ कहते हैं)—कि जल में रस भी
मधुरही है, जामुन आदि पृथिवी के जलाशय में खट्टा-सीता आदि रस का ग्रहण जामुन
आदि पृथिवी के सम्बन्ध से ग्रहीत होने के कारण यह औपाधिक है न कि स्वाभाविक ।
यदि 'कहो कि जल में मधुर रस का अनुभव नहीं होता' तो ऐसा नहीं, क्योंकि कपाय
रसवाली हरे इत्यादि भक्षण करने के पश्चात् । जल पीने से उसमें जल की मधुरता
प्रकट होती है । 'हरे की ही वह मधुरता है जो जल पीने से प्रकट होती है' ऐसा पूर्व-
पक्षी नहीं कह सकता, क्योंकि हरे में कपायरस ही उपलब्ध होता है, हरे में भी आँवले
के समान कपाय ही रस है, क्योंकि उसी का अनुभव होता है । 'हरे में गुणविरोध के
कारण कोई रस उत्पन्न नहीं होता' ऐसी पूर्वपक्षी संका नहीं कर सकता (अर्थात्
एक हरे के अवयव में कपाय और दूसरे में मधुर रस, एवं च दो अवयवों में एक रस
के न होने से हरेरूप द्रव्य में एक रस कैसे होगा' यह सका नहीं हो सकती) क्योंकि

कार्यकारित्वनिवन्धन । चित्ररसस्तु प्रमाणाभावादेव निरस्त. चित्रहृषे तु पटोपलम्भ एव प्रमाणम् सुरभ्यसुरभ्यवयवारम्भस्तु गुणविरोधनिरस्त एव चित्रगन्धे प्रमाणाभावात् । तस्माद्वरीतकौमक्षणानन्तरं यन्माधुर्यमुपलभ्यते तन् जलस्यैव, उल्बणता तु द्रव्यविशेषसन्निधानाधोना ओरण्डसन्निधोगाज्जले शैत्योल्बणतेव । कर्कटौमक्षणानन्तरन्तु तिक्तता याऽनुभूयते सा कर्कट्या एव तदवयवे जलपानमन्तरेणापि तिक्तोपलम्भात्, रसनाप्रवर्त्तिपित्तद्रव्यति-
क्तताया वा तत्रानुभवात् । तथा च मधुरेतररसासमानाधिकरणरससमाना-

हरें के अवयव भी कटावरमवाले ही हैं । पृथिवी में पट रस रहते हैं यह (प्रवाद) बहुत ही उत-उन पद प्रकार के रसरूप वायु को पृथिवी द्रव्य उत्पन्न करता है इस कारण है (नकि सपूर्ण पृथिवी में छ रस रहते हैं इस अविश्रय में है) । चित्ररूप के समान चित्र नामक सातवें रस में प्रमाण न होने से नहीं माना गया है (क्योंकि माना जाति के रसवाले अवयवों से उत्पन्न अवयवि द्रव्यों में रस नहीं है क्योंकि उन अवयविद्रव्य में जिह्वा से अवयवों के ही रस का ग्रहण होता है, द्रव्य का ग्रहण नहीं होता कारण जिह्वा को द्रव्यग्रहण में सामर्थ्य नहीं है, अतः अवयवि द्रव्य में अवयवरस से भिन्न होने से भी कोई दोष नहीं हो सकता । (आगे शकरमिश्र शुक्लादि रूप से भिन्न चित्ररूप स्थापित करते हुए कहते हैं कि)—चित्ररूप में तो विविन्न रंग के पट का प्रत्यक्ष से ग्रहण होता ही प्रमाण है (अर्थात् चित्ररूप न माने तो नील आदि तन्तुओं के पीतादि रूप के उत्पत्ति में प्रतिबन्धक होने से पटरूप धर्मों में पीतादि रूप न हो सकने के कारण उस विविन्न अनेक रंग के पट का चाक्षुष प्रत्यक्ष जो होता है वह न हो सकेगा । अतः शुक्लादि रूप भिन्न चित्ररूप मानना आवश्यक है ।) (चित्र-
गण्य के विषय में शकरमिश्र करते हैं कि)—अतिरिक्त चित्रगण्य मानने में प्रमाण न होने के कारण सुगन्धि तथा दुर्गन्धि अवयवों से चित्रगण्यवाले अवयविद्रव्य की उत्पत्ति होती है, यह परस्पर गन्धों के विरोध होने से ही स्पष्ट हो जाता है क्योंकि सुगन्धि अवयव दुर्गन्धि तथा दुर्गन्धि अवयव सुगन्धि अवयवों की उत्पन्न नहीं कर सकता (रस वर्णन का उपसंहार करते हुए शकर मिश्र कहते हैं कि)—तस्मात् हरेंमक्षण ॥ पश्चात् जो जल में मधुरता प्रतीत होती है वह जल ही की है, जिस प्रकार जल के घीन स्पर्श की उत्कटता चन्दन के मिलने से प्रकट होती है उसी प्रकार हरें कुरी द्रव्य के सम्बन्ध से हरें छाकर पानी पीने से जल की मधुरता अधिक प्रतीत होती है । खीरा मक्षण के पश्चात् जो जलाशय में पीते रस का अनुभव होता है यह खीरे का ही पीतापन है, क्योंकि उसके अवयवों में जलपान के बिना भी पीतापन गृहीत होता है । अथवा जिह्वा के अग्रभाग में वर्तमान पित्त द्रव्य (पित्ती) की तिक्तता को खीरे में अनुभव होता है । (यदि कर्कटों की तिक्तता जल के माधुर्य की क्षाने वाली

धिकरणद्रव्यत्वसाक्षाद्ब्याप्यजातिमत्त्वमपां लक्षणम् । एवं शीतस्पर्शसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वमपां लक्षणम् । मध्यन्दिने तु यदीप्स्य तत्तेजस एव तदन्वयव्याप्यतरेकानुविधानात् । एव सांसिद्धिकद्रवत्वं स्वभ्यत एव लक्षणम् सांसिद्धिकद्रवत्वचद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वं वा जन्त्यम् । स्नेहस्तु गुणविशेषो न तु द्रुघत्वदधित्ववत् सामान्यविशेष स्निग्धस्निग्धतरस्निग्धतमेति तारतम्यप्रतीतिः । न च जातो तारतम्यं सम्भवति । ननु भवतु स्नेहो गुणः स तु जले

होती है ऐसा न माने तो 'अथवा' पक्ष से शकरमिश्र ने खीरे में नित्ता सिद्ध की है । पित्तदोष वाले रोगी पुरुष को शकर आदि द्रव्य के मधुर रस को दबाने वाले छीटे रस का अनुभव होता है यह अनुभव सिद्ध है इसलिए पित्तद्रव्य का तीतावन ही ऐसे स्थान में जल के माधुर्य को दबाने वाली है यह तात्पर्य यहाँ शकरमिश्र का है । (रस तथा स्पर्शगुण को भी लेकर जातिघटित लक्षण नवीन नैयायिकों के मत में दिखाने हुए शकरमिश्र कहते हैं कि)—मधुर रस में भिन्न नित्तादि रस के अधिकरण में न रहने वाली तथा रस के आश्रय में वर्तमान तथा द्रव्यत्व की माक्षान् व्याप्य जाति का आश्रय होना यह जल का लक्षण है । एवं शीत स्पर्श के आश्रय में वर्तमान तथा द्रव्यत्व की माक्षान् व्याप्य जलत्व-जातिमत्ता भी जल का लक्षण है । (इन सब जातिघटक लक्षणों में पूर्वोक्त के समान पदों का साधेय स्वयं जान लेना । इनमें से शुद्धर जाति को लेकर शुद्धरूप पृथिवी में अनिव्याप्ति दोषनिरासार्थ 'द्रव्यस्य साक्षात्स' प्रथम रसघटित लक्षण में जानना) । (आगे शकरमिश्र कहते हैं कि)—यद्यपि जल का शीत ही स्पर्श है, तथापि मध्याह्न में जो जल उष्ण प्रतीत होता है वह सूर्यकिरणरूप तेज द्रव्य ही का है, क्योंकि तेज रहने में उष्णता होती है न रहने से नहीं ऐसा तेजोद्रव्य तथा उष्णस्पर्शरूप कार्य का अवयव तथा व्यतिरेक है ।

(इसी प्रकार उत्पत्तिकाल में जल में स्वाभाविक द्रव्यस्वगुण न होने के कारण उसको लेकर भी जातिघटित लक्षण शकरमिश्र ऐसा करते हैं कि)—स्वाभाविक द्रवत्व जल का स्वरूप से लक्षण है जिसका स्वाभाविक द्रवत्व के आधार जल में वर्तमान जलस्व जाति का आधार जल होता है । ' ऐसा अर्थ करने से द्वितीय क्षण में जल में स्वाभाविक द्रवत्व होने से उसमें वर्तमान जलस्व जाति को लेकर प्रथमक्षण में जल में अव्याप्तिदोष न रहेगा । (स्नेहगुण के विषय में विवाद का निराकरण करते हैं कि)—स्नेह एक जल का विशेष गुण है, दुग्ध में दुग्धत्व तथा दधि में दधित्व के समान सामान्य विशेषरूप जाति नहीं है, क्योंकि स्निग्ध स्निग्धतर, स्निग्धतम इत्यादि रूप से स्नेह में तरतमभाव (अधिक तथा न्यून) की प्रतीति होती है, दुग्धत्वादिक सामान्य में तरतम भाव नहीं हो सकता । (अर्थात् जाति पश्यां नित्य होने से उसमें अधिक न्यूनभाव की प्रतीति न होगी) । (शकरमिश्र कहते हैं कि)—पूर्वपक्षी ऐसी शक्य नहीं कर सकता कि—स्नेह गुण अवश्य है किन्तु वह जल में है इसमें क्या

वर्तत इत्यत्र किं प्रमाणमिति चेन्न सक्तुमिकतादौ जलेन संपदे तदनुमानान् । सङ्ग्रहो हि स्नेहद्रवत्वकारित संयोगविशेषः स हि न द्रवत्वमात्राधोनः काच-
काश्चनद्रवत्वेन सङ्ग्रहानुपपत्तेः, नापि स्नेहमानकारितः स्वानैर्घृतादिभिः सङ्ग्र-
हानुपपत्तेः, तस्माद्द्रव्यव्यतिरेकाभ्यां स्नेहद्रवत्वकारितः । स च जलेनापि सक्तु-
सिक्ततादौ दृश्यमानः स्नेहं जले द्रवयति । इयञ्च प्रत्यक्षोपपत्तिर्मिथैव युक्तिः
स्नेहस्य प्रत्यक्षत्वात् । घृतादौ तु स्नेह उपपत्तम्भकजलनिष्ठ संयुक्तसमवायेन
तद्गततया भवान् । एव तैलरसादिष्वपि । उपपत्तम्भकश्चातिशयितस्नेहमेव
जलम्, स्नेहाधिभ्यामेव तस्य जलस्य जलानलविरोधित्वम् । यदि पृथिवीविशेष-

प्रमाण ?—कश्चित् मनुष्यः, आटा इनमे जल पकने में उनका संग्रह (बटुरना) से
जल, स्नेहाधय है, सत्तु आदिकों को बटोरने से, इस अनुमान से जल में स्नेह गुण सिद्ध
हो सकता है । स्नेह तथा द्रवत्व से संपन्न एक विशेष संयोग का नाम है संग्रह, वह
संग्रह केवल द्रवत्व गुण से नहीं हो सकता, क्योंकि काच, सुवर्ण इत्यादिकों को टिप-
लाने से उनके द्रवत्व से मनुष्य आदिकों का संग्रह होने लगा । (जहाँ-जहाँ पानी के
समान अग्निसंयोग से पतते हुए सुवर्णादिहो से भी सत्तुआ, आटा आदि बटुरने
लगेगे ।) तथा संग्रह केवल स्नेह से भी नहीं हो सकता, यदि हो तो पाठे घी
इत्यादि को स्नेह होने से बिना (द्रवत्व) के टिपलाने बिना आटा आदि में संग्रह नहीं
होगा, अतः अवश्य—स्नेह तथा द्रवत्व के रहने संग्रह का होना व्यतिरेक (न रहने
पर न होना) होने से संग्रह स्नेह तथा द्रवत्व दोनों से मिलकर होता है यह
सिद्ध होता है । केवल जल से भी सत्तु, बाखू आदि में दिखाई देने से जल में स्नेह
गुण (चिकनापन) है यह निश्चित होता है । यह प्रदर्शित युक्ति स्नेह के प्रत्यक्ष
होने के कारण प्रत्यक्षप्रमाण से ही सिद्ध है । (यदि घृतादिपृथिवी में भी स्नेह
होने से अतिव्याप्ति दोष होगा । ऐसी शङ्का पूर्वपक्षी करे तो शङ्करमित्र कहते हैं कि)—
घृत, तेल आदिकों में जो स्नेह उपलब्ध होता है वह उसमें मिले हुए (उपपत्तम्भक) स्वरूप-
संपादक जलान का ही है अतः घृत में संयुक्त जल में समवेत होने से 'संयुक्त समवाय'
रूप परंपरा सम्बन्ध से घृतादिकों में स्नेह की प्रतीति होती है । एवं इसी प्रकार तेल
रस इत्यादिकों में भी जानना । उपपत्तम्भक तेल इत्यादिकों के स्वरूप का संपादक उनमें
वर्तमान तिल आदि द्रव्य के सम्बन्ध के कारण अधिक स्नेह वाला जल ही है ।
तथा स्नेह के अधिक होने में ही उस तेल आदि में संयुक्त जल अग्नि के विनाश
न होकर बल्कि उसके वधक होते हैं ।

(यदि यही पर 'स्नेह को केवल जल में माना जाय तो घृतादिकों में उसके
रहने के लिये संयुक्त संयोगरूप परंपरा सम्बन्ध मानना पड़ेगा, इसके अपेक्षया भासाङ्ग
समवायसम्बन्ध से घृतादिकों में ही क्यों न माना जाय' ऐसी शङ्का हो तो उसका
उत्तर शङ्कर मिश्र करते हैं कि)—यदि स्नेह पृथिवी का विशेष गुण हो तो सम्पूर्ण

गुणः स्नेहः स्यात् सर्वपार्थिववृत्तिः स्यात् गन्धवत् । जलत्वं च द्रव्यत्वसाक्षाद्-
व्याप्यजातिः स्नेहश्चात्रवृत्तिसंयोगसमवायिकारणतावच्छेदिकाया जातेः
परमाणुसाधारण्येन सिद्धत्वान् ॥ २ ॥

उद्देशकमानुरोधेन तेजोलक्षणमाह—

तेजो रूपस्पर्शवत् ॥ ३ ॥

रूप मास्वर स्पर्शश्चोष्णस्त्वृक्ष इत्यर्थः । ननु भास्वरत्वं परप्रकाशकत्वं
साक्षाच्च रूप मोक्षणि न वा चामीकरस्थे भर्जनकपालस्थे वारिस्थे वा
तेजसि, शुक्लञ्च रूपमुक्ते न कापि, उष्णञ्च स्पर्शो न चान्द्रे न वा चामीकरे तत्

पायित द्रव्यो मे वर्तमान होना जैसे गन्धपुष्प (सब पायित द्रव्यों मे रहना है) ।
वह जलत्व जाति द्रव्यत्व जाति की साक्षात् व्याप्य जाति है, क्योंकि स्नेहगुण वाले
सूत्रों मे वर्तमान समोष्णक कार्य के समवायिकारण जल मे वर्तमान समवायिकारणता
की नियामकत्व जाति जल-परमाणुओं को लेकर सिद्ध होती है (यहाँ पर जल
परमाणुओं मे स्नेहकार्य की समवायिकारणता के न होने से स्नेहवान् मात्र मे वर्तमान
समोष्णक का अनुसरण किया है । मनीष नैयायिकों का ऐसा यहाँ मत है कि स्नेह कर
कार्य का समवायि कारण है कार्य जल, अतः उसके नियामक धर्मरूप मे जल जलत्व
जाति मिट्ट होने पर, अन्य जल मे वर्तमान कार्यता-निरूपित कारणतावच्छेदक
रूप से जलत्व जाति मिट्ट होगी, जो परमाणुओं मे भी है) ॥ २ ॥

(तृतीय सूत्र का शंकरनिश्चय उत्तर देते हैं कि)—उद्देशक के अनुसार तेज
द्रव्य का सूत्रकार लक्षण करते हैं

पदपदार्थ—तेजः = तेजनामक द्रव्य, रूपस्पर्शवत् = रूख तथा स्पर्शगुणवाला
होता है ॥ ३ ॥

भाष्यार्थ—परप्रकाशक शुक्लरूप, तथा उष्ण स्पर्श विशेषगुण के आधार द्रव्य
का नाम है तेज ॥ ३ ॥

उपकार—प्रकाशक शुक्लरूप तथा उष्णस्पर्श नामक विशेषगुण के आधार द्रव्य
को तेज कहते हैं यह सूत्र का अर्थ है । यदि यहाँ पर 'भास्वरतावच्छेदके पर
की प्रकाशित करना किन्तु ऐसा रूप धर्मिरूप तेज तथा सुवर्ण के तेजोभाग एवं
सुवर्ण के घड़े मे वर्तमान तथा उष्णजल मे वर्तमान तेज मे भी मे न होने से एव इन
सम्पूर्णों मे ध्वेतस्वर भी कहीं न होने से, अव्यभिचीय होगा । एवं चन्द्रमा के
किरण तथा सुवर्ण मे उष्णस्पर्श न होने से भी अव्यभिचीय दोष वा आपत्ता' ऐसा पूर्व-
पक्षी बहोना शंकरनिश्चय उत्तर देते हैं कि गरमी इत्यादिको मे ऊष्मा, भास्वररूपवान्
दे, तेज होने से प्रदीप के समान इत्यादि अनुमान से उनमे भास्वररूप मिट्ट होगा ।

कथमेतदिति चेन्न ऊष्मादौ तेजस्त्वेन भास्वरूपानुमानात् । तेजस्त्वमेव तत्र स्वरूपासिद्धिमिति चेन्न उष्णस्पर्शवत्त्वेन तदनुमानात् । घामीकरे कथमिति चेत् तत्र भास्वरूपाभावेऽपि अत्यन्तानलसंयोगेनानुच्छिद्यमानजगद्व्यवस्थाधिकरणत्वेन व्यतिरेकिणा तेजस्त्वानुमानादिति वक्ष्यमाणत्वात्, भर्जनकपालादिनिष्ठे चोष्णस्पर्शवत्त्वेन तेजस्त्वानुमानात् । चतुर्विधं हि तेजः किञ्चिदुद्भूतरूपस्पर्शं यथा सौरादि, किञ्चिदुद्भूतरूपमनुद्भूतस्पर्शं यथा चान्द्रम्, किञ्चिदनुद्भूतरूपस्पर्शं यथा नायनम्, किञ्चिदनुद्भूतरूपमुद्भूतस्पर्शं यथा नैदाघवारिभर्जनकपालादिवत् तेजः । नायनमग्रे साधयिष्यते ॥ ३ ॥

क्रमप्राप्त वायुलक्षणमाह—

स्पर्शवान् वायुः ॥ ४ ॥

१—रूपासमानाधिकरणस्पर्शसमानाधिकरणजातिमत्त्वम् २—रसासमाना-

यदि पूर्वपक्षी कहे कि 'उनमे तेजस्वरूप हेतु ही असिद्ध है' तो ऊष्मा, तेज है, उष्णस्पर्शाश्रय होने से वह्नि के समान इस अनुमान से तेजस्त्व सिद्ध होता है यह उत्तर है । यदि कहो कि—सुवर्ण में उष्णस्पर्श न होने से उसमें तेज सब कैसे सिद्ध होगा—तो सुवर्ण में भास्वरूप तथा उष्णस्पर्श के न होने पर भी अत्यन्त अग्निसंयोग होने पर भी सुवर्ण के नैमित्तिक द्रवत्व का नाश नहीं होता, अतः अत्यन्त अनलसंयोग से अनुच्छिद्यमान (न नष्ट होनेवाले) द्रवत्व के आधार होने रूप व्यतिरेकी हेतु से उसमें तेजस्त्व का अनुमान हो सकता है ऐसा आगे रहेंगे । भूजवे के भूजवे के बाधवाले तब घड़े में वर्तमान तेज में उष्णवत्ता हेतु से तेजस्त्व का अनुमान करने से उसमें भी लब्ध्याति दोष न होगा । उक्त लक्षणवाला तेजद्रव्य चार प्रकार का होता है—प्रथम तेज वह है जो उद्भूतरूप तथा स्पर्श का आधार होता है जैसे सूर्यादि तेज (१), कोई तेज ऐसा है जिसका रूप प्रकट है, किन्तु स्पर्श प्रकट नहीं होगा जैसे चन्द्रकिरण का तेज (२), कोई तेज वह है जिसके रूप तथा स्पर्श दोनों अप्रकट हों जैसे वायुयुग्म तेज (३) तथा कोई तेज वह है जिसका रूप अप्रकट तथा स्पर्श प्रकट है जैसे ग्रीष्मऋतु की उष्णता का तेज तथा अल एव भुजवे के घड़े का तेज । जिससे वायुयुग्म तेज आगे सिद्ध करेंगे ॥ ३ ॥

क्रमप्राप्त वायुद्रव्य का सूत्रकार लक्षण कहते हैं—

पदपदार्थ—स्पर्शवान् = स्पर्शगुणाश्रय, वायु = वायु नामक द्रव्य है ॥ ४ ॥

भावार्थ—अनुष्णाशीत तथा अपाकज स्पर्शरूप विशेषगुणाश्रय द्रव्य का वायु नाम है ॥ ४ ॥

उपकार—इस सूत्र के प्रदर्शित स्पर्शवत्त्वरूपलक्षण के चार प्रकार के जातिघटित-लक्षण हो सकते हैं—(१) जो रूप के धात्र्य में अवर्तमान तथा स्पर्श के आधार में

धिकरणानुष्णाशीतस्पर्शसमानाधिकरणजातिमत्त्वम्—गन्धाममानाधिकरणा-
नुष्णाशीतस्पर्शसमानाधिकरणजातिमत्त्वम् । ४—स्पर्शोत्तरविशेषगुणसमानाधि-
करणविशेषगुणसमानाधिकरणजातिमत्त्व वा वायुलक्षणम् ॥ ४ ॥

नन्वाकाशकालादिगात्मनामपि रूपादिमत्त्वं कथं न लक्षणमत आह—

त आकाशे न विद्यन्ते ॥ ५ ॥

अत्र विद्विरूपलब्धिवचनः नोपलभ्यन्ते, यतोऽतो न ते रूपादयो नियोगतः—
समुच्चयतो विकल्पतो वा वर्तन्ते नमः प्रभृतिषु द्वयैरेत्यर्थः । ननु दृष्टिचक्षु-
माकाशमिति कथं प्रतीतिरिति चेन्न मिहिरमहसां विराटरूपाणामुपलब्धमात्रा-

वर्तमानज्ञानि का आशय होना, (२) तथा रस के आधार में अवर्तमान तथा अनुप्य शीत
स्पर्श के आधार में वर्तमान जाति का आशय होना, (३) तथा गन्ध के आधार में अव-
र्तमान तथा अनुष्णाशीतस्पर्श के आधार में वर्तमान जाति का आशय होना (४)
एव स्पर्शमिन्न विशेषगुणों के आधार में अवर्तमान विशेषगुण के आशय में वर्त-
मान जाति का आशय होना ऐसे ४ हैं । (इन संपूर्ण लक्षणों में पृथिवी आदि तीन
द्रव्यों में अतिव्याप्ति निरास के लिये वसमानाधिकरण तक विशेषण पद जानि में
दिया है । तथा आत्मा में उक्त शेषधारणार्थ समानाधिकरणान्त दूसरा विशेषण
दिया है । द्वितीयलक्षण में तेज में उक्त शेष ही के निरासार्थ स्पर्श में अनुष्णाशीत
पद विशेषण है । तथा तृतीय लक्षण में जल में उक्त शेष के ही निरासार्थ अनुष्णाशीत
पद स्पर्श में विशेषण दिया है । एव चतुर्थलक्षण में मन में अतिव्याप्ति शेष के
निरासार्थ विशेषगुणपरमं अनुसरण दिया है । ऐसे चारों लक्षण हो सकते हैं, कि
एक २ को छोड़कर दूसरा लक्षण करने में कोई बीज है यह भी यहाँ जान लेना
चाहिये ॥ ४ ॥

(पचम सूत्र का प्रवर्तन देने हुए शङ्करमिश्र कहते हैं कि)—शङ्का है कि
आकाश, काल, दिशा तथा आत्मा का भी स्वरसादिगुण की आधारता रूप लक्षण
यों नहीं है ? इस प्रश्न के उत्तर में सुप्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—ते = स्वरसादि गुण, आकाशे = आकाशनामक द्रव्य में, न = नहीं
विद्यन्ते = उपलब्ध हैं ॥ ५ ॥

भावाय—आकाशद्रव्य में रूप, रस गन्ध, तथा स्पर्श नाम का चारों विशेष गुण
उपलब्ध नहीं होने ॥ ५ ॥

सप्रकार—इस सूत्र में 'विद्यते' इस शास्त्रात् पद में 'विद्' का उपलब्धि
अर्थ है जिस कारण उपलब्ध नहीं होते वतः स्पर्श आदि चारों विशेष गुण मिलकर
अथवा पृच्छ २ में आकाश, काल, दिग् तथा आत्मा द्रव्य में नहीं रहते यह सूत्र का
अर्थ है । शङ्का है—यदि आकाश में रूप नहीं है तो दक्षि के समान आकाश श्रेष्ठवर्ण

भिमानान् । कथं तर्हि नीलं नम इति प्रतीतिरिति चेन्न सुमेरोदक्षिणदिशामाक्रम्य विषयस्येन्द्रनीलमण्डशिग्रस्य प्रमामालोक्यतां तथाभिमानान् । यत्तु सुदूरं गच्छच्छक्षुः परा नमान स्वच्छक्षुःकनौनिकामाकलयत्तथाभिमानं जनयतीति मतं तदयुक्तम् पिङ्गलसारनदनानामपि तथाभिमानान् । इहेदानीं रूपादिकमिति—प्रत्ययान् दिक्कालयोरपि रूपादिचतुष्कमिति चेन्न ममवायेन प्रयिज्यादीनां तल्लक्षणयोक्तृत्वान् न तु सम्बन्धान्तरेणापि इहेदानीं रूपान्यन्तामाय इत्यपि प्रतीने मर्वाधारसैव दिक्कालयोः ॥ ५ ॥

नन्वपि द्रवत्वं लक्षणमुक्तं तदयुक्तम् प्रयिज्यामपि द्रवत्वोपपञ्चादित्यत आह—

सर्पिर्जतुमधृच्छिष्टानामग्निसंयोगाद् द्रवत्वमग्निः सामान्यम् ॥ ६ ॥

है ऐसा ज्ञान कैसे होता है ? उत्तर—ऐसा नहीं, क्योंकि मूल के चिरणों के जो निर्मल रूप है उसका घटन होने के कारण आकाश श्वेत है यह अभिमान (भ्रम) होता है ।

प्रश्न—तो आकाश नीलवर्ण है ऐसा ज्ञान कैसे होता है ? उत्तर—मुझे नामक पर्वत जो दक्षिण दिशा की आक्रमण कर स्थित है तथा जिसके चिह्नर (इन्द्रनील) नीलम रत्न ॥ भरे हैं, उसकी नील कान्ति को देखने वालों की आकाश नील है ऐसा अभिमान (भ्रम) होता है । इसका दार्शनिक विद्वान् ऐसा उत्तर देने हैं कि बहुत दूर तक ऊपर गया हुआ बहुत इन्द्रिय छीटकर अपने बहुत इन्द्रिय की भीषण आँस की पुत्रली को दहन करने के कारण आकाश निलवर्ण है ऐसा भ्रम होता है, किन्तु यह उत्तर ठीक नहीं है क्योंकि पीले रंग की आँस की पुत्रली वाते मनुष्यों की भी आकाश नील है ऐसा भ्रम होता है (ऐसे पीठ पुत्रलीवाले पुरुषों की कनीनिका (आँस की पुत्रली) ॥ नीलरूप न होने से उन्हें आकाश नील है ऐसा भ्रम न होना) । प्रश्न—'दम स्थल में इस समय रूप-रमादिक है ।' ऐसा ज्ञान होने के कारण दिशा तथा काल दोनों द्रव्यों में रूप रस, गन्ध, तथा स्पर्श चारों गुण मिश्र होते हैं ? उत्तर—उपशाय-मन्त्राद्य से रुगादि धूँओं का आघार होना पृथिव्यादिकों का लक्षण पूर्व में कथित है । न कि उससे भिन्नकामिक विरोधवत्ता कथवा दैहिक विरोधवत्ता सम्बन्ध से इस समय यहाँ रूप नहीं है ऐसी भी प्रतीति होती है इस कारण दिशा तथा काल द्रव्यों में सर्वाग्रगता ही मिश्र होती है ॥ ५ ॥

शंका है—जल का जो स्वाभाविक द्रवत्व लक्षण पूर्व में कहा गया है, वह धृतादि पृथिवी में भी द्रवत्व की उपलब्धि होने से अतिव्याप्ति दोषग्रस्त होने से अयुक्त है—इस शंका का सुप्रकार उत्तर देने हैं—

पदपदार्थ—सर्पिर्जतुमधृच्छिष्टानां = धी, राह, सहर का छत्ता इनमें, अग्निसंयो-

सर्विरादीनां यद्द्रवत्वमस्ति तदग्निसंयोगाग्रिमित्तात् न तु सांसिद्धिकम्
वाहशब्दाया लक्षणम् द्रवत्वमात्रन्तु पृथिव्या अद्भि सामान्यं न तु सांसिद्धिकं
द्रवत्वमपीति नातिव्याप्तिरित्यर्थः ॥ ६ ॥

ननु तथापि त्रुसीसलोद्गादौ तेजसि गतत्वेन तदवस्थैरातिव्याप्तिरित्यत
आह—

त्रुसीसलोद्गादौ तत्र सुवर्णानामग्निसंयोगाद् द्रवत्वमद्भिः सामा-
न्यम् ॥ ७ ॥

उपलक्षणञ्चैतत् आश्रयता आरकूटपारदादीनामप्युपसमदः । शक्यलक्ष्यसा-

मात् = तेज के संयोग से, द्रवत्व = द्रवत्वगुण, अद्भि = जल के साथ, सामान्य =
साधारण है ॥ ६ ॥

भावार्थ—घो, लाह तथा घाह के छत्तो में अग्नि के संयोग से उत्पन्न होने के
कारण नैमित्तिक, (निमित्त से होनेवाला) द्रवगुण होता है, न कि जल के समान
स्वाभाविक द्रवत्व घनादिगो में है, अतः अतिव्याप्ति दोष न होगा, सामान्यरूप से
द्रवत्व का आश्रय होना पृथिवी तथा जल का समानधर्म ही भरता है ॥ ६ ॥

उपस्कार—पूत, लाह, मधूच्छिष्ट इत्यादि पायिक द्रव्यों में जो द्रवत्व होता है वह
अग्निसंयोगरूप निमित्त से होता है न कि उनमें स्वाभाविक द्रवत्व है, और स्वाभाविक
द्रवत्व जल का लक्षण है, केवल द्रवत्व तो पृथिवी तथा जल में समान है (अर्थात्
केवल द्रवत्वगुण पृथिवी तथा जल का समानधर्म है) किन्तु स्वाभाविक द्रवत्व पृथिवी
तथा जल का समानधर्म नहीं है इस कारण अतिव्याप्ति दोष न आयेगा ॥ ६ ॥

(शकापूर्वक सप्तम सूत्र का अवतरण शरुरमिश्र देते हैं कि)—संका है तथापि
(जल में अतिव्याप्ति दोष का निराकरण होने पर भी) तेजद्रव्य में जलद्रव्य के द्रव-
त्व लक्षण के जाने से अतिव्याप्ति दोष उसी प्रकार है ही ? इस शका का सुनकार
ऐसा कारण करने हैं—

पदपदार्थ—त्रुसीसलोद्गादौ तत्र सुवर्णानां = जस्ता, सीसा, लोहा, चांदी, सुवर्ण इन
तेजो द्रव्यों का, अग्निसंयोगात् = अग्निसंयोग से, द्रवत्व = द्रवगुण, अद्भि = जल
से, सामान्य = साधारण है ॥ ७ ॥

भावार्थ—जस्ता, सीसा, लोहा, चांदी, सोना इन तेजद्रव्यों में अग्निसंयोग रूप
निमित्त से द्रवत्वगुण उत्पन्न होने से उनमें नैमित्तिक द्रवत्व है न कि जल के समान
स्वाभाविक द्रवत्व जस्ता आदि तेजद्रव्य में है, अतः अतिव्याप्ति दोष न होगा, सामान्य-
रूप से द्रवत्व का आधार होना तेज तथा जल का समानधर्म ही सकता है ॥ ७ ॥

उपस्कार—त्रु (जस्ता) सीसा इत्यादि सूत्र में प्रदीक्षित तेजोद्रव्य कासा, तासा,
पीतल, पारा इत्यादि तेजोद्रव्यों के भी लक्षणावृत्ति से सूत्र नहीं । सूत्र में शब्द से

धारणञ्च अत्यन्ताग्निंसयोगानुच्छिद्यमानजन्यद्रवत्वाधिकरणत्वमेव तथाच सु-
वर्णादीनामपि द्रवत्व नैमित्तिकमेव निमित्तस्याग्निंसयोगस्यान्यद्व्यातिरेकसि-
द्धत्वात्, परन्तु पूर्वसूत्रेऽग्निपदसौम्यप्रकर्षवत्तेज परम्, इह तु बहिर्परमिति
विशेषः । ननु सुवर्णादीनामपि पार्थिवत्वमेव द्रव्यान्तरत्वं वा पीतमगुरुत्वादे-
पाथिवत्वव्यवस्थापकत्वाद् द्रवत्वानुच्छेदस्य पृथिवीवैवर्ध्याप्यनुभवात् द-
ह्यान्तरत्वं व्यवस्थापकत्वादिनि चेन्न सुवर्णं तैजसम् अत्यन्ताग्निंसयोगेऽप्यनु-
च्छिद्यमानद्रवत्वाधिकरणत्वात् यज्ञैव यज्ञैव यथा पृथक्वाति व्यातिरेकिणा तैज-
सत्त्वसिद्धेः । न च जलपरमाणी निरुद्धता द्रवत्वस्थानित्यत्वेन विशेषणो-

कहं यपु आदि तथा लक्षणा स बोधन कासा, तावा, इत्यादि लक्ष्य तेजद्रव्यो
मे समानरूप स रहने वाला (जिसके कारण मूल के यपु आदि द्रव्यो से कासा
आदि द्रव्य लिय जाते है उसमें (दोनों में साधारण) घम है—अत्यन्त अग्निसंयोग होने
पर (अनुच्छिद्यमान) नष्ट न होने वाले द्रवगुण का आश्रय होना (जो यपु आदि
सुवोक्त तथा लक्षणा से बोध्य कासा आदि तेजोद्रव्य में भी समान है), तथाच
ऐसा होने से सुवर्ण, लोह इत्यादि तेजोद्रव्यो का भी द्रवत्वगुण नैमित्तिक ही है,
क्योंकि अग्निसंयोगरूप सम्बन्ध (अग्निसंयोग रहते द्रवत्व होना (व्यातिरेक)
(न रहते न होना) दोनों से सिद्ध है । किन्तु 'सर्वितु' इत्यादि पूर्वसूत्र में अग्निपद
अधिक उत्पत्तेज का बोधक है (क्योंकि धाम में भी वी इत्यादि टिक्ल जाते हैं)
और यपुसीस इत्यादि इस मूल में 'अग्नि' को ही लेता है । क्योंकि यपु आदि दिना
अग्निसंयोग के नहीं टिक्लते यह विशेष है । ननु (सत्ता है)—सुवर्ण, लोह इत्यादिक
भी पार्थिव द्रव्य अथवा तेजोभिन्न दूसरे द्रव्य होने, क्योंकि जबसे पीतवर्ण तथा
गुरुत्वादिगुण पार्थिव द्रव्य के व्यवस्थापक हो सकते हैं, तथा द्रवत्व का नाश न
होना रूप पृथिवी के निरुद्ध घम का अनुभव होने से पृथिवी तथा तेज से सुवर्णादि
भिन्न है यह भी सिद्ध हो सकता है ।

उत्तर—ऐसा नहीं क्योंकि सुवर्ण तेजोद्रव्य है, अत्यन्त अग्निसंयोग होने पर
भी अविनाशी, द्रवत्व का आधार होने से जो पृथिवी आदि (ऐसा तैजस) नहीं होता
यह अत्यन्त अग्निसंयोग से अविनाशी द्रवत्व का बाधक नहीं होता जैसे घृतादि पृथिवी
द्रव्य इस प्रकार के व्यातिरेकी अनुमान से सुवर्ण में तैजसद्रव्यता सिद्ध होती है ।
'जलपरमाणुओं में तैजसतारूप साध्य न होने' पर भी उसके द्रवत्व का नित्य होने
से नाश न होने के कारण शाक्याभाव का व्याप्य होने से उक्त हेतु विरुद्ध है' ऐसा
पूर्वपक्षी नहीं कह सकता क्योंकि द्रवत्व में अनित्यता विशेषण देने से जलपरमाणुओं
के द्रवत्व के नित्य होने से विरोधदोष न होगा । 'प्रदोष आदि बिम्बित तेजस्वरूप
सपक्ष द्रव्य तथा निश्चित तेजो द्रव्याभावरूप विपक्ष पृथिवी आदि में भी उक्त
हेतु के न रहने के कारण उक्त हेतु में असाधारणता दोष भी पूर्वपक्षी नहीं दे सकता,

त्वात् ।' न च प्रदोषादेः सपक्षार्द्धतोर्न्याय्यत्वेरसाधारण्यम् सुवर्णं न पार्थिवमिति साध्यार्थत्वात् । न चात्र गुरुत्वाधारस्य पक्षत्वे बाधः सदतिरिक्तस्य पक्षत्वे चाध्यासिद्धिः, द्रवत्वाधिकरणत्वेन पक्षत्वात् । न चान्यन्तिष्ठत्वं दुर्बलम्, प्रहरपर्यन्तमग्निसंयोगेऽप्यनुच्छिद्यमानानित्यद्रवत्वाधिकरणत्वादिति विवक्षितत्वात् । न च सतरसादिप्रत्ययादाश्रयनाशाच्च द्रवत्वनाशोऽप्ययदयं वाच्य इति वाच्यम् समानाधिकरणद्रवत्वसामान्यसमबहिताग्निसंयोगजन्यध्वंसप्रति-

क्योंकि सुवर्ण पायित्व इच्छ्य नहीं है ऐसा 'तैजसरश्' ह्य साध्य का अर्थ है । (इस पक्ष में अनिश्चयकर विशेषण देने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि जलपरमाणुओं में अपभ्रंश नहीं आता) किन्तु हेतुनिष्ठ साध्य का व्यापक अभाव प्रतियोगित्व अभाव-धारण दोष माननेवाले तर्कनैयायिकों के मत में तैजसरवसाध्यक ही अनुमान होता है उसमें उक्त विरोध दोष के निरासार्थ अनित्यत्व विशेषण देना ही होगा । तथा जल समुक्त घृत में अपभ्रंशरूपी निरासार्थ 'असति प्रतिबन्धके-प्रतिबन्धक न रहते' यह भी विशेषण देना होगा तथा घृतादिकों में उक्त दोषवारणार्थ 'अत्यन्तानिर्गुणो सति' यह विशेषण दिया है । 'न पायित्व' ऐसा साध्य करने से सुवर्ण तेज से अतिरिक्त इच्छ्य होगा' ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता, क्योंकि सुवर्ण पायित्व नहीं है, जलीय नहीं है । (इस प्रकार अतिरिक्त उल-उन इच्छ्यों से भेद सिद्ध होने पर परिहोय से तेजोद्वय-स्वसिद्धि होने के कारण इच्छ्यान्तरता सिद्ध नहीं हो सकती) (आगे संकरविषय कहते हैं कि)—उक्त अनुमान में सुवर्ण के गुरुत्वाश्रयमाय के पक्ष करने में पृथिवी भाग में तैजसरश् न होने से बाधदोष, तथा तद्भिन्न भाग को पक्ष मानने से तैजोभाग सिद्ध न होने से आश्रयसिद्धि दोष होगा' ऐसा भी पूर्वपक्षी नहीं कह सकता क्योंकि द्रवत्वा-श्रय तैजसरश् ऐसा अनुमान करेंगे (अर्थात् अत्यन्तसयोग होने पर भी अविनाशी द्रवत्व का आश्रय ऐसा पक्ष करने से 'आश्रयसिद्धि दोष न आवेगा' इससे अवच्छेदकावच्छेदेन सामान्यानुमिति में भी अधिक बाध दोष नहीं होता यह जान लेना चाहिये)

(आगे शर्करामिश्र कहते हैं कि) — हम अनुमान थे 'अत्यन्ताग्निसंयोग' इस हेतु के विशेषण में अत्यन्ता शर्करा का अर्थ दुर्बल (कहने अयोग्य) नहीं है, क्योंकि एक पहर तक अग्निसंयोग रहने पर भी शर्करा के अत्यन्त मात्रा नहीं होती, ऐसे अतिशय अत्यन्त का आशय ही यह हेतु का अर्थ विवक्षित है। यह पूर्वपक्षी नहीं कह सकता कि 'द्रुत (टिपला) द्रुततर (अधिक टिपला) द्रुततम (बहुत अधिक टिपला है) इत्यादि सुवर्ण द्रवत्व में ज्ञान होने के कारण तथा आचार का नाश होने से गौ द्रवत्व का नाश अवश्य मानना पड़ेगा' 'क्योंकि एक अधिकरण में वर्तमान द्रवत्व की सामग्री के असंग्रहित अग्निसंयोग से उत्पन्न ध्वस के प्रतियोगी में अवर्तमान द्रवत्वत्व जाति के आधार द्रवत्व के आशय होने से' यह हेतु का अर्थ है (अर्थात् ऐसा हेतु का अर्थ मानने से

योग्यवृत्तिद्रवत्वसामान्यवद्द्रवत्ववत्त्वादित्यस्य हेत्वर्थत्वात् । यद्वा पीतिमगुरु-
त्वाश्रयः पीतरूपभिन्नरूपप्रतिबन्धकद्रवद्रव्यसंयुक्तः प्रहरपर्यन्तमनलसयोगोऽपि
पीतरूपभिन्नरूपानाश्रयत्वात् अनलसयुक्तजलमध्यस्थितपीतपटवत् । ननु
चान्यकारे सुवर्णरूपमहापत्तिस्तदानीं तद्रूपस्याभिभवामाभावात् बलवत्सजातीय-

पायिव द्रवत्व मे वर्तमान ओ द्रवरवविशेष अग्निसयोग मे नष्ट होने वाले द्रवरव मे
रहता है वह अग्निसयोग उमी आधार मे वर्तमान द्रवरव की सामग्री के सन्निहित नहीं
है, यदि हो तो उसमे उसके पश्चात् द्रवरव उत्पन्न होता, और सुवर्ण का द्रवरव उत्पन्न
होने के प्रतिप्रतीति मे नहीं रहता, अतः उसके (सुवर्ण के) तैजोभाग मे अप्रतिबिम्बित
होय न आयेगा । अन्य काल को लेकर सपूर्ण अग्निसयोग में अन्य आश्रय मे वर्तमान
द्रवत्व की सामग्री का सन्निधान होने से अतिद्विषोप-वारणार्थ समानाधिकरण पद,
तथा सुवर्ण द्रवत्व का भी तरतम आदि प्रतीति होने के कारण, तथा आश्रयनाश
भी अग्निसयोग से नाश होने के कारण अतिद्विषोप वारणार्थ 'अदृश्याग्निसयोग मे'
'समानाधिकरण द्रवर-सामान्यसमवहित्व' ऐसा विशेषण दिया है । (यदि पूर्वपक्षी
कहे कि 'पक्षतानिधामक तथा हेतु के ऐक्य होने से समानाधिकरण्य से (किसी एक
पक्ष मे) मिट्टिज्ञान होगा जो पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन (सपूर्ण पक्षों मे) अनुमिति
में प्रतिबन्धक होता है' तो इसी मन के साधारण मानने योग्य सुवर्ण मे तैजसतासाधक
अनुमान शरकरमिथ्र दिखाते हैं कि)—अथवा पीतगुण तथा द्रवरवाधार, पीतरूप से
भिन्न रूप का प्रतिबन्ध करने वाले द्रव द्रव्य (टिघले हुये द्रव्य) से संयुक्त है, एक
प्रहरपर्यन्त अग्निसयोग होने पर भी पीतरूप से भिन्नरूप का आधार न होने से,
अग्नि से संयुक्त जल मे वर्तमान पीतवस्त्र के समान, (इस अनुमान से सुवर्ण में तैज-
सत्व सिद्ध होता है) । (अर्थात् जिस प्रकार अग्नि पर उष्ण होनेवाले पीले वस्त्र मे
जलरूप द्रव द्रव्य के संयोग के कारण पीतरूप वस्त्र का नहीं बदलता किन्तु और पक्का
ही जाता है, उसी प्रकार सुवर्ण के पीतरूप तथा द्रवत्वाधार पृथिवी भाग मे भी प्रहर-
पर्यन्त अग्निसयोग रहने पर भी पीतरूप से भिन्नरूप नहीं होता, इस कारण उसका
प्रतिबन्धक किसी द्रव द्रव्य का संयोग मानना पड़ेगा, जो द्रव्य पृथिवी तथा जल न
होने से तैजस्वरूप ही द्रव द्रव्य है यह सिद्ध होता है) । (पुन यहाँ पूर्वपक्षी को ऐसी
शका शरकरमिथ्र दिखाते हैं कि)—सुवर्ण यदि तैजद्रव्य है तो उसका परप्रकाशक
रूप हमें सँ अन्धकार में सुवर्ण के रूप का ग्रहण हुना पड़ेगा, क्योंकि 'उत' सम्यक्
उसका रूप अभिभूत नहीं है, क्योंकि बलवान् तथा समानजाति के ग्रहण मे होनेवाले
अग्रहण को ही अभिभव कहते हैं, (अतः सुवर्ण मे रहनेवाले पायिव द्रव्य के रूप के
ग्रहीत न होने से प्रतिबन्धक के न रहने के कारण अंधेरे मे सुवर्ण का रूप क्यों नहीं
ग्रहीत होता) । (उत्तर मे शरकरमिथ्र कहते हैं)—नहीं ऐसा हो सकता है क्योंकि

ग्रहणकृतस्याग्रहणस्याभिभवपदार्थत्वात् इति चेन्न तत्र फलवलेन बलवत्सजातो-
यसम्बन्धमात्रस्याभिभवपदार्थत्वात् । तदुक्तम्—

भूतंसर्गवशाच्चान्यरूपं नैव प्रकाशते ।

इति दिक् ॥ ७ ॥

एवं स्पर्शबद्धव्यचतुष्कलक्षणप्रकरण ममाप्य वायोर्लक्षणमाश्रयासिद्धमि-
ति तत्परिजिहोपया आदावनुमान प्रमाणमुपन्यस्यानुमानस्यैव प्रथमं दृष्टानु-
सारेण प्रमाणमुपपाश वायुसाधनप्रकरणमारभ्ये—

विपाणी ककुधान् ग्रान्तेवालधिः सास्नावान् इति गोत्वे दृष्टं
लिङ्गम् ॥ ८ ॥

बलवान् तथा समानजातीय वायिब द्रव्य का सम्बन्ध ही अभिभव पदार्थ है, अतएव कहा
है 'पृथिवी के सम्बन्ध के कारण अन्य (सुवर्ण) का रूप अन्धकार में प्रकाशित नहीं
होना' यह प्रकार है (अर्थात् बलवान् तथा समानजातीय जो पृथिवी का रूप उसका
सम्बन्ध 'स्वममवायिसंयुतत्वं' अपने में समवेत वायिब द्रव्य में संयुक्त तेज (सुवर्ण)
द्रव्य में सम्बद्ध रूप है सुवर्ण के रूप में रहने के कारण अन्धकार में सुवर्णरूप का
ग्रहण नहीं होता ॥ ७ ॥

(अष्टम सूत्र का अवतरण शकरमिश्र देते हैं कि)—इस प्रकार स्वर्णाधिकारण
पृथिवी आदि वायुपर्यन्त चार द्रव्यों के लक्षण के प्रकरण को समाप्त कर वायु का
लक्षण वायु में प्रमाण न होने से आश्रयासिद्ध है । इस दोष के परिहार की इच्छा से
प्रथम अनुमानप्रमाण को कहकर अनुमान में प्रत्यक्ष के अनुसार प्रमाणता सिद्ध कर,
वायुसिद्धि का प्रकरण प्रारम्भ करते हुये सूत्रकार कहते हैं—(अर्थात् पूर्वोक्त 'स्पर्श-
वान् वायु' यह वायु का लक्षण रुद्ध वायुद्रव्य के सिद्ध न होने के कारण अयुक्त है,
क्योंकि रूप न होने से वायु का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, अतः वायु में अनुमानप्रमाण
दिखाने के लिये प्रथम अनुमान में ही प्रामाण्यस्थापन सूत्रकार करते हैं—

पदपदार्थ—विपाणी=शृंगवाली, ककुधान्=कन्धे की हड्डिवाली, ग्रान्तेवालधिः=ग्रन्त
में बालवाली पुच्छ की आधय, सास्नावान्=गले में कम्बलवाली, इति=यह संपूर्ण
गोत्वे=गो में वर्तमान गोत्व जाति के आश्रय गो में लिङ्गम्=साधक है ॥ ८ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार गोत्वविशिष्ट गोव्यक्तियों की सिद्धि में सामान्यरूप से
देखे हुए लोकप्रसिद्ध शृंग, ककुद्, आदि सूत्रोक्त साधक लिङ्ग होते हैं, उसी प्रकार
अप्रत्यक्ष भी वायु में स्पर्श, शब्द इत्यादिक सामान्यतोदृष्ट साधक लिङ्ग होते हैं,
ऐसा अन्तिम सूत्रसहित इस सूत्र का अर्थ है । अतः यह गो है, शृंगवान् होने से, या
पुच्छविशेष का आधय होने से, तथा सास्नावान् होने से प्रथम देखे गो के समान
ऐसा इस सूत्र में अनुमान प्रयोग जानना चाहिये ॥ ८ ॥

यथा गोत्वे प्रति विषाणादीनि लिङ्गानि गृहीतव्याप्तिरिति तथाऽतोन्द्रियवा-
त्त्वादिद्रव्यपञ्चकलिङ्गान्यपि सामान्यतो दृष्टानि प्रमाणभावमासादयन्तीति
भावः । अत्र यद्यपि विषाणित्वमात्रं न गोत्वे लिङ्गमहिषादौ व्यभिचारात्, न
च सास्नादिमन्त्रविशेषणम् विशेष्यस्य व्यर्थत्वापत्तेः तथापि गोविषाणे महिष-
मेपादित्रिषाणापेक्षया चैलक्षण्यमाकलयता धूम इव ते ते विशेषा लिङ्गभावमा-
सादयन्त्येव विषाणेष्वपि श्रृङ्गुत्ववक्रत्वकठिनत्वसुकुमारत्वह्रस्वत्वदीर्घत्वाद्-
य । ने च विशेषा निपुणतरवेद्याः सन्त्येव तथाच कण्वहितविप्रकृष्टगोपिण्डे
अथ गोविषाणविशेषवत्त्वात् पूर्वानुभूतगोपिण्डग्रन्थितुमानमप्रत्यूहमेव । एवं
कृकृद्वापि लिङ्ग गोत्वे । प्रान्तेषालधिमन्त्रमपि स्वतन्त्रमेव लिङ्ग गोत्वे, प्रान्तै
याता आधोयन्तेऽस्मिन्निति प्रान्तेषालधिः-पुच्छविशेषः अलुक्त्वासात् गोपुच्छ

उपकार—जिस प्रकार पूर्व में अनुभूत ध्यातिवाले श्रुत इत्यादि गौ की मिट्टि
में साधक लिङ्ग होते हैं, उसी प्रकार अप्रत्यक्ष धातु से लेकर आत्मा तक पञ्चदशों
के सामान्यगोदृष्ट नामक साधक लिङ्गप्रमाण होते हैं, यह सूत्र का भाव (अभिप्राय) है
यहाँ पर केवल श्रृङ्ग इत्यादि होना ही गौका यद्यपि महिषादियों में व्यभिचारके कारण
साधक लिङ्ग नहीं हो सकता, यदि सास्नावान् होने हुए ऐसा विशेषण दिया जाय
तो उतने से ही घटिपादिकों में व्यभिचार बोध निवृत्त हो जाने से 'श्रृङ्गवान्' होना
यह विशेष व्यर्थ हो जायगा, तथापि गौओं के श्रृङ्गों में महिषादिकों के श्रृङ्गों से
विलक्षणता को जानने वालों के लिये काष्ठादि बल्लिवन्धूतों में विशेषता के समान
गौओं में रहने वाले श्रृगों में भी श्रृङ्गता (सीबा होना) वक्रता (टेढ़ा होना), कठिनता
(कड़ा होना), सुकुमार होना, ह्रस्वता, (बलुंडे होना) दीर्घता (लम्बा होना) इत्यादि
विशेष भी साधक लिङ्ग हो सकते हैं ।) ये सब विशेषण अत्यन्त निपुण (अनु-
पूरणों से जानने योग्य गौओं के श्रृगों में वसंतमान ही है, इस कारण व्यवधानपुत्र
दूरस्थ गौ के शरीर में यह, गौ है, विशेष श्रुतवाली होने से प्रथम देखे हुए गोशरीरों
के समान, इस प्रकार निर्दोष्ट अनुमान हो सकता है । इसी प्रकार यह गौ है, ककु
(कंधे के ऊपर भाँस का गोला) होने से, पूर्वदृष्ट गौ के समान, इस अनुमान में ककु
वत्ता भी गौ का साधक लिङ्ग है । गौके के हिस्से में केशमय पुच्छ होना रूप 'प्रान्त
चालधितः' अर्थात् ऐसा पुच्छविशेष, यहाँ 'प्रान्तेषालधि' शब्द में प्रान्ते इस मतधी व
लोप न होने से गौ का पुच्छ ही 'प्रान्तेषालधि' शब्द में कहा जाता है, क्योंकि जि
प्रकार गौओं के पुच्छों में अन्तिम पुच्छ के भागों में केश व्याप्त होने हैं उस प्रकार जरा
मेडा (मेडा) इत्यादि पशुओं के पुच्छों में केश व्याप्त नहीं होते और गौ के पुच्छ
सम्पूर्ण केशमय होते हैं, एवं महिषों के पुच्छ के अन्त में केश व्याप्त होने पर भी वे
के पुच्छ के समान लम्बे नहीं होते, इस प्रकार और पशुओं के पुच्छों से गौ के पुच्छ

एवान्ते बालधिशब्देनोच्यते, न हि यथा गोपुच्छेषु प्रान्तेबालधित्वतयाऽश्वमेपादि-
पुच्छेषु, तेषां सामान्येन बालमयत्वात्, महिषादिपुच्छे वादृशी प्रलम्बता नास्ती-
ति विलक्षण्यात् । अन्तेबालधिमत्त्वमपि गोत्वे लिङ्गं मनुबलोपात् गोपिण्ड-
वच्यते, तथा प्रायं गौः प्रान्तेबालधिमत्त्वात् पूर्वानुमृतगोपिण्डवत् । साम्नाव-
त्ता तु प्रसिद्धैव गोत्वे लिङ्गम् ॥ ८ ॥

एव सकललोकयात्रावाहिनोऽनुमानस्य दृष्टानुसारेण प्रामाण्यमभिधाय
वायुसाधनप्रकरणमारिप्समान आह—

स्पर्शश्च वायोः ॥ ६ ॥

लिङ्गमिति शेषः । अकारात् शब्दधृतिकम्पा समुचीयन्ते । ननूपलभ्यमानस्पर्-
शः पृथिव्या एवानुद्भूतरूपाया, स्यादिति चेन्न उद्भूतस्य पृथिवीरपर्शस्योद्भू-
तरूपनाम्तरीयकत्वात् । तथाच योऽयं स्पर्शोऽनुभूयते स कचिदाश्रितः स्पर्शत्वा-

विलक्षणता है । अतः 'अन्तेबालधिमत्ता' भी गोत्व का अनुमापक है । यहाँ पर 'अन्ते
बालधि' शब्द के उत्तर 'मनुष्य' प्रत्यय का लोप करने से 'अन्तेबालधि' शब्द का गोसरीर
वर्ण होता है, अतः यह गौ है, अन्तेबालधि 'पुच्छ का आधार होने से पूर्वदृष्ट गौ के
समान ऐसे पूर्ववर्णित अनुमान से गौसिद्धि होने के कारण प्रान्तेबालधिमत्त्व भी गौ
का लिङ्ग है । मूलकम्बलादिरूप सारनाधिमत्ता तो लोकप्रसिद्ध ही गोतावक
लिङ्ग है ॥ ८ ॥

(नवम सूत्र का शंकरमिश्र अवतरण ऐसा देते हैं कि)—इस प्रकार सम्पूर्ण समार
के व्यवहारों में उपयोगी अनुमान का प्रत्यक्षानुसार प्रामाण्य स्थापन कर प्रस्तुत
वायुप्रकरण आरम्भ करने की इच्छा करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—स्पर्शः अ-ओर स्पर्शगुण भी, वायो = वायुनामक द्रव्य का
लिङ्ग है ॥ ९ ॥

भाषार्थ—स्पर्शगुण तथा अकार से शब्द, धृति तथा कम्प क्रिया वायुद्रव्य
के साधक हेतु हैं ॥ ९ ॥

उपस्कार—सूत्र में वायु का 'लिङ्ग' साधक है ऐसा अवशिष्ट आकाशित पद
देना सूत्र के अकार से शब्द, धृति तथा कम्प इनका संग्रह किया जाता है ।

शंका—सरीर में सन्नद्ध होनेवाला स्पर्शगुण अप्रपटल्यवाली पृथिवी का ही होगा ।
(उत्तर)—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रगट पृथिवीस्पर्श के साथ प्रपटल्य की व्याप्ति
है (अर्थात् जो पार्थिव द्रव्य उद्भूत स्पर्शाश्रय होना है, वह उद्भूत स्पर्शवाला अवश्य
होता है । अतः यदि सरीर में लगनेवाला स्पर्श पृथिवी का हो तो उसे दिखाई
पड़ेगा नहीं दोस्तों से पृथिवी का नहीं है यह सिद्ध होता है) । (अतः शंकरमिश्र
कहते हैं कि)—ऐसा होने से जो यह स्पर्श अनुभूत होता है, वह किसी द्रव्य के आश्रित

न पृथिव्यादिस्पर्शवदिति सामान्यतोद्घटेन स्पर्शश्रवणसिद्धौ स्पर्शश्रवणयो न पृथिव्यादिप्रयात्मक नौरूपत्वात् नाकाशादिपञ्चात्मकः स्पर्शवत्त्वादितोतरचाय-
सहकृतेनाष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्यसिद्धिः । एव शब्दविशेषोऽपि वायौ लिङ्गम्, तथा-
हि असति रूपवद्द्रव्याभिघाते चोऽय पर्णादिशब्दसन्तान स शब्दवद्देगवद्द्र-
व्याभिघातनिमित्तक अविवक्ष्यमानायवद्द्रव्यसम्बन्धिशब्दसन्तानत्वात्-
दण्डाभिघातजभेरीशब्दसन्तानवत् । रूपवद्द्रव्याभिघातव्यातरेकस्तु योग्या
मुपलब्धिगम्यः । सच्च स्पर्शवद्देगवद्द्रव्यमष्टद्रव्यातिरिक्तमेव परिशेषात् ।
एव धृतिविशेषोऽपि वायोर्लिङ्गम् तथाहि तृणतुलस्तनयित्तुविमानानां नभसि
धृति स्पर्शवद्देगवद्द्रव्यसंयोगजा चेतनानधिष्ठितद्रव्यधृतिवत्त्वात् प्रवाहे तृण-

है स्पर्श होने में, पृथिवी जल आदि के स्पर्श के समान इस प्रकार सामान्यतोद्घट
अनुमान में स्पर्शगुण का आशय है यह सिद्ध होने पर वह स्पर्शाश्रय पृथिवी, जल
तथा तेजस्व सीन द्रव्यस्वरूप नहीं है, रूपरहित होने से तथा आकाश से मन तक
पञ्च द्रव्यस्वरूप नहीं है स्पर्शाश्रय होने से इन दोनो अनुमानों से वायु से भिन्न द्रव्यो
की आधारता के बाध की सहायता से उक्त अनुमान से पृथिवी आदि अष्ट द्रव्यो से
भिन्न स्वतन्त्र गुण का आधार वायु सिद्ध होता है । (यही पर 'योगम्' इत्यादिक से पृथिवी
आदिको में असम्बद्ध स्वतन्त्र प्रदर्शित अनुमान में पक्ष है यह सूचित होता है, जिससे
सिद्धसाधन दोष की शका निरस्त हो जाती है । इसी बात को शंकरमिश्र ने 'न
पृथिव्यादिप्रयात्मक' इत्यादि आगे अनुमानों में कहा है) । (आगे शंकरमिश्र
कहने हैं कि)—इसी प्रकार शब्दविशेष भी वायु का साधक लिङ्ग इस प्रकार है—
रूपाश्रय द्रव्य का अभिधान नामक संयोग न रहते जो यह वृक्ष के पत्रादिकों
में शब्द का सन्तान ('सन् सन्' ऐसा शब्द समूह) होता है, वह स्पर्श वेगशाले द्रव्य के
अभिघातरूप निमित्त में उत्पन्न है, न विभक्त अवयववाले द्रव्य के शब्दसन्तान होने ॥
बण्डे से नाजित (अभिहत) भेरी (नगाड़े) के शब्दसन्तान के समान योग्य जिसमें रूप
वाले पृथिवी आदि द्रव्यो का अभिघात नहीं ॥ यह उस प्रदर्शयोध्य रूपवात् द्रव्य के अभि-
घात की उपलब्धि न होने से जाना जाता है, अतः वह स्वतन्त्र तथा वेगाश्रय द्रव्य पृथिवी
आदि आठ द्रव्यो से भिन्न है यह स्पर्श तथा वेगवान् द्रव्य, पृथिवी आदि रूप नहीं
है, रूपरहित होने से इत्यादि पूर्वोक्त प्रकार से परिशेषानुमान से जानना चाहिये ।
इसी प्रकार धृति (धारण) विशेष भी वायु का साधक लिङ्ग ऐसा है
कि तृण, तूल (रूई), मेघ, विमान इत्यादिकों की आकाश में धृति (धारण), स्पर्श तथा
वेगाश्रय द्रव्य के संयोग से उत्पन्न है, चेतन प्राणियों से आधितन होनेवाली धृति होने
से जल के प्रवाह में तृण, काष्ठ तथा नौका के धृति के समान ॥ (इस अनुमान में
मन्त्राणादिकों से विपादि रोकने की धृति में उक्त संयोग से उत्पत्ति न होने के कारण
व्यभिचारदोष-वारणार्थ हमारे ऐसे चेतन प्राणियों से आधित नहीं ऐसा हेतु में विरो-

कागुनौहादिधृतिवत् । अभिध्यानकृतत्रिपादिधृतौ च अस्मदासधिष्ठानमेव । एव
पक्षिः फण्डादिधृतावपि । न चेश्वराधिष्ठितत्वेन हेतुविशेषणासिद्धिः चेत्तनपदेन
तद्विरस्य विवक्षितत्वात् । एव कम्पोऽपि वायुसत्त्वे लिङ्गम् तथाहि इष्ट रूपवद्-
द्रव्याभिघातमन्तरेण नृणादौ कर्म स्पर्शवद्देगवद् द्रव्याभिघातज गुरुत्वप्रयत्न-
वदात्मसंयोगाजन्यकर्मत्वात् नदीपूरादत्तचेतसयनकर्मवदिति । गुरुत्वपदेनाहृष्टव-
दात्मसंयोगद्रवत्वसंस्काराणामुपपदः तेन तदजन्यकर्मत्व हेतुः । ननु प्रत्यञ्च एव
वायु किमत्र लिङ्गगवेपथयेति चेन्न वायुर्मे प्रत्यञ्चः नीरूपमहिर्द्रव्यत्वात् गगन-
वदित्यनुमानादतीन्द्रियत्वस्यैव सिद्धे । ननु वायु प्रत्यञ्च स्पर्शाश्रयत्वाद् घट-
वदिति प्रत्यक्षानुमानमिति चेन्न तदुभूतरूपवत्त्वस्यात्रोपाधित्वान् च । न रूपा-

पण दिया गया है । वृक्ष में भी आस होना, शरीर (पावो) का शरीरुण (पुन ठीक होना)
इत्यादिको से अनुमित प्राणवायुकी आपारता के कारण चेतनता वास्तविक होनेसे आकाश
में पक्षिः फण्डादि की धृति में भी व्यभिचार न होना । यदि कहो कि 'ईश्वर कर-
चेतन से अभिन्न होने के कारण, प्रवर्तित अनुमान में 'अत्मवाचनविच्छिन्नता' विशेषण
ही समिद्ध है । (अतः असिद्धि दोष होया) तो यह यह नहीं कह सकते हैं क्योंकि हेतु में
चेतनपद से ईश्वर भिन्न चेतन लिये जाते हैं) । इसी प्रकार कल्प भी वायु की सत्ता
में साधक लिङ्ग है, अतः यह रूपवान् द्रव्य के अभिघात के बिना होनेवाली दृग्गादिको
में कल्पनक्रिया स्पर्श तथा वेगवान् द्रव्य के अभिघात से उत्पन्न है । गुरुत्व तथा
प्रयत्नवान् आत्मा के संयोग से न उत्पन्न किया होने से, नदी के प्रवाह में अभिहत
पेट (बैठ) के तन में कल्पक्रिया के समान ऐसा अनुमान ही सकता है । (इस अनुमान
में पतन वेपथ (फेंकना) आदि कर्मों में व्यभिचारवारणार्थ 'अजग्य' तत्र हेतु में
विशेषण दिया है) । इसमें चोर को छीनने वारि कैसे के पात्र की चोर के सामने जाने
की गमन क्रियाओं में व्यभिचार-वारणार्थ गुरुत्वपद लक्षणावृत्ति से अदृष्टवान् आत्मा
के संयोगाविके का साधक है इस आशय से साकरमित्र कहते हैं कि) — गुरुत्वपद से
यही पर अदृष्टवान् आत्मा के संयोग, द्रवत्व तथा वेगादि सत्कार का सप्रह होता है
अतः इनसे भी न उत्पन्न किया हेतु का अर्थ है ऐसा जानना । किन्तु यहाँ पर पूर्व-
पक्षी ऐसी सका करता है कि वायु द्रव्य प्रत्यक्ष सिद्ध ही है तो उसमें साधक लिङ्ग की
छोजने की क्या आवश्यकता है ? (उत्तर) — वायु प्रत्यक्ष नहीं है, स्पर्शरहित ब'ह्मद्रव्य
होनेसे आकाश के समान, इस अनुमान से वायु में अमीन्द्रियता ही सिद्ध होती है । यदि
पूर्वपक्षी 'वायु प्रत्यक्ष है, स्पर्शार्थ्य होने से, घट के समान' ऐसी वायु में प्रत्यक्षता
का अनुमान करे, तो यह नहीं हो सकता क्योंकि उक्त पूर्वपक्षी के अनुमान में
वदभूतरूपाद्यपत्ता उपाधि होने में (हेतुव्याप्यत्वाविद्ध है) ।

रूपादि गुण तथा आत्मा में प्रत्यक्षतारूप साध्य रहने पर रूप न होने से उदभूत-

दावात्मनि च साध्यव्यापकमेतत्, पक्षधर्मबहिर्द्रव्यत्वाच्चित्तमस्य साधनधर्मा वच्छिन्नस्य वा साध्यस्य व्यापकत्वात् । न च चाक्षुषप्रत्यक्षत्व तत्तन्त्रं तत्रैव तद्व्यव्यतिरेकानुविधानात् स्पर्शनप्रत्यक्षत्वे तु योग्यस्पृशवत्तामात्रस्य तन्त्रतेति वाच्यम् रूपान्वयव्यतिरेकयोरुभयत्रापि तन्त्रत्वात्, न ह्युभयसिद्धस्पर्शनैव प्रत्यक्षता रूपस्य ग्रहमन्तरेण दृष्टा । किञ्च यदि वायु प्रत्यक्षः स्यात् सङ्ख्यादि-सामान्यगुणोपलम्भेऽपि तन्त्रं स्यात् ; नन्वस्येव फूत्कारादौ सङ्ख्यायाः परि-माणस्य च हस्तद्वितस्थादे उभयपाद्वर्तिनोर्वाच्योः पृथक्त्वस्य च परत्वाप-परत्ययोश्च प्रत्यक्षता वायुजातीयस्य व्यक्तिपरतया तु न तत्रापि नियमः पृष्ठ-लग्नवत्त्वादी उदभूतपलम्भादिति चेन्न व्यक्तिपरतयैव नियमात् पृष्ठलग्नवत्त्वादी चाजंभावस्थाने सङ्ख्यादीनां ग्रहणात्, अनाजंवाचस्थानादोपात्त उदग्रहः । उद्भूतरूपस्पर्शां मिलितावेव बहिर्द्रव्यप्रत्यक्षत्वे तन्त्रे प्रभाया नयनगतपीतद्रव्यस्य चन्द्रमहसश्च स्पर्शानुसूत्रादप्रत्यक्षत्वम् निदाघोष्मणोर्विमक्तावयवाद्यद्रव्याणाञ्च

रूपवत्ता उपाधि नहीं होगा; क्योंकि साध्य का व्यापक तथा साधन का अव्यापक ही उपाधि होता है) । ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता, क्योंकि केवल साध्य का व्यापक न होने पर भी पक्ष (वायु) के बहिर्द्रव्यत्वरूप धर्म से युक्त अथवा साधनधर्मविशिष्ट साध्य का व्यापक है (ऐसा उपाधि का लक्षण होने के कारण अस्मात् मे बहिर्द्रव्यता तथा रूप में द्रव्यता न होने से उद्भूतरूपवत्ता में उपाधि लक्षण आजायगा, क्योंकि यह वयम् है मित्र का पुत्र होने से इत्यादि अनुमान में साकपाकजम्पता रूप उपाधि में अव्याप्ति-वारण के लिये साध्यव्यापक का 'पक्षधर्मविशिष्ट साध्यव्यापक' ऐसा अर्थ करना आवश्यक है ।), (संकरमित्र कहते हैं कि पूर्वपक्षी यह यहाँ नहीं कह सकता कि)—उद्भूतरूप चाक्षुष प्रत्यक्ष ही मे कारण है, क्योंकि चाक्षुषप्रत्यक्ष में ही रूप होने से प्रत्यक्ष का होना, न होने से न होना यह अन्वय तथा व्यतिरेक का अनुसरण होता है, स्पर्शनप्रत्यक्ष में तो प्रत्यक्षयोग्य स्पर्शगुण का होना ही प्रयोजक है—क्योंकि रूपगुण का अन्वय तथा व्यतिरेक चाक्षुष तथा स्पर्शन दोनों प्रकार के प्रत्यक्ष में कारण है । क्योंकि प्राचीन तथा नवीन दोनों मत से सिद्ध स्पर्शगुण ही से द्रव्य का प्रत्यक्ष बिना रूप के ग्रहण से दिसाता है । (अर्थात् प्राचीन तथा नवीन मत से सिद्ध स्पर्शगुण स्पर्शनप्रत्यक्ष से कारण होने पर भी रूप को भी कारणता है ऐसा प्राचीन नैयायिक कहते हैं, अतः उनके मत में बहिर्द्रव्यो के प्रत्यक्ष मात्र में रूप को कारणता है यह वाक्य यहाँ संकरमित्र का है ।) । (यदि इस पर ऐसी सका हो कि 'बहिर्द्रव्यो के प्रत्यक्षमात्र से स्पर्श ही को कारण नहीं न माना जाय, क्योंकि प्रमा (प्रकाश) को देखता हूँ, इस प्रकार के ज्ञान के समान वायु को स्पर्श करता हूँ' ऐसा भी अनुभव होता है, उसका अपलाप (न मानना) नहीं हो सकता, इस कारण बहि-

रूपानुद्भवप्रत्यक्षत्वमिति न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकाकृतः । स्पर्शानुद्भवेऽपि प्रमादीनां प्रत्यक्षतैव अत एव चान्द्रालोके नभसि पक्षिकाण्डादिसंयोगविभागयोः प्रत्यक्षतैवेति सम्प्रदायविदः । न चोद्भूतस्पर्शवत्त्वं सामान्यतो वहिर्द्रव्यप्रत्यक्षताप्रयोजकमिति वाच्यम्, इन्द्रनीलप्रभाया अप्रत्यक्षतापत्तेः । न चोद्भूतविशेषगुणवत्त्वमेव तन्त्रम् आकाशस्यापि प्रत्यक्षतापत्तेः । न च अन्यमहत्त्व-

द्रव्यो के सम्पूर्ण प्रत्यक्षो मे रूप को कारण नहीं मान सकते तो इस दोष के ही कारण चंकरमिश्र वायु का प्रत्यक्ष मानने मे दूसरा ऐसा दोष देते हैं कि) — और यदि वायु का प्रत्यक्ष माना जाय तो उसके सख्या सामान्य गुणों की भी उपलब्धि होगी ।

तथा—पूतकारादिकों मे 'यह एक वायु है ये दो हैं' इस प्रकार सख्या का तथा 'एक हाथ है या एक वित्ता है' इस प्रकार परिमाण का, और शरवभाग (बगलो) से जाये दो वायु द्रव्यों के पृथक्त्व गुण का, तथा 'यह वायु दूर है यह समीप है' इत्यादि रूप मे परत्व तथा अपरत्वगुण का भी ग्रहण होगा ही है वायुत्व जाति के सम्पूर्ण वायु में ऐसा नियम तो छापके मत मे भी नहीं हो सकना, क्योंकि पीठ पर लगे हुए वसन आदि मे सख्यादि गुण का ग्रहण नहीं होता ।

उत्तर—वायुत्व जातिवाले सम्पूर्ण वायु व्यक्तियों में संख्यादि गुणों की ग्रहण का नियम है, पीठ पर लगा हुआ वस्त्र यदि सीधा है तो संख्यादि गुणों का ग्रहण होता है । वस्त्र सीधा न रहने रूप दोष के कारण संख्यादिकों का ग्रहण नहीं होगा । (यहाँ पर यदि रूप गुण की वहिर्द्रव्य प्रत्यक्ष में कारण माना जाय तो प्रमा ■ सख्यादि गुणों का ज्ञान होने लगेगा, स्पर्श को कारण मानें तो वायु में सख्यादिकों का ज्ञान होने लगेगा, तो वहिर्द्रव्य सामान्यरूप से प्रत्यक्ष मे क्या कारण है इसमे एक पक्ष में नियामक न होने के कारण भारद्वाज (वातिककार) तथा वाचस्पतिमिश्र का मत दिखाते हुए चंकरमिश्र कहते हैं कि)—उद्भूतरूप तथा उद्भूतस्पर्श दोनों ही मलिन वहिर्द्रव्य प्रत्यक्ष मे प्रयोजक हैं, प्रमा (प्रकाश तथा चक्षु में वर्तमान वित्ती रूप वीतद्रव्य तथा चन्द्रमा के स्पर्श के अनुद्भूत होने के कारण उनके स्पर्श का प्रत्यक्ष नहीं होता । निदाघ (घीष्मश्रुतु) तथा ज्यमा (गरमी) क तथा विभक्त अवयववाले जलद्रव्यों के भी रूप के उद्भूत न होने से प्रत्यक्ष नहीं होता । ऐसा न्यायवातिक के कर्त्ता उद्योतकर (भारद्वाज) एवं न्यायवातिक तात्पर्यटीका के कर्त्ता वाचस्पति-मिश्र दोनों का मत है ।

-

वायु का प्रत्यक्ष न मानने वाले प्राचीन नैयायिकों का ऐसा मत है कि स्पर्श गुण के उद्भूत न होने पर भी प्रमा इत्यादि प्रत्यक्ष ही है, इसी कारण चन्द्रमा के प्रकाश वाले आकाश मे पक्षी तथा दारवाण्ड इत्यादिकों का संयोग तथा विभाग प्रत्यक्ष होते ही हैं, ऐसा न्यायशास्त्र के सम्प्रदाय को जानने वाले कहते हैं । (किन्तु नवीन नैयायिक ऐसा कहते हैं कि प्रमा के प्रत्यक्ष के समान वायु का स्पर्शान्न प्रत्यक्ष भी

समानाधिकरणोद्भूतविशेषगुणवत्त्वं तथा रसनाप्रवर्त्तिपित्तद्रव्यस्य तैक्योद्भवेऽ-
प्यप्रत्यक्षत्वात्, सम्यादुद्भूतरूपवत्त्वमेवास्मेतरद्रव्यप्रत्यक्षतातन्त्रम् न च वायो
नास्तौत्यप्रत्यक्षो वायु ॥ ९ ॥

अनु प्रत्यक्षतो दृष्टमिह लिङ्गं नास्ति न हि बहिष्पूमयोरिवेह प्रत्यक्षेण व्या-
प्तिग्रहः । किञ्च पृथिव्याद्यन्यतमस्येव स्पर्शोऽप्ययं भविष्यतीत्यत आह—

न च दृष्टानां स्पर्श इत्यदृष्टलिङ्गो वायुः ॥ १० ॥

अनुभवसिद्ध होने के कारण रूप तथा स्पर्श दोनों में से बहिर्दृश्य प्रत्यक्ष में कोई
कारण नहीं है । तब बहिर्दृश्य प्रत्यक्षमात्र में सामान्य कारण क्या है । इस प्रश्न
के उत्तर में मनीषी का कहना है कि कुछ भी नहीं । अथवा आत्मा में न रहने वाले
शब्दभिन्न विशेष गुणों का आघार होना ही प्रयोजक है । वायु तथा प्रभा के
सत्त्वादि गुणों का कहीं-कहीं शेष से प्रदूषण नहीं होता ।

(उक्त प्राचीन मत पर शका दिखाते हुए शंकरमिश्र आगे ऐसा कहते हैं कि)
'सामान्य रूप से बहिर्दृश्य के प्रत्यक्ष में उद्भूत स्पर्श की आधारता होना प्रयोजक
है' ऐसा मनीषी मत से नहीं कह सकते क्योंकि इन्द्रनील (नीलम) मणि में उद्भूत स्पर्श
के न होने से उसकी प्रभा का प्रत्यक्ष होता है वह नहीं होगा यह आपत्ति आ जायगी ।
यदि इस शेष के कारणार्थ उद्भूत विशेष गुण का होना बहिर्दृश्य प्रत्यक्ष में प्रयोजक
है, ऐसा कहा जाय तो (इन्द्रनील में उद्भूत रूप विशेष गुण होने से उसका प्रत्यक्ष
तो हो जायगा) किन्तु जिह्वा के अग्र में वर्तमान पित्त द्रव्य के तिक्ततारूप विशेष
गुण उद्भूत होने पर उसका जो प्रत्यक्ष नहीं होता वह होने लगेगा । अतः उद्भूत
रूप ही आत्मा से भिन्न द्रव्यों के प्रत्यक्ष होने में कारण है, और वह वायु द्रव्य में नहीं
है इस कारण वायु का प्रत्यक्ष नहीं होता ॥ ९ ॥

(दशम सूत्र का अवतरण शंकरमिश्र देते हैं कि—) शका है—'इस वायु द्रव्य की
सिद्धि होने में प्रत्यक्ष से देखा हुआ कोई साधक लिङ्ग नहीं है, क्योंकि बहिर् तथा
पूम के समान प्रत्यक्ष से स्पर्शादि वायुसाधक लिङ्गों का व्याप्तिज्ञान नहीं होता ।
तथा यह अनुभूतमान स्पर्श पृथिव्यादि द्रव्यत्रय में से ही किसी एक का ही संकेत'—
इस शका के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं कि—

पदपदार्थ—न च = और नहीं, दृष्टानां = देखने वाले द्रव्यों का, स्पर्श = स्पर्श
गुण है, इति = इस कारण, अदृष्टलिङ्ग = अप्रत्यक्ष लिङ्गवाला है, वायुः = वायु
नामक द्रव्य ॥ १० ॥

भावार्थ—वायुसाधक अनुमान में पक्ष किया हुआ अनुभूतमानस्पर्श प्रत्यक्ष होने
वाले पृथिवी, जल तथा तेज इन तीन द्रव्यों का नहीं है, रूप के साथ गृहीत न होने से
इस कारण अप्रत्यक्ष व्याप्तिज्ञान वाले स्पर्श लिङ्ग से वायु की सिद्धि होती है ॥१०॥

अयं स्पर्शो यः पक्षः कियते स दृष्टानां पृथिव्यस्तेजसां न भवति रूपासहचर-
त्वात्, तथा चार्थं स्पर्शः कचिदाश्रित इत्यनुमेयमित्यदृष्टलिङ्गः । सामान्यतोदृष्ट-
लिङ्गोऽपि पक्षधर्मताबलादायान् इत्ययं । यद्यपि दृष्टमेव स्पर्शादिचतुष्टकं लिङ्ग-
मिति तथापि वायुना सहागृहीतव्याप्तिरुत्वाददृष्टलिङ्गत्वमुक्तम् न ह्ययं धर्मो
वायुरिति प्रतिज्ञाय वायु- साधयितुं शक्यते, तथाच सामान्यतोदृष्टादेवेतराद्य-
सहस्रनाद्यायुसिद्धिरिति भावः ॥ १० ॥

वपलभ्यमानस्पर्शाश्रयमवयविन साधयित्वा परमाणुलक्षणं वायु साधयि-
तुमाह—

अद्रव्यवत्त्वेन द्रव्यम् ॥ ११ ॥

द्रव्यमाश्रयभूतमस्यास्त्विति द्रव्यवत् न द्रव्यवत् अद्रव्यवत् द्रव्यानाश्रित-

उपस्कार—यह जो तबानुभव शरीर के स्वनिन्द्रिय से अनुभूयमानस्पर्श वायु-
साधक अनुमान से पक्ष किया जाता है, वह प्रत्यक्ष होनेवाले पृथिवी, जल तथा तेज
द्रव्यों का नहीं है, (क्योंकि इनका स्पर्श रूप के साथ होता है) शरीर पक्षरूप स्पर्श-
रूप के साथ नहीं है, तथाच ऐसा होने से यह अनुभूयमानस्पर्श, किसी आधार से
आश्रित है ऐसा अनुमान करना पड़ेगा, इस कारण वायुद्रव्य अप्रत्यक्ष सिद्ध होगा ।
(अर्थात् सामान्यतोदृष्ट अनुमान काल के प्राप्त हुए स्पर्श गुण से (जो पृथिव्यादिको
का नहीं हो सकता) उसका कोई आश्रय अवश्य है इसे प्रकार प्राप्त हुआ । पक्षवृत्तता
के पक्ष से वायुद्रव्य सिद्ध होगा है । यद्यपि पूर्वप्रदर्शित वायुद्रव्य के साधक स्पर्श, दृश्य,
श्रुति तथा कल्प चारों लिङ्गों का प्रत्यक्ष होता है, तथापि उनकी वायुद्रव्य के साथ
(बलित तथा घूम की महानस से प्रत्यक्ष से व्याप्तिग्रह के समान) व्याप्ति का ग्रहण न
होने के कारण अप्रत्यक्षलिङ्गता कही है, क्योंकि यह वायु है ऐसी प्रतिज्ञा कर वायुद्रव्य
की सिद्धि नहीं की जा सकती, ऐसा होने से पृथिव्यादि द्रव्यत्रय के पूर्वोक्त प्रकार साध-
नान की उद्धारणा वाले प्रदर्शित सामान्यतोदृष्ट नामक अनुमान से ही वायुद्रव्य की
सिद्धि होती है ॥ १० ॥

इस प्रकार व्यस्तप्रत्यक्ष होने वाले स्पर्शगुण के आधार अवयवि (चार्थ) रूप वायु
की सिद्धि कर, परमाणु (नाश) रूप वायु की सिद्धि करने के लिये सूत्रकार
कहते हैं—

पक्षपदार्थ—अद्रव्यवत्त्वेन = द्रव्याश्रित न होने से, द्रव्यम् = परमाणुरूप वायु
द्रव्य है ॥ ११ ॥

भाष्यार्थ—जिस प्रकार आकाशद्रव्य किसी द्रव्य में आश्रित न होने से नित्य
है उसी प्रकार किसी द्रव्य के आश्रित न होने से परमाणुरूप (वायु द्रव्य भी
नित्य है यह सिद्ध होता है) ॥ ११ ॥

उपस्कार—द्रव्य जिसका आश्रय है उसे 'द्रव्यवत्' द्रव्याधार वाला कहते हैं.

मित्यर्थः । तथा चाकाशवत् परमाणुलक्षणो वायुद्रव्यम् अन्येषां पदार्थानां द्रव्याभिनत्वात् । आश्रितवद्वा अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्य इत्यभिधानात् परमाणुभ्यां द्वयणुकारम्भात् द्वयणुकादिप्रक्रमेणान्यविनो महत् आरम्भस्योपपादनोपत्वा इति ॥ ११ ॥

वायुपरमाणोर्द्रव्यत्वसाधकं हेतुद्वयं समुचिन्वन्नाह—

क्रियावत्त्वाद् गुणवत्त्वाच्च ॥ १२ ॥

वायुपरमाणुर्द्रव्यमिति शेषः । यद्यपि द्रव्यत्वे सिद्धे क्रियावत्त्वं गुणवत्त्वञ्च सिध्यति तत्सिद्धौ च द्रव्यत्वसिद्धिरित्यन्योन्याभयः । तथाप्युपलभ्यमानस्पर्शश्च-
यस्यावयविनो मूलभूतस्य परमाणोरसमवायिकारणसंयोगान्यथानुपपत्त्या क्रिया-

जो द्रव्याश्रित नहीं वह 'अद्रव्यवत्' अर्थात् द्रव्यानाश्रित (द्रव्य में न रहनेवाला) होता है । ऐसा होने से परमाणुरूप वायु द्रव्य है, द्रव्यानाश्रित होने से, आकाश के समान इस अनुमान से परमाणुस्वरूप वायु भी नित्य है यह सिद्ध होता है । क्योंकि कार्यरूप पदार्थ द्रव्याश्रित होने हैं तथा 'आश्रितता नित्यद्रव्यो से अतिरिक्त द्रव्यो में रहती है' ऐसा प्रशस्तदेव ने भी भाष्य में कहा है, अन दो परमाणुओं से द्वयणु की उत्पत्ति होकर द्वयणु से त्रयणु इत्यादि क्रम से प्रवृत्तिरिमाण वाले अवयविद्रव्य की उत्पत्ति होती है यह सिद्ध भी करना है । (प्रवर्तित अनुमान से द्रव्यानाश्रितत्व हेतु से परमाणु द्रव्य की सिद्धि करने पर द्रव्यत्व के ग्राह्य अवयव के न रहने से बाध दोष आ जायगा' ऐसी शका निरस्त हो जाती है, क्योंकि आकाश में व्यभिचार होने के कारण जो द्रव्य होता है वह अवयव का ही आधार होता है ऐसी व्याप्ति नहीं हो सकती) ॥ ११ ॥

(हादससूत्र का अवतरण देते हुए शकारमिश्र कहते हैं कि)—परमाणुरूप वायु में द्रव्यत्व की सिद्धि के लिये दो हेतुओं का सूत्रकार सङ्ग्रह करते हुए कहते हैं, अर्थात् द्रव्यानाश्रितत्व हेतु व्यभिचारी होने वाली निश्चिन्मता तथा निगुणता हेतु से परमाणु में द्रव्यत्वमात्र सिद्ध हो जायगा ऐसी शका कर द्रव्यत्व-साधन द्वारा उक्त हेतु में स्वरूपसिद्धि दोष दिखाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थः—क्रियावत्त्वात् = क्रिया के आधार होने से, गुणवत्त्वात् च = और गुणों के आधार होने से भी (वायु परमाणु द्रव्य है) ॥ १२ ॥

भावार्थः—क्रियावत्ता तथा गुणाधारता' रूप द्रव्यसाधन्य के लक्षण के अनुसार परमाणु रूप वायुद्रव्य में भी क्रिया तथा गुणों की आधारता होने से परमाणुरूप वायु भी द्रव्य है यह सिद्ध होता है ॥ १२ ॥

उपस्कारः—सूत्र में वायु परमाणु द्रव्य है ऐसा आर्कोषित (अपेक्षित) अवशिष्ट भाग देना अर्थात् सूत्र की ('क्रियावान् तथा गुणवान्' होने, से 'परमाणुरूप वायुद्रव्य है' (ऐसी व्याख्या करना) । यद्यपि वायु में द्रव्यता सिद्ध होने पर त्रिधाधारता तथा

यत्त्वम्, अवयवित्परीक्षारूपेणैः कारणगुणपूर्वकत्वनियमाद् गुणवत्त्वञ्च सिद्धं ताभ्याञ्च द्रव्यत्वमित्यदोषः । तत्र क्रियावत्त्वं सपक्षैरुद्देशवृत्ति गुणवत्त्वञ्च सपक्षव्यापकम् । चकारात् समवायिकारणत्व द्रव्यत्वसाधकं समुच्चिनोति । ननु परमाणावेव न प्रमाण कस्य द्रव्यत्वं साध्यत इति चेन्न स्थूलकार्प्यस्य क्रियाविभागादिन्यायेन भव्यमानस्याल्पतरुमादिभावात् यतो नाल्पीयः स एव परमाणुः । अवयवावयवविप्रसङ्गस्यानवधित्वे अनन्तावयवत्वाविशेषे सुमेरुसर्पपादीना परिमाणाविशेषापत्तिः कारणसंख्याविशेषमन्तरेण परिमाणाप्रचययोरपि परिमाणभेदं प्रत्यतन्त्रत्वात् । न च विनाशावधिरेवायम् अवयवावयवविप्रसङ्गः

गुणाधारता सिद्ध होती है और उनके सिद्ध होने पर ही (द्रव्यलक्षण आने से) द्रव्यत्व सिद्ध होगा, इस प्रकार अन्योन्याश्रय (परस्पर की अपेक्षा से सिद्ध होगा) दोष आ सकता है, तथापि उपलब्ध होने वाले स्पर्शगुण के आधार अवयवि (कार्यरूप) वायु के मूल कारण रूप परमाणु के असमवायिकारणरूप परस्पर संयोग के न बन सकने के कारण परमाणुओं में क्रियावत्त्व अवश्य मानना पड़ेगा, तथा अवयवि वायु द्रव्य के स्पर्शरूप आदि गुण कारण गुण से ही होते हैं ऐसा नियम होने से गुणवत्ता आ सिद्ध है, इस प्रकार क्रियावत्त्व तथा गुणवत्ता से द्रव्यत्व सिद्ध होता है । (अर्थात् द्रव्यत्वसिद्धि के बिना गुणवत्त्व तथा क्रियावत्त्व सिद्ध होने से उक्त अन्योन्याश्रय-दोष न होगा) उनमें से क्रियावत्त्वरूप हेतु आकाशादिकों में न होने से सपक्ष के एक देश में रहता है और गुणवत्त्वरूप हेतु सम्पूर्ण द्रव्यों में रहने से सपक्ष व्यापक है । सूत्र के नकार से समवायिकारण होना भी द्रव्यत्वजाति का साधक है ऐसा क्रियावत्त्व तथा गुणवत्त्वरूप द्रव्यतासाधक तृतीय द्रव्य लक्षण का सप्रह करता है ।

शंका—परमाणु के सम्भाव में ही प्रमाण नहीं है तो किसमें द्रव्यत्व की सिद्धि करेंगे ?

उत्तर—ऐसा नहीं, क्योंकि स्थूल अवयविरूप कार्य द्रव्यों का प्रथम क्रिया उत्पन्न होती है क्रिया से विभाग उत्पन्न होता है । इस नियम के अनुसार नष्ट होने वाले अवयवि द्रव्यों के अल्प (छोटा), अल्पतर (उससे छोटा) इस प्रकार अवयवों की परम्परा में जिससे अधिक अल्प (छोटा) अवयव नहीं होता नहीं परमाणु कहाता है । यदि इस अवयवि का यह अवयव है, इसका यह इस परम्परा की परमाणु अवयवरूप अवयवि (मर्मादा) न मानी जाय तो संपूर्ण अवयवि द्रव्यों के अनन्त अवयवत्वरूप समानता के होने से सुमेरुपर्वतरूप अवयवि द्रव्य तथा सर्वत्र (सरसो) रूप अवयवि आदि द्रव्यों का समान परिमाण हो जायेंगे यह आपत्ति आ जायगी । क्योंकि विना संख्या के विद्येय के परिमाण तथा प्रचय नाम विधिलताप्रापक संयोगविशेष भी परिमाण के भेद में कारण नहीं हो सकता । शंका—उक्त अवयवावयवविचार का नाश

अन्त्यस्य निरवयवत्वेन विनाशानुपपत्तेः सापेक्षत्वे च निरवधित्वापत्तेस्तत्र च दोषस्योक्तत्वान् । ननु दृष्टिरेवावधिर्न्ययमानत्वाददृश्यमानवत्पनाया मानाभावादिति चेन्न तस्य चाक्षुषद्रव्यव्ययोरावश्यकत्वात् तस्मात् त्रसरेण्वयववाच्य एव परमाणुर्यथा पृथिव्यादौ तथा वायावपीति सिद्धौ वायुपरमाणु ॥१२॥

ननु क्रियावत्त्वाद् गुणवत्त्वाच्च घटादिवत् परमाणोरनित्यत्वमनुमेयमत आह—

अद्रव्यत्वेन नित्यत्वमुक्तम् ॥ १३ ॥

परमाणुलक्षणवायोरिति शेषः । द्रव्यं हि समवायिकारणासमवायिकारणान्यतरनाशाभ्यर्थात् परमाणोस्तु निरवयवतया न तदुभयमस्ति तथाच विनाश-

होना ही अवधि क्यों न माना जाय ? (उत्तर)—अन्तिम अवयव के निरवयव (अवयवहीन) होने से विनाश नहीं हो सकता । यदि अन्तिम अवयव को अवयवसहित माना जाय तो उसका भी अवयव उसका भी अवयव इस प्रकार (निरवधिता) अवधि न होना यह आपत्ति आने के कारण पूर्वोक्त (मेघ-सर्प के समान परिमाण होना) दोष वैसे ही रहेगा । टीका—तीन द्रव्यणुओं से तथा छ परमाणुओं से उत्पन्न (सरोखों में) सूक्ष्म रज (धूल) रूप द्रव्यणुक नामक घटादि द्रव्यों का कारण में ही अवयवावयवधारत की विधाति क्यों न मानी जाय ? क्योंकि वह दृष्टिगोचर होता है, अतः अदृश्य (न दीखने वाले) परमाणु मानने की क्या आवश्यकता है । (उत्तर)—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि द्रव्यणुक में चाक्षुष प्रत्यक्ष की योग्यता होने से महत् परिमाण तथा बहुमूत्र रूप गुण होना आवश्यक है, इस कारण अणु के अवयव द्रव्यणुक का अवयव ही जिस प्रकार पृथिवी आदि परमाणु कहा जाता है उसी प्रकार वायु में भी वायुपरमाणु सिद्ध होने हैं अर्थात् द्रव्यणुक अवयववान् है, चाक्षुष प्रत्यक्ष होने से घट के समान इस अनुमान से द्रव्यणुक के अवयव द्रव्यणुक की सिद्धि होने पर द्रव्यणुक साव्यय है, अरने से बड़े को उत्पन्न करने के कारण क्वाण के समान इस अनुमान से परमाणु सिद्ध होते हैं ॥ १२ ॥

यदि क्रियावत् तथा गुणवत्त्वरूप द्रव्यत्वसाधक दोनों हेतु स्वरूपासिद्ध हैं नहीं तो इन्हीं दोनों हेतुओं से घटादिकों को उदाहरण रखकर परमाणुओं में अनित्यता भी सिद्ध होगी ऐसी दावा हो तो उसके समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अद्रव्यत्वेन=द्रव्याश्रित न होने से, नित्यत्व=नित्यता, उत्पद्=कही है

मावार्थ—परमाणु वायु के द्रव्याश्रित न होने के कारण उन्हें नित्य मानना आवश्यक है अर्थात् घटादि दृष्टान्त से परमाणुओं में क्रियावत्त्वादि हेतुद्वय से अनित्यता-साधन करने में सामवयवत्व तपाधि होने से निरुपाधिक तपाधि रहित द्रव्यत्व हेतु से नित्यता ही मानना उचित है ॥ १३ ॥

उपस्कार—सूत्रके 'उक्त' इस पद के अर्थ की परमाणुरूप वायु की ऐसा अवशिष्ट

काभावाच्च विनश्यति । क्रियावत्त्वे गुणवत्त्वे च हेतौ सावयवत्वमुपाधिः ।
स च पक्षधर्मद्रव्यत्वावच्छिन्नसाध्यव्यापकः केवलसाध्यव्यापकस्तु प्रागभाव-
प्रतियोगित्वमुपाधिः ॥ १३ ॥

द्रव्यशुकादिप्रक्रमेणारम्भसिद्धौ सिद्धमपि वायुनानात्वं प्रकारान्तरेणापि
साधयितुमाह—

वायोर्वायुसंमूर्च्छनं नानात्वलिङ्गम् ॥ १४ ॥

वायुसंमूर्च्छनमिति । वाय्वोर्वायूनां वा संमूर्च्छनं सयोगविशेषः । स च समान-

पक्ष लेकर परमाणुरूप वायु की अनित्यता कही है ऐसा अर्थ करना । क्योंकि समवायि
अथवा असमवायि कारण इन दो में से एक किसी के नाश से द्रव्य का नाश होता
है, किन्तु परमाणु अवयवरहित होने से उनका न कोई समवायिकारण न असमवायि-
कारण है अतः नाशक के न होने से परमाणुओं का नाश नहीं होता । पूर्वोक्त घटादि
वृष्टान्त से परमाणुओं में अनित्यतासाधक क्रियाध्वत्त्व तथा गुणाध्वत्त्व रूप दोनों
हेतुओं में सावयवत्व उपाधि है, (किन्तु क्रिया को लेकर अनित्यता साध्य का अव्यापक
है अतः सांकरमिथ्य कहते हैं)—कि वह सावयवत्व रूप उपाधि पक्ष (परमाणु वायु
द्रव्य) के धर्म द्रव्यत्व से विशिष्ट अवयवत्वरूप उपाधि अनित्यता साध्य का व्यापक
है (क्रिया में द्रव्यत्व न होने से उसको लेकर साध्य की अव्यापकता नहीं दे सकते),
और केवल अनित्यता साध्य का व्यापक ही प्राग् अभाव का प्रतियोगी होना ही
उपाधि होता है ॥ १३ ॥

द्रव्यशुकादि त्र्यशुकादि त्रय से वायुकार्यद्रव्य की उत्पत्ति सिद्ध होने के कारण
यद्यपि वायुद्रव्य अनेक है यह सिद्ध है तथापि प्रकारान्तर से सिद्ध करने के लिये अथवा
आकाश के समान वायुद्रव्य भी एक ही क्यों न माना जाय ? इस दाका पर सूत्रकार
कहते हैं—

पदपदार्थ—वायोः = वायुद्रव्य का, वायुसंमूर्च्छनं = वायु का संयोग, नानात्व-
लिङ्गम् = अनेकता का साधक है ॥ १४ ॥

भावार्थ—एक वायुद्रव्य में दूसरे वायुओं का सयोगविशेषरूपसंमूर्च्छन ही साधक
लिङ्ग है, अतः वायुत्व यह वायु इस वायु से भिन्न ॥ इस प्रकार भेद के प्रतियोगी तथा
अनुयोगी दोनों वायुओं में वर्तमानता रूप दोनों सम्बन्ध से बोधाधार है, जबत दोनो
सम्बन्ध से, संमूर्च्छनवान् होने से, नवीप्रवाह के समान, ऐसा अनुमान सूत्रकार को अति
श्रेत है । संमूर्च्छन में ही क्या प्रमाण है, इस प्रश्न के उत्तर में वायु, संमूर्च्छनवान् है,
तृणादिकी के ऊर्ध्वगमन से यह अनुमान ही प्रमाण है यह भी सूत्रकार को अभिमत
जानता ॥ १४ ॥

संपरकार—(सूत्र के 'वायुसंमूर्च्छन' इस पद को व्याख्या उसकी प्रतीक लेकर

वेगयोर्विरुद्धविक्रिययोः सन्निपातः । स च तृणतूलकोदेरुर्ध्वगमनेनानुमी-
यते । वाय्वोरुर्ध्वगमनस्य सन्निपातस्य धातोन्द्रियत्वात् । तृणादीनान्तु
प्रत्यक्षाणामूर्ध्वगमनलक्षणायाः क्रियाया प्रत्यक्षायाः स्पर्शवद्देगवद्द्रव्याभिघात-
नोदनान्यतरजन्यत्वमनुमीयते । तथाहि तिष्यगमनत्वभावस्य वायोरुर्ध्वगमनं
परस्परप्रतोषातमन्तरेणानुपपद्यमानं परस्परप्रतोषात् साधयति नदीपय-
पूरयोस्तथादर्शनात् तदूर्ध्वगमनस्य तृणाद्यूर्ध्वगमनानुमेयं न हि तृणादीनामूर्ध्व-
गमनं स्पर्शवद्देगवद्द्रव्याभिघातनोदनान्यतरद् विनेति ॥ १४ ॥

नन्वेष्टलिङ्गो वायुरित्युक्तं स्या च कथमेतदित्यस आह—

वायुसन्निकर्षे प्रत्यक्षामावाद् दृष्टं लिङ्गं न विद्यते ॥ १५ ॥

एकरमित्र करते हैं कि)—दो वायु अथवा अनेक वायुओं के समोपविशेष को समूहण कहते हैं । और वह समान वेग वाले तथा बिच्छ दिशाओं में क्रिया होने से चलने वाले दो वायुओं का सन्निपात (मिलन) कहा जाता है । और उस मिलन का तृण (तिनका) रुई इत्यादि लघु (हल्के) द्रव्यों की ऊर्ध्वगति से अनुमान किया जाता है, क्योंकि दो वायुओं का ऊर्ध्वगमन तथा मिलन अतीन्द्रिय (अप्रत्यक्ष नहीं) है । किन्तु प्रत्यक्ष दीखने वाले तृणादिकों की प्रत्यक्ष दिखाने वाली ऊर्ध्वगतिरूप क्रिया से स्पर्शवान् तथा वेगाश्रय द्रव्य के अभिघात मयोग में यह उत्पन्न है ऐसा अनुमान किया जाता है । वह इस प्रकार है कि तिष्य (तिरछे) गमनत्वभाव वाले वायु की ऊर्ध्वप्रदेश में गति परस्पर के प्रतिघात (टक्कर) के बिना न होने के कारण वायुओं के परस्पर प्रतिघात को सिद्ध करती है, क्योंकि नदी के जल के दो प्रवाहों में ऐसा देखने में आता है कि (बिना दोनों प्रवाहों के टक्कर के प्रवाहों का ऊर्ध्वगति नहीं होती । तो भी इससे वायु की ऊर्ध्वगति कैसे सिद्ध होगी, इस प्रश्न के उत्तर में तो एकरमित्र भागे कहते हैं)—कि वायु की ऊर्ध्वगति भी तृणादिकों की ऊर्ध्वगति से अनुमानप्रमाण द्वारा सिद्ध हो सकती है, क्योंकि तृणादिकों की ऊर्ध्वगति स्पर्श तथा वेगाश्रय द्रव्य के अभिघात तथा नोदन नामक संयोगों में से किसी एक मयोग के बिना नहीं हो सकती । (अर्थात् तृणादिकों का ऊर्ध्वगमन, रूपवान् द्रव्य के अभिघात न रहने स्पर्श तथा वेगाश्रय द्रव्य के अभिघात से उत्पन्न है, ऊर्ध्वगमन होने से, हस्त से चलाये हुये गोदे की ऊर्ध्वगति के समान, इस अनुमान से स्पर्श तथा वेगाश्रय वायु नामक द्रव्य में ऊर्ध्वगमन सिद्ध होता है ॥ १५ ॥

धंका—वायु द्रव्य प्रत्यक्ष न होने वाली व्याप्तिकाले लिङ्ग से जाना जाता है ऐसा दशम सूत्र में कहा है, अतः वायु में ऊर्ध्वगति की सिद्धिकैसे हो सकती है ? इस धंका का उत्तर सूत्रवार देने हैं—

पदपदार्थ—वायुसन्निकर्षे = वायु के सम्बन्ध में, प्रत्यक्षामावाद् = प्रत्यक्ष न होने से, दृष्टं = प्रत्यक्ष, लिङ्गं = साधक हेतु, न = नहीं, विद्यते=है ॥ १५ ॥

दृष्ट हि लिङ्गं यत्र प्रत्यक्षेण व्याप्तिप्रवृत्तदुच्यते यथा धूमोऽग्नेः । वायुस-
न्निकर्षे च वायुना सहाविनाभावे प्रत्यक्षं नास्ति न हि भवति यो यः स्पर्शक-
म्पादिमान् स वायुरिति कस्यचित् प्रत्यक्षं वायोरेवाप्रत्यक्षत्वादत एव तादृशं
प्रत्यक्षगृहीतव्याप्तिकं लिङ्गं नास्तीत्यर्थः ॥ १५ ॥

तर्हि वायोरनुमानमेव कथमित्यन उक्तमेव द्रढयितुमाह—

सामान्यतोदृष्टाच्चाविशेषः ॥ १६ ॥

अनुमानं हि त्रिविधं पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टम् । तथा पायमनुभू-
यमानस्पर्शः कषिदाश्रितः स्पर्शत्वात् गुणत्वाद्देति सामान्यतोदृष्टादेवेतरबाधसह-

भावार्थ—वायु द्रव्य के साथ अनुभूयमान स्पर्शादि लिङ्ग (हेतुओं) के व्याप्ति
का वृत्ति तथा धूम के समान प्रत्यक्ष न होने के कारण प्रत्यक्ष से गृहीत व्याप्ति वाला
वायुमात्रक लिङ्ग नहीं है ॥ १५ ॥

उपस्कार—प्रत्यक्ष लिंग नहीं होता है जिससे प्रत्यक्ष से, महानसादिकों में प्रत्यक्ष
होने वाले वृत्ति तथा धूम के समान व्याप्ति का ज्ञान हो । किन्तु वायुद्रव्य के सन्निकर्ष
अर्थात् वायुद्रव्य के साथ स्पर्श आदि उसके साधक हेतुओं के व्याप्ति का प्रत्यक्ष नहीं
होता, क्योंकि जो-जो स्पर्श तथा कम्पादि क्रियावात् होता है वह वायु है ऐसा किसी
भी प्राणी को प्रत्यक्ष नहीं होता, इसी कारण वायु द्रव्य का साधक प्रत्यक्ष ॥ गृहीत
होने वाली व्याप्ति से विशिष्ट लिङ्ग नहीं है यह सूचार्थ है ॥ १५ ॥

तो गृहीतव्याप्तिक लिङ्ग न होने से वायु का अनुमान कैसे होगा ? इस दाका के
उत्तर में उक्त ही विषय को दृढ़ करने के लिए सूत्रकार कहने हैं—

परंपरार्थ—सामान्यतोदृष्टात् च = और सामान्यतोदृष्ट अनुमान से, अविशेषः =
कोई विशेष नहीं आता ॥ १६ ॥

भावार्थ—स्पर्श के गुण होने से वह किसी न किसी द्रव्य में आश्रित (जो पुषिबी
आदि आठ द्रव्यों का नहीं है) इस प्रकार के बाध सहित अनुमान से अष्टद्रव्याति-
रिक्त कोई न कोई द्रव्य अनुभूयमान स्पर्श का आधार है ऐसा सामान्यदृष्ट अनुमान से
सिद्ध होता है । वह वायु ही है यह विशेषता नहीं आती ॥ १६ ॥

उपस्कार—पूर्ववत् १, शेषवत् २ तथा सामान्यतोदृष्ट ३ ऐसे तीन प्रकार के अनु-
मान होने हैं । इसी से यह अनुभूत होने वाला स्पर्श, किसी द्रव्य में आश्रित है,
स्पर्श होने से, अथवा-गुण होने से इस प्रकार जो इतर बाधसहित
सामान्यतोदृष्ट अनुमान से पुषिबी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न द्रव्य के वह
वह आश्रित है यह सिद्ध होता है । यदि इस प्रकार पुषिव्यादिकों के बाध सहित पद
अनुमान सामान्यतोदृष्ट अनुमान हो तो शेषवद् अनुमान व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि दाद
में गुणत्वसाधक इतर बाधसहित अनुमान भी सामान्यतोदृष्ट अनुमान ही हो सकता

कृतात् अपट्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रितत्वं सिध्यतीत्यर्थः । गतं तर्हि केवल-
व्यतिरेकिणिति चेन्न इतरवाधानन्तरं यत्र सामान्यतो दृष्टं प्रवर्तते तत्रा-
पट्टद्रव्यानाश्रितत्वं पक्षाविरोधेन सिद्धमादाय अपट्टद्रव्यानाश्रितोऽयं स्पर्शः कचिदा-
श्रित इति प्रतिज्ञार्थोऽपट्टद्रव्यानिरिक्तद्रव्याश्रितत्वमनादाय न पर्यवस्यतीति—
प्रतीत्यर्थोपर्यवसन्नतयाऽन्वयिन एव तत्सिद्धिः । यत्र तु पूर्वमेव बाधावतारात्
सामान्यतोदृष्टं नत्र प्रतीत्यर्थपर्यवसानात् केवलव्यतिरेकोक्त्यभ्युपगमात् ।
प्रकारार्थं केवलव्यतिरेकोक्तिं तु तुच्छमेव उक्तस्थले प्रकारम्यान्ययिन एवोप-
स्थिते । व्यापकतावच्छेदकप्रकारिकैवानुमितिरितिनियमस्त्वप्रामाणिकः सामग्री-
विशेषसाधित्वान् प्रकारान्तरभानस्यापि सम्भवान् ॥ १६ ॥

है, अतः शेषवत् नामक केवल व्यतिरेक अनुमान निर्मूल हो जायगा । इस प्रकार
रक्षा दिलाकर शरकरमित्र उत्तर करते हैं कि ऐसी रक्षा नहीं कर सकते, क्योंकि
जिस स्थल में इतरों के बाध ज्ञान के पश्चात् सामान्यतोदृष्ट अनुमान होता है ।
सब स्थल में अपट्टद्रव्य के आश्रित नहीं है ऐसा सिद्धपक्ष में विशेषण लेकर पृथि-
व्यादि अपट्टद्रव्यों में न रहने वाला यह स्पर्श किसी द्रव्य में आश्रित है ऐसा प्रतिज्ञा
का अर्थ पृथिव्यादि अपट्टद्रव्यों से भिन्न द्रव्य को स्पर्श भी आधारता बिना माने
संगत नहीं हो सकती, इस प्रकार प्रतिज्ञा के अर्थ के संगत न होने के कारण अव्ययी
अनुमान से ही स्पर्शाश्रय पृथिव्यादि भिन्न वायुद्रव्य की सिद्धि होगी है । किन्तु जिस
स्थल में पृथिव्यादि अपट्टद्रव्यों का स्पर्श गुण नहीं है ऐसे बाधज्ञान के पूर्व ही पूर्वोक्त-
सामान्यतोदृष्ट अनुमान होना है, उन स्थल में स्पर्श किसी में आश्रित है इस प्रतिज्ञा
के अर्थ की संगति होने से केवल व्यतिरेकि-नामक शेषवत् अनुमान होगा ऐसा
नैयायिक मानते हैं । (अर्थात् शब्द पृथिव्यादिको का गुण नहीं है ऐसा इतर बाध निश्चय
प्रथम होने के कारण 'प्रसक्तप्रतिषेधेऽप्यत्राप्रमत्ताविच्छिद्यमाने सप्रसक्त परिशेषः'
प्राप्तो का निषेध करने पर अन्य पदार्थों में प्रसक्त न होने के कारण जो शेष हो उसमें
गठार्थ करना रूप परिशेष के प्रसक्त के कारण के न देखाने से ही किसी अन्य की प्राप्ति
न होने के कारण अवतिष्ट के ज्ञान के न होने से ही असंभव है । और जहाँ पूर्व में
इतर बाध न होने से शब्द किसी में आश्रित है गुण होने से ऐसा अनुमान होगा है,
पश्चात् पृथिव्यादिको में आश्रित नहीं है ऐसा बाध ज्ञान होता है, वही पर उक्त परि-
शेष का संभव हो सकता है, इसी आशय से उपस्कारकार ने 'अपट्टद्रव्यानाश्रित' इत्यादि
उपस्कार में उक्त दोनों प्रकारों का समर्थन किया है ।) (आगे शरकरमित्र कहते हैं
कि)—किसी का प्रकार ज्ञान के लिये ही व्यतिरेकी अनुमान होता है—यह कइता,
तुच्छ है क्योंकि उक्त स्थल में अव्ययीरूप प्रकार ही उपस्थित है । अनुमिति व्यापकता-
नियामक प्रकारक ही होती है, यह भी नियम प्रमाणरहित है, क्योंकि इतर बाध-
ज्ञानरूप सामग्रीविशेष की सहायता से अन्य प्रकारक ज्ञान भी हो सकता है ॥ १६ ॥

ननु चाविशेष इति वायुरयमित्याकाराऽनुमितिर्न भवति किन्त्वष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रितत्वेनैव प्रकारेणेति विवक्षितं यदि तदा तस्य द्रव्यस्य वायुसंज्ञायां किं मानयत आह—

तस्मादागमिकम् ॥ १७ ॥

यस्माद्विशेषाकारेण नानुमितिः तस्माद्वायुरिति नाम आगमिकम्, आगमो वैदस्तत् सिद्धमित्यर्थः । 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' 'वायव्य इवेत छागलगालभेत' वायुश्च सर्ववर्णोऽयं सर्वगन्धबद्ध इति ।

इत्यादि—विशिष्टीभूतार्थवादादेव वायुसंज्ञाधिगतिः । यथा—

यज्ञ दुःखेन सम्भिन्नं न य प्रस्तमनन्तरम् ।

इत्याद्यर्थवादात् स्वर्गसंज्ञायाः ।

सामान्यतोद्घातानुमान से विशेष न होने के कारण यह वायु है ऐसे आकार की अनुमिति तो होती नहीं, किन्तु स्पर्श पुषिष्यादि आठ द्रव्यों से भिन्न द्रव्य के आश्रित है इसी प्रकार होती है, यदि सिद्धान्ती ऐसा कहने की इच्छा रखता है तो उस अतिरिक्त द्रव्य का वायु यह नाम है इसमें क्या प्रमाण ? इस सवाल के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं कि—

पदपदार्थ—तस्मात् = इस कारण (सामान्यरूप से पुषिष्यादि अष्टद्रव्य-भिन्न द्रव्य के आश्रित है ऐसा ज्ञान होने से, आगमिकम् = वायु सज्ञा शब्दप्रमाण से सिद्ध है ॥ १७ ॥

भावार्थ—सामान्यतोद्घातानुमान से विशेष आकार का (पुषिष्यादि भिन्न स्पर्शाश्रय द्रव्य का) ग्रहण न कर अनुमिति होती है इस कारण उस द्रव्य का वायु यह नाम शब्द प्रमाण से सिद्ध होता है ॥ १७ ॥

उपस्कार—सामान्यतोद्घातानुमान से उस पुषिष्यादिभिन्न स्पर्शाश्रय द्रव्य के विशेष आकार का ग्रहण कर अनुमान नहीं होता इस कारण उसका वायु यह नाम वैदिक आगमप्रमाण से सिद्ध होता है । अर्थात् 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' वायु बहुत शीघ्र गति वाली देवता है, 'वायव्य इवेत छागलगालभेत'—वायु देवता वाले इवेतवर्ण छाग (इकरा) की हिरा अथवा स्पर्श करे, 'वायुश्च सर्ववर्णोऽयं सर्वगन्धबद्ध इति', सर्व वर्ण वाला सम्पूर्ण गन्धों को बहाने वाला यह वायु शुद्ध है—इत्यादि ('वायव्य' इत्यादि यागविधि के तथा वायुर्वै, वायुश्च इत्यादि अवशिष्ट (प्रशस्ता करने वाले) अर्थवाद वाक्योंसे ही 'वायु' है यह सज्ञा (नाम) का ज्ञान होता है । जिस प्रकार 'यज्ञ दुःखेन सम्भिन्नं न य प्रस्तमनन्तरम्'—जिसमें दुःख न मिला हो तथा जिसका प्राप्त होने के पश्चात् नाश न हो उसे स्वर्ग कहते हैं इत्यादि अर्थवाद वाक्यों से स्वर्ग के नाम का ज्ञान होता है, तथा 'यस्यैते सर्वसंख्यानां जायते पञ्चजातनम् । मोरमानाश्च

वसन्ते सर्वशस्याना जायते पत्रशातनम् ।

मोदमानाश्च तिष्ठन्ति यथाः कण्ठशालिनः ॥

इत्यर्थवादान् 'यवसंज्ञायाः', 'अम्बुजो वेतसः' इत्यर्थवादान् वेतससंज्ञायाः 'वराहं गावोऽनुधावन्ति' इत्यर्थवादान् वराहसंज्ञायाः । अन्यथा 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादी विशिष्टमुखाभ्युपस्थितौ यागादिव स्वर्गार्थिना प्रवृत्तिर्न ग्या न स्याच्च 'यवमयश्चरुर्भवति' 'वेतसे कटे प्राजापत्यं धिनीति' 'वाराहो चोप नत्' इत्यादी श्लेच्छाभिहितमनुष्य प्रवृत्त्यनव्यवसायः । श्लेच्छा हि यववराहं चेतसश्चान् कहुवायसजम्बुपु प्रयुज्यते तथाचार्यवादमन्तरेण सन्देहः स्यात् स्यात्तन्मादेव तत्तदर्थप्रतीतिरिति भावः । नाममात्रमागमिक द्रव्यसिद्धिस्तु सामान्यतो दृष्टादेव ॥ १७ ॥

एवं वायुप्रकरणं समाप्य तत् किमुन्मादिजल्पित-डिक्थडिक्थसंज्ञावत् वाट्

तिष्ठति यथा कण्ठशालिनः ॥ अर्थात् वसन्तऋतु मे सम्पूर्ण आर्यो के पत्र गिर जा है किन्तु कपूरे वाले दानो मे भरे हुए यवाङ्कुर खिले हुए लगे रहने हैं, इस अर्थवा वाक्य से 'यव' इस नाम के अर्थ का ज्ञान होता है, एवं 'अम्बुजो वेतसः' वेत पानी से उत्पन्न होता है इस अर्थवाद से 'वेतस' नाम का ज्ञान होता है और 'वराहं गावोऽनुधावन्ति'—गो सूअर के पीछे दौड़ते हैं । इस अर्थवाद वाक्य से 'वराह' इस नाम का ज्ञान होता है । इस प्रकार अर्थवाद आदि आगमप्रमाणों से नामज्ञान होता है यदि आगमप्रमाण से स्वर्गादि नाम का ज्ञान न हो तो 'स्वर्गकामो यजेत' स्वर्ग की इच्छा करने वाला याग करे, इत्यादि विधिवानुष्ठान से स्वर्गमुखकर फल के ज्ञान में होने से स्वर्गमुख की इच्छा करने वाले मनुष्यों की यागादि कर्म करने में प्रवृत्ति न होगी । तथा 'यवमयश्चरुर्भवति' जो का चरु (घात) होता है, 'वेतसे कटे प्राजापत्य-धिनीति' वेत के चटाई पर प्राजापति देवता वाले को तुल्य करता है, 'वाराहो चोपनत्' वराह की जूती होती है' इत्यादि वाक्यों से श्लेच्छों के अर्थ के अनुसार प्रवृत्ति न होने का निश्चित ज्ञान न होगा, क्योंकि श्लेच्छों ने यव, वराह तथा वेतस शब्द का क्रम से कहु (ककुनी), 'काक' (कोबा) तथा अम्बु (जामुन) अर्थ माना है अतः बिना अर्थवाद वाक्यों के श्लेच्छों का अर्थ लेना कि 'आर्यो का' यह संशय ही बना रहेगा, अतः अर्थवाद वाक्यरूप आगम प्रमाण से ही उत्पन्न स्वलो में विशेष अर्थों का ज्ञान होता है । किन्तु अनुसूयमान स्पर्शगुण के बाध्य द्रव्य का वायु नाम है इतना ही उक्त आगमप्रमाण से जाना जाता है, वायुरूप द्रव्य की सिद्धि तो पूर्वोक्त सामान्यतो दूष्टानुमान ही से होती है ॥ १७ ॥

इस प्रकार वायुप्रकरण की समाप्तकर, तो क्या यह वायु नाम भी, उत्पन्न पुरुष के द्वारा लकड़ी का हाथी बनाकर उसका 'डिक्थ' नाम अथवा काष्ठ का ही मृग बनाकर उसका ('डिक्थ') नाम रखने के समान है इस प्रकार के समाधानार्थ आगम

संज्ञापोत्यागमस्य सर्वज्ञप्रणीतत्वमुपपादयन् औपोदुघातिकमोदवरप्रकरणमारि-
प्तमान आह—

संज्ञा कर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम् ॥ १८ ॥

तुशब्द स्पर्शादिलिङ्गव्यवच्छेदार्थः । संज्ञा—नाम, कर्म—कार्यं क्षित्यादि-
सदुभयसम्भद्विशिष्टानाम् ईश्वर—महर्षीणां सत्त्वेऽपि लिङ्गम् ॥ १८ ॥
कथमेतदित्यत आह—

प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात् संज्ञाकर्मणः ॥ १९ ॥

अत्रापि संज्ञा च कर्म चेति समाहारद्वन्द्वादेकवद्भावः संज्ञाकर्तुं जगत्कर्तुं-
आभेदमूचनार्थः । तथाहि यस्य स्वर्गापूर्वादयः प्रत्यक्षाः स एव सत्र स्वर्गापूर्वा-

(वेद) सर्वज्ञ ईश्वर से रचित है वह वर्णन करने के लिये प्रस्तुत उपयोगी विचार रूप
उगीडात-संगति से ईश्वर-निष्पन्न प्रकरण को प्रारम्भ करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—संज्ञा कर्म तु = नाम, तथा कार्यं तौ, त्वस्मद्विशिष्टानां = हम जीवों से
विशिष्ट योगी ईश्वररूप आत्माओं का, लिङ्गम् = साधक है ॥ १८ ॥

आध्यार्थ—सासारिक पदार्थों का नाम रचना, तथा जगत् रूप कार्य की रचना
करना यह दोनों हम ऐसे सासारिक प्राणिमों से अवशिष्ट अतिशक्ति वाले ईश्वर तथा
योगी आदिकों का साधक लिङ्ग है ॥ १८ ॥

उपस्कार—सूत्र में 'तु' यह शब्द, स्पर्श, रूप आदि गुणों की व्यावृत्ति के लिए है ।
सूत्र में संज्ञा शब्द का अर्थ है नाम, कर्म शब्द का अर्थ है पृथिवी आदि कार्य, यह
दोनों हमारे ऐसे जीवों से विशिष्ट (अविक) ईश्वर तथा महर्षियों की सत्ता में भी-
लिङ्ग (साधक) है ॥ १९ ॥

ऐसा क्यों ? इसके उत्तर में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात् = प्रत्यक्षसे प्रवृत्ति होने के कारण, संज्ञाकर्मणः =
नाम तथा कार्य के ॥ १९ ॥

आध्यार्थ—जिस पुण्य को जिस पदार्थ का प्रत्यक्ष होता है वही उसका नाम
रक्ष मकता है, तथा वही उस कार्य को कर सकता है, अतः चतुर्दश भुवन के अन्तर्गत
हमारे ऐसे जीवों के अप्रत्यक्ष स्वर्ग आदि पदार्थों के नाम रखने वाले तथा पृथिवी, जल
आदि सम्पूर्ण जगत् कार्य की रचना करने वाले उन कार्यों के समवायिकारणों का
ज्ञान, करने की इच्छा, तथा कृति वाले ईश्वर तथा योगियों की सिद्धि होती है ॥ १९ ॥

उपस्कार—इस सूत्र में भी 'संज्ञाकर्मणः' इस समस्तपद में 'संज्ञा च कर्म च'
संज्ञा और कार्य ऐसा समाहार द्वन्द्वसमास होने से पृथी विभक्ति का एकवचन है ।
जो नाम रखने वाला तथा जगत् कार्य का करने वाला एक ही है यह सूचित करता

दिसङ्गाः कर्तुमोष्टे प्रत्यक्षे चैत्रमेत्रादिपिण्डे पित्रादेश्चैत्रमेत्रादिसङ्गानिवेशनवत् । एवञ्च घटपटादिमङ्गानिवशोनवत् । एवञ्च घटपटादिसङ्गानिवेशनमपि ईश्वर-सङ्केताद्योनमेव य अन्वो यत्रेश्वरेण सङ्केतितः स तत्र साधु यथा या काचिदोप-धिनङ्गुलदृष्टाप्रसृष्टा सा सर्वाऽपि सर्पविषं हन्तीत्येतादृशी मंश अस्मदादिवि-शिष्टाना लिङ्गमनुमापकं, याऽपि मैत्रादिसङ्गा पित्रा पुत्रे क्रियते साऽपि 'द्वादशोऽ-हनि पिता नाम कुर्यान्' इत्यादिविधिना नूनमोश्वरप्रयुक्तैव तथाच सिद्धं सङ्गाया ईश्वरलिङ्गत्वम् । एव कर्मापि कार्यामपीश्वरे लिङ्गम् तथाहि शिष्यादिक सफट्टक कार्यात्वात् घटवदिति । अत्र यद्यपि शरीराजन्यं जन्य वा जन्यप्रय-त्नाजन्य जन्यं वा सत्कृत्यासत्कृत्येन विद्यादाप्यासितं वा सन्दिग्धमानकर्तृ-

है । वह इस प्रकार है कि जिस विधिष्ट आत्मा को स्वर्ग अष्ट (धर्म तथा अधर्म) प्रत्यक्ष होते हैं वही उनका स्वर्ग अष्ट इत्यादि नाम रख सकता है, क्योंकि धर्म, मंत्र इत्यादि नाम के शरीरों में उनके माता-पिताओं ने ही उनका चैत्र, मंत्र ऐसा नाम रक्खा है यह देखने में आता है । ऐसा होने से घट, पट इत्यादि सामान्य पदार्थों का नाम रखना भी ईश्वर की इच्छाकर सकेत (इच्छाओं) के ही अधीन है, जो शब्द जिस पदार्थ में ईश्वर ने 'इसे घट कहना इसे पट कहना' इत्यादि इच्छा-रूप सकेत से सूचित किया है वही उस अर्थ के बीज में साधु (भ्याकरण से सङ्कृत होने से) गूढ़ है जिस प्रकार जो कोई ओषधि (दवा) नेत्रों की दाह के अग्रभाग से स्पर्श की जाती है वह सपूर्ण ओषधि सर्ग के विष को नष्ट करती है ऐसी सङ्गा (नाम) करना हमारे ऐसे जीवात्माओं से अधिक शक्तिवाले आयुर्वेदप्रवर्तक चरकचरित्र आदिकों के निम्न का साधक है तथा जो मैत्र-चैत्र इत्यादि नाम पुत्र का पिता से रक्खा जाता है वह भी 'द्वादशोऽहनि पिता नाम कुर्यान्' बारहवें दिन पिता पुत्र का नामकरण करे इत्यादि सामान्यरूपसे धर्मशास्त्र की विधि से ईश्वर-प्रेरित ही है यह निश्चित है । अतः यह सिद्ध होता है कि नाम रखना ईश्वर का साधक लिङ्ग है । (धर्मान् स्वर्गादि नाम-कर्ता के प्रत्यक्षविषय पदार्थ में समर्थ है, नाम होने से देवदत्तादि नाम के समान, इस अनुमान से स्वर्गादि नाम रखना ईश्वर का साधक लिङ्ग है यह सिद्ध होता है) । इसी प्रकार जगत् रूप कार्य भी ईश्वर में साधक लिङ्ग है, यह इस प्रकार है कि—पृथिवी आदि कार्य, कर्ताप्रहित है कार्य होने से घट कार्य के समान (इस अनुमान से पृथिवी आदि कार्य की, हमारे ऐसे जीवात्मारूप कर्ताओं में उत्पत्ति का असंभव होने से उनका कर्ता ईश्वर सिद्ध होता है) (इस प्रकार ईश्वर रूप धर्मों के ग्राहकप्रमाण-बल से ईश्वरसाधक सिद्धांती के द्वि-कार्यत्व हेतु आदि में व्यभिचार दोष दिखाते हुए पूर्वपक्षी के मत से शकरमिश्र आक्षेप-दिखाते हैं कि—) 'शित्यादि सत्कृत है, कार्य होने से' इस अनुमान में शित्यादि-

कृत्यं चाक्षित्यादित्वेन न विवक्षितम् अदृष्टद्वारा क्षित्यादेरपि जन्यप्रयत्नजन्यत्वात् विवादसन्देहयोश्चातिप्रसक्तत्वेन पक्षतानवच्छेदकत्वात्, किञ्च सकर्तृकत्वमाप यदि कृतिमजन्यत्वं तदाऽऽत्मदादिना सिद्धसाधनम् अस्मदादिकृतेरप्यदृष्टद्वारा क्षित्यादिजनकत्वात्, उपादानगोचरकृतिमजन्यत्वेऽपि तथा अस्मदादिकृतेरपि किञ्चिदुपादुदानगोचरत्वात्, कार्यत्वमपि यदि प्रागभावप्रतियोगिभ्य तदा ध्वसे व्यभिचार इति । तथापि क्षितिः सकर्तृका कार्यत्वात् । अत्र च

पक्षपद मे (१) शरीर से न उत्पन्न कार्य, (२) प्रयत्न से अजन्य कार्य, (३) कर्तासहित है तथा कर्तासहित नहीं है इस विवाद से युक्त क्षित्यादि कार्य, (४) अथवा जिसके कर्ता का संदेह है ऐसा कार्य मिथ्यान्ती को संमत है । इन चार पक्षों में से जीवात्माओं के अदृष्ट से उनके भोग के लिये संपूर्ण जगत् कार्य की रचना होने के कारण उनके अदृष्ट द्वारा पुण्यप्यादि कार्यों के उनके शरीर तथा अन्य प्रयत्न से उत्पन्न होने के कारण दो प्रथमपक्ष नहीं हो सकते तथा विवादप्रस्तुता नवेद्विषयता अन्यत्र विद्यमान होने के कारण तृतीय पक्ष तथा चतुर्थपक्ष भी नहीं हो सकता (अर्थात् प्रदर्शित प्रकार से ऐसे किसी प्रकार के कार्यों में ही मिथ्यान्ती को सकर्तृकता कार्यत्वहेतु से सिद्ध करनी होगी, क्योंकि पुण्यविभाव में सकर्तृकता सिद्ध करें तो परमाणुरूप पुण्यी आदिकों में नित्यता होने से हेतु में आशिक बाध दोष का आगमा, किन्तु उक्त रीति से यह चारों प्रकार से अनुमान नहीं हो सकता) । (यदि अन्य पुण्यीत्व को पक्षतावच्छेदक मानें तो उक्त दोष न होंगे । इसलिये पक्षदोष को छोड़कर पूर्वपक्षिमत से साध्य में दोष दिखाते हैं कि)—और उक्त सिद्धान्त के अनुमान में कृतिवाले आत्मा से उत्पन्न ऐसा सकर्तृकत्वसाध्य पद का अर्थ करें, तो हमारे ऐसे जीवात्माओं को लेकर सिद्धसाधनदोष का आगमा, क्योंकि जीवों के अदृष्ट द्वारा हमारे ऐसे जीवात्माओं की कृति भी पुण्यी आदि कार्य की जनक है यह मिथ्य ही है । यदि समवायिकारण विषय की कृति वाले कर्ता से क्षित्यादि उत्पन्न है, ऐसा सकर्तृकता साध्य का अर्थ किया जाय तो भी यही दोष आयेगा, क्योंकि हमारे ऐसे जीवात्माओं की कृति कुछ कार्यों के समवायिकारणों में होती ही है (जैसे घट के समवायिकारण कपाल की कृति कुलाल में है) । (यदि हमारे ऐसे जीवों की कृति कुछ समवायिकारणों में होने पर भी नमरेणु आदि उपादान विषय में न होने से सिद्धसाधन दोष न होगा, तब तो सकर्तृकत्वसाध्य के होने में कोई क्षति न होगी, इसलिये साध्यदोष से भिन्न हेतु में दोष दिखाते हैं कि)—प्रागभाव का प्रतियोगी यह यदि कामत्वहेतु का अर्थ करें तो ध्वस में उक्त कार्यता होने पर भी सकर्तृकतासाध्य न होने के कारण व्यभिचार दोष होगा । तस्मात् सिद्धान्ती का अनुमान ईश्वरसाधक नहीं हो सकता ।

इस आक्षेप का समाधान करते हुए चक्रमिश्र कहते हैं कि—तथापि पूर्वो,

सकृत्कृत्वमदृष्टाद्वारकृतिमज्जन्यत्वं कार्यत्वञ्च प्रागभावाविशिष्टसत्ताप्रतियोगि-
तित्वम् । न चाङ्कुरादी सन्दिग्धानैकान्तिकत्वम् साध्याभावनिश्चये हेतुसदसत्त्व-
सन्देहे सन्दिग्धानैकान्तिकत्वस्य दोषत्वात् अन्यथा सकलानुमानोच्छेदप्रसङ्गात्
न च पक्षानिरिक्ते दोषोऽयमिति वाच्यम् राजाज्ञापत्तेः, नहि दोषत्वाय भदिमा
यत् पक्षः नास्तिमति । तस्मादङ्कुरस्फुरणदशाया निश्चितव्याप्तिकेन हेतुना सत्र
साध्यसिद्धरप्रत्युद्भवान् क सन्दिग्धानैकान्तिकता तदस्फुरणदशायान्तु सुवरा-
मिति सशेषः ॥ १९ ॥

एव सूत्राभ्यामीश्वरप्रकरणं समाध्याकाशप्रकरणभारिपमान आह—

निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिङ्गम् ॥ २० ॥

सकृत्कृत् है, कार्य होने से (ऐसा अनुमान हो सकता है) इस अनुमान में अदृष्ट-
द्वारसहित कृतिवाले आत्मा से उत्पन्न होना यह सकृत्कृत्वसाध्य का अर्थ है, तथा
प्रागभावाविशिष्ट सत्ता का प्रतियोगी (सम्बन्धी) होना कार्यत्व हेतु का अर्थ है ।
(इस में प्रागभावप्रतियोगित्व होने पर भी सत्ताप्रतियोगित्व न होने से अभिचार
दोष, तथा हमारे ऐसे जीवों की कृति में अदृष्टद्वार होने के कारण मिट्टापावनदोष
भी न होगा ।) इस अनुमान में कार्य प्रतियोगी ही पक्ष है । पक्षघटित कार्यता आशयण
सम्बन्ध रूप तथा हेतुरूप कार्यता प्रागभावप्रतियोगित्व होने से पक्ष तथा हेतु का
भेद होगा ।

शंकरमिश्र कहते हैं कि उक्त अनुमान के कार्यत्व हेतु में अङ्कुरादि रूप कार्य में
कार्यत्व का सन्देह होने में सन्दिग्धानैकान्तिकता दोष नहीं हो सकता, क्योंकि जिस
स्थल में साध्य के अभाव का निश्चय रहते हेतु की सत्ता तथा असत्ता का सन्देह होता
है वही सन्दिग्धानैकान्तिकता दोष होता है, यदि ऐसा न मानें तो सर्वत्र उक्त दोष होने
में सम्पूर्ण अनुमान का उच्छेद हो जायगा (अर्थात् कोई भी अनुमान न हो सकेगा) ।
यदि वही कि 'पक्ष की छोड़कर अन्यत्र ही यह दोष होता है पक्ष में नहीं' ऐसा कहना
तो राजा की आज्ञा के समान मानना पड़ेगा, क्योंकि दोष का यह सामर्थ्य नहीं है कि
वक्षः पक्ष में न हो । इस कारण बीज से अङ्कुर के प्रगट होने की व्यवस्था में सकृत्कृता
के साथ निश्चित व्याप्ति (जो कार्य होता है वह सकृत्कृत् होता है) वाले कार्यत्व हेतु
में शक्ति (अङ्कुर) में सकृत्कृत्तरूप साध्यसिद्धि होने में कोई बाधा नहीं है तो
सन्दिग्धानैकान्तिकता दोष कैसे होगा । अङ्कुर के अस्फुरण दशा में तो अर्थात् उक्त दोष
हो ही नहीं सकता । ऐसा सविम अर्थ है ॥ १९ ॥

इस प्रकार दो सूत्रों से ईश्वर की सिद्धि का प्रकरण समाप्त कर क्रमप्राप्त आकाश
प्रकरण को आरम्भ करने की इच्छा से दूधकार कहते हैं—

पदपदार्थ—निष्क्रमण = निकलना, प्रवेशन = प्रवेश करना, इति = यह, आकाश-
स्य = आकाशद्रव्यका, लिङ्ग = साधक है ॥ २० ॥

इतिशब्दः प्रकारार्थः, उत्क्षेपणोद्योग्यपि कर्मणि संगृह्णाति । स्पर्शद्रव्यस-
रो निष्क्रमण प्रवेशनञ्च तदकार्यस्याकाशस्य लिङ्गमिति साद्वया ॥ २० ॥
तदेतद् दूषयितुमाह—

तदलिङ्गमेकद्रव्यत्वात् कर्मणः ॥ २१ ॥

निष्क्रमणप्रवेशनादिकर्म न तावत् समवायिकारणतया आकाशमनुमापयति
कर्मण एकद्रव्यत्वात् एकमात्रमूर्त्तसमवायिकारणरुत्वात्, न कर्मापि व्यासञ्चवृत्तो-
क्त न वाऽमूर्त्तवृत्तीति ॥ २१ ॥

ननु वासमवायिकारणतयैवाकाशमनुमापयिष्यति निष्क्रमणप्रवेशनाद्येत्यत
साह—

कारणान्तरानुक्तत्विधर्म्याच्च ॥ २२ ॥

भावार्थ—सास्पमत से उत्क्षेपण, निष्क्रमण, प्रवेश इत्यादि सम्पूर्ण क्रिया
आकाशद्रव्य के साधक लिङ्ग है ॥ २० ॥

उपस्कार—इस सूत्र में इति शब्द का अर्थ है प्रकार, जिससे उत्क्षेपण, अपक्षेपण
इत्यादि मुख्य पाँच कर्मों का भी समग्र होता है । स्पर्श वाते द्रव्य के संचरण को निष्क्र-
मण तथा प्रवेशन कहते हैं, वह निम्न आकाशद्रव्य का सिद्धि करने वाला लिङ्ग है
ऐसे साक्ष्यमतावलम्बी कहते हैं (अर्थात् निष्क्रमणादि क्रिया से उत्पन्न विलक्षण सयोग
का आधार होने से आकाश सिद्ध होता है न कि दण्डगुणरूप लिङ्ग से, क्योंकि
शब्द पुषिवी आदि द्रव्यों में भी रहने से व्यभिचारी है ऐसा साक्ष्यों का अभिप्राय है,
अतः निष्क्रमण से उत्पन्न सयोग स्पर्शनाधार द्रव्य से हुआ है, विलक्षण सयोग होने से
ऐसा माध्यवाधी यहाँ अनुमान करते हैं) ॥ २० ॥

इस मन का खण्डन सूत्रकार करते हैं—

पदपदार्थ—तत् = वह निष्क्रमणादि, अलिङ्गम् = साधक नहीं है, एकद्रव्य-
त्वात् = एकद्रव्य के आवृत्त होने से, कर्मणः = कर्म पदार्थ के ॥ २१ ॥

भावार्थ—क्रिया के एकमात्र मूर्त्तद्रव्य समवायिकारण वाली होने के कारण
निष्क्रमण-प्रवेशनादि क्रिया आकाशद्रव्य का साधक लिङ्ग नहीं हो सकती ॥ २१ ॥

उपस्कार—निष्क्रमण-प्रवेशनादि क्रिया का समवायिकारण आकाश द्रव्य
है इस कारण उसका अनुमान नहीं करा सकती, क्योंकि क्रिया का केवल मूर्त्तद्रव्य ही
समवायिकारण होता है, त्रिधा व्यासञ्चवृत्ति (एकभिन्न दो या अनेक में वर्तमान)
नहीं होती यह कह चुके हैं, तथा अमूर्त्त (इत्यन्तारहित परिमाण वाले) द्रव्यों में नहीं
रहती यह भी कह चुके हैं ॥ २१ ॥

शका—उक्त निष्क्रमणादि क्रिया का आकाश असमवायिकारण होने से उसको
अनुमान में सिद्ध करायेगी ? उत्तर—

पदपदार्थ—कारणान्तरानुक्तत्विधर्म्याच्च = और दूसरे असमवायिकारण के
१० वें

अनुबलमिलंक्षणम् अनुकल्प्यते ज्ञाप्यतेऽनेनेति द्युत्पत्त्या, कारणान्तरस्य असमवायिकारणस्य याऽनुबलमिलंक्षणं तद्वैधर्म्यादित्यर्थः । द्रव्यन्तावदसमवायिकारणं न भवत्येव । असमवायिकारणता च कारणैकार्थप्रत्यासत्त्या कार्यैकार्थप्रत्यासत्त्या च । प्रथमा तन्तुरूपाणां पटरूप प्रति, इयञ्चासमवायिकारणता महतीति सदा लभते गुरुप्रतिपत्तिकत्वात् । द्वितीया च यथा आत्ममनसंयोगस्य ज्ञानादिक प्रति, इयञ्चासमवायिकारणता लघ्वीति सदा लभते लघुलक्षण के विरुद्ध धर्म होने से भी (निष्क्रमणादि क्रिया आकाशसाधक नहीं हो सकती) ॥ २२ ॥

भाषार्थ—असमवायिकारण के लक्षण के विरुद्ध धर्म वाले होने के कारण निष्क्रमणादि क्रिया का आकाश द्रव्य असमवायिकारण नहीं हो सकता, इस कारण भी निष्क्रमणादि कम आकाश का साधक नहीं है ॥ २३ ॥

उपस्कार—सूत्र में अनुकल्पति शब्द का 'अनुकल्प्यते ज्ञाप्यतेऽनेन' जिससे जनाया जाय' इस द्युत्पत्ति से अनुकृति शब्द का अर्थ है लक्षण, अतः कारणान्तर-असमवायिकारण रूप जो दूसरा कारण उसकी अनुबलूति नाम लक्षण, उसके विरुद्ध धर्म होने से यह सूत्र का अर्थ है । प्रथम द्रव्य तो असमवायिकारण होता ही नहीं । और वह असमवायिकारणता कार्य के समवायिकारण के साथ एक पदार्थ में प्रत्यासत्ति सम्बन्ध होने से होती है, तथा कार्य के साथ एक अर्थ में सन्निकर्ष होने से (ऐसे दो प्रकार की होती है) । (इन दो प्रकार की असमवायिकारणताओं में से कारणैकार्थ सम्बन्ध वाली प्रथम असमवायिकारणता द्रव्य में नहीं है इस आशय से शकरमिश्र आगे कहते हैं कि)—उक्त दो असमवायिकारणताओं में से प्रथम असमवायिकारणता है तन्तुओं के रूप को पट के रूप में, और इस असमवायिकारणता का 'महती' बड़ी है ऐसा नाम है, क्योंकि यह गुरुप्रतिपत्तिक है अर्थात् (परम्परा) सम्बन्ध रूप गौरव से इसका ज्ञान होता है । (अर्थात् द्रव्य में साक्षात् तादात्म्य सम्बन्ध से समवायिकारणता मिल रहने पर भी असमवायिकारणता के दो समवाय से युक्त सामानाधिकरण्यरूप परम्परा सम्बन्ध घटित होने के कारण द्रव्य में प्रथम असमवायिता नहीं हो सकती । तात्पर्य यह है कि घटरूप कार्य का घट समवायिकारण तथा और भी द्रव्य एक स्थल में एक क्षण में समवेत नहीं होता जिससे द्रव्य में भी उक्त परम्परा सम्बन्ध से असमवायिकारणता आ सकेगी) । (दूसरी कार्य के साथ साक्षात् सम्बन्ध वाली असमवायिकारणता भी द्रव्य में नहीं हो सकती इस, अभिप्राय से शकरमिश्र आगे कहते हैं कि)—द्वितीय असमवायिकारणता वह होती है जैसे ज्ञान तथा इच्छादि रूप गुण कार्य में आत्मा तथा मन का संयोग, इस असमवायिकारणता का 'लघ्वी' छोटी ऐसा नाम है । क्योंकि साक्षात् सम्बन्ध से होने के कारण लघुप्रतिपत्तिक साक्षात् सम्बन्ध के कारण लाघव से ज्ञान होता है । (अर्थात् साक्षात् समवाय

प्रतिपत्तिकृत्वात् । आकाशस्य तु निष्कर्मणप्रवेशनादौ कर्मणि न समवायि-
कारणता भाष्यसमवायिकारण्यता । तथा च न च कर्माकाशसत्त्वे लिङ्ग-
मिति ॥ २० ॥

ननु निमित्तकारणमस्तु कर्मण्याकाशम्, दृश्यते ह्याकाशे पक्षिकाएवादीनां
सञ्चरणमत्र आह—

संयोगादभावः कर्मणः ॥ २३ ॥

मूर्त्तसंयोगेन कर्मेकारणस्य वेगगुरुत्वादे प्रतिपन्थात् कर्मणोऽभावोऽ-
सुत्पादो न स्वाकाशभावात् सत्य व्यापकत्वात् । समादाकाशान्वयोऽन्यथा-
सिद्ध एव आकाशनिमित्ततां साधयतीत्यर्थः ॥ २३ ॥

सम्बन्ध से होने के कारण लघु ज्ञान है, कपाल के रूप में घटादि द्रव्य नियत पूर्व-
वृत्ति न होने के कारण नहीं हो सकता, घट के अव्यवहित पूर्व ज्ञान में कपाल में कोई
दूसरा द्रव्य नहीं रहता इस कारण घट में भी द्रव्य असमवायिकारण नहीं हो सकता ।
(इस प्रकार प्रसंग से दो प्रकार के असमवायिकारणों का लक्षण वर्णन कर प्रस्तुत
वर्णन करते हुए शङ्करमिश्र कहते हैं कि)—आकाश द्रव्य तो उक्त प्रकार से निष्कर्मण-
प्रवेशनादि कर्मों में न समवायिकारण हो सकता है न असमवायिकारण, अतः सान्ध्यमन
से किया आकाश की सत्ता में साधक नहीं हो सकती ॥ २२ ॥

शका है—‘आकाश की क्रिया में निमित्तकारण ही मानेंगे, क्योंकि आकाश में
पक्षी-काण्ड इत्यादिकों की संचरण क्रिया बिनाई पड़ती है’ इस शका के समाधानार्थ
सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—संयोगात् = प्रतिबन्धक संयोग से, अभावः = अभाव होता है,
कर्मण = क्रिया का ॥ २३ ॥

भावार्थ—वृक्ष ॥ गिरने वाले फलादिकों का बीच में प्रतिबन्धक द्रव्य का संयोग
होने ॥ अग्रिम भूमिपतन रूप क्रिया के न होने से प्रतिबन्धक संयोगविशेष के अभाव
में ही क्रिया का कारण है न कि आकाश, क्योंकि आकाश व्यापक होने से आकाश
रूप निमित्त कारण के न होने से कर्मरूप कार्य नहीं होता ऐसी कारणताप्रयोजक
अपेक्षित व्याप्ति नहीं हो सकती ॥ २३ ॥

संप्रसार—मूर्त्तद्रव्यों के संयोग से प्रवेश, पतन आदि क्रिया के कारण वेग उत्पन्न
तथा गुट्टवादिनों के प्रतिबन्ध (रुकावट) होने के कारण प्रवेश, पतन आदि क्रिया
का अभाव अपांज उत्पत्ति नहीं होती, न कि आकाशरूप निमित्त कारण के अभाव से
क्योंकि आकाश व्यापक द्रव्य है । इस कारण आकाश का अव्यय (सम्बन्ध) अन्यथा
सिद्ध ही है (अन्यथा सिद्ध होने से कारण नहीं है) इसलिए आकाश द्रव्य में निमित्त-
कारणता का साधक नहीं है यह सूत्र का अर्थ है ॥ २३ ॥

एव साहचर्यमते दूषिते शब्दमाकाशो लिङ्गमुपपादयिष्यन् परिशेषानुमानाय
पोठमारचयन्नाह—

कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः ॥ २४ ॥

पृथिव्यादिलक्षणे कार्यं ये विशेषगुणा रूपादयस्ते कारणगुणपूर्वका दृष्टाः ।
शब्दोऽपि विशेषगुण जातिमन्त्वे सति बाह्यैकेन्द्रियमात्रमाहत्वात् रूपादिवत् ।
तथा च तादृश कार्यं नोपलभ्यते यत्र कारणगुणपूर्वकः शब्दः स्यादित्यर्थः ॥ २४ ॥

ननु बोणावेणुमृदङ्गशङ्खपटहादी कार्यं शब्द उपलभ्यते तथाच तत्कारण-
गुणपूर्वक स्यादत आह—

कार्यान्तराग्रादुर्भावान्च शब्दः स्पर्शवतामगुणः ॥ २५ ॥

इस प्रकार साहचर्यमते के लक्षण करने पर, शब्द गुण को आकाश का साधक सिद्ध करने के लिये परितोष अनुमान करने के उद्देश से भूमिका रखते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—कारणगुणपूर्वक = सहायककारण के गुणों से उत्पन्न होने वाला,
कार्यगुण = कार्य का गुण, दृष्ट = देखा गया है ॥ २४ ॥

भाषार्थ—पृथिवी जल आदि कार्यद्रव्य में जो रूपादि विशेष गुण होते हैं, वे अपने परमाणु आदि कारण के गुण रूपादिको से उत्पन्न हुआ उनके अनुसार होते हैं यह देखा गया है । शब्द गुण कारण गुणपूर्वक हो ऐसा कोई कार्य उपलब्ध नहीं होता अतः वह पृथिव्यादिको का गुण नहीं हो सकता ॥ २४ ॥

उपस्कार—पृथिवी, जल आदि कार्य द्रव्य में रूप-रस आदि जो विशेष गुण उपलब्ध होते हैं वे अपने अपने परमाणु रूप कारणों से उत्पन्न होते हैं, यह देखा गया है । शब्द भी, विशेष गुण है, जाति का आचार होते हुए । बाह्य एक इन्द्रिय (श्रोत्र) से गृहीत होने के कारण, रूप गुण के समान । ऐसा होने से ऐसा कोई कार्य उपलब्ध नहीं होता जिसमें कारण गुणपूर्वक शब्द गुण हो (इस अनुमान में प्रोक्तेन्द्रिय से गृहीत शब्दत्व जाति में अतिव्याप्ति वारणार्थ आतिमत्तारूप विशेषण पद, तथा अक्षु एव रश्मि इन्द्रिय से ग्राह्य सख्यादि सामान्य गुणों में उक्त दोष-वारणार्थ बाह्य एक इन्द्रिय से गृहीत होना ऐसा विशेषण पद हेतु में दिया गया है) ॥ २४ ॥

(उत्तरसूत्र का अवतरण देते हुए शंकरमिश्र लका करते हैं कि 'वीणा, घेणु—' (बासुरी) मृदङ्ग, शंख, तथा पटह (नगाडा) इत्यादि रुद्र कार्य में शब्द सुनाई देता है, इसलिये वीणा आदि कारण गुण से उत्पन्न शब्द कारण गुणपूर्वक हो जायगा' इस शंका का सूत्रकार समाधान देते हैं कि—

पदपदार्थ—कार्यान्तराग्रादुर्भावात् च = वीणा-घेणु आदि अवयवि द्रव्यों में दूसरे शब्दरूप कार्य के प्रगट न होने से भी, शब्दः = शब्द गुण, स्पर्शवतां = स्पर्शवान् पृथिव्यादिको का, अगुण = गुण नहीं हो सकता ॥ २५ ॥

भवेदेवं यथा तन्तुकपालादिषु रूपरसाद्यनुभूयते तत्सजातीयश्च रूपरसा-
न्तरं पटघटादानुपलभ्यते तथा वीणावेणुमृदङ्गाद्यवयवेषु च शब्द उपलब्ध-
स्तत्सजातीयश्चेत् वीणावेणुमृदङ्गाद्यवयवनिन्युपलभ्येत न चैवम् । प्रत्युत नि-
शब्दैरेवावयवैर्वीणाद्यारम्भदर्शनात्, नीरूपैस्तु तन्तुकपालादिभिः पटघटाद्यार-
म्भस्यादर्शनात् । किञ्च यदि शब्दः स्पर्शवता विशेषगुण स्यात् तदा तत्र तार-
तारतर-मन्द-मन्दतरापदभावो नानुभूयित न ह्येकावयव्याश्रिता रूपादयो
चैविशेषेणानुभूयन्ते तस्मान्न स्पर्शवद्विशेषगुणः शब्दः ॥ २५ ॥

भावार्थ—पटादि द्रव्यो मे तन्तु आदिको के रूपादि गुणो के उपलब्धि के समान
वीणादिको मे उनके अवयवों के अनुसार शब्दरूप कार्य के न होने से भी स्पर्शाश्रय-
णीयादिद्रव्यों का शब्द विशेष गुण नहीं हो सकता ॥ २५ ॥

उपस्कार—ऐसा तब होगा यदि जिस प्रकार तन्तु तथा कपाल आदि द्रव्यों मे
जैसे रूप रस आदि गुणों का अनुभव होता है, उनके समान जाति के ही रूप रस
आदि गुणों की तन्तु कपाल आदि अवयवों से उत्पन्न पट, घट आदि कार्यों में उपलब्धि
होती है, इसी प्रकार वीणा, वेणु, मृदङ्ग आदि द्रव्यों के अवयव (काष्ठ) आदिकों
मे शब्द गुण अनुभूत हुआ है । उसी के समान आदि का शब्द गुण वीणा, वेणु, मृदङ्ग
आदि अवयवों में उपलब्ध हो, किन्तु ऐसा नहीं होता, बल्कि शब्दरहित हो
वीणादिको ॥ अवयवों से वीणादि अवयवों में उत्पत्ति देखने मे आती है, किन्तु
रूपरहित तन्तु तथा कपाल आदि अवयवों से पट-घट आदि अवयव द्रव्यों की
उत्पत्ति देखने मे नहीं आती । (यदि अनुद्भूत शब्द वीणादिकों के अवयवों मे माना
जाय, तो शंकरमिश्र दूसरा दोष देते हैं) कि—धीरे यदि शब्दस्पर्शाश्रय पृथिव्यादि
द्रव्यों का गुणविशेष हो तो उसमे तार (कँचा), तारतर (मति कँचा) तथा मन्द, मन्दतर
इत्यादि रूपात्ता को शब्द मे अनुभूत होती है वह न होगी, अर्थात् ध्वन, स्पर्शवान् द्रव्यों
का विशेष गुण नहीं है, पाकज न होते हुए कारण गुणपूर्वक प्रत्यक्ष न होने से
सुत्र के समान' इस अनुमान से शब्द पृथिव्यादि स्पर्शवान् द्रव्यों का गुण नहीं है यह
सिद्ध होता है । इसमे अपाञ्चक रूप मे व्यभिचारवारणार्थ सत्यन्त तथा पटरूप में
उक्त दोष-वारणार्थ विशेष्य पद आनना व्यतिरेकी अनुमान सूचित करने के लिये,
शंकरमिश्र ने नहीं इत्यादि यहाँ कहाँ है । जिससे एक अवयव मे रहने हुए
विलक्षण अनुभव होने से रूप के समान व्यतिरेकी दृष्टान्त आता है । तार, तारतर
इत्यादि अनुभव को उक्त आपत्ति में शंकरमिश्र मुक्ति देते हैं नयोंकि एक अवयव द्रव्यों
मे वर्तमान रूप रस इत्यादि गुण विचित्र रूप से अनुभूत नहीं होते (अर्थात् एक पटादि
द्रव्यों का रूपादिगुण विलक्षण नहीं होता । इस कारण शब्द स्पर्शाश्रय पृथिव्यादिकों
की विशेषगुण नहीं है यह सिद्ध होता है) ॥ २६ ॥

नन्वात्मगुणो मनोगुणो वा शब्दो भविष्यतीत्यत आह—

परत्र समवायात् प्रत्यक्षत्वाच्च नात्मगुणो न मनोगुणः ॥ २६ ॥

शब्दो यदात्मगुण स्यात् तदाऽहं सुखीयते आने इच्छामोत्यादिवत् अहं
पूर्यते अहं वाचे अहं शब्दवान्त्यादि धी स्यात् न त्वेवमस्ति, किन्तु शब्दः
पूर्यते बोधा वाचते इति प्रतियन्ति लौकिकाः । किञ्च शब्दो नात्मगुण
बाह्येन्द्रियमाश्रयत्वात् रूपादिवत् अपि च शब्दो यदात्मयोग्यविशेषगुणः स्याद्-
धिरेणाप्युपलभ्येत दुःखादिवत् तस्मात् सुप्लूक्तं परत्र समवायादिति ।
अमनोगुणत्वे हेतुमाह—प्रत्यक्षत्वादिति । नात्ममनसोगुण इति समासे कर्त्तव्ये
यदसमासकरणेन तुल्यन्यायतया प्रत्यक्षत्वादित्यनेनैव हेतुना द्विकालयोरापि
गुणत्व शब्दस्य प्रतिषिद्धमिति सूचितम् ॥ २६ ॥

शब्द आत्मा अथवा मन द्रव्य का हो गुण मानेंगे ऐसी चरम के उत्तर में सूत्रकार
कहते हैं—

पदपदार्थ—परत्र = अन्य में, समवायात् = समवेत होने से, प्रत्यक्षत्वात् च =
और प्रत्यक्ष होने से भी, न = नहीं है, आत्मगुण = आत्मा का गुण, न = नहीं, मनोगुण =
मन द्रव्य का गुण है ॥ २६ ॥

भावार्थ—आत्मा से भिन्न द्रव्यों में सम्बन्ध होने से तथा बाह्य नेत्र इन्द्रिय से प्रत्यक्ष
होने के कारण भी शब्द आत्मा तथा मन द्रव्य का विशेष गुण नहीं है ॥ २६ ॥

उपस्कार—शब्द यदि आत्मा द्रव्य का गुण हो तो 'अहं सुखीयते, इच्छति' में सुखी
हूँ, मैं पारा करता हूँ, मैं इच्छा करता हूँ, इत्यादि प्रतीति में समान 'अहं शब्दवान्' में
शब्दवाला हूँ इत्यादि ज्ञान होने लगेगा, ऐसा ज्ञान नहीं होता, किन्तु शब्द बजाया जाता
है, बोधा बजायी जाती है ऐसा व्यवहार में प्रसिद्ध है । तथा 'शब्द, आत्मा का गुण
नहीं है, बाह्य ध्येय इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने के कारण रूपादिगुणों के समान' इस अनु-
मान से भी शब्द आत्मा का गुण नहीं है यह सिद्ध होता है । (इस प्रकार अनुमान से
शब्द आत्मा का गुण नहीं है यह सिद्ध कर इसी विषय को तर्क से सिद्ध करते हैं)—
कि—अदि शब्द आत्मा का प्रत्यक्ष योग्य विशेष गुण हो तो बहिर (बहिर) को भी
(सुखादि गुणों के समान), शब्द सुनाई देगा अतः सूत्रकार ने 'परत्र समवायात्' अन्य ॥ ।
समवेत होने से यह ठीक कहा है । मन का शब्द गुण नहीं है, इसमें प्रत्यक्षत्वात् प्रत्यक्ष
होने से यह हेतु सूत्र में दिया है । इस सूत्र में 'नात्ममनसोगुणः' ऐसा समस्त पद न
देकर जो समास नहीं किया इससे समान न्याय से 'प्रत्यक्ष होने से' इसी हेतु से दिया
तथा काश द्रव्य का भी शब्द गुण नहीं है यह सूचित होता है (अर्थात् शब्द, दिवा,
काश तथा मन का गुण नहीं है प्रत्यक्ष होने से रूप के समान इस अनुमान से दिया
तोत द्रव्यों का शब्द गुण नहीं है यह सिद्ध होता है ॥ २६ ॥

यदर्थमयं परिशेषस्तदाह—

परिशेषाल्लिङ्गमाकाशस्य ॥ २७ ॥

शब्द इति शेष । अत्रापि शब्दः कचिदाश्रितो गुणत्वात् रूपादिषदिति सामान्यतोदृष्टादृष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्यसिद्धिः । गुणध्याय बाह्यैकेन्द्रियमाद्यजाती यत्त्वान् रूपादिवत्, अनित्यत्वे सति विभुसमवेतत्वात् ज्ञानादिवत् । अनित्यत्वञ्च साधयिष्यते । परिशेषसिद्धस्य द्रव्यस्यावयवकल्पनाया प्रमाणाभावा-न्नित्यत्वं सर्वत्र शब्दोपलब्धेर्विसृत्वम् ॥ २७ ॥

शब्दलिङ्गस्य द्रव्यस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे अतिदेशेन साधयन्नाह—

द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥ २८ ॥

जिस लिये ऐसा पुषिष्यादि आठ द्रव्यो से परिशेष (अवशिष्ट द्रव्य) सूचित किया वसे दिखाते हुए सूत्रकार कहते हैं कि—

पदपदार्थ—परिशेषात् = परिशेष (अवशिष्ट) होने से, लिङ्गं = साधक है, आकाशस्य = आकाश नामक द्रव्य का ॥ २७ ॥

भाषार्थ—उक्त प्रकार से पुषिष्यादि आकाश से भिन्न द्रव्यो का बाधा होने के कारण शब्द आकाश नामक नवम द्रव्य का साधक है ॥ २७ ॥

उपसकार—सूत्र में आकाशित पद का ग्रहण करते हैं कि परिशेष से आकाश का साधक 'शब्द' है ऐसा सूत्र में अवशिष्ट पद देना । यहाँ भी शब्द, किसी द्रव्य में आश्रित है, गुण होने से, रूपादि गुणों के समान, इस प्रकार सामान्यतोदृष्ट अनुमान से पुषिषी आदि अष्ट द्रव्यों से भिन्न द्रव्य की निधि होती है । यह शब्द गुण है, बाह्य (धोरूप) एक इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने के कारण, रूपादि गुणों के समान, (अथवा) अनित्य होते हुए व्यापक में समवेत होने से, ज्ञान-इच्छादि गुणों के समान । (इत अनुमानों से शब्द में गुणत्व सिद्ध होता है) । (अन्तिम अनुमान ॥ हेतु विशेषण) अतिशयता की भाँति सिद्ध करेंगे । (सूत्र के परिशेष शब्द का अर्थ 'सोपवत् अनुमान' है यह सूचित करने हुए सत्करमित्र कहते हैं कि)—इस प्रकार परिशेष से सिद्ध पुषिष्यादि अष्टद्रव्यमिश्र द्रव्य के अवयव मानने से प्रमाण न होने से यह निश्च है, तथा सर्वत्र शब्द की उपलब्धि होने से शब्दावयव आकाश नामक द्रव्य विभु(व्यापक) है यह भी सिद्ध है ॥ २७ ॥

इसी शब्दलिङ्ग से सिद्ध आकाश द्रव्य की द्रव्यता, तथा अनित्यता वायु परमाणुओं के दृष्टांत द्वारा भी सिद्ध होने की सूचना सूत्र में करते हैं—

पदपदार्थ—द्रव्यत्वनित्यत्वे = द्रव्यत्वजातिमत्ता तथा नित्यता, वायुना = परमाणु रूप वायु द्रव्य से, व्याख्याते = व्याख्या की गई है ॥ २८ ॥

अद्रव्यत्वाद्यथा वायोर्नित्यत्व तथाकाशस्यापि, गुणवत्त्वाद् यथा वायोर्द्रव्यत्व तथाकाशस्यापीत्यर्थः ॥ २८ ॥

तत् किं बहून्वाकाशानि एकमेव वेत्यत आह—

तत्त्वम्भावेन ॥ २९ ॥

इत्याख्यातमिति विपरिणतेनान्वय । भावः सत्ता सा ययैका तथाकाशम-
त्येकमेवेत्यर्थः ॥ २९ ॥

नन्वनुगतप्रत्ययमहिम्ना सत्ताया एकत्य सिद्धम् आकाशे कथमेकत्वं
सिद्धदृष्टान्तेन सेत्स्यतीत्यत आह—

शब्दलिङ्गाविशेषाद्विशेषलिङ्गाभावान्च ॥ ३० ॥

भाषार्थ—उक्त प्रकार से अवयव मे प्रमाण न होना तथा सर्वत्र उपलब्ध होना
जैसे आकाश द्रव्य के नित्य होने में तथा व्यापक होने मे साधक है, उसी प्रकार परमाणुरूप
वायु मे द्रव्याधिष्ठाता न होने से जैसे उसमे नित्यता है एवं गुणवान् होने से जैसे
वायु परमाणु द्रव्य होने के समान द्रव्यानाश्रित होने से तथा शब्दगुणाध्यय होने से
आकाश भी नित्य तथा द्रव्यत्वजातिमान् द्रव्य है यह सिद्ध होता है ॥ २८ ॥

उपस्कार—द्रव्याश्रित न होने से जैसे वायु परमाणु नित्य है उसी प्रकार द्रव्या-
श्रित न होने से आकाश भी (नित्य है), एवं शब्दगुणाध्यय होने से जिस प्रकार
परमाणुरूप वायु जैसे द्रव्य है उसी प्रकार आकाश द्रव्य भी शब्द गुण का आधार
होने से द्रव्य है यह सूत्र का अर्थ है ॥ २८ ॥

तो क्या वह आकाश अनेक है अथवा एक ? इस सन्देह के समाधानार्थ सूत्रकार
कहते हैं—

पदपदार्थ—तत्त्व = एकतारूप तत्त्व, भावेन = सत्ताजाति से, (व्याख्यात है) ॥ २९ ॥

भाषार्थ—उक्त सन्देह का निवारण यह है कि आकाश द्रव्य सत्ताजाति के समान
एक है न कि अनेक ॥ २९ ॥

उपस्कार—अट्टादमर्षे सूत्र के 'व्याख्याते' इस द्विवचनान्त पद का 'व्याख्यात'
ऐसा एकवचन में परिणामकर 'तत्त्वम्भावेन' इस सूत्र में 'तत्त्व' पद एकवचन होने से
अन्वय करना (भाव) सत्ताजाति, वह जिस प्रकार एक है उसी प्रकार आकाश द्रव्य
भी एक ही है यह सूत्र का अर्थ है ॥ २९ ॥

शब्द—'सत् सत्' इस अनुगत बुद्धि के सामर्थ्य से सत्ताजाति में एकत्व सिद्ध है तो
एक आनाश होने से सत्ता के दृष्टान्त से हममे एकत्व कैसे होगा' इस शब्द के समा-
धानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—शब्दलिङ्गाविशेषात् = शब्दरूप आकाश साधक- हेतु की विशेषता

तत्त्वमाकाशस्य सिद्धमित्यर्थः । वैभवे सति सर्वेषां शब्दानां तदेकाग्रय-
स्यैवोपपत्तावाप्तयान्तरकल्पनायां कल्पनायोरवयवसङ्गः । अन्यदपि यदाकाशं
कल्पनीयम् तथापि शब्द एव लिङ्गम् तच्चाविशिष्टम् न च विशेषमात्रकं भेद-
साधकं लिङ्गान्तरमस्ति । आत्मनां यद्यपि ज्ञानादिक्रमविशिष्टमेव लिङ्गं तथापि
व्यवस्थातो लिङ्गान्तरादात्मनानात्वसिद्धिरिति वक्ष्यते ॥ ३० ॥

तत्त्वाकाशस्य एकत्वं तावदभ्यु, वैभवात् परममहत्त्वमप्यस्तु, शब्दासम-
वायिकारणत्वात् संयोगविभागावपि स्याताम् एकपृथक्त्वं कथमत आह—

न होने से, विशेषलिङ्गाभावात् न = और भेदसाधक विशेष हेतु के न रहने से भी
(आकाश एक है) ॥ ३० ॥

भावार्थ—यद्यपि आकाश के एक होने से उसमें अनेकाश्रित सत्ता के समान
एकत्व नहीं हो सकता, किन्तु आकाशसाधक शब्दलिङ्ग में कोई विशेषता न होने,
तथा आकाश में अनेकता का साधक विशेष हेतु न होने से भी आकाश एक ही है
यह सिद्ध होता है ॥ ३० ॥

उपस्कार—(सुत्र में आकाशित पद की पुष्टिकर शंकरमिश्र व्याख्या करते
हैं कि) —‘तत्त्वभावेन’ इससूत्र से ‘तत्त्व’ इन पद की अनुवृत्ति कर सूत्र की
शब्दलिङ्ग समान होने तथा भेदसाधक हेतु न रहने के कारण भी आकाश की
एकता सिद्ध है । आकाश के व्यापक होने से संपूर्ण जगत् के शब्दों की
आकाश के साधक से ही उत्पत्ति सिद्ध हो सकने के कारण शब्द का एक
आकाश की छोड़कर दूसरा आकाश साधार मानने में औरव दोष जा जायगा, और जो
दूसरा आकाश मानेंगे उसमें भी शब्द ही साधक हेतु होगा, जो सर्वत्र समान ही है ।
और न आकाश के अनेकता का साधक शब्दको छोड़कर दूसरा कोई साधक हेतु है ।
जीवात्माओं के साधक ज्ञान इत्यादि गुण यद्यपि सर्वत्रसमान हैं, तथापि व्यवस्था (कोई
सुखी है कोई दुःखी) इत्यादि व्यवस्था रूप दूसरे साधक हेतु से आत्मा अनेक है यह
सिद्ध होता है, ऐसा सुखदुःखज्ञाननिष्पत्त्यविशेषादकार्थ्यम्’ (३ अ० २ भा० २९ सूत्र)
अपि सुख-दुःख इत्यादि आत्मसाधक हेतुओं के समान होने से आत्मा एक ही इस
पूर्वपक्ष सूत्र के उत्तर में ‘अवस्थातो नाना’ इस सिद्धान्तसूत्र से सिद्ध करे ॥ ३० ॥

(शंकापूर्वक शंकरमिश्र अधिम सूत्र का व्यवतरण देते हैं) —शंका है कि आकाश
में एकरव मानेंगे, व्यापक होने से परममहत् परमाणु भी सिद्ध हो, तथा शब्द वायु का
असम-वायिकारण होने से संयोग तथा विभाग गुण भी आकाश में रहे, किन्तु एक
पुनश्च से (आकाश काल से पुनः है इत्यादि रूप) पुन कंते सिद्ध होगा,—इसके उत्तर
में सूत्रशर कहते हैं कि—

तदनुविधानादेकपृथक्त्वञ्चेति ॥ ३१ ॥

नियमेनैकपृथक्त्वमेकत्वमनुविधत्ते इत्येकपृथक्त्वसिद्धिः । इतिराह्निकपरि-
समाप्तौ मानसप्रत्यक्षाविषयविशेषगुणवद्द्रव्यलक्षणमाह्निकार्थः । तेन पृथिव्य-
प्तजोवाय्वाकाशानां प्रसङ्गत ईश्वरात्मनश्च लक्षणमस्मिन्नाह्निके । तेन चतुर्दश-
गुणततो पृथिवी, ते च गुणा रूपरसगन्धस्पर्शसंज्ञापरिमाणपृथक्त्वसंयोग-
विभागपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्वसंस्कारा । तावन्त एव गन्धमपात्य स्नेहेन
सहायाम् । एत एव रसगन्धस्नेहगुरुत्वान्यपात्य तेजसः । गन्धरसरूपगुरुत्व-
स्नेहद्रवत्वान्यपात्य वायो । शब्दस्य सह संज्ञादिपञ्चगुणवत्त्वमाकाशस्य ।

पदपदार्थ—तदनुविधानात् = एकत्वसंख्यानुमारी होने से, एकपृथक्त्व (च=एक)
पृथक्त्व गुण भी, (है) इति=इस कारण ॥ ३१ ॥

भावार्थ—एकत्वादि साक्ष्य में प्रदर्शित गुणों के समान जहाँ एकत्व संख्या रहती
है वहाँ नियम से (अवश्य ही) एक पृथक्त्व गुण रहता है, इस कारण आकाश में
एक पृथक्त्व गुण भी है ॥ ३१ ॥

उपस्कार—नियम से एक पृथक्त्व नामक पृथक्त्व गुण एकत्व संख्या को अनुस-
रण करती है इस कारण आकाश में एक पृथक्त्व सिद्ध होता है । सूत्र में 'इति' शब्द
२ अ० के आह्निक प्रथम की समाप्ति का सूचकसूचकार ने दिया है । इस सम्पूर्ण प्रथम
आह्निक का मानसप्रत्यक्ष के अविषय रूप रस-गन्ध स्पर्शादि गुणों के आधार पृथिवी,
जल, तेज, वायु आदि द्रव्यों का लक्षण करना विषय है । इस कारण इति द्वितीया-
ध्याय के प्रथम आह्निक में क्रम से पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा आकाश द्रव्य का
लक्षण प्रारम्भ में करने के पश्चात् प्रसङ्ग से ईश्वररूप विशिष्ट आत्मा का लक्षण
भी इस प्रथमाह्निक में किया है । इससे चतुर्दशगुण वाली पृथिवी द्रव्य है यह सिद्ध
होता है । वे चतुर्दशगुण हैं रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग,
विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व तथा संस्कार । इनमें ही चतुर्दशगुण पृथिवी
के गुणों में से गन्ध को निकालकर उसके स्थान में स्नेह के साथ जल के होते हैं ।
धीरे इन्हीं चतुर्दश गुणों में रस, गन्ध, स्नेह तथा गुरुत्व को छोड़कर रूप, स्पर्श,
संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व तथा संस्कार ऐसे
एकादशगुण तेज द्रव्य के हैं । तथा गन्ध, रस, रूप, गुरुत्व, स्नेह तथा द्रवत्व को
छोड़कर स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व तथा
संस्कार ऐसे चार गुण वायु के हैं । शब्द, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग तथा विभाग
ऐसे छ गुण आकाश द्रव्य के हैं । संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग तथा विभाग ऐसे
पाँच ही । दिशा तथा काल दोनों द्रव्यों के हैं । परत्व, अपरत्व तथा वेगसहित संख्या,

सङ्ख्यादिपञ्चकमात्रं दिक्कालयोः । परत्वापरस्ववेगसहितं सङ्ख्यादिपञ्चकं मनसः । सङ्ख्यादिपञ्चकं ज्ञानेच्छाप्रयत्नाश्चेद्वरस्य ॥ ३१ ॥

इति श्रीशाङ्करे वैशेषिकसूत्रोपस्कारे द्वितीयाध्याय-
स्याध्यात्मिकम् ॥

परिमाण, पुण्यत्व, सयोग तथा विभाग ऐसे आठ गुण हैं । निरपज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, एव सङ्ख्या, परिमाण, पुण्यत्व सयोग तथा विभाग ऐसे आठ गुण ईश्वर के हैं । ज्ञान, मुक्त, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना संस्कार, संख्या, परिमाण, पुण्यत्व, सयोग, तथा विभाग ऐसे अतुल्यगुण जीवार्माओ के हैं ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्री शाकरमिश्र कृत वैशेषिक सूत्रों की उपस्कार व्याख्या में द्वितीयाध्याय का प्रथम आत्मिक सर्वाप्त है ।

द्वितीयाध्याये द्वितीयाह्निकम्

इदानीं भूतानां लक्षणानि गन्धादीनि परोचिच्छिपुर्गन्धादीनां स्वाभाविक-
स्वमौपाधिकत्वञ्च व्यवस्थापयन्नाह—

पुष्पवस्त्रयोः सति सन्निकर्षे गुणान्तराप्रादुर्भावो वस्त्रे गन्धामाव-
लिङ्गम् ॥ १ ॥

रूपरसगन्धस्पर्शा यत्र कारणगुणप्रक्रमेणोत्पद्यन्ते तत्र स्वाभाविकाः सन्तो
लक्षणसामुपयन्ति नान्यथा, न हि समोरण उपलभ्यमानं सौरभ शिलावले
उपलभ्यमानं शैत्य जले उपलभ्यमानमौष्ण्यं वा लक्षणं भवति तदेतदाह—

(द्वितीयाध्याय द्वितीयाह्निक)

साम्प्रत पुमिवी आदि भूतद्रव्यों के गन्ध, रस आदि प्रदर्शित लक्षणों किं यह
लक्षण युक्त हैं या नहीं इस प्रकार परीक्षा करने की इच्छा रखते हुए गन्धादि गुण
किन द्रव्यों में स्वाभाविक हैं तथा किन द्रव्यों में उपाधि प्राप्त (गीण) हैं इस
व्यवस्था को दिखाने हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदार्थार्थ—पुष्पवस्त्रयोः = पुष्प तथा वस्त्र का, सति = रहते, सन्निकर्षे =
सयोग सम्बन्ध, गुणान्तराप्रादुर्भावः = कारण गुण से उत्पत्ति न होना, वस्त्रे = वस्त्र
में, गन्धामावलिङ्ग = गन्ध के अभाव का साधक है ॥ १ ॥

भावार्थ—चम्पा आदि सुगन्धित पुष्प तथा वस्त्र का संयोग होने पर वस्त्र में
अपने समुक्त कारण के गन्धरूपगुण से वस्त्र में गन्धरूप कार्य का न आना सिद्ध करता
है कि वस्त्र में जो सुगन्ध उपलब्ध होता है वह वस्त्र का स्वाभाविक गुण नहीं है,
किन्तु सुगन्धित पुष्प के संयोग से आने के कारण औपाधिक (गीण) है और पुष्परूप
पुमिवी का स्वाभाव-सिद्ध है ॥ १ ॥

उपस्कार—रूप, रस गन्ध तथा स्पर्श नामक विशेष गुण ही कारण गुण के क्रम
से अवयव द्रव्यों में उत्पन्न होते हैं, इसी कारण उन द्रव्यों में स्वाभाविक होते हुए वे
लक्षण होते हैं अन्यथा स्वाभाविक नहीं होते, क्योंकि वायु में उपलब्ध होने वाला
सुगन्ध वायु में गृहीत होनेवाली शीतता, जल में अनुभूयमान उष्णता उनका लक्षण
नहीं होता इसी अभिप्राय से सूत्रकार “पुष्पवस्त्रयोः” ऐसा सूत्र में कहते हैं। जिस कारण
सुवर्ण चम्पकनाम के सुगन्धित पुष्प के सन्निहित वस्त्र में अनुभूत होनेवाली सुवर्ण चम्पक
पुष्प की सुगन्ध वस्त्र की नहीं है (यदि “वस्त्रे” के अभाव में धूम के अभाव
के समान कारण के अभाव में कार्य का अभाव साधक होता है ऐसा देखने में आता
है अतः प्रस्तुत में केतकी (केवटे) पुष्प के गन्ध का अभाव भी वस्त्र के गन्ध के
अभाव में साधक लिङ्ग हो जायगा, एवं च केतकीपुष्प गन्ध से ही वस्त्र में भी

पुष्पवस्त्रयोरिति । न हि कनककेतकीकुसुमसन्निकुष्टे वाससि कनककेतकी-
सौरभनुपलभ्यमानं वाससः । न हि वाससः कारणगुणप्रक्रमेण तदुत्पन्नम्,
किन्तुहि ? कनककेतकीसन्निधानादौपाधिकं, न हि वस्त्रे गन्धाभावे केतकी-
गन्धाभावो लिङ्गम् । किं लिङ्गमत उक्तं गुणान्तराश्रादुर्भाव इति । गुणान्त-
रात् कारणगुणान् अप्रादुर्भावोऽनुत्पत्तिः यदि हि वस्त्रे यो गन्ध उपलभ्यते स
तस्य स्वाभाविकः स्यात्तदा तदवयवेऽपि तन्तुषु केतकीसन्निकपात् पूर्वं तत्र वस्त्रे
वोपलभ्येत न नैवमित्यर्थः । तथाच विवादाध्यासितो गन्धो न वस्त्रसमवेतः
तदवयवगुणाज्जन्यविशेषगुणत्वात् शीतोष्णस्पर्शादिष्व ॥ १ ॥

स्वाभाविक गन्धं पृथिव्या लक्षणमाह—

व्यवस्थितः पृथिव्या गन्धः ॥ २ ॥

उसी जाति का सुगन्ध उत्पन्न होता तो वह वस्त्र का स्वाभाविक गुण क्यों न होगा”
ऐसी दावा पूर्वपक्षी करे तो उसके उत्तर में शंकरमिश्र कहते हैं कि)—वह गन्ध
वस्त्र के कारण-गुण के क्रम से उत्पन्न नहीं है । वका—तो कैसा है ?
उत्तर—सुवर्ण केतकी पुष्प के सम्मिश्रित होने से वस्त्र में वह गुण औपाधिक
(पुष्प के सम्बन्ध से आया गीण है) क्योंकि वस्त्र के गन्ध के अभाव में केतकीपुष्प के
गन्ध का अभाव सामक नहीं है । (अर्थात् वस्त्र के गन्ध न होने में केतकीपुष्प के
गन्ध का अभाव यदि लिङ्ग हो तब तो उक्त पुष्प तथा वस्त्र गन्धों के कार्यकारण-
भाव की वका होगी यह उत्तर का तात्पर्य है ।) (यदि वस्त्र में गन्ध न होने में
केतकी गन्ध का अभाव लिङ्ग नहीं है तो क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में शंकरमिश्र
जाने कहते हैं कि)—इसी कारण सूत्र में ‘गुणान्तराश्रादुर्भावः’ ऐसा कहा है (जिदका
अर्थ ऐसा शंकरमिश्र करते हैं) कारण गुण रूप गुणात्तर (दूसरे गुण) से अप्रादुर्भाव
(उत्पन्न न होना) यदि वस्त्र में जो सुगन्ध अनुभूत होता है वह उसका स्वाभावसिद्ध
गुण हो तो उसके उत्पत्तरूप अवयवों में केतकीपुष्प के सम्मिश्रित होने के पूर्वकाल में
तन्तु रूप अवयव तथा वस्त्र में भी सुगन्धि उपलब्ध होने लगेगी, किन्तु ऐसा नहीं है ।
तथा च विवादविषयक गन्ध गुण, वस्त्र में सम्बद्ध नहीं है, वस्त्र के अवयवों के गुणों से
उत्पन्न न हुये विशेष गुण होने से शीतोष्ण स्पर्श के समान (इस अनुमान में गन्ध
वस्त्र का स्वाभाविक गुण नहीं है यह सिद्ध होता है) इस अनुमान में वस्त्ररूप में
व्यभिचार वारणार्थ अजगत् तत्त्व विशेषण तथा कर्मजगत् सयोग में उक्त दोष-वारणार्थ
विशेष्य पद दिया है ॥ १ ॥

स्वाभाविक गन्ध गुण पृथिवी का लक्षण है यह सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—‘व्यवस्थितः’ = समानजातीय तथा असमानजातीय से व्यावृत्त, पृथि-
व्या = पृथिवीद्रव्य में, गन्धः—गन्ध गुण है ॥ २ ॥

भावार्थ—द्रव्यरूप से समान जातीय जल, तेज आदिकी से तथा असमान

पृथिव्या व्यवस्थितोऽयोगान्ययोगाभ्यां परिच्छिन्नः समानासमानजातीयव्यावर्तकतया गन्धो लक्षणमित्यर्थः । भवति हि पृथिवी गन्धवत्येव, पृथिव्येव गन्धवतीति, तदेव समानजातीयेभ्यो जलाद्यष्टभ्योऽसमानजातीयेभ्यो गुणादिपञ्चभ्यो व्यावर्तकः स्वामाविकः पृथिव्यां गन्ध इति व्यवस्थितम् ॥ २ ॥ ॥

गन्धस्य स्वाभाविकत्वव्यवस्थापनप्रकारमुप्यनया तेजोलक्षणेऽप्यनिदिशन्नाह—

एतेनोप्यनया व्याख्याता ॥ ३ ॥

अथादिलक्षणे क्षेत्यादावप्ययमतिदेशो द्रष्टव्यः ॥ ३ ॥

तेजोलक्षण परोक्षते—

जातीय गुण, कर्म आदि पदार्थों से व्यावृत्ति (भेद) करने वाला गन्धरूप गुण पृथिवी का लक्षण होने से गन्ध पृथिवी का स्वाभाविक गुण है यह सिद्ध होता है ॥ २ ॥

उपस्कार—पृथिवी द्रव्य में गन्ध के असम्बन्ध, तथा जलादिकों में सम्बन्ध दोनों से व्यावृत्त तथा द्रव्यरूप से समानजातीय जलादिकों से तथा गुणादि रूप असमानजातीय पदार्थों से भेद-साधक होने के कारण व्यवस्थित गन्ध गुण पृथिवी का लक्षण है । क्योंकि पृथिवी गन्धाध्य होती ही है, तथा पृथिवी ही गन्धाध्य है । (पक्ष गन्धवती ही है इस कथन से पृथिवी में जलदि भेदसाधक अनुमान में भागसिद्धि होय न होगा, तथा पृथिवी है इस कथन से व्यभिचार होय का कारण जानना) ॥

तो इस प्रकार द्रव्यस्वरूप से समान जाति के जल, तेज आदि आठ द्रव्य तथा असमानजातीय गुण-कर्मादि पांच पदार्थों से भेद सिद्ध करने वाला स्वाभाविक गुण पृथिवी में है यह सिद्ध होता है ॥ २ ॥

गन्ध गुण की स्वाभाविकता-सिद्धि का उक्त प्रकार तेज द्रव्य के उष्णारूप स्वाभाविक लक्षण में भी अप्रिम सूत्र में अतिदेश द्वारा (समान प्रकार द्वारा) करते हैं—

पदपदार्थ—एतेन=इस (गन्धरूप पृथिवी-लक्षण) से, उष्णता = तेज द्रव्य की उष्णता, व्याख्याता=की व्याख्या की गई ॥ ३ ॥

भावार्थ—'उष्णता, पृथिवी में समवेत नहीं है, उसके अवयवों के गुणों से उत्पन्न न हुये गुणविशेष होने से स्वाभाविक द्रव्यत्व के समान न जल में समवेत है, गन्ध के समान, इस अनुमान में बाध होने के कारण पृथिवी तथा जल में उपलब्ध होने वाली उष्णता औपाधिक, तथा तेज में स्वाभाविक है यह सिद्ध होता है ऐसा सूत्र का अभिप्राय है ॥ ३ ॥

उपस्कार—आगे कहे जाने वाले शीतता आदि-जलादि-लक्षणों में भी पृथिवी गुण के गन्ध के स्वाभाविकता के समान इस सूत्र में कहे हुए उष्णतारूप स्वाभाविक गुण के लक्षण का अतिदेश (समान प्रकार की सूचना) जाननी चाहिये ॥ ३ ॥

तेजस उष्णता ॥ ४ ॥

स्वाभाविक्युष्णता तेजोऽलक्षणमित्यर्थः । रूपमपि शुक्लमास्वरमुपलक्ष्यते ॥ ४ ॥

अपां लक्षणं परीक्षते—

अप्यु शीतता ॥ ५ ॥

स्वाभाविकी शीतता अपां लक्षणमित्यर्थः । तथाच शिलातलधोऽपण्डादीनातिष्ठ्यातिरिति भ्रमः । शीततया रूपरसावप्युक्तलक्षणी स्नेहं सासिद्धिक्र-

तेज द्रव्य के लक्षण की परीक्षा करते हैं—

पदपदार्थ—तेजसि = तेजमे, उष्णता = उष्णता गुण (स्वाभाविक है) ॥ ४ ॥

भावार्थ—स्वाभाविक उष्ण स्पर्श गुण तेजद्रव्य का स्वाभाविक गुण है ॥ ४ ॥

उपस्कार—स्वभावसिद्ध उष्णस्पर्श गुण तेजनामक द्रव्य का इतर पदार्थों में भेदसिद्धि करने के कारण लक्षण है यह सूचार्थ है । इससे परप्रकाशक (भास्वर) शुक्लरूप स्वाभाविक विशेष गुण भी लक्षण है यह भी सूचित होता है ॥ ४ ॥

जल के लक्षण की सूत्रकार परीक्षा करते हैं—

पदपदार्थ—अप्यु = जल में, शीतता = शीतस्पर्शगुणाधारता, स्वाभाविक जल का लक्षण है ॥ ५ ॥

भावार्थ—स्वाभाविक शीतस्पर्श की आधारता पृथिवी में समवेत नहीं है, उसके वायव्य-गुणों से उत्पन्न न होने के कारण, स्वाभाविक द्रव्यत्व के समान तथा तेज में समवेत भी नहीं है, गर्म के समान, इन अनुमानों से बाध होने के कारण पृथिवी आदि द्रव्यों में उपलब्ध होने वाली शीतता अधिपक्षिक तथा जल में स्वाभाविक है ऐसी सूत्रकार ने जल द्रव्य की इस सूत्र में परीक्षा बिलाई है ॥ ५ ॥

उपस्कार—स्वभावसिद्ध शीतस्पर्शवत्ता जल का लक्षण है । जल ऐसा होने से शिलातल तथा चन्दन-आदि पृथिवी में जल के सम्बन्ध से रीत्य होने के कारण भस्ति-भ्यासि दोष न होगा । इस शीतस्पर्श गुण से अप्रकाशक शुक्ल रूप, तथा मधुररस जिनका जल लक्षण में स्वरूप कहा गया है ये दोनों, तथा स्नेह एवं स्वाभाविक द्रव्यत्व भी जल के स्वाभाविक गुण न होने से लक्षण है यह सूचित होता है । संका—पृथिवी-लक्षण की परीक्षा के पश्चात् कमप्राप्त जल के लक्षण की परीक्षा के अनन्तर तेज द्रव्य के लक्षण की परीक्षा करना उचित रहते तेज लक्षण की परीक्षा के पश्चात् जल के लक्षण की परीक्षा करने से त्रय के भय करने का दोष सूत्रकार ने क्यों किया? उत्तर—तेज का उष्ण स्पर्श पृथिवी तथा जल के स्पर्श को अभिमूर्त कर देते हैं । (अर्थात् दबा देते हैं) यह सूचित करने के लिये, पृथिवी तथा जल के लक्षणों की परीक्षा के मध्य में तेज के लक्षण की परीक्षा सूत्रकार ने की है, अतः, अथवा सूत्र में

वत्त्वञ्चोपलक्षयति । ननु चक्षुरालक्षणकमभङ्गं कुत इति चेन्न तेजःस्पर्शस्य पृथिवोक्तत्पक्षयोरभिभावकत्वसूचनाय तयोर्मध्ये तेजःपरोक्षाया उक्तत्वात्, वायुपरोक्षासूचनार्थं वा कमलद्वयम् । तथा चापाकजानुष्णाशोतस्पर्शो वायोः स्वामाविकं सन् लक्षणमित्युज्जेयमिति तात्पर्यम् ॥ ५ ॥

तदेवं कारणगुणपूर्वकाः स्पर्शवता विशेषगुणाः गन्धादयः पृथिव्यादीनां लक्षणानीत्युक्तम् । इदानीं क्रमप्राप्त काललक्षणप्रकरणमारभमाण आह—

अपरस्मिन्नपर युगपत् चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि ॥ ६ ॥

इतिकारो ज्ञानप्रकारपरः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, तथावापरमिति-
प्रत्ययो युगपदितिप्रत्ययः चिरमितिप्रत्ययः क्षिप्रमितिप्रत्ययः काल-

म की हुई भी वायु-लक्षण के परीक्षा की सूचना करने के लिये कमभग सूत्र में है । (यहाँ पर अथवा सुवर्ण तथा चन्द्रिकादिको में कम से पुथिवी तयो जल का स्पर्श तेज के उष्णस्पर्श का अभिभावक (दबाने वाला) है इस लिये द्वितीय कल्प का शकरमिश्र न अनुसरण किया है । स्पर्शाश्रयत्वरूप समान वम से स्मरण होने के कारण वायु-परीक्षा भी जाननी चाहिये । इसलिये सूत्रकार ने कमभग किया है यह शकरमिश्र के द्वितीय कल्प का अभिप्राय है) । (अतः शकरमिश्र कहते हैं कि ऐसा सूत्रकार का कमभग में तात्पर्य होने के कारण)—अपाकज तथा अनुष्णा-शोत स्पर्श वायु द्रव्य का स्वामाविक गुण होने से वायु का लक्षण है यह जानना चाहिये यह तात्पर्य है ॥ ५ ॥

तस्मात् इस प्रकार कारण-गुणों से उत्पन्न होने वाले स्पर्शाश्रय पुथिवी आदि द्रव्यों के गन्धरूप इत्यादिविशेषगुण पुथिव्यादि द्रव्यों के लक्षण है यह पूर्वपक्ष में कहा गया है । सामप्रत आकाश-लक्षण के पश्चात् उद्देश्यक्रम के अनुसार काल द्रव्य का लक्षण प्रारम्भ करते हुए सूत्रकार कहते हैं मध्यम अव्यय (पुथिवी आदि लक्षण की परीक्षादि) वर्णन केवल बलवान् जिज्ञासा की निवृत्ति के लिये किया गया है) ।

पदपदार्थ—अपरस्मिन् = पास, तथा कनिष्ठ में, अपर=अपर है, युगपत्=एक काल में है, चिर=विलम्ब से है, क्षिप्र=क्षीघ्र है, इति=ये संपूर्ण ज्ञान, काललिङ्गानि=काल के साधक हैं ॥ ६ ॥

भाषार्थ—समीपस्थ पदार्थ में तथा कनिष्ठ अवस्था वाले मनुष्यों में यह अपर है, एवं दूर के पदार्थ में एवं ज्येष्ठ अवस्था वाले में यह पर है । इस ज्ञान से इसी प्रकार यह एक काल में हुआ, यह विलम्ब से हुआ, यह क्षीघ्र हुआ, यह संपूर्ण ज्ञान काल नामक द्रव्य के साधक लिङ्ग है ॥ ६ ॥

उपस्कार—सूत्र के अन्त में इति शब्द ज्ञानों के प्रकारों का बोधक है । ऐसा होने से यह (अपर) समीप है यह (पर) दूर है तथा यह ज्ञान (अपर) कनिष्ठ है, यह पर ज्येष्ठ है, यह ज्ञान एक काल में उत्पन्न हुआ, यह विलम्ब से हुआ, यह क्षीघ्र हुआ,

लिङ्गानीत्यर्थः । अपरस्मिन्नपरमित्यनेन परस्मिन् परमित्यपि द्रष्टव्यम् तेना-
यमर्थः पटुनरतपनपरिरूपन्दात्तरितजन्मनि स्थविरे युवानमवधिं कृत्वा परत्वं
मुत्पद्यते तच्च परत्वंसमवायिकारणसापेक्षम् । न च रूपाद्यसमवायिकारणं
व्यभिचारात् त्रयाणां गन्धादीनां वायौ परत्वानुत्पादकं वात् । स्पर्शस्याप्यु-
ष्णादिभेदेन भिन्नस्य प्रत्येकं व्यभिचारात् । न चावच्छिन्नपरिमाणं तथा तस्य
विजातीयानारम्भकत्वात्, तपनपरिरूपन्दात्ताच्च व्यधिकरणत्वात् । तद्व-
त्सिद्धान्तद्रव्यसंयोग एवाममवायिकारणं परिशिष्यते तच्छ द्रव्यं पिण्डमात्त-

यह अपूर्ण ज्ञान काल द्रव्य के साधकलिङ्ग है । यहाँ तून में 'अपरस्मिन्नपर' अपर पदार्थ
में अपर है, इस कथन से 'परस्मिन् परं' पर पदार्थ में पर है अर्थात् दूर तथा ज्येष्ठ है
यह ज्ञान भी लेना चाहिये । इससे यह बर्ण जाता है कि अधिक सूर्य-क्रिया से उत्पन्न
(अन्नरवादि) जन्मवाले बुद्धि पुरुष में उत्पन्न पुरुष की अवधि मानकर कालिक
परत्व गुण उत्पन्न होता है, और परत्वगुणरूप भाव कार्य होने से असमवायि-
कारण की अपेक्षा रहता है । इस परत्वाचार द्वारा पदार्थ अथवा ज्येष्ठ पुरुष शरीर में
वर्तमान रूपादि गुण व्यभिचार होने से उनके असमवायि नहीं हो सकते । क्योंकि गन्ध,
रूप, तथा रस ये तीन गुण वायु में न होने से यह वायु दूर है, यह समीप है इत्यादि बुद्धि
को उत्पन्न नहीं कर सकते एक स्पर्शगुण भी जो उत्पन्न, शीत तथा अनुष्णादीति इष्ट
भेद से भिन्न है प्रत्येक में व्यभिचार होने से परत्वादि गुणों की उत्पत्ति नहीं कर सकता
(अर्थात् दूरत्वपरत्ववान् जलादिको में शीत आदि एक एक ही स्पर्श रहने से प्रत्येक
जलादिको में उत्पन्न परत्वादि गुणों में प्रत्येक का व्यभिचार दोष या जायगी तथा
पाकज स्पर्श के उत्पत्ति के समय में अपरत्व के उत्पन्न होने की आपत्ति के कारण
स्पर्श के विलक्षण होने से परत्वादिगुणों में भी विलक्षणता या जायगी यह दोष
भी जान लेता) । (आगे शकरमिश्र कहते हैं कि)—इस परत्वादि गुण में
ह्यत्ताविशिष्ट परिणाम गुण भी कारण नहीं हो सकता, क्योंकि वह विजातीय कारणों
को उत्पन्न ही नहीं करता, सूर्यक्रिया सूर्य में वर्तमान होने से परत्वादिको के आश्रयों
में न होने के कारण वह व्यधिकरण (भिन्न आधार में) है । तो (परत्वादि गुणों
का असमवायिकारण क्या होगा ? इस प्रश्न के उत्तर में शकरमिश्र कहते हैं) कि पर-
त्वादि मुक्त द्रव्य का संयोग ही परत्वादि गुणोत्पत्ति में कारण है यह परिधीय से सिद्ध
होता है, और वह द्रव्य परत्वादिको के आश्रय पदार्थ तथा शरीर आदि एवं सूर्य
दोनों से संयुक्त व्यापक ही होगा (अर्थात् परत्वाचार शरीरादि तथा सूर्य दोनों में
संयुक्त किसी व्यापक द्रव्य का संयोग ही परत्वादि ज्ञानरूप कार्य में असमवायिकारण
है) । (आकाश यह व्यापक द्रव्य नहीं हो सकता इस आधार से आगे शकरमिश्र
कहते हैं कि)—(व्यापक होने के कारण) आकाश द्रव्य की दोनों में संयुक्त (परत्वा-
चार पदार्थ तथा सूर्य में संयुक्त) द्रव्य माना जाय तो कहीं भी नगहने के दंडे से ताड़न

ण्डोभयसयुक्तं विभु स्यात् । आकाशस्य तत्स्वाभाव्यकल्पने कचिदपि भेद-
भिघातात् सर्वभेदेषु शब्दोत्पत्तिप्रसङ्गः । तथाच कालस्यैव मार्त्तण्डक्रियो-
पनायकः । आत्मनश्च द्रव्यान्तरधर्मेण द्रव्यान्तरावच्छेदाय स्वप्रत्यासत्त्य-
निरिक्तसन्निकर्षापेक्षत्वात् अन्यथा वाराणसीस्थेन महारज्जनारुणिम्ना पाटलि-
पुत्रेऽपि स्फटिकमणेरारुण्यप्रसङ्गात् । कालस्य तु तत्स्वभावतयैव कल्पनाद-
यमदोषः । कालेनापि रागसक्रमः कथं नेति चेत् नियतक्रियोपनायकत्वेनैव
तत्सिद्धेः । एवमविरमवर्धि कृत्वा यूनि अपरत्वोत्पत्तिर्निरूपणीया । युगप-
दिति । युगपज्जायन्ते युगपतिप्रप्ति युगपत् कुर्वन्ति इत्यादिप्रत्ययानाञ्च
एकस्मिन् काले एकस्या सूर्यगतौ एकस्मिन् सूर्यगत्यवच्छिन्नकाले इत्यर्थः ।
नचाप्राप्ता एव सूर्यगतयो विशेषणतामनुमज्जन्ति न च स्वरूपप्रत्यासन्ता

से शब्द उत्पन्न होते ही सप्ताह के सभी नगाडों में शब्द (आवाज) होने की अपेक्षा
का जायगी । (अर्थात् परत्वाधार तथा सूर्य दोनों में संयुक्त द्रव्य अपने संयोगी तथा
समान काल के जितने द्रव्य हैं उनमें परत्व को उत्पन्न करता है, इस कारण परत्वादि-
गुण के समान संपूर्ण भेरी (नगाडों) में सर्वत्र शब्द उत्पन्न होने लगेगा । इस कारण
काल के स्वभाववाला आकाश द्रव्य नहीं हो सकता) । (अतः शकटमिथ्य भागे
कहते हैं कि)—ऐसा होने से सूर्य से संयुक्त काल का ही परत्वाधार शरीरादि पदार्थ के
साथ संयोग परत्वादि गुण रूप कार्य की उत्पत्ति में असमवायिकारण है, अतः व्यापक
काल द्रव्य ही सूर्य की क्रिया को परत्वाधार्य शरीरादि पदार्थों में ले जाता है । जीव आत्मा
व्यापक द्रव्य होने पर भी दूसरे द्रव्यों के समों में अन्य द्रव्य के सम्बन्ध करने के लिये
अपने सान्निध्य से भिन्न दूसरे उपाधिरूप पदार्थ के सन्निकर्ष की अपेक्षा भी करता
है । नहीं तो वाराणसी में वर्तमान महारजन (जपापुष्पादि रक्त द्रव्य) की अक्-
णिमा (लाली) से पटना नगर में वर्तमान स्फटिक मणि में रक्तिमा (लाल रंग)
प्राप्त होने का दोष का जायगा । और काल द्रव्य तो अपने संयोग के आधार
तथा समान काल के जितने पदार्थ हैं उनमें वर्तमान परत्वादि कार्य के असमवायि-
कारण काल-पिण्ड-सयोगाधार रूप स्वभाव होने ॥ पूर्वप्रदर्शित दोष सर्वत्र सम्प्रोत्पत्ति
रूप नहीं हो सकता, क्योंकि आकाश में ऐसा स्वभाव नहीं है । शका—व्यापक काल
को लेकर राग सक्रमण (काशी के जपापुष्पादिकों की क्रिया से पटने के स्फटिक
मणि में रक्तगुण का ज्ञान होना) यह दोष क्यों न होगा । उत्तर—काल की निरा-
मिन क्रिया का ही (उपनायक) अन्यत्र ले जाने वाला स्वभाव है अतः यह दोष
नहीं हो सकता । प्रदर्शित परत्व गुण की उत्पत्ति के समान कुछ पुरर त्वा अवधि मान
कर तद्वत् पुरुष में अपरत्व गुण की उत्पत्ति का निरूपण करना चाहिये । युगपत्
(एक काल में) उत्पन्न होते हैं, एक काल में बँटते हैं, एक काल में करते हैं इत्यादि
ज्ञानों का भी एक ही समय में एक सूर्य की गति में अर्थात् एक सूर्य की गति से युक्त

एव सा., तस्मादेतादृशविशिष्टप्रत्ययान्यथासुपपत्त्या विशेषणप्रापकं यद् द्रव्यं स कालः ॥ ६ ॥

ननु सिध्यतु कालः, ॥ तु नित्यो द्रव्य वेति न प्रमाणभव आह—

द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥ ७ ॥

यथा वायुपरमाणोर्गुणवत्त्वाद् द्रव्यत्वम् अद्रव्यत्वाच्च नित्यत्वं तथा काल-
स्याप्येत्यर्थः ॥ ७ ॥

तथापि सन्तु बहवः काला इत्यत आह—

तत्त्वम्भावेन ॥ ८ ॥

क्याख्यातमिति विपरिणतेनान्वयः । विरादिप्रत्ययानां कालविज्ञानं सर्वत्र-
विशेषावनेकत्वेऽप्यात्मनामिव विशेषलिङ्गाभावात् सत्तावदैक्यं कालस्येत्यर्थः ।

काल में ऐसा अर्थ है । (यदि 'इदानीं' इस समय इत्यादि ज्ञान सूर्य की क्रिया से ही हो सकता है तो काल द्रव्य की कल्पना बबो की जाय ऐसा कहो तो शक्यमिथ कहते हैं कि)—विना प्राप्त हुये सूर्य की गति क्रियाविशेषण नहीं हो सकती, और न वह स्वरूप से 'इदानीं पट' इत्यादि प्रतीति से जटादि पदार्थों में सम्निहित है, इस कारण 'युगपज्जायन्ते' इत्यादि विशेष ज्ञानों के असंभव होने के कारण सूर्यक्रियाएँ विशेषण को पहुँचाने वाला जो द्रव्य है वही काल है यह सिद्ध होता है ॥ ६ ॥

शंका—काल उक्त प्रकार से सिद्ध हो, किन्तु वह निरर्थक अथवा द्रव्य है इसमें क्या प्रमाण ? इस शंका के समाधान में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—द्रव्यत्वनित्यत्वे = द्रव्यता तथा नित्यता दोनों, वायुना = परमाणु रूप वायु से, व्याख्याते = कही गई हैं ।

भाषार्थ—जिस कार परमाणु रूप वायुरूप गुणवान् होने ॥ द्रव्य तथा द्रव्याना-
धार होने से निरर्थक है उसी प्रकार काल द्रव्य भी गुणाधार होने से द्रव्य एवं द्रव्य में धाभित न होने से निरर्थक है ॥ ७ ॥

उपस्कार—जिस प्रकार परमाणु रूप वायु गुणाधार होने से द्रव्यत्वजातिमान् है, और द्रव्य में अनाश्रित द्रव्य होने से निरर्थक है, उसी प्रकार कालद्रव्य भी गुणाधार होने से द्रव्य तथा अवयव द्रव्य के धाभित न होने से निरर्थक भी है यह सूत्र का अर्थ है ॥ ७ ॥

तथापि काल में अनेक बबो नहीं माने जाय । इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—उत्पत्ति = एकता, भावेन = सत्ता से, (व्याख्यात है) ॥ ८ ॥

भाषार्थ—सत्ताजाति के समान कालद्रव्य भी एक है ॥ ८ ॥

उपस्कार—इस सूत्र में ७ सूत्र के 'व्याख्याते' इस द्विवचनान्त पद की 'उत्पत्ति' इस एकवचन के अनुसार 'व्याख्याते' ऐसा एकवचन में परिणाम कर सत्ताजाति से

नन्वेवं क्षणत्वमुत्सृज्यामदिवसाहोरात्रपक्षमासत्वंयनसंवत्सरादिभेदेन भूयासः कालास्तत् कथमेक इति चेन्न भेदभानस्य उपाधिनिबन्धनत्वात् । यथा एक एव स्फटिकमणिजंवातापिष्ठाद्युपाध्युपरागेण भिन्न इव भासते तथैक एव कालः सूर्यस्पन्दायवच्छेदभेदेन तत्कार्यावच्छेदभेदेन च भिन्न इव भासते इत्यभ्युपगमात् । तथा च कालोपाध्यव्यापक कालोपाधि, स्वाधेयकादाचित्काभावाप्रतियोग्यताधार कालो वा क्षणः प्रतिक्षण कस्यचिदुत्पत्तेः कस्यचिद्विनाशादेतदध्यवसेयम् । क्षणद्वयश्च लव इत्याद्यामयप्रसिद्धम् । ननु तथाप्यतीतानागतवर्तमानभेदेन कालत्रयमस्तु श्रूयते हि "त्रैकाल्यमुपावर्त्तते" त्रैकाल्यामिद्धि । इत्यादीति चेन्न । वस्तुवत्प्रागभावावच्छेदप्रभ्वंसावच्छेदेन त्रैकाल्यव्यवहारात् येन हि वस्तुना यः कालोऽवच्छिद्यते स तस्य वर्त्तमान, यत्प्रागभावेन यः कालोऽन-

कालद्रव्य की एकता व्याख्या की गई है ऐसा अन्वय करना । विलम्ब से उत्पन्न हुआ, एक काल में उत्पन्न हुआ इत्यादि प्रदर्शित काल-साधक क्षणों के सघन समान होने से धारमा के व्यवस्था के समान क्षणकता में साधक विशेष लिङ्ग न होने के कारण भी सत्ताजाति के समान एक ही काल है । यह सूत्र का अर्थ है । शब्दा—कालद्रव्य एक मानने से क्षण, लव, मृहूर्त, याम, दिन, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर इत्यादि पूर्व व्याख्या क्रिये भेद से अनेक कालों का कहना अवगत हो जायगा । उत्तर—उक्त कालद्रव्य की भेद-प्रतीति औपाधिक होने से भ्रम है यह सिद्ध होता । जिस प्रकार एक ही स्फटिकमणि जवापुष्प, तापिजद्रव्य आदि उपाधियों के सवीप होने पर रक्त, नील आदि स्वरूप से एक होने पर भी भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है, इसी प्रकार एक ही काल द्रव्य भी सूर्य क्रियादि भिन्न भिन्न उपाधियों के सम्बन्ध से भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है ऐसा मानते हैं । ऐसा होने से अपने से भिन्न काल की उपाधि में न रहने वाले कालोपाधि को अवदा अपने में वर्तमान कदाचित् होनेवाले व्यवस तथा प्रागभाव-रूप अभाव के प्रतियोगी के अनाधार काल को क्षण कहते हैं, क्योंकि प्रतिक्षण में किसी की उत्पत्ति तथा किसी का नाश होता है । (अर्थात् किसी भी क्षण में व्यवस तथा प्रागभाव के प्रतियोगी की आधारता नहीं होती) । इस कारण यह क्षण का लक्षण हो सकता है । (इसी कारण मुक्तावली में भी त्रियाज्य-विभाग-प्रागभावयुक्त क्रिया ही को प्रथम साधन कहा है ।) (आगे शर्करामिश्र कहते हैं कि)—ऐसे दो क्षण को 'लव' ऐसी धारत्रकारों ने सज्ञा की है । शब्दा—तथापि भूत, भविष्य तथा वर्तमान इस भेद से तीन प्रकार के काल हो सकेंगे, क्योंकि 'त्रैकाल्यमुपावर्त्तते' तीन काल के परिवर्तन हुआ करते हैं, 'त्रैकाल्यामिद्धि' 'त्रिकाल की अमिद्धि है' इत्यादि सूत्रों में त्रिकाल-विषय में वर्णित है । उत्तर—पदार्थ तथा उसके प्रागभाव और व्यवस के सम्बन्ध से भूत भविष्यादि त्रिकाल का व्यवहार होता है, जिस पदार्थ से जो समय

च्छिद्यते स तस्य भविष्यत्कालः यत्प्रागभावेन यत्त्वध्वसेन यः कालोऽ-
वच्छिद्यते स तस्यातोत्कालः तथाचावच्छेदकत्रित्वाधीनः कालवित्त्वव्य-
वहारः ॥ ८ ॥

इदानीं सर्वोत्पत्तिमत्तों कालः कारणमित्याह—

नित्येषु भावादनित्येषु भावात्कारण्ये कालाख्येति ॥ ९ ॥

इतिशब्दो हेतौ इति हेतोः कारणे सर्वोत्पत्तिमत्कारण्ये काल इत्याख्या ।
हेतुमाह नित्येष्वभावादनित्येषु भावादिति । नित्येषु आकाशादिषु युगपज्जातः
चिरं जात क्षिप्रं जातः इदानीं जातः दिवा जातः रात्रौ जात इत्यादिप्रत्यय-
स्याभावात्, अनित्येषु च घटपटादिषु यौगपद्यादिप्रत्ययानां भावात् अनित्य-

सम्बद्ध होता है वह उसका वर्तमान काल तथा जिस पदार्थ के प्रागभाव से जो सम्बद्ध
होता है वह भविष्यकाल, जो जिस पदार्थ के ध्वस से सम्बद्ध होता है वह उसका
भूतकाल होता है, ऐसा होने से व्यावर्तक विसंरण के त्रित्व के अधीन भूत भविष्य
तथा वर्तमान ऐसा त्रिकाल का व्यवहार होता है ॥ ८ ॥

इस समय संपूर्ण उत्पन्न होने वाले पदार्थों का काल ही कारण है यह सूत्र में
कहने हैं—

पक्षपक्षार्थ—नित्येषु = नित्य पदार्थों में, अभावात् = न होने से, कारणे = उत्प-
त्तिवाले संपूर्ण कार्यों के कारण में, कालाख्या = काल ज्ञाता है, इति = इस
कारण ॥ ९ ॥

भावाय—नित्य पदार्थों में एक समय उत्पन्न हुआ, विलम्ब से उत्पन्न हुआ
इत्यादि प्रतीतियों के न होने से, तथा अनित्य पदार्थों में उस ज्ञानों के होने से भी
संपूर्ण उत्पन्न होने वाले जगत् कार्य के कारण का काल ऐसा नाम है ॥ ९ ॥

उपस्कार—सूत्र के इति शब्द का अर्थ है हेतु, इस कारण से संपूर्ण जगत् के
उत्पन्न होने वाले कार्यों के कारण की काल यह आख्या—सज्ञा है । इसमें सूत्रकार हैतु
देते हैं कि 'नित्येष्वभावादनित्येषु भावात्' इति । आकाशादि नित्यपदार्थों में एक समय
में उत्पन्न हुआ, विलम्ब से उत्पन्न हुआ, क्षीघ्र उत्पन्न हुआ, इस समय उत्पन्न हुआ,
दिनमें उत्पन्न हुआ, रात्रि में उत्पन्न हुआ' इत्यादि प्रतीति न होने से तथा अनित्य घट-
पट आदि पदार्थों में एक समय में उत्पन्न हुआ इत्यादि प्रतीतियों के होने से, अवश्य
तथा व्यतिरेक से काल ही संपूर्ण उत्पन्न होने वाले पदार्थों का निमित्त कारण काल
है यह निश्च होता है (यहाँ घट, यौगपद्यादि, इस उपस्कार ॥ आदि पद से 'आज होगा'
कल होगा, इत्यादि प्रतीति लेनी चाहिये) अर्थात् 'युगपज्जातः' इत्यादि प्रत्यय का उपर
कार्य की उत्पत्ति के आशय होने से काल ही विषय है, यहाँ कि 'जो कार्य की उत्पत्ति
के आधार रूप से व्यवहार का विषय होता है वह उसके उत्पत्ति का कारण होता है'
यह नियम है, कारण यह कि—जो जिसकी उत्पत्ति का होता है वह उसका कारण होता

व्यतिरेकाभ्यां कारण काल इत्यर्थः । न केवलं यौगपद्यादिप्रत्ययवलात् कालस्य सर्वोत्पत्तिमन्निमित्तकारणत्वम् अपि तु पुष्पफलादीनां हेमन्तिकवासन्तिकप्रा-
वृत्तेष्व्यादिसत्ताद्यलादप्येतदध्यवसेयम् ॥ ९ ॥

काललिङ्गकरणं समाप्त्य इदानीं दिग्लिङ्गप्रकरणमागममाण आह—

इत इदमिति यतस्तद्विशयं लिङ्गम् ॥ १० ॥

दिश इदं दिश्यं दिगनुमापकम् । इतोऽल्पतरसंयुक्तसंयोगाश्रयादिदं बहुतर-
संयुक्तसंयोगाधिकरणं परम् इतश्च संयुक्तसंयोगभूयस्त्वाधिकरणादिदं संयुक्त-
संयोगाश्रयीयस्त्वाधिकरणमपरमिति निश्चितदिग्देशयोः समानकालयोः पिण्डयो-

हे—ऐसा व्याप्ति है यह तात्पर्य है) । (आगे संकर मिश्र कहते हैं कि)—केवल प्रशस्त
'युगपत् उत्पन्न हुआ' इत्यादि प्रतीतियों की सामर्थ्य से ही काल नामक द्रव्य सम्पूर्ण
कार्य मान की उत्पत्ति का कारण है यह नहीं किन्तु पुष्प, फल इत्यादिकों के यह पुष्प
तथा फल हेमन्त ऋतु के हैं, यह वसन्तऋतु के यह वर्षाऋतु के इत्यादि सत्ता के बल से
भी काल सम्पूर्ण कार्यों की उत्पत्ति में निमित्त कारण है यह निश्चित होता है ॥ ९ ॥

इम प्रकार काल-मापक प्रकरण समाप्त कर सांग्रस्त दिशा द्रव्य साधक प्रकरण
आरम्भ करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—इत = इससे, इद = यह (पर है—दूर है) इति = इस प्रकार,
यत = जिस द्रव्य से, (प्रतीति होती है), तत् = वह, दिश्यं = दिशासाधक, लिङ्ग =
लिङ्ग (हेतु) है ॥ १० ॥

भावार्थ—इस अश्वस्त अल्प संयुक्त संयोगाश्रय द्रव्य से यह अति अधिक संयुक्त
संयोगाश्रय द्रव्य (पर) दूर है, और इस अधिक संयुक्त संयोगाश्रय (दूरस्थ) पदार्थ से
यह न्यून संयुक्त संयोगाश्रय द्रव्य अपर (समीप) है, इस प्रकार का ज्ञान एक ही दिशा
तथा समय वाले पदार्थों में होता है वह दिशानामक द्रव्य है ॥ १० ॥

उपस्कार—दिशा का यह दिश्य इस व्युत्पत्ति से दिशा द्रव्य की अनुमान में
सिद्धि कराने वाला लिङ्ग ऐसा सूत्र के 'दिश्य लिङ्ग' इस वाक्य का अर्थ है । इस
अति न्यून संयुक्त संयोग सम्बन्ध के आधार द्रव्य से यह अति अधिक संयुक्त संयोग
सम्बन्ध का आधार द्रव्य पर (दूर) है, तथा इस संयुक्त संयोग सम्बन्ध अधिकता के
आश्रय द्रव्यो से यह संयुक्त संयोग सम्बन्ध की अति न्यूनता का आधार द्रव्य
अपर (समीप) है ऐसा विविष्ट ज्ञान नियत (एक) ही दिशा में स्थित तथा समान
काल के दो पदार्थों में जिस द्रव्य से होना है वह दिशा नामक द्रव्य है यह सूत्र का
अर्थ है । (अर्थात् इससे यह दूर है, इससे यह समीप है इस प्रकार देशिकरपरत्व तथा
अपरत्व का ज्ञान जिससे होता है अर्थात् दिशा द्रव्य का अनुमापक लिङ्ग (हेतु) है ।
काल के समान देशिक परत्व तथा अपरत्व रूप कार्य के अश्वप्रवायि कारण दिशा तथा

यतो द्रव्याद्भवति सा दिगित्यर्थः । न हि तादृशं द्रव्यमन्तरेण भूयसां संयुक्तसंयोगानामल्पतया वा पिण्डयोरुपनायकमन्यदस्ति न च तदुप-
नयमन्तरेण तत्तद्विशिष्टबुद्धिः न च तामन्तरेण परत्वापरत्वयोरुत्पत्तिः न च
तदुत्पत्तिं विना तद्विशिष्टप्रत्ययव्यवहारौ । न च काल एव संयोगोपनायकोऽस्तु
किं द्रव्यान्तरेणेति वाच्यम् कालस्य नियतक्रियोपनायकत्वेनैव सिद्धः । अनियत-
परधर्मोपनायकत्वकल्पनायान्तु काश्मीरकुकुमपङ्कुरागं कर्णाटकामिनोकुचकलशं
प्रत्युपनयेत् । आकाशात्मनोरपि तथा परधर्मोपसर्गागकत्वे स एव प्रसङ्गः ।

दिशस्तु नियतपरधर्मोपसर्गकामकतयैव सिद्धत्वात्प्रातिप्रसङ्गः । एवञ्च
क्रियोपनायकात् कालात् संयोगोपनायिका दिक् पृथगेव । किञ्चास्मान् पूर्व-
मिवम् अस्मादुत्तरमिदम् अस्मादक्षिणपूर्वमिदम् अस्मादक्षिणपश्चिममिदम्

पदार्थ के संयोग के आधार होने से दिशा सिद्ध होती है । यह शरकरमिथ का आशय है । (आगे उपस्कार में कहते हैं कि)—ऐसे दिशा द्रव्य के बिना अति अधिक अवस्था अनि ग्यून संयुक्त संयोग सम्बन्धों का पदार्थों में ले जाने वाला दूसरा कोई नहीं है और उन सम्बन्धों के ले जाए बिना उन दूर तथा समीप के पदार्थों में दूर है, समीप है—ऐसा विशिष्ट ज्ञान नहीं हो सकता, और उसके बिना परस्पर तथा अपरस्पर गुणों की उत्पत्ति नहीं हो सकती, और उनकी उत्पत्ति के बिना परस्पर तथा अपरस्पर-विशिष्ट द्रव्यों का ज्ञान अवस्था यह पर (दूर) है यह अपर (समीप) है ऐसा सर्व जनसाधारण व्यवहार भी नहीं हो सकता । वाक्य—व्यापक काल द्रव्य ही उक्त संयोग सम्बन्धों को पदार्थों में लेजायगा, दिशा नामक उसके लिये दूसरा द्रव्य मानने की क्या आवश्यकता है । उत्तर—नियत क्रिया ही को ले जाने वाला द्रव्य काल होता है यदि अनियत घर्म का भी काल को पहुँचाने वाला माना जाय तो (अर्थात् काल क्रिया विशेष को पहुँचाता है, दिशा संयोग विशेष को पहुँचाती है ऐसा नियम हम मानें तो) काश्मीर देश की स्त्रियों के बल स्थल के केशर की रक्तिमा (लाली) कर्णादेश की स्त्रियों के बल स्थल को रक्त वर्ण कर देगी । इस प्रकार आकाश तथा आत्मा को भी दूसरे के घर्मों को पहुँचाने वाला माना जाय तो यही दोष आवेगा ।

दिशाद्रव्य की तो संयोग विशेष रूप घर्म के अन्वय से जाने से ही सिद्ध होने के कारण उत्तरीय न आवेगा । (एव च) ऐसा होने से त्रिधा के अन्वय में पहुँचाने वाले काल द्रव्य से संयोग को पहुँचाने वाली दिशा पुनश्च ही द्रव्य है यह सिद्ध है । और इससे यह पूर्व में है, इससे यह दक्षिण की ओर है, इससे यह पश्चिम में है, इससे यह उत्तर है, इससे यह दक्षिण तथा पूर्व के मध्य में है, इससे यह पदार्थ दक्षिण तथा पश्चिम के मध्य में है, इससे यह पश्चिम तथा उत्तर के मध्य में है' इससे यह पदार्थ उत्तर और पूर्व के मध्य में है, यह इसके अन्वय में है, इससे यह अर्धभाग में है, यह सब श्रवण (ज्ञान) सूत्र के 'इत इदं' इस वाक्य से सप्रहृ किये जाते

अस्मात्पश्चिमोत्तरमिदम् अस्मादुत्तरपूर्वमिदम् अस्मादधस्तादिदम् अस्मादुपरि-
 ष्ठादिदम् इत्येते प्रत्यया इव इदमित्यनेन सकृद्गृहीताः एतेषां प्रत्ययानां निमि-
 त्तान्तरासम्भवात् । किञ्च नियतोपाधुश्चायकः कालः अनियतोपाधुन्नाविका-
 दिक । भवति हि यदपेक्षया यो वर्तमानः स नदपेक्षया वर्तमान एव, दिगुपाधो
 तु नैवं नियम इति प्रति या प्राचीं च प्रत्येव कदाचित्तस्याः प्रतीचीयात् । एवमुदी-
 च्यादिवपि वाच्यम् । यदपेक्षया सूर्योदयाचलसन्निहिता या दिक सा तदपे-
 क्षया प्रतीची । सन्निधानन्तु सूर्यसमुक्ते संयोगाल्पोयस्त्वं ते च सूर्यसयोगा
 अल्पोयासो भूयांसो वा दिगुपनेया । एवं प्राच्यमिमुखपुरुषवामप्रदेशावच्छिन्ना
 दिगुदीचो, सादृशपुरुषदक्षिणभागावच्छिन्ना दिक दक्षिणा । वामत्वदक्षिणावै-
 त् शरीरारवयववृत्तिजातिविशेषौ । गुरुत्वासमवायिकारणक्रियाजन्यसंयोगा-
 श्रयो दिक् अधः । अदृष्टवदात्मसंयोगजन्याग्निक्रियाजन्यसंयोगाश्रयो दिग्गूर्वा ।

है, क्योंकि इन प्रत्ययों का भी दिशाद्वय को छोड़कर दूसरा निमित्त कारण नहीं हो
 सकता । और काल नियमित उपाधि को पहुँचाता है और दिशा अनियमित उपाधि
 को पहुँचाती है । (यह भी दोनों में विलक्षणता है) अर्थात् पुरुष का भेद न होने
 से भेद का न होना ही है नियतता, ऐसी उपाधि का आश्रय कालावच्छेदक होना
 है, और पुरुष का भेद न होने पर भी भेद होता है अनियतता, वह दिशा के अवच्छेदक
 में ही होती है । (भागे श्चक्रमिष कहते हैं कि इसी विलक्षणता के कारण) अर्थात्
 नियत उपाधि का पहुँचाना वाला काल द्वय है, और दिशा अनियत उपाधि का
 पहुँचाने वाली है, इसी कारण जिस मनुष्य की अपेक्षा से जो वर्तमान होता है वह
 वर्तमान ही काल होता है, किन्तु दिशा की उपाधि में यह नियम नहीं है, क्योंकि जिस
 प्राणी के लिये जो पूर्व दिशा है वह दिशा उसी प्राणी के लिये पश्चिम भी हो जाती
 है । ऐसा ही उत्तर आदि दिशाओं में भी अनन्तता चाहिये । जिस पुरुष की अपेक्षा
 (अवधि) में सूर्य के उदय होने के उदयाचल पर्वत के समीप जो दिशा होती है वह
 प्राची (पूर्व) दिशा तथा जिस पुरुष की अपेक्षा से सूर्य के अस्त होने के अस्ताचल
 पर्वत के समीप जो दिशा होती है वह उसकी अपेक्षा से प्रतीची (पश्चिम) दिशा होती
 है । यहाँ पर उदयाचल तथा अस्ताचल पर्वत का सन्निधानशब्द का अर्थ है सूर्यसे समुक्त
 में संयोग की अतिन्यूनता, और वह सूर्य के अतिन्यून, अथवा अनि अविक संयोग दिशा
 द्वय से जाने जाते हैं । इसी प्रकार पूर्वामिमुख पुरुष के वामभाग के देश से मुक्त
 दिशा उत्तर, एवं ऐसे ही पुरुष के दक्षिण भाग से मुक्त दिशा दक्षिण कहलाती है ।
 महा वामता तथा दक्षिणता शरीर के अवयवों (हस्तपादादि) में वर्तमान दो जाति
 विशेष हैं । गुरुत्व रूप असमवायिकारण से उत्पन्न होने वाली पतन क्रिया से उत्पन्न
 संयोग की आश्रय दिशा का नाम है अपोदेश । अदृष्टवान् धारणा के संयोग से उत्पन्न

एवञ्चेन्द्राग्निमयमनिर्ऋतवरुणवायुसोमेशाननागव्रद्धाधिष्ठातोपलक्षिता दश दिश इति व्यपदेशान्तरं प्राच्यादिक्यपदेशान् ॥ १० ॥

दिशो द्रव्यत्व नित्यत्वञ्च वायुपरमाणुवदित्याह—

द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥ ११ ॥

गुणवत्त्वाद् द्रव्यत्वम् अनाश्रितत्वाच्च नित्यत्वमित्यर्थः ॥ ११ ॥

एकत्वमतिदिशान्नाह—

तत्त्वम्भावेन ॥ १२ ॥

दिग्लिङ्गाविशेषाद्विशेषलिङ्गाभावाच्च सत्ताकदेकत्वं तदनुविधानादेक-
पृथक्त्वम् ॥ १२ ॥

ननु यद्येकैव दिक् कथं तर्हि दश दिश इति प्रतीतिव्यवहारादित्यत आह—

कार्यविशेषेण नानात्वम् ॥ १३ ॥

अग्नि क्रिया से उत्पन्न सद्योम की आधार दिशा का नाम ऊर्ध्वं दिशा । ऐसा होने से ही इन्द्र, अग्नि, यम, नैऋत, वरुण, वायु, सोम, ईशान, नाग, ब्रह्मा, इनके आश्रय सम्बन्ध होने से सुचित दश ऐन्द्री आदि नाम से प्रसिद्ध भी दिशा है ऐसा भी धातुमूलक गुणरा व्यवहार प्राची आदि दिशाओं के व्यवहार से प्रसिद्ध है ॥ ११ ॥

दिशा में द्रव्यत्व तथा नित्यत्व वायु परमाणु के समान है यह सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—द्रव्यत्वनित्यत्वे = दिशा में द्रव्यत्व तथा नित्यता, वायुना = पर-
माणुवत् वायु से, व्याख्याते कही गई है ॥ ११ ॥

भावाय—वायुपरमाणु के गुणवान् होने से द्रव्य होने तथा आश्रय रहित होने से नित्य होने के समान दिशा भी गुणाधार होने से द्रव्य है तथा आधार रहित होने से नित्य यह सिद्ध है ।

उपस्कार—गुणाश्रय होने से दिशा में द्रव्यत्व, तथा आश्रय रहित होने के कारण नित्यत्व है यह सूत्रार्थ है ॥ ११ ॥

एकत्व संख्या गुण का दिशा में अतिविशेष (दृष्टान्त से गुणना) करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तत्त्व=एकता रूप तत्त्व दिशा में, भावेन=सत्ता से (व्याख्यान है) ॥ १२ ॥

भावार्थ—सत्ता जाति के दिशा द्रव्य के साधक प्राची आदि व्यवहार रूप लिङ्ग के सर्वत्र समान होने तथा भेद साधक विशेष लिङ्ग न होने से भी दिशा एक ही है यह सिद्ध होता है ॥ १२ ॥

शंका—यदिदिशा नामक द्रव्य एक ही है तो दश दिशा है ऐसा जान तथा व्यवहार क्यों होता है—

पदपदार्थ—कार्य विशेषण कार्य के भेद से, नानात्वं = अनेकता है ॥ १३ ॥

कार्यविशेष कार्यभेदस्तेन नानात्वोपचार इत्यर्थः ॥ १३ ॥

तमेव कार्यभेद दर्शयन्नाह—

आदित्यसंयोगाद् भूतपूर्वाद्भविष्यतो भूताच्च प्राची ॥ १४ ॥

प्राक् अग्रा सञ्चिता अञ्जतीति प्राची, तथाच यस्या दिशि मेरुपदक्षिणक्रमेण भ्रमत आदित्यस्य प्रथम संयोगो भूतपूर्वो भविष्यन् वा भवन् वा सा दिक प्राची । अत्र पुरुषाभिसन्धिभेदमाश्रित्य कालत्रयोपवर्णनम्, भवति हि कस्यचि-
त्पूर्वद्युः प्रातरग्या दिशि आदित्यसंयोगः प्रथमं घृत इतीयं प्राचीति प्राचीव्यव-
हारः कस्य चिदपरेद्युर्गम्याम्, आदित्यसंयोगः प्रथमं भावीत्यभिसन्ध्याय प्राची
व्यवहारः, कस्यचिदिदानीम् अस्याम् आदित्यसंयोगो भवन्नस्तीत्यभिसन्ध्याय
प्राचीव्यवहारः । भूतादिति आदिकर्मणि कप्रत्ययः तेनाभिसन्धेरनियमात्
यदाप्यादित्यसंयोगो नास्ति रात्रौ मध्याह्नादौ । तथापि प्राचीव्यवहारानुगमः
सिद्ध्यतीति भावः ॥ १४ ॥

दिगन्तरव्यवहारेऽपीममेव प्रकारमतिदिशन्नाह—

तथा दक्षिणा प्रतीची उदीची ॥ १५ ॥

भाषार्थ—वस्तुतः दिशा का व्यवहार सर्वत्र समान होने के कारण वह एक ही
है । किन्तु उसके कार्य के भेद से वह अनेक होती है अर्थात् औपाधिक दिशा में भेद
प्रतीत होता है किन्तु वह वस्तुतः एक ही है ॥ १३ ॥

उपस्कार—सूत्र में कार्यविशेष शब्द का अर्थ कार्यों का भेद है अर्थात् उपाधि
भेद है इसमें दिशा में प्राची आदि दशदिशा अनेकता व्यवहार गीण है यह सूत्र
का अर्थ है ॥ १३ ॥

उसी कार्य-भेद को सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—आदित्यसंयोगात् = सूर्य के संयोग से, भूतपूर्वात् = जो पूर्वकाल में
हूँ आ हो, भविष्यत् = जो आगे होने वाला है, भूतात् च = और जो पूर्व में हो गया
हो, प्राची = वह प्राची नामक दिशा (कहलाती) है ॥ १४ ॥

भाषार्थ—भूत, भविष्य तथा वर्तमान में सूर्य के संयोग को लेकर यह 'प्राची'
दिशा है ऐसा ज्ञान होता है । एक सूर्य संयोग रूप उपाधि के कारण होने से यह प्राची-
पूर्वा दिशा है ऐसा ज्ञान तथा व्यवहार होते हैं अतः उसमें अनेकता वास्तविक
नहीं है यह सिद्ध होता है ॥ १४ ॥

अन्य दिशाओं के ज्ञान तथा व्यवहार में भी इसी प्रकार अतिदेश (निर्देश)
सूत्रकार वर्णन करते हैं—

पदपदार्थ—तथा = वैसे ही औपाधिक नाम हैं, दक्षिणा = दक्षिण दिशा,
प्रतीची = पश्चिम, उदीची = उत्तर ॥ १५ ॥

भाषार्थ—दक्षिण आदि दिशाओं में वर्तमान पर्वतादिकों के संयोगों को लेकर

तद्वदेव दक्षिणदिग्दर्शिनगादिना सहादित्यसंयोगाद् भूतपूर्वाद्भिष्यतो भूताद्वा दक्षिणाव्यवहारः । एवं प्रतीच्युदोच्योरपि व्यवहार उन्नेयः । वामत्व-दक्षिणत्वे निरुक्ते एव ॥ १५ ॥

दिगन्तरालव्यवहारेऽपीममेव प्रकारमतिदिशन्नाह—

एतेन दिगन्तरालानि व्याख्यातानि ॥ १६ ॥

प्राचीदक्षिणयोर्दिशोर्लक्षणसाङ्ख्येण दक्षिणपूर्वा दिगिति व्यवहारः । एवं दक्षिणपश्चिमा पश्चिमोत्तरा उत्तरपूर्वत्यूहाम् । एते चादित्यसंयोगा येन विमुक्ता द्रव्येणोपनीयन्ते सा दिगिति कणादिरहस्ये व्युत्पादितं विस्तरतः ॥ १६ ॥

दक्षिण पश्चिम तथा उत्तर दिशा का व्यवहार होने से यह तीन दिशाओं का ज्ञान तथा व्यवहार भी औपाधिक है यह सिद्ध होता है ॥ १५ ॥

उपस्कार—उसी प्रकार दक्षिण दिशा से वर्तमान पर्वतादिको के साथ सूर्य के संयोग से जो पहिले हो गया हो, भविष्य में होने वाला हो या वर्तमान हो, उसे लेकर दक्षिण दिशा का व्यवहार होता है । इसी प्रकार प्रतीची (पश्चिम), उदीची (उत्तर) इन दो दिशाओं का व्यवहार जानना । वामता तथा दक्षिणता क्या है इनका पूर्व में निरूपण कर ही चुके हैं । (सूर्य समुक्त किसी मूर्तद्रव्य के सम्निहित दिशा का नाम है दक्षिण दिशा । इससे सुमेरु पर्वत का व्यवधान होना रूप उपाधि भी दक्षिण दिशा की है यह सूचित होना है । तथा अस्ताचल पर्वत के समीप होना पश्चिम दिशा का, एवं सुमेरु पर्वत के समीप होना भी उत्तर दिशा की उपाधि है यह जान लेना चाहिये) ॥ १५ ॥

मुख्य चार पूर्वादि दिशाओं के मध्य में वर्तमान विदिशाओं के व्यवहार में भी सूत्र-कार इसी प्रकार के अतिदेश को सूचित करते हैं कि—

पदपदार्थ—एतेन = इन मुख्य चार दिशाओं के वर्णन में, दिगन्तरालानि च उनके मध्यवर्ति विदिशाओं की, व्याख्यातानि = व्याख्या की गई ॥ १६ ॥

भाषार्थ—मुख्य पूर्व, पश्चिम आदि चार दिशाओं के पूर्वसूत्रोक्त वर्णन से दक्षिण-पूर्वा आदि पूर्वादि मुख्य दिशाओं के मध्यवर्ति चार विदिशाओं का वर्णन जानना चाहिये ॥ १६ ॥

उपस्कार—पूर्व तथा दक्षिण ऐसी दो दिशाओं के पूर्वोक्त लक्षणों के साकर्य (साध होने) से यह दक्षिण पूर्वा दिशा है ऐसा व्यवहार होना है । इसी प्रकार दक्षिण तथा पश्चिम दिशाओं के लक्षण के साकर्य से, दक्षिण पश्चिमा, तथा पश्चिम और उत्तर दिशा के लक्षणों के साकर्य से पश्चिमोत्तरा दिशा इत्यादि व्यवहार जान लेना । यह सूर्य के उक्त संयोग जिस व्यापक द्रव्य से समीप प्राप्त किये जाते हैं वह दिशा नामक द्रव्य है ऐसा कणाद-रहस्य ग्रन्थ में विस्तार से कहा है, ॥ १६ ॥

चतुर्णां भूतानां रूपादीनि लक्षणानि कारणगुणपूर्वकतया ताद्विकानि अन्यथा त्रौपाधिकानीति ज्ञयस्थित पूर्वमेव । विशेषगुणगून्यविभुलिङ्ग-
ओक्तम् । इदानीमाकाशस्य लिङ्ग शब्दः परोक्षणीयः । सन्ति चात्र तान्त्रिकाणां
विप्रतिपत्तयः । केचिच्छब्दं द्रव्यमाचक्षते, केचिद् गुणम्, गुणत्वे सत्यप्येके
नित्यमाहुः । अपरे त्वनित्यम् । अन्ये तु शब्देऽपि स्फोटारूपं शब्दान्तरमाहुः ।
तदत्र परोक्षामारभमाणः परोक्षाग्रथमाह सशयमेव तावन्नश्रुतः कारणतश्च
व्यवस्थापयन्नाह—

सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च संशयः ॥ १७ ॥

सामान्यप्रत्यक्षादिति । सामान्यवतो धर्मिनः प्रत्यक्षात् महणात् मतुब्धो-
पात् । विशेषाप्रत्यक्षादिति । विशेषस्य परस्परव्यावर्तकस्य धर्मस्य वक्रकोटरादेः

पृथ्वी, जल आदि चार भूत द्रव्यों के रूपादि लक्षण कारण गुण के क्रम से उत्पन्न
ही वास्तविक होते हैं, अन्यथा औपाधिक होते हैं, यह पूर्वग्रन्थ में ही सिद्ध कर चुके
हैं । तथा विशेष गुण शून्य रहित काल तथा दिशाह्वर व्यापक द्रव्यों का भी साधक
लिङ्ग दिला चुके हैं । साम्प्रत पुनर्लोक आकाश साधक शब्दलिङ्ग जो कहागया है उसकी
परीक्षा करना है । क्योंकि इस विषय में शास्त्रकारों की अनेक विप्रतिपत्ति (विद्वदमत)
हैं । कारण यह कि सांख्यमतानुवर्तियों ने शब्द को द्रव्य माना है, भीमासको तथा
संयादिकों ने इसे गुण माना है, उसमें भीमासक शब्द को नित्य तथा सैयादिक अनित्य
मानते हैं । और सैयाकरों ने अनित्य शब्द में भी स्फोट नाम के दूसरा शब्द माना
है । इस कारण शब्द की परीक्षा को आरम्भ करते हुए परीक्षा के प्रथम अंग सशय
का ही लक्षण तथा कारण द्वारा स्वरूप सिद्ध करनेके लिये सूचकार कहते हैं ।

पदपदार्थ—सामान्यप्रत्यक्षात् = समान धर्म के प्रत्यक्ष से, विशेषाप्रत्यक्षात् =
विशेषधर्म के प्रत्यक्ष न होने से, विशेषस्मृतेः च = और विशेष धर्म के कारण से भी
संशय = संशयात्मक ज्ञान होता है ॥ १७ ॥

भावार्थ—वृक्ष तथा पुरुष दोनों में समान ऊँचाई रूप धर्ममान का किसी ऊँचे
पदार्थ में प्रत्यक्ष होने पर जब कि उन दोनों के हस्त-याद तथा शाला-कोटरा
(छोखला) इन दोनों के भेदक धर्मों का दूरतादि दोष के कारण प्रत्यक्ष न हो किन्तु
दोनों का स्मरण होता हो तो 'यह वृक्ष है' यथवापुरुष ऐसा ज्ञान होता है उसे 'संशय'
कहते हैं ॥ १७ ॥

उपस्कार—सूत्रोक्त 'सामान्यप्रत्यक्षात्' इस पद का अर्थ है साधारण धर्मवाले
धार्मिक द्रव्य के प्रत्यक्ष अर्थात् ग्रहण से, क्योंकि मध्यवर्ति व्याध्यायवर्क मतुप् प्रत्यय का
लोप हुआ है । 'तथाविरोधा प्रत्यक्षात्' इस सूत्रोक्त पद का अर्थ है—परस्पर भेद करने
वाले वक्रकोटरादि (टिंडे छोखले) इत्यादि तथा विर-हस्तपाद इत्यादि विशेष धर्म के भी

शिरःपाण्यादेः प्राशयश्चादप्रहणात् । विशेषस्मृतेः विशेषस्य कोटिद्वयस्य स्थाणुत्व-
पुरुषत्वलक्षणस्य स्मरणात् । स्मरणमपि ग्रहणपरं कचिदनुभूयमानधर्मयोरपि-
कोटित्वात्, अकाराददृष्टादेः संशयकारणस्य संप्रहं । असाधारणो धर्मोऽनाध्य-
क्षसायात्मकज्ञानजनक इति नोक्तः । यद्वा असाधारणस्यापि व्यावृत्तिद्वारा
कारणस्य सपक्षविपक्षव्यावृत्तिः साधारणधर्म एवेति नोक्तः । विप्रतिपत्तिरपि

अप्रत्यक्ष से ग्रहण न होने पर तथा बुद्धता और पुरुषता रूप दो कोटियों हवीं विशेषों के
स्मरण रहते—यह वृत्त है अथवा मनुष्य—ऐसा जो ज्ञान होता है उसे—संशय—कहते हैं ।
यहाँपर स्मरण पर ज्ञान का बोधक है क्योंकि कहीं अनुभव होने वाली भी स्थाणुत्व
तथापुरुषत्व दोनों कोटि मुख्य का कारण होती है । सूत्र में—अकार—में अदृष्ट आदि भी
संशय के कारण होते हैं—यह सूचित किया है । (यदि “साधारण धर्म के ज्ञान से
संशय होने के समान असाधारण धर्म के ज्ञान से भी संशय होने के कारण गौतमादि
पौंड्रक पदार्थवादी नैयायिकों के ‘गमानानेकधर्मोपपत्ते’ इस संशय लक्षण के सूत्र में
ग्रहण किये हुये असाधारण धर्म को कणाद महर्षि ने संशय लक्षण के सूत्र में क्यों नहीं
कहा ” ऐसी प्रश्नपरीक्षा करा कर तो हमका उत्तर संकर मिथ ऐसा करते हैं कि) कणाद
महर्षि ने असाधारण (विशेष धर्म) अनिश्चयात्मक ज्ञान का कारण होने से उसे धुन
कार ने यहाँ नहीं कहा है । (यहाँ पर ‘साधारण-धर्मनिर्णयक’ प्रत्यक्ष से संशय होता
है ऐसा प्राचीनो का मत है, अतः इस मत में साधारण धर्मवाले धर्मों के ज्ञान से
ही संशय होता है जो अन्वय तथा व्यतिरेक से सिद्ध है क्योंकि साधारण धर्मज्ञान
रहते संशय होता है, नहीं रहते नहीं होता ऐसा अन्वय तथा व्यतिरेक से साधारण धर्म
विशिष्ट धर्मों का ज्ञान संशय में कारण होता है । किन्तु धारावाही संशय स्थल में
‘साधारण धर्म वाले धर्मविषयक समूहात्मक ज्ञान न होने से साधारण धर्मप्रकारक ज्ञान
का संशय में अन्वय तथा व्यतिरेक न होने के कारण कारण न होने से सामान्य धर्म
ज्ञान को विषय करनेवाले प्रत्यक्ष से संशय होता है ऐसा नवीन नैयायिकों का मत है ।
इन पक्ष में साधारण धर्म-ज्ञान कोटिद्वय की उपस्थिति कराने से कहीं २ संशय में
उपयुक्त होता है, धर्मिणावच्छेदक प्रकारक ज्ञान विशेष के दर्शन का अभाव, दोनों
कोटियों का ज्ञान, तथा सनिर्वर्ण्योक्ति ही संशय ज्ञान की सामग्री है यह तात्पर्य है) ॥
(इन प्रकार प्राचीनमत से असाधारण धर्म संशय का कारण नहीं है यह कह कर
नवीनो के मत से संकर मिथ कहते हैं) कि अथवा असाधारण (विशेषधर्म) भी भेद
द्वारा कारण होते हैं । अर्थात् सपक्ष तथा विपक्ष दोनों में न रहना रूप साधारण धर्म ही
है, अतः सूत्र में नैयायिकों के समान महर्षि कणाद मुनि ने सूत्र नहीं कहा है । इस
मत में साधारणधर्म भी ‘एक सम्बन्धी का ज्ञान दूसरे सम्बन्धी का स्मरण कराता है’
इस नियम से भेदकतापूर्ण सम्बन्ध-ज्ञान द्वारा कोटिद्वय का स्मरण कराने से संशय में

विरुद्धप्रतिपत्तिद्वयजन्यं वाक्यद्वयं शब्दो नित्य इत्यपरं तदुभय, तदुभयजन्य-
श्च ज्ञानद्वयमयुगपद्भावेत्वात् सम्भूय न संशयकमतस्तत्र शब्दत्वादिरसाधा-
रण, सत्त्वप्रमेयत्वादि साधारणो बाधर्म संशयक इति प्रथह् नोक्ता ।

समानन्त्रे गौतमोयेऽनव्यवसायज्ञानम्यानभ्युपगमान् असाधारणो धर्मः
संशयकारणत्वेनोक्तः । विप्रतिपत्तेर्विरुद्धवाक्यद्वयस्यान्वयव्यतिरेकशालितया
संशयकारणत्वमुक्तम् । न्यायभाष्ये च उपलब्धमानत्वं यत् संशयकारणमुक्त

प्रयोजक है इस कारण अनिश्चयात्मक ज्ञान न मानने से भी कोई दोष न होगा
यह तार्क्य है ।

(इस प्रकार असाधारणधर्म विविष्ट धर्मों का ज्ञान प्राचीनमत से सद्य मे पुष्ट
कारण नहीं होता यह कहकर विप्रतिपत्ति भी सद्य मे कारण नहीं होती यह कहने
के लिये विप्रतिपत्ति शब्द का अर्थ शंकर मिश्र करते हैं कि)—परस्पर विरुद्ध दो
ज्ञानों से उत्पन्न दो वाक्य ही का नाम है विप्रतिपत्ति, जैसे—‘शब्द नित्य है तथा
शब्द अनित्य है’ ऐसे दो ज्ञानों से उत्पन्न वाक्यों के दो वाक्य, ये दोनों
ज्ञान एक काल में न होने से मिलकर शब्द नित्य है अथवा अनित्य इस सद्य को
उत्पन्न नहीं कर सकते अतः वहा पर नित्य तथा अनित्य मे शब्दत्व आदि असाधारण
धर्म अथवा सत्त्व तथा प्रमेयत्व (ज्ञानविषयता) कर साधारण धर्म ही सद्य का
कारण होने से विप्रतिपत्ति को भी कयादमहर्षिने सद्य का पुष्ट कारण नहीं कहा है ।
(अर्थात् एकैक का ज्ञान एकैक कीटि के ज्ञान का कारण होने पर क्रम से अप्रामाण्य
ज्ञानरहित एकैक कीटि का ज्ञान होगा, संशय नहीं हो सकता यह तार्क्य यहा
है । (इस प्रकार विप्रतिपत्ति के सद्य मे कारण होने के पक्ष का खण्डन कर समान
शाम्भ के निर्माता गौतम महर्षि तथा उसके अनुयायियों की नवालोचना शंकर मिश्र
इस प्रकार करते हैं कि)—न्यायसूत्रों मे गौतम के मत से अव्यवसाय रूप ज्ञान
न मानने के कारण असाधारण (विशेष धर्म) को भी पुष्ट संशय का कारण माना
है । तथा परस्पर विरुद्ध दो वाक्यों के स्वरूप विप्रतिपत्ति को अन्वय तथा व्यति-
रेक व्याप्ति के बल से सद्य का कारण कहा है । गौतम-मतानुसारि बास्पायन
मुनि ने भी न्याय भाष्य मे ‘उपलब्धनुपलब्धव्यवसायात्’ इत्यादि सूत्र पद को
व्याख्या में भी अव्यवसाया को संशय का कारण कहा है अर्थात् जल वस्त्रादिको से
आश्रुत होने पर भी उपलब्ध नहीं होगा, तथा असत् आकाश-कमलादिक भी
उपलब्ध नहीं होता अतः यह उपलब्ध होने वाला पदार्थ सत् है अथवा असत् एव
जो उपलब्ध न होने वाला संशय का कारण कहा है जैसे कि वर्तमान पदार्थ भी उप-
लब्ध होता है शक्ति मे रजतादि असत् भी उपलब्ध होता है । न उपलब्ध होने वाला
सत् है अथवा असत् ऐसा संशय भी होने के कारण पाच प्रकार के संशय हैं ऐसा कहा
है इस पंचविध संशय-कारण के विषय में शंकर मिश्र अपना मत दिखाने कहते हैं

सदप्युपलभ्यते असदप्युपलभ्यते इति नपलभ्यमानमिदं सदसत्वेति, यच्चानु-
पलभ्यमानत्वं सदपि नोपलभ्यते मूलककोलकोदकादि, असदपि नोपलभ्यते
गगनारविन्दादि, तथा च पञ्चविधः मशय इति । तदेतस्मान्मन्यमेवेति सामान्य-
प्रत्यक्षादित्यनेनैव गतार्थम् । न्यायवार्तिकेऽपि यत् कारणभेदेन संशये त्रित्व-
मुक्तं तदपि न सम्भवति व्याभिचारेण समानधर्मादीनां त्रयाणां कारणत्वस्यैवा-
सम्भवात् । न हि कृणारणिमणिजन्यवह्नी वैजात्यवदत्रापि वैजात्यं कल्पनोयं
संशयः वावच्छिन्नप्रकार्यं प्रति समानधर्मत्वेनैव कारणतायाः कल्पनात् । यच्च
प्रधानविधिकोदित्यप्रधाननिषेधकोदित्वादि वैजात्यमुक्तम्, तदभ्युपगमत्वात्रा-
वच्छेदकम् । तथाच संशयो न त्रिविधो न वा पञ्चविधः किन्तुैकविध एव,
प्रकारान्तरेण ॥ द्वैविध्यं सूत्रकृदेव स्पष्टयति । ननु जिज्ञासाजनकज्ञानं संशय

किं) यह उपलभ्यमानता, तथा अनुपलभ्यमानता सत् तथा असत् पदार्थों में समान
होने के कारण सामान्य धर्म के प्रत्यक्ष से इस सूचीकृत कारण से ही परिताप्य होनी
है । (भारद्वाज उद्योतकर के भी व्यावहारिक दृष्ट्य में लिखे हुए इस विषय की
आलोचना शकर मिश्र ऐसी दिखाते हैं कि) व्यावहारिक में भी जो सामान्य धर्म,
विशेष धर्म, तथा विप्रतिपत्ति रूप तीन कारण होने से तीन प्रकार का संशय होते हैं ।
ऐसा कहा है, वह भी प्रत्येक जगत् मध्य में अन्य कारण के न होने प्रयुक्त व्याभिचार
रूप होने से समान धर्म आदि तीन संशय के कारण नहीं हो सकते । क्योंकि यहाँ
समान धर्म आदि कारणों से उत्पन्न संशय रूप कार्य में तृणादिजन्य बलियों में
परस्पर व्याभिचार कारणार्थ बलिरूप कार्यों में विलक्षणता के समान विलक्षणता नहीं
मान सकते, क्योंकि संशयः का निश्चय संपूर्ण संशय रूप कार्य में समानधर्मरूप
से ही कारणता मानी गई है । जो संशय में कहीं विधि (भाव) पक्ष प्रधान, निषेध
अभाव (पक्ष) गौण होना है कहीं निषेधपक्ष प्रधान तथा विधिपक्ष गौण होता है इन
प्रकार संशय रूप कार्य में विलक्षणता हो सकती है ऐसा कुछ विद्वानों का मत है
जिससे उक्त व्याभिचार दो बल आगता, वह भी अनुगत में होने से अर्थात् संपूर्ण
कार्यों में व्यापक न होने से कार्यता का नियामक नहीं हो सकता । (अर्थात् कोई
संशय साधारण धर्मवात् धर्मों के ज्ञान से उत्पन्न प्रधान विधिपक्ष है कोई निषेध पक्ष
प्रधान है कोई उभय पक्ष प्रधान है, इत्यादि अनुगम्य नहीं हो सकता) ।

इस प्रकार संशय के सम्बन्ध में गौतम आदिकों का मत दिखाकर स्पष्टतः से
संशय-विषय में मिद्वान्त का उपसंहार करते हुए शकर मिश्र कहते हैं कि)—ऐसा
होने से संशय न तीन प्रकार का है न पाँच प्रकार का, किन्तु एक ही प्रकार का है,
दूसरी रीति में वह दो प्रकार का है यह सूत्रकार स्वयं स्पष्ट करेंगे ।

पूर्वपक्ष—संशय का 'जिज्ञासाजनक ज्ञान' ऐसा लक्षण नहीं कर सकते क्योंकि

इति न लक्षणम् अनध्यवसायेऽपि गतत्वात्, संस्काराजनकज्ञान संशय इत्यपि निर्विकल्पकसाधारण विशिष्टज्ञानत्वेन संशयस्यापि संस्कारजनकत्वात्, संशयत्वञ्च जातिरपि न लक्षण धर्म्यशो संशयत्वाभावेन तदंशे तज्जात्यभावात् जातेश्चाढ्याप्यवृत्तित्वानभ्युपगमात् इति चेत्, एकस्मिन् धर्मिणि विरोधिना-
नाप्रकारक ज्ञान संशय इति तल्लक्षणात् ॥ १७ ॥

द्विविध संशयो बहिर्विषयकोऽन्तर्विषयकश्च । बहिर्विषयकोऽपि दृश्यमान-
धर्मिकोऽदृश्यमानधर्मिकश्च । तत्र दृश्यमानधर्मिको यथा ऊर्ध्वत्वविशिष्टस्य
धर्मिणो दर्शनात् अय स्याणुः पुरुषो वेति । अदृश्यमानधर्मिको यथा अरण्ये
झाटाद्यन्तरिते गोमयपादिपिण्डे विषाणमात्रदर्शनात् अय गौर्गवयो वेति ।

अतिशय रूप अनध्यवसाय ज्ञान में उक्त लक्षण होने से अतिभ्याप्ति दोष होगा । यदि भावना संस्कार को न उत्पन्न करने वाले ज्ञान को संशय कहें, तो निर्विकल्पक ज्ञान से भी उक्त संस्कार न उत्पन्न होने से निर्विकल्पक ज्ञान में अतिभ्याप्ति दोष तथा विशिष्ट ज्ञान होने से संशय के भी उक्त संस्कारजनक होने के कारण असंभव दोष भी हो जायगा) संशयत्वजातिमत्त्व भी संशय का लक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि धर्मिरूप भाग में संशय न होने से उस अंश में संशयत्व जाति नहीं है, जातिपदार्थ को अव्याप्यवृत्ति (एकदेश में वर्तमान) नहीं मानते (अर्थात् 'पर्वत बह्निवाला है या 'नहीं' इन संशय में संशय में संशयरूपता होने पर भी पर्वतरूप धर्मों अंश में वह निश्चय रूप होता है' ऐसा मानते हैं) । तस्मात् संशय का लक्षण असंगत होने से उसकी सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है ।

(इस पूर्वपक्ष का शकरमिश्र ऐसा समाधान देते हैं कि)—एक धर्मों में विद्वद् अनेकधर्मप्रकारक ज्ञान संशय होता है—ऐसा संशय का लक्षण हो सकता है अत उक्त कोई दोष नहीं हो सकते) ॥ १७ ॥

(अठारहवें सूत्र का शकरमिश्र अवतरण देने हुए कहते हैं कि) १—बहिर्विषयक (बाह्य विषयों में होने वाला) तथा अन्तर्विषयक मानस विषय में होने वाला ऐसे दो प्रकार के संशय हैं । २—(इन दोनों में से) १—दृश्यमानधर्मिक (जिसके धर्मों का प्रत्यक्ष हो), तथा २—अदृश्यमानधर्मिक (जिसके व्याप्यधर्मों का प्रत्यक्ष नहीं होता) ऐसे प्रथम बहिर्विषयक संशय के दो भेद हैं । इन दोनों में से दृश्यमान धर्मिवाले संशय का उदाहरण यह है जैसे ऊर्ध्वता-विशिष्ट (ऊँचे) धर्मों पदार्थ को देखकर यह स्थाणु (बृक्ष) है, अथ वा पुरुष ? (क्योंकि इसमें ऊँचा धर्मिरूप पदार्थ दिखाई देता है) । दूसरे अदृश्यमानधर्मिक संशय का उदाहरण है जैसे अरण्य में झाड़ी के आड में रहने वाले गो अथवा गवय (नील गाय) को न दिखाई देने पर भी केवल उसके सींग को देखकर यह गो है अथवा गवय ? ऐसा संशय । वस्तुतः विचार करने से वहाँ भी विषाण रूप धर्मों

वस्तुतस्तत्रापि विषाणधर्मिक एव सन्देहो विषाणमिदं गोसम्बन्धि गवयसम्बन्धि चेति । विवक्षामात्रात्तु द्वैविध्याभिधानम् । यत् सामान्यं संशयहेतुस्तदनेकत्र दृष्टं संशयकम् एकत्र धर्मिणि वा दृष्टं संशयहेतुस्तत्र प्रथमां विधामाह—

दृष्टञ्च दृष्टवत् ॥ १८ ॥

दृष्टमूर्द्धत्वं संशयहेतु । दृष्टवदिति वृत्तिप्रत्ययः तेन दृष्टाभ्यां स्थानुपुरुषाभ्यां तुल्यं वर्तते पुरोवर्तिनि यदूर्ध्वत्वं तददृष्टं संशयहेतुस्त्यर्थः ॥ १८ ॥

एकधर्मिविषयं यद् दृष्टं तदुदाहरति—

यथादृष्टमयथादृष्टत्वाच्च ॥ १९ ॥

(आश्रय) का ही सन्देह होता है कि यह सोंग गो का है या गवय का ऐसा दृश्यमान-धर्मिक ही यह भी संशय है । केवल कहने की इच्छा मात्र से अहिर्विषयक संशय के दृश्यमानधर्मिक तथा अदृश्यमानधर्मिक ऐसे दो भेद हैं । (अर्थात् विषाणमात्र के देखने के अनन्तर हुये संशय के दृश्यमान धर्मों वाले होने पर भी गोवत्सीवत् स्थाय सोंगमात्र धर्मों से भिन्न दृश्यमानधर्मिता तथा उनसे भिन्न दृश्यमानधर्मिता ऐसे कोई धर्मों को लेकर विभाजक की केवल दृष्ट्या से दो प्रकार के संशयों को दो प्रकार कहा है ।) इस प्रकार बाह्य तथा मान्तरिक भेद से दो प्रकार के संशय कहकर कारण भेद से शकरमिश्र भेद दिखाते हैं—कि जो साधारण धर्म संशय का कारण कहा है वह अनेक धर्मों में देखा हुआ अथवा एक धर्मों में देखा हुआ संशय का जनक होता है । इन दो प्रकारों में से प्रथम प्रकार सूत्रकार दिखाते हैं—

पदपदार्थ—दृष्टं च = देखा हुआ, दृष्टवत् = देखे हुआओं के समान, (संशय का कारण होता है ।

भावार्थ—देखे हुए स्थानु तथा पुरुषों में समान रहने वाला देखा हुआ ऊर्ध्वता दिग्धर्म संशय का कारण होता है ॥ १८ ॥

उपस्कार—देखा हुआ ऊर्ध्वत्वं (ऊंचाई) संशय का कारण होता है । ‘दृष्टवत्’ इस पद में समानार्थक वृत्ति यह प्रत्यय है इससे देखे हुए वृत्त तथा पुरुष दोनों के समान वर्तमान है जागे स्थित ऊँचे पदार्थ रूप धर्मों में जो ऊर्ध्वता (ऊँचाई) वह देखने पर यह स्थानु है या पुरुष इस संशय का कारण है यह सूत्र का अर्थ है ॥ १८ ॥

(इस प्रकार अनेक धर्मिविषय में संशय का वर्णन कर) एक धर्मिरूप विषय में देखे हुए सामान्य धर्म से उत्पन्न संशय का उदाहरण सूत्रकार देते हैं—

पदपदार्थ—यथादृष्टं = जैसा पूर्व में देखा हुआ, अथवादृष्टत्वात् च = वंसा न देखा हुआ होने से भी, (संशय का) कारण होता है ॥ १९ ॥

भावार्थ—किसी मनुष्य को पूर्व काल में केशयुक्त देखा था, उसी को दूसरे समय केशरहित (भूढामस्तक) देखा था, पश्चात् दूसरे काल में वस्त्र से आवृत १२ वें०

सशयहेतुरिति शेषः । चकार पूर्वोक्तसमुच्चयार्थः । अथवादृष्टत्वाद्धेतोर्वथा-
दृष्टमपि संशयकम् यथा—चैत्रो यथा दृष्ट केशवान्, कालान्तरे अथवादृष्टः
केशरितानुकूलो दृष्ट इत्यर्थः । क्रमेण तत्रैव चैत्रे वस्त्रावृतमस्तके दृष्टे सति भवति
संशयश्चैत्राऽयं सकेशो निष्केशो चेति । तत्र हि चैत्रत्व समानो धर्मः संशयकः
स चैकैव दृष्ट इत्यभिन्न एव धर्मिणि दृष्टः सशयहेतुः ॥ १९ ॥

उपलब्धमानत्व समानमेव धर्म संशयकारणमाह—

विद्याऽविद्यातश्च संशयः ॥ २० ॥

विद्येति । आन्तरसशयो हि विद्याऽविद्याभ्यां भवति यथा मौहूर्तिकं सम्य-
गादिशति चन्द्रोपरागादि, असम्यगपि । तत्र स्वज्ञाने सशयोऽस्य जायते सम्य-

(इके हुए) मस्तक वाले उसी मनुष्य को देखकर यह केशरहित अवस्था केश रहित
है ऐसा जो संशय होना है वह एक ही मनुष्यकी धर्मों में होने से एक धर्मविषयक
संशय है ॥ १९ ॥

उपस्कार—सूत्रोक्त हेतु में आकाशित पद 'सशयहेतु' संशय का कारण है ऐसा
शेष पद देना । चकार से पूर्व सूत्र में प्रदर्शित हेतु का इस सूत्र के साथ समुच्चय संशय
में दोनों हेतुओं का होना सूचित होना है । यथादृष्ट न होने के कारण (पहले ऐसा
केशवाला न देखने के कारण) यथादृष्ट (केशवाला देखना) भी संशय की उत्पत्ति करता
है जिस प्रकार चैत्रनामक मनुष्य पूर्वकाल में जैसा केशवाला देखा था, दूसरे काल में
वह अथवादृष्ट—केशों के बिना (बूढ़ा मस्तक) देखा गया था यह सूत्र का अर्थ है ।
क्रम से उसी क्रम से आच्छादित मस्तकवाले चैत्र को देखने पर यह चैत्र इस समय
केशयुक्त मस्तकवाला है अथवा केशरहित (बूढ़ा मस्तक) है ऐसा संशय होता है ।
इस संशय में 'चैत्रत्व' दोनों काल के चैत्र व्यक्ति में वर्तमान समान धर्म ही संशय का
जनक है, और वह एक ही में देखा है इस कारण अग्रिम ही धर्मों में देखा हुआ संशय
का कारण है ॥ १९ ॥

उपलब्ध होना यह समान ही धर्म संशय का कारण है यह सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—विद्याऽविद्यातः च—विद्या तथा अविद्या दोनों से भी, संशय=
संशय जान होता है ॥ २० ॥

भावार्थ—यथार्थ तथा अयथार्थ भी दो प्रकार का ज्ञान होना है जाने जाने वाले
पदार्थ में ज्ञापमानत्वं हेतु से यह ज्ञानविषय सत्य है अथवा असत्य ऐसा संशय होता है
अतः उपलब्ध होना रूप समानधर्म संशय का कारण है ॥ २० ॥

उपस्कार—('विद्या' इति ऐसा सूत्र का प्रतीक लेकर पारमार्थिक सूत्र की
व्याख्या करते हैं कि—) आन्तरिक संशय, विद्या तथा अविद्या दोनों से होता है, जैसे
ज्योतिषी का कृता, हुआ चन्द्रग्रहण आदि, धमुक (इंद्र) समय में होता यह सत्य भी

शादिष्टमसम्भवेति । यद्वा ज्ञान हि कचिद्विद्या भवति कचिच्चाविद्या अप्रमा
भरति, तथाच ज्ञायमानत्वात् सदिदमसद्वेति संशयो जायते । पुनः संशयग्रहण-
मिहार्थं मामान्यप्रत्यक्षादेव संशयो न तु निमित्तान्तरादिति सूचनार्थम् ।
तथा च "समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तिपक्षेऽपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्था-
नञ्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः" इति गौतमीये लक्षणे उपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्य-
वस्थेत्यस्य पृथगेव संशयकारणत्वं कैश्चिदुक्तं तन्निरस्तम् ॥ २० ॥

एवं लक्षणः स्वरूपमञ्च परीक्षाप्रथमाङ्गं संशयं व्युत्पाद्य इदानीं परीक्षा
विषयं शब्द धर्मिणं दर्शयन्नाह—

श्रोत्रग्रहणो योऽर्थः स शब्दः ॥ २१ ॥

होता है तथा मिथ्या भी (अर्थात् ज्योतिषी का बतलाया हुआ ग्रहण का समय कभी
ठीक मिलता है कभी-कभी नहीं मिलता) उसमें ज्योतिषी की स्वयं अपने ज्ञान में
हीमरी बार संशय होता है कि यह मेरा बतलाया हुआ ग्रहण का काल सत्य है अथवा
मिथ्या (सूत्र में कहा हुआ विद्या तथा अविद्या पर भाव (धर्म) प्रधान होने से
विद्यात्व तथा अविद्यात्व धर्म विद्या तथा अविद्या पर में लेना) जिससे यह ज्ञान
अपार्यता तथा अपार्यता के साथ वर्तमान ज्ञानविषयता वाला है ऐसा ज्ञान होने से
(यह ज्ञान अपार्य है या नहीं ऐसा संशय होता है) इस आशय से संकरमिश्र दूधरे
कल से (प्रकार से) सूत्र का अर्थ करते हैं कि—अथवा ज्ञान कहीं अपार्य होता है कहीं
अपार्य होता है, अतः यह ज्ञान का विषय होने से सत् अपार्य है या असत् ऐसा
संशय होता है । इस सूत्र में संशय प्रकरण होने पर भी पुन संशय पद का ग्रहण इस
उक्त संशय में भी साधारण धर्म ज्ञान ही कारण है, दूसरा निमित्त नहीं है यह सूचना
करने के लिये दिया है । इस ऐसी व्याख्या से समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्ते-
रुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थानञ्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः अर्थात् 'समान धर्मज्ञान
विशेष धर्मज्ञान, विरुद्ध कोटिज्ञान, उपलब्धि की अवस्था तथा अनुपलब्धि की
अवस्था से विशेष की अपेक्षा रखने वाले ज्ञान को संशय कहते हैं, इस शीघ्र
महर्षिके लिये संशय के लक्षण में उपलब्ध्यव्यवस्था तथा अनुपलब्ध्यव्यवस्था पृथक् संशय
के कारण हैं ऐसा वास्त्यायन मुनि के वास्त्यायन भाष्य में कहा है—यह खडिग हो
गया ॥ २० ॥

इस प्रकार लक्षण तथा स्वरूप में परीक्षा के प्रथम अंग संशय का वर्णन कर
साधन प्रस्तुत परीक्षा के विषय पदरूप धर्मों को दिखाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—श्रोत्रग्रहणः = श्रोत्रेन्द्रिय से श्रुती होने वाला, यन्त्रो, अर्थः =
धर्मिणा पदार्थ (होता है) सत् = वह, शब्द = शब्दपुत्र है ॥ २१ ॥

भावार्थ—श्रोत्रेन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने योग्य पदार्थ को शब्द कहते हैं ॥ २१ ॥

श्रोत्रं ग्रहणं ग्रहकरणं यस्य स श्रोत्रग्रहणः, अर्थ इति धर्मात्यर्थः । तथा च शब्दवृत्तिधर्मेषु श्रोत्रमाहोषु शब्दस्वतारत्वादिगुणत्व सत्त्वादिषु नातिव्याप्तिः । अर्थपदेन धर्मिष्वरेण जातिधर्मित्वम् अभिप्रेतम् अतः स्फोटनामा शब्दसमवेतः शब्दो नास्तीति सूचितम् । नन्वेकं पदम् एकं वाक्यमिति प्रतीतिबलादवश्यं स्फोटोऽङ्गोक्तव्यः, न हि बहुवर्णात्मके पदे बहुवर्णात्मके वा वाक्ये भवत्येकत्वप्रत्ययः । स्फोट इति चार्थस्फुटोकरणाधीना संज्ञा । वर्णानां प्रत्येकं तावदर्थप्रत्ययाजनकत्वमेव, मिलनन्त्येकैकवस्तुकाणामाशुतरविनाशिनामसम्भवोति स्फोटादे-चार्थप्रत्ययः, तत्त्वानसन्तरेणार्थस्फुटीभाषाभावात् । ॥ च स्फोटो यद्यपि पदभावे-नावस्थितेषु सर्वेष्वेव वर्णेषु तथापि चरमवर्णे स्फुटीभवति । मैवम् । सङ्केतवर्ण-त्वं पदत्वं तथा च सङ्केतबलादेव पदादर्थप्रतीतिं किं स्फोटैः । वर्णानाम्यहनाम् ।

उपस्कार—श्रोत्र नामक इन्द्रिय प्रत्यय का कारण जिसका होता है उस धर्मी (अर्थ) को शब्द कहते हैं । इस शब्द के लक्षण में धर्मवाचक अथ पद के देने से श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहीत होने वाले शब्द में वर्तमान शब्दत्व, तारत्व (ऊँचापन), गुणत्व, तथा सत्ताजाति में अतिव्याप्तिदोष नहीं हो सकता, (क्योंकि वह धर्मी नहीं है) तथा धर्मबोधक अर्थपद से समवायसम्बन्ध से जातिमान का आशय ऐसा अर्थ सूत्रकार की अभिप्रेत है जिससे स्फोट नाम का व्याकरणों की अभिमत शब्दों में सम्बन्ध दूसरा शब्द मानने की आवश्यकता नहीं है यह सूचित होता है । पूर्वपक्ष—'यह एक पद है, यह एक वाक्य है' इत्यादि प्रतीतियों के बल से स्फोट नाम के दूसरे शब्द का शब्द भी अवश्य मानना होगा, क्योंकि अनेक वर्णस्वरूप पद तथा अनेक वर्ण-स्वरूप वाक्य में एक ही है यह प्रतीति नहीं हो सकती । (अतः एकत्व-प्रतीति होने के लिये माना हुआ दूसरा स्फोट शब्द मानना होगा) वह अर्थ को स्पष्ट करता है इस कारण उसका नाम स्फोट है । क्योंकि पदघटित प्रत्येक वर्ण तो एक अर्थ के बोधक हो ही नहीं सकते, और एक वक्ता से उच्चारण किये अत्यन्त शीघ्र नष्ट होनेवाले वर्णों का मिलन (मिलना) असम्भव है इस कारण उन वर्णों से उत्पन्न स्फोट नामक शब्द ही अर्थ ज्ञान होता है, क्योंकि उसके ज्ञान के बिना अर्थ स्पष्ट न होगा । वह स्फोट शब्द यद्यपि एक पदरूप से वर्तमान पदघटित संपूर्ण वर्णों में है तथापि अन्तिम वर्ण में स्पष्ट होता है, (अतः स्फोट अवश्य मानना होगा)—

उत्तर—ऐसा नहीं क्योंकि सकेत-विशिष्ट वर्णों का नाम है पद, अतः सकेत (शक्ति) के बल से ही पद से अर्थ का ज्ञान होने के कारण स्फोट मानने की कोई आवश्यकता नहीं है । (अव्यवहितोत्तरत्व सम्बन्ध से सकेत विशिष्ट वर्णत्व ही पदत्व है अतः घटादि उक्त पद अथवा उसका ज्ञान सकेत (शक्ति) ज्ञान की सहायता से ही अर्थ का बोध कराता है, जिससे परस्पर वर्णों के समर्थ को विषय करने वाला शब्द ज्ञान होता है, ऐसा होने से वर्णों के अतिशीघ्र विनाश स्वभाव होने पर भी कोई

एकैकार्थप्रतिपादकत्वमेकं धर्ममभिप्रेत्य एकं पदमिति भाक्तो व्यवहारः एवं वाक्येऽपि । यदि वर्णान्तरित्तः पदार्थाः कश्चित् प्रत्यक्षतो गृह्येत स्वीक्रियेतापि स्फोटः सोऽयं स्फोटवादस्तुच्छवाद्युपेक्षितः सूत्रकृता ॥ २१ ॥

तदेवं शब्दे धर्मिण्युपस्थिते गुणत्वे सत्येव तस्याकाशलिङ्गत्वम् । अतो गुणत्वव्यवस्थापनाय त्रिकोटिकं सशयमुपपादयन्नाह—

तुल्यजातीयेष्वर्थान्तरभूतेषु विशेषस्य उभयथा दृष्टत्वात् ॥ २२ ॥

शब्दे संशय इति शेष । शब्दे शब्दत्वं श्रोत्रमाहृत्य चोपलभ्यते, तस्य तुल्य-
जातोपेयु त्रयाविराधो गुणेषु अर्थान्तरभूतेषु द्रव्येषु कर्मसु च विशेषस्य व्यावृत्तेः
उभयथा । उभयत्र दृशनात् 'शब्दः किं गुणो द्रव्यं कर्म वेति' संशयं जनयति ।

दीप नहीं हो सकता । इस आशय में चकरमिश्र भागे कहते हैं कि)—बनेक भी वर्ण एक वर्ण को वर्णस्वरूप एकवर्ण के अभिप्राय से होता है, अतः एकरूप है यह गौण व्यवहार होता है इसी प्रकार वाक्य में भी, क्योंकि यदि वर्णों से भिन्न पररूप किसी स्फोटादि शब्द का प्रत्यक्ष में ग्रहण हो तो वह स्फोट माना भी जाय, इस कारण यह व्याकरणों का स्फोटवाद तुच्छ (व्यर्थ) होने से महर्षि कृताद ने इसकी उपेक्षा की है अर्थात् स्फोट शब्द का वर्णन नहीं किया है ॥ २१ ॥

तो इस प्रकार चन्द्रकप वर्णों के उपस्थित होने पर, गुण होने से ही पूर्वप्रदर्शित रूप में आकाश का निम्न शब्द को कहा गया है । अतः शब्द में गुणत्व का सिद्धांत दिखाने के लिये प्रथम उभय त्रि (कोटि) तीन भागों को लेकर संशय का उपपादन करते हुए सूत्रकार कहने हैं—

पदपदार्थ—तुल्यजातीयेषु = समानजातिवाले गुणपदार्थों में, अर्थान्तरभूतेषु = दूसरे पदार्थ द्रव्य, तथा कर्मों में, विशेषस्य = भेद के, उभयथा = दोनों में, दृष्टत्वात् = देखा होने से (शब्द) गुण है द्रव्य है, या कर्म ऐसा समझ होता है ॥ २२ ॥

भाषार्थ—शब्द में वर्तमान श्रोत्रमाहृत्य तथा शब्दस्वरूप विशेष (भेदक) के गुणरूप से समानजातीय रूपादि गुणों तथा दूसरे द्रव्य तथा कर्म पदार्थों में दिखाई देने में शब्द गुण है, या द्रव्य अथवा कर्म ऐसा समझ होता है ॥ २२ ॥

उपपादकार—सूत्रिक हेतु का 'शब्द में संशय होता है' ऐसा आकाशिन (दीप) भाग पूरा कर मूत्र की व्याख्या करना । शब्द में शब्दत्व जाति तथा अन्वयेन्द्रिय से प्रत्यक्ष होना भी उपलब्ध होती है, और वह गुणत्वेन समानजाति के रूप, रस आदि चतुर्विधानि गुणों में, तथा असमानजातीय द्रव्य, तथा कर्मरूप दूसरे पदार्थों में भी विशेष (व्यावृत्ति) अर्थात् न रहना उभयथा (दोनों में) दोनो में से शब्द क्या गुण है या द्रव्य या कर्म ऐसा समझ उत्पन्न करता है । सामान्यविशेष तथा समवाय में शब्द का संशय नहीं हो सकता क्योंकि 'सदित्यं' इत्यादि सूत्र में दिखाये हुए सत्ता-

सामान्यविशेषसमवायकोटिकत्वन्तु सत्त्वकारणवत्त्वादिवैधर्म्यदर्शनाच्च भवति । ननु चासाधारणधर्मस्यानध्यवसायजनकत्वात् सशयजनकत्व प्रतिपिद्धम् शब्द-
त्वे श्रोत्रग्राह्यत्वञ्चासाधारण एव धर्मं कथं सशय जनयिष्यतीति चेत्सत्यम् ।
व्यावृत्तिरस्य ज्ञानोपासजातीयसाधारणीति व्यावृत्तेः साधारणस्यैव धर्मस्य
सशयजनकत्वेनोक्तत्वात् ।

शब्दत्वप्रतियोगिको व्यावृत्तिः समानो धर्मः उभयगतव्यावृत्तिप्रतियोगित्वञ्च
शब्दत्वससाधारणो धर्मः । तदुक्तं 'विशेषयोभयथा दर्शनादिति' । अत्र हि विशेष-
पक्ष्य व्यावृत्तेरुभयत्र सजातीये विजातीये च दर्शनस्य संशयहेतुत्वेनोपादानात्
स च समान एव धर्म इति ॥ २२ ॥

तदेव सशय दर्शयित्वा द्रव्यत्वकोटिव्युदासायाह—

जाति, कारणवत्ता इत्यादिको के विकट धर्म (सत्ताजाति का न होना, कारण वाले न
होना इत्यादि विकट धर्म का दर्शन होना है । पाँचा—असाधारण (विशेष) धर्म को
अनध्यवसाय (अनिश्चयात्मक) ज्ञान के जनक होने में वह सशयजनक नहीं होता
ऐसा कह जाये हैं, शब्द में वर्तमान शब्दत्व जाति तथा ध्वनेन्द्रिय से प्रत्यक्ष का होना
भी असाधारण धर्म ही हैं तो वह सशय को कैसे उत्तरण करेगा ? उत्तर—पूर्वपक्षी का
कथन सत्य है, कि तु समानजातीय तथा असमानजातीयों में उक्त प्रकार से शब्दत्व
तथा ध्वनेन्द्रियग्राह्यता का न होना भी समानजातीय तथा असमानजातीय में साधा-
रण है, अतः व्यावृत्तिरूप साधारण धर्म ही सशयजनक है ऐसा कहा है ।

(यदि यहाँ पर 'व्यावृत्ति का अर्थ होगा सामानाधिकरन्ध्वरूप सम्बन्ध, उसको कोई
प्रतियोगी तथा अनुयोगीरूप सम्बन्धी मानना ही होगा, वह व्यावृत्तत्व धर्म में न होने से
प्रमेयत्वादि धर्म के समान साधारण होनेपर भी सम्बन्ध नहीं हो सकता' ऐसी पूर्वपक्षी
सका करे, तो शक्यमिन्न कहते हैं कि)—शब्दत्वप्रतियोगिक व्यावृत्ति है समानधर्म
और उभयगत व्यावृत्ति की प्रतियोगिता रूप शब्दत्व है असाधारण धर्म, यही 'विशेष-
स्योभयपादवृत्त्यात्' ऐसा गृह में कहा है । प्रकृत में व्यावृत्ति रूप विशेष को समान-
जातीय तथा विजातीय दोनों में देखना सशय का कारण है ऐसा कहने से, वह विशेष
समान ही धर्म है ऐसा सिद्ध होता है (अर्थात् वृत्तित्वा के नहीं रहने के नियामक न
होने वाले सम्बन्धरूप व्यावृत्तत्व का ज्ञान 'एक सम्बन्धी का ज्ञान दूसरे सम्बन्धी
को स्मरण कराता है' इस निष्पत्ति के अनुसार सामानाधिकरण्य के समान परस्पर में ही
प्रतियोगी तथा अनुयोगी रूप होता है) ॥ २२ ॥

(तदस्यै सूत्र का अवतरण देते हैं कि)—इस प्रकार शब्द में सशय शब्द को
दिखाकर द्रव्यत्वरूप एक कोटि (पक्ष) का शब्द में निराकरण करने के लिये सूत्र-
कार कहते हैं—

एकद्रव्यत्वान्न द्रव्यम् ॥ २३ ॥

एकं द्रव्यं समवायि यस्य तदेकद्रव्यं द्रव्यञ्च किमप्येकद्रव्यसमवायिकारणकं न भवतीति द्रव्यवैधर्म्यान्नायं शब्दो द्रव्यमित्यर्थः ॥ २३ ॥

ननु कर्मैकद्रव्यमेव तथा च शब्दः कर्म स्यादित्यत आह—

नापि कर्माञ्चानुपत्त्वात् ॥ २४ ॥

प्रत्ययस्य शब्दविषयकस्याचाक्षुपत्वात् चक्षुर्भिन्नवहिरिन्द्रियजन्यावादि-
त्यर्थः । तथा च शब्दश्च न कर्मवृत्तिः चाक्षुपन्नयथावृत्तिजातित्वात् रसत्वादिव-
दिति भावः ॥ २४ ॥

ननु शब्दः कर्म आनुत्तरविनाशित्वात् उक्षेपगादिवदिति चेदब्राह्म—

पदपदार्थ—एकद्रव्यत्वात् = केवल आकाश रूप समवायिकारण वाला होने से,
न = नहीं हो सकता, द्रव्य = द्रव्य द्रव्य ॥ २३ ॥

भावार्थ—कोई भी कार्य द्रव्य एक समवायिकारण द्रव्य वाले नहीं होते और
शब्द का केवल आकाश ही द्रव्य समवायिकारण है, अतः शब्द द्रव्य पदार्थ नहीं हो
सकता ॥ २३ ॥

उपसकार—एक द्रव्य है समवायिकारण जिसका वह एक द्रव्य कहाता है । कोई
भी कार्यद्रव्य एक समवायिकारण द्रव्य में उत्पन्न नहीं होता, इस प्रकार द्रव्य का
विषय धर्म शब्द में होने से वह द्रव्य नहीं है यह सूत्र का अर्थ है ॥ २३ ॥

कर्मपदार्थ में एक द्रव्य ही समवायिकारण होता है, यह समान धर्म शब्द में
होने से वह कर्म पदार्थ ही क्यों माना जाय ? इस शब्द के समानार्थ सूत्रकार
कहते हैं—

पदपदार्थ—न अपि = और नहीं भी है, कर्म = शब्द कर्मपदार्थ, आनुपत्त्यात् =
अनुपत्तिसे प्रत्यक्ष न होने से ॥ २४ ॥

भावार्थ—शब्द का ज्ञान अनुपत्तिसे न होने के कारण वह कर्मपदार्थ भी नहीं
हो सकता और अनुपत्ति प्रत्यक्ष होता है ॥ २४ ॥

उपसकार—शब्द विषय का ज्ञान आनुपत्त्यात् इसका अर्थ है अनुपत्तिसे
भिन्न अक्षरवहिरिन्द्रिय से उत्पन्न होने के कारण (शब्द कर्मपदार्थ नहीं है) ।
ऐसा अर्थ है । (यहाँ पर अनुपत्तिसे उत्पन्न नहीं होने से ऐसा कहने में वायुक्रिया
में व्यभिचार दोष-वारणार्थं अनुपत्ति ऐसा कहा है) । ऐसा होने से 'शब्दत्व जाति,
कर्मपदार्थ में नहीं रहती, अनुपत्तिप्रत्यक्ष में न रहने वाली जाति होने से, रसत्वादि-
जातियों के समान' ऐसा अनुमान होता है यह सूत्रकार का अभिप्राय है ॥ २४ ॥

'यदि शब्द 'कर्मपदार्थ' है, अतिशय विनाशी होने से, उत्प्रेषणादि कर्म के समान'
इस अनुमान से शब्द में कर्मता का अनुमान करेंगे" ऐसा पूर्वपक्षी शंका करे तो सूत्रकार
उत्तर देते हैं—

गुणस्य सतोऽपवर्गः कर्मभिः साधर्म्यम् ॥ २५ ॥

अपवर्गः आशुनाशः स च गुणत्वेऽपि द्वित्वादिवदाशुभाविनाशकसन्निपाता-
घोन इति कर्मभिः साधर्म्यमात्रमस्य न तु कर्मत्वमेव । त्वदुक्तदेवोराशुतरविना-
शित्वस्य द्वित्वज्ञानसुखदुःखादिभिरनैकान्तिकत्वमिति भावः ॥ २५ ॥

ननु सिध्यतु शब्दो गुणस्तथापि नासायाकाशच्छिद्रम् । आकाश हि तदाऽतु
सापयेत् यदि तस्य कार्यः स्यात् । किन्तु नित्य एवायं, कदाचिदनुपलम्भात् व्य-
ञ्जकाभाषप्रयुक्त इत्याशङ्क्याह—

सतो लिङ्गाभावात् ॥ २६ ॥

पदपदार्थः—गुणस्य = गुण पदार्थ के, सत = गण्ड के होने पर, अपवर्ग = शीघ्र
नाश होना, कर्मभिः = कर्मपदार्थों से, साधर्म्यम् = समान धर्म है ॥ २५ ॥

भावार्थः—शीघ्र विनाशिता रूप शब्द में कर्मता साधक हेतु के द्वित्वादि ज्ञान
तथा सुख दुःखादि गुणों में रहने पर भी कर्मता न होने के कारण व्यभिचार दोष
होने से शब्द गुण होने पर उसका शीघ्र नाश होना यह कर्म पदार्थों का उसमें केवल
साधर्म्य है न कि शब्द कर्मपदार्थ है ॥ २५ ॥

उपस्कारः—अपवर्ग (शीघ्र विनाश) वह शब्द के गुण पदार्थ होने पर भी
द्वित्वादि गुण के नाश में अपेक्षा बुद्धिनाश रूप कारण के सानिध्य के समान शब्द
के शीघ्र विनाश के कारणों के सन्निहित होने से होता है, इस प्रकार यह आशु विनाश
केवल कर्मपदार्थों के साथ समानधर्ममात्र है, न कि शब्द में कर्मत्व ही है । चापके
(पूर्वपत्नी ने) अनुमान में दिया हुआ 'आशुनाश विनाशिता रूप हेतु द्वित्वगुण ज्ञान,
सुख, दुःख इत्यादिकों में व्यभिचार दोषग्रस्त है । (क्योंकि उनमें शीघ्र विनाशिता
हेतु के रहने पर भी कर्मत्वरूप साध्य नहीं है), अतः व्यभिचारी दुष्टहेतु है । (अतः कर्मत्व
का साधक नहीं हो सकता) ॥ २५ ॥

शकापूर्वक उन्वीसवें सूत्र का (शकरमिश्र ऐसा अवतरण देते हैं कि)—शब्द गुण
है यह उक्त रीति से सिद्ध होने पर भी वह आकाशद्वय का साधक लिङ्ग नहीं हो
सकता, क्योंकि वह आकाश की अनुमान में तब सिद्ध कर सकेगा, यदि वह कार्य हो,
किन्तु यह शब्द तो नित्य ही है, नित्य होने पर कदाचित् शब्द की उपलब्धि नहीं
होती इसका कारण यह है कि उच्चारणादि व्यञ्जकों का न होना (अर्थात् शब्दनित्य
होने पर भी सर्वदा उसकी उपलब्धि उच्चारणादि व्यभिचयजको के सर्वदा न होने से
नहीं होती) इस शका के उत्तर में गुणकार कहते हैं—

पदपदार्थः—सत = सदा वर्तमान नित्य शब्द का, लिङ्गाभावात् = प्रमाण न
होने से ॥ २६ ॥

भावार्थः—यदि उच्चारण के पूर्व में नित्य शब्द है तो उसमें कोई प्रमाण होना .

यदि हि उच्चारणात् प्रागुक्तं शब्दः सन् स्यात् तदा सतोऽस्य लिङ्गं प्रमा-
णान्तरं स्यात् । न चाश्रवणदशायां शब्दसत्त्वे प्रमाणमस्ति, तस्मात् काव्यं
एवाय न व्यङ्ग्य इति ॥ २६ ॥

इतश्च न व्यङ्ग्योऽसावित्याह—

नित्यवैधर्म्यात् ॥ २७ ॥

नित्येन सदास्य शब्दस्य वैधर्म्यमुपलभ्यते यतश्चैत्रो वक्तोऽयत्रावृत्तोऽपि
चैत्रमैत्रादिर्वचनेनानुमीयते । न च व्यञ्जकः प्रतीपादित्यङ्ग्येन घटादिना
कश्चिदनुमीयते, तस्माज्जन्य एवाय न व्यङ्ग्य इति भावः ॥ २७ ॥

व्यङ्ग्यत्वे बाधकमुक्त्या सम्प्रत्यनित्यत्वे हेतुमाह—

चाहिये, किन्तु उच्चारण के पूर्व शब्द है इसमें दूसरा कोई प्रमाण न होने से शब्द
निरप है यह नहीं हो सकता ॥ २६ ॥

उपसर्गाह—यदि पठ, तात्तु आदि संयोग रूप उच्चारण तथा मेरी-दण्ड सयोगादि
रूप कम से वर्ण तथा ध्वनि रूप शब्दजनक व्यापार के पूर्व भी दोनों प्रकार के
शब्द विद्यमान हो तो उसकी सत्ता होने में कोई दूसरा प्रमाण होगा, किन्तु जिस काल
मे शब्द का श्रवण नहीं होता उस काल मे भी शब्द है ऐसा मानने में कोई प्रमाण
नहीं है । इस कारण शब्दगुण कार्य (अनिरप) ही है, न कि उच्चारणादिको से
व्यंग्य (अभिव्यक्त) होता है । ऐसा सिद्ध होता है ॥ २६ ॥

और इस हेतु से भी शब्द व्यंग्य नहीं है—

पदपदार्थ—नित्यवैधर्म्यात् = नित्यपदार्थों के शब्द मे विरुद्ध धर्म होने से ॥ २७ ॥

भावार्थ—स्थिरपदार्थ घटादि के व्यंग्य (प्रकाशन योग्य) पदार्थ से प्रकाशक
प्रतीपादिको का कहीं अनुमान नहीं होता और वचनादिकों से वक्ता का अनुमान
होता है ऐसा नित्य स्थिरपदार्थों का विरुद्धधर्म होने से भी शब्द व्यंग्य नहीं है किन्तु
कार्य (अनित्य) है यह सिद्ध होता है ॥ २७ ॥

उपसर्गाह—निरप (स्थिर) पदार्थों के साथ इस शब्दगुण का विरुद्धधर्म
मिलता है, क्योंकि चैत्र नामक मनुष्य बोल रहा है ऐसा कहने पर छिरा हुआ या
चैत्र-मैत्रादि वक्ता पुरुष की अनुमान से सिद्ध होती है । और नहीं होती व्यञ्जक
(प्रकाशक) दोष आदि को व्यंग्य (प्रकाश योग्य) घटादि पदार्थों मे कही भी
अनुमिति से सिद्ध, इस कारण शब्द गुण कार्य (अन्य) ही है न कि व्यंग्य यह सूत्र का
अभिप्राय है ॥ २६ ॥

शब्द की व्यंग्यता मे बाधक को कहकर साग्रत इसके अनिरप होने मे साधक हेतु
को सूत्रकार कहते हैं—

अनित्यत्वाय कारणतः ॥ २८ ॥

कारणत उत्पत्तेर्दृष्टादिति शेषः । उपलभ्यते हि भेरीदण्डसंयोगादिभ्यः प्रादुर्भवन् शब्दः, तथा चोत्पत्तिमत्त्वादनित्योऽयमिति । यद्वा कारणत इति कारणवत्त्वहेतुमुपलभ्यति ॥ २८ ॥

ननु च कारणवत्त्व शब्दस्य स्वरूपासिद्धमत्र आह—

न चासिद्धं विकारात् ॥ २९ ॥

शब्दस्य कारणवत्त्वमसिद्धमिति न वाच्यम् तोष्रमन्दादिभावेन विकारस्य दर्शनात् भेरीदण्डाभिघातस्य तोष्रतया तोष्रस्य मन्दतया मन्दस्य शब्दस्योप-

पदपदार्थ—अनित्य च = और अनित्य भी है, अय = यह शब्दगुण, कारणत = कारण से उत्पन्न होने के कारण ॥ २८ ॥

भावार्थ—केवल शब्द के व्यर्थ होने में पूर्वोक्त बाधक होने से ही नहीं किन्तु शब्द की कारण से उत्पत्ति भी देखने में आती है इस कारण भी शब्द व्यर्थव्यर्थ नहीं किन्तु (कार्य) है यह सिद्ध होना है ॥ २८ ॥

उपस्कार—(सूत्र में आकाशित पद का दोष दिखाने हुए सूत्रकारमित्र सूत्र की व्याख्या करत हैं कि)—‘यह शब्द अनित्य है कारण से उत्पत्ति दीजने के कारण’ ऐसा सूत्र में अवशिष्ट पद देना । क्योंकि भेरी (गयाड़ा) तथा दण्ड के संयोग तथा कण्ट-तालु आदि के संयोगादिकों से प्रगट होने वाली ध्वनि तथा वर्णरूप शब्द गृहीत होता है, ऐसा होने से उत्पत्ति-विशिष्ट होने से यह शब्द अनित्य है ऐसा सिद्ध है । अथवा सूत्र के ‘कारणत’ इस पद से कारणज्ञान होने से ऐसा शब्द की अनित्यता में व्युत्पत्ति ने हेतु सूचित किया है इसमें भी शब्द अनित्य कार्य है । यह सिद्ध है ॥ २८ ॥

यदि शब्द में द्वितीय पक्ष से कारणवान् होना यही नहीं माने तो वह अनित्यता-साधक कारणवत्त्व हेतु स्वरूपासिद्ध नामक दुष्ट हेतु होगा तो उससे अनित्यता कैसे सिद्ध होगी । इस शब्द के समाधान में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—न च = और नहीं है, असिद्ध = कारणवत्ता असिद्ध नहीं है, विकारात् = तीव्र, तीव्रतर मन्द, अतिमन्द इत्यादि शब्दों में विकारों के दिखाने से ॥ २९ ॥

भावार्थ—पूर्वपक्षों के दिये हुए शब्द की अनित्यता के साधक कारणवत्त्व हेतु में स्वरूपासिद्ध दोष हो भी नहीं सकता, क्योंकि शब्दों में ‘यह शब्द तीव्र है, यह अति-तीव्र है, यह मन्द है, यह अतिमन्द है । ऐसे भेरी तथा दण्ड के अभिघातों की तीव्रता तथा मन्दता के भेद से प्रतीति होती है, अतः कारणवत्त्व हेतु शब्द में सिद्ध होने से उक्त दोष नहीं हो सकता ॥ २९ ॥

उपस्कार—शब्द में कारणवत्ता हेतु असिद्ध है, ऐसा व्यर्थतावादी नहीं कह सकता, क्योंकि तीव्र (तीखा) मन्द, इत्यादि रूप से शब्द में विकार दीखता है-

लम्भात् । नह्यभिव्यञ्जकतोत्रयाद्यधीनोऽभिव्यञ्जकतोत्रत्वादिः । तथाच
कारणतो विकारादनुमीयते जन्योऽयं न त्वभिव्यञ्जक इति ॥ २९ ॥

ननु व्यञ्जकस्यैवायं महिमा यत्तोत्रमन्दादिमात्रेणाभिव्यनक्ति भेरीदण्डाद्य-
भिहतो वायुरेव तोत्रा मन्दश्च तथा प्रत्ययभाधत्ते अत्र आह—

अभिव्यक्तौ दोषात् ॥ ३० ॥

शब्दस्याभिव्यक्तौ समानदेशानां समानेन्द्रियप्राधान्यां प्रतिनियतव्यञ्ज-
कव्यञ्जकत्वं दोषः स्यात् । न च तादृशानां प्रतिनियतव्यञ्जकव्यञ्जकत्वं क्वचिद्

क्योंकि भेरी और दण्ड के शब्द के कारण अभिवातमानक सयोग से तीव्र होने से तीव्र
और मन्द होने में मन्द शब्द की उपलब्धि होती है । उदञ्जक के तीव्रता तथा मन्दता
के अधीन व्यञ्ज्य पदार्थों में तीव्रता, मन्दतादि नहीं होते (अर्थात् प्रदीप व तीव्रता श्वेता
के अधीन चटादि व्यञ्ज्य पदार्थों में तीव्रता, मन्दता नहीं होती) तथा च ऐसा होने से
विकाररूप कारण से अनुमान किया जाता है कि यह शब्द गुणजन्य (कार्य) है न कि
व्यञ्ज्य होनेवाला स्थिर भित्तु ऐसा सूत्र का अर्थ है ॥ २९ ॥

यदि यहाँ पर व्यञ्जक का ही यह महिमा है कि वह तीव्र तथा मन्द इत्यादि शब्दों
को प्रकट करता है, अर्थात् भेरी तथा दण्ड से अभिवात सयोग का आश्रय वायु ही तीव्र
और मन्द होने में शब्द में तीव्र तथा मन्द प्रतीति को उत्पन्न करता है ऐसी शक्ति
पूर्वपक्षी करे तो इसका समाधान सूत्रकार ऐसा करते हैं—

पदपदार्थ—अभिव्यक्तौ = शब्द की अभिव्यक्ति मानने से, दोषात् = नियत व्यञ्जक
से व्यक्त होने का दोष होने से शब्द व्यञ्ज्य नहीं हो सकता ॥ ३० ॥

भाषार्थ—पूर्वपक्षी का कहा हुआ वायु की तीव्रतादिको ये शब्द की तीव्रतादि
होना युक्त नहीं है क्योंकि ऐसा मानने से समान इन्द्रिय से ग्रहीत होने वाले एक ही
देश में वर्तमान विषयों में प्रत्येक विषय के ग्रहण में भिन्न-भिन्न व्यञ्जक मानने पड़ेंगे,
यह दोष था जायगा, अतः शब्द स्थिर (निरत्य) व्याप्य है यह नहीं हो सकता, किन्तु
अनिरत्य जगत् है यह सिद्ध होता है ॥ ३० ॥

उपसंकाह—पूर्वपक्षी के कथनानुसार वायु की तीव्रता तथा मन्दता से यदि शब्द
में तीव्रता तथा मन्दता के कारण नित्य शब्द की अभिव्यक्ति मानने में समान (एक ही)
देश में रहने वाला तथा समान (एक ही) इन्द्रिय से ग्रहीत होने वाले पदार्थों के
ग्रहण में प्रत्येक पदार्थों की अभिव्यक्ति मिले, भिन्न-भिन्न व्यञ्जक मानने पड़ेंगे
यह दोष होगा । किन्तु एकदेश में रहने वाले एक ही वस्तु आदि इन्द्रियों से ग्रहीत
होने वाले अनेक चटादि पदार्थों के ग्रहण में भिन्न भिन्न इन्द्रियादिरूप व्यञ्जक होने से
यह देखने में नहीं आता ।

दृष्टम् । अत्र यदि तथा न स्वीक्रियेत तदा ककाराभिर्व्यक्तौ सर्ववर्णीभिव्यक्ति-
प्रसङ्गः । ननु समानदेशानामपि सत्त्वनरत्वब्राह्मणत्वानां स्वरूपभेद संस्थान-
योनिव्यङ्ग्यानां प्रतिनियतव्यञ्जकव्यङ्ग्यत्वं दृष्टमेवेति चेन्न तेषां समानदेशत्वा-
भावात् । न हि यावान् देशः सत्त्वस्य तावानेव नरत्वस्य ब्राह्मणत्व-
स्य वा ॥ ३० ॥

इतश्च नाभिव्यङ्ग्यतेत्याह—

संयोगाद्विभागाच्च शब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः ॥ ३१ ॥

संयोगात् भेरीदण्डादिसंयोगात्, विभागात् वंशे पाट्यमाने । तत्र संयोग-
स्तावन्नाद्यस्य शब्दस्य कारण तदभावात् तस्मात् वंशदलद्वयविभागो निमित्तः

इस अभिव्यक्ति पक्ष में यदि ऐसा (प्रत्येक व्यञ्ज के लिये नियत व्यञ्जक न होना) न माना जाय तो एक ककारवर्ण के कण्ठ तालु आदि सयोगरूप व्यञ्जक से अभिव्यक्ति होने पर सम्पूर्ण ल आदि वर्णों की अभिव्यक्ति होने की अपेक्षित या आसगी । यदि 'एक ही मनुष्य शरीररूप देश में वर्तमान, स्वरूप के भेद, अवयवों की रचनाकर प्राकृति, तथा योनि (जन्म स्थान) इनसे क्रम से अभिव्यक्त होने वाली सत्ताजाति, मनुष्य होता तथा ब्राह्मणता इन तीनों के अभिव्यक्ति (ज्ञान) होने से प्रत्येक सत्ता आदि का भिन्न-भिन्न स्वरूप भेद आदि व्यञ्जक से व्यक्त होना देखाता ही है' ऐसी शका पूर्ववक्षी करे तो, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वे समान देश ही नहीं हैं, कारण यह कि जितना सत्ताजाति का विषय देश है उतना ही मनुष्यता अथवा ब्राह्मणत्व का नहीं है (अर्थात् सत्ताजाति गुणादिकों में भी रहने से सबसे अधिक देश में रहता है, मनुष्य व केवल मनुष्य शरीरों में रहता है, और ब्राह्मणता मनुष्यों में भी केवल ब्राह्मणों में रहती है न कि शूद्रादिकों में) ॥ ३० ॥

इस हेतु से भी शब्द व्यञ्ज्य नहीं है किन्तु कार्य है—

पदपदार्थः—संयोगात् = संयोग में, विभागात् च = और विभाग से, शब्दात् च = और शब्द में भी, शब्दनिष्पत्तिः = शब्द की उत्पत्ति होती है ॥ ३१ ॥

भावार्थः—संयोग, विभाग, तथा शब्द से भी शब्द की उत्पत्ति होती है इस कारण भी शब्दजग्य गुण है न कि अभिव्यग्य नित्य (स्थिर) यह सिद्ध होता है ॥ ३१ ॥

उपस्कारः—संयोग से अर्थात् भेरी और दण्ड के संयोगरूप असमवायिकारण से मेर्याकाशरूप समवायिकारण में शब्दरूप कार्य उत्पन्न होता है । तथा वास के फाड़ने पर वास के अवयवों के तथा आकाशके विभाग कर असमवायिकारण से वास में वर्तमान आकाशरूप समवायिकारण में शब्द कार्य उत्पन्न होता है । इस शब्द में संयोग प्रथम शब्द का कारण नहीं है, क्योंकि संयोग यहाँ पर नहीं है, इस कारण दोनों वास के अवयवों का परस्पर विभाग इस शब्द में निमित्त कारण है, दोनों वास के दलों का

कारणं दृष्टाकाशविभागश्चासमवायिकारणम् । यत्र च दूरे बीणादावुत्पन्न-
शब्दः तत्र सन्तानक्रमेण उत्पद्यमानः शब्दः कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नमाकाशदेशमा-
सादयन् गृह्यते तेन शब्दादपि शब्दनिष्पत्तिरिति ॥ ३१ ॥

अनित्यत्वे हेत्वन्तरं समुच्चिनोति—

सिद्धान्तानित्यः शब्दः ॥ ३२ ॥

वर्णरसमकः शब्दोऽनित्यः जातिमत्त्वे सति श्रोत्रमाहात्वात् बीणादिष्वनित्य-
दित्यर्थः ॥ ३२ ॥

इदानीं नित्यत्वे सिद्धान्तिनोक्तान् हेतून् दूषयितुमाह—

द्वयोस्तु प्रयुक्तयोरभावात् ॥ ३३ ॥

(हित्तो) का आकाश के साथ विभाग असमवायिकारण है । और वहाँ दूर बीणा-
आदि वाद्यों में शब्द उत्पन्न होता है वहाँ शब्दों के सन्तान (धारा) द्वारा शब्द से
शब्द इस प्रकार उत्पन्न होता हुआ शब्द कर्णरूप शष्कुली (गुप्तिषा के आकार वाले
कर्ण के आकाश प्रदेश में) प्राप्त हुआ शब्द भी सुना जाता है, इससे सिद्ध होता है,
कि शब्द से भी शब्द होता है । (यह प्रक्रिया अनिश्चित पद में नहीं हो सकती, अतः
शब्द अनित्य है न कि नित्य यह सिद्ध होता है) ॥ ३१ ॥

शब्द के अनित्य होने में दूसरा हेतु सूचकार देते हैं—

पदपदार्थ—सिद्धात् च = सावक हेतु होने से भी, अनित्य = अनित्य है, शब्दः—
शब्दगुण ॥ ३२ ॥

भावार्थ—और जातिविशिष्ट होते हुए स्वर्णेन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने के कारण वाद्यों
के ध्वनियों के समान वर्णरूप शब्द भी अनित्य है यह सिद्ध होता है ॥ ३२ ॥

उपरकार—ककारादि वर्णस्वरूप शब्द, अनित्य है, जातिमान् होते हुए स्वर्णेन्द्रिय
से प्रत्यक्ष होने के कारण, बीणादि वाद्यों के ध्वनि के समान (इस अनुमान से वर्णरूप
शब्दों में अनित्यता सिद्ध होती है) यह सूत्र का अर्थ है । (इस अनुमान के हेतु में
शब्दत्वजाति में अतिव्याप्ति दोषवारणार्थ जातिमत्त्वं विशेषण तथा आत्मादिको में सक्त
दोषवारणार्थ विशेष्य पद जानना) ॥ ३२ ॥

साम्प्रत शब्द की नित्यता सिद्ध करने के लिये पूर्वपक्षि-मत से सिद्धान्ती के हेतुओं
का सङ्गठन करने के लिए सूचकार पूर्वपक्षी के मत से तीन सूत्रों को दिखाते हैं—

पदपदार्थ—द्वयोः तु = किन्तु अध्यापक तथा शिष्य दोनों को, प्रवृत्तयोः = अध्या-
यन तथा अध्यापन कर्मों में प्रवृत्ति होने में, अभावात् = शब्द के अनित्य मानने से
अभाव होने समेता ॥ ३३ ॥

भावार्थ—यदि सिद्धान्ती के मत से शब्द को अनित्य (अस्थिर) माना जाय तो
अध्यापन तथा अध्यापन में जो शिष्य तथा गुरु की प्रवृत्ति होती है वह न होगी, अतः
शब्द नित्य है ॥ ३३ ॥

तुशब्दः पूर्वोक्तव्यवच्छेदकः पूर्वपक्षाभिप्रेत्यक्तव्यर्थः । द्वयोराचार्यान्तेयासि-
नोरध्यापनेऽध्ययने च प्रवृत्तिर्दृश्यते तस्या अभावात् अभावप्रसङ्गात् ।
अध्यापनं हि सम्प्रदानं सम्प्रदीयते गुरुणा शिष्याय वेदः स यदि स्थिरो भवति
तदा तस्य सम्प्रदानं सम्भवति । ननु सम्प्रदीयमानं गवादि दातृप्रतिप्रहीत्रोरन्त-
रात् उपलभ्यते, न न वेदादि गुरुशिष्ययोरन्तराले उपलभ्यत इति नाध्यापनं
सम्प्रदानमिति चेत् अन्तरालेऽपि तत्रस्थपुरुषश्रोत्रेण तदुपलम्भात् । किञ्चाध्या-
सादपि शब्दस्य नित्यता, यथा पञ्चकृत्यो रूपं पश्यतीति स्थिरस्य रूपस्याध्यासो
दृष्टः सथा दशकृत्योऽधोगोऽनुवाकः निशानिकृत्वाऽधोत इत्यध्यासः स्थैर्ये
शब्दस्य प्रमाणम् । सिद्धे च स्थैर्ये निनाशकानुपलब्धेः “तावत् काल स्थिरश्चैत-
नः पञ्चाशशयिष्यति” इति नित्यतैव पर्यवसन्नेति भावः ॥ ३३ ॥

हेत्यन्तर शब्दस्य नित्यत्वे आह—

प्रथमाशब्दात् ॥ ३४ ॥

उपस्कार—सूत्र में ‘तु’ यह शब्द से पूर्व में उक्त सिद्धांति के मत का निषेध करता
हुआ पूर्वपक्ष को सूचना करता है । दो गुरु तथा शिष्यों के अध्यापन और अध्ययन में
प्रवृत्ति होना दीखता है, वह सिद्धांति मत से शब्द की अनित्य (अस्थिर) मानने पर
न होगी । क्योंकि अध्यापन (पढ़ाना) है विद्या का सम्प्रदान, गुरु शिष्य को वेदशास्त्र
देता है, अतः यदि वेदशास्त्ररूप शब्द स्थिर (नित्य) हो तो उस वेदशास्त्ररूप शब्द
का दान हो सकता है, (अतः शब्द नित्य है अविध्य नहीं) यदि दिये जाने वाले गी,
सुवर्ण इत्यादि दान के पदार्थ दाता तथा प्रतिग्रहीता (दान लेने वाला) इन दोनों के
मध्य (बीच) में उपलब्ध होता है, किन्तु वेदशास्त्ररूप शब्द गुरु तथा शिष्य इन दोनों
के बीच में उपलब्ध नहीं होता इस कारण अध्यापन सम्प्रदान नहीं हो सकता । ऐसा
सिद्धांती कहे तो ऐसा नहीं, क्योंकि गुरु तथा शिष्य के मध्य में वहाँ बँटे हुए मनुष्य
को अवर्णमित्र से वेदशास्त्ररूप शब्द उपलब्ध होता ही है । तथा अध्यास (बार बार
आवृत्ति) से भी शब्द में नित्यता (स्थिरता) सिद्ध होती है, जैसे ‘पाँच बार रूप को
दीखना है’ ऐसा कहने से स्थिर ही रूप गुण का बार-बार दर्शन प्रतीत होता है, एवं
दस बार अनुवाक (मंत्रसमूह) का अध्ययन किया, बीस बार अध्ययन किया ऐसा कहने
में स्थिर ही अनुवादक मंत्रों का अध्यास शब्द की नित्यता (स्थिरता) में प्रमाण है ।

इस प्रकार शब्द में स्थिरता (नित्यता) सिद्ध होने पर शब्द का नाशक उपलब्ध
न होने में ‘उतने समय तक-स्थिर रहने वाले इस शब्द को पश्चात् कोन नष्ट करेगा’
इससे शब्द में स्थिरता (नित्यता) ही सिद्ध होती है यह सूत्र का भाव है ॥ ३३ ॥

शब्द की नित्यता में पूर्वपक्षी मत से दूसरा भी हेतु सूत्रकार देने है ।

पदपदार्थ—‘त्रिप्रथमा’-इत्यादि उरनिपद में प्रथमा शब्द होने से (शब्द
नित्य है) ॥ ३४ ॥

‘त्रिः प्रथमामन्याद् त्रिरुक्तमाम्’ इति प्रथमोक्तमयोः सामिधेयोऽस्ति हकारणं
स्थेय्यं विनाऽनुपपन्नमित्यर्थः ॥ ३४ ॥

शब्दनिर्णये द्वेयव्यवहारमाह—

सम्प्रतिपत्तिभावाच्च ॥ ३५ ॥

सम्प्रतिपत्तिः प्रत्यभिज्ञा मूलाभात् तत्सद्भावादिमर्थः । प्रतिपत्तिशब्दादेव
सद्विशेषस्य परमभिज्ञायाः स्थाभात् सम्पूर्वः सत्यत्वमाह । तन्मात्रं येष माया
मैत्रेणोपचारिता तादोयाममुभारति तमेव प्रत्येकं पुनः पुनः पठति उक्तमेव तत्पत्तं
पुनः पुनरभिपश्येत्येव तावत् परादि परकस्य त्वयोक्तं सदेवेदानीमपि मूले
स एवार्थं गकार द्वयमभिपश्येदभिज्ञायाः स्थाभात् स्थेय्यं शब्दमेति ॥ ३५ ॥

भाषार्थ—तथा एकादश अभिज्ञे प्रत्यक्षित करने वाले सामिधेयी नामक मन्त्रों से
प्रथम तथा अभिज्ञ मन्त्र के तीस बार उच्चारण किये बिना पूर्ववत् संख्या की रसति
न होने के कारण प्रथम तथा अभिज्ञ मन्त्र का तीस बार कहना भी शब्द के
परिवर्तना वशा में न बनने से भी शब्द की स्थिरता (निरवता) सिद्ध होती है ॥ ३४ ॥

उपसंहार—तीस बार प्रथम की वरणात् कहता है, तीस बार उत्तम (अभिज्ञ)
मन्त्र की इस उपनिषद् भाग के मन्त्र में प्रथम तथा अभिज्ञ दो सामिधेयी मन्त्रों का
तीस बार उच्चारण बिना मंत्रक्य शब्द के स्थिरता के नहीं बन सकता, अतः शब्द
स्थिर है यह सूत्र का अर्थ है ।

शब्द की स्थिरता में पूर्ववत्प्रतिपत्ति से और दूसरा हेतु सूत्र में देते हैं—

सद्वत्त्वार्थ—सम्प्रतिपत्तिभावात् अ = और प्रत्यभिज्ञा (पद्धिभाव) रूप ज्ञान
के साक्षात् से भी (शब्द स्थिर है) यह सिद्ध है ॥ ३५ ॥

भाषार्थ—जिस माया (वचनिक) अवस्था बलोक का मंत्र से उच्चारण
बिना, उसी का यह मंत्र नामक मनुष्य भी उच्चारण करता है, तथा वही यह गकार
है इत्यादि प्रत्यभिज्ञा के होने से भी शब्द स्थिर (स्थिर) है यह सिद्ध होता है ॥ ३५ ॥

उपसंहार—सम्प्रतिपत्ति प्रत्यभिज्ञा (पद्धिभाव) इसके भाव साक्षात् (सत्ता)
से यह सूत्र का अर्थ है । यहाँ अथवा प्रतिपत्ति (ज्ञान) इस शब्द ही से विशेष सामान्य
प्रत्यभिज्ञा का लाभ हो सकता है तो भी उपनिषद्पूर्वक सम्प्रतिपत्ति शब्द से शब्द की
स्थिरता (स्थिरता) साधित होती है । ऐसा होने से जिस ही माया (वचनिक) का
मंत्र नाम के गुरुत्व से उच्चारण किया उसी का यह भी उच्चारण करता है, उसी
बलोक की पढ़ना है, वही हेतु भी मन्त्र की बार-बार कहुता है, जिस माया को पुनः
कत पढ़िये कहा या उसी को दस समय भी कह रहे हो, वही यह गकार मन्त्र है
इत्यादि प्रत्यभिज्ञा के मत से शब्द में स्थिरता (स्थिरता) सिद्ध होती है ॥ ३५ ॥

सर्वातिमान् हेतून् दूषयन्नाह—

सन्दिग्धाः सति बहुत्वे ॥ ३६ ॥

सन्दिग्धा अनेकान्तिका इत्यर्थः । तदुक्तं—“विरुद्धासिद्धसन्दिग्धमलङ्कितं काश्यपोऽब्रवीत्” इति । तथा च बहुत्वे नानात्वेऽपि अध्ययनमभ्यासन प्रत्यभिज्ञानश्च दृष्टमित्यनेकान्तिकत्वं हेतूनाम् । तथाहि नृत्यमधीते नृत्यमभ्यस्यति द्विरनृत्यन् यदेव नृत्यं परुदकार्पौरैषमोऽपि तदेव करोषि यदेव नृत्यमेकेन चारणेन कृतं तदेवायमपि करोतीति नृत्ये दृष्टत्वात्, तस्य च कर्मविशेषस्य त्वयाऽपि स्थैर्यान्भ्युपगमनात् ॥ ३६ ॥

ननु पञ्चादशार्हणो अष्टाक्षरो मन्त्रः । त्र्यक्षरो मन्त्रः अष्टाक्षरोऽनुष्टुभित्यादि—सङ्ख्या कथं ? वर्णानामनित्यत्वे उच्चारणभेदेनानन्त्यसम्भवादित्यत आह—

इन पूर्वोक्त तीनों पूर्वपक्षी के मत में सूत्रों में दिये हुए शब्द की नित्यता के साधक सम्पूर्ण हेतुओं का एक ही सूत्र में सङ्गन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—सन्दिग्धा = सन्दिग्ध नामक अनेकान्तिक (दुष्ट) हैं, सति=होने से, बहुत्वे = अनेकत्व के ॥ ३६ ॥

भाषार्थ—पूर्वपक्षिमत से सूत्रों में दिये हुए ‘द्वयो प्रवृत्त्योरभावान्’ इत्यादि शब्द की नित्यता के साधक हेतु शब्द के अनित्य पक्ष में भी अध्ययनाभ्यासनादिकों की संगति हो सकने के कारण सन्दिग्ध व्यभिचारदोष के कारण सन्दिग्धानैकान्तिक दुष्ट हैं अतः उन हेतुओं से शब्द में नित्यता सिद्ध नहीं हो सकती ॥ ३६ ॥

उपस्कार—सन्दिग्ध है अर्थात् सन्दिग्ध अनेकान्तिक नामक दुष्ट हेतु हैं । सूत्र के सन्दिग्ध पद का सन्दिग्ध अनेकान्तिक अर्थ है, इसीसे प्रशस्तपादभाष्य में प्रशस्तदेव ने कहा है ‘विरुद्ध, असिद्ध और सन्दिग्ध ये तीन हेतु साधक नहीं होते अर्थात् ऐसे तीन प्रकार के दुष्ट हेतु होते हैं । ऐसा कश्यपगोत्री कणाद ने कहा है । ऐसा होने से शब्दों के बहुत अर्थात् अनित्य माना होने पर भी पूर्वोक्त अध्ययन, अभ्यास, प्रत्यभिज्ञा भी दिखाती है इस कारण पूर्वपक्षी ने शब्द की नित्यता के साधक दिये हुए सम्पूर्ण हेतुओं में व्यभिचारदोष होने से वे दुष्ट हेतु हैं । यह इस प्रकार है कि नृत्य सीखता है, नृत्य का ‘अभ्यास’ करता है, सो बार नर्तन किया, जो नृत्य पूर्वकाल में किया था वही नृत्य वर्तमान में भी तुम कर रहे हो, जो ही नृत्य याद में किया था यह मनुष्य भी वही नृत्य करता है, ऐसा भिन्न-भिन्न नृत्यों में भी अभ्यास देखने में आता है, जिस इस नृत्यरूप विशेष कर्म को पूर्वपक्षी भी नित्य स्थिर नहीं मानता ॥ ३६ ॥

वर्णों की अनित्यता पक्ष में यदि ऐसा है तो शब्द के उच्चारण के भेद से अनन्त : भेद हो सकने के कारण ‘पचास वर्ण हैं, आठ अक्षर का मन्त्र है, यह तीन अक्षरोंक

संख्याभावः सामान्यतः ॥ ३७ ॥

सङ्ख्यायाः पञ्चाशद्विंशद्वयाया भावः सङ्ख्यायाम् सामान्यतः कत्वगत्यादि-
जातित इत्यर्थः । ककारादीनामानन्त्येऽपि कत्वगत्याद्यवच्छिन्नानां पञ्चाशत्त्वं
त्रित्वमष्टत्वं वा द्रव्यगुणादीनामान्तर्गणिकभेदेनानन्त्येऽपि नवत्वचतुर्विंशति-
त्यादिवदिति भावः ।

ननु स एवायं गकार इति प्रत्यभिज्ञैव स्यैर्व्यसाधिका, न चैषा तीव्रो
गकारो मन्दो गकार इति प्रतीत्या विरुद्धधर्मं गोचरयन्त्या बाध्यते तीव्रत्वादे-
स्तथोपाधिकत्वात् । न चोपाधिभेदादपि भेदो माभूत् तर्हि जवादापिञ्जादि-
संयोगाग्नौलपोताविभावेन प्रथमान स्फटिकमणिरपि नाना, कृपाणमणिर्वर्णेषु

मत्र है, जवासरवाला अनुष्टुप् छन्द होता है, इत्यादिरूप सख्या का नियम कैसे होगा,
ऐसी यहा पूर्ववर्ती वा वा करे तो इनके समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं ।

पदपदार्थ—संख्याया = पचास आदि सख्या की, भावः = सत्ता, सामान्यता =
कत्वादि जातियों को लेकर सख्या का नियम सिद्ध होता है ॥ ३७ ॥

भावार्थ—कत्व, गत्व आदि पचास जातियों को लेकर पचास वर्ण हैं ऐसा व्यव-
हार होने के कारण उच्चारण भेद से आनन्त्य होने पर भी नियम हो सकता है, अतः
वक्त आनन्त्य को रूप दोष-न आयेगा ॥ ३७ ॥

उपस्कार—पचास, आठ आदि सख्या का भाव अर्थात् सङ्ख्याय (सत्ता) कत्व,
गत्व, घत्व आदि पचास जातियों को लेकर पचास वर्ण हैं, इत्यादि व्यवहार होता है
यह सूत्रका धर्म है ।

उच्चारण के भेद से ककार आदि वर्णों के अनन्त होने पर भी कत्व-गत्वादिजा-
तियों के मुक्त ककारादि वर्ण पचास, तीन तथा आठ हो सकते हैं जिस प्रकार पृथ्वी
आदि नवद्रव्यों के तथा रूप आदि चतुर्विंशति गुणों के घट-पट तथा लाल-पीला रूप
इत्यादि आन्तर्गणिक (भीतरी) द्रव्यगुणादिकों के अनन्त भेद होने पर भी द्रव्य
नव हैं गुण चतुर्विंशति ही हैं, ऐसा नियम होता है (इसी प्रकार यहा भी उच्चारण-
भेद से वर्णों की अनन्तता होने पर भी पचास आदि सख्या का नियम हो सकता है) ।

पूर्वपक्ष—'वही यह गकार है' यह प्रत्यभिज्ञा ही सब में स्थिरता (नित्यता) सिद्ध
करती है, इस प्रत्यभिज्ञा का यह गकार तीव्र है, यह मन्द है इस प्रकार तीव्रता तथा
मन्दतारूप विरुद्धधर्म (भेद) की विषय करनेवाले ज्ञान से बाधित नहीं हो सकता, क्योंकि
तीव्रता तथा मन्दता आदि धर्म उसमे स्वाभाविक नहीं हैं, किन्तु उच्चारणादि भेद से
ओपाधिक हैं । यदि उपाधि भेद से भी भेद (नानात्व) न माना जाय तो, जवादापिञ्ज
इत्यादि रक्त तथा नील और पीतवर्णों के पृथ्वी के समीप रूप उपाधि-भेद में नील,
रक्त, पीत आदि वर्ण रूप से भासित होने वाला ध्वेत स्फटिक जनि भी नानात्व से
प्रकाशित न होगा, इसी प्रकार नमकले सङ्ग, मणि तथा धातवः (धयना) में ऊँचा-

दीर्घादिभावेन भासमानं मुख्यमपि वा नाना न भासेत् । ननु कस्यायं तीव्रता-
धर्मो गकारोपाधिक इति चेन्न वायुधर्मो नादधर्मो ध्वनिधर्मो वा भविष्यति किं
तत्र विशेषित्तया । त्वयापि तारत्वादेः कत्वगत्वादिना परापरभावानुपपत्त्या
स्वाभाविकत्वाभ्युपगमादिति चेत् ।

मैत्रम् । उत्पन्नो गकारः, नष्टो गकारः श्रुतपूर्वो गकारो नास्ति, निवृत्तः
कोलाहल इत्यादिविरोधिप्रतीतो सत्यामपि चेत् इयं प्रत्यभिज्ञा न निवर्तते
सत्तास्या जातिविषयताकल्पमात् । अन्यथा व्यक्तिस्थैर्यमात्मभ्यमानायाग्रस्या
सत्यामुक्तविरोधिप्रत्यया एव नोत्पद्येरन् । न चायं वायुधर्मस्तद्वर्माणो नोत्रा-
विषयत्वात् । नापि नादधर्मः, नादो यदि वायुरेव तदा दोषस्योक्तत्वात् अन्यस्य
निर्णयस्तुभ्रशक्यत्वात् । नापि ध्वनिधर्मः, राक्ष्णादिध्वनित्वानुपलभ्यमानेऽपि गकारे

भीषा रूप से दिखाई देने वाला मुख भी नानारूप से प्रकाशित (मासूम) नहीं होगा ।
यदि कहो कि यह तीव्रता-मन्दता आदि शब्द' में प्रतीत होने वाले जिसके धर्म हैं
जिनको पूर्वपक्षी गकार आदि धर्म शब्दों की उपाधि है ऐसा मानता है तो पूर्वपक्षी
कहता है कि ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि यह तीव्रता तथा मन्दता रूप शब्दों की
उपाधि वायु का धर्म अथवा नाद (आवाज) या (ध्वनि) का धर्म होगा, इसमें
विरोध विचार की क्या आवश्यकता है । सिद्धांती भी तारत्वादि धर्मों को कत्व, गत्व
आदि धर्मों को लेकर परापरभाव (व्याप्य-व्यापक भाव) न हो सकने से स्वाभाविक
नहीं मानता (अर्थात् केवल तीव्रता मन्द ककार में नहीं है तीव्र में मन्दता नहीं है और
धीमी तीव्रता तथा मन्दता कुछ तीव्र तथा कुछ मन्द स्वर से कहे हुये ककार में हैं ।
इस प्रकार साक्यं दोष के कारण सिद्धांती को भी तीव्रता मन्दता औपाधिक
ही मानना होगा) ।

समाधान—मैत्र (ऐसा नहीं कह सकते हैं) क्योंकि 'गकार उत्पन्न हुआ, गकार
नष्ट हुआ, पुनःकाल में सुना हुआ गकार अब नहीं है, कोलाहल निवृत्त हो गया ।' इत्यादि
विस्मयता (नित्यता) के विरुद्ध ज्ञान रहने पर भी 'वही यह गकार है' इत्यादि
प्रत्यभिज्ञा न निवृत्त हो, तो उसकी गत्वादि जातिविषयक मान लिया जायगा कि
कसी गत्व जाति का यह गकार है । अन्यथा नहीं तो गकारादिवर्ण व्यक्तियों की स्थि-
रता (नित्यता) को विषय करने वाली 'वही यह गकार है' इस प्रत्यभिज्ञा के होने से
गकार नष्ट हुआ इत्यादि विरुद्ध ज्ञान ही न होगा । यह तीव्रतादि वायु का धर्म हो नहीं
सकता, क्योंकि वायु के धर्म श्रवणेन्द्रिय से ग्रहीत नहीं होते । न यह नाद का धर्म हो
सकता है, क्योंकि नाद शब्द का वायु ही धर्म हो तो दोष कहे दिया है, उससे अति-
रिक्त नाद शब्द का धर्म हो भी नहीं सकता । यह तीव्रतादि ध्वनिरूप शब्द का धर्म
भी नहीं हो सकता, क्योंकि सप्त आदि वाद्यों की 'ध्वनि के उपलब्ध न होने पर

सारस्वादिप्रतीतेः । स्वाभाविकत्वे तु न जातिसाङ्ख्यं गत्वादिव्याप्यस्य तस्य नानात्वाभ्युपगमात् । किञ्च शुक्सारिकाभनुष्यप्रभवेण गकारादिषु स्फुटतरा रूपभेदप्रथाऽस्ति, एवं स्त्रीपुंसप्रभवेण स्त्रीपुंसभेदप्रभवेण च, यतः काण्डपटाद्यावृता अपि शुकादयोऽनुमोयन्ते । औपाधिकत्वन्वयस्य नानुभूयमानोपाधिनिवन्धनं कुङ्कुमारुणा तरुणीतिवत् । नाप्यौपपत्तिकमौपाधिकत्वम् उपपत्तेस्तादृशप्रमाणस्याभावादिति सङ्क्षेपः ॥ ६० ॥

इति वैशेषिकसूत्रोपस्कारे शाङ्ख्ये द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ।
समाप्तश्चाय द्वितीयोऽध्यायः ।

श्री गकारादि वर्णों में तारता (ऊँचपन) इत्यादि की प्रतीति होती है । (यदि पूर्वपक्षी कहे कि नैयायिक गकारादिवर्णों में तारस्वादि धर्म स्वाभाविक ही मानेंगे जिससे अतार गकार में धर्ममान गत्व के अभाव वाले अकार में रहने वाले तारस्व, तथा गत्व के तार गकार में रहने से साकार्य दोष हो जायगा' ऐसी आपत्ति होगी, तो शंकरनिध इसका ऐसा समाधान करते हैं कि) स्वाभाविक पक्ष में उक्त जानिसाकार्य दोष नहीं हो सकता, क्योंकि गत्वादि जातियों की व्याप्य (भूयवृत्ति) तारस्वादि धर्म भिन्न-भिन्न माने जाते हैं । और एक बात यह भी है कि शुक् (लीला), सारिका (मैना) तथा मनुष्य इत्यादिकों में उच्चारण किये गकारादि वर्ण जो भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं, तथा स्त्री-पुरुष एवं उनके भी भिन्न-भिन्न प्रकार के प्राणिपक्षों से उच्चारण किये वर्ण में भी । अति स्पष्ट भेद मान होता है, क्योंकि वृक्षादिकों के व्यवधान होने से न दिखाई देने वाले भी शब्दका उच्चारण करने वाले शुक् सारिका तथा मनुष्योंका अनुमान किया जाता है । (अतः शब्द भिन्न-भिन्न नाना होने से अनिरय है) और केसर आदि की रक्तिमा से रक्त प्रतीत होने वाली कामिनी के समान शब्द में तारस्वादि धर्म औपाधिक है ऐसा मानने में किसी उपाधि का अनुभव नहीं होता, अतः तारस्वादि धर्म शब्द में औपाधिक है यह नहीं हो सकता । उपपत्ति-रहित होने औपाधिक शब्द का धर्म है ऐसा भी पूर्वपक्षी नहीं कह सकता, क्योंकि उपपत्ति अर्थात् शब्द में तारस्वादि धर्म की सत्ता में प्रमाण वह भी नहीं है, ऐसा संक्षिप्त सूत्रकार का अविश्रय है ॥३७॥

इस प्रकार शंकर निध ऊँच वैशेषिक सूत्रों की उपस्कार व्याख्या में द्वितीयाध्याय द्वितीयाह्निक समाप्त हुआ ।

तृतीयाध्याये प्रथमाह्निकम्

तदेवं द्वितीयाध्याये बहिर्द्रव्यपरीक्षामुपपाद्य चक्षुःश्रवणादिदानोमात्मपरीक्षाये
पीठमारचयितुमाह—

प्रसिद्धा इन्द्रियार्थाः ॥ १ ॥

इन्द्रियाणामर्था गन्धरसरूपस्पर्शरसज्ञा धातुैक्येन्द्रियमात्राः । तत्र 'श्रोत्रप्र-
हणो योऽर्थः स शब्द' इति शब्दप्रसिद्धौ दर्शितायामर्थाद् गन्धादौ स्वर्गपदार्थं
न्ते प्रसिद्धिर्दर्शितेत्यर्थः । तथाहि घ्राणग्रहणो योऽर्थः स गन्धः, रसनग्रहणो
योऽर्थः स रसः, चक्षुर्मात्रग्रहणो योऽर्थः तद्रूपम्, श्रवणन्द्रियमात्रग्रहणो योऽर्थः
स स्पर्शः । सर्वत्र आर्थशब्देन धर्मो भावभूत सच्यते तेन गन्धत्वादौ गन्धा
द्यभावे च नातिव्याप्तिः, तदेव घ्राणग्रहणवृत्तिगुणत्वाच्चान्तरजातिमस्य
गन्धत्वम् । एवं रसादावपि वाच्यम् तेन न त्रिन्द्रियगन्धाद्यनुपग्रहः ॥ १ ॥

पूर्वोक्त प्रकार से द्वितीयाध्याय में पृथिवी से दिशा तक 'बहिर्द्रव्यो' की परीक्षा का
उपपादन कर चक्षुःश्रवण के अनुसार साम्प्रत आत्मा रूप आन्तरिक द्रव्य की परीक्षा
करने के लिये भूमिका दिखाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—प्रसिद्धा = ज्ञात है, इन्द्रियार्थाः = इन्द्रियों से गृहीत होने वाले
गन्ध, रूप इत्यादि विषय ॥ १ ॥

भाषार्थ—श्रवणेन्द्रिय से गृहीत होनेवाला शब्द है इत्यादि रूप से गन्ध, रूप, रस,
स्पर्श तथा गन्ध विषयों का ज्ञान होता है यह सिद्ध है ॥ १ ॥

उपस्कार—गन्ध, रूप, रस, स्पर्श तथा शब्द बाह्य एकैक घ्राण, चक्षुः, श्रवण, श्रवण
तथा श्रोत्रेन्द्रिय से प्राप्य होने वाले इन्द्रियों के अर्थ हैं । उनमें 'श्रोत्रग्रहणो योऽर्थः स
शब्द' अर्थात् श्रवणेन्द्रिय से गृहीत होने वाला अर्थ (विषय) शब्द है इस पूर्वोक्त मुख से
शब्द की प्रसिद्धि (ज्ञान) दीखने से अर्थात् इसी प्रकार शब्द से लेकर श्रवणपर्वण
गुणों में प्रसिद्धि (ज्ञान) दीखता है यह मुख का अर्थ है । वह इस प्रकार है घ्राणे-
न्द्रिय से गृहीत होने वाला गुण गन्ध, रसनेन्द्रिय से गृहीत होने वाला गुण रस, चक्षुः-
न्द्रियमान से गृहीत होने वाला गुण रूप तथा तत्कृद्न्द्रिय से गृहीत होने वाला गुण
स्पर्श होता है । इन सब लक्षणों में अर्थ शब्द में धर्मों का ग्रहण करना जिससे गन्ध-
त्वादि जाति तथा गन्धादिकों के अभाव में भी घ्राणेन्द्रियादि-प्राप्तता होने पर भी
अतिव्याप्ति दोष न होना । ऐसा होने में घ्राणेन्द्रिय से गृहीत होने वाले गन्ध में वर्त-
मान गुणत्वकी व्याप्य गन्धत्वादि जाति का लक्षण्य होना गन्धादि का लक्षण है यह
सूचित होता है । इसी प्रकार रसादिकों का भी जातिघटित लक्षण करना, जिसमें

इन्द्रियार्थप्रसिद्धेरात्मपरीक्षायामुपयोगमाह—

इन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः ॥ २ ॥

हेतुलिङ्गमर्थान्तरस्य आत्मनः । इन्द्रियार्थेभ्य इति । इन्द्रियेभ्योर्धेभ्यश्च रूपादिभ्यस्तद्वद्भ्यश्च यदर्थान्तरम् आत्मा तस्य लिङ्गमित्यर्थः । यद्यपि ज्ञानमेव लिङ्गमिह विपक्षितम् तथाप्येन्द्रियार्थप्रसिद्धे रूपादिसाक्षात्कारस्य प्रसिद्धतरतया साद्रूप्येणैव किङ्कर्तव्यमुक्तम् । तथाहि प्रसिद्धिः कश्चिदाग्नित्वा कार्यत्वात् घटवत्

अप्रत्यक्ष परमाणु आदिको के गन्धादिको से लक्षण जाने से सम्बन्धित शेष न होगा ॥ १ ॥

इस इन्द्रियार्थप्रसिद्धि (इन्द्रिय के विषयों के ज्ञान) का प्रस्तुत आत्माकी परीक्षा में उपयोग सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—इन्द्रियार्थप्रसिद्धिः = इन्द्रिय के विषयों का ज्ञान, इन्द्रियार्थेभ्यः = इन्द्रिय तथा अर्थों (विषयों) से, अर्थान्तरस्य = अन्यपदार्थ का, हेतुः = कारण है ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रथम सूत्र में वर्णन किये इन्द्रियो से उत्पन्न रूपादि विषयों का ज्ञान इन्द्रिय तथा विषयों से भिन्न आत्मा रूप दूसरे पदार्थ का साधक है ॥ २ ॥

उपसर्कार—हेतु नाम लिङ्ग अर्थात् सिद्धि का कारण है दूसरे पदार्थ आत्मा का ('इन्द्रियार्थेभ्यः' ऐसी सूत्र का प्रतीक लेकर उसकी व्याख्या साकरमिथ करते हैं कि)—यक्षु आदि इन्द्रिय तथा रूप आदि गुण रूप अथ एव रूपादिमान् पुष्पिण्यादि द्रव्यों से भी जो पृथक् दूतरा पदार्थ आत्मा उसकी इन्द्रियार्थप्रसिद्धि लिङ्ग (साधक) है । (यहाँ पर पुष्पिण्यादि भूत द्रव्यों की अपेक्षा से इन्द्रियो में आत्माके समानरूपता रहने पर भी आत्मा से भेद है, तथा प्रत्यक्ष के विषय न होना इस समान धर्म से दिशा काल इत्यादिको के संग्रह करने के लिए भी 'इन्द्रियेभ्यः' ऐसा पृथक् कहा है । तथा यद्यपि इन्द्रियार्थ-प्रसिद्धि यहाँ पर पक्ष होने से उसे हेतु कहना अयुक्त है तथापि सूत्र में 'हेतु' पद का अनुमितिजनक परामर्श का विशेष्य यह अर्थ होनेसे पक्ष तथा हेतु का ऐक्य दोष न आवेगा) (इसी विषय को दूसरे प्रकार से साकरमिथ साक्षात्पूर्वक कहते हैं)—कि यद्यपि इन्द्रियार्थविषयक ज्ञान ही सूत्र के लिङ्ग पद से सूत्रकार को विवक्षित (कहने की इच्छा का विषय) है, तथापि इन्द्रियार्थ प्रसिद्धि अर्थात् इन्द्रियो के विषय रूपादि को का प्रत्यक्ष जो अत्यन्त प्रसिद्ध है उस रूप से लिङ्ग (हेतु) विवक्षित है अर्थात् सामान्यरूप से इन्द्रिय के विषयों के संपूर्ण ज्ञान पक्ष है, तथा अतिप्रसिद्ध रूपादि विषय प्रत्यक्ष ज्ञान हेतु है, अतः हेतु तथा पक्ष का ऐक्य न होना) (सूत्रोक्त इन्द्रियार्थ-प्रसिद्धि से आत्मा के साधक सामान्यजो दृष्टानुमान को आने साकरमिथ दिशाते हैं क)—इस प्रकार प्रसिद्धि (ज्ञान) किसी में व्यापित है, कार्य होने से, घट के समान, यद्यपि

गुणत्वाद्वा क्रियात्वाद्वा । सा च प्रसिद्धिः करणजन्या क्रियात्वात् छिदिक्रियावत् । यच्च प्रसिद्धे करणं तदिन्द्रियम् । तच्च कर्तृप्रयोष्यं करणत्वात् धास्यादिवत् तथा यत्रेयं प्रसिद्धिराश्रिता यः प्राणादीनां करणानां प्रयोक्ता स आत्मा ॥ २ ॥

ननु शरीरमिन्द्रियाणि वा प्रसिद्धेराश्रयोऽस्तु प्रसिद्धिं प्रति तदुभयान्वयव्यतिरेकयो र्मुक्तवत्त्वात् किं तदन्याश्रयकल्पनया । तथाहि चैतन्यं शरीरगुणः तत्कार्यत्वात् तद्रूपादिवत् । एवमिन्द्रियगुणत्वेऽपि वाच्यमित्याशङ्क्याह—

सोऽनपदेशः ॥ ३ ॥

अपदेशो हेतु तदाभासोऽनपदेशः । तथाच तत् कार्यत्व प्रदोषजन्यज्ञानादावनैकान्तिकत्वादनपदेश इत्यर्थः ॥ ३ ॥

गुणवान् सा क्रियाश्रय होने से । और प्रसिद्धि (ज्ञान) करण से उत्पन्न है, क्रिया होने से छेदन क्रिया के समान । जो इस प्रसिद्धि का करण है वही इन्द्रिय है । और वह करण, कर्त्ता से प्रयुक्त (प्रेरित) है, करण होने से, वासी (कुलहाडी) इत्यादि के समान तथा यह प्रसिद्धि (ज्ञान) जिस द्रव्य में आश्रित है तथा जो घ्राणेन्द्रियादि रूप करणों का प्रयोक्ता (प्रेरक) है वह आत्मा नामक द्रव्य है (इन सामान्यतोऽपानुमानों से पुनर्क आत्मारूप इन्द्रिय तथा अर्थों से भिन्न द्रव्य सिद्ध होता है) ॥ २ ॥

(तृतीय सूत्र का अवतरण देते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—शरीर अथवा इन्द्रियों को ही उक्त प्रसिद्धि का आश्रय मानेंगे, क्योंकि प्रसिद्धि (ज्ञान) होने में इन्द्रिय तथा अर्थों का अश्रय (इन्द्रिय तथा अर्थों के रहते ज्ञान का होना) तथा व्यतिरेक (इन दोनों के न रहते ज्ञान का न होना) अत्यन्त स्पष्ट है, तब इन्द्रिय और विषयों से ' भग्न आत्मा रूप द्रव्य ज्ञान का आधार मानने की क्या आवश्यकता है, इस कारण चैतन्य (ज्ञान) शरीर का गुण है उसका कार्य होने से, शरीर के रूप के समान (इस अनुमान से शरीर का गुण ज्ञान हो सकता है) इसी प्रकार ज्ञान इन्द्रियों का गुण है इस विषय में अनुमान कहा जायगा । इस बात के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—सः = वह (शरीर के गुणता का साधक कार्यत्व हेतु) अनपदेश = सत् हेतु नहीं है (दुष्ट हेतु है) ।

भावार्थ—ज्ञान, शरीर गुण है, कार्य होने से इस प्रकार शरीर को आत्मा मानने वाले चार्वाक का दिवा दृष्टा कार्यत्व हेतु दीप से ज्ये ज्ञान में कार्यत्व के रहने पर भी शरीर गुणता रूप साध्य न होने के कारण व्यभिचार-दोषग्रस्त होने से अनैकान्तिक है, अतः उससे ज्ञान शरीर का गुण है यह सिद्ध नहीं हो सकता ।

उपकार—अपदेश (हेतु) हेतु के समान आभास होने वाला (मालूम पड़नेवाला) अनपदेश, दुष्ट हेतु होता है । इसलिये पूर्वपक्षी चार्वाक से उक्त अनुमान में, दिवा दृष्टा शरीर कार्यत्वरूप दीपक से उत्पन्न धटादिविषयक ज्ञानादिकों में

ननु तत्कार्यत्वं चैतन्यत्वावच्छिन्नस्यैव कार्यत्वं विवक्षितं प्रदीपादीनाञ्च
समस्तमेव चैतन्यं न कार्यमिति न व्यभिचार इत्याशङ्क्याह—

कारणाज्ञानात् ॥ ४ ॥

शरीरकारणानां कर्त्तरणादीनां तदवयवानां वा अज्ञानात् ज्ञानशून्यत्वा-
दित्यर्थः । पृथिव्यादिविशेषगुणानां हि कारणगुणपूर्वकता दृष्टा तथा च शरीर-
कारणेषु यदि ज्ञान स्यात्तदा शरीरेऽपि सम्भाव्येत, न चेन्नम् । नन्वस्तु शरीर-

कार्यत्वहेतु होने पर भी शरीर का गुण न होने के कारण व्यभिचार-बोधवन्त होने में
अनैकान्तिक (व्यभिचारी) दुष्ट है ऐसा सूत्र का अर्थ है ॥ ३ ॥

यहां पर यदि तत्कार्यं शब्द का अर्थ चैतन्यत्वविशिष्ट कार्यता , अर्थात् ज्ञान में
वर्तमान शरीर की कार्यता) ऐसा अर्थ करने के कारण प्रदीपादिवर्ती का सम्पूर्ण ही
ज्ञान का कार्य नहीं होता इस कारण व्यभिचारदोष न होता । ऐसी जाबाब की दावा
करे अर्थात् ज्ञान, शरीर का गुण है, ज्ञाननिष्ठ शरीर का कार्य होने से, जो
शरीर-गुण नहीं होता वह ज्ञाननिष्ठ शरीर का कार्य नहीं होता, घट के समान
इस व्यतिरेकी अनुमान से जाबाब ज्ञान में शरीर-गुणत्व की दावा करे तो इसका
समाधान सूत्रकार करते हैं—

पदपदार्थ—कारणाज्ञानात् = शरीर के कारण अवयवों में ज्ञान न होनेसे ॥४॥

भावार्थ—यदि जाबाब के कथनानुसार शरीर के हस्तपाद आदि अवयवरूप
कारणों में ज्ञानगुण होता तो अवयवशरीर रूप कार्य में भी ज्ञान होता, क्योंकि कार्य
द्रव्य के विशेषगुण कारण के गुणों से उत्पन्न होते हैं, अतः यदि शरीर में ज्ञान हो
तो उनके हस्त पादादि अवयवरूप कारणों में ज्ञान गुण होने लगेगा, ऐसा नहीं है, अतः
ज्ञान शरीर का गुण नहीं है ॥ ४ ॥

उपकार—हस्त-पाद आदि शरीर के अवयवरूप कारण, अथवा उनके कारण
अवयव हथेली इत्यादिकों में अज्ञानात् अर्थात् ज्ञानशून्यता होने से यह सूत्र का अर्थ
है । (अर्थात् 'ज्ञान शरीर का विशेषगुण नहीं है पाकज न होते हुए कारण-गुणपूर्वक
न होने से, शब्द के समान' इस अनुमान से ज्ञानशरीर का गुण नहीं है यह सिद्ध
होता है, जाबाब से दिया हुआ शरीर-कार्यत्व रूप हेतु (मध्यव्ययक) अर्थात् शरीर-
गुणत्वरूप साध्यका साधक नहीं है ॥ (शंकरमिश्र आगे सूत्र का अभिप्राय कहते हैं
कि)—पृथिवी आदि द्रव्यों के रूपादि विशेषगुण कारण के गुणों से उत्पन्न होने के
कारण गुणानुसार होने हैं यह देखने में आता है, ऐसा होने से शरीर के अवयव
रूप कारणों में यदि ज्ञान हो तो शरीररूप कार्य में भी ज्ञान कार्य की सम्भावना हो
सकती है, किन्तु ऐसा नहीं है (अर्थात् हस्त-पादादि अवयवरूप शरीर के कारणों में
ज्ञान नहीं है) ॥ संक्षेप—शरीर के हस्त-पादादि अवयवरूप कारणों में भी ज्ञान
मान लेंगे । उत्तर—ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि एकमत न होने की आपत्ति आने

कारणेष्वपि चैतन्यमिति चेन्न ऐकमत्याभावप्रसङ्गान् । न हि बहुनाञ्चेतनानामेकमस्यैष्टदम्, करावच्छेदेनानुभूतस्य करच्छेदेऽस्मरणप्रसङ्गात्, यतो "नान्यत् स्मरत्यन्य" इति । किञ्च शरीरनाशे सत्कृतहिंसादिफलानुपभोगप्रसङ्गात् । न चैत्रेण कृतस्य पापस्य फलं मैत्रो भुङ्क्ते ततश्च कृतहानिरकृताभ्यागमश्च स्यात् ॥
ननु शरीरकारणेषु सूक्ष्ममात्रया भानमास्ति शरीरे ॥ स्फुटमतो नाकारणगुणपूर्वकता न चैकमत्यानुपपत्तिरित्याशङ्क्याह—

कार्येषु ज्ञानात् ॥ ५ ॥

यदि हि शरीरमूलकारणेषु परमाणुषु चैतन्य भ्यात् तदा तदारभ्येषु कार्येषु घटादिव अपि स्यात् । किञ्च पार्थिवविशेषगुणानां भव्यपार्थिववृत्तिसिद्धायां व्याप्तेः कार्येष्वपि घटादिषु चैतन्य स्यात् न च तत्र चैतन्यमुपलभ्यते इत्यर्थः ॥ ५ ॥

ये, कारण यह कि अनेक चेतन आत्माओं का एकरूप देवने में नहीं आता, तब हस्तरूप अवयव में अनुभव किये विषय का इस्तकण्ड होने पर स्मरण न होगा यह भ्रम आवृत्ति आवेगी क्योंकि 'नाम्यदृष्ट स्मरत्यन्यः' अर्थात् दूसरेसे देखे विषय का दूसरे को स्मरण नहीं होता (ऐसा नियम है) । तथा शरीर के नष्ट होने पर उसके हिंसादि रूप पापकर्म के दुःखमोक्षरूप फल भी शरीररूप आत्मा का पापा हो जाने से कालान्तर में या जन्मान्तर में जो होता है वह न होगा, क्योंकि चैत्र नामक पुष्पा से किये हुए पापकर्म का फल मैत्र नामक मनुष्य नहीं भोगता, और ऐसा होने से कृतपापादि कर्मों की हानि (फल न होना) तथा अकृत का आगम (न किये पापादि कर्मों के फल दुःखादिकों की प्राप्ति में दोनो दोष होने कृत्वा शरीर को आत्म मानने का चार्वाक-मत असंगत है) ॥ ४ ॥

शरीर के अवयवरूप कारणों में सूक्ष्मरूप से अधिक ज्ञान का भान होता है, और शरीर रूप कार्य अवयवों में स्पष्ट रूप से भान होता है, इसलिए अकारण गुण पूर्वकता दोष नहीं हो सकता है नहीं तो एकमत न होने का सिद्धांती से दिया दोष न सकता है इस चार्वाक के आक्षेप का सूत्रकार समाधान करते हैं—

पदपदार्थ—कार्येषु = मूलरूप कार्यों में, ज्ञानात् = ज्ञान होगा ॥ ५ ॥

भावार्थ—यदि मूलकारण परमाणुओं में ज्ञान होगा तो उनसे उत्पन्न घटादि कार्यों में भी ज्ञान होगा, ऐसा (घटादि कार्यों में ज्ञान है) यह देखने में नहीं आता, अतः चार्वाक का कहना असंगत है ॥ ५ ॥

उपस्कार—यदि शरीर के मूल कारण पार्थिव परमाणुओं में चैतन्य (ज्ञान) गुण होता तो उन पार्थिव परमाणुओं से उत्पन्न घट, पट आदि कार्यों में ज्ञान होता (ऐसा न होने से ज्ञान शरीरगुण नहीं हो सकता) । और पार्थिव रूपादि विशेष गुण सम्बन्ध पार्थिव द्रव्यों में रहते हैं ऐसा (व्याप्ति) नियम होने के कारण पार्थिव कार्य

ननु घटादावपि सूक्ष्ममात्रया चैतन्यमस्त्येवेत्याशङ्क्याह—

अज्ञानाच्च ॥ ६ ॥

सर्वैः प्रमाणैरज्ञानात् कुम्भादौ न चैतन्यमित्यर्थः । सर्वप्रमाणानोचरस्या-
त्यभ्युपगमे शशविषाणादेरप्यभ्युपगमप्रसङ्गः । न हि घटादौ चैतन्यं केनापि
प्रमाणेन ज्ञायत इति ॥ ६ ॥

ननु श्रोत्रादिभिः करणैरविष्ठात्वाऽनुमीयते इत्युक्तं, तद्युक्तम् न हि श्रोत्रा-
दिभिरात्मनस्तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्यो, न च तादात्म्यमन्तरेणाविनाभावसिद्धिः,
न चाविनाभावमन्तरेणानुमितिरित्यत आह—

अन्यदेव हेतुरित्यनपदेशः ॥ ७ ॥

रूप घटादिकों में भी ज्ञान होने लगेगा, किन्तु उनमें ज्ञान उपलब्ध नहीं होता यह सूत्र
का अर्थ है ॥ ५ ॥

घटादिकों में भी सूक्ष्मरूप से ज्ञान गुण है ही इस आर्वाक शका का सूत्र में उत्तर
देने हैं—

पदपदार्थ—अज्ञानात् अ = घटादिकों में ज्ञान न होने से भी ॥ ६ ॥

आचार्य—घटादिकों में किसी भी प्रमाण से ज्ञान उपलब्ध न होने के कारण सूक्ष्म
रूप से उनमें ज्ञान मानना भी आर्वाक का असंगत है ॥ ६ ॥

उपस्कार—सम्पूर्ण प्रत्यक्षादि प्रमाणों में ज्ञान न होने के कारण घटादिकों में
ज्ञान गुण नहीं है । यह सूत्रार्थ है । यदि सम्पूर्ण प्रमाणों से अतिथि भी विषय माना
जाय तो शशपशु को ज्ञान होने है यह भी मानना होगा यह आपत्ति आवेगी । क्योंकि
घटादि पदार्थों में ज्ञान गुण है यह किसी भी प्रमाण से ज्ञात नहीं है ॥ ६ ॥

‘श्रोत्रादि इन्द्रियरूप करणों से उनके अविष्ठाता (आश्रय) शरीरादि भिन्न आत्मा
द्रव्य का अनुमान होता है’ ऐसा सिद्धान्ती ने पूर्व में कहा है, यह अयुक्त है, क्योंकि
श्रोत्रादि इन्द्रियों से आत्मा का तादात्म्य (अनन्द) अथवा श्रोत्रादिकों से आत्मा की
उत्पत्ति इन दोनों में से एक भी नहीं है, और उन तादात्म्य अवस्था तदुत्पत्ति इन दोनों
को बिना अविना भाव (व्याप्ति) की मिडि नहीं हो सकती है और बिना व्याप्ति ज्ञान
के अनुमान नहीं हो सकता (अर्थात् तादात्म्य या तदुत्पत्ति ही अनुमानमें हेतु होते हैं)
इस पूर्वपक्षी के आशय के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अन्यत् एव = साध्य में भिन्न ही, हेतु = साधकलिङ्ग होता है, इति =
इस कारण, अनपदेश = तादात्म्य में हेतु दुष्ट हेतु है ॥ ७ ॥

आचार्य—तादात्म्य (अनन्द) से होने वाला हेतु दुष्ट होता है, क्योंकि हेतु
साध्य में भिन्न होता है, अर्थात् सिद्ध में साध्य का साधन करने के कारण साध्य के
अविद्येयता की आपत्ति आने से साध्य से अभिन्न हेतु नहीं हो सकता ॥ ७ ॥

हेतुः साध्यादन्य एव भवति न तु साध्यात्मा साध्याविशेषप्रसङ्गात्, तस्मात्तादात्म्यघटितो हेतुरहेतुरनपदेश इत्यर्थः ॥ ७ ॥

ननु भोत्रादिभिर्गिन्द्रियैरात्मनो यथा न तादात्म्यं तथा तदुत्पत्तिरपि नास्ति नहि बह्वे धूम इव आत्मनः श्रोत्रादिकरणमुपपद्यते इत्यत आह—

अर्थान्तरं ह्यर्थान्तरस्यानपदेशः ॥ ८ ॥

हि यत् कार्यं धूमादि यथा रासभादेरर्थान्तरान्तथा कारणाद्बहुयादेरप्यर्थान्तरमेव । तथा चार्थान्तरत्वाविशेषात् धूमो रासभं न गमयति किन्तु बह्विमेव गमयतीत्यत्र स्वभावविशेष एव नियामकः । न च स्वभावो यदि कार्यादन्यस्यापि भवति तदा सोऽप्यप्येशो भवत्येव । तथा च कार्यमविवक्षितस्वभाव-

उपस्कार—हेतु (लिङ्ग) साध्य अर्थ में भिन्न ही होता है, न कि साध्यस्वरूप क्योंकि साध्य के साथ अविवक्षितता (विशेष न होने की) आपत्ति आ आगयी, इस कारण अभेद-घटित हेतु दुष्ट हेतु होता है ॥ ७ ॥

'श्रोत्रादि इन्द्रियो से आत्मा का जिस प्रकार तादात्म्य (अभेद) नहीं है उसी प्रकार आत्मा से श्रोत्रादि इन्द्रियो की उत्पत्ति भी नहीं होती, क्योंकि बह्वि से धूम के समान आत्मा से श्रोत्रादिरूपकरण उत्पन्न नहीं होते, (अतः तदुत्पत्ति के कारण भी श्रोत्रादिकरणो से आत्मारूप वर्तों का अनुमान नहीं हो सकता' इस संका के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अर्थान्तरम् = दूसरा पदार्थ, हि = जिस कारण, अर्थान्तरस्य = दूसरे पदार्थ का, अनपदेश —साधक हेतु नहीं होता ॥ ८ ॥

भावार्थ—केवल साध्यरूप दूसरे पदार्थ का हेतु रूप दूसरा पदार्थ साधक हेतु नहीं हो सकता, अतः कोई स्वभाव विशेष ही साध्य को सिद्ध करने में हेतु का सम मानना होगा, वही उपाधि-राहित्य रूप व्याप्ति है ऐसा आगे सिद्ध करेंगे ॥ ८ ॥

उपस्कार—हि (जिस कारण) धूमादिरूप कार्य जिस प्रकार रासभ आदि पदार्थों से भिन्न पदार्थ है उसी प्रकार धूम के कारण बह्वि आदिको से भी भिन्न ही है ऐसा होने से भिन्न पदार्थ होना समान होने से धूम रासभ की अनुमान से सिद्ध नहीं कराता किन्तु बह्वि की ही अनुमान से सिद्ध करता है इस विषय में अनोपाधिकत्व (उपाधि-राहित्य), अथवा सामानाधिकरन्ध्र्य में एक आश्रय में हेतु तथा साध्यका रहना रूप-विशेषस्वभाव ही नियम करने वाला है और वह स्वभाव यदि कार्यसे भिन्न में भी होता है तो वह भी साधक हेतु होता ही है । इससे यह सिद्ध होता है कि उक्त के स्वभाव विशेष की अपेक्षा न रखने वाला हेतु साध्यसाधक नहीं हो सकता । अतः तादात्म्य (अभेद) तथा तदुत्पत्ति (कार्यकारणभाव) ही अविनाभाव (व्याप्ति) है, इन्हीं दोनों का व्याप्ति स्वरूप में पर्यवसान (परिणाम) होता है इन्हीं दोनों के समान

भेदम् अनपदेश' । तथा च तादात्म्यतदुत्पत्तो एवाविनाभावः तयोरेवाविना-
भावपर्यवसानम् ताभ्यां समानोपायो वा तदुभयमात्रप्रहाधोनप्रहो वेति
स्वशिष्यव्यामोहनाय परिभाषामात्रमिति भावः ॥ ८ ॥

सम्प्रत्यविनाभावस्य तदुभयव्यभिचारमेव स्फुटयितुमाह—

संयोगि समवाय्येकार्थसमवायि विरोधि च ॥ ९ ॥

शरीरं त्वग्वद् शरीरत्वादित्यर्थं हेतुं संयोगी । वृद्धिक्षयवद्द्रव्यसहजावरणं
हि त्वगित्युच्यते । तच्च न शरीरस्य कार्यं कारणं वा, किन्तु सहोत्पत्तिकमात्रं
नियतसंयोगवत् । एवं समवायि यथाकाश परिमाणवद् द्रव्यत्वात् घटादिव-
दिति । अत्र परिमाण साध्यं द्रव्यत्वेनाकाशसमवायिना धर्मेण साध्यते । यद्वा

उपाय वाला अविनाभाव होता है अथवा इन्ही दोनों के घट्टणभाव से ग्रहीत होनेवाला
हवादि बुद्ध गौणम का अपने दिष्यो की बुद्धि को मोहित करने मात्र के लिये बौद्ध
दर्शनों में उपदेश होने से केवल यह बौद्ध-दर्शन की परिभाषा है ॥ ८ ॥

मात्रत अविनाभाव (व्याप्ति) पक्ष में तादात्म्य तथा तदुत्पत्ति के व्यभिचार
को स्पष्ट करने के लिये सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—संयोगिसंयोगसम्बन्धवाला, समवायि = ससंवायसम्बन्धवाला,
एकार्थसमवायि=एकपदार्थ भी समवाय सम्बन्ध वाला, विरोधि च = और विरोध
वाला भी (लिङ्ग होता है) ॥ ९ ॥

भावार्थ—संयोग सम्बन्ध का आधार, समवाय सम्बन्ध का आधार तथा एक पदार्थ
में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला तथा विरोध वाला भी साध्य साधक लिङ्ग होता
है, जिनमें तादात्म्य तथा तदुत्पत्ति का व्यभिचार स्पष्ट है, अत बौद्धों का इन्ही दोनों
की व्याप्ति का नियामक मानना अशुक्त है ॥ ९ ॥

उपस्कार—‘शरीर, त्वगिन्द्रिय वाला है, शरीर होने से’ इस अनुमान में यह शरीर-
त्व हेतुक संयोगी हेतु है । क्योंकि वृद्धि तथा नाश वाले शरीर रूप द्रव्य का
रसाभाविक आवरण (ढापने वाले) की त्वक्-धर्म ऐसा कहते हैं । और वह शरीर का
कार्य या कारण नहीं है, किन्तु नियत संयोग के समान केवल साथ में उत्पन्न
होता है, इसी प्रकार ‘आकाश, परिमाण का साध्य है द्रव्य होने से घट
के समान’ इस अनुमान में परिमाण गुण साध्य है जो आकाश में समवाय सम्बन्ध
से वर्तमान द्रव्यत्व हेतु से सिद्ध किया जाता है अत द्रव्यत्व समवायि हेतु है । अथवा
परिमाण गुण का ‘तर-तमयाव’ अधिक तथा अति अधिक भाव कही विश्रान्त है, इस
अनुमान से अनु रूप परिमाण विशेष सिद्ध होता है, उगते उस अनु परिमाण के
आधार परमाणु द्रव्य की सिद्धि होती है (अर्थात् ‘अणुपरिमाण, कहीं आधित है,
परिमाण होने से आकाश के परमहूत परिमाण के समान’ इस समवायि लिङ्ग वाले

परिमाणानारत्नस्य क्वचिद्विश्रान्तमित्यनेनाणुत्वं परिमाणविशेषः सिद्धः । तेन तदा-
श्रयः परमाणुः अनुमोयते । शब्दादिना स्वाकाशस्य, ज्ञानादिना स्वाभिनोऽनुमानं
कार्येणैव कारणानुमानमिति नोदाहृतम् ॥ ९ ॥

एकार्थसमवायिनः सूत्रमुदाहरति—

कार्यं कार्यान्तरस्य ॥ १० ॥

कार्यं रूपं कार्यान्तरस्य स्पर्शस्य लिङ्गम् । उपलक्षणश्चेतत् अकार्यमव्याका-
शैक्यम् आकाशैकपृथक्त्वे लिङ्गम् । एव परममहत्त्वे ॥ १० ॥

विरोधिलिङ्गमुदाहरति—

विरोध्यभूतं भूतस्य ॥ ११ ॥

अभूतं वर्षं, भूतस्य घाट्यध्रंसंयोगस्य लिङ्गम् । एवं स्फोटादेर्विरोधी मन्त्र-
पाठः । तथा चाभूतमनुत्पन्नं स्फोटादि भूतस्य मन्त्रपाठस्य लिङ्गम् ॥ ११ ॥

अनुमान से इनके के साथ की सहायता से परमाणु की सिद्धि होती है । इससे तादात्म्य
तथा तत्सुपत्ति के न रहने से उनका व्यवहार स्पष्ट ही है ।) (आगे चलकर मिथ
सूत्र की ग्यूनता का परिहार करने के लिये कहते हैं कि) अग्नादि गुणों में आकाश इव
का तथा ज्ञान-सुखादि गुणों से आत्म इव का अनुमान तो धूम से बह्नि के अनुमान
के समान कार्य ही से कारण का अनुमान है, अतः सूत्र में उसका उदाहरण नहीं
दिया है ॥ ९ ॥

एकार्थसमवायिलिङ्ग का सूत्रकार स्वयं उदाहरण देते हैं—

पदपदार्थ—कार्यं = रूपस्वरूप कार्यं, कार्यान्तरस्य = दूसरे स्वयं रूप कार्य का,
लिङ्ग = लिङ्ग (साधक) होता है । (अर्थात् रूपादि गुणों में स्पर्शादि का अमेद तथा
रूपकार्यता भी स्पर्श में न होने से व्याप्ति पदार्थ में तादात्म्य तथा तत्सुपत्ति अवश्य
होती है यह शीर्षों का मन बाधित हो जाता है ।) यह रूप से स्पर्श का साधन कार्य न
होने पर भी आकाश की एक संख्या आकाश में वर्तमान एक पृथक्गुण की साधक
लिंग होती है यह भी सूचित करता है । इसी प्रकार आकाश के परममहत्परिमाण में
भी साधक होता है ॥ १० ॥

विरोधिलिङ्ग का सूत्रकार उदाहरण देते हैं—

पदपदार्थ—विरोधी लिंग है, अभूत = न मया द्रवा, भूतस्य = मये द्रव का ॥ ११ ॥
भावार्थ—वर्षा के न होने से होने वाली वर्षा के प्रतिबन्ध करने वाले वायु तथा
मेघों के संयोग रूप साध्य के ज्ञान में वर्षा का न होना विरोधि लिंग का उदाह-
रण है ॥ ११ ॥

उपस्कार—अभूत (न मई हुई) वर्ष (वर्षा) भूत (होने वाले) वायु तथा मेघों के
संयोग रूप प्रतिबन्धक का लिङ्ग है । इसी प्रकार स्फोट (विष् का फोडा) इत्या-

विरोधिलिङ्गस्योदाहरणान्तरमाह—

भूतमभूतस्य ॥ १२ ॥

भूत स्फोटादिकम् अभूतस्य मन्त्रपाठस्य लिङ्गम् । एवं भूतो वाय्वध्रतं-
योगोऽभूतस्य वर्षस्य लिङ्गम् । एवं भूतो दाहोऽभूतस्य मण्यादिसमवधानस्य
लिङ्गमेवमन्यदप्यूहम् ॥ १२ ॥

लिङ्गान्तरमुदाहरति—

भूतो भूतस्य ॥ १३ ॥

विद्यमानेनेव विरोधिना विद्यमानस्यैव विरोधिः कचिदनुमानम् यथा
विस्फूर्जन्तमहिं दृष्ट्वा भ्रातान्तरितस्य नकुलस्य । अत्र हि विस्फूर्जन्नहिर्भूतो

दिको का मन्त्रपाठ विरोधी लिङ्ग है । इसमें न देखा हुये विष के फोड़े भये हुए मन्त्र
पाठ का लिङ्ग है अर्थात् मन्त्रपाठ करने से विष के फोड़े नहीं होने इसलिये विष के
फोड़ों का न होना भये हुए मन्त्रपाठ का विरोधी लिङ्ग है ॥ ११ ॥

विरोधिलिङ्ग का दूसरा उदाहरण सूचकार देने है—

पदपदार्थ—भूत = भया हुआ, अभूतस्य = न भये हुये का विरोधी (साधक
होना) ॥ १२ ॥

भावार्थ—विष के फोड़ों का होना, न होने वाले मन्त्रपाठ का विरोधी लिङ्ग
है ॥ १२ ॥

उपस्कार—भूत (भया हुआ) विष का फोड़ा इत्यादि, न भये हुए मन्त्रपाठ
का विरोधी लिङ्ग है । इसी प्रकार भया हुआ वायु तथा मेषका प्रतिशपक समीप
अभूत (नहीं आई हुई) वर्ष का विरोधी लिङ्ग है । इसी प्रकार दाहुरूप विरोधी
कार्य न रहने वाले चन्द्रकान्तर्माण आदि के सानिध्य का विरोधी लिङ्ग है । इसी
प्रकार दूसरे भी विरोधी लिङ्ग के उदाहरण स्वयं जान लेंना ॥ १२ ॥

सूचकार दूसरा लिङ्ग भी देते हैं—

पदपदार्थ—भूत = विद्यमान, भूतस्य = विद्यमान का (विरोधी लिङ्ग होता
है ॥ १३ ॥

भावार्थ—अविद्यमान विरोधी के समान न विद्यमान ही विरोधी से कही २
विद्यमान विरोधी का अनुमान होता है, जैसे 'फुफकारने वाले विद्यमान सर्प' को देखनेसे
साड़ी के बाढ़ में रहने वाले विद्यमान नेवले का अनुमान, इसमें विद्यमान ही सर्प का
विरोधी विद्यमान नेवले का साधक लिङ्ग है ॥ १३ ॥

उपस्कार—विद्यमान ही विरोधी से विद्यमान ही विरोधी का भी कही
अनुमान होता है । जिस प्रकार फुफकारने वाले सर्प को देखकर साड़ी के बाढ़ में
रहने वाले नेवले का अनुमान । इस अनुमान में फुफकारने वाला सर्प भूत नाम विद्य-

विद्यमानो द्वादान्तरितो नकुलोऽपि विद्यमान एवेति भवति भूतो भूतस्य लिङ्ग-
मित्यर्थः । वर्षवाय्वध्रसयोगस्य तु नैकस्मिन् काले विद्यमानता न वा स्फोट-
मन्त्रपाठयोरिति ॥ १३ ॥

इदानीं परिगणनस्य प्रयोजनमाह—

प्रसिद्धिपूर्वकत्वादपदेशस्य ॥ १४ ॥

प्रसिद्धिं स्मर्यमाणा व्याप्तिः, अपदेशो हेतुवचनं, तेन स्मर्यमाणव्याप्ति-
विशिष्टो हेतुर्हेतुवचनोपनयावयवेन बोध्यते इति भवति प्रसिद्धिपूर्वकोऽपदेश
इति । तथाच श्रोत्रादिना करणेनाधिष्ठातुं, ज्ञानादिना च गुणेन सदाश्रयस्यात्म-
नोऽदनुमानमुक्तं तत्र सर्वत्र व्याप्तिरस्ति, त्वया तु शरीरकार्यत्वेन हेतुना
ज्ञानस्य चक्षुरोरगुणस्य साधितं तत्र न व्याप्तिरिति भावः ।

मान है, तथा दाढी के आड़ में रहने वाला नेबला भी विद्यमान है इस कारण विद्य-
मान विरोधी विद्यमान साध्य का साधक लिङ्ग है यह सूत्र का अर्थ है । पूर्व विरोधी
उदाहरणों में वर्षा तथा वायु और मेघ का प्रतिबन्धक संयोग एक काल में विद्यमान
नहीं है, अथवा विष के फोड़े तथा मन्त्रपाठ एक काल में विद्यमान नहीं हैं इति—यह
विशेष है ॥ १३ ॥

सांप्रत संयोगी आदि हेतुओं की गणना करने का सूत्रकार प्रयोजन कहते हैं—

पदपदार्थ—प्रसिद्धिपूर्वकत्वात् = व्याप्तिपूर्वक होने से, अपदेशस्य = हेतु के
(व्याप्तिविशिष्ट ही हेतु होता है) ॥ १४ ॥

भाषार्थ—साधक हेतु व्याप्तिस्मरणपूर्वक ही साध्य की सिद्धि कर सकता है,
अतः उसे ऐसे हेतुओं के प्रकार कितने हैं यह संयोगी आदि सूत्र में गणना की है, अतः
सिद्धांती से बिधे हुए श्रोत्रादिकरणों से आत्मारूप कर्ता के अनुमान से सर्वत्र व्याप्ति
होने से साध्य सिद्धि हो सकती है किन्तु 'शरीर कार्यत्व रूप हेतु से ज्ञान गुण शरीर
का है, इस चार्वाक के अनुमान में व्याप्ति नहीं हो सकती ॥ १४ ॥

उपस्कार—स्मरण की हुई व्याप्ति सूत्र के प्रसिद्धि शब्द का अर्थ है । तथा अपदेश
शब्द का अर्थ है हेतु का वचन, इस से स्मरण की हुई व्याप्ति से विशिष्ट (युक्त)
हेतु हेतुरूप अवयव अथवा उपमेय रूप अवयव कहा जाना है इस कारण प्रसिद्धि
(व्याप्ति) पूर्वक अपदेश हेतु होता है ऐसा सूत्र का अर्थ है । ऐसा होने ॥ श्रोत्रेन्द्रिय
इत्यदि कारणों से उनके अधिष्ठता, तथा ज्ञान-सुख इत्यादि गुणों से उनके व्यापार-
आत्मा द्रव्य का जो अनुमान पूर्वग्रन्थ में कहा गया है उस सम्पूर्ण अनुमानों में व्याप्ति
है, और आप (चार्वाक) ने शरीर कार्यत्व रूप हेतु से ज्ञान शरीर का गुण यह
जो अनुमान से सिद्ध किया उसमें व्याप्ति नहीं है । अतः उससे ज्ञान में शरीर की

ननु केयं व्याप्तिः ?

न तादृशव्यभिचारिनः सम्बन्धः अव्यभिचारस्य साध्यात्यन्ताभावसामानाधिकरण्यानधिकरणत्वस्य केवलान्वयिन्यप्रसिद्धेः । साध्यानधिकरणत्वस्यापि केवलान्वयिन्यसम्भवात् धूमादेरपि यत्किञ्चित्साध्यानधिकरणाधिकरणत्वात् ।

नात्पयिनाभावः । स हि साध्यं विनाऽभावो वा हेतोः, अविनासाध्यान्वये सति भावो वा ? धूमस्यापि क्वचिद्भासभावावेऽभावात्, रासभसत्त्वे सत्त्वाच्च नियतव्यतिरेको नियतश्चान्वयो विवक्षित इति चेत्, न नियमस्यैव निरूप्यमाणत्वात् ।

नापि कास्तेन सम्बन्धः स यदि कृत्स्नस्य साध्यस्य साधनसम्बन्धः, स

पुणता सिद्ध नहीं हो सकती—प्रश्न—यह व्याप्ति क्या है ? उत्तर—भीमासको को अभिमत व्यभिचाररहित सम्बन्ध कर व्याप्ति नहीं हो सकती क्योंकि साध्य के अन्वयताभाव (बल्लभभाव) की जिसमें एक अधिकरण (जलाशय) में वर्तमानता हो मीन उसकी आश्रयता धूम में न होना यही है अव्यभिचार जो 'पटो बाधः अप्रमेयत्वात्' इस केवलान्वयि अनुमानमें वाच्यता का अभाव संसारके किसी पदार्थ में न होने से अप्रसिद्ध है । (यहां पर 'द्रव्य सत्त्वत्' इस अनुमान में सत्ता वाति से द्रव्य को लेकर द्रव्यत्व के अभाव की सामानाधिकरणता नहीं है ऐसी प्रतीति होने से अव्याप्यवृत्ति द्रव्यत्वाभाव के सामानाधिकरण्य की मत्ता जाति में अभाव होने के कारण अतिव्याप्ति दोष के कारण नाध्याप्यताभाव न कहकर साध्याप्यताभाव सामानाधिकरण्याधिकरणता का अभाव किया है, अव्याप्यवृत्ति की अधिकरणता अव्याप्यवृत्ति न होने से अतिव्याप्ति दोष निवृत्त हो जाता है यह जानना) ।

(इस प्रकार भीमासको को अभिमत व्याप्ति का खण्डन कर सिद्धान्तोक्त व्याप्ति लक्षण का खण्डन करते हुए चकर मिश्र कहते हैं) कि साध्य के अनाश्रय की अपारता न होना रूप (अर्थात् साध्य के अधिकरणता के अभाव के व्यापक अयोग्याभाव की प्रतियोगिता के अक्लृष्टदृश्य अथवा साध्यवान् के भेद के व्यापक अयोग्याभाव के प्रतियोगितावच्छेदकलक्ष साध्यानधिकरणतानधिकरणत्व जैसे बल्लि के अनाश्रय जलाशय की अनाश्रयता धूम में है ऐसे दोनों प्रकार के लक्षण भी पूर्वोक्त केवलान्वयि अनुमान में साध्य का अनधिकरण अप्रसिद्ध होने से तथा धूमादि हेतु में भी किसी एक महानसादिवल्लि के अनाश्रय पर्वत में धूम की वर्तमानता होने से भी अव्याप्ति दोष आवेगा (अर्थात् साध्यवद्भूत और साध्याधिकरणत्वाभाव इन दोनों का लक्षण में सामान्याभाव रूप से निवेश करने से पूर्वोक्त केवलान्वयि में अनुमान और यत्किञ्चित्साध्यवद्भूतादिको का निवेश करने से बल्लिमान् धूमादित्यादि अनुमान में अप्रसिद्धि होगी ।

(इस प्रकार सिद्धान्तोक्त लक्षण का खण्डन कर बीदोक्त व्याप्ति का खण्डन करते

विषमव्याप्ते धूमादावपि नास्ति । अथ कृत्स्नस्य साधनस्य साध्यसम्बन्धः, सोऽप्येकस्य साध्यस्य कृत्स्नसाधने सम्बन्धाभावादनुपपन्नः । अथ कृत्स्नस्य साध्यस्य कृत्स्नेन साधनेन सम्बन्धः, एतदप्ययुक्तम् न हि कृत्स्नेन साधनेन कृत्स्नस्य साध्यस्य कश्चिदपि सम्बन्धः सम्भवति, प्रत्येकमेव साध्यसाधनयोः सम्बन्धात्, विषमव्याप्ते चाव्याप्ते ।

नापि स्वाभाविकः सम्बन्धः । स्वभावो हि स्वस्य भावो वा त्वमेव भावो

है) कि अविनाभाव (वल्लिख्य साध्य के बिना धूम रूप हेतु का न होना) भी व्याप्ति पदार्थ नहीं हो सकता, क्योंकि वह अविनाभाव क्या साध्य के बिना हेतु का न होना है [अथवा 'अविना, साध्य का सम्बन्ध रहते हेतु का होना है । कही २ रासम के न रहने पर धूम का अभाव होता है, तथा रासम के रहने धूम रहता है (अतः इसकी व्याप्ति हो जायगी)] (यदि इस दाव के वारणार्थ बोध कहे कि)—नियमित व्यतिरेक तथा नियमित अवयव भी अविनाभाव शब्द से यहाँ विवक्षित है अतः धूम और रासम के सवत्र अवयव तथा व्यतिरेक के न होने से उनका अविनाभाव न होगा) (तो शकरमिश्र कहते हैं कि) ऐसा नहीं क्योंकि नियम ही क्या है । यही तो आगे निरूपण करना है ।

(न्यायलीलावलीक, २ बल्लभाचार्य को अभिमत व्याप्ति का खण्डन करते हुए शकर मिश्र कहते हैं कि)—कारण्येन संपूर्ण रूप से सम्बन्ध होने की व्याप्ति कहने हैं । (यह भी नहीं कह सकते क्योंकि)—वह सम्बन्ध यदि संपूर्ण साध्यों का साधन के साथ सम्बन्ध लिया जाय तो, वह विषम व्याप्ति (जहाँ २ धूम हैं वहाँ वही वल्लि है । ऐसी व्याप्ति होने पर भी जहाँ २ बाहू है वहाँ २ धूम है ऐसी व्याप्ति न होने से) वाले धूमादि हेतु में भी नहीं है । और यदि संपूर्ण हेतुओं का साध्य के साथ सम्बन्ध माना जाय, तो वह भी नहीं हो सकता, क्योंकि एक साध्य का संपूर्ण हेतुओं में सम्बन्ध नहीं होता । और यदि संपूर्ण साध्यों का संपूर्ण साधनों के साथ, सम्बन्ध माना जाय तो यह भी अयुक्त है, क्योंकि कही भी संपूर्ण साधनों के साथ संपूर्ण साध्यों के साथ सम्बन्ध नहीं होता, परन्तु वल्लि तथा पर्यंतीय धूम इस प्रकार प्रत्येक साध्य तथा साधन का सम्बन्ध होता है, और विषम व्याप्ति वाले धूमादिकों में भी संपूर्ण साधन के साथ संपूर्ण साध्य का सम्बन्ध न होने से अव्याप्ति दोष भी जा जायगा ।

(इस प्रकार वाचस्पतिमिश्र को अभिमत व्याप्ति का खण्डन करते हुए शकर मिश्र कहते हैं कि) यहाँ पर वाचस्पति मिश्र का यह भाव है कि सामानाधिकरण्य रूप सम्बन्ध वल्लिनिरूपित धूम में स्वाभाविक है, किन्तु वल्लि में धूम सामानाधिकरण्य आश्रय प्रयुक्त होने से औपाधिक है अतः अतिव्याप्ति दोष न होगा) स्वाभाविक सम्बन्धको भी व्याप्ति नहीं कह सकते । क्योंकि अपना भाव (धर्म) स्वभाव दाव का

वा, सत्र तज्जन्तस्त्वञ्चेत्तद्वितार्थः, तदा समवायलक्षणायां व्याप्तावव्याप्तेः । तदा-
श्रितस्त्वञ्चेत्तद्वितार्थः, तदापि समवायेऽव्याप्तिः, न हि समवायः कचिदाश्रितः
संयोगस्यापि हेतुधर्मधूमत्वाद्यजन्मत्वाच्च ।

नात्यन्तौपाधिकः सम्बन्धः । उपाधेरेव दुर्बलत्वात् । सुवचत्वेऽपि दुर्बलत्वात्,
सुप्रहृत्वेऽप्यन्योन्याश्रयात् । साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वादेर्व्याप्तिम-
होचीनप्रदत्वात् ।

नापि सम्बन्धमार्धं व्याप्तिः । व्यभिचारिसम्बन्धस्यापि देशविशेषकालविशेष-

अर्थ है, अथवा स्वस्वरूपभाव । उसमें स्वभाव शब्द में मया हुआ 'उत्पत्त्यर्थ' रूप
तद्वित का यदि 'जन्मता' उत्पत्ति अर्थ लिया जाय तो समवायरूप निरव्याप्ति में
लक्षण न जाने से अव्याप्ति दोष आ जायगा । यदि स्वभाव के आश्रित ऐसा तद्वित
का अर्थ करें तो उक्त दोषवारण होने पर भी (अर्थात् स्वत्व भाव इत्यादि प्रवर्णित
दोनों प्रकार की व्युत्पत्ति से हेतुताच्छेदक और हेतुस्वरूप दोनों कल्पों में भी 'भावः'
इत पद में 'दिक्' प्रत्यय का 'जन्मता' पक्ष में 'सत्तावान् द्रव्यत्वात्' इत्यादि अनुमानों
से अव्याप्ति दोष दिलाकर 'आश्रितत्व' पक्ष में भी दोष दिसाते हुए शंकरमिश्र कहते
हैं कि)—आश्रितत्व पक्ष में भी समवायरूप व्याप्ति में अव्याप्ति दोष होगा, क्योंकि
समवाय किधो में आश्रित नहीं होता (अर्थात् समवाय में स्वभिन्न सम्बन्ध की
प्रतियोगिता न होने से उसमें आश्रितता नहीं है) एवं संयोग सम्बन्ध भी हेतु के
धूमत्वरूप धर्म के आश्रित नहीं है, तथा हेतु के धर्म धूमत्व से उत्पन्न भी नहीं है ।

(इस प्रकार वाचस्पतिमिश्र की अभिमत व्याप्ति का खण्डन कर उदयनाचार्य
की अभिमत व्याप्ति का खण्डन करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—उपाधिरहित
सम्बन्ध की भी व्याप्ति नहीं कह सकते । क्योंकि प्रथम उपाधि का स्वरूप ही नहीं
कहा जा सकता । अर्थात् जितने (स्व) अपने अधिकरण हैं उनमें साध्य की अधि-
करणता रहते भाषन के जितने आश्रय हों उनमें न रहना यह उपाधि का लक्षण
'एव'पदघटित होने के कारण अनुगत न होने से कुर्वच (कहने योग्य नहीं) है ।
(किसी प्रकार अनुगत मानकर यदि उसकी उक्ति हो भी तो 'द्रव्य सत्त्वात्'
इत्यादि अनुमानों में 'गुणवत्ता' रूप उपाधि के जितने द्रव्यरस के आचार द्रव्य व्यक्ति
हैं उनमें हजारों वषों में ज्ञान होना कठिन है, इसी आशय से शंकरमिश्र कहते हैं
कि)—उपाधिरूप का ग्रहण होने पर भी अव्योग्याश्रय दोष आ जायगा, क्योंकि
साध्य की व्यापकता रहते साधन की अव्यापकता रूप उपाधि का ज्ञान व्याप्तिज्ञान
के अधीन है और 'अनौपाधिकत्व' रूप व्याप्ति का ज्ञान उपाधि के ज्ञान के अधीन है ।

एकदेशी नैयायिकों का मत खण्डन करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—केवल
सामान्य रूप से सम्बन्ध की 'व्याप्ति' नहीं कह सकते । यद्यपि सम्बन्धमात्र को
व्याप्ति मानने से 'द्रव्य सत्त्वात् सत्तावान्' होने से द्रव्य, है । 'काका उदगोमान्'
१४ वै०

पगर्भतया व्याप्तिरूपत्वेऽपि, तज्ज्ञानस्यानुमितावतन्त्रत्वात् अनुमितिकारणोभू-
तज्ञानविषयव्याप्तेरेव निरूपयितुमुचितत्वात् ।

नापि साधनबन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः ।
घट्टेरपि धूमवन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वात् न हि धूमवति महानसे पर्वतोयवहे-
नोत्यन्ताभावः । इदं संयोगि द्रव्यत्वादित्यादौ संयोगात्यन्ताभावस्य साधनसमा-
नाधिकरणत्वादव्यापकताप्रसङ्गात् । प्रतियोगिविरुद्धस्वसमानाधिकरणात्यन्ता

गोह्वात्' काल उस गो वाला है, गोरूप होने से इत्यादि अनुमान में भी सम्बन्ध
होने से व्याप्ति होगी इसलिये व्यभिचारी ऐसा शरकरमिश्र ने कहा है, अर्थात् सत्ता
जाति द्रव्यरव वा व्यभिचारी तथा तद्गो का व्यभिचारी भी गो का रूप जातिस्वा-
वच्छिन्न तथा गोस्पर्शरवविशिष्ट का व्यभिचारी नहीं है क्योंकि सत्ता जाति के अभाव
के आश्रय में तथा गो का रूप गोस्पर्श के अभाव के अधिकरण में नहीं रहती, इसलिये
देश तथा काल को लेकर भी व्याप्ति अभिमत ही है । (इसी अभिप्राय से शरकर-
मिश्र कहते हैं कि)—व्यभिचारी सम्बन्ध के देशविशेष तथा कालविसंग से युक्त
होने से व्याप्तिरूप होने पर भी, उसका ज्ञान अनुमिति में कारण नहीं है, इसलिये
अनुमिति में कारण होनेवाले ज्ञान का विषय व्याप्ति का ही निरूपण करना युक्त है ।

साधन के आश्रय में वर्तमान अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगी साध्य के अधिकरण
में रहना भी व्याप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि धूमरूप साधन के आश्रय में वर्तमान
अत्यन्ताभाव का बल्लि भी प्रतियोगी होता है, कारण यह कि धूम के आश्रयमहा-
नस रमोर्ध्वर में पर्वतीय बल्लि का अत्यन्ताभाव नहीं है ऐसा नहीं है । यहाँ साधना-
धिकरण-निष्ठात्यन्ताभाव की प्रतियोगिता का अनवच्छेदक—साध्यतावच्छेदक से
अवच्छिन्न साध्य के अधिकरण में रहना यहाँ तक निवेश करने से, महानस में वर्त-
मान पर्वतीय बल्लि के अभाव का प्रतियोगी पर्वतीय बल्लि के होने पर भी सामान्य
रूप से बल्लि नहीं है ऐसा अभाव न होने से बह्निस्वरूप साध्यतानियामक धर्म के
प्रतियोगितानवच्छेदक होने के कारण उक्त दोष नहीं आ सकता । (अतः स्थलान्तर
में अव्याप्ति दोष देते हुए शरकरमिश्र कहते हैं कि)—यह संयोगाधार है, द्रव्य
होने से, इत्यादि अनुमान में संयोगरूप साध्य के अत्यन्ताभाव हेतु के आश्रय द्रव्यत्व में
रहने से अव्याप्ति दोष होगा (अर्थात् जैसे द्रव्यत्वाश्रय वृक्ष में कपि-संयोग रूप
साध्य मूलदेश में नहीं है और उसी वृक्ष में द्रव्यत्व रहता है), अतः संयोगाभाव का
संयोगत्व साध्यतावच्छेदक धर्म प्रतियोगितानवच्छेदक न होने से अव्याप्ति हो जायगी ।
इस दोष के धारण के लिये यदि 'प्रतियोगी के विरुद्ध तथा हेतु के आधार में वर्तमान
अत्यन्ताभाव ॥ अप्रतियोगी साध्य के सामानाधिकरण्य की व्याप्ति कहेंगे, वृक्षादिकों
में रहनेवाला कपि-संयोग का अभाव, उसी वृक्ष के अग्र में कपि-संयोग रहने से

भावाप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्ति संयोगात्यन्ताभावस्य प्रतियोगिवि-
रुद्धत्वाभावादिति चेन्न संयोगात्यन्ताभावस्यापि प्रतियोगिविरुद्धत्वात् अन्यथाऽ-
वच्छेदभेदकल्पनावैयर्थ्यात् न हि कृतकत्वमित्यत्वयोर्वैयर्थ्यं भवच्छेदभेदः कल्प्य-
ते । नापि साध्यत्रैयधिकरण्यानधिकरणत्वम् । केवलान्वयिनि साध्यत्रैयधिकर-
ण्यप्रसिद्धे साध्यानधिकरणाधिकरणत्वं हि सत् । नापि यत्सम्बन्धितावच्छेदककल्-
पवत्त्वं यस्य तस्य सा व्याप्तिः बह्विवत्त्वस्यापि धूमसम्बन्धितावच्छेदकत्वात् ।
अधिकदेशवृत्तितया सन्न नयेति चेत् व्यापकतावच्छेदकस्याधिकदेशवृत्तेरप्यभ्युप-
गमात् धूमत्वस्यापि गगनतलावळम्बिधूमवृत्तितयाऽधिकदेशवृत्तित्वात् । अतएव
तद्वारणार्थं विशेषणमिति चेत्, तर्हि यद् व्याप्यतावच्छेदकं तदेव सम्बन्धि-

प्रतियोगी के विरुद्ध न होने से घटाभाव को लेकर संयोगत्व के प्रतियोगितानवच्छेदक होने से अव्याप्ति दोष का वारण हो जायगा' ऐसा कहो तो यह नहीं हो सकता, क्योंकि संयोगात्यन्ताभाव भी प्रतियोगी के विरुद्ध है । यदि ऐसा न हो तो दुष्ट में मूल तथा अप्रवृत्त विशेषण का भेद मानना व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि शब्द में कार्यत्व तथा अनित्यता के रहने के लिये विशेषण भेद नहीं माना जाता । (पूर्ववप्रदर्शित सिद्ध्यप्युक्त दोनों अंशों को दिखाकर खण्डन करते हुए लक्षरमिश्र आगे कहते हैं)—कि ताव्य के वैयधिकरण्य का अनधिकरणत्व अर्थात् साध्य के अनधिकरण में आश्रित न होना भी व्याप्ति नहीं कहो जा सकती, क्योंकि केवलान्वयि स्थल में व्याप्यता-विशेषण का अनधिकरण अप्रसिद्ध है, कारण यह कि साध्य के अधिकरण में रहकर ही साध्यवैयधिकरणानधिकरणत्व को व्यर्थ होता है ।

तथा 'यत्सम्बन्धितावच्छेदककल्पवत्त्वं यस्य तस्य सा व्याप्तिः' अर्थात् वल्लि का सम्बन्धी धूम होने से उसमें वर्तमान सम्बन्धिता का नियामक धूमत्व करवत्ता धूम में है यही उसमें वल्लि की व्याप्ति है यह भी व्याप्ति का लक्षण नहीं हो सका, क्योंकि वल्लिरव मे भी धूम का बहि सम्बन्धी होने से धूमसम्बन्धिता का नियामक धर्म है । यदि कहो कि 'धूम से वल्लि के तत्त्व लोहविण्ड आदि पदार्थ कर अधिक देश में रहने के कारण यह सम्बन्धितानियामक धर्म नहीं होगा' तो व्यापकता का नियामक धर्म व्याप्य से अधिक देश में रहता है ऐसा माना है तथा धूमत्व भी आकाश में रहने वाले धूम में रहने के कारण अधिक देश में वर्तमान है । (यदि 'बह्वित्व में सम्बन्धितानियामकता रूप व्याप्ति के रहने पर भी व्याप्यता-नियामकरूप विशेषण न रहने से अतिव्याप्ति न होगी ऐसा समझ कर 'व्याप्यता-वच्छेदकत्व' भी उक्त व्याप्ति-लक्षण में विशेषण देंगे' ऐसा कहो तो लक्षरमिश्र कहते हैं कि)—तब तो जो व्याप्यता का नियामक है वही सम्बन्धितानियामक भी आपको सम्मत् होने से आत्माशय दोष होगा (अर्थात् व्याप्यतावच्छेदक है विशिष्ट धूमत्व,

तावच्छेदकत्वेनाभिमतमित्यभिमतं तथा चात्माश्रयः । एवञ्च यत् सामानाधि-
करण्यावच्छेदकरूपवत्त्वं यस्य सस्य सा व्याप्तिरित्यप्युक्तदोषाक्रान्तमिति चेत्,

अत्रोच्यते अनौपाधिकः सम्बन्धो व्याप्तिः । अनौपाधिकत्वन्तु यावत् स्वव्य-
भिचारिव्यभिचारिसाध्यसामानाधिकरण्यम्, यावत् स्वसामानाधिकरणात्, सामा-

व्याप्ति भी उक्त रूप ही है अतः अपने में ही अपने विशेषण होने से आत्माश्रय दोष न
जायगा) ।

और ऐसा होने से जिसके सामानाधिकरण्य (एकाधिकरणता) के निमित्तक
रूप का आश्रय जो होता है वही उसकी व्याप्ति होती है यह व्याप्ति लक्षण भी आत्मा-
श्रय रूप कहें हुए दोष से आश्रित (युक्त) है (अर्थात् जिस धर्म से युक्त से कहा गया
हुआ, जिस रूप से युक्त जिसका सामानाधिकरण्य होता है, उस धर्म से युक्त को विशेष
रत्नवाली तथा उस रूप से युक्त हेतुवाली अनुमित की कारणता का जो निमित्तक
हो वही सामानाधिकरण्य रूप व्याप्ति होती है यह लक्षण भी आत्माश्रय दोष युक्त
है) इस दोष से उक्त प्रकार की व्याप्ति के अनेक प्रकार होने से पर्वत से वर्तमान
धूम में स्मरण किये महानसबद्धि सामानाधिकरण्य के न होने से और पर्वत के बहि-
का सामानाधिकरण्य का धूम में पूर्वकाल में अनुभव न होने के कारण परामर्श भी
न हो सकेगा । अतः 'सत्तावान् जातेः' इत्यादि अनुमान में अव्याप्ति भी दोष होगा
यह सुचित होता है । इस विषय में अधिक विस्तार विशेष व्याप्ति आदि प्रकरण ग्रन्थ
में देखना चाहिये ।

(इस प्रकार पूर्वपक्ष व्याप्तिओं का लक्षण कर स्वमत से सिद्धास्त व्याप्ति का
लक्षण करके मिश्र दिखाते हैं कि)—यहाँ पर सिद्धास्त व्याप्ति का लक्षण कहा जाता
है उपाधिरहित सम्बन्ध की व्याप्ति कहते हैं । (यथाश्रुत में उदयनाचार्योक्त लक्षण
में दोष के समान होने से अनौपाधिक शब्द का विशेष अर्थ कहते हैं कि)—जितने
हेतु के व्यभिचारी पदार्थ हों उनके व्यभिचारी साध्य के साथ एक आश्रय में रहना ही
अनौपाधिकता है (अतः 'धूमवान् बह्ने' बह्नि होने से धूमवान् है, इस अनुमान में बह्नि
के व्यभिचारी अःसंज्ञमान के संयोग के धूम के साथ व्यभिचार न होने से अतिव्याप्ति
दोष न होगा) । यदि व्यभिचारी शब्द का अर्थ हो अभाव के आश्रय में रहना, बह्ने
वृत्तित्वावेतिदृश्य रूप विशेषण के भेद से भी भिन्न नहीं है, क्योंकि गुण में गुण कर्ममेव-
विशिष्ट सत्ता जाति का ज्ञान होना है ऐसा होने से 'द्रव्य विशिष्टसत्तात्वात्' यह द्रव्यत्व-
जातिमान् है गुण-कर्ममेवविशिष्ट सत्ता का आधार होने से इस अनुमान में विशिष्ट सत्ता
विशिष्ट शुद्ध से भिन्न नहीं होता' इस प्रदर्शित भास से 'गुणकर्म में भी रहने से अव्याप्ति
दोष होगा' ऐसा कहो तो शंकरमिश्र दूसरे प्रकार से अनौपाधिकत्व शब्द का अर्थ
कहते हैं कि)—जितने हेतु के अधिकरण में वर्तमान अत्यन्ताभाव हों उनके प्रति-
योगी जिनमें प्रतियोगी हों ऐसे अत्यन्ताभाव के अधिकरण में वर्तमान साध्य के अधि-
करण में रहना अनौपाधिकता है (जैसे धूम के पर्वतादि अधिकरणों में वर्तमान

चप्रतियोगिप्रतियोगिकात्यन्ताभावसमानाधिकरणसाध्यसामानाधिकरण्य वा
 यावत्साधनाव्यापकाव्याध्यसाध्यसामानाधिकरण्यमिति निरुक्तिद्वयार्थः
 यावत्साध्यव्यापकव्यापकत्वं वा बहुव्रीहिणा दुर्मेहमिदमिति चेत् अ
 एव नत्र भूयोदर्शनापेक्षा सर्कापेक्षा च । यद्वा साधनसमान
 धिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्य व्याप्तिः । अत्यन्त
 भावश्च वदित्वादिसामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताको विवक्षितः तेन महानसी
 धूमे पर्वतीयवह्न्यत्यन्ताभावसामानाधिकरण्येऽपि न दोषः, धूमवति वह्नि

घटादिको के अभाव के प्रतियोगी घटादि प्रतियोगी वाले घटादि अत्यन्ताभाव
 आधार पर्वतादिको में वर्तमान वह्निरूप साध्य के अधिकरण में धूम वर्तमान हो
 है, अतः इस पक्ष में निरूपक के नियामक घर्मे के भेद से अधिकरणता भिन्न होने
 उक्त व्याप्ति दोष न आवेगा) । (यदि हेतुसमानाधिकरण विशिष्टाभावादिको
 लेकर अव्याप्ति दोष कहो तो शरकरमिश्र कहते हैं कि)—इन दोनों प्रकार
 अनौपाधिकत्व शब्द का ऐसा अर्थ है कि जितने हेतु के व्यापक पदार्थ हो उन
 अव्याप्य साध्य के अधिकरण में रहना, अतः उक्त प्रकार से भी दोष न होगा ।

(दूसरे प्रकार से अनौपाधिकत्व शब्द का निर्वचन करते हुए शरकरमिश्र कहते
 कि) जितने वह्न्यादिसाध्य के व्यापक पदार्थ हो उनका व्यापक होना धूमादिको
 अनौपाधिकत्व है । यदि पूर्वपक्षी कहें कि 'जितने साध्य के व्यापक जिस हेतु
 व्यापक हो ऐसे अर्थ पदार्थ बहुव्रीहि समास यद्वा पर करना पड़ेगा, जिससे अ
 व्यापक जितने साध्य हो उनके व्यापकसम्बन्धी ऐसी प्रतीति होती है, जिसमें अपने
 वाचक 'त्वत्त्व' पदयुक्त यह लक्षण होने से अतीत तथा भविष्य हेतुओं में उस
 ग्रहण होना कठिन है अतः शरकरमिश्र कहते हैं कि बहुव्रीहि समास होने
 कारण उक्त व्याप्तिज्ञान का ग्रहण होना कठिन है, ऐसा यदि कहो तो इस
 लिये (भूयो भूयः) बार-बार व्याप्ति-ग्रहण की अपेक्षा होती है तथा व्यभिच
 दाका-निवारक तर्कों की भी अपेक्षा होती है । (अथवा लघुरूप ऐसा भी कुछ
 व्याप्ति का हो सकता है)—साधन के आधार में वर्तमान अत्यन्ताभाव के अप्रतियो
 ग्य के अधिकरण में हेतु का रहना ही व्याप्तिपदार्थ है । इस लक्षण में धू
 रूपसाधन के आधार में रहनेवाला अत्यन्ताभाव साध्यता के नियामक वह्निरूप
 सामान्यधर्म से युक्त वह्नि सामान्य का अभाव विवक्षित है, जिससे महानस के ध
 में पर्वतीयवह्नि के अत्यन्ताभावकी एकाधिकरणता होने पर भी अव्याप्ति दो
 न होगा, क्योंकि किसीभी धूमके आधार पर्वतादिको में सामान्यरूपसे वह्नि नहीं है ऐ
 प्रतीति नहीं होती (अतः घटादियों का ही अभाव लेकर वह्निरूप साध्य के अप्रतियो
 होने से लक्षण का समन्वय हो जायगा) । इस लक्षण में 'साधन समानाधिकरण
 शब्द का साधनतावच्छेदकावच्छिन्न (साधनता के नियामकधर्म से युक्त, हेतु

स्तीति प्रतीतेरनुदयात् । द्रव्यत्वन्तु संयोगित्वात्पन्ताभावासमानाधिकरणमेव,
न हि भवति द्रव्यं न संयोगीति प्रतीतिः, संयोगात्ता प्रत्येकमव्याप्यवृत्तित्वेऽपि
संयोगित्वसामान्यस्य व्याप्यवृत्तित्वात् तस्यैव च व्यापकत्वात् । नन्वनौपाधि-
पत्वमुपाधिविरहः उपाधिरिव दुरुपरिकल्पनीय इति चेन्न साध्यव्यापकत्वे
सति साधनव्यापकस्योपाधित्वात् । तदुक्तम्—

साधने सौपाधि साध्ये निरुपाधिरुपाधिः ।

अधिकरण मे वर्तमान ऐसा अर्थ करना चाहिये, नहीं तो 'द्रव्य है विशिष्टसत्ता होनेसे' इस अनुमान मे 'विशिष्ट शुद्ध से मिला नहीं होता' इस पूर्वप्रदर्शित म्याम से शुद्धसत्ताधिकरण गुणकर्म में द्रव्यत्व का अभाव लेकर अव्याप्तिदोष हो जायगा, प्रकृत मे साधनतावच्छेदक विशिष्ट-सत्तात्वावच्छिन्न का अधिकरण गुण-कर्म न होने से दोष नहीं होगा, क्योंकि विशिष्ट-सत्ता के आध्ययद्रव्य मे द्रव्यत्वाभाव नहीं है । एव बह्नित्वावच्छिन्न साध्यतावच्छेदक होने से तदपत्ति नहीं है इस अभाव की भी लेकर अव्याप्तिदोष न होगा (यह भी यहाँ जान लेना चाहिये) यदि "द्रव्यरवाश्रय वृत्तादि द्रव्य मे संयोगरूप साध्य का अभाव रहने से अव्याप्ति दोष इस लक्षण मे होगा" ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो शकरमिश्र कहते हैं कि) द्रव्यत्व जाति तो संयोगित्व के अस्त्यत्वाभाव के अधिकरण मे रहता ही है, क्योंकि द्रव्य संयोगी नहीं है ऐसी प्रतीति नहीं होती, प्रत्येक संयोगों के अव्याप्यवृत्ति (एकदेश में वर्तमान) होने पर भी, संयोगी द्रव्य में वर्तमान संयोगिताधर्मव्याप्य-वृत्ति ही है । और 'संयोगी द्रव्यत्वात्' इस अनुमान मे वही व्यापक (साध्य) है । (क्योंकि संयोगविशेष का अभाव द्रव्य में रहने पर भी संयोगसामान्य का अभाव द्रव्य मे न रहने से अभावान्तर की लेकर साध्य के अप्रतियोगी होने से) अव्याप्ति न होगी । तथापि 'कपिसंयोगी एतद्वृत्तत्वात्' यह वृद्ध कपिसंयोग वाला है यह वृद्ध होने से, इस अनुमान मे कपिसंयोग का सामान्याभाव मूल (अङ्ग) प्रदेश की लेकर वृद्ध मे वर्तमान है, अतः अव्याप्ति होव होगा । ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि साध्यतानियामक सम्बन्ध से हेतुनिरूपित अधिकरणता विवक्षित है । (प्रागे अनौपाधिकत्वरूप सिद्धान्त व्याप्ति के लक्षण मे पूर्वपक्षिमत से आक्षेप दिखाते हुए कहते हैं कि)—उपाधि के विरह (अभाव) को ही अनौपाधिक सम्बन्ध कहते हैं, किन्तु उपाधि का हो जान होना कठिन है, (अतः यह लक्षण नहीं हो सकता) । (इसके उत्तर मे उपाधि का स्वरूप प्रमाण देते हुए शकरमिश्र ऐसा कहते हैं कि)—साध्य का व्यापक होते हुए जो साधन का अव्यापक हो उसे उपाधि कहते हैं इसी कारण प्राचीन नैयायिकों ने कहा है—साधन मे उपाधिसहित (अव्यापक) तथा साध्य में उपाधिविरहित (व्यापक) हो, (यह उपाधि कहाता है) ।

ननु केवलसाध्यव्यापकोपाध्यव्यापकमेतत् । यथा वायुः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वादित्यत्रोद्भूतरूपवत्त्वम्, स श्यामो मित्रातनयत्वादित्यत्र शाकपाकजत्वम्, न ह्युद्भूतरूपवत्त्वम् प्रत्यक्षत्वव्यापकम् आत्मनि गुणकर्मादौ च प्रत्यक्षे तदभावात्, नापि शाकपाकजत्वम् श्यामत्वव्यापकम् काककोकिलजलदजम्बूफलदौ श्यामे तदभावादिति चेन्न पर्यवसितसाध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वस्य तथा विवक्षितत्वात् । पर्यवसितश्च साध्यं गृह्यमावच्छेदेनोपाधेर्व्यापकत्वमभग्नं तद्धर्मावच्छिन्नम्, प्रकृते बहिर्द्रव्यत्वावच्छेदेन प्रत्यक्षत्वस्योद्भूतरूपवत्त्वम् व्यापकम्, अन्यव्यतिरेकाभ्यां गृहीतम्, औत्पत्तिकनरश्यामत्वावच्छिन्न साध्यं प्रति चरकसुश्रुतादौ शाकपाकजत्वस्य व्यापकत्वाव-

(पूर्वपक्षी के मत में उक्त उपाधिलक्षण में दोष दिखाते हुए चकरमिश्र कहते हैं कि)—उपर्युक्त उपाधि का कारण केवल साध्यव्यापक उपाधि में न जायगा, जैसे 'वायु प्रत्यक्ष है, प्रत्यक्ष स्पर्श का आश्रय होने से' इस अनुमान में उद्भूतरूप की अधिकरणात्तरूप उपाधि, क्योंकि आत्मा मानसप्रत्यक्ष तथा रूपादि गुण भी प्रत्यक्ष हैं किन्तु उनमें उद्भूतरूप नहीं है । (यदि पक्षधर्म वायु की बहिर्द्रव्यतायुक्त प्रत्यक्षत्व साध्य की व्यापकता से तो आत्मा तथा रूपादिकों में बहिर्द्रव्यता न होने से उक्त स्थल में दोष न होगा तथापि चकरमिश्र कहते हैं कि)—'वह, श्याम धर्म है, मित्रा का पुत्र होने से' इस अनुमान में 'शाकपाकजता' (साग खाने से उत्पन्न होना) (दोनों उक्त अनुमानों में उपाधि में साध्यव्यापकता गृहीत है वह भाग्ये दिखाते हैं कि)—अथम अनुमान में उद्भूतरूपाश्रयता प्रत्यक्षत्वरूपसाध्य का व्यापक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष होने वाले आत्मा तथा गुण, और कर्मादिकों में उद्भूतरूपगुण नहीं है, तथा द्वितीय अनुमान में शाकपाकजत्वरूप उपाधि श्यामत्वरूप साध्य का व्यापक नहीं है । क्योंकि काक(कोआ), कोकिल(कोयल), मेघ, जम्बू (जामुन) फल आदि श्यामवर्णवाले पदार्थों में शाकपाकजत्व नहीं है (तस्मात् सिद्धान्ति मत में उपाधिलक्षण युक्त नहीं है) । (इस पूर्वपक्षका समाधान चकरमिश्र ऐसा करते हैं कि)—पर्यवसिता (एकाधिकरणतासम्बन्ध से किसी एक धर्मविशेष से विशिष्ट) साध्य का व्यापक होकर साधन का अव्यापक होना उपाधि शब्द से विवक्षित है । पर्यवसित (पर्यवसान में सिद्ध) साध्य वह होता है जिस धर्म से युक्त होने के कारण उपाधि की साध्यव्यापकता का भ्रम न हो उस धर्म से विशिष्ट साध्य होना, प्रस्तुत में वायु के प्रदर्शित अनुमान में बहिर्द्रव्यत्वरूप वायुपक्ष के धर्म को विशेषण लेकर 'बहिर्द्रव्यता-विशिष्ट प्रत्यक्षता' का उद्भूतरूप गुण का आधार होना अन्वय तथा व्यतिरेक (जो २ बहिर्द्रव्य प्रत्यक्ष होते हैं उनमें उद्भूतरूप का होना, तथा जो-जो बहिर्द्रव्य प्रत्यक्ष नहीं होते उनमें उद्भूतरूप का नहीं होना) से गृहीत है, एवं उत्पत्ति से अनुषंगी की श्यामता से युक्त श्यामगुण में शाकपाकजत्व

धारणादेवमन्यत्राप्युह्यम् । ननु नायमुपाधिपदवाच्य, यद्वर्गोऽन्यत्र भासते स उपाधि यथा स्फटिकादौ जवाकुसुमादि विषमव्याप्तोपाधी च व्याप्यत्वाभावात्तद्वर्गस्य साधनाभिमतोऽनवभासनादिवि चेत्, सत्यम् समव्याप्त एवार्द्रान्धन-प्रभववह्निमत्त्वादौ मुख्य उपाधिपदप्रयोगः, अन्यत्र तु गौणः । गुणश्च व्यभिचारोन्नायकत्वम्, यद्धि यद्व्यापकव्यभिचारि तस्य तद्व्यभिचारित्वनियमान् भवति च साध्यव्यापकस्योपाधेर्व्यभिचारि साधनम्, अतः साध्यव्यभिचारोवि ।

प्रयोजक उपाधि की साध्यव्यापकता चरक-मुञ्जुत आदि वैद्यकग्रन्थों में प्रमाणित जानना (इसी प्रकार 'ध्वस्त, बिनाशी है जग्य होने से' इस अनुमान में भावस्थ उपाधि भी जान लेना चाहिये) ॥

(शंकरनिश्च "उक्त उपाधिरूप में साध्य के समन्वित (समान आश्रय में रहने वाला) ही उपाधि शब्द का अर्थ होता है न कि साध्य का व्यापक, क्योंकि अतिरिक्त धर्मों के भ्रम ज्ञान के विषय धर्म की आधाररता ही उपाधि शब्द के प्रवृत्ति का (निमित्त) विषय होने से लोक में उपाधि शब्द का प्रयोग होता है (जैसे स्फटिक रक्त न होने पर भी रक्त द्रव्य के समीप होने से स्फटिक रक्त है इत्याकारक भ्रमात्मक ज्ञान का विषय रक्तता के साध्य पुण्य की स्फटिक की रक्तता ज्ञान की उपाधि है ऐसा लोक में व्यवहार होता है) ऐसा होने से साधन में आरोपित की हुई साध्य की व्याप्ति का जो आभास हो उसी को उपाधि मानना उचित है" ऐसी शंका पूर्वपक्षिमत से दिलाते हैं कि) — "साध्यव्यापक तथा साधनाव्यापक यह उपाधि शब्द का अर्थ नहीं है किन्तु जिसका अर्थ अर्थ पदार्थ में प्रतीत होता है, वह उपाधि कहता है, जिस प्रकार स्फटिकादि इवेन अग्नि में रक्त ज्वालापुष्पादिक की रक्तता तथा विषय व्याप्ति वाले उपाधि में व्याप्यता न होने से उस उपाधि का धर्म-साधन में प्रतीति भी नहीं होती" (ऐसी शंका का उत्तर शंकरनिश्च देते हैं कि) — पूर्वपक्षी का कहना सत्य है क्योंकि समान व्याप्ति वाले आर्द्रान्धन से उत्पन्न वह्निमत्ता आदि में ही मुख्य उपाधि पद का प्रयोग है । विषमव्याप्त उपाधि में उपाधि पद का प्रयोग गौण है । वह गुण है व्यभिचार की उठाना 'जमाना, क्योंकि' जो 'जिसके व्यापक का व्यभिचारी होता है वह उसका व्यभिचारी होता है' यह नियम है । साध्य (धूम) ॥ व्यापक (आर्द्रान्धनसंयोग) रूप उपाधि का वह्निरूप साधन व्यभिचारी होता है, अतः धूमरूप साध्य का व्यभिचारी है ऐसा (उपाधि से व्यभिचारज्ञान 'धूमवान् वह्निं' इस अनुमान में वह्निहेतु में) व्यभिचारानुमान होता है । (इसी प्रकार 'पूर्वोक्त वायु प्रत्यक्ष है प्रत्यक्ष स्पर्शाधार होने से' इस अनुमान में प्रत्यक्ष स्पर्शाश्रयत्वहेतु प्रत्यक्षत्व साध्य का व्यभिचारी है बाह्य द्रव्य में उद्भूत रूप का व्यभिचारी होने से, प्रमेयत्व के समान, और 'स इयाम्' में इत्यादि पूर्वोक्त अनुमान में मित्रातनयत्वहेतु इयामतासाध्य का व्यभिचारी है मित्रातनय में शारपाकजता व्यभिचारी होने से द्रव्यत्व के समान, इस प्रकार व्यभिचारज्ञान हेतु में

यद्व्यापकाव्याप्यं यत् तत् तदव्याप्यम् इति व्याप्यत्वासिद्ध्युन्नायकत्वं वा ।
सत्प्रतिपक्षोत्पापकत्वं वा पक्षे उपाधेः साध्यव्यापकस्याभावात् साध्याभाव-
साधनात् । तदुक्तं—

चायुक्तसाध्यनियमच्युतोऽपि कथकैरुपाधिरुद्धान्वितः ।

पर्यवसित नियमयन् दूषकताबीजसाम्यात् ॥ इति ।

अतोपते चाय चाद्यव्यभिचारानुकूलनकार्कभावप्रतिकूलतर्कः । यत्तु यद्व्यभि-
चारित्वेन साधनस्य साध्यव्यभिचारित्वं स उपाधिरिति । तत्र तृतीया न करणे न

होना है) । (व्यभिचार के समान उपाधिज्ञान से हेतु में व्याप्यव्यभिधि का ज्ञान भी उपाधिज्ञान का फल हो सकता है इस आशय से सत्करमिथ द्वितीय पक्ष दिखाते हैं कि) — जो वल्लि जिसके (आर्द्रघन-संयोग के) व्यापक (धूम) का व्याप्य नहीं होता, वह (वल्लि) उस (धूम) का व्याप्य नहीं होता इस प्रकार वल्लि हेतु में व्याप्यत्वा-
सिद्धि दोष का आर्द्रघनसंयोगरूप उपाधि के ज्ञान से उद्धारण हो सकता है । अथवा पक्ष (पर्वत) में धूमसाध्य के व्यापक आर्द्रघनसंयोगरूप उपाधि के न रहने से साध्य (धूम) के अभाव की निश्चिती होने से (पर्वत धूमवान् नहीं है धूम व्यापक आर्द्रघनसंयोग न होने से) इस प्रकार सत्प्रतिपक्ष (विच्छेद अनुमान) का भी ज्ञान होना उपाधिज्ञान का फल हो सकता है । इसी कारण प्राचीन नैयादिकों ने कहा है—बाधों के कहे हुए साध्य के नियम (व्याप्ति) से रहित होने वाले भी उपाधि की कथा करने वाले आदिमों ने हेतु में उपाधि का उद्धारण (प्रकाशन) करना चाहिये, जो उपाधि-दूषकता का बीज समान होने से पर्यवसित जो (व्यभिचारविज्ञान होने से समाप्त होता हो) नियमित करता है । और इसी कारण यह उपाधि-बाध, व्यभि-
चार, अनुकूल तर्क का न होना, तथा प्रतिकूल तर्कों से जाना जाता है । जैसे 'वल्लि उष्ण नहीं है कार्य होने से' इस अनुमान में पक्ष (वल्लि से) इतर (भिन्न) होना रूप उपाधि प्रत्यक्ष वल्लि की उष्णता के बाध से जाना जाता है 'धूमवान् है वल्लिमान् होने से' इस अनुमान में आर्द्रघनसंयोगरूप उपाधि का व्यभिचार दोष से ज्ञान होता है । तथा पूर्वोक्त 'वायु प्रत्यक्ष है' इस अनुमान में उद्भूत रूप उपाधि वायु की प्रत्यक्षता में अनुकूल तर्क के न होने से जाना जाता है । एवं 'ध्वस विनाशो है' इस अनुमान से विनाशित सिद्ध करने में भट के पुनः प्रकार होने की आपत्तिरूप प्रतिकूल तर्क से मायत्व रूप उपाधि जाना जाता है ।

(आगे निरुतामणि ग्रन्थकार गणेशोपाध्याय के उपाधिलक्षण को दिखाकर लंडन करते हुए सत्करमिथ कहते हैं कि) — 'जिसकी व्यभिचारिता से हेतु में साध्य की व्यभिचारिता हो वह उपाधि कहाता है' ऐसा गणेशोपाध्याय कहते हैं । इस लक्षण में 'यद्व्यभिचारित्वेन' इस पद में तृतीया विभक्ति का अर्थ करण नहीं हो सकता, (क्योंकि

हेतो न प्रकारे न लक्षणे । न च यद्व्यभिचारित्वेन ज्ञातेन साधनस्य साध्यव्यभिचारित्वं ज्ञायते इति पूरणीयम् अज्ञायमानोपार्थव्यापनात् स्फुटव्यभिचारस्थलोपार्थव्यापनात् । योग्यतागमो तु दुर्निरूपा, व्यभिचारोन्नायकत्वमव्ययम्याप्य उपाधुद्भावनान्नक्यत्वाच्च । पक्षेतरत्वन्तु उपाधिलक्षणाक्रान्तमपि स्वव्याधा-

साध्य की व्यभिचारिता (व्यभिचार) यदि समवायादिरूप हो तो समवाय के नित्य होने से तथा सयोगादिरूप हो तो भी उपाधि की व्यभिचारिता संयोग का उत्पादक नहीं है तथा सयोगजनक कोई उसका व्यापार भी नहीं है अतः कारण पक्ष व्युत्पन्न है) तथा हेतुरूप अर्थ भी उक्त तृतीया विभक्ति का नहीं हो सकता (क्योंकि हेतु शब्द का अर्थ ज्ञापक (जानने वाला) अथवा कारक (करने वाला) दोनों पक्षों में उपाधि व्यभिचार में ज्ञापकता न होने से, तथा नित्यसमवायादि सम्बन्धरूप व्यभिचार के कारण न होने से भी तृतीया का हेतु ऐसा अर्थ नहीं हो सकता) एवं प्रकार भी तृतीयाध नहीं हो सकता (क्योंकि प्रकारत्वात् तृतीया के अर्थ का व्यभिचारादिरूप निर्विषयक (विषय रहित) पदार्थ में अव्यय नहीं हो सकता) तथा लक्षण में उक्त तृतीया विभक्ति नहीं हो सकती (क्योंकि लक्षण शब्द का अर्थ है व्यावर्तक (भेद करने वाला) वह व्यावर्तक धर्म विशेषण तथा उपलक्षण दो प्रकार का होता है । जिसमें विद्यमान होता हुआ व्यावर्तक 'धर्म' विशेषण होता है जैसे 'दण्डी पुरुषः' इसमें पुरुष का दण्ड आदि विशेषण उसमें वर्तमान होता हुआ दण्डसहित पुरुष से भेद करता है । न रहता हुआ भेदक धर्म उपलक्षण होता है, जैसे सापसी (मुनि) का पूर्वकाल में वर्तमान जटा-कमण्डलु आदि उत्तरकाल में न रहता हुआ भी तापसी से भिन्न पुरुषों का भेदक होता है । दोनों प्रकार से प्रस्तुत में व्यावर्तकता नहीं हो सकती, क्योंकि साधन में वर्तमान उपाधिता में साध्यव्यभिचारित्वरूप विशेष्यता के नियामक धर्म का सामानाधिकरन्ध्र नहीं है, अतः उक्त लक्षण में तृतीया विभक्ति नहीं हो सकती । शंकरमिश्र कहते हैं कि इस दोष के वारणार्थ जिस उपाधि के साधन (बह्नि) में व्यभिचार ज्ञान होने से साधन (बह्नि) में साध्य (घूम) का व्यभिचार जाना जाय (उसे आहोन्वयसंयोग उपाधि कहते हैं । ऐसे उपाधिलक्षण में पुष्टि भी नहीं की जा सकती, क्योंकि रहने पर भी जाने हुए उपाधि में इस लक्षण की अव्याप्ति, तथा जहाँ 'अतिस्पष्ट उपाधि है वहाँ उसके ज्ञान की आवश्यकता न होने से भी उक्त दोष हो जायगा । यदि इन दोनों में उपाधिलक्षण की योग्यता है अतः ऐसे लक्षण वाले उपाधि की योग्यता ही ऐसा योग्यताघटित लक्षण करें तो उसका निरूपण नहीं हो सकता, तथा यह उपाधि व्यभिचार के उद्भावन में समर्थ है यह स्थापन किये बिना उपाधि का उद्भावन (प्रकट करना) भी अव्यय है ।

पक्ष से भिन्न होना (जैसे बह्नि से भिन्नता बह्नि उत्पन्न नहीं है कार्य होने से

तत्त्वज्ञोपाधिः यथा पक्षे सन्दिग्धानैकान्तिकत्वम् । यदि हि तत्र न सन्देहस्तदा न पक्षता, यदि पक्षता तदा सन्देहस्यावश्यकता सन्दिग्धानैकान्तिकत्वध्नोव्यात् । अवशिष्ट मयूखेऽन्वेष्टव्यम् ॥ १४ ॥

इदानीं वृत्तानां वर्चिष्यमाणानाञ्च हेतूनां हेत्वाभासाद्विवेकाय हेत्वाभास-प्रकरणमारभमाण आह—

अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन् सन्दिग्धश्चानपदेशः ॥ १५ ॥

अप्रसिद्ध इति । अव्याप्तोऽगृहीतव्याप्तिको विपरीतव्याप्तिकश्च विरुद्धः ।

इस अनुमान में अनुष्णता साध्य का बलितरत्व जलादिकों में व्यापक है, तथा बल्लि में बल्लितरता न होने से कार्यता का व्यापक भी है इस प्रकार उपाधिलक्षण में युक्त होने पर भी अपना ही व्याघात करने से उपाधि सर्वत्र नहीं हो सकती, क्योंकि उदाहरण प्रत्यक्ष अग्नि में अनुष्णता का बाध होने से बल्लितरत्व उपाधि है किन्तु 'पर्वत बल्लिमान् है' इत्यादि अनुमान में पर्वत से भिन्नता उपाधि होने से पक्ष में सन्दिग्ध व्यभिचारिता के समान अपना ही धात करेगी क्योंकि यदि पर्वतपक्ष में बल्लि का सहाय न हो तो वहा पक्षता न होगी (अर्थात् सन्दिग्ध साध्य-वान् पक्ष होता है यह पक्ष-लक्षण न आवेगा) और यदि पक्षता हो तो सहाय आवश्यक होने से सन्दिग्ध व्यभिचार ही धूमादि सङ्केतों में अवश्य ही रहेगा (अर्थात् पक्षेतरता मात्र को उपाधि मानें तो उसका सर्वानुमानों में सम्भव होने से सम्पूर्ण अनुमानों का ही उच्छेद हो जायगा अतः सन्दिग्धानैकान्तिकता के समान वह रूपक नहीं हो सकता) शंकरमिश्र कहते हैं कि इससे इस विषय का विस्तार मेरे किये मयूख नामक ग्रन्थ में देखना चाहिये ॥ १४ ॥

साम्प्रत कहे हुए तथा आगे कहे जाने वाले सङ्केतों का दुष्ट हेतुओं से पुष्पज्ञान होने के लिये हेत्वाभास का प्रकरण आरम्भ करते हुए सूचकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अप्रसिद्ध = असिद्ध (हेतु), अनपदेश = दुष्ट होता है, असन् = पक्ष में अवर्तमान, सन्दिग्धः च = और सन्दिग्ध भी हेतु, अनपदेश = दुष्ट होता है ॥ १५ ॥

भावार्थ—जिसमें व्याप्तिज्ञान न हो तथा विपरीत व्याप्तिज्ञान हो ऐसा अप्रसिद्ध नामक १, एवं (असन्) पक्ष में न रहनेवाला २, तथा पक्ष में साध्य को सत्ता तथा असत्ता दोनों कीटि के संशय को उद्धार करने वाला सन्दिग्ध ३, इस प्रकार कणाद-मत में तीन ही दुष्ट हेतु होते हैं । इस सूत्र में प्रथम अनपदेश शब्द हेत्वाभास सामान्य लक्षण की सूचना के लिये है जो आगे दिखाये जायेंगे । अथवा गौण दूसरे हेत्वाभासों को दिखाने के लिये है, ये भी आगे दिखाये जायेंगे इसी कारण कण्ठ से उसका विचार छोड़कर शंकरमिश्र ने अप्रसिद्ध इत्यादिना व्याख्या की है ॥ १५ ॥

सूचकार—अप्रसिद्ध इस सूत्रोक्त हेत्वाभास से जिसमें व्याप्तिज्ञान न हुआ

एतेन व्याप्यत्वासिद्धविरुद्धयोः समग्रः । असन् इति । पक्षेऽसन् अपक्षधर्म इत्यर्थः । स च क्वचित् स्वरूपनिरहान् क्वचित् सन्देहसिपाद्यविषयोरभावात् । सिद्धसाधने । सन्दिग्ध इति । पक्षे साध्यसदसद्वकोटिकसंशयजनकः । स च संशयः समानधर्मदर्शनान् कश्चिदसाधारणधर्मदर्शनान् क्वचित् पक्ष एव हेतोः

हो, अथवा विपरीत व्याप्तिज्ञान हुआ हो ऐसा विरुद्ध नामक दुष्ट हेतु लेना । इससे (अप्रसिद्ध में) व्याप्यत्वासिद्धतया विरुद्धदुष्ट हेतुओं का समग्र होगा है । (हेतु में व्याप्तिज्ञान का विरह रूप व्याप्तित्वासिद्ध दोष विसर्पे हो उसे व्याप्यत्वासिद्ध कहते हैं । अर्थात् जिस रूप से निरूपित विषयवाला निश्चय (धूम के अभाव के अधिकरण अय, पिण्ड में बल्लि रहता है यह निश्चय) बल्लिहेतुक धूमसाध्य के व्याप्तिज्ञान (धूम के अभाव के आशय में बल्लि नहीं रहना) इसके प्रतिबाधकता से भिन्न में नहीं है अतः इस रूप में युक्त बल्लि है यह जान लेना चाहिये । यदि साधारण हेतु के समान असिद्ध हो जायगा ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि यह इदं ही है, असिद्धि आदि दोषों को लेकर ही हेतुवाच्यों का विभाग किया है साधारणादि दोष से निरूपित न होने रूप से उक्त विषयता का निवेश होने से भी दोषों में परस्पर ऐश्वर्य नहीं हो सकता । अर्थात् साध्य की तया हेतु की अमिद्धि उक्त लक्षण में आ जाती है । हेतु के अधिकरण में वर्तमान अत्यन्ताभाव के प्रतियोगिता के अनिपादक साध्याभावत्ववान् होना विरोध दोष है इस दोष वाले हेतु को विरुद्ध कहते हैं, उक्त व्याप्यत्वासिद्धि तथा विरोध, दोनों में से अन्यतरत एक इस वर्ग से अप्रसिद्ध शब्द का अनुगत अर्थ जानना । (शंकरमिश्र सूत्र के 'असन्' शब्द का अर्थ करते हैं कि) — पक्ष में न रहनेवाले हेतु को 'असन्' अर्थात् अपक्षधर्म (पक्ष में न रहनेवाला) कहते हैं यह सूत्र का अर्थ है । और वह असन् दुष्ट हेतु कही स्वरूप के न होने से तथा कहीं कहीं सन्देह तथा 'सिपाद्यविषय' अनुमिति से सिद्ध करने की इच्छा न होने से सिद्ध के साधन करने में होता है । (पक्ष में हेतु के न रहने से स्वरूपामिद्धि अथवा पक्षताविवामक धर्म पक्ष में न होने से आश्रयासिद्धि दोष होता है । और पक्ष में सन्देह तथा सिपाद्यविषय दोनों रूप की पक्षता न होने से सिद्ध-साधन दोष भी होता है, उक्त असिद्धि दोष वाला हेतु असिद्ध होता है (अर्थात् आश्रयासिद्धि आदि दोषों में कोई दोष होना यह सामान्य असिद्धि का लक्षण है यह भी जानना चाहिये) । (तीसरे सन्दिग्ध नाम के सूत्रोक्त हेतुवाच्य का वर्णन उपस्कार में करते हैं कि) — पक्ष में साध्य की वर्तमानता तथा अवर्तमानता दोनों भाव वाले सन्देह को उत्पन्न करने वाला सन्दिग्ध सध्यविचार दुष्ट हेतु कहा जाता है । (प्रस्तुत पक्षधर्मों वाले साध्य तथा उसके अभाव के ज्ञान में वर्तमान सन्देह के प्रयोजक दोनों कोटियों से व्यावृत्त रूपवान् होना, सध्यविचारता है, वह रूप सध्यविचारी हेतु में साध्य

साध्यतद्भावसाहचर्यदर्शनात् । आद्यः साधारणानैकान्तिकः । द्वितीयस्त्वसाधारणानैकान्तिकः । तृतीयोऽनुपसंहारी ॥ १५ ॥

तत्र व्याप्यत्वासिद्धविरुद्धस्वरूपासिद्धानामुदाहरणमाह—

यस्माद्विपाणी तस्मादश्वः ॥ १६ ॥

तथा उसके अभाव के साथ में रहता है, और सत्प्रतिपक्ष में विरोधी परामर्श ज्ञान काल के दूसरे परामर्श ज्ञान की विषयता होती है । यहाँ पर दोनों कोटि से व्यावृत्त होना' इससे दूसरा प्रयोजन नहीं है यह सुचित होता है । अतः कोटिद्वय में अतिव्याप्ति दोष न होगा, इसी कारण 'सत्प्रतिपक्ष भी अभिचारादिक में ही पर्यवसित (निश्चित होता है' ऐसा आगे शंकरमिश्र कहेंगे । साधारणादि भेद इस सन्दिग्ध दुष्टहेतु के भेद आगे कहे जायेंगे ।) (आगे शंकरमिश्र कहते हैं कि)—उक्त सदिग्ध नामक हेत्वाभास में वह सहाय कुछ स्थलों में समानधर्म के दर्शन से तथा कुछ स्थलों में असाधारण (विशेष) धर्म के दर्शन से तथा कहीं कहीं पक्ष में ही हेतु के साथ तथा उसके अभाव का साथ में रहना देखने से होता है । (यद्यपि साध्यसदेह मुक्त विषय होनेवाला अनुपसंहारी साध्य तथा साध्याभाव उभय कोटि वाले संशय का उत्पादक नहीं है तथापि पक्ष को लेकर साध्य तथा उसके अभाव का सहचारी होने से ज्ञान हुआ ही संशय को उत्पन्न करता है, इसलिये अनुपसंहारी में अव्याप्ति दोष न होगा इसी आशय से शंकरमिश्र ने उपर्युक्त 'पक्ष एव' पक्ष ही में यह तीसरा कल्प कहा है) अर्थात् जिस रूप से सहायजनकता हो वही विभाग करता है यह नियम नहीं है यह उनका तात्पर्य है । (उक्त तीन प्रकार के सन्देहजनको का क्रम से नामनिर्देश करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—जिनमें प्रथम का नाम है साधारण अनैकान्तिक, द्वितीय है, असाधारण अनैकान्तिक तथा तृतीय का नाम है अनुपसंहारी ॥ १५ ॥

उनमें से व्याप्यत्वासिद्ध, विरुद्ध तथा स्वरूपासिद्ध ऐसे तीन दुष्टहेतुओं का उदाहरण सूत्र में देते हैं—

पदपदार्थ—यस्मात् = जिस कारण, विपाणी = शृङ्गवाला है, तस्मात् = इस कारण, अश्व = अश्व है ॥ १६ ॥

भावार्थ—रासम को देखकर यह 'अश्व है, शृंगवान् होने से' ऐसा जो पुरुष मोह से अनुमान करता है यह समझ कर कि 'जो अश्व नहीं होता वह शृङ्गवाला नहीं होता' इस अनुमान में व्याप्यत्वासिद्ध अश्वता तथा शृङ्गवत्ता की व्याप्ति न होना तथा अश्व में शृंगवत्तास्वरूप की असिद्धि एवं अश्वतारहित गो आदि में शृङ्ग हान से विरोध भी होने से यह शृङ्गवत्ता हेतु व्याप्यत्वासिद्ध, स्वरूपासिद्ध एवं विरुद्ध नामक भी दुष्टहेतु है ॥ १६ ॥

यत्र रासभविण्ड पक्षीकृत्यायमसावश्वः विपाणित्वात् यस्तु नाश्वो नासी विपाणो, यथा शशशृगालनरवानरादिरिति व्यतिरेकसहचारदर्शनादितव्यामोहः प्रयुङ्क्ते । तत्र व्याप्यत्वासिद्धस्वरूपासिद्धविरुद्धानामुदाहरणमिदम् ॥ १६ ॥

अनैकान्तिकमुदाहरति—

यस्माद्विपाणी तस्माद् गौरिति चानैकान्तिकस्योदाहरणम् ॥ १७ ॥

यत्र महिषं पश्वयित्वा अय गौर्निपाणित्वादिति साधयति यत्र साधारणानैका-

उपस्कार—जिस स्थल में रासभ के शरीर को पक्ष (घर्मी) कर मनु बह अव है शृगवान् होने से, जो भव नहीं होता वह शृगवान् नहीं होता, जैसे शश (मसा) शृगाल (सिमार) मनुष्य वानर इत्यादि इस प्रकार के व्यतिरेक सहचार के दत्तन के मोह से प्रवक्षित अनुमान का प्रयोग करता है । उसमें व्याप्यत्वासिद्ध, स्वरूपासिद्ध तथा विरुद्ध का उदाहरण यह है ऐसा जानना ॥ १६ ॥

अनैकान्तिक का सूत्रकार उदाहरण देते हैं—

पदपदार्थ—यस्मात् = जिस कारण, विपाणी = शृगाला है, तस्मात् = इस कारण गौ = गौ है, इति च=और यह, अनैकान्तिकस्य=अनैकान्तिक (व्यभिचार) का उदाहरण है ॥ १७ ॥

भाषार्थ—जिस अनुमान में महिष को पक्ष की 'यह गौ है, शृगवान् होने से' ऐसा कोई अनुमान से सिद्ध करता है उसमें साधारण नामक अनैकान्तिक दुष्टहेतु है । क्योंकि शृङ्गवत्ता गौ के समान गोत्वामाश्रय साध्य के अन्वाहार महिष में भी रहती है ॥ १७ ॥

उपस्कार—जिस स्थल में महिष को पक्ष कर 'यह गौ है, शृङ्गवान् होने से' ऐसा कोई अनुमान से सिद्ध करता है उसमें साधारण नामक अनैकान्तिक (व्यभिचार) दोष है । यहा साधारण आदि तीन अनैकान्तिकों में अन्त्यम (कोई एक) का होना अनैकान्तिक का सामान्य लक्षण है । जिसमें से साध्य के अभाव के आधार में वर्तमान हेतु साधारण दुष्टहेतु होता है जैसे 'महिष गौ है शृगवान् होनेसे' इस अनुमान में गौ से मिश्र में शृगवत्ता होना, यह दुष्टहेतु व्याप्तिज्ञान का प्रतिबन्ध अनुमान में करता है । तथा सपूर्ण सपक्ष तथा विपक्ष में न रहने वाला असाधारण अनैकान्तिक होता है इस उभयव्यावृत्तताज्ञान के साध्य तथा उसके अभाव दोनों के साथ व्याप्तिज्ञान के प्रतिबन्ध होने के कारण दूषकता होती है । जैसे 'आकाश नित्य है, शब्दाश्रय होनेसे' इस अनुमान में आकाश का शब्दाश्रयत्वविशेषधर्म होने के कारण दृष्टान्त में व्याप्तिज्ञान न होने से व्याप्तिज्ञान को न करने से दुष्टहेतु है । एवं अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगि साध्य वाला हेतु अनुपसहारी होता है, वह व्यतिरेक व्याप्तिज्ञान का प्रतिबन्धक होने से

नितिकता । यदा त्वाकाशं नित्यं शब्दाश्रयत्वादिति साधयति तदाऽस्यासाधारणानैकान्तिकता एवं शब्दोऽनित्यः शब्दत्वादित्याद्यप्यगृह्यमाणदशागमसाधारणानैकान्तिकमेव, यदा तु विपक्षबाधकतर्कावतारात् पक्ष एव साध्यं सिध्येत् तदा सपक्षवृत्तिनाज्ञानदशायां सद्धेतुरेव पक्षस्यापि सपक्षत्वात् । तत्र व्याप्ताश्रयमन्तयाऽप्रमितोऽसिद्धः । स च त्रिविधः व्याप्यत्वासिद्धः स्वरूपासिद्धः आश्रयासिद्धश्च । तत्रागृहीतव्याप्तिको व्याप्यत्वासिद्धः, सत्या एव व्याप्तेरग्रहान् व्याप्तेरभावाच्च उभयथापि । तेनानुकूलतर्काभारादयोऽसिद्धभेदाः । स चायमसमर्थविशेषणा-समर्थविशेष्या - समर्थोभय - संदिग्धासमर्थविशेषण-संदिग्धासमर्थ-

दूषण करता है, जैसे 'जो ज्ञानविषय है शृङ्गवान् होने से' इस अनुमान में ज्ञान विषय न होने वाला कोई पदार्थ न होने से व्यतिरेक व्याप्तिज्ञान न होने से साध्य साधक नहीं होने के कारण दूषक है ।) (आगे असाधारण दुष्टहेतु का लक्षण चक्रमिथ कहते हैं कि) —यदि 'आकाश नित्य है, शब्दाश्रय होने से' ऐसा अनुमान किया जाता है तब असाधारण अनैकान्तिकता दोष होता है । एवं 'शब्द अनित्य है, शब्दस्वजातिमान् होने से' इत्यादिक अनुमान भी शब्दत्व के आकाश से भिन्न में न होने के कारण व्याप्ति का प्रहण नहीं होता तब वह असाधारण अनैकान्तिक ही होता है, और यदि शब्द में नित्यता में बाधक तर्क के होने से शब्दरूप पक्ष ही में अनिरयना साध्य सिद्ध हो तो सपक्षशब्द ही है उसमें शब्दत्व के रहने के ज्ञान के समय शब्दत्व हेतु भी सद्धेतु ही है, क्योंकि शब्दरूप पक्ष ही सपक्ष है । 'अप्रसिद्ध' इस सूत्र में व्याप्तिविशिष्टपक्ष में वर्तमानरूप से न जाना हुआ हेतु अप्रसिद्ध होता है । (यहाँ पर आश्रयासिद्धि आदि तीन असिद्धियों में अग्रतम कोई एक (यह असिद्धि का सामान्यलक्षण जानना) ।

और वह असिद्ध व्याप्यत्वासिद्ध १, स्वरूपासिद्ध २, आश्रयासिद्ध ३, ऐसा तीन प्रकार है ।

उन तीनों में से जिसमें व्याप्ति का ज्ञान न हुआ हो उसे (अग्रहीतव्याप्तिक) व्याप्यत्वासिद्ध कहते हैं । व्याप्ति के रहने पर उसके ग्रहण न होने से, तथा व्याप्ति के न रहने से इस प्रकार दोनों प्रकार से होता है । इससे अनुकूल तर्क का न होना इत्यादि भी असिद्ध में भेद है यह सिद्ध होता है । इसके भी विशेषणों का असमर्थ होना, विशेष्य का समर्थ होना, विशेषण तथा विशेष्य दोनों का असमर्थ होना, तथा सदिग्ध (सशययुक्त) असमर्थ विशेषण, संदिग्ध असमर्थ विशेष्य एवं गन्दिग्ध असमर्थ विशेषण तथा विशेष्य उभय, इत्यादि भेद से सहस्रधा (हजारों) भेद हो सकते हैं । इन सम्पूर्णों में हेतु का सिद्ध न होना ही धात्वार्थ में उद्भावन (प्रकट) किया जाता है ।

विशेष्य-सन्दिग्धासमर्थोभय-भेदप्रपञ्चेन सहस्रधा भिद्यते । सर्वत्र चात्र सिद्धिरिह एवोद्भाष्यम् ।

अत्रेदं तत्त्वम् । हेतुस्तावत् केवलान्वयन्ययव्यतिरेकि केवलव्यतिरेकिभेदा-
त्रिविधः । सत्र सर्वधर्मिगतो धर्मः केवलान्वयो, यथा प्रमेयत्वाभिधेयत्व-विरो-
ध्यत्व विशेषणत्व-नित्यद्रव्याद्यान्ताभावाश्रयनाश्रयगुणादिध्वंसात्यन्ताभावादयः ।
नह्यस्ति तादृश किञ्चित्, यत्रैते धर्मा न विद्यन्ते । तथा च सर्वगतत्वम्
अत्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं वा केवलान्वयित्वम् । एतेषाञ्च स्वात्मवृत्तित्वेऽपि न
दोषः तदुक्तम्—

प्रमाणं शरणं वृत्तौ न भिन्नाभिन्नते यतः । इति ।

केवलान्वयिसाध्यको हेतुः केवलान्वयी । अस्य च पक्षसत्त्वसपक्षसत्त्वावा-
धितत्वासत्त्वप्रतिपक्षितत्त्वानि चत्वारि रूपाणि गमकस्वोपयिकानि । अन्वयव्यति-
रेकिणस्तु हेतोर्विपक्षासत्त्वेन सह पञ्च केवलव्यतिरेकिणः सपक्षसत्त्वव्यतिरेकेण

यहाँ पर यह वास्तविक तात्पर्य है कि सङ्केत १, केवलान्वयी २ केवलव्यति-
रेकी, ३ अन्वयव्यतिरेकी इस भेद से तीन प्रकार का है । उनमें सपूर्ण पदार्थों में वर्तमान
हेतु केवलान्वयी होता है, जैसे प्रमेयत्व (ज्ञानविषयता) अभिधेयत्व (शब्द वाच्य
होना), विशेष्यता (विशेष्य) होना, विशेषणता (विशेषण होना), नित्य इत्यादि का
अत्यन्ताभाव, आश्रय के नाश से नष्ट होने वाले गुणादिकों का ध्वंस (नाश) अत्यन्ता-
भाव इत्यादि तथा सयोगाभाव यह सम्पूर्ण केवलान्वयी है क्योंकि ऐसा कोई नहीं
है जिसमें यह प्रमेयत्वादि धर्म न रहते हों । इस कारण सर्वपदार्थों में रहना, अथवा
अत्यन्ताभाव के प्रतिभोगी न होना यह केवलान्वयित्व का धर्म है । (जो जहाँ रहता है
वह उससे भिन्न होता है जैसे घट और उसके रूपादि गुण इस व्याप्ति से प्रमेयत्व धर्म
अपने रहने से स्वभिन्न (अपने से भिन्न) हो जायगा ऐसा दोष पूर्वपक्षी दे सकता
है जिसके परिहाराय शङ्करमिश्र आगे कहते हैं कि)—इन प्रमेयत्वादि धर्मों के अपने
में रहने पर कोई दोष न होगा, क्योंकि इसी कारण वृद्ध नैयायिकादि विद्वानों ने कहा
है कि वृत्तिता में (रहने में) प्रमाण ही शरण (निवामक) है, क्योंकि भेद और
अभेद, वृत्तिता में निवामक नहीं होते (अर्थात् वृत्तिता प्रमाण से जानी जाती है न कि
भेद और अभेद से) । केवल अन्वयव्याप्ति वाले साध्य का साधक हेतु केवलान्वयी
होता है । इसके पक्षसत्त्व (पक्ष में रहना) १, सपक्षसत्त्व (निश्चित साध्यबाले
में रहना) २, अवाधितत्व (बाध न होना ३, असत्प्रतिपक्षितत्व तथा
(विरोधी अनुमान का न होना) ४ ऐसे चार रूप साध्य की साधकता
में हेतु के उपर्युक्त सहायक रूप है । और अन्वयव्यतिरेकी हेतु के विपक्ष
(निश्चित साध्याभाव वाले) में अवृत्तिता (न रहना) के साथ उपर्युक्त चार ऐसे
पाँच रूप हेतु से साध्यसिद्धि करने में सहायक होते हैं, केवल व्यतिरेकि हेतु के उक्त

चत्वारि । तथाच यस्य हेतोर्यावन्ति रूपाणि गमकतीर्षयिकानि तदन्यतर-
रूपहीनः स हेतुराभासः । एषञ्च गमकतीर्षयिकान्यतररूपशून्यत्व हेत्वाभास-
त्वम् , तेनान्यतररूपशून्यत्वस्य निश्चयवत्सन्देहोऽप्यनुमितिप्रतिबन्धकः । वादि-
हेतोरसाधकतासाधनञ्च । न च केवलान्वयिकेवलव्यतिरेकिणोर्हेत्वोरन्यतररूप-
शून्यतया हेत्वाभासत्वापत्तिः, केवलान्वयिनि विपक्षासत्त्वस्य केवलव्यतिरेकिणि
सपक्षसत्त्वस्य गमकतीर्षयिकत्वाभावात् । एवञ्चाश्रयासिद्धस्वरूपासिद्धभागासि-
द्धानां पक्षसत्त्वरूपविरहादाभासत्वम् । न्याय्यत्वासिद्धविरुद्धसाधारणानैकान्ति-
कानां विपक्षासत्त्वरूपवैकल्यात् । असाधारणानैकान्तिकानुपसंहारिणोः सपक्ष-

पाव रूपों में से सपक्षसत्त्व रूप को छोड़कर अवशिष्ट चार रूप माध्यमाघन करने
में सहायक होते हैं । (इसमें अन्वयसहचार ज्ञान के बिना भी अनुमान होता है
यह पूर्वग्रन्थ में दिखता चुके हैं ।) ऐसा होने से जिस हेतु के जितने प्रदर्शित रूप
साध्य की निधि करने में सहायक हो उनमें से किसी एक रूप का न होना ही हेतु
की दुष्टता का प्रयोजक है । ऐसा होने से माध्यसाधक रूपों में से किसी एक रूप
का न होना ही सामान्य दुष्ट हेतु का लक्षण है यह सिद्ध होता है, और उक्त रूपों
में से किसी रूप के न रहने के निश्चय के समान उनका सशय भी अनुमिति का
प्रतिबन्धक होता है, तथा वादी के दिये हेतु में साध्य के साधन करने का सामर्थ्य
नहीं है यह भी निश्चित होता है ।

यहाँ पर 'केवलान्वयी तथा केवल व्यतिरेकी इन दोनों सद्हेतुओं में उक्त पाँच
रूपों में से प्रथम हेतु में विपक्षासत्त्व तथा द्वितीय में नपदामत्त्व रूप न होने से
ये दोनों सद्हेतु भी दुष्ट हेतु हो जायेंगे' ऐसी दावा नहीं हो सकती क्योंकि केवला-
न्वयी में विपक्षासत्त्व तथा केवल व्यतिरेकी सद्हेतु में सपक्षमत्तारूप हेतु साध्य
की साधकता से साधक नहीं होते । (आगे प्रदर्शित रूपों की सत्ता से मुख्य तथा,
गौण हेत्वाभासों को धारमिथ्य दिखाते हैं कि)—ऐसा होने में आश्रयासिद्ध, स्वरूपा-
सिद्ध तथा असमर्थ विशेषणादि पूर्वप्रदर्शित भागासिद्ध ये पक्षमत्त्वरूप न होने से
असिद्ध के अन्तर्गत है । (अर्थात् इनमें विपक्षासत्त्वादिकों का निश्चय न होने से हेत्वा-
भाम व्यवहार होता है । इस प्रकार विपक्षामत्त्वादि ज्ञान के विरोधी गुणों का सम्बन्ध
होने से व्यभिचारादिकों के समान मोषापिता इत्यादिकों में भी दोषत्व है ऐसा,
प्राचीन नैयायिक कहते हैं । किन्तु मोषापिता, अनुकूलनर्कभाव यह साक्षात्
अनुमिति तथा परामर्श के प्रतिबन्धक न होने के कारण व्यभिचारप्रत्यक्ष के कारण
इन्द्रियार्थमनिकर्षादिकों के समान दूसरे का मुख देखने के कारण हेत्वाभाम नहीं
है ऐसा गौणोपाध्याय का मत है ।) (आगे संकरमिथ्य कहते हैं कि)—व्याप्यत्वा-
सिद्ध, विरुद्ध तथा साधारण सव्यभिचार इन तीनों दुष्ट हेतुओं में सपक्षसत्त्वरूप
न होने से हेत्वाभ्रसत्ता है । असाधारण तथा अनुपसंहारी इन दोनों अनैकान्तिक दुष्ट

सत्त्ववैकल्यात् । बाधितसत्प्रतिपक्षितयोरबाधितत्वासत्प्रतिपक्षितत्वविरहान् । एवं सोपाधिकत्वाप्रयोजकत्वयोरपि विपक्षासत्त्वनिश्चयाम्बादादगमकत्वम् । अनुकूलतर्काभावप्रतिकूलतर्कयोरपि विपक्षासत्त्वनिश्चयविरहान् । एवं साध्य-विकलसाधनविकलोभयविकलदृष्टान्ताभासानां यदि हेत्वाभासविधया दोषत्व-सदा सपक्षसत्त्वनिश्चयात्, यदि स्वातन्त्र्येण दृष्टान्ताभासतया तथापि द्वार-हेतोः सपक्षसत्त्वनिश्चय एव । अनुपदर्शितान्वयानुपदर्शितव्यतिरेकविपरी-तोपदर्शितान्वयविपरीतोपदर्शितव्यतिरेकाभ्यु-न्यानां, प्राप्तकाल निग्रहस्थानपर्य-यसम्प्राप्त एव आत्माश्रयान्योन्याश्रयविकलानवस्थाम्बु व्याप्तिनिश्चय विषदयन्तः-सपक्षसत्त्वविपक्षासत्त्वान्वयरूपविकला एव हेत्वाभासतामासादयन्ति । तत्र पक्षे साध्यसत्त्वकोटिउत्तराशयजनको हेत्वाभासः सम्यग्भिचारः । पक्षे साध्याभासनिश्चयकको हेत्वाभासो विरुद्धः । व्याप्तिपक्षधर्मताप्रमितिर्विरहोऽ-सिद्धः । बाधसत्प्रतिपक्षौ तु काश्यपीये मते न स्वतन्त्रौ । तत्र बाध आश्रय-

हेतुओं को सपक्षसत्तारूप न होने के कारण दुष्टहेतुता है । बाधित तथा सत्प्रति-पक्षित इन दोनों में क्रम से अबाधितत्व तथा अमरप्रतिपक्षितहेतुता न होने से दुष्टहेतुता है । इसी प्रकार अनुकूल तर्क का न होना तथा प्रतिकूल तर्क का होना इन दोनों में विपक्षासत्त्व का निश्चय न होने के कारण गौण हेत्वाभासता है । इसी प्रकार साध्य से (विकल) रहित तथा साधन से विकल एव उक्त दोनों से गृहित दृष्टान्ताभासो (दुष्ट दृष्टान्तों) में यदि हेत्वाभासता के रूप से दोषता हो, तो सपक्ष में उस हेतु की सत्ताके निश्चय न होने से दोष होता है, और यदि स्वतन्त्रदृष्टान्ताभास के रूप से दोष हो तो उनमें भी सपक्ष में सत्ताका निश्चय न होने द्वारा ही दोषव्यवहार होता है । जिसमें अन्वयव्याप्ति को न दिखलाया जाय, जिसमें व्यतिरेकव्याप्ति न दिखाई जाय, जिसमें विपरीत अन्वयव्याप्ति तथा विपरीत व्यतिरेक व्याप्ति दिखाई हो ऐसे हेतु न्यून, अप्राप्तकाल, निग्रहस्थान में ही अन्तर्भूत होते हैं । आत्माश्रय, अन्यो-न्याश्रय, चक्रक, अनवस्थारूप हेतु में दोष तो व्याप्ति-निश्चय को हटाते हुए सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्त्व इत्यादि पक्ष रूपों में से किसी एक रूप से गृहित होने से ही हेत्वाभास-रूपता को प्राप्त होते हैं । उनमें में साध्य की सत्ता तथा असत्ता ऐसे दो कोटिवाले सशय को उत्पन्न करनेवाले दुष्टहेतु को मर्यादित कहते हैं । पक्ष में साध्य के अभाव के निश्चय को उत्पन्न करने वाले हेत्वाभास को विरुद्ध कहते हैं । व्याप्ति तथा पक्षधर्मता के ज्ञान से विरहित हेतु को असिद्ध दुष्ट हेतु कहते हैं । बाध तथा सत्प्रतिपक्ष यह दोनों तो कणाद महर्षि के मत में स्वतन्त्र हेत्वाभास ही नहीं है । उनमें से बाध आश्रयसिद्ध अथवा अनैकान्तिक दुष्ट हेतु में ही अन्तर्गत होता है (अर्थात् पक्ष में साध्य के अभाव को बाध कहते हैं, अतः वह आश्रयसिद्ध ही है । अर्थात् इसमें भी आश्रयसिद्धि के समान पक्षसत्तारूप नहीं है । साध्य के अभाव

सिद्धावनैकान्तिके वा पर्यवस्यति । तदुक्तं “बाधायामपक्षधर्मो हेतुरनैकान्तिको वा” इति । सत्प्रतिपक्षोऽप्यन्यतरत्र व्याप्त्यादिसंशयभाषादयन् अनैकान्तिक आदावेव पर्यवस्यति ।

वृत्तिकारस्तु “अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन् सन्दिग्धाश्चनपदेशः” इति सूत्रस्थ-
चकारस्य बाधसत्प्रतिपक्षसमुच्चयार्थतामाह । तेन “सव्यभिचारविरुद्धप्रकरण-
समसाध्यसमातीतकालाः पञ्च हेत्वाभासाः” इति गौतमीयमेव मतमनुधावति ।
परन्तु ‘विरुद्धासिद्धसन्दिग्धमलङ्घ्य काश्यपोऽज्वीत्’ इत्याद्यभिधानात्
सूत्रकारस्वरसो हेत्वाभासत्रित्वे, चकारस्तूक्तसमुच्चयार्थ इति तद्वत् । ग्रन्थ-
गौरवभयान् मपक्षो न कुनो मयूरो विस्तरोऽन्वेष्टव्यः ॥१०॥

इदानीं हेत्वाभासविवेचनस्य फलमाह—

आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षाद्यभिपद्यते तदन्यत् ॥१८॥

चाले पक्ष मे हेतु के मत्ता के ज्ञान होने से व्यभिचार के समान बाध मे भी नपक्ष
मत्तारूप न होने से बाध अथवा अनैकान्तिक ही होता है, इसी अभिप्राय से शंकर-
मिश्र ने ऊपर अनैकान्तिक मे बाध का अन्त भी दिखाया है (इसी अभिप्राय से
शंकरमिश्र प्रमाण दिलाते हैं कि)—‘बाधायामपक्षधर्मो हेतुरनैकान्तिको वा
अर्थात् बाध मे दुष्ट हेतु पक्ष मे नहीं रहता अथवा व्यभिचारी होता है, ऐसा प्राचीन
कणाद महर्षि के मतानुयायी का वचन है । सत्प्रतिपक्ष मे दो अनुमानों मे से एक मे
स्थापति तथा पक्षधर्मता और परामर्श इत्यादिको मे मशय का उत्पादक होना हुआ
सव्यभिचारादिको मे ही अन्तर्भूत होता है । किन्तु ‘अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन् सन्दि-
ग्धाश्चनपदेशः’ इस सूत्र के ‘चकार’ पद से सूत्रकार ने ‘बाध तथा सत्प्रतिपक्ष इन दोनों
हेत्वाभासों का संग्रह होता है’ यह कहा है, इसमे सव्यभिचार १, विरुद्ध २, प्रकरण-
सम (सत्प्रतिपक्ष) ३, नाप्यनम (अनिष्ट) ४, अतीतकाल (बाधित) ५, ऐसे पाँच
हेत्वाभास हैं इसलिये गौतमोक्त उक्त पाँच हेत्वाभास होने का ही मत महर्षि कणाद
ने भी स्वीकृत किया है, ऐसा वैजेषिक सूत्र के वृत्तिकार का यहाँ मत है, किन्तु
प्रणन्तपादभाष्य मे ‘विरुद्धासिद्धसन्दिग्धमलङ्घ्य काश्यपोऽज्वीत्’ अर्थात् विरुद्ध, अनिष्ट
तथा सन्दिग्ध को कश्यपगोत्री कणाद महर्षि ने तीन प्रकार के ही हेत्वाभास कहे हैं
इस कारण हेत्वाभास तीन हैं इसी मे सूत्रकार का अभिप्राय है और चकार इन कहे
हुए तीन हेत्वाभासों का ही संग्रह करता है यह वास्तविक उत्तर है । ग्रन्थ के गौतम
(वट जाने के)—अथ से यहाँ हमने विस्तार नहीं किया है, जो मयूख मे पाठको
को अन्वेष्टन (खोज) करना चाहिये ॥ १७ ॥

मात्र प्रदर्शित हेत्वाभास के विवेचन का फल सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षात्—आत्मानहित इन्द्रिय तथा अर्थ के

आत्मेन्द्रियार्थसंज्ञिकर्योत्तावज्ञानमुत्पद्यते तच्च आत्मनि लिङ्गम् असिद्धविरु-
द्धानैकान्तिकेभ्योऽन्यत् अनाभासमित्यर्थः । तथाहि ज्ञानमात्मन्युभयथा लिङ्गम्,
ज्ञानं क्वचिदाश्रितं कार्यत्वाद्रूपादिवदिति वा, प्रत्यभिज्ञारूपतया वा योऽहमद्राक्षं
सोऽहं स्पृशामाप्ति । तत्र ज्ञानगतं कार्यत्वं नासिद्ध यन्निष्पद्यत इत्यभिधानात् ।
न विरुद्ध सामान्यतोः दृष्टेऽत्र विरोधाभावात् । न चानैकान्तिकम् तत् एव ।
तथाच स्वगतकार्यत्वगुणत्वद्वारा सामान्यतोदृष्टेन ज्ञानमेवात्मनि लिङ्गम् ।

सन्निकर्षं से, यत् = जो, उत्पद्यते = उत्पन्न होता है, तत् = वह ज्ञान, अन्यत् = हेत्वा-
भास नहीं है ॥ १८ ॥

भावार्थ—आत्मासहित इन्द्रिय तथा पदार्थों के सन्निकर्ष से जो ज्ञान उत्पन्न
होता है, वह आत्मा का साधकलिङ्ग दुष्टहेतु नहीं है । इसमें अप्रत्यक्ष तथा अनुमिति
के कारण आत्मा तथा मूर्तद्रव्यों के मयोग से अनुमिति के कारण व्याप्तिपक्षधर्मता
इत्यादिक, का प्रतिपादन न होने के कारण तथा अनुमिति न होनेसे भी 'इन्द्रियार्थ'
ऐसा विशेषण तथा इन्द्रिय और अर्थ के मयोग के नाश में व्यभिचार-निरासार्थ
'आत्म'पद दिया है । ऐसा होने से आत्मासहित इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से जो
उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष रूप ही ज्ञान होता है, अतः असिद्ध तथा व्यभिचार दोष
नहीं हो सकते यह सूत्रकार का आशय है ॥ १८ ॥

उपस्कार—आत्मासहित इन्द्रिय और अर्थों के सन्निकर्ष से प्रथम ज्ञान उत्पन्न होता
है और वह भी आत्मा में साधक लिङ्ग है । और वह असिद्ध, विरुद्ध तथा अनैका-
न्तिक तीनों हेत्वाभासों से भिन्न है यह सूत्र का अर्थ है । वह इस प्रकार है कि ज्ञान-
गुण दो प्रकार से आत्मा का साधक है—'ज्ञान किसी में आश्रित है, कार्य होने से,
रूपादि गुणों के समान' इस अनुमान से, अथवा 'जिसे मैंने देखा था, वह मैं स्वयं
करता हूँ' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा में । उसमें से प्रथम अनुमान में दिया हुआ कार्यत्व
हेतु ज्ञानपक्ष में असिद्ध नहीं है क्योंकि 'यन्निष्पद्यते' जो पैदा होता है' ऐसा कहने
के कारण कार्यत्वहेतु ज्ञान में सिद्ध ही है । न कार्यत्वहेतु विरुद्ध भी है, क्योंकि इस
सामान्यतोदृष्ट नामक अनुमान में विरोध नहीं है (अर्थात् सामान्यतोदृष्टानु-
मान में उपस्थित जिनने हेतु के समान जातीय हो वह अपूर्ण साध्य के समानजातीय
होते हैं ऐसा व्याप्तिज्ञान होने से तथा प्रस्तुत कार्यत्वहेतु के ज्ञानरूप पक्ष में रहने
का ज्ञान होने से भी प्रस्तुत साध्य के विरोधि (व्याप्यादि) ज्ञान उमको विधटक
(रोकनेवाला) नहीं हो सकता, अतः विरोध दोष नहीं है । इसी कारण उक्त
ज्ञान के होने में प्रवृत्त साध्य के असामानाधिकरण्य (एक आश्रय में न रहना) रूप
व्यभिचारज्ञान के प्रतिबन्धक न होने से ही शंकरादि कहते हैं कि)—'इस कार्यत्व
हेतु में अनैकान्तिकता दोष से दुष्टता नहीं है । ऐसा होने से ज्ञानगुण में वर्तमान

प्रत्यभिज्ञानन्तु भिन्नकृतकेभ्यो व्यावर्त्तमानमेककर्तृकतायां पर्यवस्यति । न च बुद्धिचैतन्येऽपि कार्यकारणभावनिबन्धनमेव प्रतिसन्धानम्, शिष्यगुरुबुद्धयोरपि प्रतिसन्धानप्रसङ्गात् । उपादानोपादेयभावस्तत्र नास्ति स च प्रतिसन्धानप्रयोजक इति चेदुपादानत्वस्य द्रव्यधर्मनया बुद्धावसम्भवात्, सम्भवे वा बुद्धोर्ना क्षणिकतया पूर्वानुभूतप्रतिसन्धानानुपपत्तेः । न हि पूर्वबुद्ध्या उत्तरासु बुद्धिषु कश्चित् संस्कार आधीयते, स्थिरस्य तस्य स्वयाऽनभ्युपगमात् । क्षणिकबुद्धिघा-
गरूपस्य च कालान्तरस्मृतौ प्रतिसन्धानं वाऽसामर्थ्यात् । आलम्ब्य-
विज्ञानसन्तानः प्रवृत्तिविज्ञानसन्तानादन्य एव स्मर्त्ता च प्रतिसन्धाता

कार्यत्व तथा गुणत्व के द्वारा प्रदर्शित सामान्यतोऽष्ट अनुमान से ज्ञान ही आरम्-
साधक सद्धेतु है । प्रदर्शित प्रत्यभिज्ञा तो भिन्न कर्ताओं में न हो सकने से एक ही
प्रत्यभिज्ञा का कर्ता है इस विषय में पर्यवमित (समाप्त) होती है ।

यहाँ बौद्धमत से पूर्वपक्ष दिखाकर शंकरमिश्र कहते हैं कि)—‘क्षणिकविज्ञान
आत्मा है । इन बौद्धों के पक्ष में भी उक्त प्रत्यभिज्ञा हो सकेगी, क्योंकि पूर्व-पूर्व विज्ञान
द्वारा उत्तर २ विज्ञानों में कारण होने से मध्य नामक मनुष्य के देखे हुए की चैत्र
की प्रत्यभिज्ञा न होगी, क्योंकि उनके क्षणिक विज्ञानरूप आत्मा का कार्यकारणभाव
नहीं है’ ऐसा बौद्धमत युक्त नहीं है क्योंकि ऐसा मानने से शिष्य तथा गुरु के ज्ञानों में
प्रयोष्य-प्रयोजक (प्रेयश्चरकभावरूप) कार्यकारणभाव होने के कारण गुरु के अनुभव
किये विषय का शिष्य को भी स्मरण होने लगेगा ।

यदि बौद्ध कहे कि ‘शिष्य तथा गुरु के क्षणिकज्ञानरूप आत्माओं में उपादान-
उपादेय (समवायिकारण तथा कार्यभाव) नहीं है, (किन्तु गुरु का विज्ञान शिष्य-
विज्ञान में निमित्त कारण है), वही स्मरणादिप्रतिसन्धान का प्रयोजक (कारण)
होता है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि समवायिकारणता द्रव्य का धर्म होने के
कारण ज्ञानगुण में नहीं हो सकती । यदि हो तो भी ज्ञानों के बौद्धमत में क्षण-
विनाशी होने के कारण पूर्वकाल में अनुभव किये विषय का स्मरणादि-प्रतिसन्धान
न बन सकेगा । क्योंकि पूर्व २ ज्ञानों से उत्तर २ विज्ञानों में कोई भावनात्मकार
उत्पन्न नहीं होता, हो भी तो आप बौद्ध उसे स्थिर नहीं मानते । क्षणिक ज्ञानों
की धाराएँ संस्कार भी क्षणविनाशी होने के कारण कालान्तर (भिन्नकाल) में
स्मरण होने अथवा प्रतिसन्धान (पश्चात् अनुमन्धान) करने में सामर्थ्य नहीं
रखता । यदि ‘तत्स्यादालम्ब्यविज्ञान यद्भवेदहमास्पदम् । तत्स्यात्प्रवृत्तिविज्ञान
यन्नीलादिकमुल्लिखेत् ।’ अर्थात् अह (मैं) हूँ इस विज्ञानद्वारा को आलम्ब्यविज्ञान

चेति चेत्, ॥ यदि स्थिरः तदा सिद्धं नः समोहितम् । क्षणिकबुद्धिधारारूपश्चेत् तदा पूर्वदोषानतिवृत्ते, न हि तत्रापि स्थिरः कश्चित् संस्कारः । किञ्च प्रवृत्ति-विज्ञानातिरिक्ते तत्र प्रमाणाभावः । अहमिति बुद्धिधारैव प्रमाणमिति चेत् भवतु तत्र यदि प्रवृत्तिविज्ञानान्यालयविज्ञानमेव चेदुपादत्ते तदा प्रवृत्तिविज्ञानानामुपादानताविरहे निमित्तताऽपि न स्यात्, उपादानताव्याप्तत्वाच्च निमित्ततायाः । माऽस्तु निमित्तताऽपीति चेत् तर्हि सत्त्वमपि गतम्, अर्थक्रियाकारित्वस्य सत्त्वलक्षणत्वात् । प्रवृत्तिसन्तानालयविज्ञानसन्तानाभ्यां सम्भूय सन्तानद्वयमुपादोयत इति चेत् तर्हि किमपराद्धमवयवसंयोगादिभिः, व्यासज्यवृत्तितायास्तयाप्यभ्युपगमात् । तस्माज्ज्ञानेनाश्रयतयाऽनुमितमात्मानं प्रतिसन्धानं स्थिरत्वेन साधयतीति न किञ्चिदनुपपन्नम् ।

तथा यह नील है' इत्यादि ज्ञानधारा को प्रवृत्तिविज्ञान कहते हैं, ऐसे बौद्धग्रन्थों के प्रमाण होने से आलयविज्ञानरूप आत्मा प्रवृत्तिविज्ञानों से भिन्न ही है और स्मरण तथा अनुसन्धान इत्यादि करनेवाला भी है' ऐसा बौद्ध कहे तो यदि वह आलयविज्ञानरूप बौद्धों का आत्मा स्थिर हो तो हम नैयायिकों की इच्छा का विषय (नित्य आत्मा मानना) मत मिट्ट हो गया । और यदि वह आलयविज्ञानरूप आत्मा भी क्षणिक ज्ञान-प्रवाहरूप है तो पूर्वोक्त दोष नहीं हट सकते, क्योंकि आप कालान्तर में स्मरण का उत्पादक कोई स्थिर संस्कार नहीं मानते तथा प्रवृत्ति-विज्ञान से भिन्न आलयविज्ञान मानने में कोई प्रमाण भी नहीं है। यदि बौद्ध कहे कि 'अहं' मैं हूँ, मैं हूँ ऐसी ज्ञानों की धारा ही उसमें प्रमाण है तो बौद्ध यह बतलावे कि यदि आलयविज्ञान प्रवृत्तिविज्ञानों का उपादानकारण हो तो प्रवृत्ति-विज्ञानों में समवायिकारणता न होने से निमित्तकारणता न आवेगी क्योंकि निमित्तकारण जहाँ होता है वह उपादान (समवायि) कारण भी होता है यह नियम है । यदि 'प्रवृत्तिविज्ञान निमित्तकारण भी न हो' ऐसा कहो तब तो उसकी सत्ता भी चली जायगी, क्योंकि अर्थक्रियाकारित्व (किमी कार्य को करता) ही सत्ता का लक्षण बौद्धों ने माना है । यदि 'प्रवृत्तिज्ञानधारा तथा आलयविज्ञान-धारा दोनों से मिल कर दोनों प्रकार के ज्ञानसन्तान उत्पन्न होते हैं' ऐसा कहो तो हमारे नैयायिकों के माने अवयवियों के संयोगादिकों ने क्या अपराध किया है, क्योंकि व्यानज्यवृत्तिता (एक भिन्न में रहना) आपने भी मान ही लिया । इस कारण ज्ञानरूप गुण के आधाररूप से पूर्वप्रदर्शित सामान्यतोदष्ट अनुमान द्वारा सिद्ध आत्मा को स्मरण तथा अनुसन्धान, ज्ञानादिक स्थिर ही सिद्ध करते हैं इसलिये कोई अनुपपत्ति (न होने का दोष) नहीं हो सकता ।

यदा नित्या बुद्धिर्नास्तीति कारणत्वेन गमयितुमर्हतीति साहचर्यमतनिरासाय सूत्रमिदमुपनिष्ठते “आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षाद् यन्निष्पद्यते तदन्यत्” । बुद्धितत्त्वं यत्त्वयोच्यते सञ्ज्ञानमेव, बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमिति द्वि पद्व्यायाभिधानं तच्चात्मादि-सन्निकर्षादुत्पन्नम्, अन्यदेव त्वदभ्युपगतादन्तःकरणादित्यर्थः । तथाच भवति तत् आत्मनो लिङ्गमिति भावः ॥१८॥

आत्मन्यनुमानमभिधाय इदानीं परात्मानुमानमाह—

प्रवृत्तिनिवृत्ती च प्रत्यागात्मनि दृष्टे परत्र लिङ्गम् ॥१९॥

प्रत्यागात्मनीति । स्वात्मनोऽप्यर्थः । इच्छाद्वेषजनिते प्रवृत्तिनिवृत्तौ प्रयत्नवि-

(अथवा प्रकृति ही जगत्कार्य की करी है । उसका आत्मा कारण नहीं है ऐसे साह्यमत के खण्डन के पक्ष में सूत्र का समन्वय करते हुए चकरमिश्र कहते हैं कि)—अथवा निश्चयबुद्धि (प्रकृति का प्रथम परिमाण) आत्मा कारण है ऐसा बोधित नहीं कर सकती’ ऐसे साह्यमत के खण्डन के लिये ‘आत्मेन्द्रियार्थसंनि-कर्षाद्विष्पद्यते तदन्यत्’ यह सूत्र उपस्थित होता है । जो आप साह्यमतावलम्बी बुद्धिनामक तत्त्व (पदार्थ) कहते हैं, वह बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान यह पर्याय शब्द हैं, वह ज्ञान आत्मा इन्द्रिय आदिको के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है और वह साह्यों के माने अन्तःकरण रूप बुद्धि से भिन्न है यह सूत्र का अर्थ है, ऐसा होने से वह आत्मा का लिङ्ग (साधकसत्वेतु) है ॥ १८ ॥

इस प्रकार हव आत्मा में अनुमानप्रमाण कहकर साप्रत पर आत्मा का अनुमान-प्रकार सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—प्रवृत्तिनिवृत्ती च = और किसी कार्य में प्रवृत्ति तथा निवृत्ति होना, प्रत्यागात्मनि = अपनी आत्मा में, दृष्टे = देखे हुए, परत्र = पर की आत्मा में, लिङ्ग = साधक होते हैं ॥ १९ ॥

भा.वार्थ—अपने आत्मा की इच्छा तथा द्वेष से जैसे किसी कार्य में प्रवृत्ति तथा निवृत्ति होती है उसी प्रकार अन्य शरीर में भी चेष्टा को देखकर प्रवृत्ति-निवृत्ति-रूप प्रयत्न वाले आत्मा की अनुमान से सिद्ध होती है ॥ १९ ॥

उपस्कार—‘प्रत्यागात्मनि’ इस सूत्र के पद का स्वात्मा (अपनी आत्मा) ऐसा अर्थ है । इच्छा तथा द्वेष से होनेवाली कार्यों में प्रवृत्ति तथा निवृत्तिरूप विशेष प्रयत्न गुणों को और उन दोनों से क्रम से हित की प्राप्ति तथा अहित की निवृत्ति रूप फल को उत्पन्न करनेवाली चेष्टारूप दोनों शरीर में क्रिया होती है । ऐसा

जोषौ ताभ्याम् च हिताहितप्राप्तिपरिहारफलके शरीरकर्मणो चेष्टालक्षणे जन्म्येते ।
 तथाच परशरीरे चेष्टा दृष्टा इयं चेष्टा प्रयत्नजन्याचेष्टात्वात् मदीयचेष्टावत् स
 च प्रयत्न आत्मजन्य आत्यनिष्ठो वा प्रयत्नत्वात् मदीयप्रयत्नवदिति पर-
 मात्मानुमानम् ॥ १९ ॥

इति शाङ्करे वैशेषिकसूत्रोपकारे तृतीयाध्यायस्याद्यमाहिकम् ।

होने में हमारे के शरीर में उक्त चेष्टा को देखकर 'यह चेष्टा प्रयत्न से उत्पन्न है,
 चेष्टा होने से, मेरी चेष्टा के समान और 'वह प्रयत्न आत्मा से उत्पन्न हुआ है, अथवा
 आत्मा में रहता है प्रयत्न होने से, मेरे प्रयत्न के समान' इस प्रकार पर आत्मा की
 अनुमान से सिद्ध होती है ॥ १९ ॥

इस प्रकार शंकरमिश्रवृत्त वैशेषिकसूत्रों की उपस्कार नामक व्याख्या में
 तृतीयाध्याय का प्रथम आह्निक समाप्त हुआ ।

तृतीयाध्याये द्वितीयाह्निकम्

हेतुहेत्वाभासविवेकः आह्निकार्थः । इदानीमात्मपरीक्षां चत्तयिग्यन्

ब्रह्मेशक्रमलङ्घनेन मनःपरीक्षामवतारयन्नाह—

आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भासोऽभावश्च मनसो लिङ्गम् ॥ १ ॥

मनोगतिमात्रमनो लिङ्गं वक्ष्यति । सद्य यदि मनो ज्ञानकरणत्वेन मूर्त्तत्वेन च परोक्षितं भवति तदा यत्प्रेरितं मनः इन्द्रियान्तरादभिमतविषयप्राप्तिणि इन्द्रिये सम्बध्यते स आत्मेति सिद्धं भवतीत्येतदर्थं क्रमलङ्घनम् । आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे

पृथिवी आदि अष्ट द्रव्यो से भिन्न आत्मारूप द्रव्य के साधक हेतु तथा शरीरादि आत्मभिन्न पदार्थों से आत्मता के साधक दुष्ट हेतुओं का विवेचन (विचार) करना सम्पूर्ण द्वितीयाह्निक का अर्थ है इस आशय से प्रथम सूत्र का शरकरभिन्न अवतरण देते हैं कि—सद्वेतु तथा अमद्वेतु का विवेचन करना सम्पूर्ण इस द्वितीय आह्निक का अर्थ है । सामान्य उक्त आत्मा का परीक्षा के अवशिष्ट भाग को आगे दिखाने के किये उद्देश के क्रम को छोड़कर मध्य में मन द्रव्य की परीक्षा का सूत्रकार अवतरण देते हैं—

पदपदार्थ—आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे = आत्मा, इन्द्रिय तथा अर्थ का सन्निकर्ष (सम्बन्ध) होने पर, ज्ञानस्य = ज्ञान का, भाव = सत्ता (होना), अभाव च = और अमत्ता (न होना) भी, मनस्य = मन नामक द्रव्य का, लिङ्ग = साधक है ॥१॥

भाषार्थ—आत्मा, इन्द्रिय तथा अर्थों (विषयो) का सन्निकर्ष (सम्बन्ध) होने पर भी ज्ञानादि रूप गुण जिसके रहने से आत्मा में उत्पन्न होते हैं तथा न रहने से उत्पन्न नहीं होते यह अर्थान् ज्ञानादिको का होना न होना जिसके कारण होता है, वह मनरूप द्रव्य की सत्ता में साधक लिङ्ग है ॥ १ ॥

उपस्कार—मन की गतिनामक क्रिया आत्मा की साधक होती है यह चतुर्थ-सूत्र में कहेंगे । किन्तु उम मन की यदि मन ज्ञानकरण है तथा मूर्त्तद्रव्य है यह परीक्षा द्वारा सिद्ध हो जाय तो जिसकी प्रेरणा से मन दूसरे बाह्य चक्षुरादि इन्द्रियो से हटा कर अभिमत (प्रिय) विषय को ग्रहण करनेवाले इन्द्रिय में सम्बन्ध को करना है, वह आत्मा है यह सिद्ध होता है इसलिये आत्मसाधन प्रकरण का उत्पन्न कर (छोड़कर) प्रथम मन की सिद्धि यहा सूत्रकार ने की है । आत्मा, इन्द्रिय तथा अर्थों के सन्निकर्ष के रहते जिसके बाह्य इन्द्रियो से सम्बन्ध होने पर ज्ञानगुण का भाव (उत्पत्ति) होती है, और जिस बाह्येन्द्रियो के साथ सम्बन्ध न होने से ज्ञान का

सति यस्मिन् इन्द्रियसन्निकृष्टे ज्ञानस्य भावः उत्पादः, असन्निकृष्टे ज्ञानस्याभावो-
 ऽनुत्पादस्तन्मम इत्यर्थः । अनु मनोपैभवेऽपि करणधर्मत्वादेव ज्ञानायोगपक्षमुप-
 यते, किंच मना विभु विशेषगुणशून्यद्रव्यत्वात् कालघत्, ज्ञानासम्भाविकार-
 णसयोगाधारत्वादात्मवत्, स्पर्शात्यन्ताभाववत्त्वादाकाशश्चदित्यादि यैभ्यसाधक
 प्रमाणमिति चेत्, मैवम् यदि मनो विभु स्यात्तदा सर्वेन्द्रियसन्निकृष्टात्त सर्व-
 इन्द्रियकमेकमेव ज्ञान स्यात् । कार्यविरोधान्नैवमिति चेन्न नहि सामग्री विरो-
 धाविरोधमाकलयति येन चाक्षुषप्रत्यक्षरासनत्वाद्विरोधाय विभ्येत्, विचित्ररूपवत्
 चित्राकारमेव वा स्वाम् । भवत्येव दीर्घशङ्कुलीभक्षणस्थले इति चेन्न तत्रापि
 क्यासङ्गदर्शनात् । तर्हि रूपरसगन्धस्पर्शान् युगपत् प्रत्येभ्योति कथमनुक्यवसाय
 इति चेन्न श्रोत्रसंस्कारिमनोजनिवेषु पंचसु स्मृयुपनीतज्ञानेषु यौगपद्याभिमा-
 नात् । व्यासङ्गोऽपि करणधर्माधीन इति चेन्न उक्तात्तरत्वात् । बुभुक्षसाधिनो
 व्यासङ्ग इति चेन्न सर्वबुभुक्षसायां सर्वविषयकसर्वोदयप्रसंगात् । बुभुक्षसाया अपि

अभाव अर्थात् उत्पत्ति नहीं होती, वह मन नामक द्रव्य है । पूर्वपक्षी मन को व्यापक
 मानकर शका करता है कि 'मनरूप करण को व्यापक मानने पर भी एक करण
 एक समय एक ही में एक ही क्रिया को उत्पन्न करता है, अनेक क्रिया को उत्पन्न
 नहीं करता ऐसा नियम होने से अनेक ज्ञानों की एक काल में उत्पत्ति नहीं होगी ।
 इसीसे हम मन व्यापक है, विशेष गुणों से शून्य द्रव्य होने के कारण काल के समान
 अथवा ज्ञान के असम्भाविकारणमयोग का आश्रय होने से, आत्मा के समान, या
 रस के अत्यन्ताभाव का आधार होने से, आकाश के समान । यह 'अनुमान से ही
 मन में विभुत्वसाधक प्रमाण दे सकते हैं । (उत्तर में शंकरमिश्र कहते हैं कि) पूर्व-
 पक्षी ऐसा नहीं कह सकता, क्योंकि यदि मन व्यापक होगा तो सम्पूर्ण बाह्येन्द्रियों
 से सम्बन्ध होने के कारण उस मन से सम्पूर्ण इन्द्रियों से होनेवाला एक ही ज्ञान
 होगा । यदि चाक्षुषप्रत्यक्ष रासन प्रत्यक्षादिकों का परस्पर विरोध होने से ऐसा
 न होगा' ऐसा कहो तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि कार्य होने की सामग्री कार्य के
 विरोध तथा विरोध न होने का विचार नहीं रखती, जिससे कार्य में चाक्षुष प्रत्यक्षता
 तथा रासनादि प्रत्यक्षों के विरोध के लिये भय करे, अथवा चित्ररूप के समान
 विचित्र रूप ही कार्य होगा । यदि पूर्वपक्षी कहे कि लम्बी शङ्कुली (गुहिया) के छाने
 के समय चाक्षुष तथा रासन और घ्राणेन्द्रियजन्य भी विचित्र प्रत्यक्ष ज्ञानरूप कार्य
 होता ही है, तो यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि वहा भी दूसरे प्रत्यक्ष के विरोधी
 प्रत्यक्ष को उत्पन्न करनेवाले संयोगविशेष व्यासङ्ग (एक ही पदार्थ के ज्ञान में
 आसक्ति) देखने में आती है (अर्थात् लम्बी गुहिया छाने के समय किसी छाने
 वाले के मन का रमनेन्द्रिय से उक्त व्यवसाय के कारण रस का ही अनुभव होता है
 तथा किसी को घ्राणेन्द्रिय से व्यासङ्ग के कारण गन्ध का ही अनुभव होता है ऐसा

अभिमतार्योप्राप्तीन्द्रियमनःसम्बन्धमात्रकृत्वत्वात्, तस्माज्ज्ञानायोगपद्यान्यथानुपपत्त्या सिध्यति अणु मनः । ततो धर्मिमाहकमानवाधिताः वैभवहेतवः । किंच मनोवैभवे पादे मे सुखं शिरसि मे वेदनेति प्रादेशिकत्वं सुखादीना न स्यात् विभुकार्याणामसमवायिकारणावच्छिन्नदेशे उत्पादनियमात् । तथापि सुखादीना-

पुरप तथा कालादि भेद से निम्नित होता है) ॥ 'यदि ऐसा है तो मैं दीर्घ शम्कुली के रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श को एक साथ ही जानता हूँ ऐसा अनुभव क्यों होता है' ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो यह भी ठीक नहीं है । क्योंकि क्षीघ्र नञ्चार करनेवाले मन से उत्पन्न स्मरण से प्राप्त उक्त पाँच प्रकार के वम से होनेवाले ज्ञानों में एक साथ अनुभव करना हूँ ऐसा एककाल में होने का अभिमान (अम) है । वस्तुतः उक्त पाँचों ज्ञान क्रम से ही होते हैं । यदि पूर्वपक्षी कहे कि व्यासङ्ग (एक विषय में आसक्ति) यह भी (एककरण एक काल में एक ही क्रिया को उत्पन्न करता है । इस कारण-धर्म के ही अधीन है (अन मन को विभु मानने में भी कोई दोष न आवेगा) तो ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि हमका उत्तर दे ही चुके हैं । (अर्थात् 'वह्निषामघी' इत्यादि उपस्कार में सम्पूर्ण इन्द्रियो के सयोगरूप सामग्री रहने पर एक ही के साथ सयोग होता है अन्य के साथ नहीं, अथवा सम्पूर्ण सयोग के रहने पर भी एक ही प्रत्यक्ष होता है हमरा नहीं होता यह युक्त नहीं है यह यहाँ शङ्करमिश्र का तात्पर्य है) । यदि पूर्वपक्षी कहे कि—मन को विभु मानने पर भी (बुभुत्सा) ज्ञान की होने की इच्छा के अनुसार मन का व्यासङ्ग (एक विषय में आसक्ति) भी बन जायगी तो वह नहीं हो सकता क्योंकि तब तो (मर्व बुभुत्सा) सम्पूर्ण ज्ञानों के होने की इच्छा रहते सम्पूर्ण विषय कभी एक काल में ज्ञान होने लगेंगे । और बुभुत्सा का भी प्रिय विषय को ग्रहण करनेवाले इन्द्रिय के साथ मन का सम्बन्ध होना फल है, इस कारण ज्ञानों के एक काल में उत्पन्न न होने की मन को अणु मानने बिना सिद्धि न हो सकने के कारण मन अणु परिमाण वाला मिद होता है । इस कारण पूर्वपक्षी के किये अनुमानों में मन के विभुत्व-साधक हेतु बाधित दुष्ट हेतु हैं । (अर्थात् चाक्षुष-प्रत्यक्ष करने वाले मनुष्य का चाक्षुषप्रत्यक्ष विषय पदार्थ में सम्बद्ध घ्राणेन्द्रिय अपने विषय के घ्राणेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष के कारण मयोम से रहित है, चाक्षुष पदार्थ-प्रत्यक्ष काल में घ्राणेन्द्रियजन्य प्रत्यक्षजनक न होने से, इन्द्रियसम्बद्ध धटादिकों के समान, इस अनुमान से विभुत्व का बाध होने से पूर्वपक्षी के हेतु बाधित हैं) । और एक यह भी दोष है कि यदि मन को व्यापक मानने से मेरे घेर में आराम है किन्तु गिर में पीडा है । इत्यादि रूप से सुखादि आत्मगुणों में जो एकदेश में होने का अनुभव होता है वह मन को व्यापक मानने से न होगा, क्योंकि विभुद्रव्य के कार्यों की असमवायिकारण में युक्त प्रवेश में ही उत्पन्न होने का नियम है । तत्पापि मन को अणु मानने से सुखादि गुण अणुप्रदेश हो जायेंगे' ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता,

मनुदेशावतिरिति चेन्न असमवायिकारिणं विभुकार्थं स्वदेशे जनयत्येवेति निय-
मात्, तथाच निमित्तचन्दनाद्यवच्छेदादधिकदेशोऽपि जननाविरोधात्। ममापि
निमित्तसमवधानानुरोध इति चेन्न उक्तनियमभगप्रसगात्। क्रिचात्मना विभुना
मनस, सयोगोऽपि कथं भ्यात्। अत्रोऽसाविनि चेन्न विभागस्याप्यजत्वप्रस-
गात्। अवच्छेदभेदेनोभावप्यविरुद्धाविति चेन्न सयोगविभागयोरवच्छेदभेद-
स्य स्वकारणाधीनत्वात् अजयोस्तु तदभावादिनि दिक् ॥ १ ॥

ननु सुखाद्युपलब्धि करणसाध्या क्रियात्वात् रूपोपलब्धिवदित्यानुमा-
नात् युगपच्छानानुत्पत्त्या वा यन्मनः सिद्धं तत्करणतया तथाच तस्य द्रव्यत्व
नित्यत्वञ्च कुत इत्यत आह—

तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥ २ ॥

क्योकि असमवायिकारण व्यापक के कार्य को अपने देश में उत्पन्न करना ही है यह
नियम है। इसीमें मुख के निमित्तकारण चन्दनादिको के आश्रय हस्त आदि अवयवों
से अधिक प्रदेश में भी चन्दन से उत्पन्न मुख का अनुभव होता है। 'मेरे भी (मन को
व्यापक मानने के) पक्ष में भी निमित्तकारण चन्दनादिको के सानिध्य की मन
आवश्यकता रह सकेगा' ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता क्योंकि (असमवायिकारण
व्यापक समवेत कार्य को असमवायिकारण वाले प्रदेश में उत्पन्न करता ही है) इस
पूर्वोक्त नियम का भग हो जायगा। (यदि 'निमित्तकारण की अपेक्षा करनेवाले
असमवायिकारण को कारण माने तो मन के विपुत्वपक्ष में दोष न होगा' ऐसा
पूर्वपक्षी कहे तो शकस्मिन् दूसरा दोष देते हैं कि) —व्यापक आत्मा व्यापक मन
का सयोग भी कैसे उत्पन्न होगा (क्योंकि उनकी अप्राप्ति नहीं है, अप्राप्ति की प्राप्ति
को ही सयोग कहते हैं)। यदि कहो कि 'आत्मा तथा मन का सयोग नित्य होगा'
यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि सयोग के समान विभागगुण भी नित्य हो जायगा।
यदि कहो कि अवच्छेदक (विशेषण) के विभेद से सयोग तथा विभाग दोनों विरुद्ध न
होंगे तो यह भी कहना युक्त नहीं है, क्योंकि सयोग तथा विभाग के अवच्छेद का
(विशेषण व्यावर्तक) का भेद अपने २ कारण के अधीन होता है, नित्य सयोग
तथा विभाग का तो काँझ न होने से अवच्छेदभेद नहीं हो सकता ॥ १ ॥

शका है कि 'सुखादिको के अनुभव की प्राप्ति करण से माध्य है, किया होने में,
रूप की उपलब्धि के समान' इत्यादि अनुमान से, अथवा एक काल में अनेक ज्ञानों की
न उत्पत्ति से जो मन उसके वरणरूप से सिद्ध होता है, ऐसा होने पर भी वह मन
रूप द्रव्य तथा नित्य है इसमें क्या प्रमाण है? इस पर सूत्रकार उत्तर कहते हैं—

पदपदार्थ—तस्य = उस मन की, द्रव्यत्वनित्यत्वे = द्रव्य होना तथा नित्य होना,
वायुना = परमाणु रूप वायु द्रव्य में, व्याख्याते = व्याख्या की गई ॥ २ ॥

यथाऽवयविद्रव्यानुमितो वायुपरमाणुगुणवत्त्वात् क्रियावत्त्वाच्च द्रव्यम्, तथा युगपज्ज्ञानानुत्पत्त्याऽनुमित मनो गुणवत्त्वाद् द्रव्यं, न हि तस्य इन्द्रिय-सयोगमन्तरेण ज्ञानोत्पादकं येन गुणवत्त्वं न स्यात् । निश्च सुखादिसाक्षात्कार' इन्द्रियकरणकः साक्षात्कारत्वात् रूपादिसाक्षात्कारवदतीन्द्रियत्वेन मनः सिद्धम् । इन्द्रियत्वश्च ज्ञानकरणमन संयोगाश्रयत्वमित्ययत्नसिद्धमेव मनसो द्रव्यत्वम् । नित्यत्वञ्च तस्यानाश्रितत्वात् । तस्यावयवकल्पनायां प्रमाणाभावा-दज्ञातित्वमिति ॥ २ ॥

तत् किं प्रनिशरीरमेकमनेक वेति सन्देहे निर्णायकमाह—

प्रयत्नायोगपद्याज्ज्ञानायोगपद्यान्वैकम् ॥ ३ ॥

मन. प्रनिशरीरमिति शेष. । यथेकैकस्मिन्नपि शरीरे बहूनि मनसि स्युस्तदा

भावार्थ—जिस प्रकार अवयवि कार्यरूपवायु से अनुमान किया हुआ वायु परमाणु गुणवान् तथा क्रियावान् होने से द्रव्य तथा नित्य है उसी प्रकार मन भी गुणवान् होने से द्रव्य तथा नित्य है ॥ २ ॥

उपस्कार—जिस प्रकार अवयवी वायु द्रव्य में अनुमान किया हुआ वायु परमाणु गुणाधार तथा क्रिया का भी आवय होने से द्रव्य है, उसी प्रकार एक-काल में अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति न होने से अनुमान द्वारा मिद्ध मन भी गुणाश्रय होने से द्रव्यत्व जाति का आश्रय द्रव्य पदार्थ है, उसमें बिना इन्द्रियों के संयोग के ज्ञान की जनवता नहीं हो सकती जिससे उसमें गुणाधारता न हो । तथा 'सुखादिको का प्रत्यक्ष, इन्द्रियकरण वाला है, प्रत्यक्ष होने से, रूपादि गुणों के प्रत्यक्ष के समान, इस अनुमान में इन्द्रियत्व भी मन में सिद्ध होता है । ज्ञान के कारण मन के संयोग, के आधार को इन्द्रिय कहते हैं इस कारण उसमें बिना प्रयास के ही द्रव्यत्व सिद्ध होता है । और वायु-परमाणुओं के समान कारण द्रव्य में आश्रित न होने के कारण मन नित्य है यह भी सिद्ध होता है । उस मन के अवयव मानने में प्रमाण न होने से उसमें अनाश्रितत्व (किसी में आश्रित न होना) भी सिद्ध होता है ॥ २ ॥

वह मन क्या प्रत्येक शरीर में एक है, अथवा अनेक इस प्रकार के सहाय में सूत्रकार निश्चय करते हैं—

पदपदार्थ—प्रयत्नायोगपद्यात् = प्रयत्नों के एककाल में न होने से, ज्ञानायोग-पद्यात् च = और अनेक ज्ञानों के एककाल में न होने से भी, एक=मन एक है ॥ ३ ॥

भावार्थ—एक-एक शरीर में यदि अनेक मन माने जाय तो अनेक कार्यों के लिये आत्मा के अनेक प्रयत्न एककाल में होने लगेंगे, तथा अनेक ज्ञान भी एक-काल में होने लगेंगे अन एक शरीर में मन एक ही है यह सिद्ध होता है ॥ ३ ॥

उपस्कार—मूल में आकाशित 'मन प्रनि शरीर में' एक है ऐसा दोष भाग पूरण करना । यदि एक भी शरीर में अनेक मन हो तो अनेक ज्ञान तथा प्रयत्नों की-

ज्ञानप्रयत्नानां योगपथः स्यात् । यद्यु नर्चकोकरचरणाङ्गुलीषु युगपत् कर्मदर्शनाद् युगपदेव बहवः प्रयत्ना उत्पद्यन्ते इति मतम् । तदयुक्तम्, मनसः शीघ्रसञ्चारादेव तदुपपत्तेः अविनश्यदवस्थयोग्यात्मविशेषगुणानां योगपदानभ्युपगमात् । एतेनैकस्मिन्नपि शरीरे पञ्च मनासि तेषां द्वित्रिचतुःपचानां तत्तद्दिन्द्रियसंयोगे द्वे त्रीणि चत्वारि पञ्च वा ज्ञानानि युगपज्जायन्ते इति मतं निरस्तम् कल्पनागौरवप्रसंगान् । योगपद्याभिमानस्तु समर्थित एव । रसनेन्द्रियावच्छेदेन रसिन्द्रियसम्बन्धेन मनसस्तिष्ठो गुड इति ज्ञानद्वययोगपद्यापत्तिरपि करणधर्मत्वादेव

एककाल में उत्पत्ति होने लगेगी । (यहाँ चिन्तामणि ग्रन्थकार गणेशोपाध्याय के मत का खण्डन करते हुए शंकरमिथ्य बहते हैं कि)— 'नर्तकी (नचनी स्त्री) के हस्त, पाद तथा उनकी अङ्गुलियों में एककाल में अनेक जिनाओं के दिखाई देने से एककाल ही में अनेक प्रयत्न उत्पन्न होते हैं' । ऐसा जो गणेशोपाध्याय का मत है, वह अमंगल है । क्योंकि मन के अनिशीघ्र सञ्चार में ही यह हो सकता है, क्योंकि विनाशावस्था के अयोग्य अर्थात् स्थिर तथा प्रत्यक्षयोग्य व्यापक द्रव्यों के विशेष गुण एककाल में होते हैं यह नहीं माना जाता । इन कथन से एक भी शरीर में पाच मन हैं, उन दो-तीन, चार तथा पाचों के उन-उन बाह्य इन्द्रियों के साथ संयोग होने पर, दो, तीन, चार, या पाच ज्ञान एककाल में उत्पन्न होते हैं ऐसा पाच बाह्येन्द्रियों के लिए पाच मन प्रतिशरीर में मानने वालों का भी मत खण्डित हो जाता है क्योंकि संपूर्ण मनो में एक ज्ञान उत्पन्न करने से क्रिया तथा संयोग भी एककाल में होते हैं ऐसा मानना पड़ेगा, और ऐसा होने से उन २ के प्रामाण्य भी एककाल में होने लगेंगे, इन दोष के कारणार्थ परस्पर में प्रतिबन्ध-प्रतिबन्धकभाव भी मानना होगा, तथा सत्त्वा भी अधिक माननी होगी इस प्रकार कल्पनाओं के करने की आपत्ति आ जायगी । एककाल में शङ्खुली-भक्षण में अनेक ज्ञान होना यह अभिमान (मात्र) है यह पूर्वग्रन्थ में समर्थन कर ही चुके हैं । जिह्वा (रसनेन्द्रिय) में वर्तमान त्वचारूप इन्द्रिय सम्बन्ध से मन को गुड होता है । ऐसा जिह्वा के पिस्ती दोष वाले मनुष्य को एक ही समय में रासन तथा स्पर्शन ऐसे दो ज्ञानों के एककाल में होने की आपत्ति भी पूर्वोक्त करण धर्म होने से ही न होगी । दो-तीन टुकड़े में खड्ग आदि में काटे हुए गोह, सर्प आदिकों के शरीर को दो या तीन अवयवों में-जो कुछ काल फटकने की क्रिया होती है वह भी उनके मन के शीघ्र सञ्चार से अथवा उसी काल के अष्ट-विशेष में होती है, अथवा दूसरे पण्ड (समार के न कराने वाले व्यर्थ) दूसरे मन के ग्रहण से ही होती है । और 'मन, अवयवी ही है, जलौका के समान, उसके सकुचित तथा विकसित होने से क्रम से ज्ञानों की एककाल में उत्पत्ति तथा अनुत्पत्ति

नास्ति । द्वित्रिचिह्नगोघमुजगादावपि अवयवद्वये कर्म खड्गाद्यभिघाताद्वा मनस आशु सञ्चाराद्वा तद्धानोमेवादृष्टेन पण्डमनोन्तरप्रदण्डाद्वा । यत्तु मनोऽवयवद्वये जलौकायत् तत्सङ्कोचविकाशाभ्यां त्रानयोगपद्यायोगपद्ये इति, तत् तदवयवफलनगौरवप्रतिहतमिति दिक् ॥ ३ ॥

इदानीं क्रमलङ्घनप्रयोजनमादर्शयन्नेवात्मपरीक्षाशेषं वर्त्तयिष्यन्नाह—

प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि ॥ ४ ॥

प्रसिद्धिर्ज्ञानमेव केषलमात्मनो लिङ्गमिति न मन्तव्यम् प्राणाद्योऽपि सन्ति आत्मनो लिङ्गानि । तथाहि शरीरान्तश्चारिणि समोरणे प्राणापानक्षणे ऊर्ध्वा-धोगती चक्षुषणावक्षेपणे मुसलादाविव प्रयत्नं विनाऽनुपपद्यमाने यस्य प्रय-

होती है' ऐसा जो मत है, वह भी मकोच-विकास वाले होने से अवयवों की कल्पना करनी पड़ेगी इस गौरव होय होने के कारण खण्डित हो जाता है ॥ ३ ॥

साप्रत आत्मपरीक्षा के मध्य में मन की परीक्षा करने रूपक्रम के उल्लङ्घन का प्रयोजन दिखाते हुए अवशिष्ट आत्म-परीक्षा करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः=प्राण तथा अपान वायु की क्रिया, निमेष (नेत्र को बन्द करना), उन्मेष (उमको खोलना), जीवन (जीना), मन की गति (क्रिया), तथा रसनादि बाह्येन्द्रियों के विकार, सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्ना च = और सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्न नामक विशेष गुण भी, आत्मनः = आत्मा नामक द्रव्य के, लिङ्गानि = साधक है ॥ ४ ॥

भाषार्थ—केवल पूर्वोक्त ज्ञान ही आत्मा का साधक लिङ्ग नहीं है, किन्तु प्राण तथा अपान वायु की श्वास-प्रश्वास क्रिया, नेत्रों को बन्द करना-खोलना, बटना घटना इत्यादि जीवन, मन की गति, तथा दूसरे रसना आदि इन्द्रियों का विकार एवं सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्न नामक विशेष गुण भी आत्मा के साधक लिङ्ग है ॥ ४ ॥

वैपरीकार—पूर्वोक्त प्रसिद्धि अर्थान् केवल ज्ञान ही आत्मा का साधक लिङ्ग है ऐसा न समझा जाय किन्तु प्राण-अपान के श्वास-प्रश्वास व्यापारादिक भी आत्मा के साधक लिङ्ग है ।

वह इस प्रकार है कि शरीर के मध्य में संचार करने वाले प्राण तथा अरान-रूप दोनों वायुओं की मुसलादिकों में उत्प्रेक्षण तथा अपक्षेपक दोनों क्रियाओं के समान, ऊर्ध्वप्रदेश तथा अधोदेश में श्वास-प्रश्वासरूप गति विना प्रयत्न के न हो सकने में जिसके प्रयत्न में होती है वह निश्चय से आत्मा है (यहाँ पर यद्यपि प्राण-अपान इत्यादिक भी प्रयत्न के द्वारा ही आत्मा के साधक हैं, तथापि

त्नाद् भवतः स नूनमात्मा । न हि तिर्यग्गमनस्वभावस्य वायोरेव स्वभाववि-
पर्यया विना प्रयत्नात् । न च विरुद्धविक्रिययोर्बाधो. सल्लिखयोरिवोर्ध्वगतिः
स्यादिति वाच्यम् एव सत्यूर्ध्वगमनमेव स्थान् त्वधोगमन फूटकारादौ वा तिर्य-
ग्गमनम् । तथा चास्ति कश्चित्, य. प्रयत्नेन वायुमूर्ध्वमधो वा प्रेरयति
मुपुत्तिदशाया कथं प्राणापानयोरूर्ध्वाधोगतो इति चेन्न इदानीं योग्यप्रयत्नाभा-
वेऽपि प्रयत्नान्तरस्य सद्भावान् । स एव जीवनयोनिः प्रयत्न इत्युच्यते ।

परात्मा के अनुमान में प्रयत्न की भी क्रिया में ही सिद्धि होने के कारण प्रयत्न की अपेक्षा से कर्म की प्रधानता दिखलाने के लिये प्राणादि क्रियाओं का पृथक् प्रहण किया है यह जानना चाहिये) । (विना आत्मा के प्रयत्न के प्राणादिकों की प्रदर्शित क्रिया नहीं हो सकती इसमें युक्ति दिखाने हुए शंकरमिश्र आगे कहते हैं कि)—तिर्यग्गमन (तिरछे चलने के) स्वभाव वाले प्राणवायु का ऊर्ध्व 'तथा' अधोदेशगतिरूप स्वभाव का विपरीत होना विना प्रयत्न के नहीं हो सकता । 'विरुद्धदिशाओं में क्रिया को करने वाले दो जल-प्रवाहों के समान ऐसे दो वायुओं की भी ऊर्ध्वप्रदेश में गति हो सकती है' ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा होने से ऊर्ध्वदेश में ही गति होगी अधोदेश में न होगी, अथवा 'फूटकार' अग्नि को मुल से फूट-फूट करने से वायु में तिर्यक् (तिरछे) गमन न होगा । अतः ऐसा कोई अवश्य शरीर में है जो अपने प्रयत्न से प्राणवायु की ऊर्ध्व अथवा अधोदेश में प्रेरणा करता है । यदि 'निद्रा अवस्था में प्राण तथा अपान दोनों वायुओं में ऊर्ध्व तथा अधोदेश में गति कैसे होगी' ऐसी सवा पूर्वपक्षी करे तो, इस अवस्था में प्रत्यक्ष-योग्य प्रयत्न न होने के कारण ही अनीन्द्रिय एक प्रयत्न सुपुत्ति में प्राण तथा अपान की ऊर्ध्व तथा अधोदेश में गति कराता है यही इस तीसरे प्रमाण की सत्ता में प्रमाण है, इसी को जीवन-योनि प्रयत्न ऐसा कहा जाता है ।

इसी प्रकार निमेष (आँख बन्द करना) तथा उन्मेष (नेत्र खोलना) यह दोनों भी शरीर के अभिप्राय आत्मा की अनुमान से सिद्धि कराते हैं, वह इस प्रकार है कि नेत्र के दोनों (पल्लव) पलकों के परस्पर सयोग (नेत्र को बन्द करना) को उत्पन्न करने वाली क्रिया को निमेष कहते हैं । और उन्ही दोनों पलकों के परस्पर विभागजनक क्रिया को उन्मेष कहते हैं । यह दोनों निरन्तर उत्पन्न होने वाली क्रिया प्रत्यक्ष होने वाले नोदन तथा अभिघात सयोग नामक कारण के बिना होने से बिना किसी के प्रयत्न के नहीं हो सकती है । जिस प्रकार काष्ठ के पुतली का नाचनारूप क्रिया किसी कठपुतली के चलाने वाले के प्रयत्न के बिना नहीं होती उसी प्रकार नेत्रों के पलकों का नाचना भी बिना किसी के प्रयत्न के नहीं हो सकता, इससे इनका नचाने वाला प्रयत्नवान् आत्मा है यह अनुमान से सिद्ध होता है ।

एवं निमेषोन्मेषावपि शरीरस्याधिष्ठातारमनुमापयतः । तथाहि निमेषस्तावत् अक्षिपक्ष्मणोः संयोगजनकं कर्म । उन्मेषस्तयोरेव विभागजनकं कर्म । एते च कर्मणो नोदनाभिधातादिदृष्टकारणमन्तरेण निरन्तरमुत्पद्यमाने प्रयत्नं विना मोक्षयेते । यथा दारुपुत्रकनर्तनं कस्यचित् प्रयत्नात् तथाऽक्षिपक्ष्मणनर्तनमपि, तेन प्रयत्नवाननुमीयते ।

एवं जीवनमप्यात्मलिङ्गम् । तथाहि जीवनपदेन लक्षणया जीवनकार्यं वृद्धि-क्षतभजनसंरोहणादि लक्षयति । तथा च यथा गृहपतिर्भग्नस्य गृहस्य निर्माणं करोति लघोयो वा गृहं वर्द्धयति, तथा देहाधिष्ठाता गृहस्थानीयस्य देहभ्या-हारादिना वृद्धिमुपचय करोति क्षतञ्च भेषजादिना प्ररोहयति भग्नञ्च कर्-चरणादि संरोहयति तथाच गृहपतिरिव देहस्याप्यधिष्ठाता सिध्यतीति ।

एष मनोगतिरप्यात्मलिङ्गम् । तथाहि मनस्तावन्मूर्तमणु चेति पूर्वप्रकरणे साधितम् । तस्य चाभिमतविषयमाहिनि इन्द्रिये निवेशनम् इच्छाप्रणिधानाधीनम् । तथाच यस्येच्छाप्रणिधाने मनः प्रेरयतः स आत्मेत्यनुमीयते यथा गृह-कोणावस्थितो दारकः कन्दुकं लाक्षागुटकं वा गृहाभ्यन्तर एव वृत्तस्ततः प्रेरयति । ननु दारुपुत्रनर्तयिता गृहपतिर्दारको वा न शरीरादन्यो यो दृष्टान्तः किञ्च

इमी प्रकार जीवन भी आत्मा का साधक है, वह इस प्रकार है कि यहाँ पर जीवन शब्द से लक्षणा वृत्ति से जीवन का कार्यं वृद्धि (बढना), क्षत (घावो) का तथा भग्न (टूटे) हुए का संरोहण (पुन ठीक होना) इत्यादि कार्यं सूचित होता है, ऐसा होने से जैसे किसी घर का स्वामी टूटे हुए घर को पुन निर्माण (मरम्मत) करता है अथवा छोटे घर को बढा करता है, उसी प्रकार शरीर का अधिष्ठाता शरीररूप घर को भोजनादिको से बढाता है, तथा क्षत (चोट) आदि को दवा आदि उपायो से ठीक कर देता है, और भग्न (टूटे) हस्त-पाद आदि अवयवो को भी पुन संरोहयति (बढा देता है), इससे गृहस्वामी के समान शरीर का भी अधिष्ठाता (स्वामी) है यह सिद्ध होता है ।

इमी प्रकार मन की गतिःक्रिया भी आत्मा का साधक है, वह इस प्रकार कि मन मूर्तद्रव्य है, तथा अणु परिमाण है, यह पूर्व के प्रकरण से सिद्ध कर चुके हैं और उन मन के प्रियविषय को ग्रहण करने वाले बाह्येन्द्रियो से प्रवेस होना यह इच्छा तथा प्रणिधान (सकल्प) के अधीन है, ऐसा होने से जिसकी इच्छा और प्रणिधान मन को अभिमत विषय का ग्रहण करने वाले चक्षुरादि बाह्येन्द्रियो से प्रविष्ट होने की प्रेरणा करती है वह आत्मा है ऐसा अनुमान किया जाता है, जिस प्रकार घर के कोने में बैठा होने के कारण न दीखने पर भी लाहू की गोली अथवा गेंद को घर के भीतर ही इधर-उधर चलाने वाला बालक है यह गोली या गेंद के इधर-उधर गिरने से सिद्ध होता है, उसी प्रकार उक्त मन की क्रिया से आत्मा

शरीरमेव चैतन्याश्रयः अहङ्कारास्पदत्वात् भवति हि गौरोऽहं स्थूलोऽहमित्याद्य-
हङ्कारसामानाधिकरण्येन प्रत्ययः । यत्तु बाल्येऽनुभूतं यौवने वार्द्धक्ये वा स्म-
रति तत्र चैत्रमैत्रवच्छरीरभेदेऽपि स्मरणं न स्यात् 'नान्यदृष्टं स्मरत्यन्यः' इति ।
तत्र चैत्रमैत्रयोर्भिन्नसन्तानत्वेन प्रतिसन्धानं माऽस्तु बाल्यकौमारभेदेऽपि सन्ता-
नैकत्वात् कार्यकारणभावेन प्रतिसन्धानमुपपत्स्यत इति । तत्र ब्रूमः पित्राऽनुभूतस्य
पुत्रेणापि स्मरणप्रसङ्गः । तत्र शरीरभेदग्रहो बाधक इति चेत्, वृद्धेन बालिशरीरा-
द्धेदेनैव स्वशरीरस्य ग्रहात् प्रतिसन्धानानुपपत्तेः अनुपलब्धपितृकस्य बालस्य
शरीरभेदाग्रहस्यापि सत्त्वात् । मम शरीरमिति ममकारसामान्येनाहङ्कारस्य
भानात् ममात्मेत्यत्रापि सथेति चेन्न तत्र ममकारस्योपचारिकत्वात् राहोः शिर

भी मित्र होता है यहा शरीरात्मवादी शका करता है—'किं कठपुतली को नषाने
वाला गृहस्वामी, अथवा गोली चलाने वाला बालक शरीर से भिन्न दूमरा नहीं है
जो दृष्टान्त हो सकेगा, तथा शरीर ही ज्ञान का आधार है, अहङ्कार का आश्रय
होने से क्योंकि मैं गौर वर्ण हूँ, स्थूल हूँ इस प्रकार अहङ्कार के ही आश्रय मे
गौरवर्णादि भी शरीर मे ही प्रतीत होते हैं (अतः शरीर ही आत्मा है)' ।
इस शरीरात्मवाद पर यदि सिद्धान्ती शका करे कि—बाल्यावस्था मे अनुभूत पदार्थ
का युवा अथवा वृद्धावस्था मे स्मरण होता है, शरीर को आत्मा मानने से जिस
प्रकार चँच के देखे का मँत्र को स्मरण नहीं होता उसी प्रकार एक शरीर मे भी न
होगा, क्योंकि बाल्यावस्था से युवा तथा वृद्धावस्था का शरीर भिन्न है, और यह
नियम है 'दूसरे के देखे हुए का दूमरे को स्मरण नहीं होता ।' तो पूर्वपक्षी उत्तर देता
है—'चैत्र तथा मैत्र शरीरमत्तानो के भिन्न होने से चैत्र से दृष्ट का मँत्र को स्मरण
न हो, किन्तु बाल्य, युवा आदि अवस्था का भेद होने पर भी शरीर-सन्तान (विज्ञान-
सन्तान के समान) एक होने से बाल्यावस्था मे देखे हुए का युवा या वृद्धावस्था मे स्म-
रण हो जायगा' । (ऐसे शरीर को आत्मा मानने वाले चार्वाक की शका का समाधान
शकरमित्र करते हुए कहते हैं कि)—इस शका पर हम ऐसा कहते हैं कि यदि
ऐसा हो तो पिता के शरीर के सन्तान से उत्पन्न होने के कारण पुत्र को पिता के
अनुभूत पदार्थों का स्मरण होने लगेगा । यदि कहो कि 'उन दोनों के शरीर का
भेदज्ञान इसमे बाधक मानेंगे' तो वृद्ध पुत्र्य को बालक शरीर से वह मेरा वृद्धा-
वस्था का शरीर भिन्न है ऐसा ज्ञान होने से बाह्य अवस्था मे देखे हुए का वृद्धा-
वस्था मे स्मरण नहीं होगा । और जिसने अपने पिता को नहीं देखा था ऐमे बालक
को शरीर के भेद का ज्ञान है भी नहीं । यदि पूर्वपक्षी कहे कि 'मम शरीर' मेरा
शरीर है, इस प्रकार ममकार के समानरूप से अहङ्कार की प्रतीति होने के कारण
'मम आत्मा' मेरी आत्मा है इस प्रतीति मे भी आत्मा अपना आत्मरूप अपने से
भिन्न न होने के कारण भेद मे पृष्ठी का प्रयोग असंगत होने से शरीर को ही आत्मा

इतिवदभेदेऽपि पशुयुपपत्तेः, हिंसादिकञ्च कर्त्तरि न स्यात् शरीरान्यत्वात्, पातकमिच्छतो । भूतचैतनिकस्य कृतहानिमकृताभ्यागमश्च दोष इति दिक् ।

इन्द्रियान्तरविकारात् । खल्वपि दृश्यते हि नागरद्वयस्य चिरविल्वस्य वा रूपविशेषसहचरितं रसविशेषमनुभूय पुनस्तादृश फलमुपलभमानस्य रसमिष्टिप्रवर्तितो दन्तोदकसंप्लवः । स च नाम्बरसानुमितिमन्तरेण, अनुमितिर्न व्याप्तिस्मृतिमन्तरेण, सा च न संस्कार विना, स च न व्याप्यनुभवमन्तरेण, स च न भूयोदर्शनमन्तरेणेति इयं शानपरम्परा । नैक तत्तारमन्तरेण कार्यकारणभूता सम्भवतीति । तथाच गौतमीय सूत्रम् 'इन्द्रियान्तरविकारात्' अ० ३ आ० १ सू० १२ इति ।

मातना उचित है' तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि मेरी आत्मा इस प्रतीति में ममकार (मेरा सम्बन्ध) औपचारिक है, जिस प्रकार मस्तक भाग ही राहु नामक ग्रह होने पर भी 'राहो छिर' राहु का छिर ऐसी पट्टी मुख्य चेहरूप अर्थ में नहीं है किन्तु गौण है उसी प्रकार 'मेरी आत्मा' इस प्रतीति में भी 'मम' मेरी यह गौण पट्टी है मुख्य नहीं (यदि कहो कि जब 'मम शरीर' मेरा शरीर यहाँ भी अभेद में 'राहो छिर' के समान मान लेंगे, तो इसी कारण शकर्मिभ्र द्वारा दोष देते हैं कि) — शरीर के भिन्न-भिन्न होने से हिंसादि पापकर्म का फल भी हिंसा करने वाले को न होगा, तथा पातक को चाहने वाले (मानने वाले) शरीर को आत्मा मानने वाले चार्वाक के मत में पापकर्म करने वाले शरीररूप आत्मा को किये कर्मों के फल की हानि, तथा न किये कर्मों के फल की प्राप्ति होना भी दोष आ जायगा यह दोष जानना ।

तथा इन्द्रियान्तर के विकार से आत्मा की सिद्धि होती है—क्योंकि देखने में आता है नागरण (नारणी) अथवा चिरविल्व (करज) फल के रूप-विशेष के साथ वर्तमान मधुर आदि विशेष रस का स्वाद लेने के अनन्तर कालान्तर में वैसे ही फल की देखने से उम फल के मधुरादि रस के अनुभव करने की वृत्त्या से दातों में जल-प्रवाह करने की प्रवृत्ति होती है, अर्थात् दातों से पानी गिरने लगता है, वह बिना उक्त फलों के आम्ल, मधुर आदि रसों के अनुमान के नहीं हो सकता, और अनुमान बिना व्याप्ति स्मरण के नहीं हो सकता, और व्याप्ति का स्मरण बिना मस्कार के नहीं हो सकता, और वह भावना मस्कार बिना व्याप्ति के अनुभव के नहीं हो सकता । और व्याप्ति का अनुभव अनेक बार उक्त फलों के वैसे रस के अनुभव के नहीं हो सकता इस प्रकार यह जानो की कार्य-कारण-रूप धारा बिना एक नित्य वर्ता के माने हो नहीं सकती है । इसी कारण गौतम महर्षि ने भी 'इन्द्रियान्तरविकारात्' (३ अ०. १ आ० १२) के सूत्र में इन्द्रियान्तर (द्वारे इन्द्रियो) के विकार से आत्मा की सिद्धि की है ।

सुखादयश्च ज्ञानवदेवात्मलिङ्गानि द्रष्टव्याः । तथाहि सुखादिकं कचिदाश्रितं द्रव्याश्रितं वा कार्यवस्तुत्वात् गुणत्वाद्वा रूपादिकदितीतरबाधसहकृतं सामान्यतो दृष्टमेव अपद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रितत्वं विषयो करोति । न हि 'पृथिव्याद्यष्टकानाश्रिता इच्छा द्रव्याश्रितेति' प्रतिज्ञा अपद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रितत्वं प्रकारमनादाय पर्यवस्यति । सप्र तु प्रथम न बाधावितारस्तत्रापद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रितत्व व्यतिरेकिसाध्यमिति विभागः । व्यापकतावच्छेदकप्रकारिकैवानुमितिरिति तु तुच्छम्, येन विना प्रतीतिर्न पर्यवस्यति तस्यैव तत्र प्रकारत्वात् । अन्यथा द्व्यणुककार्यानाश्रितं सन् कचिदाश्रितम् अवयवित्वादित्यादावकार्याश्रितत्वप्रकारिकाऽनुमितिर्न स्यात् ॥ ४ ॥

ननु सिध्यतु आत्मा स्थिर, स तु नित्य इति कुतः, कुतश्च द्रव्यमित्यत आह—

इसी प्रकार सुख, दुःख इत्यादि गुण भी ज्ञान के समान आत्मा में प्रमाण हैं यह देख लेना चाहिये, यह इस प्रकार है कि सुखादि गुण किसी में या द्रव्य में आश्रित हैं कार्य पदार्थ होने से अथवा गुण होने से रूपादि गुणों के समान इस प्रकार पृथिव्यादि द्रव्यों का उक्त गुण नहीं हो सकते ऐसे बाधज्ञान के सहित सामान्यतोदृष्ट नामक अनुमान का पृथिव्यादि आठ द्रव्यों से भिन्न द्रव्य में सुखादि गुण आश्रित हैं यह विषय है यह सिद्ध होता है, क्योंकि पृथिवी जल आदि आठ द्रव्यों में न रहने वाले इच्छादि गुण द्रव्य में आश्रित हैं, यह प्रतिज्ञा आठ द्रव्यों से अतिरिक्त द्रव्य में आश्रित्वरूप विशेषण को ग्रहण किये विना पयवसान (जपने स्वरूप) को प्राप्त तक नहीं हो सकती और जब कि प्रथम पृथिव्यादिको में न रहने का ज्ञानरूप बाधज्ञान नहीं होता, उस समय आठ द्रव्यों से भिन्न द्रव्य में सुखादि गुणों का आश्रित होना यह व्यतिरेकि साध्यवाला अनुमान होता है यह दोनों प्रकार हैं । व्यापक में रहने वाले नियामक आत्मत्वादि प्रकार धर्म को लेकर ही अनुमान होगा ऐसा कहना तुच्छ (व्यर्थ) है, क्योंकि जिसके बिना द्रव्याश्रितत्व के प्रतीति नहीं होती वही वहाँ प्रकार (विशेषण) होता है । अन्यथा (ऐसा न हो तो) द्व्यणुक कार्य में आश्रित न होते हुए वही आश्रित है, अवयवी होने से इत्यादि अनुमान से कार्यश्रित में अश्रितत्व को विशेषण करने वाली अनुमिति न होगी ॥ ४ ॥

आत्मा द्रव्य उक्त प्रकार से स्थिर है यह सिद्ध होने पर भी वह नित्य है यह क्यों माना जाय, तथा उसे द्रव्य भी क्यों माना जाय? ऐसी शका के समाधानार्थ भूयकार कहते हैं ।

तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥ ५ ॥

यथा वायुपरमाणोरवयवकल्पनायां न प्रमाणमतो नित्यत्वं तथात्मनोऽपि ।
यथा गुणवत्त्वाद्वायुपरमाणुर्द्रव्यं तथात्माऽपीत्यर्थः ॥ ५ ॥

पूर्वपक्षमाह—

यज्ञदत्त इति सन्निकर्षे प्रत्यक्षाभावाद् दृष्टं लिङ्गं न
विद्यते ॥ ६ ॥

सन्निकर्षे सति अयं यज्ञदत्त इति चेत् प्रत्यक्षं नास्ति तदा दृष्टं प्रत्यक्षतो

पक्षपदार्थ—तस्य = उस आत्मा की, द्रव्यत्वनित्यत्वे = द्रव्यत्व तथा नित्यत्व,
वायुना = परमाणु वायु से, व्याख्याते = व्याख्या किये गये ॥ ५ ॥

भाषार्थ—जिस प्रकार परमाणुरूप वायु के अवयव-कल्पना में प्रमाण न होने
से वह नित्य है तथा गुणों का आधार होने से द्रव्य है इसी प्रकार आत्मा के अ-
वयव मानने में प्रमाण न होने से वह नित्य तथा ज्ञानादि गुणाधार होने से द्रव्य भी
है यह सिद्ध है ॥ ५ ॥

उपस्कार—जिस प्रकार वायु परमाणुओं के अवयव मानने में प्रमाण न होने
से उसमें नित्यता है वैसे ही आत्मा में जैसे गुणाश्रय होने से वायु परमाणु द्रव्य
है, उसी प्रकार आत्मा भी है यह सूत्र का अर्थ है ॥ ५ ॥

यहाँ पूर्वपक्षी के मत से सूत्रकार कहते हैं—

पक्षपदार्थ—यज्ञदत्त = यह यज्ञदत्त है, इति = इस प्रकार, सन्निकर्षे = इन्द्रिय
से संयोग सन्निकर्ष होने पर, प्रत्यक्षाभावात् = प्रत्यक्ष न होने के कारण, दृष्टं =
प्रत्यक्ष, लिङ्गं = साधक, न विद्यते = नहीं है ॥ ६ ॥

भाषार्थ—जिस प्रकार प्रत्यक्ष से धूम तथा वह्नि की व्याप्ति का ज्ञान होने से
धूम वह्नि का साधकलिङ्ग होता है उस प्रकार यज्ञदत्त आदि मनुष्यों के शरीर
में इन्द्रिय सन्निकर्ष होने पर भी उसकी आत्मा में इन्द्रिय सन्निकर्ष न होने से आत्मा
साधकलिङ्ग नहीं है ॥ ६ ॥

उपस्कार—जब कि यज्ञदत्त नामक मनुष्य के शरीर में इन्द्रिय से सन्निकर्ष
होने पर यह यज्ञदत्त है ऐसा प्रत्यक्ष नहीं होता, तब दृष्ट (प्रत्यक्ष) से जिसके
व्याप्ति का ग्रहण हो ऐसा उसकी आत्मा का साधक लिङ्ग नहीं है (अर्थात् यज्ञदत्त
के शरीर का चक्षुर्इन्द्रिय का संयोगरूप सन्निकर्ष होने पर भी उसके अधिष्ठाता
आत्मा में चक्षुर्इन्द्रिय का सन्निकर्ष नहीं है । इससे साध्य आत्मा का कहीं भी प्रत्यक्ष
न होने में अनुमान का अममव प्रयत्न के समान सूचित होता है, प्रत्यक्ष से जिसके
व्याप्ति का ग्रहण होता है उसे पूर्ववत् अनुमान कहते हैं) । (उक्त विषय का
दृष्टान्त द्वारा शरकरमिश्र समर्पण करते आगे कहते हैं कि)—जिस प्रकार यह महानस

गृहीतव्याप्तिक लिङ्ग नास्ति । यथा वह्निना प्रत्यक्षेण सहचरितो गृहीतो धूमो
वह्नी दृष्टं लिङ्ग तथात्मसाधक लिङ्गं दृष्टं नास्तीत्यर्थः ॥ ६ ॥

ननु प्रत्यक्षदृष्टव्याप्तिकस्य दृष्टलिङ्गस्याभावेऽपि सामान्यतो दृष्टमेव लिङ्गं
भविष्यति, न हि ततो नानुमितिरित्याशङ्क्य पुनः पूर्वपक्षी आह—

सामान्यतो दृष्टाच्चविशेषः ॥ ७ ॥

सामान्यतो दृष्टमपि लिङ्गं भवति न तु तत् आत्मत्वेन अष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्य-
त्वेन वा स्यादात्मसिद्धिः, किन्तु तेनेच्छादीनां क्वचिदाश्रितत्वमात्र सिध्येत् तच्च
नारम्भमननौपयिकमित्यर्थः । तदेतदाह अविशेष इति ॥ ७ ॥

तत् किं 'योऽपहतपाप्मा स आत्मा' इत्याद्यागमोऽनर्थक एवेत्याशङ्क्य स
एवाह—

ने प्रत्यक्ष वह्नि के साथ रहने वाले धूम का ग्रहण होने के कारण धूम वह्नि का
साधक है । उस प्रकार आत्मा का दृष्ट (प्रत्यक्ष-गृहीत-व्याप्तिवाला) लिङ्ग
साधक नहीं है ॥ ६ ॥

'प्रत्यक्ष से दृष्ट व्याप्ति वाला प्रत्यक्ष आत्मसाधक लिङ्ग यद्यपि नहीं है, तथापि
पूर्वोक्त सामान्यतोदृष्ट व्याप्ति वही आत्मसाधक लिङ्ग होगा, उस सामान्यतोदृष्ट लिङ्ग
से अनुमिति नहीं होती ऐसा नहीं है, ऐसी सिद्धान्ती के पक्ष से शका कर पुन पूर्वपक्षी
के मत से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—सामान्यतोदृष्टात् अ=और पूर्वोक्त सामान्यतोदृष्ट अनुमान से,
अविशेष = आत्मा के साधन में कोई विशेष नहीं है ॥ ७ ॥

भाषार्थ—सामान्यतोदृष्ट भी लिङ्ग होता है किन्तु उससे आत्मत्व रूप से
अथवा पृथिवी आदि अष्टद्रव्यो से भिन्न द्रव्यरूप से आत्मा की सिद्धि नहीं हो
सकती, अर्थात् उससे इच्छादिगुणों के आधारमात्र की सिद्धि होगी, वह आत्मा है
यह कैसे सिद्ध हो सकता है ॥ ७ ॥

उपस्कार—सामान्यतोदृष्ट नामक भी लिङ्ग होता है, किन्तु उससे आत्मत्वरूप
से अथवा पृथिव्यादि अष्टद्रव्यभिन्नद्रव्यस्वरूप से आत्मा सिद्ध नहीं हो सकता, किन्तु
उससे इच्छादि गुणों में किसी आधार में रहनामात्र सिद्ध होगा, और वह आत्मा ही
है ऐसा निश्चय न होने से 'श्रोतव्यो मन्तव्य' इत्यादि श्रुत्युक्त आत्मा के मनन में
उपयोगी नहीं है यह सूत्र का अर्थ है । इसी बात को 'अविशेष' इस पद से पूर्वपक्षी
ने कहा है ॥ ७ ॥

तो क्या 'योऽपहतपाप्मा स आत्मा' अर्थात् जो पापरहित हो वह आत्मा कह-
लाता है इत्यादि आगम (उपनिषद् वाक्य) व्यर्थ ही हैं ? ऐसी सिद्धान्ती के मत से
शका कर वह पूर्वपक्षी ही सूत्र में कहता है—

तस्मादागमिकः ॥ ८ ॥

आगममात्रसिद्ध एवात्मा नस्वनुमेयः दृष्टसामान्यतोदृष्टयोर्लिङ्गयोर-
भावात् । तस्मात् सम्यगुपनिषदां श्रवणात् तत्त्वसाक्षात्कार उत्पद्यते न तु
मननप्रणालिकया । तथाच मननप्रयोजनकमिदं तन्त्रमवन्त्रम् । दृष्ट हि भूत-
दशकनदोस्तन्तरणाद्युपदेशमात्रादेव साक्षात्कारि ज्ञानम् ।

तदेवं त्रिभिः सूत्रैः पूर्वपक्षे सिद्धान्तवाद्याह—

अहमितिशब्दस्य व्यतिरेकान्नागमिकम् ॥ ९ ॥

नाममात्र प्रमाणमात्रमनि किन्त्वहमितिपदमात्रमपदं वा साभिधेयं पदत्वात्

पदपदार्थ—तस्मात् = उक्त उपनिषद्-वाक्यो मे श्रुत होने से, अगमिक = शब्द
प्रमाण से ही सिद्ध है ॥ ८ ॥

भावात्—उक्त उपनिषद्वाक्यो मे आत्मा का स्वरूप निरूपित होने के कारण
आत्मा शब्द प्रमाणमात्र से सिद्ध होता है न कि अनुमान से, अतः अनुमान ही को
मुख्यतया वर्णन करने वाला वैशेषिकदर्शनशास्त्र व्यर्थ है ॥ ८ ॥

उपस्कार—आत्मा रूप द्रव्य पदार्थ आगम प्रमाण मात्र से 'अपहृतपाप्मा स
आत्मा' इत्यादि उपनिषद्-वाक्यो के व्यर्थ होने की शक्ता के कारण सिद्ध होता है
न कि अनुमान से क्योंकि पूर्वोक्त सामान्यतोदृष्ट लिङ्ग उस आत्मा का साधक नहीं
हैं । इस कारण अच्छी तरह दृष्ट अथवा उपनिषद्-वाक्यो के श्रवण से आत्मारूप
तत्त्व का साक्षात्कार उत्पन्न होता है न कि मननरूप नाली द्वारा, ऐसा होने से मनन
(अनुमान) की प्रधानता देने वाला यह वैशेषिकदर्शनशास्त्र तत्त्वसाक्षात्कार का
कारण नहीं है । दस भूत यहां है, नदी के पार करने से वह दिखाई पड़ेंगे ऐसा
उपदेशमात्र से ही साक्षात्कार करानेवाला ज्ञान देखने में आता है ॥ ८ ॥

इस प्रकार तीन सूत्रों से दिखाए हुए पूर्वपक्ष पर सिद्धान्तों के मत से सूत्रकार
कहते हैं—

पदपदार्थ—अहमितिशब्दस्य = अहं इस शब्द के, व्यतिरेकात् = पृथिवी आदि
अष्ट द्रव्यों से व्यावृत्त होने से, न = नहीं है, आगमिकम् = शब्द प्रमाण से
सिद्ध ॥ ९ ॥

भावार्थ—अहं 'मैं हूँ' इत्याकारक शब्द का पद होने के कारण आश्रय अर्थ
मानना आवश्यक है । और उसका वाच्य अर्थ पृथिवी आदि आठ द्रव्य नहीं हो
सकते इस कारण उसका वाच्य अर्थ उनसे भिन्न आत्मा द्रव्य अनुमान से सिद्ध होने
के कारण केवल आगममात्र से सिद्ध है यह नहीं हो सकता ॥ ९ ॥

उपस्कार—केवल प्रदत्त उपनिषद् वाक्यरूप आगम ही आत्मा में प्रमाण
नहीं है, किन्तु 'अहं' मैं यह पद अथवा 'आत्मा' यह पद अपने से वाच्य अर्थ से युक्त

घटादिपदवद् इत्यनुमानादप्यात्मसिद्धिः । ननु पृथिव्याद्येव तदभिधेयं स्यादित्यत आह व्यतिरेकादिति । पृथिव्यादितोऽहमिति पदस्य व्यतिरेकाद्व्यावृत्तेरित्यर्थः । न हि भवत्यहं पृथिवी अहमापः अहन्वेजः अहं वायुः अहमाकाशम् अहं कालः अहं दिक् अहं मन इति व्यपदेशः प्रत्ययो वा । शरीरे भवतीति चेन्न परशरीरेऽपि तत्प्रसङ्गात् । स्वशरीरे भवतीति चेन्न स्वस्थान्यमिन्नस्यानिरुक्तेः, मम शरीरमिति वैयधिकरण्येन प्रत्ययाच्च । नन्विदमपि सामान्यतोऽष्टमेव सद्यः विशेषापर्यवसन्नमिति दूषितमेवेति चेन्न अहम्पदेऽहन्त्वमात्रत्वमेव प्रकारः, तथाच पक्षधर्मताबलादेवाहन्त्वस्य प्रवृत्तिनिमित्तः

है, पद होने से घटादि पद के समान, इस अनुमान से भी आत्मा की सिद्धि होती है (यहाँ पर सूत्र के शब्दपद का वाक्यरूप अर्थ करने से वाक्य में अर्थ की शक्ति न माननेवालों के मत में बाध दोष के वारणार्थ शङ्करमिश्र ने 'पद' इस शब्द का प्रयोग किया है) । यदि 'पृथिवी जल आदि अष्टद्रव्य ही अहं अथवा आत्मा शब्द का अर्थ मानेंगे' ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो इसका निरास करने के लिये सूत्र में 'व्यतिरेकान्' ऐसा हेतु दिया है, पृथिवी आदि द्रव्यों में 'अहं' इस पद के व्यतिरेक अर्थात् व्यावृत्ति (न रहना) ऐसा हेतु का अर्थ है । क्योंकि 'अहं पृथिवी' इति, मैं पृथिवी हूँ, मैं जल हूँ, मैं तेज हूँ, मैं वायु हूँ, मैं आकाश हूँ, मैं काल हूँ, मैं दिशा हूँ, मैं मन हूँ ऐसा ज्ञान अथवा व्यवहार नहीं होता । (यहाँ पर यदि 'अहं' इस अस्मत् शब्द का सामान्यरूप से 'आत्मा' ऐसा अर्थ हो तो चैत्र के उच्चारण किये 'अहं' मैं इस पद में मैत्र का भी ज्ञान होने लगेगा इस अहं पद के उच्चारण करनेवाले की अपनी आत्मा में ही अहं पद की बोधशक्ति है ऐसा मानना होगा इस कारण 'अहं' पद को पक्ष करनेवाले प्रथम अनुमान से सामान्यरूप से आत्मा नहीं सिद्ध होगा इसी अभिप्राय से शङ्करमिश्र ने 'आत्मा' पद को पक्ष कर अनुमान दिखाया है) । (आगे शरीर को आत्मा माननेवाले चार्वाक मत से शङ्करमिश्र पूर्वपक्ष दिखाकर खण्डन करते हैं कि)—शरीर में 'अहं' मैं हूँ ऐसा ज्ञान होता है, ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता, क्योंकि हमारे का शरीर होने से 'मैं' यह ज्ञान होने लगेगा । यदि अपने शरीर में 'अहं' मैं हूँ ऐसा ज्ञान होता है, ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो यह भी युक्त नहीं क्योंकि आत्मा को छोड़कर 'स्व' अपना इस ज्ञान का दूसरा विषय नहीं कहा जा सकता, तथा मेरा शरीर है ऐसा 'व्यधिकरण' एक में न होनेवाला ज्ञान होता भी है । यदि पूर्वपक्षी कहे कि शरीर यह भिन्न आत्मसाधक अनुमान भी पूर्व अनुमानों के समान सामान्यतोऽष्ट ही अनुमान है जिसमें पृथिव्यादि भिन्न द्रव्य सिद्ध होने पर भी वह आत्मा है इस विशेष की सिद्धि नहीं हो सकती । इस प्रकार हमने दोष दिया ही है, तो मिदान्ति-मत से ऐसा उत्तर है कि ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता, क्योंकि 'अहं' इस पद में 'अहन्त्व' अर्थात् 'आत्मत्व' ही चिन्नेषण है, ऐसा होने से पक्षधर्मताबल से ही

पर्यवसन्त तत्त्वज्ञानन्यसाधारणमेवेति विशेषसिद्धेः । एष सामान्यतो दृष्टादपि
 बाधसहकृताविशेषसिद्धिः । यत्त्वोक्तं 'अवगमादेव साक्षात्कारः किमनेनेति' तद-
 युक्तम्, न हि मननमन्तरेण साहसुकस्यावद्यमलक्षालनम्, न च तदन्तरेण
 तत्र निदिध्यासनोपकारः, न च निदिध्यासनमन्तरेण सवासनमिध्यासानो-
 न्मूलनक्षमस्तत्त्वसाक्षात्कारः । अभ्यासादेव हि कामातुरस्याकरमात् कामिनी-
 साक्षात्कारः । न हि शान्दमानुमानिक वा ज्ञान मिध्याज्ञानोन्मूलनक्षमं दिष्टो-
 हादौ दृष्टमिति भावः । ननु तथापि परोक्षे आत्मनि कथं संकेतग्रहः (दृष्टो
 ह्ययं षटपदेशाक्ष इति प्रत्यक्षे संकेतग्रहः) इति चेत् ? क एवमाह नात्मा
 प्रत्यक्ष इति, किन्तु मनसा संयोगप्रत्यासत्त्यात्मग्रहः । कथमन्यथाऽहं सुखी

(आत्मारूप पक्ष मे अहन्त्य (आत्मत्य) रूप हेतु के रहने के मत से ही) 'अहं' इस
 पद के प्रवृत्त होने का निमित्त 'अहन्त्य' है यह सिद्ध है, और वह पृथिव्यादि अन्य द्रव्यो
 मे 'मैं पृथिवी हूँ' इत्यादि प्रतीति न होने के कारण उनमे न रहने से 'आत्मा' रूप
 अह पद का विशेष गिद्ध है ही । इस प्रकार पृथिव्यादिकों के बाधगहित प्रदर्शित
 सामान्यतोदृष्ट अनुमान से भी पृथिव्यादिभिन्न 'अह' पद का वाक्य अतिरिक्त आत्मा
 है यह गिद्ध होता है । और केवल आगम प्रमाणव्यप ही आत्मा को माननेवाले
 ने जो यह कहा था कि 'अवगमात् से ही आत्मा का साक्षात्कार हो जायगा तो
 मनन (अनुमान) रूप संश्लेषिकदार्ढ्यात्स व्यर्थ है' तो यह कहना असंगत है, क्योंकि
 कि बिना मनन (अनुमान) के तद्ध (मुक्त) चक्षुस्तुष्टी वाले मनुष्य को धब्बा न
 होने रूप चित्त के मल (दोष) के वारण द्वारा (दृष्ट निश्चय होने के लिये
 और मनन के बिना आगे उसे 'निदिध्यासन' ध्यानविशेष के अभ्यास मे
 अधिकार होगा, और बिना निदिध्यासन के वासनतहित मिध्याज्ञान के समूल
 उच्छेद करने मे समर्थ आत्मारूप तत्त्व (पदार्थ) का साक्षात्कार 'प्रत्यक्ष' न होगा,
 क्योंकि ध्यान के निरुत्तर होने रूप अभ्यास ही से कामी पुण्य को आकस्मिक
 कामिनी का साक्षात्कार होता है । क्योंकि आगम से अथवा अनुमान से
 दृष्टा भी तत्त्वज्ञान मिध्याज्ञान को समूल गृह नही कर सकता, जैसे किसी
 को दिशा के ज्ञान का मोह (मिथ्याज्ञान) हुआ हो तो वह प्रत्यक्ष मे ही पूर्वादि
 दिशा के ज्ञान से गृह होता है, नकि उपदेश अथवा अनुमान से यह आशय है ।
 तथापि प्रत्यक्ष आत्मा द्रव्य मे 'अहं' इस पद के बोधक शक्ति का ज्ञान कैसे होगा,
 क्योंकि प्रत्यक्ष होने वाले ही षटादि पदार्थों मे षट आदि शब्दों का पुनैतरूप शक्ति
 का ज्ञान होता है (मो) 'अह पद' अर्थ युक्त है, इस अनुमान से आत्मारूप
 अर्थ कैसे सिद्ध होगा ऐसा यदि पूर्वपक्षी रहे (तो वाक्यमिध मिथ्याज्ञानी
 के मत से गलत है कि)—यह कौन कहता है कि आत्मा द्रव्य प्रत्यक्ष नही
 है किन्तु मन से संयुक्त आत्मा होने के कारण संयोगरूप सन्निकर्ष से आत्मा का

जानामीच्छामि यत्ते द्रव्योत्पादिप्रत्ययः । नह्ययमवस्तुकः सन्दिग्धवस्तुको वा, नीलादिप्रत्ययवत् अस्यापि निश्चितवस्तुकत्वात् । न च तैत्तिरीय, विद्वांसान्-मन्तरेणापि जायमानत्वात् । नापि शब्दः, तदनुसन्धानाननुविधानात् । प्रत्यक्षा-भासोऽयमिति चेत्, तर्हि कचिदनाभासविषयोऽपि नह्यप्रमितमारोप्यते इत्या-वेदयिष्यते ॥ ९ ॥

एवञ्चेत् किमनुमानेनेति पूर्वपक्षवादी आह—

यदि दृष्टमन्वक्षमहं देवदत्तोऽह यज्ञदत्त इति ॥१०॥

इति शब्दो ज्ञानप्रकारमाह । दृष्टमिति भावे—क्तप्रत्ययान्तम्, अन्वक्षमित्य-ध्यक्षम् । तेनायमर्थः—अयं देवदत्तः अयं यज्ञदत्त इति प्रकारकं दृष्टं दृशन प्रत्यक्ष होता ही है, यदि ऐसा न हो तो 'मैं सुखी हूँ' मैं जानता हूँ इच्छा करता हूँ, मैं दत्त करता हूँ, मैं दुखी हूँ, इत्यादि ज्ञान कैसे होते हैं । क्योंकि यह संपूर्ण ज्ञान आश्रय पदार्थ रहित है, अथवा भविष्य आश्रय पदार्थ को विषय करता है यह नहीं हो सकता, कारण यह है कि यह नीलवर्ण है द्रव्यादि ज्ञान के समान 'मैं सुखी हूँ' इत्यादि ज्ञान भी निश्चित पदार्थ को ही विषय करता है, जो लिङ्ग के ज्ञान के बिना भी उत्पन्न होने के कारण लिङ्ग से उत्पन्न अनुमान रूप नहीं है । न शब्द प्रमाण से उत्पन्न शब्दबोधरूप है, क्योंकि शब्द की आवश्यकता न रख-कर 'मैं सुखी हूँ' इत्यादि ज्ञान होता है । यदि कहो कि यह ज्ञान प्रत्यक्षाभास (प्रत्यक्ष के समान प्रतीत होने वाला है) अर्थात् वास्तविक प्रत्यक्ष नहीं है जिससे उसके द्वारा आत्मा प्रत्यक्ष में सिद्ध हो तो इसी कारण कहीं न कहीं वास्तविक प्रत्यक्ष का भी विषय मानना पड़ेगा क्योंकि जो कही निश्चित नहीं होता उसका आरोप रूप आभास ज्ञान भी नहीं होता यह आगे निवेदन किया जायगा ॥९॥

यदि ऐसा (प्रत्यक्ष-सिद्ध) आत्मा है तो उसकी सिद्धि के लिये अनुमान की क्या आवश्यकता है । इन अभिप्राय से पूर्वपक्षवादी के मत से सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

पदपदार्थ—यदि = यदि, दृष्ट = देखना है, अन्वक्ष = इन्द्रियजन्य ज्ञान होने से, अह = मैं, देवदत्त = देवदत्त हूँ, यज्ञ = मैं, यज्ञदत्त = यज्ञदत्त हूँ, इति = ऐसा ज्ञान ॥१०॥

भावार्थ—यदि सिद्धान्ती ने कहे हुए प्रकार से यह यज्ञदत्त है, यह देवदत्त है, इत्यादि ज्ञान प्रत्यक्ष है तो उस आत्मा के सिद्धि करने में अनुमान की क्या आवश्यकता है क्योंकि प्रत्यक्ष से हाथी को देखने पर उसकी आवाज से उसका अनु-मान करने की आवश्यकता नहीं रहती ॥ १० ॥

उपकार—सूत्र में इति यह शब्द 'मैं देवदत्त हूँ, मैं यज्ञदत्त हूँ' इन ज्ञानों के समान यह चैत्र नामक मनुष्य है इत्यादि और ज्ञानों का प्रकार सूचित करता है । सूत्र में 'दृष्ट' यह पद दर्श घातु से भाव धर्म को कहने वाले 'क्त' प्रत्यय जिसके अन्त-

अध्यक्षमेवास्ति यदि किमनुमानप्रयासेन 'न हि करिणि दृष्टे चीत्कारेण तमनु-
मिमतेऽमुमातारः' ॥ १० ॥

अत्र सिद्धान्त्याह—

दृष्ट्यात्मनि लिङ्गे एक एव दृढत्वात् प्रत्यक्षवत् प्रत्ययः ॥ ११ ॥

दृष्टे प्रत्यक्षेण गृहीते आत्मनि लिङ्गे सम्भूतसामग्र्योके सति एक एव एक-
वैषयिक एव प्रत्ययः । प्रत्यय इति निरस्तसमस्तविभ्रमाशङ्कित्वमाह । कुत
एवमित्यत आह—दृढत्वात् प्रमाणसंख्येनान्यथाभावशङ्कानिवर्तनपटुत्वात् । तत्र
दृष्टान्तमाह—प्रत्यक्षवदिति । यथा दूरात्तोयप्रत्यक्षे सत्यपि संवादार्थं बलाका-

मे है ऐसा है जिसका दर्शन ऐसा अर्थ है जिससे यह दर्शन यदि अन्वक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष
रूप है । जिससे यह अर्थ निकलता है कि यह देवदत्त है 'यह यज्ञदत्त है, यह यज्ञदत्त है'
इत्यादि प्रकारवाले जिसने इष्ट-दर्शन अर्थात् ज्ञान है वह यदि प्रत्यक्ष रूप ही है तो
आत्मा की सिद्धि में अनुमानप्रमाण दिखाने के प्रयास की सिद्धान्ती को क्या आवश्यकता
है क्योंकि हस्ती के प्रत्यक्ष देखने पर उसके 'चीत्कार' रूप शब्द से उसकी अनुमान-
प्रमाण से प्रमाता जाता लोग निश्चि नहीं करते ॥ १० ॥

एत पूर्वपक्ष पर सिद्धान्ती के मत से सूत्रकार सूत्र में कहते हैं—

पदपदार्थ—दृष्टे=प्रत्यक्ष से देने हुए, आत्मानि=आत्मा में, लिङ्गे=अनुमान
से साधक लिङ्ग के (होने पर), एक एव=एक ही आत्मारूप विषय में, दृढत्वात्=
दृढ होने से, प्रत्यक्षवत्=प्रत्यक्ष के समान, प्रत्यय=निश्चयरूप ज्ञान होता
है ॥ ११ ॥

भाषार्थ—आत्मा पूर्वोक्त 'यह देवदत्त है' इत्यादि प्रतीतिषी से प्रत्यक्ष सिद्ध होने
पर भी उसके साधक पूर्वोक्त तद्धेतुओं के भी होने के कारण उसी एक ही आत्मा
को विषय करने वाली विपरीत शकाओं के निरास द्वारा दृढनिश्चयात्मक ज्ञान
होने के लिये प्रत्यक्षसिद्ध विषय का भी अनुमानरसिक विद्वान् अनुमान से भी
सिद्धि करते हैं ॥ ११ ॥

उपरकार—प्रत्यक्ष में आत्मा का ग्रहण होने पर भी साधक लिङ्ग की भी
सामग्र्यो का समव होने पर एक ही आत्मारूप विषयवाला निश्चयरूप प्रत्यय (ज्ञान)
होता है । सपूर्ण आमात्मक ज्ञानों का निरास करने वाला ज्ञान यहाँ (इस सूत्र)
में प्रत्यय शब्द का अर्थ है । ऐसा क्यों ? इस जिज्ञासा को निवृत्ति के लिये सूत्रकार
ने 'दृढत्वात्' यह हेतु दिया है जिसका प्रत्यक्ष तथा अनुमान दोनों प्रमाणों के साङ्ग्य
से उस आत्मा के शरीर तथा इन्द्रियादि रूप होने की शका का निरास करने में
समर्थ है ऐसा अर्थ है । इसी में दृष्टान्त सूत्रकार सूत्र में देते हैं 'प्रत्यक्षवत्' प्रत्यक्ष
के समान, जिस प्रकार दूर से जल वा प्रत्यक्ष होने पर भी उसके 'संवाद' दृढज्ञान
(निश्चय) होने के लिये 'बलाका' वक पक्षियों को देखकर उनसे भी जल का

लिङ्गेनापि तदनुमानम् । तदुक्तम् “प्रत्यक्षपरिकलितमप्यनुमानेन ध्रुवसंस्ते
तर्करसिका” इति । इदमत्राकूतम्—यद्यात्मा कदाचित् प्रत्यक्षे चैतसे भासत
एव तथापि अहं गौर अहं कुश इत्यादिविरोधिप्रत्ययान्तरतिरस्कृतां न तथा
स्थेमानमासादयति विद्युत्सम्पातसञ्जातज्ञानवत्, तत्र लिङ्गेन अनन्यथासिद्धेन
ज्ञानान्तरमुत्पद्यमान पूर्वज्ञान (विषय) मेव स्थिरीकरोति । किञ्च ‘श्रोतव्यो
मन्तव्यः’ इत्यादिविधिमोक्षितस्यात्ममनस्य इष्टसाधनत्वावगतौ अनुमित्तयाऽ-
वश्यमात्मानुमानप्रवृत्तिः, तद्व्यतिरेके निदिध्यासनासम्भवे साक्षात्काराभावेऽ-
पवर्गासम्भवादिति भावः । अहं देवदत्तोऽहं यज्ञदत्त इति प्रतीतिद्वयामिधान-
भासमनः प्रत्यात्मवेदनोपत्तौ सूचयितुम् ॥ ११ ॥

ननु चाहं यज्ञदत्तोऽहमिति प्रत्यय आत्मनि तदा यज्ञदत्तो गच्छतीति
गमनसामानाधिकरण्यभानमनुपपन्नमित्यत आह—

अनुमानं कियं जाना है, इसी कारण प्राचीन नैयायियों ने कहा है—‘प्रत्यक्ष से
जाने हुए विषय का भी अनुमानप्रमाण से जानने की अनुमानरसिक नैयायिक विद्वान्
जानने की इच्छा करते हैं ।

यह यहाँ पर अभिप्राय है कि यद्यपि आत्मा का भानसः प्रत्यक्ष में भान (ज्ञान)
होता ही है, तथापि “मैं दवेत बर्ण हूँ मैं दुर्बल हूँ” इत्यादि शरीर में आत्मता के नष्टने
वाले विरुद्ध ज्ञानों से तिरस्कार की आक्रमण कर प्राप्त होने के कारण शरीरभिन्न
आत्मा का ज्ञान वैसा अत्यन्त स्थिर वृद्ध निश्चय रूप नहीं हो सकता है, जिस प्रकार
विजुली के प्रकाश में हुआ पदार्थ का ज्ञान निश्चयात्मक नहीं होता, इस कारण
शरीर भिन्न आत्मा है इस विषय में पूर्वोक्त अन्यथासिद्ध न होने वाले साधक त्तिङ्ग
से उत्पन्न हुआ एक ही उस आत्मा के विषय का ज्ञान वृद्ध निश्चय कर देता
है । (यदि ‘प्रत्यक्ष से आत्मा का ज्ञान है तो सिद्धिज्ञान के अनुमिति, में प्रतिबन्धक
होने से अनुमिति कैसे होगी’ ऐसी शंका हो तो शंकरमिथ कहते हैं कि) —‘श्रोतव्यो
मन्तव्यः’ आत्मा का श्रवण करना चाहिये मनन करना चाहिये, इत्यादि श्रुति के विधि
करने वाले वाक्यों से कहें हुए आत्मा के अनुमानरूप मनन में यह आत्मानुमान मेरे
इष्ट (आत्मसाक्षात्काररूप) का साधन है ऐसा ज्ञान होने पर मैं अनुमान से आत्मा को
जानना चाहता हूँ इस प्रकार की अनुमान करने की इच्छारूप उत्तेजक होने से आत्मा
के अनुमान करने में अवश्य प्रवृत्ति होगी, क्योंकि विना अनुमानरूप मनन के निदिध्या-
सन न होने के कारण आत्मा का साक्षात्कार ज्ञान न होगा, जिससे अपवर्ग (मोक्ष) न
हो सकेगा । यह श्रुत का भाव है । उस श्रुत में ‘अहं देवदत्त अहं यज्ञदत्त’ ऐसी दो
प्रतीतियों से यह सूचित होता है कि प्रत्येक आत्मा को ऐसा ज्ञान होता है ॥ ११ ॥

यदि ‘मैं देवदत्त हूँ’ यह ज्ञान आत्मा में होता है तो ‘यज्ञदत्त जाता है’ इस
प्रतीति में गमन क्रिया का सामानाधिकरण्य एक आश्रय में गमन क्रिया तथा

देवदत्तो गच्छति यज्ञदत्तौ गच्छतीत्युपचाराच्छसरे प्रत्ययः ॥ १२ ॥

अस्ति हि अहं गौरः अहं स्थूल इति प्रत्ययः, अस्ति च मम शरीरमिति भेदप्रत्ययः । तत्र देवदत्तो गच्छतीति गतिसामानाधिकरण्यानुभवी व्यवहारश्च भाक्तः, ममेति प्रत्ययाय यथार्थत्वात् । यद्यपि देवदत्तत्वं शरीरवृत्तिर्जातिस्तेन देवदत्तो गच्छतीति मुख्य एव प्रयोगो यथार्थ एव च प्रत्ययः तथापि देवदत्तपदं तद्वच्छिन्नात्मनि प्रत्युक्तश्चेत् तदौपचारिको शोद्धव्यः ॥ १२ ॥

अत्र शङ्के—

सन्दिग्धस्तूपचारः ॥ १३ ॥

उसके कर्ता की प्रतीति कैसे होगी, (क्योंकि आत्मा में तो गमन नहीं है) इस शङ्का के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—देवदत्त = देवदत्त नामक मनुष्य, गच्छति = जाता है, यज्ञदत्त = यज्ञदत्त नाम का मनुष्य, गच्छति = जाता है, इति=ऐसा, उपचारात्=गौण रूप से, शरीरे = शरीर में, प्रत्यय =ज्ञान होता है ॥ १२ ॥

भावार्थ—‘अहं गौर’ मैं गौर वर्ण हूँ, मैं मोटा हूँ, यह ज्ञान, तथा मेरा शरीर है यह भी ज्ञान होता है, अतः देवदत्त जाता है यह गमन क्रिया का आशय और उसका कर्ता एक ही है ऐसा अनुभव तथा व्यवहार गौण है, और मेरा यह ज्ञान पदार्थ है यह सिद्ध होता है ॥ १२ ॥

उपस्कार—मैं गौर वर्ण हूँ, मैं स्थूल हूँ इस प्रकार का प्रत्यय होता है और मेरा शरीर है इस प्रकार आत्मा से शरीर भिन्न है यह भी ज्ञान होता है । उसमें देवदत्त जाता है इस प्रकार गमनक्रिया का आधार तथा उसका कर्ता एक ही है ऐसा जो अनुभव तथा व्यवहार भी होता है वही तब ‘गौण’ है, क्योंकि मेरा शरीर ऐसा भेद ज्ञान यथार्थ (सत्य) है । यद्यपि ‘देवदत्तत्व’ नामक जाति उसमें शरीर में रहती है, इस कारण देवदत्त जाता है यह मुख्य (प्रधान) ही शब्द प्रयोगरूप व्यवहार तथा सत्य ही ज्ञान भी हो सकता है तथापि देवदत्त यह पद देवदत्त के शरीर से युक्त उसकी आत्मा में यदि प्रयुक्त हो तो उसे औपचारिक (गौण) है ऐसा जानना ॥ १२ ॥

इस पर पूर्वपक्षी मत से सूत्रकार सूत्र में शङ्का करते हैं—

पदपदार्थ—सन्दिग्ध ॥ = किन्तु सन्दिग्ध है, उपचारः = गौण होना ॥ १३ ॥

भावार्थ—आत्मा तथा शरीर दोनों में ‘अहं’ यह ज्ञान होता है तथा व्यवहार भी होता है इस कारण दोनों में से किसमें मुख्य है तथा किसमें गौण है यह संदेह होता है ॥ १३ ॥

तुशब्दः पूर्वपक्षद्योतकः । आत्मशरीरयोस्तावदहमितिप्रत्ययः प्रयोगश्चेत्
दृश्यते तत्र च मुख्यः कः वौपचारिक इति सन्देहः ॥ १३ ॥

समाधत्ते—

अहमिति प्रत्यगात्मनि भावात् परत्राभावादर्थान्तरप्रत्यक्षः ॥ १४ ॥

अर्थान्तरमात्मत्वरूप प्रत्यक्ष यत्र प्रत्यये स प्रत्ययोऽर्थान्तरप्रत्यक्षः ।
अयमर्थः—अहमिति प्रत्ययस्य प्रत्यगात्मनि स्वात्मनि भावात् परत्र परात्मनि
अभावात् अर्थान्तरे स्वात्मन्येष मुख्यः कल्पयितुमुचितः । यदि तु शरीरे
मुख्य स्यात् तदा बहिरिन्द्रियजः स्यात् । न हि शरीर मानसप्रत्यक्षं मानस-
आयमहमिति प्रत्यय बहिरिन्द्रियव्यापारमन्तरेणापि जायमानत्वात्, अहं
मुखी जाने यते इच्छाम्यहमिति योग्यविशेषगुणोपहितस्यात्मनो मनसा विषयो-
करणात् । नाथ लैङ्गिको लिङ्गानुसन्धानमन्तरेणापि जायमानत्वात् । न शाब्दः

उपस्कारः—इस सूत्र में 'तु' यह शब्द पूर्वपक्ष का सूचक है । आत्मा तथा शरीर
दोनों में ही 'अह' मैं, ऐसा ज्ञान तथा सन्दर्भप्रयोगरूप व्यवहार देखने में आता है, उन
दोनों में से किसमें मुख्य है तथा किनमें गौण यह सन्देह है ॥ १३ ॥

सूत्रकार सूत्र में समाधान करते हैं—

पदपदार्थः—अह इति = 'मैं हूँ' ऐसा, प्रत्यगात्मनि = अपनी आत्मा में, भावात् =
ज्ञान तथा व्यवहार होने से, परत्र = दूसरे में, अभावात् = न होने से, अर्थान्तर
प्रत्यक्ष = आत्मारूप शरीरादि भिन्न दूसरे पदार्थ को प्रत्यक्ष विषय करता है ॥ १४ ॥

भाषार्थः—'अह' मैं हूँ ऐसा ज्ञान अपनी ही आत्मा में होता है, दूसरे की आत्मा
में नहीं होता है, इस कारण अपनी आत्मा में ही मुख्य मानना उचित है, अतः 'अह'
मैं हूँ यह ज्ञान शरीरादिको से भिन्न आत्मारूप दूसरे पदार्थ के प्रत्यक्ष को विषय
करता है ॥ १४ ॥

उपस्कारः—आत्मत्व जातिवाला आत्मारूप शरीरादिको से भिन्न दूसरे पदार्थ
का जिसमें प्रत्यक्ष होता है ऐसा 'अह' यह प्रत्यय शरीरादि भिन्न आत्मा को विषय
करता है यह सूत्र का अर्थ है । कि 'अह' यह ज्ञान प्रत्यगात्मा अर्थात् अपनी आत्मा
में होता है, दूसरे की आत्मा में नहीं होता, इस कारण स्वात्मा रूप दूसरे पदार्थ
में ही मुख्य है ऐसा मानना उचित है । यदि यह 'अह' यह ज्ञान और व्यापार
मुख्य हो तो, बहिरिन्द्रिय से उमका ज्ञान होगा, क्योंकि शरीर का मानस प्रत्यक्ष
नहीं होता, और यह 'अह' मैं हूँ यह ज्ञान बाहरी वस्तु आदि इन्द्रियो के व्यापार
के बिना भी होने के कारण मानस ज्ञान नहीं है, क्योंकि 'मैं दुखी हूँ, मैं मुखी हूँ,
मैं जानता हूँ, मैं इच्छा करता हूँ, मैं यत्न करता हूँ' इस प्रकार प्रत्यक्ष योग्य ज्ञानादि
गुणविशेषयुक्त आत्मा मन में ही विषय किया जाता है, यह लिङ्ग से जग्य
अनुमान ज्ञान नहीं है, क्योंकि उक्त ज्ञानादि आत्मा के भाषक हैं ऐसा ज्ञान हुए बिना

शब्दाकलनमन्तरेणापि जायमानत्वात् । तस्मान्मानस एव, मनसश्च बहिर-
स्यातन्द्रयेण शरीरादावप्रवृत्तेरिति भावः । किञ्च यदि शरीरे स्यात् परशरीरे
स्यात्, स्यात्मानि यदि भ्यात् तदापि परात्मनि स्यादिति चेन्न परात्मनः पर-
स्यातोन्द्रियत्वात् तद्विशेषगुणानामयोग्यत्वात्, योग्यविशेषगुणोपग्रहेण तस्य
योग्यत्वात् । न केवलमात्मन इदं शीलं किन्तु द्रव्यमात्रस्य, द्रव्य हि योग्य-
विशेषगुणोपग्रहेणैव प्रत्यक्षं भवति । आकाशमपि तर्हि शब्दोपग्रहेण प्रत्यक्ष
म्यादिति चेत्, स्यादेवं यदि श्रोत्र द्रव्यमाहक भवेत्, आकाशं वा रूपवत्
स्यात् । आत्मनोऽपि नौरूपत्वे तुल्यमिति चेत्, बहिर्द्रव्यमात्र एव प्रत्यक्षतां
प्रति रूपवत्त्वस्य तन्त्रत्वात् । प्रत्यगित्ययं शब्दोऽन्यन्यावृत्तमाह ॥ १४ ॥

पुनः शङ्कते—

भी 'मैं दुखी हूँ' इत्यादि ज्ञान होते हैं । न यह ज्ञान शब्द ज्ञान रूप है, क्योंकि
'मैं दुखी हूँ' इत्यादि शब्द ज्ञान के बिना भी मानस ज्ञान होता है । इस कारण
उक्त ज्ञान मानस प्रत्यक्ष ज्ञान ही है, और यह मन बाह्य विषय शरीरादिको में
स्वतन्त्र (बिना श्मशुरादि बाह्य इन्द्रियो के आधार के) प्रवृत्त नहीं होता अतः
शरीरादि आत्मा नहीं हैं, किन्तु उनसे भिन्न उनका अधिष्ठाता आत्मा ही है यह सूत्र
का आशय है । (शरीर को 'अह' इन ज्ञान का विषय होने से बाधक भी है इस
आशय से शरकरमिश्र आगे कहते हैं कि)—और यदि यह अह (मैं हूँ) यह ज्ञान
और व्यवहार शरीर में हो तो हमारे शरीर में भी होगा । यदि कहो कि यदि यह
अह प्रत्यय अपनी आत्मा में हो तो भी हमारे की आत्मा में होगा तो यह नहीं कह
सकते क्योंकि हमारे की आत्मा हमारे आत्मा को अतीन्द्रिय होने से इन्द्रिय से
ग्रहण नहीं कर सकती, क्योंकि हमारे आत्मा के सुखदुःख इत्यादि गुण हमारे की
प्रत्यक्ष नहीं होते, प्रत्यय योग्य गुणों के रहने से आत्मा को योग्यता (प्रत्यक्ष
होने की योग्यता) हो सकती है । केवल यह आत्मा (द्रव्य) का ही स्वभाव
नहीं है, किन्तु सम्पूर्ण द्रव्यों का, क्योंकि प्रत्यक्ष योग्य विशेष गुणों के सम्बन्ध में
ही किसी भी द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है । तब तो आकाश द्रव्य का भी उनके शब्द
रूप विशेष गुण का प्रत्यक्ष होने से प्रत्यक्ष होने लगेगा । ऐसा पूर्वपक्षी बहे तो ऐसा
तब होगा यदि श्रोत्र इन्द्रिय द्रव्य का ग्रहण करने वाला हो, अथवा आकाश द्रव्य
रूपाश्रय हो । यदि पूर्वपक्षी बहे कि 'आत्मा में भी तो रूप न होना आकाश के
नमान है' (तो आत्मा का भी प्रत्यक्ष न होगा) तो आपत्ति नहीं आवेगी क्योंकि
केवल बहिर्द्रव्यों के प्रत्यक्ष होने में ही रूपवत्ता कारण है । सूत्र में 'प्रत्यग्' यह शब्द
इनर आत्माओं से भेद का सूचक है ॥ १४ ॥

पुनः सूत्रकार पूर्वपक्षी मत से सूत्र द्वारा शङ्का करते हैं—

देवदत्तो गच्छतीत्युपचारादभिमानात्तावच्छरीरप्रत्यक्षोऽहङ्कारः ॥ १५ ॥

अहङ्कारोऽहमिति प्रत्ययः । स च शरीरप्रत्यक्ष शरीरं प्रत्यक्षं विषयो यत्र स शरीरप्रत्यक्षः । देवदत्तो गच्छतीत्युपचारात्तावत् प्रयोगः । प्रत्ययो वा त्वया समाहित । स चोपचार आभिमानिकः यतोऽहं गौर- अहं कृशः, सौभागिनोऽहं पुनरुक्तजन्मेत्यादयः प्रत्ययाः प्रयोगाश्चोपचारेण समन्वयितुमशक्या इत्यर्थः ॥ १५ ॥

सिद्धान्तमाह—

सन्दिग्धस्तूपचारः ॥ १६ ॥

तुशब्दोऽयं सिद्धान्तमविध्यनक्ति । उपचारोऽयमाभिमानिक किन्तु शरीर

पदपदार्थ—देवदत्त = देवदत्त गच्छति, = जाता है, इति = ऐसा, उपचारात् = भोग रूप से, अभिमानात् = अभिमान से, तावत् = तो, शरीर प्रत्यक्ष = शरीररूप विषय वाला अहङ्कार = 'अह' यह प्रत्यय है ॥ १५ ॥

भावार्थ—अहङ्कार ('अह' मैं हूँ ऐसा ज्ञान) शरीर को ही विषय करता है, क्योंकि सिद्धान्तों ने देवदत्त जाता है ऐसा ज्ञान या व्यवहार उपचार (गौण) रूप से होना है ऐसा कहा है किन्तु वह उपचार आभिमानिक (वास्तविक नहीं) है क्योंकि मैं गौर वर्ण हूँ, मैं कृश हूँ, इत्यादि ज्ञान और व्यवहार अवास्तविक नहीं हो सकता ॥ १५ ॥

उपस्कार—सूत्र के अहङ्कार शब्द का अर्थ है 'अह' मैं हूँ ऐसा ज्ञान और वह ज्ञान शरीर में है प्रत्यक्ष (विषय) जिसमें ऐसा होने में शरीर प्रत्यक्ष कहा जाता है । देवदत्त जाता है ऐसा उपचार से भोगरूप में तो शब्द प्रयोग अथवा ज्ञान है ऐसा सिद्धान्तों ने समाधान किया था । किन्तु वह उपचार गौण रूप व्यवहार आभिमानिक (अवास्तविक) है, क्योंकि मैं गौर वर्ण हूँ, मैं दुर्बल हूँ, मैं भाग्यवान् हूँ, मैं पुनरुक्तजन्मा (व्यर्थ जन्म वाला) हूँ, इत्यादि ज्ञान तथा शब्द प्रयोग वा गर्भ उपचार (गौण) रूप में सगति लगाना अशक्य है, (क्योंकि शरीर में ही गौरवर्ण, दुर्बलतादि वास्तविक है) ॥ १५ ॥

इस पूर्वपक्ष पर सिद्धान्त सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—सन्दिग्ध तु = किन्तु सन्दिग्ध है, उपचार = गौणरूपता ॥ १६ ॥

भावार्थ—देवदत्त जाता है यह ज्ञान तथा व्यवहार वास्तविक नहीं है, किन्तु शरीर को ही अह प्रत्यय विषय करता है यह जो पूर्वपक्षों ने कहा उसमें भी सन्देह ही है, अतः अह प्रत्यय शरीर या उससे भिन्न आत्मा को विषय करता है इन दोनों विषयों में मात्मी कौन है इसका विशेष रूप से जब हम निर्णय करने जाते हैं तो नेत्र बंद करने पर भी 'मैं हूँ' ऐसा ज्ञान होने के कारण शरीर से भिन्न तथा बहिर्गन्धियों से न गृहीत होने वाला ही आत्मा पदार्थ है यह सिद्ध होता है ॥ १६ ॥

उपस्कार—सूत्र में 'तु' यह शब्द सिद्धान्तपक्ष का सूचक है । यह देवदत्त

एषामहमप्रत्यय इति यदुक्तं तत्रापि सन्देह एवेत्यर्थः । तथाच प्रत्ययस्यो-
भयत्रापि कूटसाक्षित्वेन विशेषावधारणाय यतितज्यम् तत्र यत्ने क्रियमाणे
निमोलिताक्षस्याप्यहमिति-प्रत्ययदर्शनात् शरीरभिन्ने बहिरिन्द्रियागोचरे वस्तुनि
स मन्तव्यः । शरीरे भवन परशरीरेऽपि स्यात्, चक्षुर्नैरपेक्ष्येण च न स्यात् ।
अहं कृता स्थूलो वा सुखीति कथं सामानाधिकरण्यामिति चेन्न सुखाद्यच्छेद-
कत्वेनापि तत्र शरीरभानसम्भवात् सिद्धानादवदिदं गहनमिति वत्, अहन्त्वमात्रं
शरीरे समारोप्यते मनसोपस्थितम्, त्वग्निन्द्रियोपनोतमोऽप्यम् उष्णं शरीरमि-
ति वत् ॥ १६ ॥

सिद्धान्तमुपवृत्त्युपपन्नम्—

न तु शरीरविशेषाद् यज्ञदत्तविष्णुमित्रयोर्ज्ञानं विषयः ॥ १७ ॥

जाता है यह ज्ञान शरीर में ही गहन किया होने से यद्यपि आत्मा में वास्तविक नहीं
है तथापि 'अहं' यह ज्ञान शरीर में ही होता है यह जो पूर्वपक्षी ने कहा है, उसमें भी
सन्देह ही है यह सूत्र का अर्थ है । ऐसा होने से 'अहं' में इस ज्ञान के शरीर तथा
उससे भिन्न भी आत्मा में आत्मा ही कूट (नित्य) साक्षी (गवाह) है, इस अर्थ में
समानता होने के कारण विशेष रूप से निर्णय करना आवश्यक है इस विषय में
यत्न करने पर ज्ञेय वद करने पर भी अनुपपन्न दो 'मैं हूँ' ऐसा ज्ञान होने के कारण
शरीर में भिन्न तथा चक्षु आदि बहिरिन्द्रिय से गृहीत न होने वाले पदार्थ में वह ज्ञान
मानना पड़ेगा । क्योंकि यदि यह 'मैं हूँ' यह ज्ञान शरीर में होगा तो दूसरे के भी
शरीर में होगा, तथा भिन्न चक्षुरिन्द्रिय की अपेक्षा से न होगा । यदि कहो कि 'तब मैं
दुर्बल, स्थूल हूँ या सुखी हूँ, इस प्रकार दुर्बलता आदि तथा 'अहं' मैं हूँ इन दोनों का
(सामानाधिकरण्य) एक आधार का होने का ज्ञान कैसे होगा' तो यह नहीं हो
सकता, क्योंकि सुखादि गुणों की आत्मा में उत्पत्ति होने का अवच्छेदक (आधार
सम्बन्ध-रूप) विरोध होने में भी उक्त ज्ञानी में शरीर का भान (ज्ञान) हो सकता
है, जिस प्रकार सिंह की गर्जनारूप शब्द का आकाश ही आश्रय होने पर वन के
आकाश में सिंह की गर्जना होने से वह वन सिंह की गर्जना वाला है, ऐसा ज्ञान
होता है । प्रस्तुत में मन में शरीर में अहत्त्व भाव (आत्मा होने भाव का) आरोप होता
है, जिस प्रकार त्वग्निन्द्रिय से प्राप्त हुई उष्णता उष्ण जल है, उष्ण शरीर है इत्यादिकों
में आरोप से वास्तविक न होने पर भी गृहीत होती है ॥ १६ ॥

इसी सिद्धान्त को बढ़ाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—ननु=किन्तु नहीं है, शरीरविशेषात् = शरीर के भेद से, यज्ञदत्त-
विष्णुमित्रयो = यज्ञदत्त तथा विष्णुदत्त नाम के दो अनुपपन्नो का, ज्ञान=ज्ञानगुण,
विषय = विषय है ॥ १७ ॥

१७ वै०

ज्ञानमिति योग्यं सुखदुःखादिकमात्मगुणमुपलक्षयति । यथा यज्ञदत्तविष्णु-
मित्रयोः शरीर परस्परभिन्नं तथा ज्ञानसुखादिकमपि भिन्नमेव । तथाच यथा
यज्ञदत्तस्येदं शरीरं तथा यज्ञदत्तस्य ज्ञाने सुखादौ वाऽनुत्पन्ने भद्रं सुखी ज्ञाने
यते इच्छामाति ज्ञानादिक विषयो भवति योग्यशरीरविषयकत्वेन तदीयरूपादि-
वत्तदीयज्ञानादीनामपि प्रत्यक्षत्वसम्भवात् । न च सम्भवति, तस्मात् ज्ञानसुखा-
दीनां शरीरादन्य एवाश्रयो वक्तव्य इति भावः । शरीरविशेषात् शरीरस्य भेद-
दित्यर्थः । तथाच शरीरभेदं प्राप्य ज्ञानं न विषय इति' ह्यबल्योपे पञ्चमो॥१७॥
नन्वात्मा न प्रत्यक्षः, नीरूपद्रव्यद्वयान् निरवयवद्रव्यत्वाद्धा आकाशवत्, तथा-

भावार्थ—यज्ञदत्त तथा विष्णुदत्त नामक दो व्यक्तियों के शरीर तथा ज्ञानादि
गुण दोनों ही भिन्न हैं, ऐसा होने से जिस प्रकार यज्ञदत्त का यह शरीर विषय
होता है उस प्रकार उस यज्ञदत्त को ज्ञानादि उत्पन्न न होने पर भी शरीरात्म-
त्वाद पक्ष में ज्ञानादिक शरीर का गुण होने से विषय होगा (अर्थात् 'अस्मिन्' शब्द
को शरीर का वाचक मानते से 'यह शरीर' है इत्यं प्रत्यक्ष के आत्मविषयक होने से
आत्मा तथा ज्ञानादि गुणों के प्रत्यक्ष की सामग्री समान होने के कारण 'यह शरीर
है' ऐसे प्रत्यक्ष के समय में 'मैं जानता हूँ' इत्यादि रूप ज्ञानादि गुणों के प्रत्यक्ष की
आपत्ति होगी, इस कारण शरीरादिकों में भिन्न ही आत्मा ज्ञानादि गुणों का आश्रय
मानना युक्त है ॥ १७ ॥

उपस्कार—सूत्र में ज्ञानपद मानस-प्रत्यक्षयोग्य सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्नादि
संपूर्ण आत्मा के विशेष गुणों का सूचक है । जिस प्रकार यज्ञदत्त तथा विष्णुदत्त नाम
के दो मनुष्यों का शरीर परस्परमें भिन्न है, उसी प्रकार ज्ञान सुख आदि गुण भी शरीर
गुण से भिन्न ही हैं । ऐसा होने से जिस प्रकार यज्ञदत्त का यह शरीर विषय होता है
उसी प्रकार यज्ञदत्त को ज्ञान अथवा सुख दुःखादिकों के उत्पन्न न होने पर भी
मैं सुखी हूँ, मैं जानता हूँ, मैं यत्न करता हूँ, मैं इच्छा करता हूँ' इत्यादि रूप से
ज्ञानादि गुण भी विषय हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष-योग्य शरीर के विषय में होने से शरीर
के शरीरवर्णं दुर्बलतादि गुणों के समान उस यज्ञदत्त के ज्ञान सुखादि गुणों का भी प्रत्यक्ष
हो सकेगा । और होता नहीं, इस कारण ज्ञान सुख इत्यादि गुणों का आधार शरीर
में भिन्न ही कहना पड़ेगा यह सूत्र का आशय है । सूत्र के 'शरीरविशेषात्' इस पद
का शरीर के भेद से ऐसा अर्थ है । (इस प्रकार सूत्र का भावार्थ कहकर गहरिमिश्र
सूत्र के अक्षरों का अर्थ कहने हैं कि)—ऐसा होने में शरीर के भेद को प्राप्त कर
ज्ञान होता है, न कि विषय है, अतः 'शरीरविशेषात्' इस पद में त्यक् प्रत्यक्ष के
लोप में यह पंचमी विभक्ति है । (ज्ञान के अवच्छेदक विशेषण) शरीर को
विषय करनेवाले प्रत्यक्ष का ज्ञानादिगुण विषय नहीं है ॥ १७ ॥

'आत्मा' प्रत्यक्ष नहीं है, रूपरहित द्रव्य होने से, अथवा निरवयव द्रव्य होने से,

चाहें कुशो गौर इति बुद्धेः शरीरमेव विषयो वाच्यः, कश्चिदहं सुखीत्यादिषोरपि यद्यप्यस्ति तथाप्यश्रयमन्तरेण भासमानानां सुखादीनां शरीरे समारोप इत्येव कल्पयितुमुचितम्, यद्येषां सूरभि जलम् इत्याश्रयमन्तरेण प्रतीयमानयोरौघ्य-सौरभयोर्जले समारोपः । न त्वेनद्गुरोर्धेन जलप्रत्ययस्यापि प्रसिद्धजलमन्तरेणा-न्यविषयत्वम्, तथाऽहमित्यप्यहन्त्वं शरीर एव वास्तवम्, सुखादिकन्तु कदा-चित्तप्रारोप्यते तेनात्मनि प्रत्यक्षाकारं प्राप्तं नास्त्येव । सुखाद्याधारत्वेन यत् कल्पनीयं तदागमसिद्धं भवतु न तत्रापि ग्रह इत्यत्र आह—

अहमिति मुख्ययोग्याभ्यां शब्दवद्वयतिरेकव्यभिचाराद्विशेष-
द्वैर्नागमिकः ॥ १८ ॥

आकाश के समान, ऐसा अनुमान होने से मैं कुछ हू, इस प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय शरीर ही कहना पड़ेगा, किन्ती स्थल में 'मैं सुखी हूँ' इत्यादि ज्ञान भी यद्यपि होता है, तथापि बिना आधार के प्रतीत होने वाले सुखादि गुणों का शरीर में आरोप होता है यह कल्पना करना उचित है, जिस प्रकार 'उष्ण तथा सुगन्धि जल है' इस ज्ञान में बिना आधार के प्रतीत होनेवाली उष्णता एवं सुगन्धि प्रतीतियों का जल में आरोप होता है । ताकि इस प्रतीति के अनुरोध (होने) से जल का ज्ञान भी प्रसिद्ध जल की छोटकर दूसरे किसी को विषय कराता है, इसी प्रकार 'अहं' मैं हूँ इस प्रतीति में रहनेवाली 'अहता' अहभाव शरीर में ही वास्तविक है, सुखादि गुणों का किसी-किसी समय में उस शरीर में आरोप होता है, अतः आत्मा द्रव्य में प्रत्यक्षरूप ज्ञान नहीं है । सुखादि गुणों के आश्रयरूप में जो आत्मा की स्वीकृति होती है, वह आगम (शब्द) प्रमाण से निष्ठ ही है, किन्तु उसमें ज्ञान नहीं होता इस प्रकार की पूर्वपक्षी की राक्षा का सूत्रकार ऐसा समाधान देते हैं—

पदपदार्थ—अह इति = अह 'मैं हूँ' इस प्रकार, मुख्ययोग्याभ्यां = प्रधान तथा प्रत्यक्ष योग्य, शब्दवत् = शब्दगुण के समान, व्यतिरेकाव्यभिचारात् = अभाव का व्यवभिचार (निग्रम) होने से, विशेषातिरेक = विशेष की निष्ठि होने के कारण, न = नहीं है, आगमिकः = शब्द-प्रमाण-सिद्ध (आत्मा) ॥ १८ ॥

मावार्थ—'अहं सुखी' मैं सुखी हूँ इत्यादि ज्ञान शब्द प्रमाण, तथा हेतु से सिद्ध नहीं है क्योंकि शब्द तथा लिङ्ग ज्ञान के बिना भी होता है । किन्तु जिस प्रकार पृथिवी आदि द्रव्यों में शब्द गुण का अभाव निवृत्त है इसलिये पृथिव्यादिकों से भिन्न शब्द गुण को आश्रय आकाश नामक द्रव्यविशेष की निष्ठि होती है, उसी प्रकार इच्छादि गुणों का भी पृथिवी आदि अष्ट द्रव्यों में अभाव निवृत्त होने के कारण उसके आधार अष्ट द्रव्य से भिन्न आत्मरूप द्रव्य सिद्ध होता है । किन्तु ऐसा होने से अनुमान से ही आत्मा के सिद्धि होती है, यह न जानने के लिये सूत्रकार ने सूत्र में

अयमर्थः । अहं सुखी अहं दुःखीतिप्रत्ययो नागमिको न शाब्दो नापि लैङ्गिकः शब्दलिङ्गयोरनुसन्धानमन्तरेणापि भाष्यमानत्वात् । प्रत्यक्षत्वे च नीरूपत्वं निगमयत्वञ्च यद्वाधकमुक्तं तद्वहिरिन्द्रियप्रत्यक्षतायां भवति तत्र हि रूपवस्थानेरुद्रव्यवस्त्वयोः प्रयोजकत्वात्, मानसप्रत्यक्षता च तदन्तरेणापि । मनुस्यादेव यथास्मान् प्रमाण स्यात् तदेव तु नास्त्येत्यत आह—शब्दवद्व्यतिरेकाभ्यामिचाराद्विशेषसिद्धेरिति । यथा क्षित्यादिषु द्रव्येषु शब्दस्य व्यतिरेकोऽप्यभिचारो नियतस्तेन तदाश्रयस्याष्टद्रव्यातिरिक्तस्याकाशरूपस्य विशेषस्य सिद्धिः प्रवृत्तिरुच्यते । पृथिव्यादिषु व्यतिरेकस्याभ्यामिचारात् तदाश्रयेणापि अष्टद्रव्यातिरिक्तेन भवितव्यम् । नन्वेतावताऽप्यानुमानिक एव आत्मा न तु प्रत्यक्ष इत्यत आह—अहमिति । मुख्ययोग्याभ्यामिति । अहमितितीकारेण ज्ञानकारमाह, तेनाहमिति ज्ञानं शब्दलिङ्गानुसन्धानमन्तरेण निमीलिताक्षस्य यदुत्पद्यते तन्मुख्येन

‘अहमिति मुख्ययोग्याभ्याम्’ ऐसा कहा है, जिसका यह आशय है कि ‘मैं हूँ’ इत्याकारक शब्द तथा लिङ्ग ज्ञान के बिना होनेवाला ज्ञान नेत्र बन्द किये हुए भी मनुष्य को जो होता है वह आत्मा के विषय में मुख्य (प्रधान), एव मानस प्रत्यक्ष के योग्य होने से शरीरादिकों में इच्छादिगुण न होने के कारण उनसे भिन्न आत्मा को लेकर ही मिट्ट करना होगा ॥ १८ ॥

उपस्कार—यह सूत्र का अर्थ है—मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ, यह ज्ञान आगम (शब्द) प्रमाण से सिद्ध नहीं है, न लिङ्ग से अनुमान द्वारा सिद्ध है, क्योंकि शब्द तथा लिङ्ग के अनुसन्धान (ज्ञान) के बिना भी उत्पन्न होता है । पूर्वपक्षी ने आत्मा का प्रत्यक्ष होने में रूप का अभाव तथा अवयवशून्यता जो बाधक कहा है, वह बहिरिन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष होने में बाधक होता है, क्योंकि बहिरिन्द्रियो से होनेवाले प्रत्यक्षों में ही रूपवत्ता, तथा माययवता प्रयोजक हैं, मानस प्रत्यक्ष तो इन दोनों के बिना भी होता है । यदि पूर्वपक्षी वहे कि ‘ऐसा तब होगा यदि आत्मा से प्रमाण हो, वही नहीं है’ इसके उत्तर में सूत्रकार ने ‘शब्दवद्व्यतिरेकाभ्यामिचाराद्विशेषसिद्धे’ ऐसा कहा है । जिस प्रकार पृथिवी आदि द्रव्यों में शब्दगुण का व्यतिरेक (अभाव) व्यभिचारी नहीं है अर्थात् नियत है, जिससे शब्दगुण के आश्रय पृथिवी आदि अष्ट द्रव्यों से भिन्न आकाशरूप द्रव्यविशेष की सिद्धि होती है, इसी प्रकार इच्छादि गुणों का पृथिवी आदि अष्ट द्रव्यों में अभाव के नियत होने से उनका आश्रय भी पृथिव्यादि अष्ट द्रव्यों से भिन्न होगा । यदि कहो कि ‘तब भी आत्मा अनुमान से ही मिट्ट हुआ प्रत्यक्ष से नहीं’ तो सूत्रकार कहते हैं—अहमिति मुख्ययोग्याभ्या इति । यहा पर ‘अहं’ मैं हूँ इति—इस इति शब्द से ज्ञान का आकार (स्वरूप) कहा है, जिससे शब्द तथा लिङ्ग के अनुसन्धान के बिना भी नेत्र बन्द किये (निमीलिताक्ष) मनुष्य को ‘मैं सुखी हूँ’ इत्यादि जो मानस ज्ञान होता है, वह मुख्य (प्रधान) प्रमाण से सिद्ध

अहन्त्वचना योग्येन प्रमाणसिद्धेन उपपादनीयम्, नतु शरीरादिना तत्रेच्छाया व्यतिरेकान्वयमिचारात्। मुख्ययोग्याभ्यामित्यनन्तरम् उपपादनीयमिति पूरणो-
यम्। आत्मनि प्रमाणानि बहूनि ग्रन्थगौरवमिया त्यक्तानि मयूखेऽन्वेष्ट-
व्यानि ॥ १८ ॥

आत्मपरीक्षाप्रकरण समाप्त्य इदानीमात्मनानात्मप्रकरणमारभते तत्र पूर्व-
पक्षमूत्रम्—

सुखः दुःखज्ञाननिष्पत्त्यविशेषादैकात्म्यम् ॥ १६ ॥

एक एव आत्मा चैत्रादिदेहभेदेऽपि। कुनः सुखदुःखज्ञानां निष्पत्तेरुत्पत्ते-

तथा प्रत्यक्ष योग्य 'अहत्त्व' आत्मस्वरूप से आत्मा को लेकर उपपादन (संगत) करता होगा, न कि शरीरादिको को लेकर, क्योंकि उनमें इच्छादि गुणों का अभाव नियत (सिद्ध) है। सूत्र में मुख्ययोग्याभ्याम् इस पद के पश्चात् (उपपादनीय) ऐसा पद पूरण करना, (जिससे अह ऐसा ज्ञान प्रधान होने तथा प्रमाणसिद्ध होने रूप से आत्मा की सिद्धि को करना ऐसा अर्थ सूत्र का निकलता है) आत्मा में और भी अनेक प्रमाण हैं जो उपस्कार के बट जाने के भय से छोड़ दिये हैं उनको मयूख ग्रन्थ में अन्वेष्टन करना (ढूँढ़ लेना) चाहिये ॥ १८ ॥

इस प्रकार आत्मा के परीक्षा का प्रकरण समाप्त कर साश्रित आत्मा के अनेक होने का प्रमाण आरम्भ करते हैं। उनमें पूर्वपक्ष सूत्र है—

पदपदार्थ—सुखदुःखज्ञाननिष्पत्त्यविशेषात् = सुख, दुःख तथा ज्ञान गुणों की उत्पत्ति में विशेषता न होने से, ऐकात्म्यम् = एक ही आत्मा है ॥ १९ ॥

भावार्थ—शरीर भिन्न-भिन्न होने पर भी सुख, दुःख तथा ज्ञान इन गुणों की उत्पत्ति में कोई विशेषता न होने से संपूर्ण प्राणिमात्र के शरीर में एक ही आत्मा है ॥ १९ ॥

संस्कार—एक ही आत्मा है चैत्र, मैत्र इत्यादि नाम से शरीरों का भेद होने पर भी। क्यों? सुख-दुःख तथा ज्ञान इन गुणों की निष्पत्ति (उत्पत्ति) में विशेषता न होने से (अर्थात् 'आत्मत्व, केवल एकमात्र आत्मा में वर्तमान है, सुख के आधारमात्र में वर्तमान होने से' इस अनुमान से आत्मा में एकत्व सिद्ध होता है)। (इसी के बारे में शंकरमिश्र व्याख्या करते हुए कहते हैं कि)—“संपूर्ण शरीरों के (अवच्छेद) सम्बन्ध से आत्मा को सुख, दुःख तथा ज्ञानों की उत्पत्ति समान ही है जिस कारण यदि प्रदर्शित अनुमान में सुसाध्य में वर्तमानता रूप हेतु जीव तथा परमेश्वर दोनों में साधारण माना जाय तो परमात्मा में सुख न होने से व्यवभिचारी होगा। (यदि परमात्म-साधारण न हो तो जो सुख को भी परमात्मा में मानते हैं उनके मत में

रविशेषान् , सर्वशरीरावच्छेदेन सुखदुःखक्षानानामुत्पत्तिरविशिष्टैव यतः । यद्यात्मभेदसाधकं लिङ्गान्तरं भवेत्तदा सिध्येदात्मभेदः । न च तदस्ति, यथा तत्तत्प्रदेशावच्छेदेन शब्दलिङ्गत्वावपि शब्दलिङ्गाविशेषादेकमेवाकाशम् , यौगपद्यादिप्रत्ययलिङ्गाविशेषादेक एव कालः, पूर्वापरादिप्रत्ययलिङ्गाविशेषादेकैव (श्रुत ॥ १९ ॥

सिद्धान्तमाह—

व्यवस्थातो नाना ॥ २० ॥

जीव तथा परमात्मा मे वर्तमान सत्या मे सुखाद्ययता होने पर भी आत्मत्व साध्य न होने के कारण ध्यमिचारी हेतु हो जायगा ” ऐसी शका के निवारणार्थ शकरमिश्र ने तथा सूत्रकार ने भी दुःख गुण लिया है । अर्थात् आत्मत्व परमात्म-साधारण नहीं है यह भाव है) । ‘जीवो श्री एकता सिद्ध होने पर भी जीव तथा परमात्मा की एकता तो अमिद्ध ही है तो पुन कैसे आत्मा का ऐक्य सिद्ध होगा’ इस शका के समाधानार्थ ही सूत्र तथा उपस्कार दोनों में ज्ञान गुण लिया है, अर्थात् जीव तथा परमात्मा मे वर्तमान आत्मत्व उक्त अनुमान मे पक्ष है, ‘ज्ञानाश्रयमात्र मे वर्तमानता हेतु है, अत उक्त ध्यमिचारादि दोष न होने यह भाव है । उक्त अनुमान से पुरुषविशेष के मृत्तादि शृणो को दृष्टान्त ज्ञानता चाहिये । (आगे पूर्वोपक्षिमत के आशय को प्रगट करते हुए शकरमिश्र कहते हैं कि)—यदि आत्माओं के भेद की सिद्धि करने वाला कोई दूसरा हेतु हो तो आत्माओं का भेद सिद्ध होगा, और वह नहीं है । (‘लिङ्गाविशेषात्’ इन पूर्वप्रवृत्ति हेतु का स्मरण कराते हुए शकरमिश्र कहते हैं कि)—जिस प्रकार उम २ प्रदेश को (भेरी, दात आदि आकाश को लेकर) शब्द की उत्पत्ति होने पर भी शब्दरूप साधकलिङ्ग मे समानता होने से एक ही आकाश द्रव्य है, तथा ‘एक काल’ मे उत्पन्न हुआ’ इत्यादि साधक हेतु की समानता होने से एक ही आकाश द्रव्य है तथा एक काल मे उत्पन्न हुआ इत्यादि साधक हेतु की समानता से एक ही काल नामक द्रव्य है, एवं पूर्व, पश्चिम आदि प्रतीति रूप भाषक लिङ्गों की समानता से एक ही दिशा है । उसी प्रकार आत्मसाधक मुक्तादिकों की उत्पत्ति समान होने से आत्मा भी एक है ॥ १९ ॥

सूत्रकार सिद्धान्त कहते हैं—

पदपदार्थ—व्यवस्थात = कोई सुखी, कोई दुःखी इस व्यवस्था के कारण, नाना = आत्मा अनेक हैं ॥ २० ॥

भाषार्थ—कोई धनिक है, कोई दरिद्र इस व्यवस्था (नियम) के कारण, धनिक-शरीर मे वर्तमान आत्मा, उसी समय ग्रायमान दरिद्र के शरीर मे वर्तमान आत्मा से भिन्न है, उसी काल के दरिद्रता के उत्पादक अदृष्टमाली आत्मा से भिन्न होने से घट

नाना आत्मानः । कुतः ? व्यवस्थातः । व्यवस्था प्रतिनियमः यथा कश्चिदा-
दयः, पश्चित् रक्तः पश्चित् सुखी, पश्चित् दुःखी, कश्चिदुष्कामिजनः, कश्चिन्नोना-
भिजनः, कश्चिद्विद्वान् कश्चित् जान्म इतीय व्यवस्था आत्मभेदमन्तरेणानुपपद्य-
माना साधयस्यात्मना भेदम् । न च जन्मभेदेन बाल्यकीमारवार्द्धक्यभेदेन वा,
एकस्याप्यात्मनो यथा व्यवस्था तथा चैत्रमैत्रादिदेहभेदेऽपि स्यादिति बाल्यम्
कालभेदेन विरुद्धप्रमाध्याससम्भवात् ॥ २० ॥

प्रमाणान्तरमाह—

शास्त्रसामर्थ्याच्च ॥ २१ ॥

के समान, तथा जीवात्मा परमात्मा से भिन्न है, सर्वज्ञ न होने ने, घट के समान,
इत अनुमानों में आत्मा नाना है, यह यह सिद्ध होता है ॥ २० ॥

उपस्कार—आत्मा अनेक है । क्यों ? प्रतिनियम (प्रत्येक में नियत होता)
व्यवस्था होने से । जैसे कोई मनुष्य जाड़प (घनवान्), कोई (रक्त) दरिद्र
कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई उच्च कुल में उत्पन्न, कोई नीच कुल में उत्पन्न, कोई
विद्वान्, कोई मूर्ख, इस प्रकार की यह व्यवस्था आत्मजों के भेद के बिना सगत
न होने के कारण आत्माओं के भेद को सिद्ध करती है । जन्म के भेद से, अथवा
बाल्यावस्था, कुमारवस्था, तथा वृद्धावस्था के भेद से एक ही आत्मा में जिस
प्रकार व्यवस्था होती है उसी प्रकार चैत्र, मेष आदि शरीर के भेद से भी एक ही
आत्मा मानने के पक्ष में भी उक्त व्यवस्था हो जायगी । ऐसा एकात्मवादी पूर्वपक्षी
नहीं कह सकता । क्योंकि देह में वर्तमानता का काल अवच्छेदक होने के कारण
कालभेद ने विरुद्धप्रमाओं का अध्यास (आरोप) हो सकता है ॥ २० ॥

एत विज्ञानमानन्द ब्रह्म' एक अर्थात् ज्ञान तथा आनन्दरूप ब्रह्म है, इस श्रुति
में आत्मा एक है ऐसा कहा है ऐसा होने से 'नरक्षिरकपाल शुचि प्राभ्यंगत्वात्'
अर्थात् मनुष्य के मस्तक को हठी शुद्ध है प्राणी का अंग होने से इस अनुमान
में आगम (शास्त्र) के विरोध के समान आत्मा के अनेक होने में भी 'एकम्' इत्यादि
श्रुति का विरोध होने से उपर्युक्त आत्मा या अनेकतासाधक अनुमान प्रमाण
नहीं हो सकता इस पूर्वपक्ष के समाधानार्थ आत्मा की अनेकता में शास्त्र का प्रमाण
दिखाने के लिये स्मरकमिथ अग्रिम सूत्र का अवतरण देने हैं—कि) आत्मना-
नात्व में दूसरा प्रमाण सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—शास्त्रसामर्थ्याच्च=श्रुतिप्रमाण के बल से भी (आत्मा का
नानात्व सिद्ध है) ॥ २१ ॥

भावार्थ—यदि में भी अर्थात् 'द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये' अर्थात् दो आत्मा जानना
इत्यादि श्रुति में भी आत्मा का नाना होना उक्त होने के कारण आत्मा अनेक
है यह सिद्ध होता है ॥ २१ ॥

शास्त्र श्रुतिः, तथाऽप्यात्मनो भेदप्रतिपादनात् । श्रूयते हि 'द्वे ब्रह्मणो वेदितव्ये' इत्यादि तथा 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्ष परिपस्वजाते' इत्यादि च ॥ २१ ॥

इति श्रीशङ्करे कणादसूत्रोपस्कारे तृतीयाध्यायस्य द्वितीयाह्निकम् ।

समाप्तम्नायं तृतीयोऽध्यायः ।

उपस्कार—शस्त्र शब्द का मुख्य अर्थ इस सूत्र में श्रुति (वेदभाग है) उभय भी आत्मा के भेद कहे हैं । क्योंकि वेद में मुना जाता है—'द्वे ब्रह्मणो वेदितव्ये' अर्थात् दो ब्रह्म जानना इत्यादि । तथा 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्ष परिपस्वजाते' अर्थात् दो सुन्दर पक्षवाले, समान रूपवाले, परस्पर मित्र ऐसे आत्मारूप पक्षी शरीररूप एक ही वृक्ष को आलिङ्गन करते हैं अर्थात् बैठे हैं, इत्यादि श्रुति भी आत्मा की अनेकता सिद्ध करती है । यहाँ पर 'तत्त्वमसि इवेनकेतो, ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति' अर्थात् हे श्वेतकेतु 'वही ब्रह्म तूम् (जीव) हो, ब्रह्म को जाननेवाला जीव आत्मा ब्रह्मत्व रूप ही होता है इत्यादि श्रुति में निश्चित किये आत्मा के ऐक्य का आत्मा नाना मानने से विरोध हो जायगा । 'ऐसा वेदान्तिमत से पूर्वपक्षी नहीं कह सकता । क्योंकि 'तत्त्वमसि' इस श्रुति का जीव और ब्रह्म के अभेद से ब्रह्म ही का सम्बन्धी जीव है ऐसा समझने में, तथा 'ब्रह्मविद्' इस श्रुति का मुक्तिकाल में दुःखरहित होने के कारण ब्रह्म के समान जीव है यह कहने का तात्पर्य है, ऐसा न हो तो 'निरञ्जन परम साम्यमुपैति' अर्थात् मोक्षकाल में दुःखहीन आत्मा ब्रह्म के अत्यन्त समानता को प्राप्त होता है यह श्रुति असंगत हो जायगी । अतः कोई दोष आत्मा के नाना मानने के पक्ष में नहीं हो सकता ॥ २१ ॥

इस प्रकार शङ्करमिथ कृत कणाद सूत्रों की उपस्कार-व्याख्या में तृतीयाध्याय का द्वितीय आह्निक समाप्त हुआ ।

तृतीयाध्यायः समाप्तः ।

चतुर्थाध्याये प्रथमाह्निकम्

पृथिव्यादीनां नवानामुद्देश लक्षणपरोक्षां निवर्त्य प्रकृतेर्मूलकारणानां सादृश्या-
भिमतता निराचिकीर्षु - परमाणूनां मूलकारणस्य पृथिव्याद्यन्तर्भावस्य मिथ्यापत्ति-
पुनरित्यस्य सामान्यलक्षणं तादृशम् —

मदकारणवन्नित्यम् ॥ १ ॥

अ कारणमदकारणत्वं पदसंस्कारात् । नन्वेवं घटादीनां व्युत्पत्त्येदं । तथापि
प्रागभावेऽतिव्याप्तिरित्यत्र आह—सदिति । सत्तायोगोत्पत्त्यर्थः । समवायिशेषोप-
पत्त्यर्थो सत्तैरार्थसमवाय एव सत्तायोगः, सामान्यान्तरस्य सत्तायाश्च सामान्य-

पृथिवी आदि नौ द्रव्या के लक्षणों की परीक्षा कर साम्यदर्शन में अभिमत मदन,
रज तथा तम गुणरूप प्रकृति जगत् कायं का मूल कारण है इसका खण्डन करने की
इच्छा करते हुए सूत्रकार पृथिव्यादिकों के परमाणु ही मूल कारण हैं जो
पृथिवी आदि द्रव्यों के ही अन्तर्बन्ध हैं यह सिद्ध करने की इच्छा करते हुए प्रथम
सामान्यरूप से नित्यत्व का लक्षण कहते हैं—

पदपदार्थ—सत् = सत्ताजानिवाला, अकारणत्वम् = कारणरहित, नित्य = निरन्तर
होता है ॥ १ ॥

अर्थार्थ—सत्ताजानि का सम्बन्धी तथा कारणवान् न होनेवाला (अर्थात्
कारण रहित) पदार्थ नित्य कहा जाता है ॥ १ ॥

उपस्कार—जो कारणवान् न हो वह अकारणवान् होता है, ऐसा 'अकारणवान्'
इस सूत्र के पद का संस्कार (व्युत्पत्ति) से व्यर्थ होना है, जिसने घटादि कार्य
द्रव्यों के वापालादि कारण होने में व्यावृत्ति हो जाती है । तथापि प्रागभाव भी
अनादि कारणहीन होने से (इस नित्य के) लक्षण में अनिव्याप्ति दोष हो जायगा
इसलिये दूसरा लक्षण सूत्रकार ने 'अन्' सत्तायोगी अर्थात् सत्ताजानि का सम्बन्धी
ऐसा किया है प्रागभाव में उत्ता न होने में अर्थात् यह भावपदार्थ न होने से उत्त
दोष न होगा । (यहाँ पर सत्ता का सम्बन्ध समवाय तथा एकाधिकरणतारण्य सामा-
नाधिकरण्य इन दोनों में से एक केला पड़ेगा, क्योंकि एक-एक को लें तो सामान्या-
दिनां में अव्याप्ति हो जायगी । सामानाधिकरण्य भी समवाय-सम्बन्धघटित ही रहना
पड़ेगा, नहीं तो किसी प्रकार से सामानाधिकरण्य होने से प्रागभाव में अनिव्याप्ति
दोष हो जायगा । समवाय में भी स्वस्वरूप सम्बन्ध से वृत्तिना होने में समवायघटित
सामानाधिकरण्य वर्तमान नहीं है इसी आशय से शररमित्य आगे कहते हैं कि)—
समवाय तथा विशेष इन दो पदार्थों में सत्ताजानि के साथ एक पदार्थ में रहना ही
सत्ता योग है, दूसरे जानियों में तथा सत्ताजानि में सत् प्रतीति के विषय होने से

यविषयतेन सत्तायोगः, स च प्रत्ययो वस्तुस्वरूपमात्रनिष्पन्न इत्यन्यदेतत् । न चान्यत्रापि तथैवास्तु किं सत्तयेति वाच्यम् अनुगतमतेस्त्वन्सिद्धेरुक्त्यात् ॥१॥
नित्यतामान्यमभिधायेश्वरानो परमाणुमधिकृत्याह—

तस्य कार्यं लिङ्गम् ॥ २ ॥

सस्य परमाणो कार्यं घटादि लिङ्गम् । सथाद्य गौतमोय भूत्रम्—‘व्यक्तात् व्यक्तस्य निष्पत्तिः प्रत्यक्षप्रामाण्यात्’ अ० ४ आ० १ सू० ११ इति । अवयवावयविप्रसङ्गस्तावदनुभूयते स यदि निरवधिः स्यात् तदा मेघसर्पयोः परिणामभेदो न श्यात्, अनन्तावयवारव्यवस्थाविशेषात् । न च परिमाणप्रत्ययविशेषाद्यनो विशेष

सत्ता का योग है, किन्तु यह सत्ता के योग का ज्ञान केवल वस्तुओं (सामान्य विशेष, दूसरी जातियों, तथा सत्तात्प पदार्थों) में केवल इनके स्वरूप ही को विषय करता है, सत्ताजाति को नहीं यह एक दूसरी बात है । (किन्तु इसी प्रकार द्रव्यादि तीन पदार्थों में भी वस्तुस्वरूप को विषय करनेवाली ही यह ‘सत्’ है ऐसी प्रतीति हो सकती है तो सत्ताजाति मानने की क्या आवश्यकता ? ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ‘सत् है, सत् है’ ऐसी द्रव्यादि तीन पदार्थों में अनुगत बुद्धि ही सत्ताजाति का साधक है यह कहा गया है ॥ १ ॥

इस प्रकार नित्य सामान्य को कहकर साप्रत्य परमाणु को विषय कर सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तस्य = उस परमाणु का, कार्यं = घटादि कार्यं, लिङ्गम् = साधक है ॥ २ ॥

भाषार्थ—उस पृथिव्यादि परमाणुत्प नित्यद्रव्य का घट आदि कार्यद्रव्य साधक लिङ्ग है ॥

उपस्कार—उस नित्य पृथिवी परमाणु का घट आदि कार्य ही साधक लिङ्ग है । इसी कारण गौतम महर्षि का—‘व्यक्तात् व्यक्तस्य निष्पत्तिः प्रत्यक्षप्रामाण्यात्’ अर्थात् व्यक्त परमाणुरूप कारण से व्यक्त घटादि कार्य की उत्पत्ति होती है यह प्रत्यक्षप्रमाण से सिद्ध है (अ० ४ आ० १ सू० ११) घट का अवयव कपाल उसका खण्ड कपाल इत्यादि अवयवों का अवयव इत्यादि अवयव-परम्परा का अनुचय होता है वह यदि निरवधि (मर्यादारहित) हो तो सुमेरु नामक पर्वत तथा, मयप (सरसो) रूप अवयवि द्रव्यों का भिन्न-भिन्न परिमाण न होगा, क्योंकि दोनों ही अनन्त अवयवों से उत्पन्न हुये हैं, यह दोनों में समानता है कारण के परिमाण, तथा प्रवयवनामक विषय के कारण सुमेरु तथा सर्पपत्त दोनों अवयवि द्रव्यों में विशेषता (परिमाण-भेद) हो जायगा—ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता क्योंकि अवयवों की सत्या में

स्यादिति चाख्यम् सङ्ख्याविशेषामावाप्तयोरप्यनुपपत्तेः । प्रलयवधिः स्यादिति चेत् अन्त्यस्य कस्यचिन्निरवयवत्वे प्रलयस्यैवानुपपत्तः, अवयवविभागविनाशयोरेव द्रव्यनाशकत्वात् । विभागश्च नावधिः तस्यैकाग्र्यत्वानुपपत्तेः । तस्मान्निरवयव द्रव्यमवधिः स एव परमाणुः । न च त्रसरेणुरेवावधिः, तस्य बाधुपद्रव्यत्वेन महत्त्वाद्नेकद्रव्यवर्त्तितत्वात्, महत्त्वस्य बाधुपप्रत्यक्षत्वे कारणत्वम् अनेकद्रव्यवर्त्तमानादायैव, अन्यथा महत्त्वमेव न स्यात् कस्य कारणत्वम्भवेत् । न च त्रसरेणोरवयवा एव परमाणवः, महद्द्रव्यारम्भकत्वेन तेषामपि सावयवत्वा-नुमानात् तत्तुल्य कपालवत् । तस्मात् यत् कार्यद्रव्यं तत् सावयवम्, यच्च सावयवं तत् कार्यद्रव्यम् । तथाच यतोऽवयवात् कार्यत्वं निवर्तते तत्र सावयवत्वमपीति निरवयवपरमाणुसिद्धिः । वदुर्गं प्रशस्तद्वैवाचार्यैः 'सा च द्विविधा नित्या चानित्या च' इति ॥ २ ॥

विशेषज्ञ न होने से वे दोनों परिमाणविशेष तथा प्रचयविभाग भी नहीं हो सकते । यदि प्रलय (नाश) को ही अवधि मानेंगे ऐसा कहो तो अन्तिम किसी अवयव के निरवयव (नित्य) मानने से विभाग ही न बन सकेगा । क्योंकि अवयवों का परस्पर विभाग, तथा नाश ही द्रव्य के नाश करने वाले होते हैं । अवयवों का विभाग अवधि नहीं हो सकता, क्योंकि वह एक आधार के नहीं हो सकता । इन कारण निरवयव (अवयवरहित) कोई द्रव्य ही अवधि होगा, वही है परमाणु । गवासरश्मी (भरोशी) में देखाने वाले मूढम रज्ज्वत् त्रसरेणु द्रव्य ही अवधि (अन्तिम अवयव) नहीं हो सकते, क्योंकि उनका चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होनेवाले द्रव्य होने से (अर्थात् बाधुपप्रत्यक्षयोग्य द्रव्य होने से त्रसरेणु में सावयवत्व सिद्ध हो सकता है, जिसका अनुमान का प्रकार वानु परमाणुओं की सिद्धि में दिया चुके हैं) । महत् परिमाण होने से, तथा अनेक द्रव्यवत्त्व (सावयवत्व) भी होने से, महत् परिमाण बाधुपप्रत्यक्ष में सावयवत्व को लेकर ही कारण होता है, नहीं तो (सावयवता के बिना) महत् परिमाण ही न होमा, तो किसको कारणता होगी ? 'त्रसरेणु के अवयव ही परमाणु हैं' ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि महत्परिमाणवाले द्रव्य के उत्पादक होने से उनमें भी सावयवता त्रसरेणु के अवयव सावयव हैं अपने से महत्परिमाण वाले त्रसरेणु के उत्पादक होने से, तन्तु तथा कपाल के समान इस अनुमान से त्रसरेणु के अवयव के भी अवयव है यह सिद्ध होता है) । इस कारण जो कार्यद्रव्य होता है वह सावयव होता है, और जो सावयव होता है वह कार्य द्रव्य होता है ऐसा होने से जिस अवयव में कारणता रहे होती वह सावयव भी नहीं होता इसलिये निरवयव परमाणुओं की सिद्धि होती है । इसी कारण प्रशस्तद्वैव ने भाष्य में कहा है—'वह पृथिवी नित्य तथा अनित्य भी है' अर्थात् नित्य परमाणुरूप, तथा अनित्य कार्यरूप दो प्रकार की है ॥ २ ॥

इदानीं परमाणु रूपादिसिद्धये प्रमाणमाह—

कारणभावात् कार्य्यभावः ॥ ३ ॥

रूपादीनां कारणे सद्भावात् कार्य्ये सद्भावः, कारणगुणपूर्वका हि कार्य्यगुणा भवन्ति घट पटादौ तथा दर्शनादित्यर्थः ॥ ३ ॥

इदानीं सर्वान्नित्यतायादिनिराकरणायाह—

अनित्य इति विशेषतः प्रतिषेधभावः ॥ ४ ॥

विशेषत इति पञ्च्यन्नात्मसिः । (नथाच) विशेषस्य नित्यस्य प्रतिषेधस्तदा स्यात् अचानित्य इति प्रत्ययः शब्दप्रयोगश्च न स्यात् नच 'उत्तरपदार्थनिषेधार्थ-

इस समय परमाणु के रूप आदि गुणों को निश्चि करने के लिये सूत्रकार प्रमाण कहते हैं—

पक्षपदार्थः—कारणभावात् = कारण में रहने में, कार्य्यभाव = कार्य्य में होना ॥ ३ ॥

भावार्थः—कारणगुणपूर्वक कार्य्य गुण होते हैं ऐसा घटादिकों में नियम दिवाने से परमाणु के कार्य्य प्रसरेण आदि में भी रूपादि कार्य्य देख कर उनके मूल कारण परमाणुओं में रूपादि गुण हैं यह सिद्ध होना है ॥ ३ ॥

उपस्कारः—रूप रस आदि गुण परमाणु आदि कारणों में होने से उनके कार्य्य प्रसरेण आदिकों में रूपादि गुणों की मत्ता है, क्योंकि कारण के गुणपूर्वक कार्य्य के गुण होते हैं, ऐसा घट-पट आदि कार्य्य में देखा जाता है ऐसा मूल का अर्थ है ॥ ३ ॥

साप्रत सपूर्ण पदार्थों को अनित्य ही माननेवालों का मत खण्डन करने के लिये सूत्रकार कहते हैं—

पक्षपदार्थः—अनित्य इति = अनित्य है ऐसा, विशेषत = नित्य विशेष रूप से, प्रतिषेधभाव = निषेध है ॥ ४ ॥

भावार्थः—यदि नित्यरूप विशेष को न माने तो अनित्य (नित्य नहीं है) ऐसा निषेध न हो सकेगा, अत बिना घट के घट नहीं है यह निषेध जिस प्रकार नहीं हो सकता उसी प्रकार बिना नित्य पदार्थ माने अनित्य है (नित्य नहीं है) यह भी निषेध न हो सकेगा, अत पदार्थ मात्र अनित्य है यह सिद्धान्त असंगत है ॥ ४ ॥

उपस्कारः—सूत्र में 'विशेषत' इस पद में विशेषस्य ऐसे धष्टी के अर्थ में विशेष पद के आगे 'तस्मि' प्रत्यय है। ऐसा होने से नित्यरूप विशेष का निषेध तब हो सकेगा, यदि 'अनित्य' (नित्य नहीं है) ऐसा ज्ञान तथा शब्द का प्रयोग रूप व्यवहार न होगा, क्योंकि नच यह निषेध उत्तर पदार्थ नित्य का निषेध करता है, तो नित्य के न होने पर 'अनित्य' है ऐसा निषेध कैसे होगा। और अनित्य है ऐसा प्रयोग होता तो है, अत नित्य पदार्थ है यह सिद्ध होना है। (इस व्याख्या में 'यदा तदा' ऐसा सूत्र में अध्याहार करता होगा, इसलिये चक्ररमिश्र दूसरी सूत्र की व्याख्या

त्वात् तत् कथं नित्याभावेऽनित्य इति स्यात्, भवति च ततो नित्यमस्तीति सिद्धम् । यद्वा अनित्य इति न नित्यः परमाणुरित्यनेन प्रकारेण नित्यस्य त्वया प्रतिषेधः कथ्यते । अनेन च प्रकारेण प्रतिषेधो न सिध्यति सिद्धयसिद्धिप्रतिहतत्वात् । मूत्रञ्चैव योजनीयम्—अकारः स्वतन्त्र एव प्रतिषेधवचनः 'अमानोनाः प्रतिषेधवचनाः' इति तथा चानित्य इति न नित्य इत्यर्थः । प्रतिषेधभावः प्रतिषेधस्वरूप तेन न नित्य इति विशेषस्य नित्यस्य प्रतिषेधस्वरूपम्, तच्च न सम्भवंतीति शेषः ॥ ४ ॥

ननु परमाणुर्न नित्यः मूर्तत्वात् घटवत्, एवं रूपवत्परसवत्त्वाद्भ्यः प्रायेकं वरते है कि)—अथवा 'अनित्य इति' अनित्य है ऐसा कहने से परमाणु नित्य नहीं है, इन प्रकार आप (सर्वानित्यतावादी) निषेध करेंगे, किन्तु इस प्रकार निषेध सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि यदि निषेध का प्रतियोगी (नित्य-पदार्थ) यदि सिद्ध है तब भी सर्वानित्यता सिद्ध न होगी, तथा नहीं है तो नित्यरूप प्रतियोगिता न के बिना भी अनित्य (नित्य नहीं) यह निषेध न बनेगा, इससे भी आपके सर्वानित्यतावाद की निम्ति न होगी इस प्रकार नित्य की सिद्धि तथा अस्तिद्धि दोनों पक्ष में व्याघात होने से सगत नहीं है । इस पक्ष में सूत्र के अर्थ की योजना ऐसी करनी चाहिये—सूत्र में 'अ' ऐसा भिन्न प्रतिषेधवाचक वचन स्वतन्त्रता से निषेध का वाचक है क्योंकि 'अमानोना प्रतिषेधवचना' अर्थात् अ, मा, नो, और न यह निषेधवाचक अव्यय है, ऐसा पाणिनीय सूत्र में कहा है । ऐसा होने से 'अनित्य' इसका नित्य नहीं ऐसा सूत्र का 'अनित्य' इस अव्ययरहित नित्य शब्द का अर्थ होता है । आगे सूत्र के 'प्रतिषेधभाव' इस पद का अर्थ है प्रतिषेध का स्वरूप, इससे 'न नित्य' नित्य नहीं है, इति । इस प्रकार विशेष नित्य के प्रतिषेध का यह स्वरूप है, वह नित्य पदार्थ न मानने से न हो सकेगा । ऐसा सूत्र का भाव है ॥ ४ ॥

'परमाणु' नित्य नहीं है, मूर्त द्रव्य होने से, घट के समान, इसी प्रकार रूपवत्ता, रसाधिकरणता इत्यादि सभी प्रत्येक हेतु (परमाणु में अनित्यतासाधक जानना चाहिये) । एव पद परमाणुओं का एक ही समय संयोग होने के कारण परमाणु पञ्चा (पद अवयव वाला) है, ऐसा होने से (परमाणु नित्य नहीं है) अवयव वाला होने से तथा एकदेश में रहनेवाले संयोग के आधार होने से यह भी अनुमान से निश्च हो सक्ता है । यहाँ पर मध्य के परमाणु में ऊर्ध्वदेश, अधोदेश तथा पादवर्भाग (अगल-बगल) रहनेवाले परमाणुओं से जो संयोग है उसमें परमाणु का पूर्व के साथ जो संयोग है वह मध्य तथा पश्चिम परमाणु में आश्रित नहीं है । एव मध्य तथा पश्चिम परमाणु का संयोग मध्य तथा पूर्व परमाणु के आश्रित नहीं है । इसी प्रकार अन्यत्र भी परमाणु में पञ्चता होती है इत्यादि न्याय-वातिक आदि ग्रन्थ में विशेष देख लेना चाहिये । (आगे शंकरमिश्र पूर्वपक्षिमत. से परमाणु

हेतव उन्नेया', एव पट्केन युगपद्रूयोगात् परमाणोः पटशता तथाच सावयव-
त्वात् अव्याप्यवृत्तिसंयोगाश्रयत्वात् । किञ्च परमाणोर्मध्ये यथाकाशमस्ति तदा
सच्छिद्रत्वेनैव सावयवत्वम्, अथ नास्ति, तदाकाशस्यासर्वगतत्वप्रसङ्गः । किञ्च
छायावत्त्वात् आवृत्तिमत्त्वात् । अपिच यत् सत् तत् क्षणिकमित्यादिक्षणिकत्वमा-
द्यकानुमानादपि परमाणोरनित्यता, तथा चैतावतो चेदनुमितिपरम्परा तदा
कथमुच्यते परमाणुर्नित्य इत्यत आह—

अविद्या ॥ ५ ॥

परमाणोरनित्यत्वनियमया सर्वाण्यनुमिति' अविद्या भ्रमरूपा आभासप्रभव-
त्वात् । आपाततो धर्मिप्राहकमानवाधः सर्वत्र विपक्षबाधरूपमाणशून्यत्वादय

मे सादयवत्व सिद्ध करते हुए आगे कहते हैं कि)—और परमाणु के मध्य भाग
मे यदि आकाश प्रदेश है तो छिद्रयुक्त होने से परमाणु अवयव वाला है यह सिद्ध
होगा, यदि नहीं है तो आकाश सर्वत्र व्याप्त है यह सिद्धान्त न हो सकेगा । तथा
छाया का आधार होने से, तथा (आवृत्तिमत्ता) स्पन्दनात्मक क्रियाविशेषवाद
होने से भी (परमाणु सावयव सिद्ध हो सकते हैं) । और जो-जो सद् होता है,
वह २ क्षणिक (क्षणविनाशी, होता है, इत्यादि क्षणिकता के बाधक अनुमान से भी
परमाणु मे अनित्यता सिद्ध हो सकती है, अत इतने अनुमानों की परम्परा (अनेक
अनुमान) परमाणु मे अनित्यता के साधक हैं तो सिद्धान्ती परमाणु नित्य है यह
कैसे कह सकते हैं ऐसे पूर्वपक्षी के पूर्वपक्षमत से घका पर सिद्धान्त मत से सूत्ररार
सूत्र मे कहते हैं—

पदद्वयार्थ—अविद्या = भ्रमरूप अयथार्थ ज्ञान है (परमाणु मे अनित्यता
ज्ञान) ॥ ५ ॥

भाषार्थ—पूर्वपक्षी के दिये हुए परमाणु मे अनित्यता-साधक संपूर्ण अनुमिति
आदि रूप ज्ञान दुष्ट हेतुओं से होने के कारण भ्रमरूप अयथार्थ है, अत उनसे परमाणु
मे अनित्यता सिद्ध नहीं हो सकती ॥ ५ ॥

उपस्कार—परमाणुओं के अनित्यता को विषय करनेवाले संपूर्ण ही अनुमान
अविद्या अर्थात् भ्रमरूप अयथार्थ ज्ञान है, क्योंकि पूर्वपक्षी के दिये दिये संपूर्ण अनुमान
दुष्ट हेतुओं से हुये हैं । सामान्यरूप से ज्ञात होनेवाला परमाणुरूप धर्मी (पक्ष) के
ग्राहकप्रमाणों का बाध दोष है (अर्थात् 'तस्य कार्यं लिङ्ग' इस सूत्र के उपस्कार
मे 'निरवयव द्रव्यमवधि' अर्थात् अवयवरहित द्रव्य अवधि है, इत्यादि कहा है उससे
बाध-अर्थात् व्यापक सावयवत्व के अभाव मे निरवयव होने के कारण व्याप्य अनित्यता
का अभाव सिद्ध होता है ।) तथा संपूर्ण पूर्वपक्षी के हेतुओं मे अनुकूल तर्कटप
विषय मे बाधक प्रमाण न होने से व्याप्यत्वासिद्धि भी दोष है, एव किसी-सावय-

व्यत्वासिद्धिः क्वचित् स्वरूपासिद्धिरित्यादि समानतन्त्रेऽन्वेष्टव्यम् ॥ ५ ॥

ननु यदि परमाणुरस्ति कथमिन्द्रियेण न गृह्यते रूपवत्त्वस्पर्शवत्त्वादय-
श्चैन्द्रियकत्वप्रयोजकास्त्वयैवोपपादिता इत्यत आह—

महत्पनेकद्रव्यवत्त्वात् रूपाच्चोपलब्धिः ॥ ६ ॥

महति महत्त्ववति द्रव्ये महच्छब्दात् परमाणवाचकात् गुणवाचकान्
मतुपो लोपात् । अनेकद्रव्यवत्त्वादिति । अनेक द्रव्यमाश्रयो यस्य तदनेकद्रव्यम्
तद् यस्यास्ति तदनेकद्रव्यवत् तद्भावस्तस्मात् अनेकद्रव्यवत्त्वात् । एव मति
वायुरपि प्रत्यक्षः स्यादस्य उक्तं—रूपाच्चेति । उद्भूतादभिमभूतादिनि वक्ष्यते ।
उपलब्धिरिति । बहिरिन्द्रियेणेति शेषः । तथाच परमाणोर्महत्त्वाभावादनुपल-

वत्त्वादि हेतु मे निरवयव रूप से निष्ठ परमाणु मे सावयवत्व के न होने मे स्वरूपा-
सिद्धि दोष भी होता है । इत्यादि दोष (गन को लेकर भूतत्वादि हेतुओं मे व्यभिचार
दोष) होता है, इसका विन्नाररूप से वर्णन योग्य-प्रणीत समानशास्त्र न्यायदर्शन
मे देखना चाहिये ॥ ५ ॥

‘यदि परमाणु द्रव्य है उनका चक्षुरादि इन्द्रियों से ग्रहण क्यों नहीं होता, क्योंकि
रूपाध्य, रूपधारिता इत्यादि के प्रत्यक्षता के प्रयोजक हैं ऐसा (आप) मिळान्ती
मे ही कहा है’ इस शका के समाधान मे सूत्रकार कहते हैं—

पक्षपदार्थ—महति = महत्परिमाणवाले मे, अनेकद्रव्यवत्त्वात् = सावयवता होने
से, रूपात् च = और रूप होने से भी, उपलब्धि = प्रत्यक्ष ज्ञान होता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—महत्परिमाणवाले द्रव्य मे अनेकद्रव्यवत्ता (सावयवता) तथा
रूपविशेष होने मे भी बहिरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है अतः परमाणुओं मे महत्परि-
माण न होने से उनका बहिरिन्द्रियों से ग्रहण नहीं होता ॥ ६ ॥

उपसर्कार—महान् अर्थात् महत्परिमाणवाले द्रव्य मे यहाँ ‘महत्’ इस शब्द से
जो परिमाण का वाचक है (यदि कहो कि ‘महत्’ शब्द कैसे परिमाण को ज्ञेया
‘महत्’ शब्द उस परिमाण का वाचक है’ तो शर्कर्मथ कहते हैं कि)—गुणवाचक
शब्दों के ‘मतुप्’ प्रत्यय का लोप हो जाने से (महत् शब्द परिमाण का वाचक है ।
‘अनेकद्रव्यवत्त्वात्’ इस सूत्र के पद का अनेक द्रव्य है आधार जिसके वह अनेक
द्रव्य है, वह जिसका हो वह अनेकद्रव्यवान् होता है, उसका भाव (धर्म) अनेक
ऐसा ‘अनेकद्रव्यवत्त्वात्’ का अर्थ है । किन्तु ऐसा (अनेकद्रव्यवत्त्व होने मे यदि
प्रत्यक्ष होता हो तो वायु का भी प्रत्यक्ष हो जायगा क्योंकि उसमे अनेक द्रव्यवत्त्व
है, इसलिये सूत्रकार ने ‘रूपाच्च’ रूप होने से भी ऐसा तीव्रता हेतु दिया है । जो
उद्भूत तथा अभिभूत (दबा हुआ) न हो यह आगे कहा जायगा । सूत्र मे ‘उप-
लब्धि’ ग्रहण होता है इस अर्थात् ‘बहिरिन्द्रियेण’ बहिरिन्द्रिय से ग्रहण होता है
ऐसा शेष पद देना । ऐसा होने से परमाणु मे महत्परिमाण न होने से प्रत्यक्ष नहीं

धिर्निष्ठुक्तं भवति । अनेकद्रव्यवत्त्वञ्च अनेकद्रव्याभितत्त्वम्, अवयवबहुत्वाधीनमहत्त्वमभयत्य वा । न च महत्त्वेनेवानेकद्रव्यवत्त्वमन्यथासिद्धमिति वाच्यम्, वैपरीत्यस्यापि सम्भवात् । अन्येन जनकस्यान्यथासिद्धिर्न तु जन्यस्येति चेन्न जन्यजनकसंयोगवदन्वयव्यतिरेकपक्षेऽन्यथासिद्धमभावात्, अन्यथा भ्रामणादिना दण्डादीनामन्यथासिद्धिप्रसङ्गात् । महत्त्वोत्कर्षात् प्रत्यक्षतोत्कर्षो दूरादाविति

इति यह कहा जाना है । अनेक द्रव्यवत्त्व शब्द का अनेक द्रव्य, मे आश्रितों के आश्रित होना अथवा अवयवों के अनेकता के अधीन महत्परिमाण का आधार होना यह जय है । (यद्यपि उद्भूत रूप के साथ रहनेवाले महत्परिमाण तथा अनेक द्रव्यवत्त्व का प्रत्यक्ष में अन्वय तथा व्यतिरेक महत्कार ममान ही हैं, तथापि द्रव्य के चाक्षुष प्रत्यक्ष में अनेक द्रव्यवत्त्व अथवा उभयत्व कारण नहीं है किन्तु लाघव में महत्परिमाण ही कारण है इस आशय से शकरमिश्र ने अवयव-बहुत्वाधीन महत्परिमाणाभयत्व रूप दूसरा अनेक द्रव्यवत्त्व का अर्थ किया है) । किन्तु प्रथमवत्त्व में कहा हुआ अनेक द्रव्यवत्त्व का कारण होने का खण्डन करना युक्त नहीं है । इस अभिप्राय में शकरमिश्र आगे कहते हैं कि)—महत्परिमाण के कारण होने से अनेक द्रव्यवत्त्व को प्रत्यक्ष में अन्यथासिद्ध नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अनेक द्रव्यवत्त्व चाक्षुष प्रत्यक्ष में कारण है । महत्परिमाण ही अन्यथासिद्ध है ऐसा विपरीत (उलटा) भी कहा जा सकता है । 'जन्य (उत्पन्न कार्य) से जनक (कारण) अन्यथासिद्ध होता है न कि जनक (कारण) से जन्य (कार्य) अन्यथासिद्ध होता है' ऐसी पूर्वपक्षी शका नहीं कर सकता, क्योंकि जन्य तथा जनक दोनों में साथ अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों महत्कार का ग्रहण होने से दोनों में अन्यथासिद्धि नहीं हो सकती (अर्थात् जनन का भी जनक है इस रूप से जो कार्य के नियम से पूर्व में रहता है वही अन्यथासिद्ध होता है न कि स्वतन्त्र रूप से, क्योंकि कुन्डल का जनक होने से घट अन्यथासिद्ध होने पर भी कुलालत्व रूप में वह घट का कारण ही होता है यह आगव शकरमिश्र का मर्ह है । (यदि उक्त नियम न माना जाय तो शकरमिश्र कहते हैं कि)—शर के भ्रामण (घुमाने) इत्यादिक से दण्डादिक भी अन्यथासिद्ध हो जायेंगे । 'महत्परिमाण के उत्कर्ष से दूरस्थ पदार्थ के प्रत्यक्ष में भी उत्कर्ष देखने में आता है (अतः महत्परिमाण ही प्रत्यक्ष में कारण तथा सावयवत्व अन्यथासिद्ध है, ऐसा मानना होगा)' ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता क्योंकि अनेक द्रव्याभितत्त्व के उत्कर्ष होने में भी दूरस्थ पदार्थ के प्रत्यक्ष में उत्कर्ष हो सकता है, क्योंकि इन दोनों में यही एक लेना इसमें कोई नियामक नहीं है और यहाँ भी कारण है कि मक्का कीड़े के स्थव बनाये मूत्रजाल (मूत्रों के जाल) में जो चार हाथ के बराबर होता है किन्तु दूर से नहीं दीखता, उसमें बेघल मक्के का प्रत्यक्ष होने में अनेक

चेन्न अनेकद्रव्यवत्त्वोत्कर्षस्यापि तत्र सम्मवादिनिगमनाविरहात् । किञ्च मर्कट-
कीटसूत्रजाले हस्तचतुष्टयादिमिते दूरादप्रत्यक्षे मर्कटमात्रप्रत्यक्षताऽनेकद्रव्य-
वत्त्वोत्कर्षाधीनैव महत्त्वोत्कर्षस्य जाले वर्त्तमानत्वात् । एव सूक्ष्मतन्तुघटितप-
टादौ दूरत्वे महत्त्वोत्कर्षेऽपि स्वल्पपरिमाणमुद्गरादिप्रत्यक्षे द्रष्टव्यम् ॥ ६ ॥

तच्चेवमपि मध्यन्दिनोल्काप्रकाशस्य चाक्षुषस्य रश्मिर्वायोर्वा स्पर्शसमवायेन
रूपसमवायिनो महत्त्वोपलम्भः स्यात् अत आह—

सत्यपि द्रव्यत्वे महत्त्वे रूपसंस्काराभावाद्योरनुपलब्धिः ॥ ७ ॥

रूपसंस्कारपदेन रूपसमवायो रूपोद्भवो रूपानभिभवश्च विशक्षितः । तेन

द्रव्यवत्ता (सावयवता) के उत्कर्ष के अधीन है, महत् परिमाण का उत्कर्ष तो उस जाल ही में है । एव सूक्ष्म तन्तु (सूत्र) से बने पट (वस्त्र) आदि में दूर रहने पर महत् परिमाण का उत्कर्ष होने पर भी वस्त्र से छोटे परिमाण उस वस्त्र पर रहे हुए मुद्गर आदिको के प्रत्यक्ष होने से भी अनेक द्रव्यवर्त्ती ही का उत्कर्ष प्रयोजक देख लेना चाहिये । अर्थात् सूक्ष्म तन्तुओं से बने वस्त्र में महत् परिमाण का उत्कर्ष रहने पर भी दूर रहने से जो उस वस्त्र से छोटे परिमाण वाला मुद्गर आदि उम वस्त्र के एकदेश में रखे हैं उनका प्रत्यक्ष होता है उस वस्त्र का प्रत्यक्ष नहीं होता उममें भी अनेक द्रव्यवत्ता की ही अधीनता देखना चाहिये ॥ ६ ॥

ऐसा होने पर भी मध्याह्न समय में उल्का (मसाल) के प्रकाश का, चक्षुरिन्द्रिय के किरणों का, अथवा स्पर्श गुण के समवाय के होने से रूप के समवायि तथा महत् परिमाणवाले वायु का भी प्रत्यक्ष होगा, (अर्थात् स्पर्श समवाय में अभिन्न रूप समवाय वायु में होने से महत् परिमाणवाले वायु द्रव्य का भी प्रत्यक्ष होगा ।) इस शका के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—सति अपि = वर्तमान होने पर भी, द्रव्यत्वे = द्रव्यत्व जाति के, महत्त्वे = तथा महत् परिमाण, रूपसंस्काराभावात् = रूप का समवाय, उद्भूतता, तथा अभिन्न न होना, इनके अभाव से, वायो = वायु द्रव्य की, अनुपलब्धि = उपलब्धि नहीं होती ॥ ७ ॥

भावार्थ—उल्काप्रकाशादि वायुपर्यन्त ये द्रव्य तथा महत्परिमाण होने पर भी रूप गुण का भस्कार अर्थात् रूप का समवाय, उसकी उद्भूतता (प्रकटता) तथा दूसरे रूप से अभिन्न (दवा) न होना यह न होने से उल्काप्रकाशादिको का प्रत्यक्ष नहीं होता ॥ ७ ॥

उपस्कार—इस सूत्र में 'रूपसंस्काराभावात्' में इस हेतु में रूपसंस्कार पद से रूप गुण का समवाय सम्बन्ध, उसका उद्भूत (प्रकट) होना, तथा उसका

यद्यपि वायौ च एव स्पर्शसमवायः स एव रूपसमवायः तथापि रूपनिरूपितो नास्ति तत्र रूपात्यन्ताभावसत्त्वात् । चाक्षुषे च रश्मी रूपसंस्कार रूपोद्भवो नास्ति, मध्यन्दिनोत्काप्रकाशे च रूपसंस्कारो रूपानभिभवो नास्ति इति न तेषां प्रत्यक्षता । एवं ग्रीष्मोष्मभर्जनकपालानललङ्घनकादिषु रूपसंस्काराभाव उन्नेयः ।

वृत्तिकृतिस्तु रूपञ्च रूपसंस्कारश्चेत्येकरूपपदलोप तेन रूपाभावा-
द्यायोरनुपलब्धि रूपसंस्काराभावाच्चक्षुरादीनामनुपलब्धिरत्याहुः ॥ ५ ॥

एव परमाणुनित्यताप्रकरणानन्तर परमाणुलिङ्गतयोपोद्धातसङ्गत्या बहिर्द्र-
व्यप्रत्यक्षताप्रकरण समाप्त्य उपोद्धातेन गुणप्रत्यक्षताप्रकरण वर्तयिष्यन्नाह—

अनेकद्रव्यसमवायात् रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः ॥ ८ ॥

अभिभव (तिरस्कार) न होना, सूत्रकार को विवक्षित है । इससे यद्यपि वायु मे जो ही स्पर्श गुण का समवाय है वही रूप का भी समवाय है, तथापि रूप से निरूपण किया हुआ समवाय नहीं है, क्योंकि वायु मे रूप का अत्यन्ताभाव है । अतः वायु का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता । चक्षुरिन्द्रिय के किरणों में उद्भूत रूप नामक रूपसंस्कार नहीं है, तथा मध्याह्नकाल के उत्काप्रकाश मे भी रूप का अभिभूत न होना स्वरूप रूपसंस्कार नहीं है । क्योंकि सूर्य के प्रकाश से उत्का का प्रकाश अभिभूत (दबा) है अतः इन मणूषों का प्रत्यक्ष नहीं होता । इसी प्रकार ग्रीष्म ऋतु का (ऊष्मा) गर्मी, तथा भुजवे के भूजने के गरम बायू वाले मिट्टी के घडे मे वर्तमान अग्नि एव सुवर्णादिको मे रूपसंस्कार न होने से इनका प्रत्यक्ष नहीं होता यह भी जान लेना चाहिये । किन्तु सूत्र मे 'रूप च रूपसंस्कारश्च' रूप गुण, तथा उसके उक्त रूप तीनों संस्कार, ऐसा समास कर एक रूप पद का लोप करना, इससे वायु मे रूप न होने से उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता, तथा 'चक्षु आदि के किरणा-
दिको मे उक्त प्रकार से उद्भूत रूपादि रूप संस्कार नहीं होने से उनका भी चाक्षुष नहीं होता ऐसी वृत्तिकार ने सूत्र की व्याख्या की है ॥ ७ ॥

इस प्रकार परमाणुओं के नित्यता प्रकरण के निरूपण के पश्चात् परमाणु साधक होने के कारण उपोद्धात (प्रस्तुत सिद्धार्थ विचाररूप) संगति से बहिर्द्रव्यों के प्रत्यक्ष होने का प्रकरण भी समाप्त कर उपोद्धात-संगति ही से गुणों के प्रत्यक्ष होने का प्रकरण निरूपण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अनेकद्रव्यसमवायात्=अनेक द्रव्यों मे आधिन द्रव्यों मे समवाय सम्बन्ध होने से, रूपविशेषात् च=रूप की उद्भूतता, तथा अभिभूत न होना एव रूपत्व जाति, इन विशेषों मे भी, रूपोपलब्धि=रूपगुण का प्रत्यक्ष होता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—अनेक द्रव्यों के आधित असरेणु आदि द्रव्यों मे समवेत होने से तथा उद्भूतता, अभिभूत न होना, एव रूपत्वजाति ऐसी तीन रूपगुण की विशेषता

रूपगतो विशेषो रूपविशेषः तच्चोद्भूतत्वमनभिभूतत्वं रूपत्वञ्च तस्माद्रूप-
स्योलब्धिः। नन्वेवं परमाणोर्द्व्यणुकस्य च रूपं गृह्येतेत्यत उक्तमनेकद्रव्यसम-
वायादिति। अनेकपदं भूयस्त्वपरं तेनानेकानि भूयांसि द्रव्याणि आश्रयतया
यस्य तदनेकद्रव्यं त्रसरेणुभृति तत्तममवायात् घटादयोऽप्यवयवद्वयारब्धाः
परम्परयाऽनेकद्रव्याश्रया एव, रसस्पर्शादौ रूपत्वविरहात् चाक्षुषत्वाभावः चाक्षुषे
तेजसि च उद्भूतत्वविरहात्। उद्भव रूपादिविशेषगुणगतो जातिविशेष एव
रूपस्यादिव्याप्य। नन्वेव शुक्लत्वसुरभित्वशोतत्वकटुस्वादिविरपि परापरभा-
वानुपपत्तिरेव, तत्तद्वाप्यतत्तानात्वकल्पने तु कल्पनागौरवम् उद्भवपदस्य नाना-
र्थत्वञ्चेति चेन्न बाह्यैकैकेन्द्रियग्रहणयोग्यगुणस्वरूपैवोपाधेरुद्भवत्वात् तदुपाधिविर-
हस्यैवानुद्भवत्वात्। अनुद्भवभावा एव उद्भव इति केचित्। तच्चिन्त्यम्, अनुद्भव-

होने से भी रूपगुण का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। घटादि द्रव्य के यद्यपि दो कपाल
रूप द्रव्यों से उत्पन्न होने हैं। किन्तु परम्परा से वह भी अनेक द्रव्याश्रित ही हैं, अतः
उनके भी रूप में उक्त तीनों प्रकार की रूप की विशेषता रहने से घटादिरूप का
चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है ॥ ८ ॥

उपस्कार—मूत्र में 'रूपविशेषात्' इस पद में रूप में वर्तमान विदोयरूप
विशेष शब्द का अर्थ है, वह रूप का विशेष है रूप की उद्भूतता, अनभिभूतता तथा
रूपत्व जाति भी इस रूपविशेष से रूप का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। (पुरप तथा
कालावि भेद से भिन्न अभिभूतता के प्रत्यक्ष विशेष में प्रतिबन्धक होने के कारण उन-
उन अभिभूतता के अभावरूप अनभिभूतता उन २ प्रत्यक्षों में कारण होती है। इस मत
से रूप की अनभिभूतता को रूप प्रत्यक्ष में कारण कहा है)। (आगे शंकरमिय मूत्र
में 'अनेकद्रव्यसमवायात्' इस हेतु के देने का सार्थक्य दिखाते हुए कहते हैं कि)—'ऐसा
होने से परमाणु तथा द्व्यणुक के भी रूप का उक्त रूप विशेष होने से चाक्षुष प्रत्यक्ष
होगा'। इस शंका के समाधानार्थ मूत्र में सूत्रकार ने 'अनेकद्रव्यसमवायात्' ऐसा हेतु
भी कहा है। इसमें अनेक पद का अर्थ है 'भूयस्त्व' प्रचुरता, इससे अनेक भूयस्
(प्रचुर-अधिक) द्रव्य जिसके आश्रय हो वह अनेक द्रव्य जैसे त्रसरेणु इत्यादि (क्योंकि
छ परमाणुओं से बने तीन द्व्यणुको में रहते हैं) उनके त्रसरेणुओं में रूप का समवाय
होने से घट आदि द्रव्य यद्यपि दो कपालरूप अवयव द्रव्यों से उत्पन्न हैं, किन्तु
परम्परा से वे भी अनेक द्रव्यों में ही आश्रित हैं। रस, स्पर्श आदि गुणों में रूपत्व-
जाति के अभाव से चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता, चक्षुर्इन्द्रिय के किरणरूप तेज में रूप
उद्भूत न होने से चाक्षुष रश्मियों का प्रत्यक्ष नहीं होता। उद्भूत इस पद में उद्भवत्व-
रूप आदिगुण विशेषों में वर्तमान एक जातिविशेष ही है जो रूपत्वादि जाति का
व्याप्य है। (यहा 'उद्भव' यह भावप्रधान शंकरमिश्र की उक्ति है जिससे उद्भूतत्व
लेना)। ऐसा होने से शुक्लत्व, सुरभित्व, शीतत्व, नटुत्व आदि जातियों को लेकर

वस्थात्वेव व्यवस्थापयितुमशक्यत्वात् । अतीन्द्रियविशेषगुणत्वमनुद्भूतत्वमिति चेत्, एव तर्हि ऐन्द्रियकविशेषगुणत्वस्यैवोद्भवत्वापत्तेः । ऐन्द्रियकत्वावच्छेदकं किमिति चेत्, तुल्यम् । विशेषगुणेष्वेकैवोद्भूतत्वं जातिः गुणगतजाती परापर-भावानुपपत्तिर्न दोषायेत्यपि वदन्ति ॥ ८ ॥

भी परम्पर में पर, तथा अपर जातिता नहीं बन सकनी (अर्थात् उद्भूत शुक्लादिकों को लेकर उद्भूत शुक्ल में उद्भूतत्व शुक्लत्व दोनों हैं, अनुद्भूत शुक्ल में शुक्लता है, उद्भूतता नहीं है, उद्भूत नील में उद्भूतता है शुक्लता नहीं है जत साक्यं दोष हो जायगा), यदि शुक्लतादिकों की व्याप्य उद्भूतता नाना है ऐसा माना जाय तो कल्पना में गौरव दोष होगा । (अर्थात् कार्यकारणभाव में व्यभिचार-निरासार्थं चाक्षुष में विजातीयता अथवा अव्यवहितोत्तरताघटित कार्यतावच्छेदक भी कल्पना करना पड़ेगा) तथा उद्भव पद के अनेक अर्थ भी मानने पड़ेंगे, ऐसी यह पूर्वपक्षी धाका नहीं कर सकता क्योंकि वाह्य एक-एक इन्द्रिय से ग्रहण करने के योग्य गुणस्वरूप उपाधि ही उद्भूत शब्द का अर्थ है । (अर्थात् वाह्य एक-एक इन्द्रिय से ग्रहण करने के योग्य विशेष गुणत्व ही उद्भूतत्वरूप जातिभिन्न उपाधिरूप धर्म है न कि उद्भूतत्व जाति है जिससे साक्यदोष होगा) और उस उपाधि का विरह ही अनुद्भव पद का अर्थ है । किन्तु गणेशोपाध्याय का यह मत है कि 'अनुद्भव के अभाव ही को उद्भव कहते हैं' शंकरमिश्र कहते हैं कि यह उनका मत विचारणीय है क्योंकि उद्भव का अभाव अनुद्भव है ऐसा भी कहा जा सकता है । (किन्तु यहाँ यह विचारणीय है क्योंकि उद्भूतत्व जाति यदि साक्यं दोष के कारणार्थ मानी जाय तो व्यभिचार-वारण के लिये अनेक कार्यकारणभाव मानना होगा, और अनुद्भूतत्व जाति मानें तो उनके अभाव-समुदायको लेकर चाक्षुष प्रत्यक्ष में एकही कार्यकारणभाव मानना होता है अतः इस पक्ष में लाघव ही है तो शंकरमिश्र ने गणेशोपाध्याय के मत में अपनी अधृष्टा क्यों प्रगट की है ?) ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि अनुद्भूतत्वाभाव वृत्त की चाक्षुष प्रत्यक्ष के कारणता का नियामक मानने से विशेष्य-विशेषणभाव से नियामक न होने के कारण अत्यन्त गुरु कार्यकारणभावों में अनेकता माननी होगी (यह शंकरमिश्र की चिन्तामणिकार के मत में अधृष्टा का कारण है यह भाव है) । (आगे अनुद्भूतत्व के विषय में मतान्तर का खण्डन करने के लिये शंकरमिश्र कहते हैं कि) — 'अतीन्द्रिय (अप्रत्यक्ष) विशेष गुणत्व ही अनुद्भूत है' ऐसा कहा तो इन्द्रियग्राह्य विशेष गुणत्व ही उद्भूतत्व है यह आपत्ति आवेगी । 'इन्द्रियग्राह्यतानियामक क्या होगा' ऐसा कही तो यह प्रश्न दोनों पक्षों में समान है अर्थात् आपके मत में इन्द्रियग्राह्यता-नियामक भिन्नरूप अतीन्द्रियता यदि अनिवार्य (कहने के अयोग्य) है तो उसकी योग्यता भी अनिवार्यनीय है । सन्निकर्षादिरूप कारण सामग्री के रहते अभिन्नादिकों के न रहने पर भी जो प्रत्यक्ष नहीं होता उसे अतीन्द्रिय कहते हैं, ऐसा यदि निर्वचन किया जाय,

स्पर्शातिरिक्तानां रूपसामानाधिकरण्यमेव बहिरिन्द्रियमाहताप्रयोजकमिति रूपप्रत्यक्षसामग्र्योपनिषाद्य तामन्यत्रातिदिशग्राह—

तेन रसगन्धस्पर्शेषु ज्ञानं व्याख्यातम् ॥ ६ ॥

तेनेति रूपप्रत्यक्षज्ञानेनेत्यर्थः । यथा रूपविशेषात् रूपत्वानभिभूतत्वोद्भूत-
त्वाद्भूयोपलब्धिरस्तथा रसविशेषात् रसत्वानभिभूतत्वोद्भूतत्वलक्षणात् रसोपल-
ब्धिः, एवमितरत्रामि योग्यम् । अनेकद्रव्यसमवायस्यातिदेशः । घ्राणरसनत्वगि-
न्द्रियाणामनुद्भवाद्गन्धरसस्पर्शानामग्रहणम्, पाषाणादावमुद्भवाद्गन्धर-

तो हमारे मत में भी उसका आशय न होना ही योग्यता ही सकती है इस प्रकार दोनों पक्षों में समानता है यह भाव है । (साकर्यदोष को जातिबाधक न माननेवालों के मत से शङ्करमिश्र उद्भूतत्व का स्वरूप बताते हैं कि)—विशेष गुणों में एक उद्भूतत्व जाति है, क्योंकि गुणों में रहनेवाली जातियों में परापरभाव की अनुपपत्ति (न होना) अर्थात् साकर्यदोषजनक नहीं होता । ऐसा भी कुछ विद्वान् कहते हैं ॥ ८ ॥

स्पर्श गुण से भिन्न गुणों का रूपगुण के अधिकरण में रहना ही बहिरिन्द्रियों से प्रत्यक्ष होने का प्रयोजक है, इस कारण रूपगुण के प्रत्यक्ष की सामग्री को वर्णन कर उसका दूसरे गुणों में अनिदेश (समानता) बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पक्षपक्षार्थ—तेन = उस रूप के प्रत्यक्ष ज्ञान से, रसगन्धस्पर्शेषु = रस, गन्ध तथा स्पर्शगुणों में, ज्ञानं = ज्ञान, व्याख्यात = व्याख्या किया गया ॥ ९ ॥

भावार्थ—जिन प्रकार रूपगुण के रूपत्व, अनभिभूतता तथा उद्भूतत्वस्वरूप विशेष से रूप का प्रत्यक्ष होता है इसी प्रकार रस के रसत्व, अनभिभूतत्व तथा उद्भूतत्वस्वरूप रस के विशेष से रस का रसन प्रत्यक्ष ऐसे ही गन्ध तथा स्पर्श का भी उक्त अपने-अपने विशेषों से घ्राण एवं त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है ॥ ६ ॥

उपस्कार—सूत्र के 'तेन' इस शब्द का अर्थ है रूप के प्रत्यक्षज्ञान से । जिस प्रकार रूपरस, अनभिभूतत्व, तथा उद्भूतत्व स्वरूप रूप के विशेष से रूप का बाह्य प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार रसत्वजाति, अनभिभूतता, तथा रस का उद्भूत होना स्वरूप रस के विशेष से रसगुण का रसनेन्द्रिय से ग्रहण होता है । इसी प्रकार गन्ध एवं स्पर्श-गुण में भी योजना कर लेना । और अनेक द्रव्य समवाय की भी योजना कर लेना । (अर्थात् अनेक द्रव्यान्वय द्रव्यों में वर्तमान रसादिगुणों का भी प्रत्यक्ष होता है यह भी रूपगुण के समान जानना) । घ्राण, रसना (जिह्वा), त्वक् इन इन्द्रियों के क्रम से गन्ध, रस तथा स्पर्श गुणों के उद्भूत न होने से क्रम से घ्राणेन्द्रियादिकों से ग्रहण नहीं होता । पाषाणादि पृथिवी में गन्ध तथा रसगुण के भी उद्भूत न होने से ग्रहण नहीं होता, क्योंकि पाषाण के मसृ (चूने) में गन्ध तथा रस दोनों का ग्रहण होता है । गणेशो-पाध्यायादि कुछ विद्वानों का मत है कि गन्ध और रस पाषाणादिकों में गृहीत होता

सयोः,—तद्वस्मिन् तयोरुपलम्भात् । तयोः पापाणादुपलम्भ एव न तु स्पष्ट-
इत्येके । विभक्तावयवाप्यद्रव्यरूपानुद्भवात्तदग्रहणम् । एव रसस्यापि । उष्ण-
जले तेजोरूपस्यानुद्भवात् स्पर्शस्य चाभिभवात् । विततकपूरचम्पकादौ स्पर्श-
सापशानामनुद्भवानुपलम्भ । कनकादौ रूपमुद्भूतमेव शुक्लत्वभास्वरत्वे पर-
मभिभूते । रूपमप्यभिभूतमित्येके । कनकमग्रहणन्तु रूपान्तरसाहचर्यात् । अभि-
भवश्च बलवत्सजातीयग्रहणकृतमग्रहणं न ॥ बलवत्सजातीयसम्बन्धमात्रम्,

है, किन्तु स्पष्ट (साफ) गृहीत नहीं होता । अर्थात् पापाण में 'मैं' गन्ध तथा रस
को ग्रहण करता हूँ ऐसा अनुभवसाय (आत्मा को अनुभव) नहीं होता । विभक्त
अवयव वाले जलीय द्रव्यों का रूप उद्भूत न होने से उसका ग्रहण नहीं होता । इसी
प्रकार रस का भी जानना । उष्ण जल में तेज का भास्वर शुक्ल रूप भी उद्भूत न
होने से एव जल के शीतस्पर्श का तेज के उष्णस्पर्श से अभिभव होने से ग्रहण नहीं होता ।
वितत (फैले हुए) कपूर, चम्पापुष्प आदिको में रूप, रस तथा स्पर्श गुणों का उद्भूत
न होने से प्रत्यक्ष नहीं होता । सुवर्णादिको में तेज का शुक्ल रूप उद्भूत ही है, केवल
शुक्ल ही शुक्लता तथा भास्वरता (पराप्रकाशकता ही) अभिभूत (पापिक पीत
रूप से अभिभूत है) शुक्लरूप गुण भी अभिभूत है ऐसा भी कुछ दार्शनिकों
का मत है । सुवर्ण का प्रत्यक्ष पृथिवी के हूमेरे रूप के साथ से जो रूप होने से
होता है ।

यहां पर बलवान् समानजातीय पदार्थ के ग्रहण से ग्रहण न होना ही अभिभव
शब्द का अर्थ है न कि केवल बलवान् समानजातीय पदार्थ का सम्बन्ध, क्योंकि
बलवान् समानजातीय का सम्बन्ध भी उस बलवान् समानजातीय के ग्रहण न होने
में जानने योग्य होने के कारण अग्रहण ही उपजीव्य (आश्रय करने योग्य) है ।
बलवान् सजातीय के अग्रहण का प्रयोजक (संपादक) होने से बलवान् समान-
जातीय का सम्बन्ध उपजीव्य है (आश्रय-योग्य है) क्योंकि ग्रहण का प्राग्भाव
अथवा अस्मत्ताभाव बलवान् समानजातीय का प्रयोज्य नहीं हो सकता और
ग्रहण का ध्वंस तो बड़ा है नहीं । तो सिद्धान्ती के मत में भी तो बलवान् सजातीय
पदार्थ के ग्रहण से उत्पन्न अग्रहण तो नहीं ही बन सकेगा । ऐसा यदि पूर्वपक्षी वह तो
उत्तर ऐसा हो, तथापि समानजातीय पदार्थ के बलवान् अथवा दुर्बल होने में, अथवा
बलवान् सजातीय का सम्बन्ध होने में ग्रहण होना तथा अग्रहण (ग्रहण न होना) ही
प्रयोजक होने के कारण वही अभिभव शब्द का अर्थ है । अर्थात् ग्रहण का प्राग्भाव,
अस्मत्ताभाव के भी प्रतियोगि-सामग्री के हटाने के द्वारा बलवान् समानजातीय का
ग्रहण होना प्रयोजक ही है, समानजातीय पदार्थ को उसमें प्रयोजकता ग्रहण के
द्वारा ही माननी होगी स्वयं नहीं, क्योंकि पित्त से दूषित नेत्रवाले पुरुष को रजत

बलवत्सजातीयसम्बन्धस्याप्यग्रहणनिरूप्यतया अग्रहणस्यैवोपजीव्यत्वान् । न चाग्रहणप्रयोजकत्वेन बलवत्सजातीय एवोपजीव्य, अग्रहणस्य ग्रहणराग-भाष्यस्य तदत्यन्ताभास्य वा तदपगोच्यत्वात्, ग्रहणध्वंसस्य च तत्राभावात् । तथापि तर्हि बलवत्सजातीयग्रहणकृत्तमग्रहणमनुपपन्नमेवेति चेत्, अस्वेवम्, तथापि सजातीयस्य बलवत्त्वे दुर्बलत्वे वा तादृशसम्बन्धसत्त्वे वा ग्रहणाग्रहणे एव प्रयोजक इति स एवाभिभवपदार्थः ॥ ९ ॥

तनु गुरुत्वमध्यनेकद्रव्यतमत्वेन रूपमहत्त्वसमानाधिकरणश्चेति कथं न प्रत्यक्षमत आह—

तस्याभावादव्यभिचारः ॥ १० ॥

तस्य रूपत्वादे सामान्यस्य उद्भवस्य च गुरुत्वेऽभावाच्च गुरुत्वं प्रत्यक्षम् ।

(चर्चा) इत्यादि पदार्थों का स्वतः दिखाई पड़ना समानजातीय शक्ति पदार्थ ग्रहण से ही होता है, यह देखने में आता है । (यह केवल समान जाति के पदार्थ मात्र से, अथवा उनके मात्रात्मक मात्र में नहीं होता, क्योंकि दूसरे मनुष्य को भी किसी समानजातीय पदार्थ के सम्बन्ध से रजत में स्वतः का ज्ञान होने लगेगा । एवं च बलवान् समानजातीय पदार्थ का ग्रहण तथा उससे प्रयोज्य (होनेवाले) का ग्रहण न होना ही बलवान् समानजातीय पदार्थ का बोधक होने के कारण बलवान् समानजातीय पदार्थ तथा उसके सम्बन्ध का उपजीव्य होता है, उसको छोड़कर बलवान् समानजातीय पदार्थ तथा उसके सम्बन्ध को कहना असम्भव होने से उसने युक्त ही अभिभव शब्द का अर्थ है यह यहाँ पर तात्पर्य है) ॥ ९ ॥

(अग्रिम सूत्र का शंका द्वारा शंकरमिथ अवतरण ऐसा देने हैं कि)—‘गुरुत्व नामक गुण भी अनेक द्रव्यों में समवेत, तथा रूपाधार द्रव्य में रहना भी है इस कारण उनका प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता’ इस शंका के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—उत्पत्ति = उक्त रूपत्वादि स्वरूप उक्त रूपविशेषों के, अभावात् = न होने में, अव्यभिचार = वाक्ष्य प्रत्यक्ष में उक्त रूप अव्यभिचार नहीं है, गुरुत्व में उनके न होने में प्रत्यक्ष नहीं होता ॥ १० ॥

भावार्थ—पूर्वोक्त रूपत्व जाति, उद्भूतता आदि रूप के विशेषों के गुरुत्व का प्रत्यक्ष नहीं होता । अतः चाक्षुष प्रत्यक्ष में उक्त रूप के विशेषों का व्यवभिचार नहीं हो सकता ॥ १० ॥

स्पष्टीकरण—उक्त रूपत्वादि जाति का उद्भूतता का भी गुरुत्व नामक गुण में अभाव होने से गुरुत्व का प्रत्यक्ष नहीं होता । यदि ‘गुरुत्व में रूपत्वादि स्वरूप रूपविशेषों के न रहने पर भी गुरुत्व का प्रत्यक्ष हो जाय’ ऐसी पूर्वपक्षी शंका करे; तो सूत्र में सूत्रकार ‘अव्यभिचार’ ऐसा कहते हैं, अर्थात् एक-एक इन्द्रिय में प्रत्यक्ष होने

ननु माभूत् तत्र रूपत्वादिकं तथापि तत्प्रत्यक्षं स्यादत आह अव्यभिचार इति । एकैकेन्द्रियप्राप्तत्वं प्रति रूपत्वादीनां पञ्चानां जातीनाम् अव्यभिचारो नियम एव । यत्रैव रूपत्वादिपञ्चकान्यतमं तत्रैव बाह्यैकैकेन्द्रियप्राप्तत्वं तद्व्यतिरेकादित्यर्थः । सूत्रे तु गुरुत्वाधिकारस्यास्फुटत्वात् प्रशस्तदेवरतीन्द्रियेषु मध्ये परिगणितमपि वल्लभाचार्ये स्पर्शनमुक्तं गुरुत्वम् ॥ १० ॥

एवमेकैकेन्द्रियप्राप्तानभिधाय द्वीन्द्रियप्राप्तानाह—

संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागी परत्वापरत्वे कर्म च रूपद्रव्यसमवायात् चाक्षुषाणि ॥ ११ ॥

एतेषां चाक्षुषत्वे स्पर्शनेत्वे वा परस्परानपेक्षत्वाच्चनायासमासः । यद्यपि महत्त्वापेक्षाऽस्ति तथापि न परिमाणत्वेन । चकार स्नेहद्रवत्ववेगानामुपमद्वय-

मे रूपत्व, रसत्व, गन्धत्व, स्पर्शत्वं तथा दृढत्व इन पांच जातियों का अव्यभिचार अर्थात् नियम ही है, क्योंकि जहां रूपत्वादि उक्त पांच जातियों में से कोई एक जाति रहती है वही बाह्य चक्षुआदि एक-एक इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है उनको छोड़कर नहीं होता, यह सूत्र का अर्थ है । इस सूत्र में गुरुत्व-निरूपण ही सूत्रकार को अभिमत है ऐसा स्पष्ट न होने के कारण प्रशस्तपादाचार्य ने अतीन्द्रिय (अप्रत्यक्षां) में गणना किया हुआ भी गुरुत्वगुण त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है ऐसा व्यापलीलावती ग्रन्थ में वल्लभाचार्य ने कहा है (अर्थात् चाक्षुष प्रत्यक्ष की सामग्री रहने पर भी यदि गुरुत्व का चाक्षुष प्रत्यक्ष न हो तो कार्यकारणभाव में व्यभिचार दोष होगा, न कि सामग्री के अभाव के कारण कार्य के अभाव से, अतः वल्लभाचार्य ने गुरुत्व गुण का स्वाक्षत प्रत्यक्ष होता है ऐसा माना है) ॥ १० ॥

इस प्रकार एक-एक इन्द्रिय से प्रत्यक्ष-योग्य गुणों का वर्णन कर दो इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होने योग्य गुणों को सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—सत्या = एकादि संख्या, परिमाणानि = महत्, दीर्घादि परिमाण, पृथक्त्वं = पृथक्त्व, संयोगविभागी = संयोग तथा विभाग, परत्वापरत्वे = दैशिक तथा कालिक परत्व और अपरत्व, कर्म च = और किया भी, रूपद्रव्यसमवायात् = स्पर्शयुग्म द्रव्यों में समवाय होने से, चाक्षुषाणि = चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने हैं ॥ ११ ॥

भावार्थ—रूपावार द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध से वर्तमान सत्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग तथा विभाग, एवं दैशिक तथा कालिक दोनों प्रकार के परत्व एवं अपरत्व, तथा किया का भी चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है ॥ ११ ॥

उपस्कार—सूत्रोक्त सत्यादि गुणों के चाक्षुष अथवा स्पर्शन प्रत्यक्ष होने में इन गुणों की परस्पर अपेक्षा नहीं होती यह सूचित करने के लिये सत्यादि गुणों का समास सूत्रकार ने नहीं किया है । यद्यपि महत्परिमाण गुण की अपेक्षा है तथापि

हार्यः । चाक्षुषाणोति-स्पर्शनत्वमप्युपलक्ष्यति । यद्वा चकार एव चाक्षुषाणि चेत्यत्रापि धोष्यः । सङ्ख्या—इति बहुवचनम् एकत्वादिकाः सर्वा एव सङ्ख्याः सङ्गृह्णाति । एकत्वं सामान्यमेव न तु गुण इति चेत् तद् यदि द्रव्यमात्रवृत्तिस्तदा द्रव्यत्वेन सद्धान्यूनानतिरिक्तवृत्तित्वम् । अथ गुणकर्मणोरपि वर्तते तदा सत्तया सहा (१) न्यूनानतिरिक्तवृत्तित्वम् । कथं तर्हि गुणादावप्येकत्वादिप्रत्यय इति चेत्, आरोपितेनेकत्वम्, एकार्थसमवायप्रत्यासत्त्यासम्यगेवैकत्वप्रत्ययो वा सदेकदेकत्वं नित्यद्रव्येषु नित्यम् अनित्येषु च कारणैकत्वासमवायिकारणकम् । द्वित्वादिकन्तु अपेक्षाबुद्धिजन्यम् । अपेक्षाबुद्धिश्च नानैकत्वसमूहा-लम्बनरूपा, सजातीययोर्विजातीययोर्वा द्रव्ययोश्चक्षुषा सन्निकर्षे ॥ ११ ॥

एतावन्त्येव कर्मपर्यन्तानि अभिप्रेत्याह—

अरूपिष्वचाक्षुषाणि १२ ॥

रूपरहितद्रव्येषु वर्तमानानि कर्मपर्यन्तानि सङ्ख्यादीन्यचाक्षुषाणि, न

जाति गुण तथा कर्म पदार्थ मे रहती है तो मत्ता जाति के साथ अमूनानतिरिक्त वृत्ति होने से ही उक्त दोष हो जायगा । यदि 'गुणादिको मे एकत्व नहीं रहता तो उनमे भी एक गुण इत्यादि प्रतीति कैसे होनी है' ऐसा कहो तो, आरोप किये एकत्व से, अथवा एक घटादि द्रव्यो मे रूपादि गुण तथा एकत्व सख्या के समवाय होने से वास्तविक ही 'एक रूप है' इत्यादि प्रतीति होगी । यह यह एकत्व (एक मत्ता) नित्य द्रव्यो मे वर्तमान नित्य तथा अनित्य घटादि द्रव्यो मे वर्तमान एक सत्ता का कारण कपालादि मे वर्तमान एक मरयारूप असमवायिकारण से उत्पन्न होने से अनित्य है । द्वित्वादि (दो-तीन) आदि मत्ता 'अयमेक अयमेक' यह एक यह एक इत्यादि रूप अपेक्षा बुद्धिजन्य होने से अनित्य ही होती है । अनेक एक विषय मे होने वाली समूहालम्बन (समूदाय को विषय करने वाली) 'यह एक, यह एक' ऐसी बुद्धि को अपेक्षाबुद्धि कहते हैं जो समान जाति के दो पदार्थों के अथवा विजातीय दो पदार्थों के चक्षुरिन्द्रिय से सन्निकर्ष होने पर होती है ॥ ११ ॥

सूत्र मे उक्त इतने ही कर्म पदार्थ तक के अभिप्राय से सूचकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अरूपिषु = रूपरहित द्रव्यो मे, अचाक्षुषाणि = चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता ॥ १२ ॥

भावार्थ—पूर्वसूत्र मे कथित सख्या गुण से लेकर कर्म पदार्थ तक के रूपरहित वायु आदिको मे वर्तमान हो तो उनका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता ॥ १२ ॥

उपस्कार—रूपरहित वायु आदि द्रव्यो मे वर्तमान क्रियापर्यन्त सख्या परिमाणदि गुणो का चक्षुरिन्द्रिय से, तथा त्वगिन्द्रिय से भी प्रत्यक्ष नहीं होता ऐसा सूत्र का अर्थ देखना चाहिये । इस सूत्र मे आत्मा की एक मत्ता मानस प्रत्यक्ष होती है परिमाणता सामान्यरूप मे नहीं है । सूत्रोक्त चकार से स्नेह, द्रवत्व तथा वेग नस्कार का ग्रहण करना चाहिए । सूत्र का 'चाक्षुषाणि' यह पद 'स्पर्शनत्व' त्व-गिन्द्रिय से उक्त गुणो का गृहीत होना सूचित होता है अथवा सूत्र मे का 'च' सन्दर्भ ही

स्पर्शानां नोत्पत्तिरपि द्रष्टव्यम् । अप्रत्यक्षाणोति नोक्तम्, तथा सत्यात्मैकत्वमपि प्रत्यक्षं न स्यात् ॥ १२ ॥

रूपादानामेकेन्द्रियमाहात्म्यं सद्गुणादीनां द्वेन्द्रियमाहात्म्यं सुखादीनां मान-
सत्त्व, तथा च सत्तागुणत्वयोः सामान्ययोः सर्वेन्द्रियमाहात्म्यमायानमित्याह—

एतेन गुणत्वे भावे च सर्वेन्द्रियं व्याख्यातम् ॥ १३ ॥

व्याक्तिग्रहणयोग्यतैव जातिग्रहणयोग्यता । व्यक्त्यद्वयं यथायथं यदि सर्वे-
न्द्रियैर्गृह्यन्ते तदा जात्यांरपि गुणत्वसत्त्वयोः सर्वेन्द्रियमाहात्म्यं पर्यवसन्नमि-
त्यर्थः ॥ १३ ॥

इति श्रीशाङ्करे वैशेषिकसूत्रोपस्कारे चतुर्थाध्यायस्याध्यात्ममाह्निकम् ।

‘बाधुपाणि’ इमं पदं के बाद लगाकर ‘बाधुपाणि च’ ऐसी सूत्र में चकार की योजना करनी चाहिये । ‘अस्या’ इस पद में बहुवचन एक, दो, तीन आदि संपूर्ण सस्याओ का सप्रष्ट करता है । यदि ‘एकत्व जाति ही है गुण नहीं है’ ऐसा कहो तो वह एकत्व जाति यदि केवल द्रव्यो में रहती है तो द्रव्यत्व जाति के साथ ‘अन्यूनानतिरिक्तवृ-
त्तित्वे’ न्यून या अधिक में न रहने से या तो एकत्व ही जाति होगी अथवा द्रव्यत्व ही (अर्थात् घटत्व कण्टकत्व के समान दोनों पर्याय हो जायेंगे) । यदि एकत्व वह न होगी दूसरिक्त ‘अप्रत्यक्षाणि’ प्रत्यक्ष नहीं है ऐसा न कहकर ‘अबाधुपाणि’ बाधुप प्रत्यक्ष नहीं होता ऐसा कहें ॥ १२ ॥

रूप, रस आदि गुण एक-एक इन्द्रिय से गृहीत होते हैं सत्त्वादि गुण दो दो इन्द्रियो से गृहीत होते हैं, सुख-दुःख आदि गुणों का मानसप्रत्यक्ष होता है, ऐसा होने से सत्ता तथा गुणत्व नामक दो जातियों का संपूर्ण इन्द्रियो से ग्रहण होता है यह प्राप्त हुआ इस अभिप्राय में सूत्रकार कहते हैं—

पक्षपदार्थे—एतेन—इमं कथन में, गुणत्वे = गुणत्व जाति में, भावे च = और सत्ता जाति में भी, सर्वेन्द्रिय = संपूर्ण इन्द्रियो से होने वाला, ज्ञान = ज्ञान होता है, व्याख्यातम् = यह व्याख्यात होता है ॥ १३ ॥

भावार्थ—पूर्वोक्त कथन से गुणत्व नामक जाति तथा सत्ताजातिक चक्षु आदि संपूर्ण इन्द्रियो से प्रत्यक्ष होता है यह कटा गया ॥ १३ ॥

उपस्कार—इन्द्रियो में व्यक्ति के ग्रहण करने की योग्यता ही उस व्यक्ति में वर्तमान जातियों के ग्रहण करने की योग्यता होती है । (क्योंकि जिस इन्द्रिय में व्यक्ति का ग्रहण होता है उसमें वर्तमान जाति तथा उसके अभाव का भी उसी इन्द्रिय से ग्रहण होता है यह नियम है) । उन गुणादि व्यक्तियों का चक्षु आदि संपूर्ण इन्द्रियो से जब ग्रहण होता है तब उनमें वर्तमान गुणत्व तथा सत्ता इन दोनों जातियों का संपूर्ण इन्द्रियो से ग्रहण होता है यह सूत्र का पर्यायार्थ (तात्पर्यं विषय) अर्थ है ॥ १३ ॥

इस प्रकार शंकरमिश्रकृत वैशेषिक सूत्रोपस्कार में

चतुर्थाध्याय का प्रथम आह्निक समाप्त ।

चतुर्थाध्याये द्वितीयमाह्निकम्

स्पर्शवद्द्रव्यपरीक्षार्थे चतुर्थाध्याये मूलकारणपरमाणुपरीक्षानन्तरं कार्यद्वारा स्पर्शयन्त्रेव द्रव्याणि परीचक्षिषुराह—

तत् पुनः पृथिव्यादिकार्यद्रव्यं त्रिविधं शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकम् ॥ १ ॥

तत्र शरीरत्वं प्रयत्नबद्धात्मसंयोगासमवायिकारणवत् क्रियावदन्त्याद्ययित्वम् उपाधिभेदः, न तु शरीरत्वं जातिः पृथिवीत्वादिना परापरभावानुपपत्तेः । इन्द्रियतत्त्वञ्च मृत्युजनकज्ञानकारणमनः-संयोगाद्यस्त्वम्, शब्देतरोद्भूतविशेष-

स्पर्शाश्रयद्रव्य की परीक्षा के विषय चतुर्थ अध्याय में मूलकारण परमाणुओं की परीक्षा करने के पश्चात् उनके कार्यों के द्वारा स्पर्शाश्रय ही द्रव्यों के परीक्षा करने की इच्छा से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तत् = वह, पुनः = फिर, पृथिव्यादि कार्यद्रव्य = पृथिवी जल आदि कार्यद्रव्य, त्रिविध = तीन प्रकार का है, शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञक = शरीर, इन्द्रिय तथा विषय नाम का ॥ १ ॥

भाषार्थ—जिन स्पर्शाश्रय द्रव्यों के परमाणुओं की प्रथम आह्वान में परीक्षा की है उनके कार्यरूप पृथिवी आदि कार्यरूप द्रव्य शरीर, इन्द्रिय तथा विषय नाम से तीन भेद हैं ॥ १ ॥

उपस्कार—उनमें से प्रयत्नाश्रय आत्मा के संयोगरूप असमवायि कारण वाले क्रियावान् अन्तिम अवयविद्रव्यस्वरूप उपाधि (धर्मविशेष) हैं नामान्यरूप से सम्पूर्ण शरीरों में रहनेवाला (लक्षण इसमें घटादिकों में अतिव्याप्ति दोष-वारणार्थ असमवायिकारणवान् यहाँ तक तथा हस्तादि अवयवों में उक्त दोष-निरामार्थ विशेष्य पद दिया है) । शरीरत्व पृथिवीत्वादिधर्मों को लेकर परापरभाव न हो सकने के कारण (घट में केवल पृथिवीत्व है शरीरत्व नहीं जलीय शरीर में शरीरत्व है पृथिवीत्व नहीं, पाण्डु शरीर में पृथिवीत्व तथा शरीरत्व दोनों होने के कारण साकार्य दोष होने से) जाति नहीं हो सकती । तथा स्मरण को उत्पन्न न करनेवाले ज्ञान के कारण मन के संयोग के आश्रय को इन्द्रिय कहते हैं, अथवा शब्द से भिन्न उद्भूत विशेषगुणों का आश्रय न होकर जो ज्ञान के कारण मन के संयोग का आधार हो उसे इन्द्रिय कहते हैं । (इसमें प्रथम इन्द्रियों के सामान्य लक्षण में प्रत्यक्ष के सामान्य कारणों के वारणार्थ स्मृति का अजनक ऐसा तथा ज्ञान एवं पुरीतति नाडी के संयोग के निरास के लिए 'ज्ञानकारण' पद और द्रव्य तथा इन्द्रिय के संयोग के निरासार्थ 'मन' पद दिया है यह जानना चाहिये । और दूसरे लक्षण में आत्मा में अतिव्याप्ति-निरासार्थ 'सति'तक विशेषण पद दिया है । योत्रेन्द्रिय में अव्याप्तिवारण

गुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमन संयोगाश्रयत्व वा । नक्तञ्चरनयनरश्मिस्तु तेजोऽन्तरमेव । चक्षुष्ट्वे तु शब्दरूपेतरोद्भूतविशेषगुणानाश्रयत्वे सतीति देयम्, न त्विन्द्रियत्व जातिः, पृथिवीत्वादिना परापरमावानुपपत्तेः । विषयत्वञ्च यद्यपि प्रतीयमानतया भोगसाधनत्वम्, तच्च लौकिकसाक्षात्कारविषयत्वमेव द्रव्यगुणकर्मसामान्याभावसाधारणम्, तथापि सूत्रानुराधात् लौकिकसाक्षात्कारविषयककार्यद्रव्यत्व द्रष्टव्यम् । पृथिव्यादिकार्य्यद्रव्य त्रिविधमिति हि सूत्रम्, तथा च विषयत्वमपि न जातिः ॥ १ ॥

के नित्ये 'शब्देतर' पद तथा रूप को लेकर अव्याप्ति-वारणार्थ 'उद्भूत' पद दिया है । संयोग को लेकर असम्भव-वारणार्थ 'विशेष' पद तथा चक्षुरिन्द्रिय के अवयवों के संयोग के चक्षुरिन्द्रिय-संयोग के द्वारा द्रव्य के चाक्षुष प्रत्यक्ष के उत्पन्न करने की योग्यता होने से अतिव्याप्ति दोष-वारण के लिये 'मन' पद दिया है । तथा कालादि-को मे अतिव्याप्ति दोष-वारण के लिये 'ज्ञानकारण' पद दिया है यह भी जान लेना चाहिये) यदि कदाचित् चक्षुरिन्द्रियविशेष मन के संयोग में स्मरण को उत्पन्न करता है ऐसा माना जाय तो प्रथम लक्षण न भंगत होगा । इसीलिये उपर्युक्त इन्द्रियो का सामान्य लक्षण किया है ।

('उक्त इन्द्रिय-लक्षण की 'नक्तञ्चर' शक्ति में विचरने वाले विल्ली, बाघ, चीता आदि पशुओं के नेत्रों में भ्राम्बर (परप्रकाशक) शुक्ल रूपविशेष गुण होने से अव्याप्ति दोष हो जायगा' इस शका के समाधानार्थ वाकरमिथ कहते हैं कि)—नक्तञ्चर पशुओं के नेत्रों के किरण दूतरा (इन्द्रिय से भिन्न) ही तेज है (अर्थात् इस इन्द्रिय लक्षण का वह लक्ष्य ही नहीं है अन द्रव्याप्ति दोष न होगा) यदि वह भी चक्षुरिन्द्रिय ही मानें तो उक्त इन्द्रिय के लक्षण में शब्द तथा रूप दोनों उद्भूत विशेष गुणों के आश्रय नहीं ऐसा सत्यन्त विशेषण का अर्थ करने से (नक्तञ्चरो के नेत्रकिरणों में लक्षण चला जायगा, क्योंकि उनमें रूप से भिन्न कोई उद्भूत विशेष गुण नहीं है) । किन्तु इन्द्रियत्व, पृथिवीत्वादि जातियों की लेकर परापरभाव न बनेगा, अर्थात् केवल पृथिवीत्व घट में तथा केवल इन्द्रियत्व रसनेन्द्रिय में और दोनों का घ्राणेन्द्रिय में समावेश होने से साकार्य दोष हो जायगा । इस कारण जाति नहीं है । यहाँ पर विषय उसी को यद्यपि कह सकते हैं जो भोग के साधनरूप में जाना जाय, और वह विषयत्व (द्रव्य गुण, कर्म, सामान्य तथा अभाव साधारण) लौकिक प्रत्यक्ष विषयता ही मानना होगा, तथापि सूत्र के अनुसार लौकिक प्रत्यक्ष के विषय कार्य द्रव्य ही विषय होते हैं ऐसा अर्थ करना पड़ेगा, नहीं तो द्वययुक्त में लौकिक प्रत्यक्ष की विषयता न होने से अव्याप्ति दोष हो जायगा । क्योंकि पृथिव्यादि कार्यद्रव्य तीन प्रकार के हैं ऐसा सूत्र है, ऐसा होने से विषयत्व भी जाति नहीं है यह सूत्र का अर्थ है ॥ १ ॥

इदानीं शरीरस्य त्रैभौतिकत्वचातुर्भौतिकत्वप्रवादान् निराकर्तुमाह—

प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणां संयोगस्याप्रत्यक्षत्वात् पञ्चात्मकं न विद्यते ॥ २ ॥

‘गन्धक्लेदपाकव्यूहावकाशदानेभ्यः पाञ्चभौतिकं’ अ० ३ आ० १ सू० ३० यदि शरीरं भवेत् तदाऽप्रत्यक्षं भवेत् यथा प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणां वायुधनस्पतीनां संयोगोऽप्रत्यक्षस्तथा शरीरमप्यप्रत्यक्षं स्यादिति दृष्टान्तद्वारकं सूत्रम् । पञ्चात्मकं न विद्यते इति । शरीरमिति शेषः । क्लेदपाकाद्यस्तु उपप्लम्भकजलानलगतता एव । चातुर्भौतिकोऽप्येवम् । नन्वस्तु त्रैभौतिकम् त्रयाणां भूतानां प्रत्यक्षत्वादिति चेन्न

साम्प्रत शरीर को पृथिव्यादि तीन भूतद्रव्यों से बना है ऐसा त्रैभौतिकत्व तथा पृथिव्यादि चार भूतद्रव्यों से उत्पन्न है ऐसे चातुर्भौतिकत्व के मतविशेषों का निरास करने के लिये सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणां = प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष पदार्थों के, संयोगस्य = संयोग सम्बन्ध के, अप्रत्यक्षत्वात् = प्रत्यक्ष न होने के कारण, पञ्चात्मकं = पृथिव्यादि आकाशान्त पञ्चमहाभूतात्मक, न विद्यते=शरीर नहीं है ॥ २ ॥

भाषार्थ—यदि हम लोगों का शरीर पृथिवी से लेकर आकाशपर्यन्त पञ्चभूतात्मक (पृथिव्यादि पाच महाभूतस्वरूप) हो तो प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष द्रव्यों के संयोग के प्रत्यक्ष न होने के कारण पृथिवी, जल, तेज इन तीन प्रत्यक्ष द्रव्यों के तथा वायु और आकाशरूप अप्रत्यक्ष द्रव्यों के संयोग का प्रत्यक्ष न होने के कारण हम लोगों के शरीर का प्रत्यक्ष न होगा, अतः वेदान्तिमत के समान न्यायमत में शरीर पञ्चमहाभूतस्वरूप नहीं है ॥ २ ॥

उपस्कार—‘गन्धक्लेदपाकव्यूहावकाशदानेभ्यः पाञ्चभौतिकम्’ (अ० ३, आ० १, सूत्र ३०) इस पूर्वपक्ष के न्यायसूत्र के ‘गन्ध, (क्लेद) गीलापन, अग्निमयोंग से परावृत्ति रूप पाक, व्यूह और अवकाश देने रूप पृथिव्यादि पञ्चभूतों के कार्य शरीर में होने से शरीर पाञ्चभौतिक है इस अर्थ के अनुसार यदि शरीर पञ्चभूतस्वरूप हो तो उसका प्रत्यक्ष न होगा, जिन प्रकार प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष वनस्पति (वृक्षादि) और वायु के संयोग का प्रत्यक्ष नहीं होता उस प्रकार शरीर का भी प्रत्यक्ष न होगा । उक्त दृष्टान्त के बोध द्वारा यह सूत्र है । सूत्र में आनाक्षित पद की पूर्ति करते हुए सत्करमिथ्य कहते हैं कि ‘पञ्चात्मकं न विद्यते’ इसके पश्चात् ‘शरीर’ ऐसा शेष पद देना, (जिससे शरीर पञ्चभूतात्मक नहीं है यह अर्थ पूरा होता है । क्लेद (गीलापन) पाक इत्यादिक जलादिकों के गुण तो केवल उपप्लम्भक (धारक) केवल संयुक्त जल तथा अग्नि में वर्तमान ही शरीर में उपलब्ध होते हैं । इसी प्रकार पृथिवी से लेकर वायुपर्यन्त चार भूतद्रव्यरूप शरीर है ऐसे पक्ष का भी निराकरण जानना चाहिये । यदि पूर्वपक्षी त्रैभौतिकत्ववादी कहे कि ‘पृथिवी, जल तथा

विजातीयारम्भस्य प्रतिषेधात् । एकस्य गुणस्यावयविनि गुणानारम्भकत्वात् । तद् यदि पृथिवीजलाम्बामारम्भः स्यात् तदा तदारब्धमगन्धमरसश्च स्यात्, एव पृथिव्यजलाम्बामगन्धमरसश्च स्यात्, पृथिव्यनिजलाम्बामगन्धमरसमरूपमस्पर्शश्च स्यादित्याद्युल्लम् ॥ २ ॥

एतदेवाह—

गुणान्तराप्रादुर्भावाच्च न व्यात्मकम् ॥ ३ ॥

पृथिव्यग्नेजसां प्रत्यक्षाणामेवारब्ध शरीरं प्रत्यक्ष स्यादपि, यदि तत्र गुणान्तरं कारणगुणपूर्वकं प्रादुर्भवेत्, न त्वैतदस्ति एकस्य गन्धादेरनारम्भकत्वस्योक्तत्वात् । तथा च न व्यात्मकमपि शरीरं न रूपवद्भूतत्रयारब्धमपीत्यर्थः ॥३॥

तेज द्रव्यों के प्रत्यक्ष होने से शरीर भौतिक (तीन भूतद्रव्यस्वरूप) है ऐसा कहेंगे तो यह नहीं हो सकता, क्योंकि विजातीय कारणों से कार्य उत्पन्न नहीं होता ऐसा निषेध है । एक गुण अवयवी द्रव्य में गुण को उत्पन्न नहीं करता । इस कारण यदि पृथिवी तथा जल से शरीर उत्पन्न हो तो परस्पर विरोध के कारण उन दोनों से उत्पन्न शरीर गन्धगुण तथा रस से भी भूय होगा । एव पृथिवी और तेज द्रव्य से उत्पन्न हो तो परस्पर विरोध के कारण गन्ध, रूप तथा रस तीनों से रहित होगा । और पृथिवी तथा वायु से उत्पन्न शरीर हो तो (परस्पर विरोध के कारण) गन्ध, रूप, रस तथा स्पर्श से भी भूय होगा इत्यादि दोष जात होता चाहिये ॥ २ ॥

इसी विषय को सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—गुणान्तराप्रादुर्भावात् च = कारणगुणपूर्वक दूसरे गुण के प्रवृत्ति हो सकने से भी, न = नहीं है, व्यात्मकम् = शरीर तीन भूतस्वरूप ॥ ३ ॥

भाषार्थ—प्रत्यक्ष होनेवाले पृथिवी, जल तथा तेज इन तीनों द्रव्यों से उत्पन्न शरीर का यद्यपि प्रत्यक्ष हो सकेगा, किन्तु उसमें यदि कारण गुण के अनुसार दूसरे कार्य गुण उत्पन्न हो सकें, किन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि एक गन्धादि कारणका गुण परस्पर विरोध के कारण कार्य शरीर में गुण को उत्पन्न नहीं कर सकता, अतः त्रिभूतद्रव्यस्वरूप भी शरीर नहीं है ॥ ३ ॥

उपस्कार—प्रत्यक्ष होने वाले ही पृथ्वी, जल तथा तेज द्रव्यों से उत्पन्न होने के कारण शरीर का प्रत्यक्ष तो तब होगा यदि उसमें कारण गुण के अनुसार दूसरा कार्य शरीर का गुण प्रगट हो, ऐसा नहीं है, क्योंकि एक का गन्धादि गुण (परस्पर विरोध से) कार्य गुण का उत्पादक नहीं होता ऐसा पूर्वसूत्र में कहा गया है । ऐसा होने से शरीर त्रिभूतरूप भी नहीं है, अर्थात् रूपाथय पृथिवी, जल तथा तेज नामक तीन द्रव्यों से भी उत्पन्न नहीं है यह सूत्र का अर्थ है ॥ ३ ॥

कथं तर्ह्येकस्मिन्नेव शरीरे पाकादोनामुपलब्ध ? इत्यत आह—

अणुसंयोगस्त्वप्रतिपिद्धः ॥ ४ ॥

मिथः पञ्चानां भूतानां परस्परमुपपट्टम्भकनया संयोगो न निषिध्यते, किन्तु विजातीययोरण्वोर्द्रव्यं प्रत्यसमवायिकारणं संयोगो नेष्यते, तथाच तदुपपट्टभात् पाकादीनां शरीरे भवत्युपलम्भ इति । तर्हि किम्प्रकृतिकमिदं मानुषशरीरमित्यत्र शैतमीयं सूत्रमुपलिख्यते—‘पार्थिवं तद् विशेषगुणोपलब्धे’ अ० ३ आ० १ सू० ३१ । पृथिवीविशेषगुणो गन्धो मानुषशरीरे आनाशमनपायो दृश्यते, पाकाद्यस्तु शुष्कशरीरे नोपलभ्यन्ते इति तेषामौपाधिकत्वं गन्धस्य ह्वाभाधिकत्वरमिति पार्थिवत्वव्यवस्थिते ॥ ४ ॥

शरीर विभजते—

‘यदि ऐसा है तो एक ही शरीर में क्लेद, पाक इत्यादिको का शरीर में ग्रहण क्यों होता है ?’ इस आशंका के समाधानार्थं सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अणुसंयोग तु=किन्तु जलादि परमाणुओं का संयोग, अप्रतिपिद्ध = शरीर में निषिद्ध नहीं है ॥ ४ ॥

भाषार्थ—पाच, चार या तीन भूतों के परमाणुओं से उत्पन्न न होने पर भी शरीर में पृथिवी आदि पचमहाभूतद्रव्यों का उपपट्टभक (विघारक रूप) परस्पर में संयोग का निषेध नैयायिक नहीं मानते अर्थात् पृथिवी परमाणुरूप समवायिकारणों से उत्पन्न शरीर में जलादि परमाणुओं का संयोग सहायक मात्र रूप है अतः शरीर पाच, चार या तीन भूत द्रव्यरूप नहीं है ॥ ४ ॥

उपस्कार—परस्पर पृथिवी आदि आकाशपर्यन्त पाच भूतद्रव्यों का उपपट्टभक (विघारक) रूप से केवल संयोग का नैयायिक निषेध नहीं करते, किन्तु विरुद्ध जाति के दो परमाणुओं के संयोग का द्रव्यरूप कार्य की उत्पत्ति में असमवायिकारण नहीं मानते, ऐसा होने से जलादि परमाणुओं के संयोग के सहायक मात्र होने से शरीर में क्लेद, पाकादि रूप जलादि द्रव्यों के गुणों का शरीर में ग्रहण होता है । ऐसा है तो यह मनुष्य शरीर किन मूल कारण से निमित्त है ? इस प्रश्न के उत्तर में यह शौनम महर्षि का न्यायसूत्र यहां उपस्थित होता है—‘पार्थिव तद् विशेषगुणोपलब्धे’ (अ० ३ आ० १ सूत्र ३१) अर्थात् ‘वह मनुष्य शरीर पार्थिव है, पृथिवी के विशेष गुण, गन्ध की उपलब्धि होने से’ ऐसा (जिसका यह अर्थ है)—‘पृथिवी द्रव्य का गन्ध नामक विशेष गुण मनुष्य शरीर में शरीर के नाश होने पर्यन्त नाशरहित सर्वदा दिखाई पड़ता है । और पाक, क्लेद आदि गुण शुष्क (रूखे) शरीर में उपलब्ध नहीं होने इस कारण ये औपाधिक हैं और गन्ध शरीर का स्वाभाविक गुण है इस कारण हम लोगों का शरीर पार्थिव है यह सिद्ध होता है ॥ ४ ॥

तत्र शरीरं द्विविधं योनिजमयोनिजञ्च ॥ ५ ॥

तत्र पार्थिववाय्वादिशरीरेषु मध्ये पार्थिवं शरीरं द्विविधम् । के ते द्वे त्रिवे इत्यत्राह योनिजमयोनिजञ्चेति । आप्यतैजसवायवोयशरीराणां वरुणादित्यवायु लोकेषु प्रसिद्धानामयोनिजत्वमेव । अयोनिजत्वं शुक्रशोणितसन्निपातानपेक्षत्वम् । अयोनिजञ्च देवानामृषीणाञ्च, ध्रूयते हि 'ब्रह्मणो मानसा मन्वादय' इति । कार-
णमन्त्रेण कथं कार्यमिति चेत् 'योनि' शरीरत्वावच्छेदेनाकारणत्वात् सप्तमङ्क-
मिमशकादिशरीरे व्यभिचारात्, संस्थानविशेषवत्तस्य चासिद्धेः देवर्षिशरीरा-
पेक्षयाऽऽसदादिशरीराणामन्वाह्यत्वात् । योनिजमपि द्विविधं जरायुजमण्ड-
जञ्च । जरायुजं मातृपशुसृग्माणां गर्भाशयस्य जरायुत्वात् पक्षिसरोसृग्माणां

पदपदार्थ—तत्र = उन पार्थिवशरीरो मे, शरीर = पार्थिव शरीर, योनिज = योनि से उत्पन्न, अयोनिज च = और अयोनिज दो प्रकार का है ॥ ५ ॥

भावार्थ—पार्थिवदि शरीरो मे से पार्थिव शरीर योनिज तथा अयोनिज दो प्रकार का है ॥ ५ ॥

उपस्कार—उन पार्थिव जल आदि शरीरो के मध्य मे पार्थिव शरीर के दो प्रकार हैं । 'वह दो प्रकार कौन है' ? इस प्रश्न पर सूत्रकार कहते हैं, योनिज, दूसरा अयोनिज भी इस प्रकार । वरुण, सूर्य, तथा वायुलोक मे प्रसिद्ध क्रम से जलीय, तैजस तथा वायु सम्बन्धी शरीरो मे अयोनिजता (योनि से उत्पन्न न होना) तो प्रसिद्ध ही है । यद्वा शुक्र (पुरुष का वीर्य) तथा स्त्रीरक्तरूप शोणित के मिल जाने की अपेक्षा न करना ही अयोनिज शब्द का अर्थ है । ऐसा अयोनिज शरीर देवता तथा महर्षियों का भी होता है । क्योंकि ऐसा शास्त्र मे सुनने मे आता है कि 'ब्रह्मा के मनु आदि मानसपुत्र हैं' । 'बिना कारण के कार्य कैसे होपा' ? ऐसी सिका करो तो, संपूर्ण शरीर मात्र मे योनि कारण है ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि ऊष्मा (गरमी) से उत्पन्न मशक (मच्छट्ट), आदि शरीर योनि के बिना भी होते हैं, इन कारण व्यभिचार होने से कोई अवयव-रचना रूप सस्थान उनमे (आकार) सिद्ध नहीं है, देवता, ऋषि इत्यादिको के शरीर की अपेक्षा हमारे शरीरो मे विलक्षणता होने मे । सन्तुष्य, पशु, मृग आदिको के शरीर जरायु से उत्पन्न होने से जरायुज हैं, क्योंकि गर्भ का स्थान जरायु (मांस की थोटी) होती है । पक्षी, सरोसृप (सरक कर चलने वाले) सर्प आदिको का शरीर अण्ड से उत्पन्न होता है, चारो तरफ सरबने का स्वभाव होने से सर्प, कीट (कीड़े), भत्स्य (मछली) आदि सरोसृप ही होते हैं । यद्यपि भोग के आधार होने से वृक्षादिक भी शरीर के ही विशेष हैं, क्योंकि भोग के आधार होने के बिना, जीवन, मरण, स्वप्न, जागरण, औषधि का प्रयोग, बीज के समान जातीयता के सम्बन्ध के अनुकूल फल की प्राप्ति प्रतिकूल (उक्त प्राप्ति के विरुद्ध)

गण्डजं परितः सर्पणशोलत्वात्, सर्पकोटमत्स्यादयोऽपि सरोस्त्वा एव । यद्यपि
क्षादयोऽपि शरीरभेदा एव भोगाधिष्ठानत्वात्, न खलु भोगाधिष्ठानत्व-
मन्तरेण जीवन-मरण-स्वप्न-जागरण-भेषजप्रयोग-बोजसजानीयानुबन्धानुक्त-
ओपगम-प्रतिकूलोपगमादयः सम्भवन्ति । वृद्धिक्षतभग्नसंरोहणे च भोगोप-
पादके स्फुटे एव, आगमोऽप्यस्ति-

नर्मदातीरसम्भूता सरलार्जुनपादपाः ।

नर्मदातोयसंस्पर्शाद् ये यान्ति परमा गतिम् ॥

इत्यादि ।

इमंशाने जायते वृक्षः कङ्कगृध्रादिसेवितः ।

इत्यादिश्च, तथापि चेष्टावस्त्वभिन्द्रियवस्त्वञ्च नोद्दिशं स्फुटसंरोहतो न शरीर-
व्यवहारः ॥ ५ ॥

अयोनिजशरीरोत्पत्तिकारणमाह—

अनियतदिग्देशपूर्वकत्वात् ॥ ६ ॥

अनियतदिग्देशा परमाणवो धर्मविशेषजनितकर्मागस्तत्पूर्वकत्वाद्योनिज-

की निवृत्ति इत्यादि नहीं हो सकते । तथा वृद्धि, सत (चोट), तथा भग्न (टूटे)
का संरोहण (पुन ठीक होना) यह दोनों भी वृक्षों को भोग होता है इम विषय
में स्पष्ट ही कहते हैं, तथा इम विषय में आगम (शब्द) भी प्रमाण है । यह शास्त्रों
में भी मिलता है—'नर्मदातीरमयूता (नर्मदा नदी के तीर में उत्पन्न)', सरलार्जुन-
पादपा = देवदार, अर्जुन नामक वृक्ष । नर्मदातोयसंस्पर्शात् = नर्मदा नदी के-जल के
स्पर्श से, ते = (वे वृक्ष) यान्ति = प्राप्त होते हैं, परमा = अच्छे, गतिम् = गति को ॥
इत्यादि । इमंशाने = इमंशान में, जायते = उत्पन्न होता है, वृक्ष = वृक्ष, कङ्कगृध्रादि-
सेवित = कक, गृध्र (गिद्ध) इत्यादि पक्षिजी से सेवा किया हुआ । इत्यादि आगम
भी । तथापि हिताहित-प्राप्ति-परिहाराशुक्ल चेष्टा तथा इन्द्रियाधारता भी इन उद्दिष्ट-
(जमीन के अन्तर निबलनेवाले) वृक्षादिकों में अत्यन्त स्पष्ट नहीं है इस कारण
इनमें शरीर का व्यवहार नहीं होता ॥ ५ ॥

अयोनिज शरीरों की उत्पत्ति का कारण सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अनियतदिग्देशपूर्वकत्वात् = नियमित दिशास्वरूप देशरहित परमाणुओं से
उत्पन्न होने के कारण (अयोनिज) शरीर होते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—नियमित दिशास्वरूप देश में वर्तमान धर्मविशेष से जिनमें शरीर
की उत्पत्ति के कारण क्रिया होती है ऐसे परमाणुओं से उत्पन्न शरीर अयोनिज
बहलाते हैं ॥ ६ ॥

सपरस्कार—नियमित दिशास्वरूप देश में रहनेवाले, तथा जिसमें धर्मविशेष अदृष्ट-
विशेष से क्रिया उत्पन्न होती है, ऐसे परमाणुपूर्वक (परमाणुओं से उत्पन्न) अयोनिज

शरीराणाम् ॥ ६ ॥

ननु परमाणूनां कर्म विना कथं द्रव्यासमवायिकारणं सयोगः, कथं वा सयोगमनन्तरेण द्रव्योत्पत्तिरत आह—

धर्मविशेषाच्च

अदृष्टवशात्सयोगादेरसर्गादौ परमाणूनां कर्म तेन च कर्मणा सम्भूय परमाणुशो द्वयणुकादिप्रक्रमेण अयोनिजं देवर्षीणां शरीरमारभन्ते इत्यर्थः । उपलक्षणञ्चैतत् अधर्मविशेषाच्च क्षुद्रजन्तूनामूष्मजानां मशकादीनां यातनामयानि शरीराण्युत्पद्यन्ते इत्यपि द्रष्टव्यम् ॥ ७ ॥

— देवर्षीणामयोनिजे शरीरे प्रमाणान्तरमाह—

समाख्याभावाच्च ॥ ८ ॥

शरीर होते हैं ॥ ६ ॥

‘परमाणुओं में क्रिया की उत्पत्ति के बिना कार्य-शरीरका द्रव्य का असमवायिकारण परमाणुओं का परस्पर सयोगका असमवायिकारण न होने से अयोनिज शरीररूप द्रव्य कार्य कैसे उत्पन्न होगा’ इस शका के समाधान में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—धर्मविशेषात् च = और धर्मविशेष से भी (अयोनिज) शरीर उत्पन्न होता है ॥ ७ ॥

भावार्थ—श्रीकृष्णमात्रो के कर्मानुसार भोग देने के लिये धर्मविशेषरूप अदृष्ट से परमाणुओं में क्रिया होने में उनके सयोगका असमवायिकारण से अयोनिज शरीररूप द्रव्य उत्पन्न होता है ॥ ७ ॥

उपस्कार—अदृष्टविशेष के आश्रय आत्मा के सयोग ही से सृष्टि के आदि में परमाणुओं में क्रिया होती है, और उस क्रिया से मिलकर परमाणु द्वयणुक आदि अवयवि द्रव्यों के रूप से देवता, ऋषि इत्यादिको के अयोनिज शरीर को उत्पन्न करते हैं । यह धर्मविशेष से देवतादिको के अयोनिज शरीर को उत्पन्न करते हैं । यहाँ धर्मविशेष से देवतादिको के अयोनिज शरीर की उत्पत्ति अधर्मविशेष से क्षुद्र (नीच) प्राणी, ऊष्मा (गरमी) आदि से उत्पन्न मशक (मच्छर) आदि जीवों के यातनामय (केवल दुःख को देनेवाले) शरीर भी उत्पन्न होते हैं, इस बात को भी सूचित करती है यह भी देख लेना चाहिये ॥ ७ ॥

देवता तथा ऋषियों के अयोनिज शरीर होने में सूत्रकार प्रमाण देते हैं—

पदपदार्थ—समाख्याभावात् च = सत्ता (नाम) विशेष होने से भी अयोनिज देवतादि शरीर हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ—तुर्वासा इत्यादि मानस ब्रह्मा के पुत्र ये, इत्यादि शास्त्र में नामों के मिलने में भी यह सिद्ध होता है कि देवतादिको का अयोनिज शरीर होता है ॥ ८ ॥

समाख्या अन्वर्था संज्ञा श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादिषु प्रसिद्धा । तथाहि—
 “दुर्वास प्रभृतयो मानसाः, अहङ्कारेभ्यः समभवदङ्गिरा” इत्यादिका, तथाऽपि
 ज्ञायते सन्त्ययोनिजानि शरीराणि देवर्षीणामिति ॥ ८ ॥

प्रमाणान्तरमाह—

सज्ञाया आदित्वात् ॥ ९ ॥

सर्गादौ या ब्रह्मादिसंज्ञा आदिभवा प्राथमिकी तथा ज्ञायते अस्त्ययोनिजं
 शरीरमिति, नहि तदा ब्रह्मणो मातापितरौ स्त याभ्यं ब्रह्मादिसंज्ञा कृता स्या-
 दिति भावः ॥ ९ ॥

उपसंहरति—

सन्त्ययोनिजाः ॥ १० ॥

शरीरविशेषा इति शेषः ॥ १० ॥

उपस्कार—सूत्र के समाख्या शब्द का अर्थ है सायंक सज्ञा (नाम) जो श्रुति,
 स्मृति, इतिहास तथा पुराणादि आगमो में प्रसिद्ध है वह इस प्रकार है—‘दुर्वासा
 इत्यादि (ब्रह्मा के) मानस (मन से उत्पन्न, और अहंकार से उत्पन्न हुए अंगिरा-
 पुत्र थे इत्यादि । यहां पर आदि पद से श्रुष्टिकर्ता के ऊहभाग से और नामक, तथा
 नारायण के ऊहभाग से ऊर्वा (अप्सरा), एव गर्जन से भृगुमुनि और चन्द्रमा के
 नेत्र की अञ्चि (किरण) से अत्रिमुनि उत्पन्न हुये । इत्यादि पुराण में प्रसिद्ध सज्ञा लेनी
 चाहिये ।) शंकरमिश्र कहते हैं कि इस सज्ञा से भी देवता तथा मुनियों के अयो-
 निज शरीर हैं यह जानना ॥ ८ ॥

उक्त विषय में दूसरा प्रमाण सूत्रकार देते हैं—

पदपदार्थ—सज्ञाया = सज्ञा नाम के आदि (प्रथम) होने से अयोनिज शरीर
 है ॥ ९ ॥

भावार्थ—श्रुष्टि के आदि काल में प्रथम ब्रह्मादि सज्ञा होने से अयोनिज देवता-
 बिको के शरीर हैं यह सिद्ध होता है ॥ ९ ॥

उपस्कार—श्रुष्टि के आदिकाल में जो आदिभूत अर्थात् प्रथम उत्पन्न हुई ब्रह्मा
 आदि की सज्ञा (नाम) है, उससे अयोनिज शरीर देवता तथा ऋषियों का है, यह
 जाना जाता है, क्योंकि उस समय ब्रह्मा के माता तथा पिता दोनों नहीं थे, जिन्होंने
 ब्रह्मा ऐसा अपने पुत्र का नाम रक्खा हो यह सूत्र का आशय है ॥ ९ ॥

इस विषय का उपमहार (समाप्ति) करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—सन्ति = हैं, अयोनिजा = अयोनिज, विशेष शरीर है ॥ १० ॥

भावार्थ—पूर्वोक्त प्रमाणों से देवता तथा ऋषियों का अयोनिज शरीर है यह
 सिद्ध होता है ॥ १० ॥

उपस्कार—सूत्र में आकाशित पद की योजना करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं

वपसंहृतेऽतिदाढ्यार्थं प्रमाणान्तरमाह—

वेदलिङ्गाच्च ॥ ११ ॥

वेदो मन्त्र म च लिङ्गयते द्वाप्यतेऽनेनेति वेदलिङ्गं ब्राह्मणम्, ततोऽप्ययो-
निज शरीर प्रतिपद्यते इत्यर्थः । तथाहि ब्राह्मणम्—‘प्रजापति प्रजा अनेका अस्तु
जन् स तपोऽनप्यस्त प्रजा. सृजेयमिति स मुखतो ब्राह्मणमस्तुजत् बाहुभ्या राजन्य
मूकभ्या वैश्यम् पद्भ्या शूद्रम्’ इति । वेदोऽपि—‘ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहु
राजन्य कृतः । ऊरु तदस्य यद्वैश्य’ पद्भ्या शूद्रो अजायत’ इत्यादिः । तदेव
योनिजमयोनिजश्च पाथिवशरीरमुत्तम् । आप्य तैजस वायव्योऽथायोनिजमेव
शुक्रशोणितयोनिचमेन पाथिवत्वात्, पार्थिवेन च पाथसीयानारम्भात् ।

इन्द्रियन्तु पाथिव घ्राणं सर्वप्राणभृत्साधारणं जल्लाघनभिभूतैः पार्थिवभागै-

‘किं मनु आदिको वा अयोनिज शरीर विशेष है’ ऐसा शेषपद देकर सूत्र का अर्थ पूरा
करना ॥ १० ॥

इम अयोनिज शरीर-विषय के समाप्त होने पर भी उसमें अति छटता आने के
लिये दूसरा प्रमाण सूत्रकार और देते हैं—

पदपदार्थ—वेदलिङ्गात् च=मन्त्ररूप वेद प्रमाण होने से भी (अयोनिज)
शरीर है ॥ ११ ॥

भावार्थ—‘प्रजापति ने अनेक प्रजा को उत्पन्न किया’ इत्यादि ब्राह्मण ग्रन्थरूप
वेद के प्रमाण होने से भी देवतादिकों का अयोनिज शरीर है यह सिद्ध होता है ॥ ११ ॥

वपस्कार—वेद शब्द का अर्थ है मन्त्ररूप वेद किन्तु ‘वह वेद जिससे लिङ्गभूते
अर्थात् द्वाप्यते (जनाया जाता है) जिससे इस व्युत्पत्ति बल से, वेदलिङ्ग ब्राह्मण-
भाग से भी देवता तथा ऋषिर्षों का अयोनिज शरीर जाना जाता है यह सूत्र का अर्थ
है । वह ब्राह्मण इस प्रकार है—

‘सृष्टिकर्ता प्रजापति ब्रह्मा ने अनेक प्रजाओं को उत्पन्न किया, उन्होंने (प्रजाओं को
मैं उत्पन्न करूँ) ऐसी इच्छा कर तपश्चर्या की । उसके बाद उन्होंने मुख से ब्राह्मण,
भुजाओं से क्षत्रिय, ऊरुभाग से वैश्य, तथा दोनों पादों से शूद्र को उत्पन्न किया’ ऐसा
वेदभाग भी इस विषय में प्रमाण है—‘ब्राह्मण इस प्रजापति का मुख तथा क्षत्रिय भुजा
किये गये, और उसके ऊरुभाग वह हुए जो वैश्य हुए, और दोनों पादों से शूद्र उत्पन्न
हुआ’ । इस प्रकार अयोनिज तथा योनिज भी शरीर कहा गया । जलीय, तैजस, तथा
वायुमन्मन्वी शरीर नियम से ‘अयोनिज ही होते हैं, क्योंकि माता-पिता
के बीर्य तथा रक्त दोनों नियम से पार्थिव (पृथिवी, परमाणुओं से उत्पन्न) ही
होते हैं तथा पार्थिव परमाणुओं से जलीयादि शरीररूप कार्य उत्पन्न नहीं होते हैं ।
पार्थिव इन्द्रिय घ्राण है, जो प्राणिमात्र का साधारण है, तथा जलादि परमाणुओं से
अनभिष्ट (न दवे हुए) केवल पार्थिव भाग के परमाणुओं से उत्पन्न होता है ।

रारब्ध प्राणम् । प्राणं पार्थिवं रसाद्यव्यञ्जकत्वे सति गन्धव्यञ्जकत्वात् सुगन्ध-
गन्धव्यञ्जककुङ्कुटोच्चारयत् । एवं रसनमाप्यं रूपाद्यव्यञ्जकत्वे सति रसस्यैव
व्यञ्जकत्वात् सक्तुरमाभिव्यञ्जकसञ्चिद्वत् । एवञ्चक्षुस्त्वैव रसाद्यव्यञ्जकत्वे
सति रूपस्यैव व्यञ्जकत्वादाहोक्वत् । त्वगिन्द्रियं वायव्यं गन्धाद्यव्यञ्जकत्वे
सति स्पर्शस्यैव व्यञ्जकत्वात् अहसङ्गिसञ्चिद्वैत्याभिव्यञ्जकव्यञ्जनवाचयत् ।

विषयस्तु पार्थिवो मृत्पापाणस्यावरलक्षणः । चत्र भूप्रदेशाः प्राकारेष्टकाद्यो
मृद्विकाराः, अद्रिमणिहोरकणेरिकाद्य पापाणा, स्यावराष्ट्रणौपधिबृक्षशुल्मल-
तावतानवनस्पत्यः । आप्यास्तु विषयाः सरित्समुद्रहिमकरकाद्यः । तैजसस्तु
विषयो भौमदिव्योदर्याकरजभेदाच्चतुर्विधः । भौमं काष्ठेन्धनप्रभवम् । दिव्यम्

उसके पार्थिव होनेसे घ्राणेन्द्रिय, पार्थिव है, रस, स्पर्श आदि गुणों का अप्रकाशक होते
हुए, गन्ध का व्यञ्जक (प्रगट करने वाला) होने से, कस्तूरी के सुगन्ध के व्यञ्जक
मुर्गे की विष्ठा के समान यह अनुमानप्रमाण है । (इस अनुमान के हेतु में रस का
परपरे के रस का ऐसा अर्थ करना चाहिये, नहीं तो मुर्गे की विष्ठा के अपने रस का
व्यञ्जक होने से दृष्टान्तासिद्धि दोष हो जायगा) नये कसौरे के गन्ध के व्यञ्जक
जल में व्यभिचारवारणार्थ 'रसाद्य व्यञ्जकत्वे सति' ऐसा विशेषण यहाँ दिया है, उस
जल के सतुजाके रस का भी व्यञ्जक होने से दोष न होगा । एव घ्राणेन्द्रिय तथा
गन्ध के सन्निकर्ष में व्यभिचार-वारणार्थ उक्त हेतु में द्रव्यत्वे सति यह भी विशेषण यहाँ
पर देना चाहिये । इसी प्रकार रसनेन्द्रिय के अनुमान में भी जानना) । (शकरमिश्र
प्राण के समान रसनेन्द्रिय में भी जलीयता का साधरु अनुमान दिखाते हुए कहते
हैं कि)—रसनानामक इन्द्रिय, जलीय है, रूपादि गुणों का व्यञ्जक न होते हुए, केवल
रस ही का व्यञ्जक होने से, शक्तु (सतुजा) के रस को प्रगट करनेवाले, जल के समान
इसी प्रकार चक्षु, तैजस है, रसादिकों का व्यञ्जक न होते हुए, केवल रूप ही के प्रगट
करने के कारण, प्रकाश के समान । ऐसे ही इन्द्रिय, वायव्य है, गन्धादि गुणों का
व्यञ्जक न होते हुए केवल स्पर्श ही के व्यञ्जक होने से शरीर में लगने वाले जल की
घीनता को प्रगट करनेवाले व्यञ्जन (पखा) की वायु के समान (ऐसे अनुमानों से
प्राणादिकों में पार्थिवतादि सिद्धि जानना) १-मृत्तिका, २-पापाण, ३-स्यावर (वृक्षादि)
ऐसे तीन प्रकार पार्थिव विषय हैं । उनमें से पृथ्वीके देशविशेष रूप हैं ईटा तथा उनसे
बने प्राकार (घेरा) इत्यादि यह संपूर्ण मृत्तिका के विकार हैं । पर्वत, मणि, हीरा,
गेरू इत्यादि पापाण हैं, तृण, औषधि, वृक्ष, शुल्म (झाड़ी) लता, अवतान तथा
वनस्पति यह स्यावर पार्थिव विषय हैं । नदी, समुद्र, हिम (वर्षा का झोला)
इत्यादि जल के विषय हैं और तेज का विषय भौम (पृथ्वी पर उत्पन्न), दिव्य
(आकाश में उत्पन्न), उदर्य (उदर में उत्पन्न), तथा आकरज (खान में उत्पन्न)
इस भेद से चार प्रकार का है । जिनमें लकड़ी, गोयरा इत्यादि इन्धन से उत्पन्न पक्ष

अविन्दनं विद्युदादि । उद्ध्यम् अन्नादिरसार्जनक्षमं जाठरम् । आकरजश्च हिर-
ण्यादि । वायवोयस्तु विषयः उपलभ्यमानस्पर्शाश्रयो वायुः । वायोश्चतुर्थः कार्यः
प्राणाख्य शरीरे रसमलघातूनां प्रेरणादिहेतुरेकः सन् क्रियाभेदादपानादिसहा
लभत इति ॥ ११ ॥

इति श्रीशाङ्करे वैशेषिकसूत्रोपस्कारे चतुर्थोऽध्यायश्च

द्वितीयमाह्निकम् ।

समाप्तश्चाय चतुर्थोऽध्यायः ।

भीम है । जलरूप इन्धन से उत्पन्न विद्युत् (विजली-सूर्यादि) दिव्य तेज है । भक्षित
अन्नादिको के रसो को उत्पन्न करनेवाला जाठराग्नि उद्ध्यं (पेट का) तेज, तथा आकर
(खान में उत्पन्न तेज सुवर्णादि आकरज तेजस विषय है । शरीर में उष्ण, शीत आदि
उपलब्ध होनेवाले स्पर्श का आधार है वायु का विषय । इसी कार्यविषय वायु का प्राण
नामक चतुर्थ कार्य है । प्राण नामक जो शरीर के मध्य में रस, मल तथा घातुओं के
प्रेरणा आदि कार्य करने में कारण एक होने पर भी मुख तथा नासिका से निकलना,
तथा प्रवेश करना रूप क्रियाओं के एक हृदयादि रूप स्थानों के भेद से भी प्राण,
अपान, ध्यान, उदान तथा समान नाम से पाच प्रकार की सज्ञाओं को प्राप्त होता है
इस प्रकार पार्थिव्यादि विषय निरूपण है ।

इस प्रकार वैशेषिक सूत्रोपस्कार का द्वितीयाह्निक समाप्त ।



पञ्चमाध्याये प्रथमाह्निकम्

कर्मपरीक्षा पञ्चमाध्यायार्थः । प्रयत्ननिष्पाद्यकर्मपरीक्षा प्रथमाह्निकार्थः । तत्राद्युत्क्षेपणप्रकरणम्, अप्रयत्नसिद्धोत्क्षेपणप्रकरणम्, पुण्यहेतुकर्मप्रकरणम्, पुण्यपापोदासीनकर्मप्रकरणञ्च । चेष्टाविशेषमधिकृत्याह—

आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म ॥ १ ॥

सयोगश्च प्रयत्नश्च संयोगप्रयत्नौ आत्मनः संयोगप्रयत्नौ ताभ्यां हस्ते समवायिकारणे कर्म । तस्य च कर्मणः प्रयत्नबद्धात्मसंयोगोऽसमवायिकारणम्, प्रयत्नश्च निमित्तकारणम् । इयमेव चेष्टा, प्रयत्नबद्धात्मसंयोगासमवायिकारण-क्रियायाश्चेष्टारथात्, स्वात्मवेतस्वातिरिक्तस्पर्शबद्धप्रयत्नजन्यक्रियाया वा ॥१॥

कर्मपदार्थों की परीक्षा पञ्चमाध्याय का विषय है । जिससे प्रयत्न से होने वाले कर्मों की परीक्षा प्रथम आह्निक का विषय है । उससे भी (१) उत्क्षेपण प्रकरण, (२) विना यत्न के होने वाले उत्क्षेपण का प्रकरण, (३) पुण्यकारण कर्मों का प्रकरण (४) तथा पुण्य और पाप से उदासीन कर्मों के निरूपण का प्रकरण ऐसे ४ प्रकरण हैं । जिनसे चेष्टा रूप कर्मविशेष को लेकर सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थः—आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां=आत्मा के संयोग तथा प्रयत्न दोनों में, हस्ते=हस्त में, कर्म=क्रिया होती है ॥ १ ॥

भावार्थः—उत्क्षेपणादि क्रिया करने वाले आत्मा के संयोग तथा प्रयत्न रूप कर्म से असमवायिकारण तथा निमित्तकारण से हस्तरूप समवायिकारण में जो उत्क्षेपण कर्म-कार्य होता है उसीको चेष्टा कहते हैं ॥ १ ॥

उपस्कारः—सूत्र के आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां इस पद में 'संयोगश्च प्रयत्नश्च संयोगप्रयत्नौ' ऐसा इतरतर द्वन्द्वसमास कर 'आत्मनः संयोगप्रयत्नौ' आत्मसंयोग-प्रयत्नौ ऐसा पष्ठीतत्पुरुष समास करना ऐसे उन दोनों-आत्मा का संयोग तथा प्रयत्न दोनों से हस्तरूप समवायिकारण में (उत्क्षेपण) कर्मरूप कार्य उत्पन्न होता है । उस कर्म का प्रयत्नवान् आत्मा का 'संयोग असमवायिकारण है, और प्रयत्न निमित्त कारण है । यही कर्म चेष्टा कहाती है, क्योंकि प्रयत्नवान् आत्मा का नयोग जिसमें असमवायिकारण हो उसी क्रिया को चेष्टा कहते हैं । (यह चेष्टा का सामान्य लक्षण है ।) और अपने में सम्बद्ध न होकर अपने से भिन्न स्पर्शाश्रय से भिन्न के प्रयत्न से उत्पन्न क्रिया को विशेष चेष्टा कहते हैं । (इससे चेष्टा का आश्रय 'स्व' पदार्थ है, उसमें असम्बद्ध और उससे भिन्न जो स्पर्शाश्रय उससे भिन्न सम्बन्धी जो प्रयत्न उससे उत्पन्न क्रिया चेष्टा कहते हैं ऐसा अर्थ जानना) ॥ १ ॥

हस्तोत्क्षेपणमुक्त्वा तदधीनं मुसलोत्क्षेपणमाह—

तथा हस्तसंयोगाच्च मुसले कर्म ॥ २ ॥

चकारेण गुरुत्वं निमित्तकारणान्तरं समुच्चिनोति । तथेति । तादृशमुत्क्षेपणरूपमेवेत्यर्थः । यद्वा तथा हस्तसंयोगादुत्क्षेपणवद्वस्तसंयोगादित्यर्थः । अत्र च प्रयत्नवशात्समुक्तेन हस्तेन मुसलस्य संयोगोऽसमवायिकारणम्, मुसलसमवायिकारणम्, प्रयत्नगुरुत्वे निमित्तकारणे ॥ २ ॥

बहुखलाभिहतस्य मुसलस्याऽस्माद् यदुत्पन्नं जायते तत्र कारणमाह—

अभिघातजे मुसलादौ कर्मणि व्यतिरेकादकारणं हस्तसंयोगः ॥ ३ ॥

इस प्रकार हस्त में उत्क्षेपण कर्म का निरूपण कर उसके अधीन मुसलादिको में उत्क्षेपण कर्म को सूत्रवार कहते हैं—

पदपदार्थ—तथा=उत्क्षेपणरूप उसी प्रकार, हस्तसंयोगात् च=और उत्क्षेपण करते हस्त के संयोग से, मुसले=मुसल में, कर्म=उत्क्षेपण क्रिया होती है ॥ २ ॥

भावार्थ—हस्त में उत्क्षेपण क्रिया के समान मुसलरूप समवायिकारण में, प्रयत्नवान् आत्मा में समुक्त हस्त के साथ मुसल के संयोगरूप असमवायिकारण तथा गुरुत्व और प्रयत्नरूप निमित्तकारण से मुसल में उत्क्षेपण क्रिया उत्पन्न होती है ॥ २ ॥

उपस्कार—सूत्र के चकार से प्रयत्न के समान गुरुत्वगुणरूप दूसरे निमित्तकारण का समग्र सूचित होना है । सूत्र के 'तथा' इस पद का अर्थ है वैना अर्थात् उत्क्षेपण रूप ही कर्म होता है । अथवा 'तथाहस्तसंयोगात्' ऐसा समास में एक ही पद होने से उत्क्षेपण वाले हस्तसंयोग से ऐसा अर्थ होता है । उसमें भी प्रयत्नवान् आत्मा से समुक्त हस्त के साथ मुसल का संयोग असमवायिकारण है मुसल, समवायिकारण तथा प्रयत्न और गुरुत्व निमित्तकारण हैं ॥ २ ॥ -

ऊखल से अभिहत (टक्कर लगे हुए) मुसल में जो अक्स्मात् (बिना कारण) ऊर्ध्वदेश में गति होती है उसके कारण को सूत्रवार कहते हैं—

पदपदार्थ—अभिघातजे=ऊखल के अभिघात नामक संयोग से उत्पन्न, मुसलादौ=मुसल आदिको में, कर्मणि=उत्क्षेपण क्रिया में, व्यतिरेकात्=प्रयत्न न होने से, अकारण=कारण नहीं है, हस्तसंयोग=हस्त का संयोग ॥ ३ ॥

भावार्थ—यद्यपि ऊपर उठने वाले मुसल के साथ हस्त का संयोग है तथापि वह मुसल की उत्पत्ति क्रिया में कारण नहीं है, क्योंकि उसके लिये प्रयत्न नहीं होता है, किन्तु उसमें ऊखल का अभिघात (टक्कर लगना) ही असमवायिकारण है, अतः ऊखल में टक्कर खाकर मुसल का ऊपर उठना यह कर्म बिना प्रयत्न के होता है ॥ ३ ॥

अत्र यद्यपि मुसलेन उत्पत्तता हस्तस्य संयोगोऽप्यस्ति तथाऽपि न संयोगोऽन्यथासिद्धः किन्तु सद्बुद्ध्याभिघात एव असमवायिकारणम् । कुत एवमित्यत आह व्यतिरेकादिति । प्रयत्नस्य व्यभिचारित्वमर्थः । यदि तदा प्रयत्नः स्यात् मुसलस्यैवाकस्मिकमुत्पत्तन न भवेत् विचारकेण प्रयत्नेन मुसलस्य धारणमेव भवेत् चेष्टापीनं मुसलस्य पुनरुत्पत्तन वा भवेत् इति भावः ॥ ३ ॥

मुसलेन सहोत्पत्ततो हस्तस्य कर्मणि कारणविशेषमभिघातु प्रयत्नवदात्म-संयोगात्प्राप्तमवायिकारणत्वं निराकर्तुमाह—

तथात्मसंयोगो हस्तकर्मणि ॥ ४ ॥

मुसलेन सहोत्पत्ततो हस्तस्य कर्मणि आत्मसंयोगः प्रयत्नवदात्मसंयोगस्तथा अकारणमित्यर्थः । अकारणमिति पूर्वसूत्रस्थं तथेत्यतिदिश्यते ॥ ४ ॥

कुतस्त्वर्हि हस्ते सहोत्पत्तनमव आह—

उपस्कार—ऊल्ल से टक्कर खाकर ऊपर जाने वाली मुसल की क्रिया के समय मैं यद्यपि ऊपर जाने वाले हस्त का संयोग भी है, तथापि वह संयोग अन्यथासिद्ध है (कारण नहीं है) किन्तु ऊल्ल का अभिघात नामक संयोग ही इसमें असमवायिकारण है । क्यों ? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं व्यतिरेकात् इति—अर्थात् प्रयत्न का व्यभिचार (अभाव) है यह अर्थ है । यदि मुगल के ऊल्ल में टक्कर खाकर ऊपर जाने के समय हाथ उठाने वाले कर्ता का प्रयत्न हो तो मुसल ही केवल अकस्मात् बिना कारण ऊपर न जाय किन्तु विचारक (पकड़ रखने वाले) प्रयत्न से मुसल का धारण ही (हाथ में रकना) होगा, अथवा उसकी चेष्टा के अनुसार मुसल भी पुन ऊर्ध्वदेश में जायगा ऐसा सूत्र का आशय है ।

मुसल के साथ ऊपर जाने वाले हस्त की क्रिया में विशेष कारण कहने के लिये प्रयत्नविशिष्ट आत्मा का संयोग उसमें असमवायिकारण है यह निराकरण करने के लिये सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तथा = वंसा (कारण) नहीं है, आत्मसंयोग = प्रयत्नवान् आत्मा का संयोग, हस्तकर्मणि = हस्त की क्रिया में ॥ ४ ॥

भाषार्थ—मुसल के साथ ऊपर जाने वाले हस्त की क्रिया में प्रयत्नवान् आत्मा का संयोग कारण नहीं है ॥ ४ ॥

उपस्कार—मुसल के साथ ऊपर जाने वाले हस्त की उत्पत्तन क्रिया में आत्मसंयोग अर्थात् प्रयत्नवान् आत्मा का संयोग तथा कारण नहीं है, यह सूत्र का अर्थ है । क्योंकि पूर्वसूत्र में का 'अकारण' कारण नहीं है यह पद इस सूत्र के तथा इस पद से उन अर्थ का अतिदेश (सूचना) करता है ॥ ४ ॥

तो हस्त में मुसल के साथ उत्पत्तन क्रिया होने में क्या कारण है ? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं—

अभिघातान्मुसलसंयोगाद्वस्ते कर्म ॥ ५ ॥

यथा मुसले उत्पन्नति मुसलमुखस्थ षोडशमुत्पत्तिरिति तथा हस्तोऽपि तदोत्पत्तिरिति । अत्राभिघातशब्देन अभिघातजनितः सस्कार उच्यते उपचारान् । उत्पत्ततो मुसलस्य षट्तुरेण कर्मणा अभिघातसहकृतेन स्वाश्रये मुसले संस्कारो जनितस्तत्कृत सस्कारमपेक्ष्य हस्तमुसलसंयोगादसमवायिकारणाद्वस्तेऽप्युत्पत्तनं न तु तदुत्पत्तनं प्रयत्नवदात्मसंयोगासमवायिकारणकम्, अवशो हि हस्तो मुसलेन सहोत्पत्ततीति भावः ॥ ५ ॥

अनु शरीरे शरीरावयवे वा यत् कर्मोत्पद्यते सत्र प्रयत्नवदात्मसंयोगाकारणं प्रकृते कथं न तथेत्यत आह—

आत्मकर्म हस्तसंयोगाच्च ॥ ६ ॥

पदपदार्थ—अभिघातात्=अभिघात से, मुसलसंयोगात्=मुसल के संयोग से, हस्ते=हस्त में, कर्म=उत्पत्ति प्रिया होती है ॥ ५ ॥

भावार्थ—मुसल के साथ ऊपर जाने वाले हस्त में अभिघात से उत्पन्न वेग-सस्कार से ही कर्मवर्गमन होता है, उसमें प्रयत्नपूर्वक आत्मा का संयोग असमवायिकारण नहीं है ॥ ५ ॥

उपस्कार—जिस प्रकार मुसल के ऊपर जाने से उसके अग्रभाग में वर्तमान लोहा भी ऊपर जाता है वैसे हस्त भी ऊपर जाता है । इस सूत्र में अभिघात शब्द से अभिघात से उत्पन्न वेग नामक सस्कार उपचार (गौण) रूप से कहा गया है । ऊपर जानेवाले मुसल की (अभिघात की सहायता वाते) अत्यन्त समर्थ क्रियासे अपने (क्रिया के) आधार मुसल में वेगसस्कार उत्पन्न हुआ है, उस मुसल से उत्पन्न वेगसस्कार की अपेक्षा कर असमवायिकारणरूप हस्त तथा मुसल के संयोग से हस्त में भी उत्पत्तन (ऊपर जाने की) क्रिया होती है, न कि प्रयत्न वाले आत्मा के संयोग-रूप असमवायिकारण से वह हस्त ऊपर जाना है, अर्थात् अधीन न होते हुए वह हस्त मुसल के साथ उछलता है यह सूत्र का आशय है ॥ ५ ॥

‘शरीर तथा उसके अवयव हस्त में जो क्रिया उत्पन्न होती है उसमें प्रयत्नवान् आत्मा का संयोग असमवायिकारण होता है तो इस मुसल के साथ ऊपर जाने वाले हस्तरूप प्रस्तुत विषय में वह कारण क्यों नहीं होता ? इस शक के समाधानार्थं सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—आत्मकर्म=लक्षणा से शरीर के अवयवरूप आत्मा की क्रिया, हस्तसंयोगात् च=मुसल तथा हस्त के संयोग से ही (होती है) ॥ ६ ॥

भावार्थ—आत्मपदार्थ में अन्वय की अनुपपत्तिरूप बीज से इस सूत्र में आत्म शब्द की शरीरावयव में लक्षणा करने से शरीर के हस्तरूप अवयव में जो ऊपर उठने

आत्मशब्दः शरीरावयवपर उपचारात् । अन्वयानुपपत्तिरेवोपचारधीजम् । तथा चात्मनः शरीरावयवस्यापि हस्तस्य यत् कर्म तत् हस्तमुसलसयोगात् । चकाराच्च वेगसमुच्चयः । हस्तकर्मणि हस्तसंयोगस्तावदसमवायिकारण तत्र व्यभिचारो नास्ति । स च कश्चित् प्रयत्नवदात्महस्तसयोगः, नवविद्वेगवन्मुसलादिहस्तसयोगो यथा वातुलस्य शरीरावयवकर्मति भावः ॥ ६ ॥

प्रयत्नानधोनकर्मप्रकरणमारभते—

संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम् ॥ ७ ॥

सयोगपदेन प्रतिबन्धकमात्रमुपलक्षयति, तेन प्रतिबन्धकामावे गुरुत्वादस-

की क्रिया होती है उसमें हस्त तथा मुसल का संयोग एव सूत्र के चकार से वेगसंस्कार भी कारण है नकि आत्मा का प्रयत्नपूर्वक संयोग ॥ ६ ॥

उपस्कार—इस सूत्र में आरम्भपद उपचार (लक्षणावृत्ति) से शरीर के अवयवों का बोधक है आत्मा की किसी क्रिया में हस्त तथा मुसल के संयोग का कारण होने को अन्वय की अनुपपत्ति (न बन सकना) ही उपचार (लक्षणा) का बीज (कारण) है । ऐसा होने से आत्मा अर्थात् शरीर के अवयवरूप भी हस्त की जो क्रिया ऊपर उठने की होती है वह हस्त तथा मुसल के संयोग तथा सूत्र के चकार पद से वेग का सप्रह होने के कारण उस वेग से भी होती है । हस्त की क्रिया में हस्त का संयोग तो असमवायिकारण होता है उसमें व्यभिचार नहीं है । किन्तु वह भी किसी स्थल में प्रयत्नवान् आत्मा तथा हस्त का संयोग, और किसी स्थल में वेग वाले मुसलादि तथा हस्त का संयोग असमवायिकारण होता है, जिस प्रकार वायु रोगी शरीर वाले वातुल मनुष्य के हस्तादि शरीरावयवों में वायु के वेग से क्रिया होती है । यह सूत्र का आशय है । (महा पर शंकरमिश्र ने दो प्रकार के हस्तसंयोग दिखाकर दूसरे पक्ष का यह वातुल की क्रिया का उदाहरण दिया है । अर्थात् वातुल के हस्त के कम्प में वायु तथा हस्त का संयोग कारण है । इससे (वेगवान् मुसल के यह कहने से) प्रयत्नवान् आत्मा से भिन्न वेग वाले द्रव्य के संयोग से उत्पन्न भी संयोग लेना चाहिये यह सूचित होना है) ॥ ६ ॥

प्रयत्नाधीन कर्मप्रकरण (२)

प्रयत्न के अधीन होने वाले कर्मों का प्रकरण सूत्रकार आरम्भ करते हैं—

पदपदार्थ—संयोगाभावे=संयोगरूप प्रतिबन्ध के न रहते, गुरुत्वात्=गुरुत्व गुण से, पतनम्=पतन क्रिया होती है ॥ ७ ॥

भावार्थ—संयोगादि रूप प्रतिबन्धको के न रहने पर केवल गुरुत्व होने से फलादिकों में प्रथम पतन (भूमि पर गिरने) की क्रिया होती है जिसमें प्रयत्न कारण नहीं है ॥ ७ ॥

उपस्कार—इस सूत्र में संयोगपद से सामान्यरूप से संपूर्ण प्रतिबन्धक सूचित

मवाधिकारणात् पतनम्-अथ संयोगफलिका क्रिया जायते । तत्र गुरुत्वमिति फलादौ प्रतिबन्धक संयोग, विद्वद्भ्रमादौ तु विधारकः प्रयत्नः पतनप्रतिबन्धकः, काण्डादौ क्षिप्ते संस्कार एव पतनप्रतिबन्धकः । एतेषामभावे गुरुत्वाद्येन पतनमित्यर्थः । अभिध्यानादिना विपादेरन्तरिक्षस्थापने अदृष्टवदात्मसंयोगो मन्त्रादिरेव वा प्रतिबन्धकस्तेषामपि संयोगपदेन समग्रः ॥ ७ ॥

ननु गुरुत्वाद् यदि पतनं सदा लोष्टादेरुत्क्षिप्तस्य कचिदूर्ध्वं कचिच्च तिर्यग्-गमनं कथम्भवेदित्यत आह—

नोदनविशेषामावाजोर्ध्वं न तिर्यग्गमनम् ॥ ८ ॥

गुरुत्वतोऽपि लोष्टकाण्डादेर्यदूर्ध्वं तिर्यक् च गमनं तन्नोदनविशेषात् सीमन्तरान्नोदनात् । तथाच फलपक्षिणाणां संयोगप्रयत्नसंस्काराभावे यत् न होते हैं । इससे प्रतिबन्धक के न रहने पर असमवायिकारणरूप गुरुत्व के कारण अधोदेष्ट में संयोगरूप फल जो करने वाली पतनक्रिया उत्पन्न होती है । उसमें गुरुत्वा-अथ फलादिको में संयोग (मध्य में या ऊपर किसी रोकने वाले दण्डे आदि का संयोग) पतन में प्रतिबन्धक होता है, आकाश में उड़ने वाले पक्षी आदिको में विधारक (रोकने वाला) उनकी आत्मा का प्रयत्न नीचे गिरने में तथा पानी में हुए बाण आदिको में धनमान वेगसंस्कार ही नीचे गिरने में प्रतिबन्धक होता है । अर्थात् इन प्रतिबन्धकों के न रहने पर गुरुत्व के कारण फलादि नीचे गिर जाते हैं । यहाँ पर संयोग पद से मन्त्रपाठपूर्वक देवता विशेष ध्यानादिको से विष आदि को आकाशप्रदेश में रोकने में अदृष्टवान् आत्मा का संयोग (जिससे प्राणी विष के कारण नहीं मरता), अथवा मन्त्रादिक ही कारण है इत्यादिको का समग्र किया गया है ॥७॥

यदि गुरुत्व से पतनक्रिया होती है तो ऊपर फेंका हुआ मट्टी का डेला कभी ऊपर जाता है कभी तिरछे जाता है यह कैसे होगा ? इस प्रश्न के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थः—नोदनविशेषामावात्—नोदन नामक संयोगविशेष के न होने से, नञ् नही होता, ऊर्ध्व=ऊर्ध्वप्रदेश में, न = नहीं होता, तिर्यग्गमनम्=तिरछे जाना ॥८॥

भावार्थः—अतितीव्र नोदन नामक संयोगविशेष से गुरुत्ववाले भी मट्टी के डेले आदिको में ऊर्ध्वप्रदेश में तथा तिरछी भी गति होती है, किन्तु फल, पक्षी, बाण इत्यादिको का संयोगादि रूप प्रतिबन्धक के न रहने पर जो भूमि पर पतन होता है, उसमें उक्त नोदनविशेष के न रहने से ऊर्ध्व अथवा तिर्यक् (तिरछी) गति नहीं होती ॥ ८ ॥

उपस्कारः—गुरुत्व के आश्रय भी मट्टी के डेले, काण्ड (सरई) इत्यादिको में जो ऊर्ध्व तथा तिर्यक् गति होती है, वह अत्यन्त तीव्र (तीव्र) नोदनरूप-नोदनसंयोग के विशेष से होती है, ऐसा होने से फल, पक्षी तथा काण्डादिको में संयोग,

पतनं तत्र नोदनविशेषो नास्ति तेन न तिर्य्यङ्मन् चोर्ध्वं गमनमिति भावः ॥ ८ ॥
ननु नोदनविशेष एव कुत उत्पद्यते तत्राह—

अग्रयत्नविशेषान्नोदनविशेषः ॥ ९ ॥

नोदनविशेषादुदसनविशेषः ॥ १० ॥

तिर्य्यङ् ऊर्ध्वं दूरम् आसन्ने वा क्षिपामीतीच्छाकारणकं अग्रयत्नविशेषः
तज्जनितो नोदनविशेषस्ततो गुरुत्ववतो द्रव्यस्य लोष्टादेरूर्ध्वं तिर्य्यक् च गमनमु-
पपद्यते । उदसनं दूरोत्क्षेपणम् ॥ ९ ॥ १० ॥

उद्वृत्तलाभिघातात् मुसलेन सह हस्ते यत् कर्म उत्पन्नं तत्तावत् प्रयत्नपूर्वकं
न भवति, नापि पुण्यपापहेतुरतस्तत्तुल्या बालकस्य क्रीडाकरचरणादिचालनं
यत्तथासिद्धिरिति—

अग्रयत्न तथा सस्काररूप प्रतिबन्धको के न रहने पर जो भूमि पर पतन होता है,
उनमें उक्त नोदनाविशेष नहीं है, इस कारण न तिरछी, न ऊर्ध्वप्रदेश में उनकी
गति होती है । ॥ ८ ॥

उक्त नोदनविशेष किससे उत्पन्न होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार
बहते हैं—

पदपदार्थ—अग्रयत्नविशेषात् = अग्रयत्नविशेष से, नोदनविशेष = नोदन नामक संयोग
विशेष होता है ॥ ९ ॥

नोदनविशेषात् = नोदन संयोग के विशेष से, उदसनविशेष = दूर ऊर्ध्व जाने
में विशेषता होती है ॥ १० ॥

भाषार्थ—तिरछे, ऊपर, दूर या पास फेंकता हूँ इन इच्छाओं के अनुसार
विशेष अग्रयत्न से उत्पन्न विशेष नोदन-संयोग के कारण गुरुत्वाश्रय मट्टी के ढेले
आदिको में ऊर्ध्वदेशादिको में गति होती है और नोदनसंयोग (विशेष) से उस
मिट्टी के ढेले आदिको में उस ऊर्ध्वदेश में गति होती है ॥ ९-१० ॥

उपस्कार—तिर्य्यक् (तिरछे) ऊपर, दूर या समीप में फेंकता हूँ ऐसी इच्छा-
पूर्वक उत्पन्न हुवा फेंकने का विशेष अग्रयत्न होता है, उससे नोदनसंयोगरूप विशेष
के कारण गुरुत्व वाले मट्टी के ढेले आदि द्रव्यों में ऊर्ध्व तथा तिर्य्यक् प्रदेश में
उनकी गति होती है । उदसन शब्द का अर्थ है—दूर, ऊपर फेंकना या
जाना ॥ ९-१० ॥

ऊखल के अभिघात (टक्कर) से मुमल के साथ हस्त में जो किया उत्पन्न
होती है, वह आत्मा के अग्रयत्नपूर्वक नहीं है, और न वह पुण्य अथवा पाप का भी
कारण है, इसी के समान बालक की क्रीडा में हस्त-पाद इत्यादिको के चलाने की
क्रिया भी होती है यह अतिदेश द्वारा सूत्रकार सूत्र में बहते हैं—

हस्तकर्मणा दारककर्म व्याख्यातम् ॥ ११ ॥

बालकस्य यद्यपि करचरणादिचालनं प्रयत्नपूर्वकमेव तथापि हिताहितश-
क्तिफलकं न भवति न वा पुण्यपापहेतुरित्यातिदेशार्थः ॥ ११ ॥

इदानीं प्रयत्नपूर्वकेऽपि कर्मणि यत्र न पुण्यपापहेतुत्वं तत्र दारककर्मतुल्य-
सामतिर्दिशन्नाह —

तथा दग्धस्य विस्फोटने ॥ १२ ॥

आततायिना केनाऽप्यगारे दाहयाने तत्र दग्धस्य पुरुषस्य विस्फोटे
बह्विकृते जाते सति तस्याततायिनो यथामुक्तेन प्रयत्नेन हस्तादौ यत् कर्म
जनितं तन्न पुण्यहेतुर्न वा पापहेतुः । यथाहुः —

पदपदार्थ—हस्तकर्मणा = उक्त प्रकार की क्रिया से, दारककर्म = बालक
की क्रीडा में किया गी, व्याख्यातमुच्यस्या की गई ॥ ११ ॥

भावार्थ—उक्त बिना प्रयत्न के होने वाली, तथा पुण्य और पाप को न उत्पन्न
करने वाली हस्तचालना से बालको की क्रीडा के समय की हस्त-पादादिकों के
चलाने की क्रिया भी बिना प्रयत्न तथा पुण्य और पाप का कारण नहीं होती यह
कहा गया है ॥ ११ ॥

उपस्कार—यद्यपि बालको की क्रीडा के समय हस्त-पाद आदिकों के चलाने की
क्रिया उनके प्रयत्न से ही होती है, तथापि बालको को हित तथा अहित का ज्ञान
न होने से वह उनके हाथ और पैरों को चलाना हित या अहितरूप फल नहीं
देती, अथवा पुण्य और पाप की भी जनक नहीं होती ॥ ११ ॥

साप्रत प्रयत्नपूर्वक होने वाली जो क्रिया पुण्य तथा पाप के कारण नहीं होती
उसमें बालको की क्रीडा के कर्मों की समानता का अतिदेश करते हुए सूत्रकार
कहते हैं—

पदपदार्थ—तथा=उस प्रकार (पुण्य पाप का कारण) (नहीं होती),
दग्धस्य = जले हुए पुरुष को, विस्फोटने=फोड़े होने में ॥ १२ ॥

भावार्थ—बालक की क्रीडा के व्यापार के समान आततायियों से जलाये हुए घर
में जले हुए मनुष्य के आततायी को मारने के लिये किये कर्म भी पुण्य अथवा पाप
के कारण नहीं होते ॥ १२ ॥

उपस्कार—आततायी किसी मनुष्य ने किसी मनुष्य के घर में आग लगाने में
जले हुए मनुष्य के शरीर में अग्नि से विस्फोट (फोड़े आदि) होने पर उमने किये
आततायी के मारने के अनुरूप किये गये प्रयत्न में जो उसके हस्त आदि अवयवों में
क्रिया होती है, वह भी (बालको की क्रीडा में होने वाली हस्त-पाद आदिकों की
चलनादि क्रिया के समान) न पुण्य का न पाप का जनक होती है, इसी कारण जिस

आततायिवधे दोषो हन्तुमर्हति कश्चन ।

प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तन्मन्युमृच्छति

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्घनापहा ।

क्षेत्रदारापहारो च पदेते आततायिनः ॥ १२ ॥

इदानीं यत्नं विना यानि कर्माणि भवन्ति तान्याह—

यत्नाभावे प्रसुप्तस्य चलनम् ॥ १३ ॥

प्रसुप्तस्येति चैतन्याभावदशामुपलक्षयति । तेन मूर्च्छितस्य जीवतोऽचैतन्ये-
ऽपि वायुकृतं चलनं द्रष्टव्यमत्र ॥ १३ ॥

शरीरकर्माणि क्याख्याय तद्वितरण्याह—

तृणे कर्म वायुसंयोगात् ॥ १४ ॥

प्रकार मनुस्मृतिकार ने कहा है—न = नहीं होता, आततायिवधे = आततायी के मारने में, दोष = पाप, हन्तु = मारने वाले को, कश्चन = कोई भी । प्रकाश वा = प्रगट रूप से या, अप्रकाश वा = या गुप्तरूप से, मन्यु = क्रोध, तन्मन्यु = उसके क्रोध को, मृच्छति = प्राप्त होता है । अग्निदो = आग लगाने वाला, ^१ गरद च = विप देने वाला भी, ^२ शस्त्रपाणि ^३ = हस्त में शस्त्र ग्रहण करने वाला, घनापहा = घन चुराने वाला ४, क्षेत्र-
दारापहारी = खेत घर आदि, तथा स्त्री का अपहार करने वाला भी (५-६) पद =
घ, ऐते = ये, आततायिन = आततायी होते हैं ॥ १२ ॥

साम्प्रत विना यत्न के जो क्रिया होती है उन्हें सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—यत्नाभावे = विना प्रयत्न के, प्रसुप्तस्य = निद्रावस्था में स्थित प्राणी की, चलन = चलनक्रिया होती है ॥ १३ ॥

भावार्थ—विना प्रयत्न के निद्रावस्था में वर्तमान प्राणी के शरीर में चलन क्रिया होती है ॥ १३ ॥

उपस्कार—सूत्र में 'प्रसुप्तस्य' सोये हुए की इस पद से चैतन्य न रहने की (बेहोशी की) अवस्था सूचित होती है इससे मूर्च्छित जीते हुए प्राणियों को अचैतन्य (होश में न रहना) होने पर भी वायु से शरीर में चलन क्रिया होती है वह देखना चाहिये ॥ १३ ॥

इम प्रकार शरीर के कर्मों को वर्णन कर शरीर से भिन्न पदार्थों की क्रिया का सूत्रकार वर्णन करते हैं ।

पदपदार्थ—तृणे = तृण (तिरके) में, कर्म = चलनक्रिया, वायुसंयोगात् = वायु के संयोग से (होती है) ॥ १४ ॥

भावार्थ—तृणादिको में भी विना यत्न के शरीर क्रिया के समान विना यत्न के केवल वायु के संयोग से चलनादि क्रिया होती है ॥ १४ ॥

तृणपदेन वृक्षगुल्मलतावतानादिक सर्वमुपलक्षयति ॥ १४ ॥

अदृष्टाधीन कर्म परिगणयन्नाह—

मणिगमनं सूक्ष्मभिसर्पणमदृष्टकारणकम् ॥ १५ ॥

मणिपदेन कांस्यादिकमुपलक्षयति । तेनाभिमन्त्रितं मणिकांस्यादि तत्स्कराभिमुख यद् गच्छति तत्र गमने मण्यादि समवायिकारणम्, अदृष्टवत्स्कराभ्यर्माणसयोगोऽसमवायिकारणम्, तत्स्करस्य पापं निमित्तकारणम् । सूक्ष्मभिसर्पणमिति । सूक्ष्मपदेन लोहमात्रं तृणश्चोपलक्षयति । तथा चायस्कान्ताभिसुख यन् सूक्ष्मादेगमनं सत्र सूच्यादि समवायिकारणम्, यस्य हितमहितं वा तेन तृणसूच्यादिगमनेन तददृष्टवदात्मसंयोगोऽसमवायिकारणम्, तददृष्टमेव निमित्तकारणम् । एवमभ्यर्चयन्त्यम् । तद् यथा, बहेरुर्ध्वशरत्तनं वायोस्तित्ये-
गमनं सर्गादौ परमाणुकर्मादि ॥ १५ ॥

उपस्कार—सूत्र में तृणपद से वृक्ष, गुल्म (झाड़ी), लता, अवतान इत्यादि सपूणों का समग्र सूचित होता है ॥ १४ ॥

अदृष्ट के अधीन होने वाले कर्मों की गणना करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—मणिगमन = (चोर के पास) मणि इत्यादिकों का गमन, (चुम्बक के पास) सुई आदि लोहे का गमन, इति = यह सब, अदृष्टकारितम् = अदृष्ट से किया होती है ॥ १५ ॥

भाषार्थ—चोर के पास अभिमन्त्रितमणि, कासे का कटोरा इत्यादिकों का पहुँचना तथा लोह चुम्बक के पास सुई इत्यादिकों लोहा का पहुँचना यह सब क्रिया अदृष्ट से होती है ॥ १५ ॥

उपस्कार—सूत्र में मणि पद से कात्यादिपात्र सूचित होता है, इससे अभिमन्त्रित (मन्त्रपाठपूर्वक जल से सींचे हुए मणि तथा कासे का पात्र तत्स्कर (चोर) के सम्मुख जो जाता है, उस गमन में मणि कासे का पात्र समवायिकारण है, अदृष्ट वाले चोर की आत्मा तथा मणि आदि का संयोग असमवायि कारण है, तथा चोर का पाप निमित्तकारण है । सूक्ष्मभिसर्पण इस सूत्र के सूक्ष्म शब्द से सम्पूर्ण लोह, तथा तृण भी सूचित होता है । ऐसा होने से अयस्कान्त (चुम्बक लोह) के समुल्ल सुई आदि लोहे का जाना, तृणवान्त नामक मणि के समुल्ल तृण का जाना, इन क्रियाओं में सुई आदि लोहा समवायि कारण, उस तृण तथा सुई आदि की गमनक्रिया से निम्न मनुष्य का हित (प्रिय) वचना अहित (अप्रिय) होता हो (उसके अदृष्ट वाले आत्मा का संयोग उस तृणादि गमन में असमवायिकारण, तथा उसी का अदृष्ट ही निमित्त कारण है । इसी प्रकार चोर भी जानना, जैसे अग्नि की कथंदेश में गति, वायु की तिर्वक् (निरध्व) बहना, सृष्टि की आदि काल में परमाणुओं में कर्म इत्यादि अदृष्टकारित कर्म हैं ॥ १५ ॥

ननु शरविद्वज्जमालातचक्रादीनामुपरमपर्यन्तमेकमेव कर्म नाना वेति संशये निर्णयहेतुमाह—

इपावयुगपत्संयोगविशेषाः कर्मान्यत्वे हेतुः ॥ १६ ॥

इषाविति पदार्थे सप्तमी । इदमत्राकृतम्—वेगेन मच्छता शरादीनां कुठ्या-
विसंयोगानन्तरं शरादौ सत्येव गत्युपरमो दृश्यते अत्राश्रयनाशस्तावन तत्राशकः
आश्रयस्य विद्यमानत्वात् । विरोधिगुणान्तरञ्च नोपलभ्यते, तेन स्वजन्य- संयोग
एव कर्मनाशक इत्युच्यते । स च संयोगश्चतुर्थक्षणे जातः पञ्चमक्षणे कर्म नाश-
यति । तथाहि—कर्मोत्पत्तिरथ विभातः अथ पूर्वसंयोगनाशः उत्तरसंयोगः कर्म-
नाशः । तेनायुगपत्संयोगविशेषाः कर्मनाशात्पक्षापका इत्यर्थः । संयोगविशेषा

वाण, गद्दी अलातचक्र, इत्यादिको की गति करने तक एक ही क्रिया होती है,
अथवा नाना क्रिया होती है, इस समय में निश्चायक हेतु सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—इषी = वाण में, अयुगपत्संयोग = एककाल में संयोगों का न होना,
कर्मान्यत्वे = क्रिया के नानात्व में, हेतु = कारण है ॥ १६ ॥

भाषार्थ—वेग से जाने वाले वाण में भीत आदि में एककाल में वाण के संयोगों
का न होना वाण में अनेक क्रिया की सिद्धि करना है । यहाँ सूत्र में 'हेतु' यह एक-
वचन आर्प प्रयोग है । क्योंकि 'हेतव' ऐसा बहुवचन विवक्षित है, अर्थात् क्रिया के
अपने से उत्पन्न चतुर्थ क्षण में वर्तमान उत्तरसंयोग से नष्ट होने का नियम होने के
कारण पंचम-पष्ठ आदि क्षणों में स्थिति का असंभव होने से वाण के प्रथम गमन
से लेकर पृथ्वी पर गिरने तक एक क्रिया की वर्तमानता का असंभव होने से भिन्न-
भिन्न अपने-अपने से उत्पन्न उत्तरसंयोग से नष्ट होने वाली अनेक क्रिया होती है,
यह अवश्य मानना पड़ेगा यह सूत्र का तात्पर्य है ।

उपसंसार—सूत्र में 'इषी' यह सप्तमी विभक्ति पठ्य विभक्ति में है । यहाँ सूत्र का
यह तात्पर्य है कि—वेग से जाने वाले वाणों के मध्य में कुछ (भीत) इत्यादिको
में संयोग होने के पश्चात् वाणादिको के रहते ही उनकी गति का उपरम (निवृत्त-
होना) देखने में आता है । इसमें उस वाणगति का आश्रय (वाण) का नाश नाशक
नहीं हो सकता, क्योंकि आश्रय (वाण) विद्यमान है । और विरोधी दूसरा कोई
गुण उपलब्ध नहीं होता, इससे अपने (क्रिया) से उत्पन्न उत्तरसंयोग ही गति-क्रिया
का नाशक है यह जाना जाता है । और वह संयोग क्रिया की उत्पत्ति के चतुर्थ क्षण
में उत्पन्न होकर पंचम क्षण में क्रिया को नष्ट करता है, वह इस प्रकार है कि प्रथम
क्षण में क्रिया उत्पन्न होती है इसके पश्चात् द्वितीय क्षण में विभाग, इसके पश्चात्
तृतीय क्षण में पूर्व संयोग का नाश होता है, पश्चात् चतुर्थ क्षण में उत्तरदेश से
संयोग, पदचात् क्रिया का नाश । इससे एककाल में वाण के उत्तरदेश में संयोग न
होना वाण में गति क्रिया की अनेकता का बोधक है यह सूत्र का अर्थ है । सूत्र

इति । सयोगे विशेष स्वजन्यत्वमेव अन्यथा सयोगमात्रस्य कर्मनाशकत्वे कर्म क्वचिदपि न तिष्ठेत् ॥ १६ ॥

नोदननिष्पाद्यकर्मप्रकरणानन्तरं संस्कारनिष्पाद्यकर्मप्रकरणमारभते—

नोदनादाद्यमिपोः कर्म तत्कर्मकारिताच्च संस्कारादुत्तरं तथोत्तर-
मुत्तरञ्च ॥ १७ ॥

पुरुषप्रयत्नेनाकृष्टया पतञ्जिक्रया शुन्नस्येयोराद्य कर्म जायते, तत्र नोदनमस-
मवाधिकारणम्, इषु समवायिकारणम्, प्रयत्नगुरुत्वे निमित्तकारणे तेन चाद्येन
कर्मणा समानाधिकरणो वेगाख्यः संस्कारो जन्यते । स च वेगेन गच्छतीति
प्रत्यक्षसिद्ध एव । तेन संस्कारेण सत्रेपौ कर्म जायते सत्रासमवायिकारणसंस्कारः,
समवायिकारणमिषु, निमित्तकारणमिषु तीव्रो नोदनविशेषः । यवञ्च पावदिषु
पतनमनुवर्त्तमानेन संस्कारेण उत्तरोत्तरः कर्मसन्तानो जायते स्वजन्योत्तर-

के 'सयोगविशेषा' इस समस्त पद में सयोग में विशेष क्रिया से उत्पन्न होता ही है,
नहीं तो सपूर्ण सयोगो का क्रिया का नाशक होने से क्रिया कहीं भी न रहेगी ॥१६॥

इस प्रकार नोदनसयोग से उत्पन्न क्रियाओं के वर्णन का प्रकरण समाप्त कर
संस्कार से उत्पन्न होने वाली क्रियाओं के वर्णन का प्रकरण सूत्रकार आरम्भ
करते हैं—

पदपदार्थ—नोदनात्=नोदनसयोग से, आद्य = प्रथम, इषो = बाण की, कर्म =
क्रिया होती है, तत्कर्मकारितात् च=और उस क्रिया से कराये हुए, संस्कारात्=
संस्कार से, उत्तर = उत्तर की, तथा = उसी प्रकार, उत्तर च=उसके उत्तर (अनन्तर)
की क्रिया भी होती है ॥ १७ ॥

भावार्थ—धनुष से बाण चलाने वाले वीर पुरुष के अंगुलियों के नोदनसयोग
से चलाये बाण में प्रथम गति क्रिया होती है, जिससे उसी बाण में वेगसंस्कार
उत्पन्न होता है, और उस वेग से उसी बाण में पुनः दूसरी क्रिया उत्पन्न होती
है, अर्थात् जब तक बाण पृथ्वी पर नहीं गिरता तब तक बाण में रहने वाले वेग से
आगे-आगे क्रियाएँ उत्पन्न होती जाती हैं, और उन क्रियाओं से उत्पन्न उत्तर-उत्तर
सयोग से क्रियाओं का नाश होने पर वेगसंस्कार से दूसरी क्रिया उत्पन्न होती है,
इस कारण एक ही संस्कार क्रियासमूह का उत्पादक होता है, न कि क्रियासमूह
(अनेकता) के समान वेग भी अनेक मानना उचित है यह सूत्र का आशय है ॥१७॥

उपस्कार—वीरपुरुष के प्रयत्न से खींची हुई पतञ्जिका (बाण चलाने का
विशेष यन्त्र) से फेंके गये बाण की प्रथम क्रिया होती है, उससे नोदनसयोग असमवा-
यिकारण और बाण समवायिकारण है, प्रयत्न तथा गुरुत्व निमित्त कारण हैं । उस
प्रथम क्रिया से उसी के आधार बाण में वेगनामक संस्कार उत्पन्न होता है, क्योंकि

संयोगेन कर्मणि नष्टे संस्कारेण कर्मान्तरजननादेक एव संस्कारः कर्मसन्तान-जनकः न तु कर्मसन्तानवत् संस्कारसन्तानोऽप्यभ्युपगन्तुमुचितो गौरवादिति दर्शयितुमाह—तद्योत्तरमुत्तरश्चेति, तत्कर्मकारिताच्च संस्कारादित्येकवचनञ्च । न्यायनये तु कर्मसन्तानवत् संस्कारसन्तानस्वीकारे गौरवम् । यत्तु युगपत् प्रक्षिप्त-शरयोरेकस्य तीव्रो वेगोऽपरस्य तु मन्दः, तत्र नोदनतीव्रत्वमन्दत्वे निमित्तम् ॥ १७ ॥

ननु संस्कार एक एव चेत् कर्मसन्तानजनकस्तदा कदाचिदपि शरपातो न स्यात् कर्मजनकस्य संस्कारस्य सत्त्वादित्यत आह—

संस्काराभावो गुरुत्वात् पतनम् ॥ १८ ॥

ब्रह्म बाण वेग से जाता है यह प्रत्यक्ष से ही मिट है । उस वेगसंस्कार से उक्त बाण में पुनः क्रिया उत्पन्न होती है, उसमें वेगसंस्कार असमवायिकारण तथा बाण समवायिकारण है, और तीव्र (कडा) नोदनमयोगविशेष निमित्तकारण है । ऐसा होने से जब तक बाण नहीं गिरता तब तक साथ रहने वाले बाण के वेग से उत्तर-उत्तर (आगे-आगे) क्रियाओं का सन्तान (समूह) उत्पन्न होता है, एक (अपनी क्रिया) से उत्पन्न उत्तरसंयोग से क्रिया का नाश होने पर वेगसंस्कार से दूसरी क्रिया होने के कारण एक ही वेगमस्कार अनेक क्रियाओं को उत्पन्न करता है, न कि अनेक क्रियाओं के समान अनेक वेगसंस्कार मानना उचित है क्योंकि गौरव दोष होगा, यही दिखाने के लिए सूत्र में 'तद्योत्तरमुत्तरश्च' ऐसा कहा है, और 'तत्कर्म-कारिताच्च संस्कारात्' यहाँ एकवचन भी दिया है । पीछे पदार्थवादी नैयायिकों के मत में अर्थात् एक ही संस्कार नाना क्रियाओं के उत्पन्न करे तो एक-एक क्रिया को दूसरी क्रिया का प्रतिबन्धक मानना पड़ेगा, नहीं तो पूर्णतया उत्तरक्षण के संपूर्ण क्रियाओं की एककाल में उत्पत्ति होने लगेगी, इस लिये उस-उस व्यक्तिरूप में प्रतिबन्ध-प्रतिबन्धकभाव मानने की अपेक्षा से उस-उस संस्कार व्यक्ति रूप से विशेष कार्य-कारणभाव मानना ही श्रेष्ठ है । ऐसा मानने में कर्मसन्तान के समान संस्कारों का भी सन्तान (अनेकता) मानने में गौरव दोष होगा । और जो एक काल में छोड़े हुए दो बाणों में से एक बाण का तीव्रवेग और दूसरे का मन्दवेग होता है, उनमें नोदनमयोग की तीव्रता तथा मन्दता क्रम से निमित्त हैं यह जानना ॥ १७ ॥

“वेगसंस्कार एक ही यदि अनेक क्रियाओं का जनक हो तो कभी भी बाण पृथ्वी पर न गिरेगा, क्योंकि क्रियाजनक वेगसंस्कार विद्यमान ही है”, इस शका के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—संस्काराभावे = वेगसंस्कार के न रहने पर, गुरुत्वात् = गुरुत्व के कारण, पतनं = पतनक्रिया होती है ॥ १८ ॥

भावार्थ—पृथ्वी पर गिरने का कारण गुरुत्व बाण में वर्तमान होने के कारण

गुरुत्वन्वायिन् पतनकारणमनुवर्त्तमानमेव । तच्च गुरुत्वं संस्कारेण प्रति-
रुद्धं पतनं नाजीजनत् । अथ प्रतिबन्धकामावे तदेव गुरुत्वं पतनं करोती-
त्यर्थः ॥ १८ ॥

इति श्रीशाङ्करे वैशेषिकसूत्रोपस्कारे पञ्चमाध्यायस्य
प्रथममाह्निकम् ।

वेगस्वरूप प्रतिबन्धक के न रहने पर बाण पृथ्वी पर गिर जाता है ॥ १८ ॥

उपस्कार—गुरुत्व गुण तो पृथ्वी पर गिरने का कारण बाण में वर्तमान है ही ।
वह गुरुत्व वेगस्वरूप से प्रतिबद्ध (रके) होने से अब तक बाण में पतनक्रिया को
गुरुत्व ने नहीं किया था, पश्चात् वेगस्वरूप प्रतिबन्धक के न रहने पर वही गुरुत्व
बाण को पृथ्वी पर गिरा देता है ॥ १८ ॥

इम प्रकार शंकरमिश्रकृत वैशेषिकसूत्रोपस्कार-श्रवणा में
पंचम अध्याय का प्रथम आह्निक समाप्त हुआ ।

पञ्चमाध्याये द्वितीयाह्निकम्

नोदनादिनिष्पाद्यकर्मपरीक्षाप्रकरणम् । तत्राह—

नोदनाभिघातात् संयुक्तसंयोगाच्च पृथिव्यां कर्म ॥ १ ॥

नोदनं संयोगविशेष—येन संयोगेन जनितं कर्म संयोगिनोः परस्परं विभागहेतुर्न भवति. यः संयोगः शब्दनिमित्तकारणं न भवति वा । यः संयोगः शब्दनिमित्तकारणं भवति यज्जनितं कर्म संयोगिनो. परस्परविभागहेतुश्च भवति स संयोगविशेषोऽभिघातः । साध्यामपि प्रत्येकं कर्म जन्यते । पट्टाख्यायां पृथिव्याश्चरणेन नोदनात् चरणाभिघाताच्च कर्म जायते तत्र पट्टः समवायिकारणम्, नोदनाभिघातौ यथायथमसमवायिकारणम्, गुरुत्ववेगमयत्ना यथास-

प्रथमं नोदनादिको से उत्पन्न होने वाले कर्मपदार्थ की परीक्षा का प्रकरण है उसमें सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ = नोदनाभिघातात् = नोदन तथा अभिघात नामक संयोग से, संयुक्त-संयोगात् च = और नोदन तथा अभिघात संयोग से संयुक्त होनेसे भी, पृथिव्या = पृथिवी द्रव्य में, कर्म = क्रिया होती है ॥ १ ॥

भाषार्थ—कीचड़ इत्यादि पृथिवीरूप समवायिकारण में चरण के नोदन तथा अभिघातसंयोगरूप असमवायिकारण से, एक गुरुत्व, प्रयत्न इत्यादि निमित्तकारणों में चलनरूप क्रिया होती है तथा चरण के नोदन अथवा अभिघात से उक्त उस कीचड़ रूप पृथिवी पर संयोगसम्बन्ध से वर्तमान लाह की गोली इत्यादिको में भी चरण से संयुक्त कीचड़ में गोली के संयोगरूप परम्परासम्बन्ध से चलनक्रिया उत्पन्न होती है ॥ १ ॥

उपस्कार—संयोगविशेष को नोदन कहते हैं—जिस संयोग से उत्पन्न क्रिया गमयोगसम्बन्ध के सम्बन्धियों का परस्पर विभाग नहीं होता, अथवा जो संयोग शब्द को उत्पन्न नहीं करता (यहाँ पर जो संयोग-विभाग का कारण नहीं होता यह प्रथम नोदन का लक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि पञ्चमाध्याय के १ आह्निक के १० सूत्र में नोदनाविधेय से उदन्ननिर्दिष्ट होता है, इस उक्ति से नोदन विभाग का कारण होता है ऐसा कहा गया है) इन दोष के कारण द्वितीय लक्षण सत्करमिथ ने किया है । (इस प्रकार नोदन का अर्थ वर अभिघात का लक्षण सत्करमिथ दिखाते हैं कि)—जो संयोग शब्द को उत्पन्न करे, तथा जिनसे उत्पन्न क्रिया मध्योक्त सत्बन्धियों का परस्पर विभाग उत्पन्न करे उसे अभिघात कहते हैं । उन दोनों से भी प्रत्येक क्रिया उत्पन्न होती है । जैसे पट्ट (कीचड़) नाम की पृथिवी पर चरण से नोदन तथा अभिघात से भी जो चलनक्रिया होती है उसमें पट्ट समवायिकारण तथा क्रम से, नोदन और अभि-

म्भव निमित्तकारणम् । संयुक्तसंयोगादिवि । नोदनादभिघाताद्वा पक्षे कर्म तत्पक्षस्थिते घटादावपि तत्समकालमेव कर्मदर्शनात् ॥ १ ॥

ननु भूकम्पादौ नोदनाभिघातावन्तरेण जायमाने किमसमवायिकारणमत आह—

तद् विशेषेणादृष्टकारितम् ॥ २ ॥

तदिति पृथिवीकर्म परामृशति । पृथिव्यामेव कर्म यदि विशेषेण आशयेन भवति तदाऽदृष्टकारितम्, तेन भूकम्पेन यस्य दुःखं सुखं वा भवति अदृष्टतद्वात्मसंयोगस्तथासमवायिकारणम्, भूः समवायिकारणम्, अदृष्टं निमित्तकारणम् ।

पक्षा तथा नोदनाभिघातौ परामृशति । विशेषो व्यतिरेक । तथाच नोदनाभिघानव्यतिरेकेण यत् पृथिव्यां कर्म तददृष्टकारितमित्यर्थः ॥ २ ॥

घात असमवायिकारण एव गुरत्न प्रयत्न जैसा सम्भव हो निमित्त कारण है । सूत्र के 'संयुक्तसंयोगात्' इस उक्ति से नोदन अथवा अभिघात से पृथ्वी में चलनक्रिया तथा उस पक्ष पर स्थित घट आदि पदार्थों में भी जो चलन क्रिया उन्हीं समय देखने में आती है वह चरण से संयुक्त पृथ्वी में घट के संयोगरूप असमवायिकारण से उत्पन्न होती है । (यह संयुक्तसंयोग से क्रिया की उत्पत्तिमयुक्त संयुक्त संयोगादि परम्परा सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाली क्रियाओं की भी सूचक है क्योंकि नीचट में पाद-संयोग से क्रिया होकर उस पर रहने वाले घट तथा उसपर रहने वाले पुरवा दत्तादिकों में भी चलन क्रिया देखने में आती है ॥ १ ॥

“भूकम्प आदि पृथिवीक्रिया में जो बिना नोदन तथा अभिघात के होती है, उसमें क्या असमवायि कारण है ?” इस शब्द के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तद् = वह भूकम्पादि पृथिवी-क्रिया, विशेषेण = विशेष रूप से, अदृष्टकारितम् = प्राणियों के अदृष्ट से उत्पन्न होती है ॥ २ ॥

भाषार्थ—वह भूकम्पादि रूप पृथिवी की क्रिया, विशेषेण = भोगरूप विशेष से, अदृष्टकारितम् = प्राणियों के अदृष्टविशेष से उत्पन्न होती है ॥ २ ॥

उपस्कार—सूत्र में 'तत्' इस पद से पृथिवी की विशेष क्रियाओं का ग्रहण होना है । पृथिवी द्रव्य में ही क्रिया यदि विशेष आशय (भोग) के कारण होती है तो वह प्राणियों के अदृष्ट से होती है । अर्थात् उस भूकम्प (भूडोल) से जिन मनुष्यों को दुःख अथवा सुख होता है, अदृष्टवाले उन आत्माओं का संयोग उसमें असमवायिकारण, पृथिवी समवायिकारण, और अदृष्ट उस स्वप्न में निमित्त कारण है । अथवा 'तत्' इस सूत्र के शब्द में नोदन तथा अभिघात का ग्रहण करना । विशेष शब्द का अर्थ है व्यतिरेक (अभाव) । ऐसा होने से बिना नोदन तथा अभिघात के होने वाली जो पृथिवी में क्रिया होती है । उनमें प्राणियों का अदृष्ट कारण है, ऐसा सूत्र का अर्थ है ॥ २ ॥

इदानीं द्रवद्रव्यसमवेतकर्मपरीक्षाप्रकरणम् । तत्राह—

अर्पा संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम् ॥ ३ ॥

अर्पा यत् पतनं वर्षणरूपं तद्गुरुत्वासमवाधिकारणकम् । सत् संयोगस्य मेघसंयोगस्याभावे सति भवति, तेन संयोगाभावस्त्वग्निमित्तकारणमित्यर्थः ॥३॥
तेषामेव वृष्टिचिन्दूनामन्योन्यसंयोगजनक कर्म कथमत आह—

द्रवत्वात् स्पन्दनम् ॥ ४ ॥

क्षिप्ती पतितानामर्पां विन्दूनां परस्परं संयोगेन महज्जलाशयविश्रोतोरूपं यज्जायते तस्य यत् स्पन्दनं दूरसंसरणं सत् द्रवत्वादसमवाधिकारणादुदयते गुरुत्वान्निमित्तकारणादप्यु समवाधिकारणेयु ॥ ४ ॥

ननु यदि भूमिप्लानामर्पाम् ऊर्ध्वं गमनं भवति तदा गुरुत्वात् पतनवर्षणं

मात्रेण द्रव (पतले) द्रव्यो मे समवायसम्बन्ध से सम्बद्ध कियागो की परीक्षा का प्रकरण है (२) उसमें सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अर्पा = वर्षा के जलो का, संयोगाभावे = प्रतिबन्धक मेघ के संयोग के न रहने पर, गुरुत्वात् = गुरुत्व से, पतनम् = पतन कर्म होता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—प्रतिबन्धक मेघों के परस्पर संयोग के न रहने पर जो जलवृष्टि होती है अर्थात् मेघों से पृथिवी पर वर्षा का, जल गिरता है उसमें जल का गुरुत्व असमवाधिकारण तथा प्रतिबन्धकसंयोग का अभाव निमित्त कारण है ॥ ३ ॥

उपस्कार—जल की जो वर्षारूप पतनक्रिया होती है वह गुरुत्वरूप असमवाधिकारण से होती है किन्तु वह वर्षा मेघों के दृष्ट परस्पर संयोग के न रहने पर होती है, इससे मेघों के संयोग का भाव उन वर्षा में निमित्त कारण है । यह सूत्र का अर्थ है ॥ ३ ॥

उन्ही वर्षा के जल के विन्दुओं के परस्पर संयोग की उत्पन्न करने वाली क्रिया कैसे होती है ? इस प्रश्न के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—द्रवत्वात् = स्वाभाविक द्रवत्व गुण से, स्पन्दनम् = दूर जाना (बहना) होता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—पृथ्वी पर गिरे हुए वर्षा जल के विन्दु परस्पर में समुक्त होकर प्रवाहरूप अवयवि जल के रूप में जो दूर तक बहते जाते हैं यह किया द्रवत्व रूप असमवाधिकारण, तथा गुरुत्वरूप निमित्तकारण जलस्य समवाधिकारण में होती है ॥ ४ ॥

उपस्कार—पृथ्वी पर गिरे हुए जल के विन्दुओं का परस्पर संयोग होने से महत्परिमाणाय प्रवाहरूप जो जलावयवि द्रव्य उत्पन्न होकर उसका जो स्पन्दन अर्थात् दूरतक (संसरण) बहना होता है वह द्रवत्वरूप असमवाधिकारण से उत्पन्न होता है, जो गुरुत्वरूप निमित्तकारण से जलस्य समवाधिकारणों में होता है ॥ ४ ॥

यदि पृथ्वी पर रहने वाला जल भूयस्करण द्वारा आकाश में ऊपर जाय, तब

सम्भाव्यते, तदेव तु कुत इत्यत आह—

नाड्यो वायुसंयोगादारोहणम् ॥ ५ ॥

कारयन्तीति शेषः । यदपामूर्ध्वमारोहणं तत् नाड्यः सूर्यरश्मय एव आरोहयन्त्यप इत्यर्थः । क्वचित् पाठो नाड्यवायुसंयोगादिति । स च नाड्यो नाड्योऽसम्बन्धो यो वायुसंयोग इत्युपपादनीयः ॥ ५ ॥

तनु सूर्यरश्मिना कथमथ महिमा यत् भूमिष्ठा अप ऊर्ध्वं नयन्तीत्यत आह—

नोदनापीडनात् संयुक्तसंयोगान्च ॥ ६ ॥

नोदनेन घलवद्वायुनोदनेन आपोऽनादाशक्रन्दनात् वायुसंयुक्ता रश्मयातिसंयुक्ता आप ऊर्ध्वं धावन्ति यथा स्याज्जोत्था अपः कथ्यमानाः वायुतुम्बहिरश्मय

उस जल का गुस्त्व के कारण वर्षारूप से पृथ्वी पर गिरना हो सकता है, किन्तु पृथ्वी का जल ऊपर क्यों जाता है ? इस शका के समाधान में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—नाड्य = सूर्य की किरणें, वायुसंयोग से, आरोहणम् = जल को ऊपर चढ़ाती है ॥ ५ ॥

भाषार्थ—सूर्य की किरणें पृथ्वी पर जल को वायुसंयोग की सहायता से आकाश में चढ़ाती हैं, इस कारण वह जल गुह्य से वर्षारूप से पृथ्वी पर पुनः गिरता है ॥ ५ ॥

उपस्कार—सूत्र में आकाशित पद की शरकरमिश्र पूर्ति करते हैं कि सूत्र के अन्त में 'कारयन्ति' ऐसा अवशिष्ट पद देना । जिससे जो पृथिवी पर रहने वाला नदी आदि का जल ऊपर आकाश में चढ़ता है उसे सूर्यकिरणरूप नाड्या ही ऊपर चढ़ाती है । कहीं-कहीं 'नाड्यवायुसंयोगात्' ऐसा सूत्र में समस्त पद का भी पाठ दिखाई पड़ता है । और उस नाट्यनाम नाटी-सम्बन्धी जो वायु-संयोग ऐसा अर्थ जानना ॥ ५ ॥

"सूर्य की किरणों की ऐसी महिमा क्यों है ? जो पृथ्वी पर के जल को ऊर्ध्वदेश में ले जाती है । इस शका पर सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—नोदनापीडनात् = नोदनसंयोग से आक्रमण होने के कारण, और वायुसंयुक्त सूर्यकिरणों के संयोग से भी (जल ऊर्ध्वदेश में जाता है) ॥ ६ ॥

भाषार्थ—घलवान् वायु के नोदनसंयोग से आक्रमण होने के कारण वायु से संयुक्त सूर्य की किरणों में संयुक्त होने से पृथ्वीपर का जल ऊर्ध्वदेश में जाता है ॥ ६ ॥

उपस्कार—वल्बान् वायु के नोदनसंयोग से नोदन से आपीडन अर्थात् आक्रमण होने के कारण वायु से संयुक्त सूर्य की किरणों में संयुक्त जल ऊर्ध्वदेश में दौड़ने हैं, जिस प्रकार स्थाली (बटुली) में का जल अग्निपर वयन होने पर वायु से प्रेरित वृत्ति की किरणें जल को ऊर्ध्वदेश में ले जाती हैं । इस सूत्र में 'चकार' का अर्थ है

ऊर्ध्वं नयन्ति । चकार इत्यर्थस्तत्र च उपमानं स्यालीत्या एवापो द्रष्टव्याः ॥ ६ ॥

ननु मूले सिक्तानामपां वृक्षाभ्यन्तरेणोर्ध्वगमनम् अभितः, तत्र न नोदना-
भिघातौ न वाऽऽदित्यरश्मयः प्रभवन्ति, तत् कथं तदित्यत्राह—

वृक्षामिसर्पणमित्यदृष्टकारितम् ॥ ७ ॥

अभितः सर्पणमभिसर्पणं तदभिसर्पणं मूले निषिक्तानामपा वृक्षे तददृष्टका-
रितं पत्रकाण्डफलपुष्पादिवृद्धिदृष्टं दुःखं दुःखं वा येषामात्मनाम् अदृष्टवत्तदात्म-
संयोगादसमवायिकारणात् अदृष्टान्निमित्तादप्यु समवायिकारणेषु तत् कर्म
मवति येन कर्मणा आप ऊर्ध्वं गत्वा वृक्षं वर्द्धयन्तीत्यर्थः ॥ ७ ॥

नन्यथा सांस्तिकिकद्रवत्वं लक्षणमुक्तं तादृशानामेवापामूर्ध्वमभस्तिर्ष्यक्
च गमनमुपपादितं हिमकरकादीनाञ्च शैत्यादप्यवमविवादित्वम्, तत् कथं

उपमा, जिसमें यही स्थाली का जल दृष्टान्त है यह जानना ॥ ६ ॥

मूल (जड़) में सींचा हुआ जल वृक्ष के मध्यभाग से चारों तरफ से ऊर्ध्व-
देश में चढ़ता है, वहां नोदन तथा अभिघात नागक संयोग नहीं है, अथवा सूर्य की
किरणें भी नहीं हैं। तो यह कैसे होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार
कहते हैं—

पदपदार्थ—वृक्षामिसर्पण = वृक्ष के मध्य में जल का चढ़ना, इति=यह, अदृष्ट-
कारितम् = भोक्ता प्राणियों के अदृष्ट से होता है ॥ ७ ॥

भाषार्थ—विना नोदन तथा अभिघातसंयोग एवं सूर्य की किरणों के विना भी
जो जड़ में सींचा हुआ जल जड़ से वृक्ष में चढ़ता है उसमें भोक्ता प्राणियों का अदृष्ट-
कारण है ॥ ७ ॥

उपस्कार—सूत्र में अभिसर्पण शब्द का अर्थ है अभित (चारों तरफ से)
चढ़ना । वृक्ष की जड़ में सींचे हुए जल का वृक्ष के मध्य से चारों तरफ से ऊपर
चढ़ना भोक्ता प्राणियों के अदृष्ट से होता है अर्थात् वृक्ष के पत्र, काण्ड (दांता),
फल, पुष्पादिकों की वृद्धि से उनके भोग से जो मूल अथवा दुःख जिन आत्माओं को
होता है, अदृष्टवाले उन-उन आत्माओं के संयोगरूप असमवायिकारण से तथा
अदृष्टरूप निमित्तकारण से जलरूप समवायिकारण में त्रिया उत्पन्न होती है, जिस
विधा में जल ऊर्ध्वप्रदेश में जाकर वृक्ष को चढ़ाते हैं, यह सूत्र का अर्थ है ॥ ७ ॥

‘जल या स्वाभाविक द्रवत्व लक्षण है’ यह पूर्वग्रन्थ में कहा गया है, जोर स्वाभा-
विक द्रवत्ववाला ही जल वृक्ष में ऊर्ध्वदेश में जाना है तथा तिरछे (चारों तरफ)
भी फैलता है, यह भी उक्त सूत्र में सिद्ध किया है, तथा हिम (बरफ), करका
(ओले) आदि दीतस्पर्शवान् होने से वह जल द्रव्य है यह भी विना विवाद के
सिद्ध है, तो उगमे द्रवत्व वा (सघात) इन्द्रा होना तथा काठिन्य (कड़ापन)

तेषां संघातः काठिन्यम्, कथञ्च विलयनमित्यत आह—

अथ संघातो विलयनश्च तेजः संयोगात् ॥ = ॥

दिव्येन तेजसा प्रतिबन्धादाप्याः परमाणवो द्रव्यणुकमारम्भमाणा द्रव्यणुकेषु द्रवत्वं नारभन्ते ततो द्रवत्वशून्यैरत्यरैर्द्रव्यणुकादिप्रक्रमेण द्रवत्वशून्या हिमकर-
कादय आरभ्यन्ते तेन तेषां काठिन्यमुपलभ्यते । नन्वेव हिमकरकादीनामा-
प्यत्वे किं प्रमाणमतं वक्तुं-विलयनञ्च तेजसंयोगादिभिः । तेजसयोगेन
फलवत्ता हिमकरकारम्भकरपरमाणूनां क्रिया क्रियातो विभागास्तत आरम्भक-
संयोगनाशपरम्परया हिमकरकादिमहावयविनाशस्तत्र द्रवत्वप्रतिबन्धकतेजः
संयोगविगमात् त एव परमाणवः द्रव्यणुकेषु द्रवत्वमारभन्ते । ततो द्रवत्ववत्ता

क्यों है, और उनका विलयन (टिपल जाना) भी क्यों होता है ? इस शका के समा-
धानार्थं सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अपा = जल का, संघात = द्रवत्व का संघात (इकट्ठा होता),
तथा विलयन (टिपल जाना) भी, तेजसंयोगात् = उष्मा (गरमी) रूप तेज के
संयोग से होता है ॥ ८ ॥

भाषार्थ—हिम, करका आदिकों के जलीयद्रव्य होने में किसी का विदाह न
होने के कारण उनमें जो द्रवत्व इकट्ठा देखने में आता है, तथा काठिन्य (कडापन)
उपलब्ध होता है उसमें दिव्य तेज द्रव्य का प्रतिबधक होना, तथा पुन हिम आदि
जलीय द्रव्यों का विलयन (टिपल जाना) भी ऊष्मा (गरमी) रूप तेजद्रव्य
के संयोग से होता है यह भूत का आशय है । अर्थात् विद्युत् (बिजली) रूप दिव्य
तेज के संयोग से उसके सम्बन्ध के तरतम (अधिक, अति अधिक) भाव से मेघों में
वर्तमान जल का संघात तथा विलयन दोनों होते हैं ॥ ८ ॥

उपस्कार—दिव्य (विद्युत्) आदि तेजद्रव्य से प्रतिबन्ध (रुक जाना) होने
के कारण जल के परमाणु द्रव्यणुक अवयवों को उत्पन्न करते हुए द्रव्यणुको में द्रवत्व
को उत्पन्न नहीं करते, इस कारण द्रवत्वगुण से शून्य ही अवयवों से द्रव्यणुकादि अव-
यवि क्रम से द्रवत्वरहित ही हिम तथा करकारूप अवयवि द्रव्य उत्पन्न किये जाते
हैं, इस कारण हिम आदिकों में काठिन्य (कडा) उपलब्ध होता है । इस
प्रकार पृथिवी के समान हिम आदिकों के कठिन होने से वह जलीय द्रव्य है इसमें
क्या प्रमाण है ? इस शका के उत्तर में सूत्रकार ने कहा है—विलयन भी तेज के ही
संयोग से होता है । अर्थात् वल्लवात् दिव्य तेज के संयोग से हिम, करका आदि
अवयवि द्रव्य के उत्पादक परमाणुओं में क्रिया होती है उससे उन परमाणुओं
का विभाग होता है जिनसे पूर्वद्रव्यगुण के आरम्भ करने वाले संयोग का नाश होता
है दम जम से हिम, करका आदि महत् परिमाण वाले अवयवियों का नाश होने
के पश्चात् उन परमाणुओं में द्रवत्व के प्रतिबधक तेजद्रव्य के संयोग के हट जाने से
वही परमाणु द्रव्यणुक रूप अवयवों में स्वाभाविक द्रवत्व को उत्पन्न करते हैं, जिनसे

हिमकरकादीनां विलयनं तत्र च बलवत्तेजोऽनुप्रवेशो निमित्तम् ॥ ८ ॥

ननु बलवद्विद्यतेजोऽनुप्रवेशश्च इत्यत्र किं प्रमाणमित्यत आह—

तत्र विस्फूर्जथुर्लिङ्गम् ॥ ९ ॥

तत्र दिव्यासु अप्सु दिव्यानां तेजसामनुप्रवेशे विस्फूर्जथुर्लिङ्गं वज्रनिर्घोष एव लिङ्गमित्यर्थः । आत्यन्तिकविद्युत्प्रकाशस्त्वावत्प्रत्यक्ष एव तदनुपपद्य स्फूर्जथु सोऽपि प्रत्यक्ष एव, तेनानुमोयते यस्मान्मेघात् करकाः प्रादुर्भवन्ति तत्र दिव्यन्तेजो विद्युद्रूपमनुप्रविष्टं तदुपष्टम्भेन करकारम्भिकाणामपां द्रवत्व-प्रतिबन्ध इति ॥ ९ ॥

अत्रैव प्रमाणान्तरमाह—

वैदिकञ्च ॥ १० ॥

द्रवत्व बाले हिम, करका आदि का विलयन होता है, उसमें भी बलवान् तेज का प्रवेश होना ही निमित्त कारण है ॥ ९ ॥

उसमें बलवान् तेजद्रव्य का प्रवेश होता है इसमें क्या प्रमाण है ? इस शका के समानानाथं सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तत्र = उस (दिव्य तेज के प्रवेश) में, विस्फूर्जथु = वज्रनिर्घोष (बिजली की कड़कड़ाहट) ही, लिङ्ग = साधक प्रमाण है ॥ ९ ॥

भाषार्थ—दिव्यजल में दिव्य (विद्युत् आदि) तेज का प्रवेश होने में विद्युत् का महाशब्द ही प्रमाण है ॥ ९ ॥

सपस्कार—उस दिव्य जल में दिव्य (विद्युत्) आदि तेजद्रव्य का पश्चात् प्रवेश होने में विस्फूर्जथु अर्थात् वज्रनिर्घोष ही (बिजली की कड़कड़ाहट ही) लिङ्ग (प्रमाण) है यह सूत्र का अर्थ है । बहुत अधिक प्रगट होने वाला विद्युत् का प्रकाश प्रत्यक्ष ही दीखता है, उसके पश्चात् ही स्फूर्जथु (बिजली की कड़कड़ाहट) भी, प्रत्यक्ष ही सुनने में आती है । इससे अनुमान किया जाता है कि जिन मेघों से करका (ओले) प्रगट होते हैं, उसमें दिव्य विद्युत् रूप तेजद्रव्य मिला है, उसके उपष्टम्भ (सम्बन्ध) से करका को उत्पन्न करने वाले जल में द्रवत्व का प्रतिबन्ध होता है ॥ ९ ॥

इसी विषय में दूसरा प्रमाण सूत्रकार देते हैं—

पदपदार्थ—वैदिक च = और वैदिक आगम भी प्रमाण है ॥ १० ॥

भाषार्थ—उक्त दिव्य तेज का मेघजल में प्रवेश होने से पूर्ववत्प्रोक्त अनुमान के समान आपस्ता अग्नि गर्भमादधोरन् अर्थात् जल में अग्निरूप गर्भ का स्थापन हुआ, इत्यादि श्रुति भी प्रमाण है ॥ १० ॥

अपां मध्ये तेजोऽनुप्रवेश आगमसिद्ध एवेत्यर्थः । तथाहि “आपस्ता अग्नि गर्भमादधीरन्, या अग्नि गर्भं दधिरे सुवर्णम्” इत्यादि ॥ १० ॥

ननु विस्फूर्जंशु, कथमुत्पद्यते संयोगविभागौ शब्दयोरो तौ च नानुभूयेते इत्यह आह—

अपां संयोगाद्विभागान्च स्तनयित्नोः ॥ ११ ॥

विस्फूर्जंशुरिति शेषः । अग्निः स्तनयित्नो, संयोगविभागौ, निमित्तकारणौ भूय स्तनयित्नोरेवाकाशेन संयोगादसमवायिकारणादाकाशे समवायिकारणे शब्दं गजित जनयत । अत्रविच्छ वायुबलाहकसंयोगविभागौ निमित्तकारणे । बलाहकविच्छसंयोगविभागवसमवायिकारणे । कर्मकारणाधिकारेऽपि प्राप्तं क्रमिदमुक्तम् ।

उपस्कार—दिव्य मेघ जल के मध्यमें दिव्य विद्युदादि तेजद्रव्य का प्रवेश आगम मे निद्व ही है यह सूत्र का अर्थ है । यह इस प्रकार है—‘आप ता = उन जलो ने’ अग्नि गर्भ = अग्निरूप गर्भ को, आदधीरन् = ग्रहण किया, या = जिन जलो ने, अग्नि गर्भ = अग्निरूप गर्भ को, दधिरे=धारण किया, सुवर्ण = सुवर्ण रूप, इत्यादि (आगम) भी दिव्यतेज के प्रवेश में प्रमाण है ॥ १० ॥

‘विस्फूर्जंशु (विद्युत् शब्द)’ जैसे उत्पन्न होता है, क्योंकि संयोग तथा विभाग शब्द के जनक होते हैं, उन दोनों का तो अनुभव होता ही नहीं’ इस शका के उत्तर मे सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अपा = जल का, संयोगात् = संयोग से, विभागात् च = और विभाग मे भी, स्तनयित्नो = मेघ के ॥ ११ ॥

भावार्थ—वायु मे किये हुए मेघ के मध्यवर्ती जलो के संयोग तथा विभाग ही से विद्युत् की विस्फूर्जंशु अर्थात् वज्रनिर्घोष होता है, अत पूर्वपक्षी की शका असंगत है ॥ ११ ॥

उपस्कार—सूत्र मे आकाशित पद ‘विस्फूर्जंशु’ अर्थात् वज्रनिर्घोष होता है यह शेष पद देना । जल से मेघ के वायुकृत संयोग तथा विभाग निमित्त कारण होकर मेघ के ही आकाश के साथ संयोगरूप असमवायिकारण से आकाशरूप समवायिकारण मे गजित (गर्जना) रूप शब्द की उत्पन्न करते हैं (अर्थात् वायु से आवर्ति (उलट्टे पुलट्टे हुए) मेघ के मध्य के जलो के परस्पर अभिघात, अथवा वायु के अभिघात से विस्फूर्जंशु (विद्युत् शब्द) होता है । कहीं-कहीं वायु तथा मेघ के संयोग तथा विभाग निमित्त कारण, तथा मेघ तथा विद्युत् के संयोग तथा विभाग असमवायिकारण होते हैं । कर्मों के कारण के निरूपण का प्रकरण होने पर भी यह यहां पर प्रमाण से सूत्रकार ने निरूपण किया है । अथवा शब्द के असमवायिकारण मेघ तथा आकाश के संयोग अथवा विभाग मे मेघ के जलो का ही नोदन तथा अभिघात

यद्वा मेधाकारासंयोगे विभागे वा शब्दासमवायिकारणे कारणम् अवासेध
नोदनाभिधातजनितं कर्मेति सूचितं, कर्मण एवाधिकारप्राप्तत्वात् ॥ ११ ॥

पृथिवीकर्मणा तेजःकर्म वायुकर्म च व्याख्यातम् ॥ १२ ॥

भूकम्प इत्यदृष्टवदात्मसंयोगः कारणमुक्तम्, तत्रेवाकस्मिकदिग्दाहहेतोस्तेजसः
आकस्मिकवृक्षादिक्षोभहेतोश्च प्रमञ्जनस्य कर्म यत् संजायते तत्राप्यदृष्टवदात्म-
सयोगोऽसमवायिकारणम्, वायुतेजसो समवायिकारणम्, अदृष्टं निमित्तकारण-
मित्यर्थः । कर्मशब्दस्य द्वयावृत्तिर्गोहृकादिकर्मसूचनार्था ॥ १२ ॥

अदृष्टवदात्मसंयोगासमवायिकारणक कर्मान्तरमाह—

अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्य्यक्पवनमणूनां मनसश्चाद्यं कर्मादृष्ट-

से उत्पन्न कर्म ही कारण है । यह सूत्र से सूचित होता है, क्योंकि कर्म ही का निरू-
पण अधिकार से प्राप्त है (इस प्रकार कर्म कारण का ही निरूपण प्रकरण भी
संगत हो जाता है) ॥ ११ ॥

इसी विषयक दूसरे में समानता से सूत्रकार अतिदेश दिखाते हैं)—

पदपदार्थे—पृथिवीकर्मणा=उक्त पृथिवी की क्रिया से, तेजः कर्म=तेजद्रव्य
की क्रिया, वायुकर्म च=और वायु की क्रिया भी, व्याख्यातम्=व्याख्या की
गई ॥ १२ ॥

भाषार्थ—भूकम्प आदि क्रियाओं के समान, अकस्मात् होने वाली दिग्माओ के
दाह की क्रिया तथा वृक्षादिको में कम्प की कारण महावायु की (आधीरूप)
क्रिया भी अदृष्टवान् आत्माओं के संयोगरूप असमवायिकारण तथा अदृष्टरूप निमित्त
कारण से उत्पन्न होती है । ॥ १२ ॥

उपस्कार—भूकम्प के प्रति अदृष्टवान् आत्मा का संयोग असमवायिकारण होता
है यह पूर्वप्रश्न में कहा गया है, उसके समान अकस्मात् (एकाएक-) दिशाओं में
दाह होने की कारण तेज, और अकस्मात् वृक्षादिको के क्षोभ (कम्प) आदि व्या-
कुलता के कारण प्रमञ्जन (महावायु-आधी) की क्रिया जो उत्पन्न होती है उसमें
भी अदृष्टवान् आत्माओं का संयोग असमवायिकारण है, तेज और वायु समवायि-
कारण है, अदृष्ट निमित्त कारण है यह सूत्र का अर्थ है । इस सूत्र में कर्म शब्द की
दो बार आवृत्ति (कहना) महा उत्कादिको की क्रिया को सूचित करता है ।

अदृष्टवान् आत्माओं के संयोगरूप असमवायिकारण से उत्पन्न होने वाली दूसरी
क्रिया को सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अग्ने = अग्नि की, ऊर्ध्वज्वलनं = ऊर्ध्वप्रदेश जलना, वायो =
वायु का, तिर्य्यक्पवन = तिग्छे बहना, अणूनां=परमाणुओं की, मनस च=और मन
की, आद्य = प्रथम, कर्म = क्रिया, अदृष्टकारितम्=अदृष्ट से होती है ॥ १२ ॥

कारितम् ॥ १३ ॥

आद्यमिति । सर्गाद्यकालीनमित्यर्थः । तथा नोदनाभिघातादीनामभावात् अदृष्टवशात्सयोग एव सत्तासमवायिकारणम् । आद्यमूर्ध्वव्यञ्जनम् आद्य निर्व्ययकपवनमिति । इतरेषा व्यञ्जनपवनकर्मणा वेगासमवायिकारणकत्वमेव सन्तुमुचित दृष्टे कारणे-सत्यदृष्टकल्पनानवकाशात् ॥ १३ ॥

अनाद्यं (मन) कर्माधिकृत्याह—

हस्तकर्मणा मनसः कर्म व्याख्यातम् ॥ १४ ॥

मुसलोत्क्षेपणादौ यथा प्रयत्नवशात्संयोगासमवायिकारणं हस्तकर्म तथा-
ऽभिमतविषयप्राप्तिर्ह्येन्द्रिये सन्निकर्षार्थं यन्मनसः कर्म तदपि प्रयत्नवशात्सं-
योगासमवायिकारणकमेव । यद्यप्येन्द्रियं मनो न साक्षात्प्रयत्नविषयस्तथापि

भाषार्थ—अग्नि की ज्वाला का ऊर्ध्वदेश में जाना, वायु का तिर्यक् (तिरछे
चारो तरफ) बहना तथा धुम्रिभ्यादि परमाणुओं से तथा मन से क्रिया की उत्पत्ति
होना यह संपूर्ण कर्म अदृष्ट से होने हैं ॥ १३ ॥

उपस्कार—सूत्र के आद्य शब्द का अर्थ है सृष्टि के आदि काल का कर्म । क्योंकि
उम समय नोदन तथा अभिघात का अभाव होने से अदृष्टवान् आत्माओं का संयोग
ही उसमें असमवायिकारण है । सूत्र में अग्नि आदि की ऊर्ध्वप्रदेश में ज्वाला
का उठना, तथा वायु का तिर्यक् (चारो तरफ) बहना भी
लेना चाहिये, क्योंकि आगे की धूमरी और अग्नि तथा वायु की उक्त क्रियाओं
में वेग ही को असमवायिकारण मानना उचित है, क्योंकि प्रत्यक्ष दृष्ट वेग कारण
के रहते अदृष्ट (न देखने वाले) अदृष्ट को कारण नहीं माना जा सकता ॥ १३ ॥

प्रथम से भिन्न मन की क्रिया के विषय में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—हस्तकर्मणा = मुसलादिकों के उत्क्षेपण में हस्ते की क्रिया से, मनसः =
मन की, कर्म=क्रिया, व्याख्यातम् = व्याख्या की गई ॥ १४ ॥

भाषार्थ—मुसलादिनों की उत्क्षेपण क्रिया में जिस प्रकार प्रयत्नवान् आत्मा
का संयोग असमवायिकारण है यह कहा गया है उससे प्रियंवस्तु के ग्रहण करने वाले
बाह्य इन्द्रिया में सन्निकर्ष होने के लिये जो मन में क्रिया होती है वह भी प्रयत्न-
वान् आत्मा के संयोगरूप असमवायिकारण से ही होती है ॥ १४ ॥

उपस्कार—मुसल की उत्क्षेपणादि क्रियाओं में जिस प्रकार प्रयत्नवान् आत्मा की
संयोगरूप असमवायिकारण से ही हस्त में ऊर्ध्वगमनरूप क्रिया होती है, उसी
प्रकार त्रिभ रूप, रस आदि विषयों को ग्रहण करने वाले चक्षु, जिह्वा आदि इन्द्रियों
में सन्निकर्ष होने के लिये मन की जो क्रिया होती है वह भी प्रयत्नवान् आत्मा के
संयोगरूप असमवायिकारण से ही होती है । यद्यपि मनरूप इन्द्रिय में साक्षात्
प्रयत्न गुण की विषयता नहीं है, तथापि मन को बहाने वाली मनोबह नाम की नाडी

मनोबहनाढीगोचरेण प्रयत्नेन मनसि कर्मोत्पत्तिर्द्रष्टव्या । नाद्यथास्तु त्वगिन्द्रियमाज्ञत्वमङ्गीकर्त्तव्यम्, अन्यथा प्राणबहनाढीचरेण प्रयत्नेनाशितपोतादभ्य-
चहरणमपि ॥ सम्भवेत् ॥ १४ ॥

ननु मनसि कर्म उत्पद्यत इत्यत्रैव न प्रमाणमत आह—

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षात् सुखदुःखे ॥ १५ ॥

सुखदुःखे इत्युपलक्षणं ज्ञानप्रयत्नाद्यपि द्रष्टव्यम् । मनसो वैभवं पूर्वमेव निराकृतम् । अणुव्यस्त साधितम्, युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिश्च मनसो लिङ्गमित्युक्तम्, तेन तद्यदिन्द्रियप्रदेशेन मनःसंयोगमन्तरेण सुखदुःखे न स्थातामेव यदि मनसि कर्म न भवेत्, न भवेच्च पादे मे सुख शिरसि मे वेदनेत्याद्याकारोऽनुभव इत्यर्थः । यद्यपि मनःसन्निकर्षाद्यतः सर्वोऽप्यात्मविशेषगुणस्तथापि सुखदुःखे तीव्रसवेगितयाऽस्तिस्फुटत्वादुक्ते ॥ १५ ॥

विषय का आत्मा के प्रयत्न से मन में क्रिया उत्पन्न होती है यह जानना । उम मनो-
बह नाडी का त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है यह अवश्य मानना पड़ेगा नहीं तो प्राण
को चलाने वाली प्राणबह नामक नाडी में होने वाले आत्मा के प्रयत्न से खाना-
पीना आदि भी न हो सकेगा । अर्थात् भोजनादि रूप प्राणबह नाडी की क्रिया न
होगी, क्योंकि भोजनादिको में प्रवृत्ति प्राणबह नाडी के स्वात् प्रत्यक्ष के कारण से
होती है ॥ १४ ॥

मन में क्रिया उत्पन्न होती है इसी में क्या प्रमाण है ? इस प्रश्न के समाधानार्थ
सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षात् = आत्मा, इन्द्रिय, मन तथा पदार्थों
के सन्निकर्ष से, सुखदुःखे = सुख तथा दुःख होते हैं ॥ १५ ॥

भाषार्थ—आत्मा, बाह्येन्द्रिय, मन तथा पदार्थों के सन्निकर्ष से सुख, दुःख
ज्ञानादि गुण आत्मा में उत्पन्न होते हैं इस कारण मन में प्रयत्नवान् आत्मा के
मन के साथ संयोगरूप असमवायिकारण से मनरूप समवायिकारण में क्रिया अवश्य
माननी होगी ॥ १५ ॥

उपस्कार—सूत्र में सुख और दुःख से ज्ञान, प्रयत्न इत्यादि आत्मा के विशेष गुण
भी सूचित होते हैं यह जानना । मन विशु (व्यापक) नहीं है यह पूर्वधन्य में कहा
गया है । तथा उसमें अणुपरिमाण भी सिद्ध कर चुके हैं । तथा एककाल में अनेक
ज्ञान नहीं होते यह मन का साधक लिङ्ग है यह भी कहा गया है, इससे उन २ बाह्ये-
न्द्रिय प्रदेशों में मन के संयोग के बिना सुख-दुःख इत्यादि आत्मा के गुण नहीं ही
होंगे यदि मन में क्रिया न हो, और यदि मेरे पाद में सुख (आराम) है किन्तु शिर
में वेदना (पीडा) है इत्यादि रूप अनुभव न हो, यह सूत्र का आशय है । यद्यपि
मन के सन्निकर्ष अर्थात् सभी आत्मा के ज्ञानादि विशेष गुण भी उत्पन्न होते हैं तथापि

नन्वेवं यदि चपल मनस्तदा चित्तिनिरोधाभावाद्योगं विना नात्मसाक्षात्कारो, न वा तमन्तरेण मोक्ष इति शास्त्रारम्भवैफल्यमत आह—

तदनारम्भ आत्मस्थे मनसि शरीरस्य दुःखाभावः संयोगः ॥ १६ ॥

विषयेऽप्यलम्पत्ययवत् उदासीनस्य बहिरिन्द्रियेभ्यो व्यावृत्तं मनो यदात्म-
स्थामात्ममात्रनिष्ठ भवति तदा तत्कर्मानुगुणप्रयत्नाभावात् कर्म मनसि नोत्प-
द्यते स्थिरतरं मनो भवति स एव योगः । चित्तिनिरोधलक्षणत्वाद् योगस्य ।
तदनारम्भ इति । मनसः कर्मानारम्भ इत्यर्थः । यद्वा तत्पदेन सुखदुःखे एवाभि-

सूनरार ने सुख तथा दुःख इन्ही दोनों का बड़े वेग से स्पष्ट अनुभव होता है वन
मुक्त तथा दुःख दो ही गुण मूत्र में लिये अन्य गुण नहीं ॥ १५ ॥

‘यदि इस प्रकार मन चपल है तो चित्त का निरोध न हो सकने से, विना योगा-
भ्यास के आत्मा का साक्षात्कार न होगा और उसके विना मोक्ष न होगा, जिससे
मोक्षार्थं ऋणाद महर्षि का वैशेषिकशास्त्र का आरम्भ करना व्यर्थ हो जायगा इस शक्ति
के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदार्थ—तदनारम्भ = मन में क्रिया का आरम्भ नहीं होना, आत्मस्थे =
आत्मा में स्थित होने पर, मनसि = मन के, शरीरस्य = शरीर का, दुःखाभाव =
दुःख का अभाव (होता है) स = वह, योग = योग कहाता है ॥ १६ ॥

भावार्थ—विरक्त प्राणि का बाह्येन्द्रियो के सम्बन्ध से हटा हुआ मन जिस
समय केवल आत्मा के स्वरूप में स्थित होता है उस समय मन में क्रिया उत्पन्न होने
के अनुकूल आत्मा का प्रयत्न न होने के कारण मन में क्रिया उत्पन्न नहीं होती
अर्थात् मन अत्यन्त स्थिर हो जाता है वही योग है अर्थात् उसी समय चित्तिनिरोध-
रूप योग की प्राप्ति होती है ॥ १६ ॥

उपसंसार—शब्दादि सासारिक विषयो में दुःख का अनुभव करने से ‘अस’ (बस
अब नहीं चाहिये) ऐसी बुद्धि होने से विषयो में उदासीन प्राणी का बाह्यचक्षुरिन्द्रिया-
दिको के व्यापार से हटा हुआ मन जिस अवस्था में आत्मा में स्थित केवल आत्मा-
रूप विषय ही में स्थिर हो जाता है उस अवस्था में मन की क्रिया के अनुकूल
आत्मा का प्रयत्न न होने के कारण मन में क्रिया उत्पन्न नहीं होती, अत्यन्त स्थिर
मन हो जाता है वही योग है । क्योंकि ‘योगश्चित्तवृत्तिनिरोध’ अर्थात् मन का सब
विषयो से हटना ही योग है ऐसा पतञ्जलि महर्षि द्वारा किया हुआ योगलक्षण के अनु-
सार चित्तिनिरोधरूप यही योग कहाता है । सूत्र में ‘तदनारम्भ’ इसका अर्थ है
मन की क्रिया का आरम्भ न होना । (आगे उपज्ञात योग में भी जाने वाले
सामान्य योग के लक्षण के अनुसार संकरमिय ‘तदनारम्भ’ इस पद की दूसरी
व्याख्या करते हैं कि)—अथवा ‘तदनारम्भ,’ इस समस्त वेद में ‘तत्’ इस पद से
प्रशान्त (प्रस्तुत) होने से सुख और दुःख का ग्रहण होता है । ‘दुःखाभाव’ इन

धीयेते प्रकान्तत्वात् । दुःखाभाव इति । दुःखाभावसाधनत्वाद्योग एव दुःखा-
भावः “अन्नं वै प्राणा” इतिवत् । यद्वा दुःखस्याभावो यत्रेति चटुवीहिः, शरीर-
स्येति शरीरावच्छिन्नस्यात्मनः स योग इति प्रसिद्धिसिद्धतया तत्पदम्, अयं
स योगः । यद्वात्मपदेनात्र प्राण उच्यते उपचारात् प्राणानुमेयत्वाद्वात्मनः ।
तथाच प्राणवहनद्विधां कर्मणा प्राणकर्मोपि जायते । यद्वा जीवनयोनित्यत्नवदा-
त्मप्राणसंयोगासमवायिकारणक प्राणकर्म । जीवनयोनिश्च यत्नोऽतीन्द्रियः
प्राणसञ्चारानुमेयः, कथमन्यथा सुषुप्त्यवस्थायामपि श्वासप्रश्वासंगतागत-
मिति भावः ॥ १६ ॥

ननु प्राणस्य मनसश्च कर्म यदि प्रयत्ननिमित्तिकं तदा प्राणमनसो यदा

सूत्र के पद का दुःख के जभाव का साधन होने के कारण भोग ही दुःखभाव कहा
जाता है जिन प्रकार प्राण के धारण के कारण अन्न को ही ‘अन्नं वै प्राणा’ अन्न
ही प्राण है ऐसा कहा जाता है । (अर्थात् मन के आत्मा में स्थित होने पर भी तथा
निदिध्यासन-परम्परा में उपयोगी मन की क्रिया होने पर भी योग हो ही सकता है
यह द्वि पक्ष की व्याख्या का आशय है) । ‘यदि दुःखाभाव पद का द्वितीय पक्ष में
दुःख के अभाव के साधन ऐसा अर्थ हो तो लक्षणा करना पड़ेगा’ (ऐसी शका के समा-
धानार्थ शंकरमिथ तृतीय पक्ष से व्याख्या करते हैं कि)—अथवा दुःख का अभाव
जितने ही ऐसा बहुव्रीहि समास करना, और ‘शरीरस्य’ इस पद का शरीरवशिष्ट
आत्मा ऐसा अर्थ करना । ‘स योगः’ यहा ‘स’ पद प्रसिद्धिवाचक लेना, यह वह
योग है (अर्थात् शरीर के सम्बन्ध से जिस अवस्था में आत्मा को दुःख नहीं होता
उमे योग कहते हैं यह तृतीय पक्ष की व्याख्या का आशय है अथवा ऐसा भी
चतुर्थ पक्ष से सूत्र का दूसरा अर्थ हो सकता है) कि अथवा सूत्र में आत्मा पद से
लक्षणा वृत्ति से प्राणरूप औपचारिक अर्थ करना, क्योंकि प्राण से आत्मा का अनु-
मान होना है, ऐसा होने से प्राणवह नाडी में क्रिया होने से प्राण में भी क्रिया
होती है (अर्थात् तदनन्तर में प्राण कर्म का आरम्भ न होने पर, मन के ‘आत्मस्य’
अर्थात् प्राण में स्थित होने पर शरीर-सम्बन्ध में आत्मा को दुःख न होना योग है
यह चतुर्थ पक्ष का आशय है) । (आगे मन इस पद के आत्मारूप अर्थ करने के
आशय से शंकरमिथ पञ्चम पक्ष से सूत्र का अर्थ करते हैं कि)—प्राण में क्रिया
जीवन योनि नामक प्रयत्नवाले आत्मा तथा प्राण के संयोगरूप अगमवायिकारण से
उत्पन्न होती है, यह जीवन योनि नामक अतीन्द्रिय (अप्रत्यक्ष) आत्मा का प्रयत्न
प्राणवायु की संवरण क्रिया (श्वास) आदि से अनुमान द्वारा सिद्ध होता है
नहीं तो सुषुप्ति अवस्था में भी श्वास तथा प्रश्वास का जाना-बाना कैसे हो सकता है
यह सूत्र का आशय है ॥ १६ ॥

मरणावस्थायामपसर्पण-देहाद्बहिर्भवतः, देशान्तरोत्पत्तौ तत्र पुनरुपसर्पण-प्रविशत, तत्र प्रयत्नाभावात्तदुभयमनुपपन्नम्, अशितपोत भक्षणीयादि तस्यापि शरीरावयवोपचयहेतुर्न, संयोगस्तज्जनकं यत् कर्म यच्च गर्भवासद-शायां संयोगविभागजनकं कर्म तेषां कथमुत्पत्तिरित आह—

**अपसर्पणमुपसर्पणमशितपीतसंयोगाः कार्यान्तरसंयोगाश्चेत्य-
दृष्टकारितानि ॥ १७ ॥**

अत्र 'नपुसकमनपुसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्यामि'ति नपुसकनिर्देशः संयो-
गपदश्च तत्कारणे कर्मणि लाक्षणिकम् । अपसर्पणं देहारम्भककर्मक्षयं देहादेव
प्राणमनसोऽहत्कमणम्, उपसर्पणञ्च देहान्तरोत्पत्तौ तत्र प्राणमनसोः प्रवेशनम्,
अशितपोतादिसंयोगहेतुश्च कर्म, कार्यान्तरं गर्भशरीरं संयोगहेतुश्च यत्

'यदि प्राण और मन की क्रिया प्रयत्न से होती है तो जब मरण की अवस्था में प्राणवायु तथा मन शरीर से निकलते हैं अर्थात् शरीर से बाहर होते हैं, और दूसरे शरीर के उत्पन्न होने पर उसमें पुन उपसर्पण अर्थात् प्रवेश करते हैं वहा आत्मा के प्रयत्न न होने से वह निकलना तथा प्रवेश करना दोनों नहीं बन सकती, तथा भक्षण किया हुआ अन्न एवं पीया हुआ जल इत्यादि उनका भी जो शरीर के उपचय (वृद्धि) का कारण संयोग उसको उत्पन्न करने वाली क्रिया, एवं जो गर्भ-वास अवस्था में संयोग तथा विभाग को उत्पन्न करने वाली क्रियाएँ होती हैं उनकी भी उत्पत्ति कैसे होती है', इस आक्षेप के समाधानार्थं सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थः—अपसर्पणं=प्रवेश करना, अपसर्पणं=निकलना, अशितपीतसंयोगा = खाये हुए अन्न तथा पीये हुए जल के संयोग, कार्यान्तरसंयोगा च = और दूसरे कार्यों के भी संयोग, इति = यह संपूर्ण, अदृष्टकारितानि=आत्माओं के अदृष्ट से किये जाते हैं ॥ १७ ॥

भावार्थः—मरणावस्था में (प्राण तथा मन का) पूर्वशरीर से निकल कर उत्तरशरीर में प्रवेश करना तथा शरीर की वृद्धि के कारण खाये हुए अन्न एवं पीये हुए जल का संयोग उत्पन्न करने वाली क्रिया एवं गर्भावस्था में संयोग को उत्पन्न करने वाली दूसरी क्रियाएँ भी भोक्ता प्राणियों के अदृष्ट से होती हैं ॥ १७ ॥

उपस्कारः—इस सूत्र में 'नपुसकमनपुसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम्' इस पाणिनीय व्याकरण-सूत्र के नियमानुसार, अर्थात् नपुसकलिङ्ग-भिन्न शब्दों के साथ नपुसक-लिङ्ग और एकवचन होता है विकल्प से इस कारण 'संयोगा' इस पुल्लिङ्ग-बहुवचन के साथ आये हुए 'उपसर्पणं अपसर्पणं' यह दोनों नपुसकलिङ्ग एकवचन का निर्देश (कथन) है ॥ सूत्र में 'अदृष्टकारितानि' ऐसी उक्ति से संयोगादिक अदृष्ट कारणवाले हैं, तथा उनकी मूलरूप क्रिया अदृष्टवान् आत्मा के संयोगरूप निमित्त से होती है । (इन आशय से शंकरमिश्र आगे कहते हैं)—सूत्र में संयोग पद उसके कारण क्रियारूप अर्थ

कर्म तन् सर्वमहृद्वदात्मसंयोगासमवायिकारणकम् । इतिकारेण धातुमलकर्म-
णामप्यहृद्वदात्मसंयोगासमवायिकारणकत्वं सूचयति ॥ १७ ॥

ननु देहान्तरोत्पत्तेरावश्यकत्वञ्चेत्तदा कथं मोक्ष इत्यत आह—

तदभावे संयोगामावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः ॥ १८ ॥

इदमत्राकृतं—योगबल्लेनात्मतत्त्वसाक्षात्कारे सति तेन च सवासनमिध्याक्षाने
ष्वस्ते तन्निबन्धनानां रागद्वेषमोहानां दोषाणामपायात् प्रवृत्तेरपाये तन्निबन्धन
स्य जन्मनोऽपाये तन्निबन्धनस्य दुःखस्यापाय इति तावदस्तु गतिः । तत्र योगिनो
योगजधर्मबलेन तत्तद्देशकालतत्तत्तुरगमतङ्गजविहङ्गमादिदेहोपभोग्यसुखदुःखा-

को बोध करने के कारण लाक्षणिक है । पूर्वशरीर के उत्पादक कर्मों का नाश होने
पर शरीर से ही प्राण तथा मन के उत्क्रमण (निकलने) को (अपसरण) कहते हैं ।
दूसरे शरीर के उत्पन्न होने पर उसमें प्राण तथा मन के प्रवेश को उपसरण कहते हैं
तथा खाये हुए अन्न एवं पीये हुए जल के संयोग की कारण क्रिया, तथा कार्यान्तर
अर्थात् गर्भ में वर्तमान शरीर, उसके संयोग का भी कारण जो क्रिया होती है । यह
संपूर्ण अष्टवान् आत्मा के संयोगरूप असमवायिकारण से होती है । सूत्र के 'इति'
इस पद से शरीर के मध्य में धातु, मल इत्यादिकों की क्रियाएँ भी अष्टवान्
आत्मा के संयोगरूप असमवायिकारण से उत्पन्न होती है यह सूचित होता है ॥ १७ ॥

“यदि शरीरान्तर (दूसरे शरीर) की उत्पत्ति होना आवश्यक है तो मोक्ष
कैसे होगा’ इस शका के उत्तर में सूत्रकार करते हैं—

पदपदार्थ—तदभावे=अविद्य शरीर के न होने पर, संयोगाभाव = संयोग का
अभाव, अप्रादुर्भाव च = और प्रगट न होना भी, मोक्ष=मोक्ष कहलाता है ॥ १८ ॥

भावार्थ=आत्मसाक्षात्कार से मिथ्याज्ञान के नष्ट होने पर दोष तथा प्रवृत्ति के
नाश के कारण जन्म न होने के कारण पुन शरीर का संबन्ध न होना रूप मोक्ष
होता है ॥ १८ ॥

उपस्कार—यहां सूत्र का यह आकृत (अभिप्राय) है कि—योगसमाधिबल से
आत्मा के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार होने पर उससे वासना-सहित
मिथ्याज्ञान का ध्वस्त होने के कारण मिथ्याज्ञान से होने वाले राग, द्वेष तथा मोह
रूप तीनों दोषों के उत्पन्न न होने से पुण्य तथा पापरूप प्रवृत्ति के न होने से प्रवृत्ति-
मूलक जन्म का अपाय (उत्पत्ति न) होने पर जन्म के कारण होनेवाले दुःख का
अपाय (अनुत्पत्ति) होता है यह वास्तविक सिद्धान्त है । उसमें योगी का समाधि
से उत्पन्न बल से उन-उस देश तथा काल में अन्न, गज, मर्ष, पक्षी आदि शरीरों में
भोग करने के योग्य सुख तथा दुःख के विशेष कारण धर्म तथा अधर्म के समूह का
एक समय भोग करने का विचार कर उन-उन उक्त शरीर-समूह को लेकर सुख-

साधारणकारणधर्मनिकुरम्भमालोच्य तत्तत्कायव्यूह निर्वाह भोगेन पूर्वोत्पन्नधर्मा धर्मयो क्षयः, निवृत्तदोषस्य धर्माधर्मान्तरानुत्पत्तावपूर्वशरीरान्तरानुत्पत्तौ पूर्व-शरीरेण सहात्मनो यः संयोगाभावः स एव मोक्षः तदभाव इति । अनागतशरी-रानुत्पादे संयोगाभाव इत्यर्थः । नन्विद्यमवस्था प्रलयसाधारणीत्यत आह-अप्रा-दुर्भाव इति । यदनन्तर शरीरादेः पुनः प्रादुर्भावो न भवतीत्यर्थः । स मोक्ष इति । तस्यामवस्थाया यो दुःखव्यसः स मोक्ष इत्यर्थः ॥ १८ ॥

तनु तमसोऽपि द्रव्यस्य कर्म दृश्यते षलति छायेतिप्रत्यक्षात्, तत्र न प्रय-त्नो न वा नोदनाभिघातो न वा गुरुत्वद्रवत्वे न वा संस्कारस्तथा च निमित्ता-न्तर वक्तव्यं तच्च नानुभूयमानमित्यत आह—

द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिधर्म्यादिभावस्तमः ॥ १९ ॥

एतेन नचैव द्रव्याणोत्पद्यधारणमप्युपपादितम् । द्रव्यनिष्पत्तिस्तावत्

दु ख में भोग करने के कारण पूव में उत्पन्न हुए धर्म तथा अधर्म का नाश हो जाता है पूर्वोक्त प्रकार से योगजबल ही से दोषों के निवृत्त होने के कारण हमारे धर्म तथा अधर्मों की उत्पत्ति न होने में अपूर्व हमारे शरीर की उत्पत्ति न होने से भी प्रथम शरीर के साथ जो आत्मा के संयोग का नष्ट होना ही मोक्ष है । 'तदभावे इत सूत्र के पद का भविष्य शरीर के उत्पन्न न होने पर संयोग का अभाव होता है यह अर्थ है । यह अवस्था तो प्रलय में भी होती है । इस शका के समाधानार्थ सूत्रकार ने 'अप्रादुर्भाव' ऐसा सूत्र में कहा है । जिसके पश्चात् पुन शरीर इन्द्रिय-आदिकों का प्रादुर्भाव (प्रगटना) नहीं होती यह अर्थ है । 'समोक्ष' इस सूत्र के वाक्य का उस अवस्था में जो दुखों का ध्वस (नाश) है उसे मोक्ष कहते हैं यह अर्थ है ॥ १८ ॥

तम(अन्धकार)नामक द्रव्य की भी क्रिया 'षलति छाया' परछाही षलती है ऐना ज्ञान होने के कारण देखने में आती है, उसमें न प्रयत्न है न नोदन तथा अभिघात नाम के संयोग अथवा गुरुत्व तथा द्रवत्व भी या न संस्कार वेम है, इस कारण इस ज्ञान का कोई दूसरा कारण कहना पड़ेगा, किन्तु उसका अनुभव नहीं होता (मत इसमें क्या कारण है, इस शका के समाधान में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्याति=द्रव्य, गुण तथा कर्म पदार्थ की सिद्धि के विरुद्धधर्म होने के कारण, अभाव = तेजद्रव्य का अभावरूप है, तम = अन्धकार ॥ १९ ॥

भावार्थ—छाया षलती है यह ज्ञान भ्रमात्मक होने के कारण, तथा द्रव्य, गुण और कर्म पदार्थ के लक्षण अन्धकार में न होने से तम तेजद्रव्य का अभाव-रूप है ॥ १९ ॥

उपस्कार—एतेन (सूत्र के तम अभाव पदार्थ है यह कहने से) पृथिवी आदि

स्पर्शवद्द्रव्याधोना । न च तमसि स्पर्शोऽनुभूयते । न चानुद्भूत एव स्पर्श, रूपोद्भवे स्पर्शोद्भवस्यावश्यकत्वात् । पृथिव्यामय नियमः तमस्य दशमं द्रव्यमिति चेन्न द्रव्यान्तरस्य नीलरूपानधिकरणत्वात् नीलरूपस्य च गुरुत्वेनान्तरोप-
कत्वात्, रसगन्धनान्तरोपकत्वात् । यथाऽऽकाश शब्दमात्रविशेषगुणं तथा तमोऽपि नीलरूपमात्रविशेषगुणं स्यादिति चेन्न चाक्षुषाधिकरोधात् । यदि हि नीलरूपवन्नीलं रूपमेव वा तमः स्यात् बाह्यलोकप्रमदमन्तरेण चक्षुषा न गृह्येत् ॥ १९ ॥

तर्हि गतिप्रतीतिः किमिन्द्रियनेत्यत आह—

तेजसो द्रव्यान्तरेणावरणान्च ॥ २० ॥

गच्छतः द्रव्यान्तरेणावृते तेजसि पूर्वदेशानुपलम्भादप्रमदो बोधलम्भात्ते

मन पर्यन्त नव ही द्रव्य हैं यह अवधारण (निर्णय) कहा गया है । द्रव्य की सिद्धि स्पर्शाश्रय द्रव्यों के अधीन होती है और तम में स्पर्श का अनुभव नहीं होता । “तम में अनुद्भूत (अप्रगट) ही स्पर्श है” यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि रूप के उद्भूत होने पर स्पर्शका उद्भूत होना आवश्यक है । यदि ‘पृथिवी द्रव्य में उक्त नियम है, किन्तु तम तो दशम द्रव्य है’ ऐसी पूर्वपक्षी सका करे तो यह नहीं हो सनता, क्योंकि पृथिवी को छोड़कर दूसरा द्रव्य नीलरूप का आधार नहीं होता, और नीलरूप की गुरुत्व गुण के साथ व्याप्ति है, रस और गन्ध की भी नीलरूप के साथ व्याप्ति है, अर्थात् नीलरूपाश्रय में गुरुत्व रस तथा गन्ध अवश्य होते हैं (अतः तम में गुरुत्व, रस तथा गन्ध न होने से नीलरूप की प्रतीति भ्रम है) । यदि ‘जिस प्रकार आकाश द्रव्य केवल शब्दरूप निरूपेण गुण का आधार है उसी प्रकार तम में केवल नीलरूप विशेष गुण मानेंगे’ ऐसा तम को द्रव्य मानने वाला पूर्वपक्षी कहे, तो यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि चाक्षुष-प्रत्यक्ष होने का विरोध होता है, क्योंकि यदि नीलरूप का आधार अथवा नीलरूप ही अन्धकार ही तो, बाह्यप्रकाश के प्रग्रह (स्वीकार) के बिना चाक्षुषिन्द्रिय से गृहीत न होगा ॥ १९ ॥

‘तो अद्वितीय अभाव है तो उसमें ‘तम चलति’ अन्धकार चलता है ऐसा उसमें गति क्रिया के ज्ञान का क्या कारण है ? इन सका के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तेजसः=तेजद्रव्य के, द्रव्यान्तरेण=चलने वाले दूसरे द्रव्य से, अवरणात्=आवरण होने से भी (तम चलता है) ऐसे ज्ञान से प्रतीति होती है ॥ २० ॥

भावार्थ—चलने वाले शरीरादि रूप दूसरे द्रव्य से आवरण (आच्छादन) होने से भी अन्धकार चलता है ऐसी औपाधिक प्रतीति होती है यदि वस्तुतः अभावरूप तम पदार्थ में रूप की आवश्यकता है ॥ २० ॥

सपस्कार—तेज द्रव्य के समन करने वाले दूसरे द्रव्य से आवृत (घिरे)

जोऽभायस्य गच्छद्द्रव्यसाधर्म्याद् मतिभ्रमो न तु वास्तवो तव मतिरित्यर्थः,
अन्वयव्यतिरेकाभ्या तथा प्रतीते. उद्भूतरूपवद्यावत्तेजःसंसर्गाभावस्तम् ॥२०॥

एव द्विसूत्रक प्रासङ्गिकं तम प्रकरण समाप्य कर्मशून्यताप्रकरणमाह—

दिकालावाकाशश्च क्रियावद्वैधर्म्यान्निष्क्रियाणि ॥ २१ ॥

चकारादात्मसंग्रहः । क्रियावता वैधर्म्यं दिगादीनाममूर्तत्व मूर्त्यनुविधानान्
क्रियाया ॥ २१ ॥

गुणकर्मणोर्निष्क्रियत्वमाह—

एतेन कर्माणि गुणाश्च व्याख्याताः ॥ २२ ॥

रहने पर पूर्व (पीछे) के प्रदेश का प्रत्यक्ष न होने, तथा आगे के देश में प्रत्यक्ष होने के कारण, तेज के अभाव में गमन करने वाले द्रव्य के गतिरूप समानधर्म होने से अन्धकार ने गमनक्रिया का भ्रम होता है किन्तु उस तम में वास्तविक (सत्य) रूप गमन नहीं है यह सूत्र का अर्थ है । क्योंकि अन्वय तथा व्यतिरेक (तेज के पीछे आवरक द्रव्य के रहने पर तम चलता है यह प्रतीति होती है न रहने से नहीं होती) ऐसा प्रतीत होता है । एस्मात् उद्भूतरूपाश्च संपूर्ण तजोद्रव्यों का संसर्गाभाव ही तम पदार्थ है ॥ २० ॥

इस प्रकार प्रसङ्ग से प्राप्त दो सूत्र में तम का प्रकरण समाप्त कर तम से शून्य पदार्थों के निरूपण का प्रकरण सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—दिक्कालं = दिशा तथा काल द्रव्य, आकाश च = और आकाश द्रव्य भी, क्रियावद्वैधर्म्यात् = क्रियावान् द्रव्यों के विरुद्ध धर्म होने से, निष्क्रियाणि = क्रिया से शून्य हैं ॥ २१ ॥

भाषार्थ—क्रियावाले पृथिवी आदि द्रव्य मूर्त होते हैं वह मूर्तता दिशा, काल तथा आकाश में न होने के कारण आकाशादिक द्रव्य निष्क्रिय (क्रियारहित) हैं क्योंकि क्रिया मूर्त द्रव्यों में ही रहती है ॥ २१ ॥

उपस्कार—सूत्र के चकार से आत्मा का भीमग्रह होता है क्रियाधार पृथिव्यादि द्रव्यों के साथ दिशा कालादियों में अमूर्तता विरुद्ध धर्म है, क्योंकि क्रिया मूर्तता के साथ रहती है ॥ २१ ॥

गुण तथा कर्म पदार्थों में भी निष्क्रियत्व है यह सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—एतेन = इस क्रियावानो के विरुद्ध धर्म के कथन से, कर्माणि = कर्म-पदार्थ, गुणा च = और गुणपदार्थ भी, व्याख्याता = व्याख्या किये गये ॥ २२ ॥

भाषार्थ—उक्त सूत्र में बड़े हुए क्रियावाले द्रव्यों के अमूर्ततारूप विरुद्धधर्म के कथन से गुण तथा कर्म पदार्थों में भी अमूर्तता होने से गुण तथा कर्म भी क्रिया-रहित हैं यह कहा गया ॥ २२ ॥

एतेनेति । क्रियावद्वैधर्म्येणेत्यर्थः क्रियावद्वैधर्म्यममूर्तत्वं गुणकर्मणोरपोति ते अपि निष्क्रियत्वेन व्याख्याते इत्यर्थः ॥ २२ ॥

ननु गुणकर्मणो यदि निष्क्रिये तदा ताभ्यां द्रव्यस्य कथं सम्बन्धः ? संयोग-सम्बन्धः सम्भाव्येत स च कर्माधीन एवेत्यत आह—

निष्क्रियाणां समवायः कर्मभ्यो निषिद्धः ॥ २३ ॥

निष्क्रियाणां गुणकर्मणां समवाय एव सम्बन्धः, स च कर्मभ्यो निषिद्धः तस्य सम्बन्धस्य उत्पत्तिरेव नास्ति दूरे तु कर्माधीनतेत्यर्थः ॥ २३ ॥

ननु यद्यमूर्तत्वात् गुणाः कर्मसमवायिकारणं न भवन्ति तदा गुणैर्गुणाः कर्माणि च कथमुत्पद्यन्ते न हि समवायिकारणातिरिक्तत्वरूपेणापि कारणता सम्भवतीत्यत आह—

उपस्कार—सूत्र के 'एतेन' इस पद का अर्थ है क्रियावाले द्रव्यों के अमूर्तता-रूप विरुद्ध धर्म से । क्रियावाले पृथिव्यादि द्रव्यों का अमूर्ततारूप वैधर्म्य गुण तथा कर्म पदार्थों में भी है इस कारण वे भी निष्क्रिय है यह व्याख्या किया गया यह सूत्र का अर्थ है ॥ २२ ॥

यदि गुण तथा कर्मपदार्थ क्रियारहित हों तो उन दोनों से द्रव्य का सम्बन्ध कैसे होगा । समोग सम्बन्ध ही होने की सम्भावना है, और वह तो क्रिया के ही अधीन है अर्थात् इस कारण गुण और कर्म क्रियारहित नहीं हो सकते—इस शंका के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—निष्क्रियाणां = क्रियारहित गुण तथा कर्म का, समवाय = समवाय-सम्बन्ध होता है, कर्मभ्यः = जो क्रिया से उत्पन्न, निषिद्ध = (निरूप होने से कर्माधीन नहीं है इस प्रकार) निषिद्ध है ॥ २३ ॥

भावार्थ—क्रियारहित गुण तथा कर्मपदार्थों का द्रव्यों के साथ समवायसम्बन्ध ही होता है जो निरूप होने के कारण कर्म से ही उत्पन्न है यह नहीं हो सकता ॥ २३ ॥

उपस्कार—क्रियारहित गुण तथा कर्मपदार्थों का समवाय ही (द्रव्य पदार्थों के साथ) सम्बन्ध होता है, और वह कर्म पदार्थों से निषिद्ध है अर्थात् उस समवाय की निरूप होने के कारण अब उत्पत्ति नहीं होती तो कर्म से उत्पन्न होता है यह तो दूर रहा—यह सूत्र का अर्थ है ॥ २३ ॥

यदि 'अमूर्त होने के कारण गुण पदार्थ क्रिया के समवायिकारण नहीं होते तो गुणों से गुण तथा कर्म कैसे उत्पन्न होते, क्योंकि समवायिकारणता से भिन्नरूप से कारणता नहीं हो सकती' इस शंका के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

कारणन्त्वसमवायिनो गुणाः ॥ २४ ॥

गुणा असमवायिकारणं न तु समवायिकारणमपि येन कर्माधाराः स्युः । सा चासमवायिकारणता क्वचित् कार्यकार्यसमवायात् यथाऽऽत्मनः संयोग-स्यात्मविशेषगुणेषु संयोगविभागशब्दानां शब्दे । क्वचित् कारणीकार्यसमवायात् यथाऽऽत्मनः संयोगस्यात्मविशेषगुणेषु संयोगविभागशब्दानां शब्दे । क्वचित् कारणैकार्थसमवायात् यथा कपालादिरूपादीनां घटादिरूपादिपु ॥ २४ ॥

ननु इह कर्मोत्पद्यते इदानीं कर्मोत्पद्यते इत्यादिप्रतीतिबलात् दिक्काळावपि कमसमवायिकारणे एव, कथमन्यथा सत्र तयोराधारत्वेत्यत आह—

गुणैर्दिग् व्याख्याता ॥ २५ ॥

यथा गुरुत्वादयो गुणा न कर्मसमवायिकारणममूर्तत्वात् तथा दिग्पि

पदपदार्थ—कारण तु = किन्तु कारण होते हैं, असमवायिन = असमवायि-रूप, गुणा = गुण पदार्थ ॥ २४ ॥

भाषार्थ—यद्यपि अमूर्त होने से गुण किसी कार्य के समवायिकारण नहीं हो सकते, तथापि असमवायिकारण हो सकते हैं, यदि समवायिकारण हो तो उनमें क्रियाधारता माननी होगी ॥ २४ ॥

उपस्कार—गुण पदार्थ असमवायिकारण होते हैं न कि समवायिकारण, जिससे गुण पदार्थ क्रिया के आश्रय हो और वह असमवायिकारणता कही-कही कार्य के साथ एक पदार्थ में सन्निकर्ष होने से होनी है, जैसे आत्मा तथा मन का संयोग आत्मा के ज्ञानादि रूप विशेष गुणों में तथा शब्द में संयोग, विभाग तथा शब्द (क्यों कि ज्ञान शब्द आदि कार्य एक आत्मा तथा आकाश पदार्थ में रहते हैं और वही आत्मा तथा मन का संयोग, और संयोगादिक रहते हैं) । कही-कही समवायिकारण के साथ एक पदार्थ में सन्निकर्ष से, जैसे कपालादिकों के कृपादि गुण घटादि रूपादिकों में (क्योंकि घट रूप का समवायिकारण घटकपालरूप एक पदार्थ में रहता है और वही कपालरूप भी) ॥ २४ ॥

“यहा क्रिया उत्पन्न होती है, इस समय उत्पन्न होती है” इत्यादि प्रतीति के बल से दिशा तथा कालद्रव्य भी क्रिया के समवायिकारण हैं ही, नहीं तो उनमें क्रियाधरता कैसे होगी” इस शका के समाधान में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—गुण = गुण पदार्थों से, दिग् = दिशा द्रव्य भी, व्याख्याता = कही गयी ॥ २५ ॥

भाषार्थ—जिस प्रकार गुण पदार्थ अमूर्त होने से ही क्रिया के समवायिकारण नहीं हैं उसी प्रकार दिशा भी अमूर्त होने से ही क्रिया का समवायिकारण नहीं है ॥ २५ ॥

उपस्कार—जिस प्रकार गुरुत्वादि गुण अमूर्त होने से ही क्रिया के समवायिकारण नहीं होते उसी प्रकार दिशाद्रव्य भी अमूर्त होने से ही क्रिया की समवायिकारण नहीं

न कर्मसमवायिकारणमृतं वादे चेत्पर्यः । आधारता तु समवायितामन्तरेणापि,
कुण्डे यदराणि, कुण्डे दधि, घने सिंहनाद इत्यादिवदुपपद्यत इति भावः ॥२५॥
उक्तेनैवाभिप्रायेणाह—

कारणेन कालः ॥ २६ ॥

निष्क्रियत्वेन व्याख्यात इति परिणम्यानुपपन्नः । कारणेनेति भावप्रधानो
निर्देशः, तेन निमित्तकारणत्वेनाधारमात्रं कर्मणः फलो न तु समवा-
योत्यर्थः ॥ २६ ॥

इति श्रीशाङ्करे वैशेषिकसूत्रोपस्कारे पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयमाहिकम् ।
समाप्तश्चायं पञ्चमाध्यायः ।

होता यह सूत्र का अर्थ है, आश्रय होना तो बिना समवायिकारण होने पर भी होता
है, जैसे इस कूडी में बैर है, इन कूडी में दही है, घन में मिह की आवाज है इत्यादि
प्रतीति में बैर आदिको की कूडी आदि समवायिकारण न होने पर भी बैर इत्यादिको
का आधार होता है । इस प्रकार यह भी हो सकता है यह सूत्र का आशय
है ॥ २५ ॥

इसी अभिप्राय से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—कारणेन = निमित्तकारणरूप से, काल = कालद्रव्य (कहा
गया) ॥ २६ ॥

भावार्थ—द्रव्य के समान कार्यमात्र में निमित्तकारण काल निष्क्रिय होता हुआ
सर्वाधार है यह कहा गया ॥ २६ ॥

उपस्कार—सूत्र में 'निष्क्रिय रूप से व्याख्या किया गया' इस प्रकार पूर्वसूत्र के
श्रीलिङ्ग 'व्याख्याता' इस शब्द का काल शब्द पुल्लिङ्ग होने के कारण पुल्लिङ्ग में परि-
णाम कर सम्बन्ध करना । सूत्र में 'कारणेन' यह धर्म को प्रधान लेकर कहा
गया है, जिससे निमित्तकारणता काल में होने से यह क्रिया में आश्रयमात्र है, न
कि समवायिकारण यह सूत्र का अर्थ है ॥ २६ ॥

इस प्रकार शकार्मभक्त वैशेषिकसूत्रोपस्कार व्याख्या में पंचम अध्याय का
द्वितीय आह्निक समाप्त । तथा पंचमाध्याय भी समाप्त ।

पष्ठाध्याये प्रथमाह्निकम्

संसारमूलकारणयोर्धर्मो धर्मयोः परीक्षा पष्ठाध्यायार्थः । धर्मो धर्मौ च “स्वर्गकामो यजेत” “न कलञ्ज भक्षयेत्” इत्यादिविधिनिषेधबलकल्पनोद्यौ विधिनिषेधवाक्ययोः प्रामाण्ये सति स्याताम् । तत्र प्रामाण्यञ्च वस्तुस्यार्थवाक्यार्थज्ञानलक्षणगुणपूर्वकत्वादुपपद्यते स्वतः प्रामाण्यस्य निषेधादतः प्रथम वेदप्रामाण्यप्रयोजकगुणसाधनमुपक्रमते—

बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे ॥ १ ॥

संसार के मूल कारण धर्म तथा अधर्म की परीक्षा संपूर्ण पष्ठ अध्याय का विषय है । जिन धर्म तथा अधर्म की सत्ता ‘स्वर्गकामो यजेत’ स्वर्गसुख की इच्छा करनेवाला मनुष्य याग कर, तथा ‘न कलञ्ज भक्षयेत्’ कलज न खाये’ इत्यादि शास्त्र में विधान तथा निषेध वाक्यों के बल से मानी जाती है (अर्थात् याग अपने से उत्पन्न व्यापार की आवश्यकता रूप सन्बन्ध से स्वरूप फल का उत्पादक है, स्वरूप फल की उत्पत्ति के पूर्वक्षण में न रहते हुए स्वरूप फल का ‘कालान्तर में जनक होने से, कालान्तर में स्मरण के जनक पूर्वं अनुभव के समान’ इस अनुमान से अनुमेय हैं ।) किन्तु उक्त विधि तथा निषेध वाक्यों में प्रमाणता होने से ही धर्म तथा अधर्म की सत्ता सिद्ध होगी । उक्त विधि तथा निषेध वाक्यों में उन वाक्यों के यक्ता के इन वाक्यों के यथार्थ ज्ञानस्वरूप गुणपूर्वक होने से ही प्रमाण हो सकता है । (अर्थात् उक्त विधि-निषेध वाक्य से उत्पन्न यथार्थ शास्त्रज्ञान में उक्त वाक्य के यक्ता में वर्तमान उक्तवाक्यविषयक यथार्थ ज्ञान का कारण होने के कारण उक्त ज्ञानरूप गुणपूर्वक होने से ही उक्त वाक्यों के शास्त्रज्ञान में यथार्थत्व होने से उसके कारण में प्रमाणता निर्विवाद सिद्ध होती है) । क्योंकि न्यायमत में आगम में स्वयं प्रामाण्य नहीं माना जाता । (अर्थात् ज्ञान की ग्राहक-सामग्री ही से ज्ञान में प्रामाण्य ग्रहण नहीं माना जा सकता क्योंकि अप्रमा (अवधारण ज्ञान) में भी ज्ञान की सामग्री से ग्रहण होना समान होने के कारण वह भी यथार्थ प्रमा ज्ञान ही जायगा, अतः नैयायिक ज्ञान-सामग्री ग्राह्यत्वरूप स्वयं प्रामाण्य ज्ञान में नहीं मानते), इस कारण प्रथम वेदरूप आगम में प्रामाण्य के प्रयोजक का वर्णन करने का आरम्भ करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—बुद्धिपूर्वा = ज्ञानपूर्वक है, वाक्यकृति = वाक्यों की रचना, वेदे = वेद में ॥ १ ॥

वाक्यकृतिर्वाक्यरचना सा बुद्धिपूर्वा-वस्तुयथार्थवाक्यार्थज्ञानपूर्वा वाक्य-
रचनात्वात् नदीतीरे पञ्चफलानि सन्तीत्यस्मदादिवाक्यरचनावत् । वेद इति,
वाक्यसमुदाय इत्यर्थः । तत्र समुदायिनां वाक्यानां कृतिः पक्षः । न चास्मदा-

भावाय—जो-जो प्रामाणिक वाक्यरचना होती है वह-वह वक्ता के यथार्थ
वाक्यार्थ के ज्ञानपूर्वक होती है, वाक्यरचना होने से नदी किनारे पाच फल हैं, दग
हम लोगो के वाक्य की रचना के समान' इस अनुमान से वेद का वक्ता आत्मपुरुष है
जिसके यथार्थ वेद वाक्यार्थ ज्ञान गुण से उत्पन्न होने के कारण वेद में प्रामाण्य है—
यह सिद्ध होता है ॥ १ ॥

उपसकार—सूत्र के 'वाक्यकृति' शब्द का अर्थ है 'वाक्यो की रचना, बुद्धि-
पूर्वक अर्थात् वाक्य वक्ता के यथार्थ वाक्यार्थ ज्ञानपूर्वक है, वाक्यरचना होने से
नदी के तीरे पर पाच फल हैं, इत्यादि हम जीवात्माओं की वाक्यरचना के समान'
यह अनुमान सूत्र से सूचित होगा है (इस अनुमान में वाक्यरचनारूप हेतु का
प्रमाणभूत वाक्यरचना ऐमा अर्थ करना, नही तो विप्रलम्भक (ठगनेवालो)
के वाक्य में व्यभिचार दोष आ जायगा । आकाक्षा-योग्यतादि युक्त पदसमुदायरूप
रचना वक्ता के यथार्थज्ञानपूर्वक इस प्रकार होनी है—कि प्रथम वक्ता को वाक्यार्थ-
विषय में यथार्थ ज्ञान होता है, अनन्तर उस वाक्यार्थ-ज्ञान में प्रानाण्य ज्ञान होता
है, इसके पश्चात् मेरे वाक्य को सुननेवाले मनुष्य को इस वाक्य से यथार्थ ज्ञान हो
ऐसी इच्छा होती है, पश्चात् दूसरे को उस वाक्य से यथार्थ ज्ञान होना मुझे इष्ट
है ऐसे ज्ञान से वाक्य करने की इच्छा होती है, पश्चात् मैं इस वाक्य को कह
सकता हूँ इस प्रकार कृतिसाध्यता ज्ञान की सहायता से वाक्यरूप इष्टसाधनता,
ज्ञान से कण्ठ, तालु आदि शब्द के उत्पादक अभिघातसंयोग करने की इच्छा होकर
वक्ता की वाक्य बोलने में प्रवृत्ति होती है जिससे कण्ठ-तालु आदिको का अभिघात
रूप वाक्य का उच्चारण होता है, जिससे प्रमाण शब्दरूप वाक्य उत्पन्न होता है,
किन्तु यह प्रक्रिया नवीन नैयायिको के मत से है क्योंकि उनके मत से शब्द ज्ञान में
वाक्यार्थ के यथार्थज्ञानवान् पुरुष से यह वाक्य उच्चरित है, इस निश्चय के समान
शब्द ज्ञान की यथार्थतामें वाक्यार्थ के यथार्थ ज्ञानवाले पुरुष से उच्चारित
है इसमें यथार्थता भी कारण है । कारणरूप यथार्थता वक्ता के यथार्थज्ञान के
बिना नहीं हो सकती इत्यादि विषय विद्वानो को स्वयं विचार लेना चाहिये)। (आगे
शंकरमिश्र कहते हैं कि)—सूत्र में 'वेदे' इस पद या वेदवाक्यो के समूहमें । उसमें
समुदायवाले वाक्यो की रचना उक्त अनुमान में पक्ष है । पूर्वपक्षी यह नहीं कह
सकता कि 'हमारे ऐसे जीवात्माओं की कृति लेकर वेद-वाक्यो में अन्यथासिद्धि
(अर्थात् जीवात्मा-वृत्त वेदवाक्य-रचना होने से वेदवक्ता ईश्वर की सिद्धि न हो

दिवुद्धिपूर्वकत्वेनान्यथासिद्धिः, “स्वर्गकामो यजेत” इत्यादाविष्टसाधनतायाः कार्यताया वा अस्मदादिवुद्धयोचरत्वात् । तेन स्वतन्त्रपुरुषपूर्वकत्वं वेदे सिद्धयति । वेदत्वञ्च शब्दसदुपजीविप्रमाणातिरिक्तप्रमाणजन्यप्रमित्यविपर्यय-कत्वे सति शब्दजन्यवाक्यार्थज्ञानाजन्यप्रमाणशब्दत्वम् ॥ १ ॥

नरेगी) क्योंकि ‘स्वर्गकामो यजेत’ स्वर्गसुख की इच्छा करने वाला याग करे—
इत्यादि वेदवाक्यों में पूर्वप्रदर्शित प्रकार से इष्टसाधनताज्ञान अथवा कार्यता-
ज्ञान हमारे ऐसे जीवात्माओं की बुद्धि का विषय नहीं हो सकता । (यह कर्मतारूप
द्वितीय पक्ष भीमात्मक गुरुओं के मत से है, क्योंकि वे लिङ् लकार की कार्य में
शक्ति मानने हैं । जिससे ‘यजेत’ इस शब्द से ‘याग मेरे कृति के साध्य है’ (याग
में कर सकता हूँ) । इन प्रकार याग करने की प्रवृत्ति में उपयोगी शब्दज्ञान होता
है, जिससे सुननेवाला याग कम करने में प्रवृत्त होता है । और न्यायमत में ‘याग
मेरे इष्ट का साधक है’ इस प्रकार इष्टसाधनता-ज्ञान आख्यात का अर्थ है, इस
कारण श्यामभन में लिङ् के सुनने पर इष्टसाधनता-ज्ञान से ही यागकर्म में
प्रवृत्ति होती है । ऐसा होने से याग के फलरूप इष्ट (प्रिय) स्वर्ग के हमारे ऐसे
जीवात्माओं की बुद्धि के विषय न होने के कारण वेदवाक्य से ही यागकर्म में स्वर्ग
का याग साधन है यह बोध होता है, अतः अन्यथासिद्धि दोष नहीं हो सकता ।
(शंकरमिश्र आगे कहते हैं कि)—हम जीवों की बुद्धि के विषय न होने के कारण (अर्थात्
जीवों के बाधमानसहित वेदवाक्यों के समर्थ ज्ञानवाले वक्ता के होने कारण)
वेद में स्वतन्त्र (ईश्वररूप) वक्ता से उक्त होना सिद्ध होता है । वेद में—शब्द
ज्ञान तथा शब्द के उपजीवी (शब्दानुसार चलनेवाले) अर्थापत्ति आदि प्रमाणी से
भिन्न जो प्रमाण उनके विषय न होते हुए शब्द से उत्पन्न वाक्यार्थ-ज्ञान से उत्पन्न
न होने वाले प्रमाण शब्दरूप होना ही वेदत्व है (अर्थात् यह वेद का लक्षण है)—
व्यास के प्रत्यक्ष से देखाये हुए महाभारत युद्ध के वृत्तान्त में अतिव्याप्ति कारण के
लिये उक्त वेद के लक्षण में ‘सति’ तक विशेषण पद दिया है । तथा असम्भव दोष के
वारणाथ प्रमिति में जन्यपर्यन्त विशेषण दिया है । यदि शब्दज्ञान से भिन्नता
मात्र प्रमाण में विशेषण दें तो वेद के विषय अनुमान ज्ञान के विषय होने से असम्भव
दोष, तथा शब्दोपजीवी प्रमाण से भिन्नतामात्र विशेषण दें तब भी असम्भव दोष
होगा, क्योंकि प्रमाणरूप वेदरूप शब्द ज्ञान से (जो शब्द ज्ञान के उपजीवि
प्रमाणी से भिन्न है) वेद के अर्थ का ज्ञान होता है, अतः दोनों विशेषण उक्त
लक्षण में दिये हैं । तथा विशेष्य भाग में वेद के अर्थ के निश्चय के उत्तरकाल में
प्रतीत हुए अदृष्ट अर्थवाले महाभारत के विशेष भागों में अतिव्याप्ति दोष-वार-
णाथ अजर्यपर्यन्त विशेषण दिया है । निरर्थक शब्द में उक्त दोषवारण के लिये

प्रकारान्तरेण वेदवाक्यानां बुद्धिपूर्वकत्वमाह—

ब्राह्मणे संज्ञाकर्म सिद्धिलिङ्गम् ॥ २ ॥

ब्राह्मणमिह वेदभागस्तत्र यत् संज्ञाकर्म नामकरणं तत् व्युत्पादकस्य बुद्धिमाक्षिपति, यथा लोके लम्बकर्ण दीर्घनास-लम्बग्रीवादिनामकरणम् ॥ २ ॥

प्रकारान्तरमाह—

बुद्धिपूर्वो ददातिः ॥ ३ ॥

शब्द में 'प्रमा' विशेषण, तथा शब्द ज्ञान के अधीन परामश में उक्त शेष के ही धारणाएँ 'शब्द' पक्क दिया है) ॥ १ ॥

दूसरे प्रकार से वेदवाक्यों में बुद्धिपूर्वकत्व मिट्ट करने के लिये सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—ब्राह्मणे = ब्राह्मण नाम के वेदभाग में, संज्ञाकर्म=नाम का धारणा, सिद्धिलिङ्ग=बुद्धिपूर्वकता का साधक लिङ्ग है ॥ २ ॥

भाषार्थ—वेदवाक्य की रचना में बुद्धिपूर्वकत्व के समान वेद के ब्राह्मणभाग में नामका रखना भी नामानुसार व्युत्पत्ति के अर्थ के जानने वाले, नाम रखने वाले पुरुषविशेष के बुद्धिपूर्वकता का साधक लिङ्ग है ॥ २ ॥

उपसंहार—सूत्र में 'ब्राह्मण' शब्द से वेद का विशेष भाग लेना, उसमें जो संज्ञा-कर्म अर्थात् शब्द के व्युत्पत्तिपूर्वक नाम का रखना भी व्युत्पत्ति-ज्ञान रखनेवाले नाम कर्ता के बुद्धि का साधक लिङ्ग है। इसी कारण 'योऽरोदीत् स रोदीत् एद्र किल दरोद' अर्थात् जो रोया वह रोदन है, एद्र ने रोदन किया। इत्यादि ब्राह्मण में रोने के कारण 'एद्र' यह नामकरण किया है ऐसा उपलब्ध होने के कारण उक्त नाम-कर्ता को एद्र इत शब्द की व्युत्पत्ति का ज्ञान होने से भी वेदवाक्यों में बुद्धिपूर्वकता मिट्ट होती है।

(इस सूत्र में 'ब्राह्मण' इरा शब्द से ब्राह्मण = नामक वेद का भाग (अंश) लेना, उसमें जो संज्ञाकर्म अर्थात् नाम का करना है, वह भी व्युत्पादक (व्युत्पत्तिज्ञानपूर्वक नाम रखनेवाले) के बुद्धि का आक्षेप करता है अर्थात् साधक है, जिस प्रकार लोक-व्यवहार में लम्बे कान होने से लम्बकर्ण, दीर्घनासिका के कारण दीर्घनास, तथा लम्बी ग्रीवा (गदन) होने से लम्बग्रीवादि नाम का रखना, नाम रखनेवाले व्युत्पत्ति-विषयक बुद्धि का साधक होता है) ॥ २ ॥

उक्त विषय में और दूसरा प्रकार सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—बुद्धिपूर्व = ज्ञानपूर्वक है, ददाति = वेद में 'ददाति' देता है—ऐसा वाक्य ॥ ३ ॥

भाषार्थ—संज्ञाकर्म के समान वेद शास्त्र में उपलब्ध होने वाला 'स्वर्गकामो गा इच्छात्' अर्थात् 'स्वर्गसुख की इच्छा करनेवाला प्राणी गौ का दान करे' इन दानों

“स्वर्गकामो गा दद्यात्” इत्यादौ यद्दानप्रतिपादनं तद्दानेष्टसाधनताज्ञानजन्यम् । ददातिरिति घातुनिर्देशो घात्वर्थं दानमुपलक्षयति ॥ ३ ॥

प्रमाणान्तरमाह —

तथा प्रतिग्रहः ॥ ४ ॥

प्रतिग्रहप्रतिपादिका अपि श्रुतयो बुद्धिपूर्विकाः । प्रतिग्रहपद स्वविषया श्रुतिमुपलक्षयति । तेन मूल्यादिप्रतिग्रहप्रतिपादिका- श्रुतयः, प्रतिग्रहीतुं श्रेय-साधनतापराः । कृष्णसारस्वतीदिप्रतिग्रहप्रतिपादिका श्रुतयः प्रतिग्रहीतुरनिष्ट-साधनताबोधिकाः । न चेष्टानिष्टसाधनते अर्वाचीनपुरुषबुद्धि-गोचरौ भवितुमर्हतः ॥ ४ ॥

इदानीं “शास्त्रदेशित फलमनुष्ठातरि” इति जैमिनोयं सूत्रं संवाचयन्नाह—

की विधि से भी ‘दद्यात्’ का प्रयोग कर्त्ता बुद्धिमान् कोई स्वतन्त्र वक्ता है (जिनके हमारे ऐसे जीवात्मा वक्ता नहीं हो सकते) यह सिद्ध होता है ॥ ३ ॥

उपस्कार—‘स्वर्गकामो गा दद्यात्’ इत्यादि रूप वेदशास्त्रो के दान के विधि करनेवाले वाक्यों में जो दान का वर्णन है वह दान मेरा इष्ट (सुख) का साधन है इस ज्ञान से उत्पन्न है । सूत्र में ‘ददाति’ इस प्रकार जो ‘दा’ घातु का निवेदन (कथन) है, वह इस ‘दा’ घातुके ‘दुदान् दाने’ इस व्याकरण सूत्र के अनुसार दान-रूप श्रिया का सूचक है ॥ ३ ॥

इसी विषय में हमारा प्रमाण देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तथा = इसी प्रकार, प्रतिग्रह = दान लेने की विधि भी वेद में बुद्धि-पूर्वकता की साधक है ॥ ४ ॥

माधार्थ—दान-प्रतिपादक वेदों के समान दान स्वीकाररूप प्रतिग्रह को वर्णन करनेवाली श्रुतिया स्वतन्त्र पुरुष बुद्धिपूर्वक है यह सिद्ध करती है ॥ ४ ॥

उपस्कार—प्रतिग्रह (दान के स्वीकार) को वर्णन करने वाली श्रुतिया भी बुद्धिपूर्वक हैं । सूत्र में ‘प्रतिग्रह’ यह पद (स्व) अपने (प्रतिग्रह) विषय को वर्णन करने वाली श्रुतियों का सूचक है । इससे पृथ्वी, सुवर्ण आदिको के दान लेना रूप प्रतिग्रह को वर्णन करनेवाले वेद तथा शास्त्रप्रतिग्रह करनेवाले (दान लेने वाले) की प्रतिग्रह श्रेय (कल्याण) साधन है यह सिद्ध होता है । तथा कृष्णसार नामक मृग के चर्म आदिको के प्रतिग्रह से प्रतिग्रह लेनेवाले मनुष्यों का अनिष्ट (दुःख) के साधक है यह भी बोधित होता है । इस वेदशास्त्रो में इस प्रकार शुभ तथा अशुभ वस्तुओं के प्रतिग्रहों में क्रम से इष्ट तथा अनिष्ट का साधन होना, यह हमारे ऐसे नवीन पुरुषों की बुद्धि में विषय नहीं हो सकते ॥ ४ ॥

साप्रत ‘शास्त्रदेशित फलमनुष्ठातरि’ इस सूत्र में कहा हुआ पुण्य तथा पापकर्म

आत्मान्तरगुणानामात्मान्तरेऽकारणत्वात् ॥ ५ ॥

आत्मान्तरगुणानां यागहिंसादिपुण्यपापानाम् आत्मान्तरे यो सुखदुःखा-
श्मकी गुणौ तयोरकारणत्वात् । एवञ्च प्रत्यात्मनिष्ठाभ्यामेव धर्माधर्माभ्यां
सुःखदुःखे न व्यधिकरणाम्यामन्यथा येन यागहिंसादिक न कृतं तस्य तत् फलं
स्यादिति कृतहानिरकृताभ्यागमश्च प्रसज्यते ।

ननु नायं नियमः पुत्रेष्टिपितृयज्ञादौ व्यभिचारात् । तथाहि पुत्रेण कृतस्य
आद्धादेः पितरि फलश्रवणात् पित्रा च कृतायाः पुत्रेष्टेः पुत्रे फलश्रवणात् । न

का फल कर्ता को होता है' इस आशय के जैमिनि महर्षि के पूर्वमीमांसकों को
अभिप्रेत मत के प्रस्तुत विषय में समानता से प्रमाणता दिखाते हुए सूत्रकार
कहते हैं—

पदपदार्थ—आत्मान्तरगुणानां = दूसरे आत्माओं के गुणों के, आत्मान्तरे =
भिन्न दूसरे जीवात्माओं में, अकारणत्वात् = कारण न होने से ॥ ५ ॥

भावार्थ—दूसरे आत्मा के याग, हिंसा इत्यादि पुण्य तथा पापरूप गुणों के
उससे भिन्न दूसरे जीवात्माओं के जो सुख तथा दुःखादि रूप गुण उत्पन्न होते हैं
उनमें कारण न होने के कारण प्रत्येक जीवात्माओं में वर्तमान ही धर्म तथा अधर्म
से सुख तथा दुःख प्रत्येक आत्मा को होता है न कि दूसरे आत्मा के धर्माधर्मरूप
गुण से दूसरे जीवात्मा में सुख-दुःखरूप कार्य होता है, ऐसा नियम न
हो तो जिसने याग अथवा हिंसा नहीं किया उसे भी वह फल होगा जिससे
कृत पुण्य-पाप कर्म के फल की हानि तथा न किये फल की प्राप्ति होने की आपत्ति
अर्थात् कृतहानि तथा अकृताभ्यागम दोष होगा ॥ ५ ॥

उपस्कार—दूसरे आत्मा के याग, हिंसा आदि पुण्य तथा पापरूप विशेष गुण,
उन्में भिन्न दूसरे जीवात्माओं को होनेवाले जो सुख तथा दुःखरूप कार्य गुण, उनके
कारण नहीं होते । ऐसा नियम होने में प्रत्येक जीवात्माओं में वर्तमान ही धर्म तथा
अधर्म में सुख तथा दुःख कार्य गुण उत्पन्न होते हैं, न कि व्यधिकरण (भिन्न आत्माओं
के) धर्म तथा अधर्म से, अन्यथा (ऐसा न हो तो) जिस मनुष्य ने याग, तथा
हिंसा आदि पुण्य तथा पापकर्म न किया हो उसकी आत्मा को उस पुण्य तथा पाप-
कर्म का सुख तथा दुःखरूप फल प्राप्त होने के कारण किये हुए पुण्य तथा पाप के फल
सुख तथा दुःखफल की हानि, तथा न किये पुण्य तथा पापकर्म के फल सुख तथा
दुःखफल की प्राप्तिरूप कृतहानि तथा अकृत का अभ्यागम (प्राप्ति) ऐसे दोनों
दोष प्राप्त होंगे । (उक्त शास्त्र में कहा हुआ फल कर्ता को प्राप्त होता है इस मीमांसक
मत में व्यभिचार दोष की शका पूर्वपक्षी के मत से शकरमिय दिखाते हैं कि) —
शास्त्रोक्तकर्मफल कर्ता को ही प्राप्त होता है यह नियम नहीं हो सकता, क्योंकि

च स्वर्गभागिपितृकत्वस्य तेजस्विपुत्रकत्वस्य च फलस्य पुत्रपितृगामितया सामानाधिकरण्यमेवेति वाच्यम्, श्रुतिविरोधात् पितृवृत्त्यादेः पुत्रतेजस्वितादेरेव फलस्य श्रवणात् फलान्तरस्य च गौरवपराद्वत्त्वात् । अस्तु तर्ह्यपूर्वफलं कर्त्तरि स्वर्गस्तु पितरीति चेन्न, व्यापारस्य फलसामानाधिकरण्यनियमात्, अन्यथा आद्यानन्तर मुक्ते पुत्रे पितुः स्वर्गो न स्यात् । न स्यादिति चेन्न मुक्ते पितरि साक्षादपि आद्यान् फलं न स्यादिति तुल्यत्वात् ।

‘पुत्रेष्टि’ पुत्र होने के लिये यज्ञ करना तथा (‘पितृयज्ञ’ पितरों के उत्तमलोक प्राप्ति के लिये किये विनृयज्ञ) पितृयाग आद्य आदि रूप कर्म से व्यभिचार होता है, वह इन प्रकार के पुत्र के किये थादादिकर्म से पितरों की उत्तम लोक प्राप्तिरूप फल की प्राप्ति होती है, ऐसा शास्त्रो में सुना जाना है । और पिता के किये हुए ‘पुत्रेष्टि’ पुत्रयज्ञ से पुत्र में फल होना शास्त्र में सुना जाता है । यहा पर ‘स्वर्ग को प्राप्त होनेवाले जिसके पितर हो’ इस प्रकार अर्थ करने से पितृयज्ञ थाद का फल पुत्र में, तथा तेजस्वी पुत्र जिसका हो ऐसा अर्थ करने से पिता में फल होने के कारण एक ही आत्मा में कर्म तथा फल होने के कारण सामानाधिकरण्य (एक में कर्म तथा फल का रहना) हो सकता है तो व्यभिचार दोष क्यों होगा’ ऐसी मध्यस्थी सका नही कर सकता, क्योंकि ऐसा अर्थ करने से श्रुति का विरोध होगा, क्योंकि थाद का पितरों की वृत्ति होना इत्यादिक ही तथा पुत्रेष्टि का तेजस्वी पुत्र होना ऐसा पुत्र में ही तेजस्वी होना फल कहा है, उक्त शाका के अनुमार अर्थ करने—दूसरा फल मानना अन्य पदार्थ प्रधान बहुव्रीही समाप्त में अन्य पदार्थकी कल्पना करनेके कारण गौरव दोष होने से यह अर्थ पराहत (नष्ट) होगा । (उक्त पूर्वपक्षी के मत पर किसी की शाकाके आशय से शंकरमिश्र कहते हैं कि)—यदि ऐसा है तो पुत्रेष्टि तथा थाद करनेवाले पिता तथा पुत्र में उक्त कर्मों से उत्पन्न अपूर्व (अदृष्ट) रूप फल मानेंगे, और स्वर्गरूप फल पिता में और तेजस्विता पुत्र में मानेंगे, ऐसा होनेसे अपूर्व तथा मागादि एक ही में रहते हैं । यह नियम नही है तो यह भी नही हो सकता, क्योंकि मध्यवर्ती व्यापार का फल के साथ रहने का (सामानाधिकरण्य) का नियम है (अर्थात् करण तथा व्यापार के एक ही आश्रय में रहने का नियम माननेवाले वादी आपकी भी फल तथा मध्यवर्ती व्यापार का एक आश्रय में रहने रूप सामानाधिकरण्य मानना ही पड़ेगा) । अन्यथा (व्यापार तथा फल का सामानाधिकरण्य न मानने से) थाद के परचात् पुत्र के मरने पर पिता को स्वर्गरूप फल न होगा (अर्थात् मध्यवर्ती अपूर्व के न होने से पिता को स्वर्ग न होगा) । (इस पर इष्टपत्ति (स्वीकार) रूप दोष की शंका दिखाते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—पिता को स्वर्ग न हो ऐसा हम मान लेंगे तो ऐसा नही कह सकते, क्योंकि पिता के मुक्त होने पर साद्व थाद करने पर भी स्वर्गरूप फल न हो यह समान है । (अर्थात् मागादि कर्मों का

मैवम् । 'शास्त्रदेशित फलमनुष्ठातरि' इत्यस्योत्सर्गत्वात् क्वचिद् धलवता धापकेनापोरुवात्, प्रकृते च पितृपुत्रगतफलश्रवणस्यैव बाधकत्वात् । तथा सत्यतिप्रसन्न इति चेन्न तादृशभ्रुतेरेवातिप्रसन्ननिवारकत्वात् ।

यत्त महादानादौ स्वर्गमात्रमेव फलं तच्च यदुद्देशेन क्रियते तद्गतमपि फलं जनयतीति ।

तत्तुच्छम्, तत्रोत्सर्गे बाधकाभावात् बाधकाभावसहितोत्सर्गस्य नियमः स्वात्, राजादीनामुपवासाद्यनुष्ठानानापसे परद्वारेव तत्तत्कर्मणां श्वगतफलमु-

गौण तथा मुख्यभेद से दो प्रकार का फल होता है, कारणरूप गौण है तथा कार्यरूप मुख्य बादि मुख्य फल है । उसमे जैसे कारण के न रहने से कार्य नही होता तथा कार्य के उत्पन्न न होने पर कारण भी निष्फल होता है, यह समान ही है । ऐसा होने से जिस प्रकार पुत्र के मरने मे अपूर्व व्यापार के अभाव से पिता को स्वर्गरूप फल न होगा यह आपत्ति आपने दी, इसी प्रकार पिता के मुक्त होने पर स्वर्गरूप मुख्य फल न होने के कारण पुत्र का किया आद्यकर्म निष्फल हो जायगा, अत आद्य के विधिवचनो मे अप्रमाणता ही जायगी यह समान ही दोष है) । (उक्त भीमासकमत पर व्यभिचारशका का समाधान करते हुए शंकरमिश्र नैयायिको के सिद्धान्त के अनुसार समाधान करते हैं कि)—ऐसा नही कहा जा सकता, क्योंकि शास्त्रोक्त कर्मफल कर्ता को होता है यह उत्सर्ग (सामान्य) विधि होने के कारण यही-वही बलवान् बाधक (विशेष विधि) से खण्डित हो जाता है, प्रम्नुत मे आद्य का का पितरो मे तथा पुत्रेष्टि कत पुत्र मे फल का शास्त्र मे श्रवण होना ही बाधक है । (ऐसा होने से कही-कही व्यभिचार होने पर भी उक्त भीमासको का सामान्यशास्त्र विशेष विधि से मिश्रस्थल मे कर्मफल कर्ता को होता है यह सामान्यशास्त्र लगता है सर्वत्र नही, ऐसा होने से भीमासकमत मे व्याघात न होगा) । (आगे पुन. पूर्वपक्षिमत से शका दिखाते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—ऐसा मानने से अतिप्रसङ्गरूप दोष हो जायगा (अर्थात् आद्य का फल पिता मे होने से और उसमे कारण तथा व्यापार के न होने से व्यभिचार दोष होगा) (तो शंकर-मिश्र उत्तर देते हैं कि)—उक्त आद्य से पिता मे फल को ग्रहमेवाली श्रुति ही उक्त व्यभिचार दोष का निवारण कर सकती है । (यहाँ चिन्तामणिकार मगेशोपाध्याय का मत दिखाते हैं कि)—'महादान (भूमिदान) इत्यादिको मे केवल स्वर्ग ही फल होता है, और जिसके उद्देश से किया जाता है उससे भी स्वर्गफल को उत्पन्न करता है, अर्थात् केवल दानवर्त्ता को ही स्वर्गफल होता है यह नियम नही है,' ऐसा जो चिन्तामणिकार का मत है, यह तुच्छ (उपेक्षणीय) है क्योंकि यहाँ उल्लगं (शास्त्रोक्त फल कर्ता को होता है इस सामान्यशास्त्र) मे कोई बाधक नही है, बाधन के अभावसहित ही उत्सर्ग नियम होने से राजा धनिक इत्यादिको को

दिश्यानुष्ठानसम्भवात् । सम्यग्गृहस्थाश्रमपरिपालनाय ब्रह्मलोकावाप्तिरूपे च फले नियम एव प्रातिस्विकफलाभिप्रायेण तूत्सर्गाभिधानात् ।

वृत्तिकारास्तु 'शास्त्रदेशितम्' इत्यादिनियम एव । पित्रादीनान्तु यत् फलं सन्धादादीं ब्राह्मणानामाशीर्मन्त्रानुभावात्, 'कृतार्थास्ते पितरो भूयासु,' इति पितृयज्ञे । पुत्रेष्टी ■ सन्तुष्टानामृत्विजामाशोर्दानात्-तेजस्वी धर्चस्वन्नादस्ते पुत्रो भूयात्' इत्यादेः,—जाङ्गलिकमन्त्रपाठादिव सर्पदष्टस्य विपापहारण-मित्याहुः ॥ ५ ॥

दूसरे के द्वारा ही उन-उन पुण्यविशेष कर्मों को कराकर अपने को फल होने के उद्देश से धर्मकर्म को आचरण से फलप्राप्ति होने के कारण स्वयं उपवासोदिरूप धर्मकर्म के आचरण की आवश्यकता न होगी (यहाँ यदि पठ द्वारा भी व्रतादि धनिक लोग में कराते हैं इस विषय में इष्टापत्ति मानेंगे ऐसी पूर्वपक्षी शका नहीं कर सकता, क्योंकि 'गर्भिणी भूतिका नवत कुमारी च रजस्वला यदाशुद्धा तदा केन कारयेत्' अर्थात् गर्भिणी तथा मृतकादि अवस्था में जब अशुद्धि हो तब किसी व्रतादि कराये तथा आद्योपवासे प्राणान्ते अन्तरा मृतमृतके तब काम्यव्रत कुर्मादि दानार्चन-विदजर्नात् । कामना से किये उपवास के बीच में मृताशीच में दान तथा पूजा छोटकर व्रत का त्याग न करे इत्यादि धर्मशास्त्र से आशीषादिको में भी व्रत का त्याग करना अनुचित है ऐसा दिखाई पड़ने से बाधक के न रहने पर भी दूसरे से व्रतादि कराने की आपत्ति होगी यह भी विचारणीय है) । (आगे कहीं-कहीं नियम दिखाते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—अच्छी तरह गृहास्थाश्रम के धर्म के परिपालनरूप पुण्यकर्म का तो ब्रह्मलोक की प्राप्तिरूप फल में नियम ही है, क्योंकि प्रत्येक कर्म के फल के अभिप्राय ही से उत्सर्ग (शास्त्रोक्त कर्म का फल कर्त्ता को होता है यह सामान्यशास्त्र कहा है । (अर्थात् प्रत्येक कर्म के फल के आशय से ही उक्त उत्सर्ग होने से आदादिको में भी पुत्रादि कर्त्ता में ब्रह्मलोकप्राप्ति आदि रूप फल है ही यह यहा तात्पर्य है) । (मणिमन्त्र आदि के न्याय से पितरों को आद्धकर्म से व्युत्पत्तिरूप फल माननेवाले वृत्तिकार का मत दिखाते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—मीमांसकों का 'शास्त्रदेशित' इत्यादि कर्त्ता ही को फल प्राप्त होता इत्यादि कथन नियमरूप ही है पिता इत्यादिको को जो आद्य से फल होता है वह ब्राह्मणादिको के आर्षावाद देने के मन्त्रों के पाठ के प्रभाव से होता है, क्योंकि 'कृतार्थास्ते पितरो भूयासु' तरे पितर वृत्ताय हों ऐसा आद्य में (फल सुना जाता है) और पुत्रेष्टि में सन्तुष्ट हुए ऋत्विज नामक (ब्राह्मणविशेषों) के आशिर्वाद से (पुत्र में तेजस्विता होती है) क्योंकि 'तेजस्वी धर्चस्वन्नादस्ते पुत्रो भूयात्' तैरा पुत्र तेजस्वी चलवान्, अन्नभोक्ता हो, ऐसा फल सुनाई देता है, अतः जगल में सर्पादिकों को पकड़नेवाले विपर्वणों के मन्त्रपाठ से सर्प से दण्ड किये प्राणियों का विष जैसे नष्ट

अदुष्टानां यथाशास्त्रमनुवर्तमानानां भोजनात् वृत्तानामाशीर्दानात् तत् फलं न तु दुष्टानां पात्रत्वेन निषिद्धानामपि कुण्डगोलकप्रभृतोनामित्याह—

तदुष्टभोजने न विद्यते ॥ ६ ॥

अदिव्याशीर्दानफलं परामृशति, दुष्टा ब्राह्मणाः पात्रानधिकारिणोयत्र श्राद्धे भोज्यन्ते तत्र पितरि तत् फलं न विद्यते न भवतीत्यर्थः । श्राद्धफलमेव वा न भवति पितरीत्यर्थः ॥ ६ ॥

के ते दुष्टा इति दुष्टलक्षणमाह—

दुष्ट हिंसायाम् ॥ ७ ॥

होता है (उमो प्रकार ब्राह्मणों के आशीर्वाद से श्राद्ध तथा पुण्यदि में भी ब्राह्मणों के आशीर्वाद मन्त्रपाठ से पितर आदि को फल होता है । ऐसा प्राचीन वैशेषिक सूत्र के व्याख्याता वृत्तिकार का मत है, किन्तु शंकराचार्य ने 'आहु' इस पद से उक्त मत पर अथवा प्रकट की है, क्योंकि वृत्तिकार के मत में भिन्न-भिन्न कार्यकारणभाव की उत्पत्ति करनी पड़ती है ॥ ५ ॥

शास्त्र के अनुसार स्वयं धर्म का आवरण करनेवाले अतएव दोषरहित ब्राह्मणों के भोजन से तृप्त होकर आशीर्वाद में पड़े हुए मन्त्रपाठ से उक्त स्वर्गादि रूप फल होता है न कि दोषयुक्त होने से शास्त्र में दानपात्र होने की जिनका निषेध है ऐसे कुण्ड (पति की विद्यमानता में धर्मविचारकर्म से उत्पन्न) तथा गोलक (पति के मरने पर स्त्रियों के धर्मविचारकर्म से उत्पन्न) इत्यादि सकरजाति के ब्राह्मणों के आशीर्वाद मन्त्रपाठ से यह अग्रिम सूत्र में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तत् = वह पुण्यकर्म, दुष्टभोजने = दोष युक्त ब्राह्मणों को भोजन कराने में, न विद्यते = नहीं होता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—पूर्वप्रदर्शित श्राद्धादि पुण्यकर्म का पितरों को स्वर्गादिरूप फल दोषरहित ब्राह्मणों के श्राद्ध में भोजन कराने से ही होता है न कि कुण्ड, गोलकादि दोष युक्त होने से शास्त्र में निषिद्ध ब्राह्मणों को भोजन कराने से ॥ ६ ॥

वपस्कार—सूत्र के 'तत्' इस पद से आशीर्वाद देने का फल लिया जाता है, दुष्ट ब्राह्मण जो भोजन के पात्र पर बैठने के अधिकारी नहीं हैं, जिस श्राद्धकर्म में भोजन कराये जाते हैं, उस श्राद्ध में पितरों को उस श्राद्ध का स्वर्ग, वृत्ति आदि फल 'न विद्यते' अर्थात् नहीं होता यह सूत्र का अर्थ है । अथवा श्राद्धकर्म का फल ही पितरों में नहीं होता यह सूत्र का अर्थ है ॥ ६ ॥

वे दुष्ट ब्राह्मण कौन हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में दुष्ट ब्राह्मणों का सूत्रकार लक्षण कहते हैं—

पदपदार्थ—दुष्ट = दोषयुक्तता है, हिंसाया = हिंसा द्रोह आदि निषिद्ध कर्म में ॥ ७ ॥

दिश्यानुष्ठानसम्भवात् । सम्यग्गृहस्थाश्रमपरिपालनाय ब्रह्मलोकावाप्तिरूपे च फले नियम एव प्रातिस्विकफलाभिप्रायेण तूत्सर्गोभिधानात् ।

वृत्तिकारास्तु 'शास्त्रदेशितम्' इत्यादिनियम एव । पित्रादीनान्तु यत्फल सच्छाब्दादौ ब्राह्मणानामाशीर्मन्त्रानुभावात्, 'कृतार्थोस्ते पितरो भूयासुः' इति पितृयज्ञे । पुत्रेष्टौ तु सन्तुष्टानामृत्विजामाशीर्दानात्-तेजस्वी वर्चस्व्यभ्रादस्ते पुत्रो भूयात्' इत्यादेः,—जाद्वलिकमन्त्रपाठादिव सर्पदष्टस्य विपापहारण-मित्याहुः ॥ ५ ॥

दूसरे के द्वारा ही उन-उन पुण्यवित्तोप कर्मों को कराकर अपने को फल होने के उद्देश से धर्मकर्म को आचरण से फलप्राप्ति होने के कारण स्वयं उपवास, आदि रूप धर्मकर्म के आचरण की आवश्यकता न होगी (यहाँ यदि पट द्वारा भी व्रतादि धनिक लोक में कराते हैं इस विषय में इष्टापत्ति मानेंगे ऐसी पूर्वपक्षी शका नहीं कर सकता, क्योंकि 'गमिणी श्रुतिका नक्त कुमारी च रजस्वला यदाशुद्धा तदा केन कारयेत्' अर्थात् गमिणी तथा श्रुतिकादि अवस्था में जब अशुद्धि हो तब किससे व्रतादि कराये तथा आद्योपवासे प्राणान्ते अन्तरा मृतमृतके तत्र काम्यव्रत बुवाई दानार्चन-विषयनात् । कामना से किये उपवास के बीच में मृताशीष में दान तथा पूजा छोड़कर व्रत का त्याग न करे इत्यादि धर्मशास्त्र से आशीर्वादिको में भी व्रत का त्याग करना अनुचित है ऐसा दिखाई पड़ने से वाचक के न रहने पर भी दूसरे से व्रतादि कराने की आपत्ति होगी यह भी विचारणीय है) । (आगे कहीं-कहीं नियम दिखाने हुए शकर्मिण कहते हैं कि)—अच्छी तरह गृहस्थाश्रम के धर्म के परिपालनरूप पुण्यकर्म का तो ब्रह्मलोक की प्राप्तिरूप फल में नियम ही है, क्योंकि प्रत्येक कर्म के फल के अभिप्राय ही से उत्सर्ग (शास्त्रोक्त कर्म का फल कर्त्ता को होता है यह सामान्यशास्त्र कहा है । (अर्थात् प्रत्येक कर्म के फल के आशय से ही उक्त उत्सर्ग होने से श्राद्धादिको में भी पुत्रादि कर्त्ता में ब्रह्मलोकप्राप्ति आदि रूप फल है ही यह महा तात्पर्य है) । (गमिमन्त्र आदि के न्याय से पितरों को श्राद्धकर्म से व्यक्तृतिरूप फल माननेवाले वृत्तिकार का मत दिखाते हुए शकर्मिण कहते हैं कि)—मीमांसकों का 'शास्त्रदेशित' इत्यादि कर्त्ता ही को फल प्राप्त होना इत्यादि कथन नियमरूप ही है पिता इत्यादिको को जो श्राद्ध से फल होता है वह ब्राह्मणादिको के आशीर्वाद, भेदे के अन्धे, के अपहृष्ट, के अशुद्ध, के अज्ञेय, के अर्थ-हीन, के अर्थहीन पितरों भूयासु' तेरे पितर कृतार्थ हो ऐसा श्राद्ध में (फल सुना जाता है) और पुत्रेष्टि में सन्तुष्ट हुए ऋत्विज नामक (ब्राह्मणविशेषों) के आशीर्वाद से (पुत्र में तेजस्विता होती है) क्योंकि 'तेजस्वी वचरवनादस्ते पुत्रो भूयात्' तेरा पुत्र तेजस्वी बलवान्, अन्नभोक्ता हो, ऐसा फल सुनाई देता है, अतः जगत् में सर्पादिको को पकड़नेवाले विषयों के मन्त्रपाठ से सर्प से दश किये प्राणियों का विष जैसे नष्ट

भद्रुष्टानां यथाशास्त्रपनुवर्तमानानां भोजनात् एष्टानामाशीर्दानात् तत् फलं न तु दुष्टानां पात्रत्वेन निषिद्धानामपि कुण्डगोलकप्रभृतोनामित्याह—

तदुष्टभोजने न विद्यते ॥ ६ ॥

तदित्याशीर्दानफलं परामृशति, दुष्टा ब्राह्मणाः पात्रानधिकारिणोयत्र श्राद्धे भोज्यन्ते तत्र पितरि तत् फलं न विद्यते न भवतीत्यर्थः । श्राद्धफलमेव वा न भवति पितरीत्यर्थः ॥ ६ ॥

के ते दुष्टा इति दुष्टलक्षणमाह—

दुष्टं हिंसायाम् ॥ ७ ॥

होता है (उमी प्रकार ब्राह्मणों के आशीर्वाद से श्राद्ध तथा पुत्रेष्टि में भी ब्राह्मणों के आशीर्वाद मन्त्रपाठ से पितर आदि को फल होता है । ऐसा प्राचीन वैशेषिक सूत्र के व्याख्याता वृत्तिकार का मत है, किन्तु संकरमिश्र ने 'आहु' इस पद से उक्त मत पर अथवा प्रकट की है, क्योंकि वृत्तिकार के मत में भिन्न-भिन्न कार्यकारणभाव की कल्पना करनी पड़ती है ॥ ५ ॥

शान्त्र के अनुसार स्वयं धर्म का आचरण करनेवाले अतएव दोषरहित ब्राह्मणों के भोजन में तृप्त होकर आशीर्वाद में पड़े हुए मन्त्रपाठ से उक्त स्वर्गादि रूप फल होता है न कि दोषयुक्त होने से शास्त्र में दानपात्र होने की जिनका निषेध है ऐसे कुण्ड (पति की विद्यमानता में व्यभिचारकर्म से उत्पन्न) तथा गोलक (पति के मरने पर स्त्रियों के व्यभिचारकर्म से उत्पन्न) इत्यादि संकरजाति के ब्राह्मणों के आशीर्वाद मन्त्रपाठ में यह अग्रिम सूत्र में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तत् = वह पुण्यकर्म, दुष्टभोजने = दोष युक्त ब्राह्मणों को भोजन कराने में, न विद्यते = नहीं होता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—पूर्वप्रदर्शित श्राद्धादि पुण्यकर्म का पितरों को स्वर्गादिरूप फल दोषरहित ब्राह्मणों के श्राद्ध में भोजन कराने से ही होता है न कि कुण्ड, गोलकादि दोष युक्त होने से शास्त्र में निषिद्ध ब्राह्मणों को भोजन कराने से ॥ ६ ॥

वपरूकार—सूत्र के 'तत्' इस पद से आशीर्वाद देने का फल लिया जाता है, दुष्ट ब्राह्मण जो भोजन के पात्र पर बैठने के अधिकारी नहीं हैं, जिस श्राद्धकर्म में भोजन कराये जाते हैं, उस श्राद्ध में पितरों को उस श्राद्ध का स्वर्ग, वृत्ति आदि फल 'न विद्यते' अर्थात् नहीं होता यह सूत्र का अर्थ है । अथवा श्राद्धकर्म का फल ही पितरों में नहीं होता यह सूत्र का अर्थ है ॥ ६ ॥

वे दुष्ट ब्राह्मण कौन हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में दुष्ट ब्राह्मणों का सूत्रकार लक्षण कहते हैं—

पदपदार्थ—दुष्ट = दोषयुक्तता है, हिंसाया = हिंसा द्रोह आदि निषिद्ध कर्म में ॥ ७ ॥

हिंसायामिति निषिद्धकर्ममात्रोपलक्षणम् । तेन निषिद्धे कर्मणि प्रवृत्तं पुरुषं दुष्टं विजानीयादित्यर्थः ॥ ७ ॥

न केवलं दुष्टब्राह्मणस्य श्राद्धे निमन्त्रितस्य भोजनेन पछामाव. किन्तु पाप-
मपि भवतीत्याह—

तस्य समभिव्याहारतो दोषः ॥ ८ ॥

तस्य निषिद्धे कर्मणि प्रवृत्तस्य ब्राह्मणस्य समभिव्याहारान् एकपङ्क्तिभोज-
नसदृशयनसहाय्ययनादिलक्षणात् दोषः पापमित्यर्थः ॥ ८ ॥

तत् किमुदुष्टसमभिव्याहारादपि दोष एव ? नेत्याह—

तदुदुष्टे न विद्यते ॥ ९ ॥

भाषार्थ—हिंसा, द्रोह आदि निषिद्ध कर्मों में प्रवृत्त ब्राह्मणों को दुष्ट समझना चाहिये ॥ ७ ॥

उपस्कार—सूत्र के 'हिंसाया' इस हिंसारूप दोष से शास्त्र में निषिद्ध सम्पूर्ण कर्मों की सूचना होती है । इससे निषिद्ध कर्मों में प्रवृत्त होनेवाले ब्राह्मण को दुष्ट जानना चाहिये, यह सूत्र का अर्थ है ॥ ७ ॥

केवल श्राद्ध में निमन्त्रण दिये उक्त दुष्टलक्षण वाले ब्राह्मण के भोजन से उस श्राद्धकर्म का फल नहीं होता इतना ही नहीं है किन्तु दुष्ट ब्राह्मणों को भोजन कराने से उल्टे पाप भी होता है । इस आशय से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तस्य = उस दुष्ट ब्राह्मण के, समभिव्याहार = ससर्ग से, दोष = पाप भी होता है ॥ ८ ॥

भाषार्थ—केवल दुष्ट ब्राह्मण को श्राद्ध में भोजन कराने से श्राद्ध का फल नहीं होता इतना ही नहीं, किन्तु दुष्ट ब्राह्मण के साथ एक पक्ति में भोजन करना, एक-साथ सोना, बैठना इत्यादि रूप समर्ग होने से पाप भी लगता है ॥ ८ ॥

उपस्कार—उस हिंसादि दुष्टकर्मों के आचरण में प्रवृत्त होनेवाले दुष्ट ब्राह्मण के एक पक्ति में बैठ कर भोजन करना, एकसाथ एक शय्या पर निद्रा करना तथा एक आसन पर साथ बैठना, एकसाथ पढ़ना इत्यादि रूप समभिव्याहार (ससर्ग) दोष से भी, पाप भी होता है यह सूत्र का अर्थ है ॥ ८ ॥

तो क्या दोषरहित ब्राह्मण के उक्तरूप ससर्ग से भी दोष होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तत् = वह दोष (पाप), अदुष्टे = दोषरहित ब्राह्मण के समर्ग करने पर, न विद्यते = नहीं होता है ॥ ९ ॥

भाषार्थ—दुष्ट ब्राह्मण के समान शास्त्र के अनुसार आचरण करनेवाले दोष-रहित ब्राह्मण के समर्ग करने में दोष (पाप) नहीं होता ॥ ९ ॥

तत् पापमदुष्टे यथाशास्त्रं व्यवहरमाणे ब्राह्मणे आद्वे भोजिते न विद्यते न भवतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

ननु सत्पात्रप्रतिलम्भे यत्र आद्यदानादौ प्रथमं दुष्टा एव निमन्त्रिताः क्रमेण तु सत्पात्रप्रतिलम्भे किं विधेयमित्यत्राह—

पुनर्विशिष्टे प्रवृत्तिः ॥१०॥

आद्वे प्रतिपदे वा विशिष्टा यथाशास्त्रमनुवर्तमाना यदि लभ्यन्ते तदा निमन्त्रितानपि निन्द्यान् परिहृत्य सानेव भोजयेत् । 'न निमन्त्रिता मृपत्याचक्षीत्' इति तु सत्पात्रपरम् । निन्द्यास्तु निमन्त्रितान् द्रविणदानादिना सन्तोषयेत् ॥१०॥

यत्र स्वापेक्षया विशिष्टा न लभ्यन्ते आद्यदानादौ तत्राह—

उपस्कारः—बहू पाप शास्त्रानुसार व्यवहार (आचरण) करनेवाले तथा पूर्वोक्त हिमादि दोष से रहित ब्राह्मण को आद्य में भोजन कराने पर 'न विद्यते' अर्थात् नहीं होता यह सूत्र का अर्थ है ॥ ९ ॥

उत्तम सत्पात्र अदुष्ट ब्राह्मण के न मिलने से जिस आद्य, दान आदि कर्म में प्रथम दुष्ट ही ब्राह्मण को निमन्त्रण दिया हो और पश्चात् दोषरहित शास्त्रानुसार आचरण करनेवाला ब्राह्मण मिल जाय तो आद्यकर्ता क्या करे ? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं—

पक्षपक्षार्थः—पुन = फिर, विशिष्टे = सत्पात्ररूप विशिष्ट ब्राह्मण के मिलने पर, प्रवृत्ति = आद्य करने में प्रवृत्ति होती है ॥ १० ॥

भाषार्थः—यदि दुष्ट ब्राह्मण को भोजन कराया हुआ आद्यकर्म होने के पश्चात् दोषरहित सत्पात्र ब्राह्मण मिल जाय तो उसे निमन्त्रण देकर पुन आद्यकर्म करे ॥ १० ॥

उपस्कारः—आद्य तथा प्रतिबहू कर्म में शास्त्रानुसार आचरण करनेवाले विशिष्ट ब्राह्मण यदि पश्चात् प्राप्त हो तो पूर्व में निमन्त्रण दिये हुए भी निन्द्यायोग्य दुष्ट ब्राह्मणों का परित्याग कर विशिष्ट सत्पात्र ब्राह्मणों को ही भोजन करावे (अर्थात् दुष्ट ब्राह्मण को भोजन कराया हुआ आद्य व्यर्थ होने से पुन आद्यकर्म करे) । क्योंकि 'न निमन्त्रिता मृपत्याचक्षीत्' निमन्त्रित ब्राह्मण को जवाब न दे । यह धर्मद्वारा वा वचन सत्पात्र ब्राह्मणों के विषय में है । जो निन्द्यायोग्य दुष्ट ब्राह्मण पूर्व में निमन्त्रित हो उन्हें द्रविण (धन) आदि देकर सन्तुष्ट करे ॥ १० ॥

जिस आद्य तथा दान आदि में आद्यकर्ता से विशिष्ट (उत्तम) ब्राह्मण न मिले, उसमें क्या कर्तव्य है ? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं—

समे हीने वा प्रवृत्तिः ॥ ११ ॥

समे स्वसदृशे, हीने स्वापेक्षया गुणादिना न्यून, अदृष्टे पात्रे श्राद्धदानादौ प्रवृत्तिस्तेषामेवाशीर्हानात् पितरि सुखमित्यर्थः । निषिद्धानां पर त्यागो न त्वदु-
ष्टानां समहीनानामपीति भावः ॥ ११ ॥

श्राद्धे दानादौ च सम्प्रदानसादृगुण्येन धर्मोत्पत्तिमभिधाय तादृशादपात्र-
नादपि धर्मोत्पत्तिमितिदिशति—

एतेन हीनसमविशिष्टधार्मिकेभ्यः परस्वादान व्याख्यातम् ॥ १२ ॥

यद्योत्तरं धर्मोत्कर्षं, हीनगदपि भूम्यादिप्रतिग्रहे, समादपि, स्वापेक्षया विशि-

पदपदार्थः—समे = सामान, हीने वा = अथवा अपने से हीन, ब्राह्मण में, प्रवृत्ति = प्रवृत्ति करना ॥ ११ ॥

भाषार्थः—यदि श्राद्धकर्ता से दोपरहित ब्राह्मण ममान हो अथवा हीन हो, ऐसे ब्राह्मण के श्राद्ध, दान आदि कर्म में आनिर्वाद से श्राद्धादिको वा फल होता है ॥ ११ ॥

उपस्कारः—अपने कर्ता को आचरणादिको से समान अथवा कर्ता की अपेक्षा गुणादिको से न्यून, दोपरहित सत्यान ब्राह्मण को निमन्त्रण देकर श्राद्ध, दानादि कर्म में प्रवृत्ति होने से उक्त ब्राह्मणों के आशिर्वाद देने से पिता में श्राद्ध का फल स्वर्गादि सुख होता है, यह भूत का अर्थ है । दोपयुक्त होने से निषिद्ध ब्राह्मणों का ही त्याग करना चाहिये न कि दोपरहित सत्यान ब्राह्मणों को जो कर्ता के गुणों में समान अथवा हीन हो उनका भी । यह आशय है ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्राद्ध तथा दानादि कर्मों में दान लेने तथा श्राद्धभोजन करनेवाले ब्राह्मणों के उत्तम गुणों के कारण धर्म की उत्पत्ति होती है यह कहकर ऐसे ही श्राद्धकर्ता तथा दान देनेवाले के उत्तम गुणों के अनुसार भी धर्म की उत्पत्ति की अनिदेश समानता में सूत्रकारा वर्णन करते हैं—

पदपदार्थः—एतेन = इस कथन से, हीनसमाविशिष्टधार्मिकेभ्यः = गुणादिको में न्यून, समान तथा अधिक धर्मकार्य करनेवालों से, परस्वादान = प्रतिग्रहस्वप दूसरे के धन का ग्रहण, व्याख्यात = व्याख्या किया गया ॥ १० ॥

भाषार्थः—जिस प्रकार दोपरहित सत्यान कर्मकर्ता से गुण में समान, हीन तथा अधिक गुण वाले ब्राह्मणों को श्राद्ध में भोजन कराने, दान देने इत्यदि पुण्य कर्म से फल होता है, उसी प्रकार प्रतिग्रह लेनेवाले ब्राह्मणों से श्राद्ध, दान आदि कर्म करनेवाले कर्मकर्ता गुणादिको में न्यून, समान अथवा अधिक धार्मिक (धर्मात्मा) हो तो उस श्राद्धभोजन, तथा प्रतिग्रह से भोजन करानेवाले तथा दान लेनेवाले ब्राह्मण को भी पुण्य उत्तम फल प्राप्त होता है, यह व्याख्या भी गई है ॥ १२ ॥

उपस्कारः—प्रतिग्रह, भोजनादि कर्ता ब्राह्मण को अपने से गुण में हीन भी दाता कि भूमि आदि का दान लेने में तथा समान, दान लेनेवाले से गुणों में अधिक भी

द्यादपि धार्मिकात् धर्म इत्यर्थः । परस्वादानं परस्मान् स्वस्य धनस्यादानं प्रतिग्रहः ।

वृत्तिकारस्तु परस्वादानं चौर्यादिना परस्वग्रहण व्याख्यातम् । तथाच धृतिः—'शूद्रात् सप्तमे वैश्यादशमे क्षत्रियात् पञ्चदशे ब्राह्मणात् प्राणसंशये' इति । क्षुधापीडितमात्मानं कुटुम्बं वा रक्षितुं सप्त दिनान्याहारमप्राप्य शूद्रभक्ष्यापहारः कार्यः, एवं दशदिनान्याहारमप्राप्य वैश्यात्, पञ्चदश दिनान्याहारमप्राप्य क्षत्रियात्, प्राणसंशये ब्राह्मणात् भक्ष्यापहरणं न दोषायेत्याहुः ॥ १२ ॥

न केवलं प्राणसंशये परस्वादानं न निषिद्धं किन्तु सस्या दशायामपहर्तुं ये न प्रयच्छन्ति तेषां वधोऽपि कार्यो न तावत् । धर्महानिरधर्मप्रादुर्भावो वेत्याह—

तथा विरुद्धानां त्यागः ॥ १३ ॥

धर्मात्मा से दान लेने से पूर्व २ की अपेक्षा से उत्तर २ में अधिक उत्कृष्ट धर्म होता है यह सूत्र का अर्थ है । पर (दूसरे) से 'स्व' अर्थात् धन का आदान ग्रहण करना ही प्रतिग्रहत्वं परस्वादानं इस सूत्र के शब्द का अर्थ है । वृत्तिकारने से चौर्यादि कर्म से दूसरे का धन लेना परस्वादानं शब्द का अर्थ है ऐसी व्याख्या की है, इसी से धृति भी कहती है—'शूद्रात् (शूद्र से), सप्तमे (सातवें) दिन, वैश्यात् (वैश्य से) दशमे (दसवें) दिन, क्षत्रियात् (क्षत्रिय से) पञ्चदश (पन्द्रहवें) दिन ब्राह्मणात् (ब्राह्मण से) प्राणसंशये (प्राण बचने का सदेह होने पर), अर्थात् क्षुधा से पीडित अपनी या कुटुम्ब (परिवार) की रक्षा करने के लिये सात दिन तक भोजन न मिलने पर शूद्र के खानेयोग्य अन्न का अपहरण (चोरी) करना । इसी प्रकार दस दिन भोजन न पाने पर वैश्य से, पन्द्रह दिन भोजन न मिलने पर क्षत्रिय से, तथा प्राण बचने का सदेह होने पर ब्राह्मण से भक्ष्य पदार्थ का अपहरण करने में दोष नहीं होता, इस प्रकार ॥ १२ ॥

केवल प्राणसंशय में परधन का अपहरण पापजनक नहीं होता, ऐसा नहीं किन्तु उस अवस्था में जो चोरी करने में प्रतिबन्ध करते हैं (रोकते हैं) उनकी मार भी देना चात्रिये, जसमें कोई धर्म की शक्ति, अधर्मा अधर्म नहीं होता परा अधर्म से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तथा = निषिद्ध नहीं है, विरुद्धानां = विरोध करनेवालों का, त्याग = त्याग करना (हटाना) ॥ १३ ॥

भावार्थ—प्राणों के सदेहकाल में परधन का ग्रहण करने में जो विरोध करे उनका त्याग, हटाना भी पापजनक निषिद्ध नहीं है । अर्थात् 'आते हुए आततायी को मार दे' इत्यादि पूर्वोक्त वचन के अनुसार कुछ नियमित कर्म भी पापजनक नहीं होते ॥ १३ ॥

‘सस्यां दशाया विरुद्धाना विपरीतमाचरतां न्यागो वधः कार्य इत्यर्थः ।
तदुक्तम्—

कर्मणा येन केनापि मृदुना दारुणेन वा ॥

ददरेहोनमात्मानं समर्थो धर्ममाचरेत् ॥ इति १३ ॥

ननु चाविशेषेणैव परस्य वधः, नेत्याह—

हीने परे त्यागः ॥ १४ ॥

यदि स्वस्माद्धीनः परो भवति योऽपहर्तुं न ददाति, तस्य शूद्रादेस्त्यागो
वधः ॥ १४ ॥

सममधिकृत्याह—

समे आत्मत्यागः परत्यागो वा ॥ १५ ॥

उपस्कार—उम प्राणसदेह की अवस्था में विरोध अर्थात् विपरीत (प्रतिफल)
कर्म करनेवाले विरोधियो का त्याग अर्थात् वध (मार देना) इत्यादि करने से भी
बोप नहीं होता । ऐसा सूत्र का अर्थ है । (यह वृत्तिकार के मत के अनुसार ही इस सूत्र
की व्याख्या शंकरमिश्र ने की है यह स्पष्ट मालूम पड़ता है) । (उक्त विषय में प्रमाण
देते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—यह ‘कर्मणा = कर्म से, येन केनापि = जिस
किमी भी, मृदुना = सरल छोटे, दारुणेन वा = अथवा कठिन कर्म से, उद्ध-
रेत् = रक्षा करे, हीन = दीन आत्मान = अपने शरीर की, समर्थ = समर्थ होता हुआ,
धर्म = धर्म को, आचरेत् = करे, इति = ऐसा धर्मशास्त्र में कहा है ॥ १३ ॥

‘क्या सामान्यरूप से चाहे जिसका वध करे’? इस शंका के सम्यधानाथं सूत्रकार
कहते हैं—

पक्षपदार्थ—हीने = अपने से न्यून, परे = रोकने वाले पराये में, त्याग = वध-
रूप त्याग करे ॥ १३ ॥

भावार्थ—यदि वह प्रतिबन्ध करनेवाला अपने से हीन हो तो उसका वधरूप
त्याग करना ॥ १३-॥

उपस्कार—यदि अपने से (प्राणसदेह में चोरी करनेवाले से) रोकनेवाला पर-
पुरुष जो चोरी न करने देना हो ऐसे शूद्र आदि हीनवर्ण का वधरूप त्याग
करना ॥ १३ ॥

यदि चोरी करने में प्रतिबन्ध करनेवाला समान हो तो उसके विषय में सूत्र-
कार कहते हैं—

पक्षपदार्थ—गमे = गुण में समान, प्रतिबन्धक मे, आत्मत्याग = अपने शरीर का
त्याग, परत्याग वा = अथवा परे (प्रतिबन्धक दूसरे का) का वधरूप त्याग
करना ॥ १५ ॥

यदि स्वसदृशो ब्राह्मण एव विरोधी भवति तदात्मन एवोपवासादिना त्यागोऽवसादः कर्तव्यः । यदि स्वस्य कुटुम्बस्य वा रक्षामकामो न दृश्यते विरोधश्च समो भवति तदा तस्यैव त्यागो वध इत्यर्थः ॥ १५ ॥

तत् किं स्वापेक्षया यदि विशिष्टो भवति विरोधी तदा तस्यापि वध एव कार्यः ! नेत्याह—

विशिष्टे आत्मत्याग इति ॥ १६ ॥

स्वापेक्षया विशिष्टे चेदाभ्ययनादिना उत्कृष्टे विरोधिनि आत्मन एव त्यागो विधेयः । प्राणसंशये सत्यप्यात्ममरणमेवाभिप्रेत्याह न तु ब्राह्मणं इत्यादित्यर्थः । इति राहिरूपरिसमाप्नो ॥ १६ ॥

इति श्रीशाङ्करे वैशेषिकसूत्रोपस्कारे पष्ठाध्यायस्य

प्रथममाह्निकम् ।

भावार्थ—यदि प्राणसंदेह में चोरी करने के समय अपने समान गुणवाला ब्राह्मण ही विरोधी हो तो उपवामादिक से अपना शरीर छोड़ दे अथवा यदि परिवार के रक्षा का कोई दूसरा उपाय न रहते समान आदि विरोधी हो तो उसी का वधरूप त्याग करना ॥ १५ ॥

उपस्कार—यदि अपने समान ब्राह्मण ही विरोधी हो तो अपना ही मननानादि उपाय से त्याग अर्थात् नाश करे और यदि कुटुम्बरक्षा का कोई चोरी के सिवाय उपाय न दिखाई पड़े और विरोधी (रोकनेवाला) अपने समान ही हो तो उसी का वधरूप त्याग करे, यह सूत्र का अर्थ है ॥ १५ ॥

तो क्या अपने से विरोध करनेवाला गुण में अधिक हो तो उसका भी वध ही करना ? हम प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं, नहीं—

पदपदार्थ—विशिष्टे=अधिक में, आत्मत्याग = अपना त्याग करना, इति = इस प्रकार ॥ १६ ॥

भावार्थ—यदि प्राणसंदेह के समय चोरी करने में अपने गुणों से अधिक विशिष्ट ब्राह्मण आदि विरोधी हो तो अपना ही वधरूप त्याग करना ॥ १६ ॥

उपस्कार—प्राणसंदेह में चोरी करनेवाले अपनी अपेक्षा से वेदाभ्ययनादि धर्मनिर्याय के करने के कारण विशिष्ट उत्कृष्ट विरोध करनेवाले ब्राह्मण आदि हो तो अपना ही वधरूप त्याग करे । प्राणों के संदेह के समय के जाने पर भी अपने मर जाने की इच्छा करे न कि ब्राह्मण की हत्या करे, यह सूत्र का अर्थ है । सूत्र में 'इति' शब्द का अर्थ है आह्निक की समाप्ति ॥ १६ ॥

इस प्रकार चक्रमिश्रवृत्त विशेषिकसूत्रोपस्कारख्याद्या में

पष्ठाध्याय का प्रथम आह्निक समाप्त हुआ ।

अदृष्टफलाणि कर्माणि परिसञ्चष्टे—

अभिषेचनो-पवास-ब्रह्मचर्य-गुरुकुलवास-वानप्रस्थ-यज्ञ-दान-
-प्रोक्षण-दिङ्-नक्षत्र-मन्त्र-काल-नियमाश्चादृष्टाय ॥ २ ॥

अदृष्टायेत्यदृष्टलक्षणाय फलाय, अदृष्टद्वारा स्वर्गापवर्गलक्षणाय फलाय वा । एतेनादृष्टफलकश्रौतस्मार्त्तसकलकर्मोपसंग्रहः । तत्राभिषेचनं स्नानं 'गङ्गायां स्नायात्' इत्यादिविधिविधेयम् । उपवास-एवाद्दशोमुपवसेत्' इत्यादिविधिविधेय ब्रह्मचर्यं सामान्यत एव धर्मसाधनम् । गुरुकुलवासो ब्रह्मचारिणां वेदाध्ययनमहानाम्नश्च विद्वानर्थः । वानप्रस्थं वयः परिणामे वनं प्रस्थितानां यत् कर्म । यद्वा 'राजसूयवाजपेयादिः' । दानं 'गां दद्यात्' इत्यादिविधिविधेयम् ।

अदृष्ट फल देनेवाले कर्मों की गणना करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अभिषेचनोपवास-ब्रह्मचर्य-गुरुकुलवास-वानप्रस्थ-यज्ञ-दान-प्रोक्षण दिङ्-नक्षत्र-मन्त्र-काल-नियम च, = स्नान, उपवास, ब्रह्मचर्य, गुरुकुल में निवास, वान-प्रस्थधर्म, यज्ञ, दान, मन्त्रपाठपूर्वक पदार्थों का जल में सिंचन, दिशा, नक्षत्र, मन्त्र, काल तथा नियम भी, अदृष्टाय = अग्रत्यक्ष कालान्तर में फल देने की कारण मध्य में अपूर्व नामक व्यापार को मिद्ध करते हैं ।

भावार्थ—मध्यवर्ती अपूर्व के द्वारा कालान्तर में फल देनेवाले शीघ्र वितारी कर्म यह हैं जैसे नित्य स्नान करना^१, उपवास (व्रत) करना,^२ ब्रह्मचर्य से रहना^३, गुरुकुल में वास करना^४, इह त्याग कर वन में वानप्रस्थ धर्म का करना^५, यज्ञ^६, दान^७, मन्त्रपाठपूर्वक धार्मिक कर्म के उपयोगी धान्यादिकों का जल से सिंचना, धर्म-कर्म में दिशा^८ तथा नक्षत्रों^९ मन्त्रों^{१०} तथा समय^{११} एक नियम^{१२} आदि त्रयोदश सूत्रोक्तधर्म कर्मकालान्तर में मध्यवर्ती अपूर्व द्वारा फल देते हैं ॥ २ ॥

उपस्कार—सूत्र के 'अदृष्टाय' इस पद का अर्थ है अदृष्ट (अपूर्व) स्वरूप फल के लिये अथवा अदृष्ट (अपूर्व) के द्वारा स्वर्ग तथा अपवर्ग (मोक्ष) रूप फल होने के लिये । इन कथन से अदृष्ट द्वारा फल देनेवाले वेदोक्त तथा स्मृति पुराणादिकों में बड़े हुए सम्पूर्ण धर्म कर्मों का संग्रह सूचित होता है । इन सूत्रोक्त धर्मकर्मों में से गंगाया स्नानम् 'गंगा में स्नान करे' इत्यादि धर्मशास्त्रों में प्रतिपादन किया हुआ अभिषेचन अर्थात् नित्यस्नान करना^१ 'एकादशी उपवसेत्' एवादशी को उपवास (व्रत) करे, इत्यादि धर्मशास्त्र में विधान किया हुआ उपवास (व्रत)^२ जितेन्द्रिय होकर रहनारूप ब्रह्मचर्य जो सामान्यरूप से सम्पूर्ण धर्मकार्यों का साधन है^३ ब्रह्मचारी छात्रों के वेदाध्ययन तथा महावाक्य नामक व्रतादि पालन के लिये गुरुकुल में वास(रहना)^४ वृद्धावस्था में अरण्य में वास करनेवाले तृतीय वानप्रस्थाधर्म का कर्म^५ राजसूत्र, अश्वमेध आदि, यागरूप यज्ञ

प्रोक्षण-‘ग्रीहीन् प्रोक्षति’ इत्यादिविविधविधेयम् । दिक् ‘प्राचीनप्लवने यजेत’
 ‘प्राङ्मुखोऽन्नानि भुञ्जीत’ इत्यादिविविधविधेया । नक्षत्र आद्योदी भषादि ।
 मन्त्र-‘आपोहिष्टेत्यादिः । काल—‘मासि मासि वोऽशनम्’ ‘अमावा-
 स्यायामपराह्णे दद्यात्’ ‘ग्रीष्मे पञ्चतपाः’ ‘वसन्तेऽग्नीनादघोत’ इत्यादि-
 विधिविधेयः । नियमो वर्णाश्रमिणां यथाशास्त्रमनुष्ठानम् । तदेवं धर्मस्य आत्मा
 समवायिकारणम्, श्रद्धा स्वर्गादिलक्षणप्रयोजनज्ञानश्च निमित्तकारण-
 मनुसन्धेयम् ॥ २ ॥

एष धर्मसाधनमभिधाय अधर्मसाधनमपि समुच्चिन्वन्नाह—

चतुराश्रम्यमुपधा अनुपधाथ

चतुर्णामाश्रमाणां समानं यद्धर्मसाधनं तत्तावत् पूर्वसूत्रेणैवोक्तमिति शेषः ।

‘गा दद्यात्’ गोदान करे इत्यादि धर्मशास्त्रो में विधान किया दान^१, ‘ग्रीहीन् प्रोक्षति’
 घाम को मन्त्रपाठपूर्वक जल से सींचता है, इत्यादि विधि से कर्तव्य प्रोक्षण,
 ‘प्राचीनप्लवने यजेत’ पूर्वदिशा के सधन में याग करे, ‘प्राङ्मुखोऽन्नानि भुञ्जीत’
 पूर्वाभिमुख होकर भोजन करे, इत्यादि धर्मशास्त्र में विधान की हुई दिशा^२, भरणी,
 मघा आदि नक्षत्र में श्राद्ध करने की विधि से नक्षत्र^३, पवित्रताप्राप्तक ‘आपोहिष्ठा’
 इत्यादि मन्त्र^४, ‘मासिमासि वोऽशनम्’ प्रत्येक मास के अन्त में भोजन करे,
 ‘अमावास्यायामपराह्णे दद्यात्’ अमावास्या के दिन अपराह्णकाल में पितरों के
 उद्देश से दान, श्राद्ध आदि कर्म करे, ‘ग्रीष्मे पञ्चतपाः’ ग्रीष्मऋतु में पचाससाधन
 तपश्चर्या करे, इत्यादि शास्त्र की विधि से रहित काल^५, ब्राह्मणादि वर्णों, तथा ब्रह्म-
 षर्पादि आश्रमियों के धर्मशास्त्रों में विहित विधि के अनुसार वर्णायमयमों का अनु-
 ष्ठान (आचरण)^६ (यह तेरह अष्टक फलवाले कर्म सूत्रकार ने कहे हैं ।)
 इससे यह सिद्ध होता है कि धर्मरूप अष्टक कार्य का आत्मा समवायिकारण, श्रद्धा
 तथा स्वर्गमुलादिरूप फल का ज्ञान भी निमित्त कारण है, यह जान लेना ॥ २ ॥

इस प्रकार धर्म के साधन को कहकर, अधर्म के साधन का भी संग्रह करते हुए
 सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—चतुराश्रम्य = ब्रह्मचर्यादि चार आश्रमों के धर्म का साधन,
 उपधा = श्रद्धा के दोष, अनुपधा च = श्रद्धा के दोषों का न होना भी (धर्म के
 साधन हैं) ॥ ३ ॥

भाषार्थ—पूर्वसूत्र में जो चारों ब्रह्मचर्यादि आश्रमों को धर्म के साधन कहे, उनसे
 अतिरिक्त श्रद्धा के दोष श्रद्धा न होना रूप अधर्म का साधन है तथा श्रद्धा धर्म की
 साधन होती है यह भी जानना चाहिये ॥ ३ ॥

वपस्कार—‘ब्रह्मचर्य’ आदि चार आश्रमों का जो समानधर्म का साधन होता है

उपधा. भावस्य श्रद्धाया दोषा, अनुपधा. श्रद्धाया भावस्यादोषा* तैऽपि धर्मा-
धर्मयो साधनानि यथास्वमूहनीयानि । उपधापदेनाधर्मसाधनानि सर्वाण्यु-
पसंगृहीतानि ॥ ३ ॥

उपाधानुपधे लक्षणतो विवेचयन्नाह—

भावदोष उपधाऽदोषोऽनुपधा ॥ ४ ॥

भाव — इच्छा—राग* प्रमादोऽश्रद्धामदमानासूयाप्रभृतयो भावदोषा
उपधापदेनोच्यन्ते, श्रद्धा मन प्रसादो देशितकर्मानुष्ठानाध्यवसाय इतिकर्त-
व्यतापरिच्छेदश्चानुपधा । तदेतयोर्धर्माधर्मनिमित्तकारणत्वमुक्तम् ॥ ४ ॥

शुच्यशुचिनी घोषधानुपधे । तत्र शुच्यशुचिनी विवेचयति—

वह पूर्वसूत्र में ही कहा गया है ऐसा सूत्र में आकाशित शेष अर्थ जोड़ना । श्रद्धारूप
भाव (धर्म) के दोष श्रद्धा न होना यह सूत्र के उपधा शब्द का अर्थ है तथा
श्रद्धारूप भाव (धर्म) के दोष न होना यह अनुपधा शब्द का अर्थ है । ये भी क्रम से
धर्म तथा अधर्म के साधन होते हैं । यह यथायोग्य स्वयं जान लेना चाहिये । सूत्र के
उपधा शब्द से अश्रद्धा के समान और जितने अधर्म के साधन हैं उनका समूह
होता है ॥ ३ ॥

उपधा तथा अनुपधा का सूत्रकार स्वयं लक्षण द्वारा विवेचन करते हैं—

पदपदार्थ—भावदोष=श्रद्धा के दोष, उपधा=उपधा कहे जाते हैं, अदोष=
श्रद्धा के दोष न होना, अनुपधा=अनुपधा कहे जाते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—पूर्वसूत्रोक्त के चारों ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के साधारण धर्म के साधन
कहे हैं उनको छोड़कर जो श्रद्धा के दोष तथा दोषों का न होना अधर्म तथा धर्म
का साधन उपधन तथा अनुपधा शब्द से कहे हैं उन्हीं का इस सूत्र में सूत्रकार ने
विवरण किया है कि श्रद्धारूप भाव के अश्रद्धा, मद, मान इत्यादि दोष उपधा कहाते
हैं । तथा श्रद्धा, मन की प्रसन्नता आदि श्रद्धारूप भाव के दोषों का न होना ही
अनुपधा शब्द का अर्थ है ॥ ४ ॥

उपस्कार—इच्छा तथा राग भाव शब्द के पर्याय हैं, जो श्रद्धा के विशेष हैं ।
उसके प्रमाद करना, श्रद्धा न रखना, मद करना, अहंकार, असूया (डाह) इत्यादि
भाव के दोषों को उपधा कहते हैं । श्रद्धा रखना, मन की प्रसन्नता, शास्त्र में विहित
कर्मों के करने का निश्चय करना, तद् न कर्म के इति कर्तव्यया (इस प्रकार कर्म
करना होता है) का ज्ञान भी अनुपधा शब्द का अर्थ है । इस प्रकार यह उपधा तथा
अनुपधा दोनों धर्म तथा अधर्म के निमित्त कारण हैं, यह कहा गया ॥ ४ ॥

शुचिता (शुद्धि) तथा अशुचिता (अशुद्धि) भी उपधा तथा अनुपधा कहाती
है । उनमें शुचिता तथा अशुचिता का सूत्रकार विवेचन करते हैं—

यदिष्टरूपरसगन्धस्पर्शं प्रोक्षितमभ्युक्षितञ्च तच्छुचि ॥ ५ ॥

इष्टं श्रुत्या स्मृत्या च यद्रूपादिकं विहितं यस्य द्रव्यस्य तत्तथा । तत्र रूपम्—
'अरुणया एकहायन्या पिप्पलाक्षया गवा सोमं क्रोणाति' 'इवेतं छागलमालभेत'
इत्यादी । प्रोक्षित मन्त्रेणोदकसिक्तम् । अभ्युक्षितं विना मन्त्रमुदकसिक्तम् ।
चकारान्यायतो लघ्वम् तच्च 'याजनाध्यापनप्रतिप्रहैर्वाह्यो घनमर्जयेत्'
इत्यादिनियमविवोधितम् ॥ ५ ॥

अशुचिलक्षणमाह—

अशुचीति शुचिप्रतिषेधः ॥ ६ ॥

पदत्रयं शुचि सत्विपरीतमशुचीत्वर्थः । अशस्तत्त्वरूपरसगन्धस्पर्शमन्त्र-

पदपदार्थ—यत् = जो, इष्टरूपरसगन्धस्पर्शं = जास्त से विहित रूप, रस, गन्ध,
तथा स्पर्शगुण होता है, प्रोक्षित = मन्त्रपाठपूर्वक जल से सींचा हुआ, अभ्युक्षितं
= जीर विना मन्त्र के केवल शुद्ध जल से सींचा जाता है, तत्त्वरूपादि, शुचि=शुद्ध
होता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—वेद तथा स्मृत्यादिको में जो पदार्थों का अरुण इत्यादि विहित है
यह मन्त्रपाठपूर्वक जल से (प्रोक्षित) जल से प्रोक्षण किया जाता है, और विना मन्त्र-
पाठ के केवल शुद्ध जल से सींचा जाता है वह सपूर्ण शुचि (पवित्र) कहा जाता
है ॥ ५ ॥

उपस्कार—जो रूप, रस आदि गुण जिस द्रव्य के श्रुति और स्मृति से विहित है
वह इष्टरूप आदि गुण होते हैं । उनमें से रूप तथा रस की 'अरुण या एकहायका
गवा सोमं धर्मं जाति' अर्थात् रक्तवर्ण की एक बयें अवस्थावासी पीत आलवाली
गौ को देकर सोमलता को खरीदता है, तथा 'इवेतं छागलमालभेत' अर्थात् इवेतवर्ण
के बकरे को स्पर्श करता है 'म्वानुकि मधुराणि' मीठा और मधुर इत्यादि श्रुति तथा
स्मृति में रक्तरूप तथा मधुररस वर्णन किया है । उनका मन्त्रपाठपूर्वक जल से
सिचनरूप प्रोक्षण, तथा विना मन्त्रपाठ के शुद्ध जल से सींचना अभ्युक्षण कहाता
है । तथा मूत्र के चकार से न्याय से प्राप्त हुआ घन लेना । वह 'याजनाध्यापन
प्रतिप्रहैर्वाह्यो घनमर्जयेत्' ब्राह्मण याग कराना, पढ़ाना, दात लेना इत्यादि
व्यापार से घन उत्पादन करे, इत्यादि नियमविधि से शास्त्र में विहित है ॥ ५ ॥

अशुचि का लक्षण सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अशुचि = अपवित्र है, इति = यह, शुचिप्रतिषेध = पवित्रता का
निषेध है ॥ ६ ॥

भावार्थ—पवित्र द्रव्य के विपरीत द्रव्य का नाम है अशुचि अपवित्र ॥ ६ ॥

उपस्कार—जो द्रव्य शुचि (पवित्र) होता है उसके विपरीत (उलटा)
अशुचि (अपवित्र) होता है यह सूत्र का अर्थ है । जिस द्रव्य का रूप, रस, गन्ध,

प्रोक्षितमनभ्युक्षितं निषिद्धजलाभ्युक्षितं वा अन्यायागतम् कृपिनाणिग्यागतं
प्राज्ञाणस्य द्रव्यमशुचोत्तर्यः ॥ ६ ॥

अशुच्यन्तरमाह—

अर्थान्तरञ्च ॥ ७ ॥

प्रशस्तरूपरसगन्धस्पर्शमपि प्रोक्षितमभ्युक्षितं न्यायार्जितञ्च यत्तत्रापि
वागदुष्टञ्च भावदुष्टञ्च यत्तदप्यशुचोत्तर्यः ॥ ७ ॥

इदानीं धर्माधर्मां प्रति सहकार्यन्तरमाह—

अयतस्य शुचिमोजनादभ्युदयो न विद्यते नियमाभावात् विद्यते

स्पर्शं शान्तं से निन्दितं विना मन्त्रपाठ के प्रोक्षण किया, अथवा शुद्ध जल से अभ्यु-
क्षित न हो या अशुद्ध जल से अभ्युक्षित हो, तथा अन्याय से प्राप्त वृषि, वाणिज्य-
व्यापार से प्राप्ति ब्राह्मण का घन हो यह संपूर्ण अशुचि (अपवित्र) होता है ॥ ६ ॥

दूसरे अशुचि पदार्थों भी सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अर्थान्तर च = निन्दित रूपादिवाले द्रव्य के समान, वाणी इत्यादिको
के भाव से दूषित दूसरे द्रव्य भी, (अशुचि होते हैं) ॥ ७ ॥

भाकार्य—शान्त से प्रशंसा किये हुए रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्शवाला तथा
प्रोक्षण और अभ्युक्षण किया हुआ, तथा न्याय से संपादन किया हुआ भी द्रव्य
यदि असत्वादि रूप वाणी के दोषों से तथा भाव (मन के आशय) रूप अर्थान्तर
(दूसरे दोषों) से युक्त हो तो वह द्रव्य भी अशुचि होता है ॥ ७ ॥

उपस्कार—शास्त्र में विहित होने से प्रशस्त (उत्तम) रूप, रस, गन्ध तथा
स्पर्श का आशय, एवं मन्त्रपाठपूर्वक जल से प्रोक्षण किया गया, तथा केवल शुद्ध जल
से अभ्युक्षण (सीखा हुआ) और अपने-अपने शास्त्रोक्त व्यापार से न्यायपूर्वक प्राप्त
किया भी घटादि द्रव्य यदि मिथ्याभाषणादि रूप वाणी के दोष तथा त्रौष आदि
मानसिक दोषों से दूषित हो तो वह भी अशुचि (अपवित्र) कहा जाता है। यह सूत्र का
अर्थ है ॥ ७ ॥

साप्रत धर्म तथा अधर्म के दूसरे सहायकों का सूत्रकार वर्णन करते हैं—

पदपदार्थ—अयतस्य = यमनियमरहित, पुरुष को, शुचिमोजनात् = पवित्र
भोजन करने से, अभ्युदय = धर्म, न विद्यते = नहीं होता है, नियमाभावात् =
नियम न होने के कारण, विद्यते वा = अथवा होता है, अर्थान्तरत्वात् = सहायक
दूसरा पदार्थ होने से, यम = यम के ॥ ८ ॥

भाकार्य—हस्त-पादशालनादि भोजन के शास्त्रोक्त यमनियमादिकों के अनुसार
समरहित पुरुषों को पवित्र भोजन करने पर भी धर्म (पुण्य) की उत्पत्ति नहीं,
किन्तु अधर्म (पाप) ही की उत्पत्ति होती है और चक्र यमनियमपूर्वक पवित्र भोजन

वाऽर्थान्तरत्वात् यमस्य ॥ ८ ॥

अयमस्य यमरहितस्यासंयतस्येति यादत् । “हस्तौ पादौ प्रक्षाल्याचम्य चाग्नौ भुञ्जीत, भोक्ष्यमाणं प्रयतोऽपि द्विराचामेत्” इत्यादिवोधितयमरहितस्य भोजनं नाभ्युदयाय किन्तु पापाय । कुन एवमित्यत आह—नियमाभावात् । नियमाय सहकारिणोऽभावात् । नियमे सति यत्तदाह—विद्यते वा । यथोक्तयमसाहित्येन भोजने भवत्येवाभ्युदयः । कुत इत्यत आह—अर्थान्तरत्वाद् यमस्य । भोजनादर्थान्तरं यतो यम । तथा च सहकारिकारणं विना न फलसिद्धिस्तेस्मिन् सति फलसिद्धिरित्यर्थः ॥ ८ ॥

ननु यममात्रमेव तन्त्रं तर्हि भोजनमसम्प्रमेवेत्यत आह—

असति चाभावात् ॥ ९ ॥

करने से सहायक यमनियम के रूप अन्य पदार्थ की महायता से पुण्य की उत्पत्ति होती है । अर्थात् सूत्र में यमपद नियम का भी सूचक है, ऐसा होने से यम तथा नियम के साथ पवित्र भोजन करने से धर्म तथा विना यम-नियम के किया हुआ पवित्र भोजन भी पाप को उत्पन्न करता है ॥ ८ ॥

उपस्कार—सूत्र के अयम शब्द का अर्थ है, यमरहित, अर्थात् अमयत (पक्काते, बड़बड़ करते) । ‘हस्तौ पादौ प्रक्षाल्याचम्य चाग्नौ भुञ्जीत’ हस्त तथा पादों को धोकर मौन होते हुए भोजन करे, भोजन के पूर्व तथा पश्चात् दो बार आचमन करे, इत्यादि विधि में बताये हुए हस्त-पादप्रक्षालनादि रूप नियम तथा मौन आदि यम से रहित मनुष्य का भोजन अभ्युदय (पुण्य) का कारण नहीं होता, किन्तु पाप का कारण होता है । ऐसा क्यों ? इस प्रश्न के समाधानार्थं सूत्र में सूत्रकार ने ‘नियमाभावात्’ नियम न होने से ऐसा कहा है । अर्थात् सहायक नियम के न होने से । नियम होने से जो फल होता है वह सूत्रकार कहते हैं—‘विद्यते वा’ (इत्यादिक सूत्र के अन्तिम भाग में) अर्थात् पूर्वोक्त भोजन के नियम तथा यम की सहायता से भोजन करने पर पुण्य होता ही है । क्यों ? इस प्रश्न पर सूत्रकार कहते हैं—‘अर्थान्तरत्वाद्यमस्य’ अर्थात् यम तथा नियम के ‘अर्थान्तरत्वात्’ दूसरा पदार्थ होने से, अर्थात् भोजन से यम-नियम दूसरे पदार्थ हैं । ऐसा होने से सहायक कारण के बिना फल की सिद्धि नहीं होती और सहायक के रहने पर फल की सिद्धि होती है, यह सूत्र का अर्थ है ॥ ८ ॥

यदि यमनियम ही शुचिता के कारण पुण्य के प्रयोजक हैं तो भोजन पुण्य का कारण न होगा ? इस शंका के समाधानार्थं सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—असति च = और भोजन के न रहने पर, अभावात् = पुण्य के अभाव होने के कारण ॥ ९ ॥

भाषार्थ—यमनियम रहने पर भी यदि पवित्र भोजन न हो तो पुण्य नहीं

यमे सत्यपि शुचिभोजनेऽसति अभावाद्भुदयस्येति शेषः । तथा च यमो भोजनञ्च द्वयमेव पुण्यकारणमित्यर्थः । भोजनमित्युपलक्षणम् यागदानस्नान-होमादीनामपि श्रौतस्मार्तकर्मणा यमनियमौ सहकारिणौ ॥ ९ ॥

एव धर्माधर्मप्रादुर्भावं प्रति यमसहकारिणमभिधाय दोषसहकारिणमभिधातुं दोषनिदानमाह—

सुखाद्भागः ॥ १० ॥

सहचन्दनवनितादिविषयसेवनजन्मनः सुखादुत्तरोत्तरं तज्जातोये सुखे तत्साधने वा राग इच्छा सङ्जायते । अद्विकण्टकादिजन्मनो दुःखात् तत्र तत्साधने वा द्वेष इत्यपि द्रष्टव्यम् । रागद्वेषमोहाः प्रवर्तकत्वेन दोषा इत्यभिधीयन्ते ।

होता अतः यम-नियम तथा पवित्र भोजन दोनों ही पुण्य के कारण हैं यह सिद्ध होता है ॥ ९ ॥

उपस्कार—यमनियम रहने पर भी शुचिभोजन के न रहने पर अभावात्—न होने से अर्थात् पुण्य के ऐसा सूत्र में आकाशित 'अभ्युदय' शब्द का शेष भाग पूरण करना । ऐसा होने से यम-नियम तथा पवित्र भोजन दोनों ही पुण्य के कारण हैं यह सूत्र का अर्थ है । वैदिक तथा स्मार्त (स्मृति) में उक्त सम्पूर्ण यज्ञ, दान, स्नान तथा होम-हवन आदि पुण्यवर्मा के यम-नियम सहायक कारण हैं यह सूत्र के 'भोजन' पद से सूचित होता है ॥ ९ ॥

इस प्रकार धर्म तथा अधर्म के प्रादुर्भाव (प्रगट होने) में यम तथा नियम सहकारिकारण होते हैं यह कह कर दोषरूप सहकारिकारण को कहने के लिये दोष का कारण सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—सुखात् = विषयभोगजन्य सुख से, राग = इच्छा (उत्पन्न होती है) ॥ १० ॥

भाषार्थ—प्रियविषयो के सेवन से उत्पन्न हुए सुख से उत्तरोत्तर उसी प्रकार के विषयमुख तथा उनके साधनो से इच्छा होती है, तथा अनिष्ट विषय से उत्पन्न दुःख से उन विषयो में तथा उनके साधनों में द्वेष उत्पन्न होता है, इसी कारण प्रवृत्ति कराना दोषो का सामान्य लक्षण न्यायसूत्र में 'प्रवर्तनारक्षण दोषा' प्रवृत्ति कराने के स्वभाववाले दोष होते हैं, ऐसा किया है ॥ १० ॥

उपस्कार—माला, चन्दन, स्त्री आदि प्रियविषयो की सेवा करने से उत्पन्न सुख से उत्तरोत्तर उसी समान जाति के मुख अथवा उसके साधनो में राग (इच्छा) उत्पन्न होती है । सर्प, कण्टक (काटा) आदि अप्रियविषयो से उत्पन्न हुए दुःख के अनुभव के कारण मर्ष आदि अप्रियविषय अथवा उनके साधनो में द्वेष होता है यह

तथा च गौतमोयं सूत्रम्—‘प्रवर्तनालक्षणा दोषाः’ अ० १ आ० १ सू० १८ इति ॥ १० ॥

अत्र सुखदुःखे एव यदि रागद्वेषौ जनयतः तदा तयोर्नाशे कथं तो स्यातायत आह—

तन्मयत्वञ्चि ॥ ११ ॥

रागद्वेषौ भङ्ग इति शेषः । विषयाभ्यासजनितौ दृढतरः संस्कारविशेषस्तन्मयत्वं यद्वशात् कामातुरस्य कामिनोर्मळममानस्य सर्वत्र कामिनोदर्शनम् । एकदा शुक्लदृष्टस्य तत्र दृढतरसंस्कारतः सर्वत्र भुजङ्गदर्शनम् । तदुक्तम्—

तन्मयत्वं तत्प्रकाशो बाह्याभ्यन्तरतस्तथा । इति ॥ ११ ॥

हेत्वन्तर समुच्चिनोति—

जानना चाहिये । राग, द्वेष तथा मोह प्रवृत्ति के कारण होने से दोष कहे जाते हैं । इसी वास्ते गौतम महर्षि का ‘प्रवर्तनालक्षणा दोषा’ प्रवृत्ति कराने के स्वभाव-रूप दोष होते हैं, ऐसा (अ० १, आ० १, सूत्र १८) सूत्र है ॥ १० ॥

यहाँ यदि सुख तथा दुःख ही राग तथा द्वेष को उत्पन्न करते हैं तो उन सुख तथा दुःख के नाश होने पर राग तथा द्वेष कैसे होंगे ? इस बाका के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तन्मयत्वात् च = बाहर-भीतर विषयभोग से उत्पन्न तन्मयता-रूप संस्कारविशेष से राग तथा द्वेष होते हैं ॥ ११ ॥

भावार्थ—विषयभोग से उत्पन्न सुख तथा दुःख का नाश होने पर भी विषय के अभ्यास से उत्पन्न अतिदृढ संस्कारविशेषरूप तन्मयता के कारण राग तथा द्वेष होते हैं ॥ ११ ॥

व्याख्यान—सूत्र में आकाशित पद की पूर्ति करते हुए शरकरमिश्र कहते हैं कि—सूत्र के अन्त में राग तथा द्वेष होने हैं ऐसा शेषपद देना । त्रिविधविषयो के भोग के अभ्यास से उत्पन्न हुआ अत्यन्त दृढ तथा वनारूप संस्कार की विशेषता ही सूत्र में कही हुई ‘तन्मयत्वं’ विशेषरूपता है जिसके कारण कामातुर (काम से व्याकुल) मनुष्य को जिसे कामिनी (स्त्री) की प्राप्ति न होनी हो सर्वत्र कामिनी ही दिखाई पड़ती है तथा एक विंसी (पूर्व) समय में सर्प से दस होने के कारण उससे उत्पन्न दुःख की दृढभावनारूप संस्कार सर्वत्र सर्प ही दिखाई पड़ता है । अतएव कहा है—तन्मयत्वं = तन्मयता है, तत्प्रकाश = उस पदार्थ का प्रगट होना, बाह्याभ्यन्तरत = बाहर तथा मन के भीतर, तथा = उसी विषयरूप में । इति—ऐसा ॥ ११ ॥

उक्त विषय में हमारे कारण का सूत्रकार समग्र करते हुए कहते हैं—

अदृष्टाच्च ॥ १२ ॥

रागद्वेषाविति शेषः । यद्यप्यदृष्ट साधारणकारणम् तथापि कचित्तौ प्रति
असाधारणतामप्यनुभवति । यथा तज्जन्मानुभूतकामिनीसुखस्यापि यौवनोद्भेदे
कामिनोरागः, अननुभूतमुल्लङ्घ्यशुखानामपि भुजङ्गेषु द्वेष इत्यादियुत्रेणम् ।
न च प्राग्भवोऽयं सस्कार एवात्र निबन्धनम्, तत्कल्पने तदुद्बोधकल्पने च
प्राधान्याभावात् अदृष्टस्यावश्यकल्पनीयत्वात् ॥ १२ ॥

सहकार्यन्तरमाह—

जातिविशेषाच्च ॥ १३ ॥

तथाहि मनुष्यजातीयानामत्रादौ रागः, मृगजातीयानां कृणादौ, करभजा-
तीयानां कष्टकादौ । तत्रापि तत्तज्जातिसिद्ध्यदकमदृष्टमेव तन्त्रम् द्वारमात्रमु

पदपदार्थ—अदृष्टात् च = और अदृष्ट से भी (राग तथा द्वेष होते हैं) ॥ १२ ॥

भावार्थ—तन्मयत्व के समान अदृष्ट (धर्माधर्म) से भी राग तथा द्वेष
होते हैं ॥ १२ ॥

उपस्कार—सूत्र में आकाशित पद की पूर्ति 'रागद्वेषौ' ऐसे पद के शेष से करना ।
यद्यपि धर्म तथा अधर्मरूप अदृष्ट सामान्य कारण हैं तथापि कभी-कभी राग तथा
द्वेष से विशेष कारण भी होते हैं, जिस प्रकार इस जन्म से स्त्रीभोगसुख का अनु-
भव न करनेवाले भी प्राणी को जीवन (तरुणता) प्रपट होने पर स्त्रीभोगविषय
में प्रेम होता है तथा उस जन्म में जिसे सर्पदशादिको से उत्पन्न होनेवाले दुःख
का अनुभव नहीं है ऐसे प्राणियों को भी सर्पों में द्वेष होता है इत्यादि जान लेना
चाहिये । इसमें पूर्वजन्म का सुख तथा दुःख के भोग से उत्पन्न भावनासस्कार ही
निबन्धन (कारण) नहीं हो सकता, क्योंकि उसकी तथा उसके उद्बोधक (स्मरण करने-
वाले) की भी कल्पना करने से कोई प्रमाण नहीं है, और अदृष्ट अवश्य ही राग तथा
द्वेष का कारण मानना है ॥ १२ ॥

राग तथा द्वेष में दूसरे सहकारिकारण का सूचकार बर्णन करते हैं—

पदपदार्थ—जातिविशेषत्वात् च = प्राणियों की मनुष्यता आदि जातिविशेष
से भी (राग तथा द्वेष होते हैं) ॥ १३ ॥

भावार्थ—अदृष्ट आदि के समान प्राणियों के मनुष्य आदि विशेष जातियों के
कारण भी राग तथा द्वेष होते हैं ॥ १३ ॥

उपस्कार—जातिविशेष से भी राग द्वेष इस प्रकार होते हैं कि मनुष्यादि
प्राणियों का अन्न आदि भक्ष्य पदार्थ में खाने की राग (इच्छा) होती है, मृग आदि
पशुजाति की प्राणियों की कृणादि भक्षण करने में, ऊँट इत्यादि जाति के प्राणियों
की बाँटा, कटुआ आदि खाने में इच्छा होती है । उसमें भी वस्तुतः उस-उस प्राणी-

जातिर्जन्मविशेषः । एव पारावतादीनामुत्करे-रागः । तथा महिषंजातोयानां
तुरङ्गमे द्वेषः, सारमेयाणां शृगाले नकुलानां भुजङ्गमे इत्याद्युन्नेयम् ॥ १३ ॥

एव धर्माधर्मनिमित्ततया रागद्वेषनिमित्तानि परिसङ्गृह्य संप्रति दोषाणां
धर्माधर्मकारणत्वं प्रवृत्तिद्वारेत्याह—

इच्छाद्वेषपूर्विका धर्माधर्मप्रवृत्तिः ॥ १४ ॥

विहिते कर्मणि रागनिषन्धना-निषिद्धे कर्मणि हिंसादौ द्वेषनिषन्धना प्रवृत्तिः,
रागनिषन्धना ग्राहादौ प्रवृत्तिर्धर्म प्रसूते द्वेषनिषन्धना हिंसादौ प्रवृत्तिरधर्मम् ।
साधेनौ रागद्वेषो ससारमनुवर्तयतः । तथाच गौतमीयं सूत्रम्—‘प्रवृत्तिर्वागुद्धि-

जाति के शरीर के उत्पन्न करनेवाला अदृष्ट ही कारण है । उन-उन प्राणियों की जातिरूप
जन्मविशेष तो द्वारमात्र हैं । इसी प्रकार कपीत (क्यूतर) आदि प्राणियों का धान्य के
कण-भक्षण करने में इच्छा होती है । इसी प्रकार महिषजाति के प्राणियों को तुरगम
(अश्व) में द्वेष, सारमेय (कुत्तो) का शृगाल (तिघार) में, और नेबलो का तप में
द्वेष होता है इत्यादि जान लेना ॥ १३ ॥

इस प्रकार धर्म तथा अधर्म के कारणरूप से राग, द्वेष के कारणों की गणना
कर, सांप्रत राग-द्वेषादि दोष पुण्य तथा अपुण्यरूप प्रवृत्ति के द्वारा धर्म तथा अधर्म
के कारण होते हैं यह सूत्रकार वर्णन करते हैं—

पदपदार्थ—इच्छाद्वेषपूर्विका=इच्छा तथा द्वेषपूर्वक होती है, धर्माधर्मप्रवृत्ति =
धर्म (पुण्य) तथा अधर्म (पाप) रूप कर्म में प्रवृत्ति ॥ १४ ॥

भाषार्थ—शास्त्रोक्त पुण्यफलजनक यज्ञ-दान आदि कर्मों में राग (इच्छा) के
कारण तथा शास्त्र में निषिद्ध हिंसादि पापजनक कर्मों में द्वेष के कारण प्रवृत्ति होती
है, इसी से राग तथा द्वेष के कारण से ससारचक्र में प्राणियों को बन्धन प्राप्त
होता है ॥ १४ ॥

उपस्कार—शास्त्र में विहित यज्ञ दान इत्यादि कर्मों में राग (इच्छा) के
कारण,—तथा शास्त्र से निषिद्ध हिंसादि कर्मों में द्वेष के कारण प्रवृत्ति होती है ।
क्योंकि स्वर्गादि सुख के प्राप्ति की उत्कृष्ट इच्छा के कारण यज्ञ-दानादि कर्मों में
प्राणी की प्रवृत्ति धर्मरूप अदृष्ट को उत्पन्न करती है, तथा शत्रु की हिंसा से ऐहिक
सुख होने की आशा से द्वेष के कारण शत्रुहिंसादि रूप पापजनक कर्मों में प्रवृत्ति
अधर्मरूप अदृष्ट को उत्पन्न करती है । ये ये दोनों राग तथा द्वेष जन्ममरणरूप
समारचक्र को चलाते हैं । इसी प्रकार गौतम महर्षि का ‘प्रवृत्तिर्वागुद्धिशरीरा-
रम्भ’ (अ० १ आ० १, सू० १७) वाचिक, मानसिक तथा धारीरिक ऐसी आरम्भ-
रूप तीन प्रवृत्ति हैं, इस आचार्य का न्यायसूत्र है । जिसमें प्राणी के आरम्भ की
वाचिक प्रवृत्ति जो सत्य, प्रिय, हित ऐसी तीन प्रकार की पुण्यरूप तथा अतत्त्व,

शरीरारम्भः' अ० १ आ० १ सू० १७ इति । वागारम्भो वाचिकी प्रवृत्ति, सत्यं प्रिय हितमिति पुण्या, असत्यमप्रियमहितमिति पापा । बुद्धिः बुध्यते ज्ञायतेऽनेनेति मन उच्यते, तेन मानसो प्रवृत्तिर्भूतदयादि । शरीरो प्रवृत्तिर्दान परिचरणमित्यादिका दशविधा पापा दशविधा पुण्या चेति ॥ १४ ॥

इदानीं धर्माधर्मयोः प्रयोजनं प्रेत्याभावमाह—

तत्संयोगो विभागः ॥ १५ ॥

ताभ्यां धर्माधर्माभ्यां संयोगो जन्म अपूर्वाभिः शरीरेन्द्रियवेदनाभिः सम्बन्धः संयोग इहोच्यते । विभागस्तु शरीरमनोविभागो मरणलक्षणः ।

अप्रिय तथा अहितरूप तीन प्रकार की पापरूप होती है (यहाँ प्रिय शब्द से स्वाध्याय भी लेना चाहिए ।) 'कथ्यते ज्ञायतेऽनेन' जिससे जाना जाय इस व्युत्पत्ति के बल से सूत्र के बुद्धिशब्द का अर्थ है मन, इससे भूतदया आदि मानसी प्रवृत्ति ग्रहण करनी चाहिये । (यह मानसी प्रवृत्ति भी पुण्य तथा पापरूप दो प्रकार की है, जिसमें दया, अलोभ, श्रद्धा इस प्रकार तीन प्रकार की पुण्यरूप, तथा परद्रोह, परधन की इच्छा, नास्तिकता ऐसी तीन प्रकार की पापरूप मानसी प्रवृत्ति है ।) और शरीर-सम्बन्धी प्रवृत्ति दान, परिचरण, सेवा, रक्षा इत्यादि दस प्रकार की पुण्यरूप तथा हिंसा, चोरी, अगम्यस्त्रीभोग इत्यादि दस प्रकार की पापरूप प्रवृत्ति होती है, इस प्रकार वाणी, मन तथा शरीर की दशविध प्रवृत्ति होती है ॥ १४ ॥

साप्रत धर्म तथा अधर्म के प्रयोजन (फल) रूप प्रेत्यभाव को सूत्रकार कहते हैं—
पदपदार्थ—तत्संयोग = धर्म तथा अधर्म से संयोग, विभाग = तथा उनसे विभाग ॥ १५ ॥

भाषार्थ—धर्म तथा अधर्म के संयोग से शरीरादि सम्बन्धरूप जन्म, तथा उनके विभाग से शरीरादि विभागरूप मरण, इस प्रकार जन्ममरणसमूहरूप ससार जिसको प्रेत्यभाव ऐसा दर्शनी में कहा गया है ॥ १५ ॥

उपस्कार—उन धर्म तथा अधर्म दोनों से संयोग जन्म अर्थात् अपूर्वं (जो पूर्व में नहीं थे) ऐसे शरीर, इन्द्रिय तथा वेदना (प्राणादि वायुसमूह) इनसे संयोगरूप सम्बन्ध इस सूत्र में संयोग कहा है । (यहाँ सामान्य स्थिति में जन्मलक्षण की अतिव्याप्ति दोष-वारणार्थ अपूर्वं ऐसा विशेषण शर्करामिश्र ने दिया है)—अर्थात् अपूर्वं शरीर, इन्द्रिय तथा प्राणवायु के सम्बन्ध को जन्म कहते हैं । दो-तीन टुकड़ों में कटे हुए गोह, सर्प आदिकों में (जिनमें कुछ काल तक प्राण सम्बन्ध रहता है) खण्डशरीर उत्पन्न होने पर जन्मलक्षण के अतिव्याप्तिवारणार्थ इन्द्रिय पद, तथा ससार रहने तक साथ रहनेवाले मनरूप इन्द्रिय की अपूर्वता बिना शरीर के नहीं हो सकती इसलिये

तथा चायं जन्ममरणप्रबन्धः संसारः प्रेत्यभावापरनामा धर्माधर्माभ्यामित्यर्थः ।
अस्यैव च प्रेत्यभावस्याजरजरीभाव इति वैदिकी संज्ञा ॥ १५ ॥

तदेतस्य प्रेत्यभावस्य जन्ममरणप्रबन्धस्य यत्र च पर्यवसानं तं
मोक्षं निरूपयितुमाह—

आत्मकर्मसु मोक्षो व्याख्यातः ॥ १६ ॥

अयमेव शरीरमनोविभागः आत्मकर्मसु सत्सु मोक्षो भवतीत्यर्थः । तत्रा-
त्मकर्माणि तावत् अवर्णं मननं योगाभ्यासो निदिध्यासनमासनं प्राणायामः
शमदमसम्पत्तिः आत्मपरात्ममाक्षात्कारो देहदेशान्तरोपभोग्यपूर्वोत्पन्नधर्माधर्म-
परिज्ञान तद्भोगानुरूपनानादेहनिर्माणं तयोर्भोगेन प्रक्षयो रागद्वेषलक्षणदोष-

शरीरपद दिया है । आस आदि के कारण प्रयत्न के लिये मन तथा प्राण का संयोग
आवश्यक होने से प्राणसमूहाद्यं वेदना पद भी दिया है । (आगे सूत्र के विभाग
शब्द का अर्थ शरीरमिथ कहते हैं कि)—शरीर तथा मन का मरणरूप ही सूत्र के
विभाग शब्द का अर्थ है, ऐसा होने से जन्म तथा मरण प्रबन्ध (समूह) रूप संसार
जिसे प्रेत्यभाव कहते हैं धर्म तथा अधर्म से होता है यह सूत्र का अर्थ है । इसी प्रेत्य-
भाव की 'अजरजरीभाव' ऐसी वैदिक संज्ञा है (इसी से 'पुनरुत्पत्ति' प्रेत्यभाव'
अर्थात् बारबार उत्पन्न होना प्रेत्यभाव कहाता है, ऐसा गौतम महर्षि का (अ० १,
आ० १ सू० १६) सूत्र है ॥ १६ ॥

तस्मात् इस जन्म तथा मरण संतानरूप प्रेत्यभाव का जिस अवस्था में पर्यव-
सान (समाप्ति) होती है उस मोक्ष का निरूपण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—आत्मकर्मसु=आत्मा के कर्म होने पर, मोक्ष=मोक्ष होता है,
व्याख्यात=यह व्याख्या किया गया ॥ १६ ॥

भावार्थ—शरीर तथा मन का यह विभाग होना आत्मनस्त्वसाक्षात्काररूप
आत्मा के कर्म होने पर मोक्ष कहाता है यह अर्थात् व्याख्या किया गया ॥ १६ ॥

उपस्कार—यही शरीर तथा मन का विभाग आत्मा के कर्म होने पर मोक्ष होता
है यह सूत्र का अर्थ है जगमे आत्मकर्म यह है—श्रवण, मनन, योगाभ्यास, निदिध्यासन,
भासन, प्राणायाम तथा शम (मनोनिग्रह), दम (बाह्येन्द्रियनिग्रह) इनकी सम्पत्ति
सिद्धि, आत्मा अपने जीवात्मा तथा परमात्मा का साक्षात्कार, शरीर से दूसरे देश
में भोग करनेयोग्य पूर्व में उत्पन्न धर्म तथा अधर्म का संपूर्ण ज्ञान होना, तथा उनके
भोग के अनुकूल नाना शरीर की योग्यता से रचना करना उन धर्म तथा अधर्म का
भोग से नाश, एवं राग तथा द्वेषरूप दोष तुषार के दमन से आगे के भोग देनेवाले

तुषारदमादग्निमघर्मोघर्मयोरनुत्वादात् प्रवृत्त्यपाये जन्मापायाद् दुःखापापलक्ष-
णोऽपवर्गस्तत्र षट्षडार्थोयतत्त्वज्ञानमाद्यमात्मकम् ॥ ३६ ॥

इति श्रीशङ्करे वैशेषिकसूत्रोपस्कारे षष्ठाध्यायस्य

द्वितीयमाह्निकम् ।

समाप्तश्चायं षष्ठाध्यायः ।

धर्म तथा अधर्म की उत्पत्ति न होने से प्रवृत्ति का नाश प्रागभाव होने के कारण
जन्म के आभाव से अत्यान्तिक दुःखनिवृत्तिस्वरूप अपवर्ग (मोक्ष) होता है,
जिसमें द्रव्य-गुण आदि षट् पदार्थों का तत्त्वज्ञान परम आत्मकर्म है । इस विषय में
'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिध्याक्षानानाद्युत्तरोत्तरापाये तदमन्तराभावादपवर्ग' (अ० १.
आ० १ सूत्र २) यह शैलम महर्षि का मूल प्रमाण है ॥ १६ ॥

इस प्रकार शङ्करमिश्रकृत वैशेषिकसूत्रोपस्कार व्याख्या में
षष्ठाध्याय का द्वितीय आह्निक समाप्त हुआ ।

सप्तमाध्याये प्रथमाह्निकम्

संसारमूलकारणतया सर्वोत्पत्तिमन्निमित्तकारणतया भोगसाधनतया चोत्पत्तिः प्रत्यात्मनियमत्वेन परादृष्टस्यापि परस्योपयोगित्वेन च धर्माधर्मौ परीक्ष्ये-
दानीं गुणान् परोक्षपुस्तेषामुद्देशं लक्षणञ्च स्मारयन्नाह—

उक्ता गुणाः ॥ १ ॥

उद्दिष्टा लक्षिता गुणाश्चेत्यर्थः । तत्र रूपादयः सप्तदश कण्ठरश्मेणोक्ताः चरा-
व्यसमुद्दिष्टाः सप्त, तेन चतुर्विंशानेरपि गुणा उक्ताः । सत्र नित्यवृत्तिः-नित्यवृत्तिः-
सत्ता साक्षाद्ब्रह्मव्याप्यजातिमस्य गुणावम्, समवायिकारणावृत्तिनित्यवृत्तिसत्ता साक्षा-
द्ब्रह्मव्याप्यजातिमस्य वा, असमवायिकारणवृत्तिनित्यवृत्तिसाक्षाद्ब्रह्मव्याप्यजातिमस्य
वा, कार्य्यासमानाधिकरणकर्मावृत्तिजातिमस्य वा ॥ १ ॥

जन्ममरणप्रबन्धरूप संसार के मूलकारण होने से, तथा सपूर्ण उत्पन्न होने-
वाले कार्यों में निमित्तकारण होने तथा सुखदुःख भोग के साधन होने से भी, तथा
प्रत्येक जीवात्मा में उत्पत्ति होने का नियम होने से भी, अथ आत्मा का दृष्ट
दूसरे आत्मा के उपयोगी होने के कारण भी धर्म तथा अधर्म की परीक्षाकर, साप्रत
गुणपदार्थों की परीक्षा करने की इच्छा से उनके उद्देश तथा लक्षणों को स्मरण
कराते हुए सूत्रवार कहते हैं—

पदपदार्थ—उक्ता. = कहे गये, गुणा = गुणपदार्थ ॥ १ ॥

भाषार्थ—गुण नामक पदार्थों का उद्देश (नामकथन) तथा लक्षण पूर्वग्रन्थ
में कहा गया है ॥ १ ॥

उपस्कार—गुणपदार्थों का भी उद्देश तथा लक्षण पूर्व में कहा गया यह सूत्र
का अर्थ है । उनमें रूप से लेकर प्रयत्न तक सप्तदश (सत्रह गुण सूत्रकार ने कण्ठ
से सूत्र में कहे हैं और गुरुत्व से लेकर शब्द तक सात गुणों का चकार से ग्रहण
किया है, जिससे श्रोतृमो गुणों का अद्वैत वर्णन हो चुका है । उसमें नित्य परमा-
णुओं में वर्तमान नित्यगुणों में रहनेवाली सत्ताजाति की साक्षात् व्याप्यजाति
का आश्रय होना १, अथवा समवायिकारण (द्रव्यो) में अवर्तमान, नित्यो में वर्तमान
सत्ता की साक्षात् व्याप्यजाति का आधार होना २, अथवा असमवायिकारण
(गुणों) में वर्तमान नित्य में रहनेवाली सत्ता की साक्षात् व्याप्य जाति का आश्रय
होना ३, कार्य के अधिकरण में न रहनेवाली क्रियाओं में अवर्तमान जाति का
आधार होना ४ गुणों में गुणत्व होता है ॥ १ ॥

तत्र गुणत्वेन गुणपरीक्षा सममाध्यायार्थः । तत्र प्रथमाद्विके नित्यतया गुण-
परीक्षा, अनित्यतया गुणपरीक्षा, पाकजगुणपरीक्षा, सङ्घघातनेकवृत्तिगुणपरीक्षा,
परिमाणपरीक्षा, चेति पञ्चप्रकरणानि, तत्र रूपादीनाञ्चतुर्णामनित्यत्वमाह—

पृथिव्यादिरूपरसगन्धस्पर्शा द्रव्यानित्यत्वादनित्याश्च ॥ २ ॥

पृथिव्यादीनां वायवन्तानामवयविनां रूपाद्यश्चत्वारो गुणा अनित्या । यद्य-
न्येऽपि गुणा अवयविषु वर्तमाना अनित्या एव, तथापि तेषामन्यतोऽपि
विनाशः । रूपाद्यश्चत्वारो गुणा आश्रयनाशादेव नश्यन्ति न तु विरोधिगुणान्त-
रान् । द्रव्यानित्यत्वादिति । द्रव्यस्याश्रयभूतस्यानित्यत्वादाश्रितानामनित्यत्वमि-
मित्यर्थः ॥ २ ॥

रूपादीनामनित्यत्वे यद्याश्रयानित्यत्वं तन्न तदा नित्याश्रयवृत्तीनां नित्यत्व-

उत्तमे गुणस्वरूप से सपूर्ण गुणों की परीक्षा करना सपूर्ण भ्रममाध्याय का विषय है । उत्तमे प्रथमाद्विके में नित्यगुणों की परीक्षा (१), अनित्य गुणों की परीक्षा (२), पाकज गुणों की परीक्षा (३), सत्त्वा आदि अनेक द्रव्यों में रहनेवाले गुणों की परीक्षा (४), तथा परिमाण की परीक्षा (५) ऐसे पांच प्रकरण हैं । उससे १ प्रकरण में रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श यह चार गुण अनित्य होते हैं यह सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थः—पृथिव्यादिरूपरसगन्धस्पर्शा = पृथिवी से वायुपर्यन्त द्रव्यों के रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श नाम का विशेष गुण, द्रव्यानित्यत्वात् = उनके आधार-द्रव्यों के अनित्य होने से, अनित्या च = अनित्य हैं ॥ २ ॥ -

भावार्थः—पृथिवी से वायुपर्यन्त चार द्रव्यों के रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श नामक विशेष गुण आधारद्रव्यों के अनित्य होने के कारण अनित्य होते हैं, तथा नित्यजलादिकों में वर्तमान रूपादि गुण नित्य होते हैं यह भी सूत्र के चकार से सूचित होता है । (पृथिवी द्रव्य में तो परमाणु में भी पाक माननेवाले वैशेषिकों के मत से रूपादि गुण अनित्य ही हैं) यह आगे स्पष्ट किया जायगा ॥ २ ॥

सपस्कारः—पृथिवी से लेकर वायुपर्यन्त चार अवयवि द्रव्यों के रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श में चार गुण अनित्य हैं । यद्यपि दूसरे भी शब्द आदि गुण जो अवयवि द्रव्यों में वर्तमान होते हैं अनित्य ही हैं, तथापि उनका दूसरे विरोधी गुणादिकों से भी नाश होता है । रूप आदि स्पर्शपर्यन्त चार गुण तो आश्रय के नाश से ही नष्ट होते हैं, न कि दूसरे विरोधी गुण में । सूत्र की 'द्रव्यानित्यत्वात्' इस पद का आधार-रूप द्रव्य के अनित्य होने से उनमें आश्रित गुण अनित्य होते हैं यह अर्थ है ॥ २ ॥

यदि रूपादि स्पर्शान्त गुणों की अनित्यता में आश्रय-द्रव्य की अनित्यता प्रयोजक है, तो नित्य आधार द्रव्यों में वर्तमान रूपादि गुण नित्य हैं यह आक्षेप

मित्याक्षेपघललभ्यमित्याह—

एतेन नित्येषु नित्यत्वमुक्तम् ॥ ३ ॥

रूपादीनामेव चतुर्णां नित्येष्वश्रयेषु वर्तमानानां नित्यत्वमुक्तम् । एतेनेति ।
आश्रयानित्यत्वेनानित्यत्वाभिधानेनेत्यर्थः । वृत्तिकृतस्तु नित्येष्वनित्यत्वमुक्त-
मित्यकारप्रदलेपस्तथाच पार्थिवपरमाणुष्वग्निसंयोगान्नाश इति व्याचक्रुः ॥ ३ ॥

तत् किं पार्थिवेऽपि नित्यवृत्तिरूपादीनां नित्यत्वमेवेत्यनो विशिनष्टि—

अप्सु तेजसि वायौ च नित्या द्रव्यनित्यत्वात् ॥ ४ ॥

(आश्रित) बन से प्राप्त होना है यह सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—एतेन = इस (आश्रय की अनित्यता से गुणों के अनित्यत्वमयन)
से, नित्येषु = नित्य आश्रयद्रव्यों में, नित्यत्व = नित्यता, उक्तम् = कही गई ॥ ३ ॥

भावार्थ—पूर्वसूत्र में कथित आधारद्रव्यों की अनित्यता से आश्रित गुणों की
अनित्यता के ध्वन से अर्थात् नित्य आधारद्रव्यों में वर्तमान गुण नित्य होने हैं यह
कहा गया ॥ ३ ॥

उपस्कार—नित्य आश्रयद्रव्यों में वर्तमान रूप, रस, गन्ध, तथा स्पर्श इन्हीं
चार विशेष गुणों की नित्यता कही गई । 'एतेन' इस सूत्र के पद का आधार द्रव्य की
अनित्यता से आश्रित गुणों से अनित्य होते हैं । इस कथन से ऐसा अर्थ है ।

किन्तु सूत्र में नित्यों में अनित्यता कही गई ऐसी 'नित्यत्व' के स्थान में 'अनि-
त्यत्व' ऐसा पाठ मान कर पार्थिव परमाणुरूप नित्यों में रूपादि चार गुणों का
नाश होता है ऐसा यहाँ प्राचीन वैशेषिकमूलवृत्तिकार में व्याख्या की है । (किन्तु
'नित्येष्वनित्य' नित्य पार्थिव परमाणुओं में अग्निमयोंग में नाश होने के कारण रूपादि
अनित्य हैं ऐसा अर्थ करने का पाठ लेने में 'एकेन, उभय' इन दोनों की संगति न
बनेगी यह दोष आता है ।) ॥ ३ ॥

'तो क्या पृथिवीद्रव्य में भी नित्यों में रहनेवाले रूपादि चार गुण नित्य ही
होते हैं ?' इस प्रश्न के उत्तर में विशेष दिताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अप्सु = जल में, तेजसि = तेज में, वायौ च = और वायु में, नित्य. =
रूपादि गुण नित्य हैं, द्रव्यनित्यत्वात् = आश्रयरूप परमाणु जलादिकों के नित्य
होने से ॥ ४ ॥

भावार्थ—जल परमाणुओं में रूप, रस तथा स्पर्श, तेज के परमाणुओं में रूप
तथा स्पर्श, और वायु परमाणुओं में स्पर्श यह गुण आश्रयों के नित्य होने से नित्य
हैं ॥ ४ ॥

वायुपरमाणौ रूपरसस्पर्शो नित्यः, तैजसपरमाणौ रूपस्पर्शौ, वायुपरमाणौ स्पर्शो नित्यः । ननु नित्येऽपि वर्तमानानां रूपादीनामनित्यत्वे को विरोधः शब्दबुद्ध्यादीनामिव, इत्यतश्चकारेण गुणान्तरप्रादुर्भावो हेत्वन्तरं सूचनम् । शब्दे हि तीक्ष्णमन्दादिभावेन गुणान्तरप्रादुर्भावोऽनुभूयते, ज्ञानादी च ज्ञानादि-विरोधो सत्कारादि । आप्यतैजसवायवीयपरमाणुषु रूपादिविरोधि गुणान्तरं न प्रादुर्भवति, यदि प्रादुर्भवेत्तदा तदारब्धेष्वपि द्व्यणुकादिप्रक्रमेणाऽऽप्याद्यवयवेष्वपि पूर्वविज्ञातोय रूपाद्यनुभूयेत । नहि शुक्लरूपविज्ञातोय रूपं तोयतेजसो न वा शीतोष्णस्पर्शविज्ञातोयो स्पर्शो, उष्ण जल शीतो वायुरित्यादिप्रतीतिस्तूपा-धिनिघ्नः घनेति भावः ॥ ४ ॥

पूर्वं पृथिवीमन्त्रभांडयानित्येष्ट्वनित्या इत्युक्तमिदानीमाप्यादिष्वेवाह—
अनित्येष्वनित्या द्रव्यानित्यस्यात् ॥ ५ ॥

उपस्कारः—जलीय परमाणुओ में उनके रूप, रस तथा स्पर्शगुण नित्य हैं, तैजस परमाणुओ में उनके रूप और स्पर्शगुण, एवं वायु परमाणुओ में वर्तमान स्पर्शगुण नित्य है । नित्य परमाणुओ में वर्तमान उक्त रूपादि गुणों के अनित्य मानने में कौन सा विरोध होगा जैसे शब्द बुद्धि आदि गुणों के अनित्य होने में कोई विरोध नहीं आता, इस चका के समाधानार्थ सूत्रकार ने 'च' इस शब्द से 'गुणान्तर का प्रगट न होना' दूसरा हेतु सूचित किया है । शब्दगुण में तीव्र मन्द इत्यादि रूप से गुणान्तर (दूसरे गुण) का अप्रादुर्भाव प्रगट न होना अनुभव में आता है, और ज्ञान मुक्तादि आत्मगुणों में ज्ञानादिकों के विरोधी सत्कारादिक, किन्तु जलीय, तैजस तथा वायु के परमाणुओ में रूपादि गुणों के विरोधी दूसरे गुण प्रगट नहीं होते । यदि प्रगट हो तो उनसे उत्पन्न हुये भी द्व्यणुकादि कम से जलीय आदि अथवा द्रव्यों में भी प्रथम रूपादि गुणों के विरुद्ध जातिवाले रूपादि गुणों का अनुभव होने लगेगा, किन्तु जल तथा तेज से शुक्ल रूप से विरुद्ध जाति का रूप नहीं होता, अथवा शीत एवं उष्णस्पर्श के विरुद्ध जाति के स्पर्श नहीं होते हैं, जल उष्ण है, वायु शीत है इत्यादि प्रतीति तो अग्नि तथा जलरूप उपाधि के कारण होती है यह सूत्र का आशय है ॥ ४ ॥

— पूर्वग्रन्थ में पृथिवीद्रव्य को लेकर अनित्यों में रूपादि गुण अनित्य होते हैं ऐसा कहा था, साप्रत केवल जलादिकों में ही रहते हैं—

पदपदार्थः—अनित्येषु = अनित्य जलादिकों में, अनित्या = अनित्य होते हैं, द्रव्यानित्यत्वात् = जलादि द्रव्यों के अनित्य होने से ॥ ५ ॥

भावार्थः—जलादि अवयवादि द्रव्यों के रूपादि गुणों का आधार द्रव्यों के नाश से ही नाश होता है । नकि विरोधी दूसरे गुणों से भी ॥ ५ ॥

अथाद्यवयविरूपाद्य आश्रयनाशादेव नश्यन्ति न तु विरोधिगुणान्तराद-
पोत्यर्थः ॥ ५ ॥

ननु पृथिव्यामद्यवयविरूपायामपि रूपाद्योऽग्निसयोगादेवोत्पद्यन्ते नश्यन्ति
च, तत् कथमाश्रयनाशमात्रनाश्या इत्यत आह—

कारणगुणपूर्वकाः पृथिव्यां पाकजाः ॥ ६ ॥

पाकजा इति । स्पर्शसगन्धस्पर्शा इत्यर्थः । कारणगुणपूर्वका इति । रूपा-
भयाद्य घटादेर्यत् समवायिकारण कपालादि तद्गुणपूर्वकाः । तथाच कपालरूप
कारणैकार्थसमवायप्रत्यासत्त्या घटरूपाद्यसमवायिकारणम् । एवं रसाद्यावपि ।
स्पर्शसगन्धस्पर्शा. रूपत्वादिगुणत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमन्तः ।

ननु चक्षुरिन्द्रियमेव रूपव्यमुपाधिरिति चेत् इन्द्रियपातमात्रेण रूपमिति

उपस्कार—जल तेज आदि अवयवि द्रव्यो के रूप, रस आदि गुण आधार-
द्रव्य के नाश से ही नष्ट होते हैं, नकि दूसरे विरोधी गुण से नष्ट होते हैं ॥ ५ ॥

अवयविद्रव्यरूप पृथिवी में भी रूप, रस आदि गुण अग्नि के सयोग से उत्पन्न
होते हैं और नष्ट भी होते हैं, तो केवल आधारद्रव्य के नाश से ही रूपादि गुणों
का नाश होता है यह नियम कैसे हो सकता है, इस शङ्क के समाधानार्थ सूत्रकार
बहते हैं—

पदपदार्थ—कारणगुणपूर्वका = समवायिकारण गुण के अनुसार होते हैं,
पृथिव्या = घटादि पृथिवी द्रव्य में जो, पाकज = अग्निसयोग से बदलते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—पृथिवी में रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्शस्वरूपविशेष गुण अग्निसयोग-
रूप पाक से उत्पन्न होते हैं तथा नष्ट भी होते हैं, अतः पृथिवीद्रव्य में आधारद्रव्य
के नाश से ही रूपादि गुणों के नष्ट होने का नियम नहीं है ॥ ६ ॥

उपस्कार—सूत्र में पाकज शब्द से अग्निसयोग से बदलनेवाले रूप, रस, गन्ध
तथा स्पर्श चार विशेष गुण ऐसा अर्थ करना । कारणगुणपूर्वका. इस सूत्र के पद
का रूप के आश्रय घटादि पृथिवी की जो समवायिकारण कपालादि, उसके गुणा-
नुसार घटादि पृथिवी में रूपादि गुण होते हैं यह अर्थ है, ऐसा होने से कपाल का
रूप घटरूप के समवायिकारण घटरूप एक पदार्थ में दोनों के सन्निकर्ष से घट के
रूप का अगमवायिकारण होता है । एवं (इसी प्रकार) रसादि गुणों में भी जानता ।
(रूपत्वादि धर्म जाति रूप हैं यह सिद्ध करते हुए शकस्मिन् बहते हैं)—रूप, रस,
गन्ध तथा स्पर्श यह चार गुण रूपत्व, रसत्व, गन्धत्व, तथा स्पर्शस्वरूप गुणत्व-
जाति की साक्षात् व्याप्य जाति के आश्रय हैं । ‘चक्षुरिन्द्रियग्राह्यता ही जातिभिन्न
असङ्ग धर्मरूप उपाधि ही क्यों न मानी जाय’ ऐसी पूर्वपक्षी शङ्का करे तो इसका

प्रत्ययानुदयप्रसङ्गात् । अननुसंहितोपाधेरुपहितप्रत्ययायोगादिति । उपाधि-
 स्मात्र चक्षुरन्तर्यामीन्द्रिय ग्राह्यत्वञ्च ग्रहणविषयत्वं तदप्यचाक्षुषं रूपत्व-
 विशिष्टप्रतीतिश्च चाक्षुषत्वात् । चक्षुर्मात्रबहिरिन्द्रियग्राह्यगुणत्व रूपत्वम् ।
 अतीन्द्रियरूपाव्याप्तिरिति चेन्न चक्षुर्मात्रबहिरिन्द्रियग्राह्यजातिमत्त्वस्य विवक्षि-
 तत्वात् नादृशी च जातो रूपत्व नीलत्वादिका चेति । नन्वेकैका एव नीलपो-
 नादिष्वयुक्तयो नित्या न तु तत्र नीलत्वादिजातय एकव्याक्तिकत्वादिति चेन्न
 नीलतरनीलतमादिप्रत्ययानुदयप्रसङ्गात् । धावत्यदिस्वभेदाभावकृतस्तत्र
 तारतम्यव्यवहार इति चेन्न प्रमाणाभावात्, इयाम रूपं नष्ट रक्तमुत्पन्नमिति

उत्तर यह है कि ऐसा मानने से रूप के साथ चक्षुरिन्द्रिय का सन्निकर्ष होते ही जो
 इन्द्रिय से ग्राह्य होता है उसे रूप कहते हैं ऐसे ज्ञान के बिना भी जो यह रूप है ऐसा
 ज्ञान होता है वह न हो सकेगा, क्योंकि बिना उपाधिधर्म के ज्ञान के उपाधिवाले
 का ज्ञान नहीं होता । यहा उपाधि है चक्षुरिन्द्रिय, और वह अतीन्द्रिय (अप्रत्यक्ष)
 है, और ग्राह्यता शब्द का अर्थ है ग्रहण (ज्ञान) का विषय होना, वह भी चाक्षुष-
 प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, रूपत्वजातिविशिष्टरूप का ज्ञान तो चक्षुरिन्द्रिय से
 प्रत्यक्ष होता है । चक्षुरूप इन्द्रियमात्र से गृहीत होनेवाले गुणत्व को रूपत्व कहते
 हैं । (ऐसा होने से ज्ञान के अतीन्द्रिय चक्षुरिन्द्रिय घटित होने से तथा रूप ज्ञान
 के भी चाक्षुष न होने के कारण रूप में अतीन्द्रियता के आने की आपत्ति होने से रूप
 चाक्षुषप्रत्यक्ष का विषय न होगा । तथा रूपत्व जाति की अपेक्षया चक्षुर्ग्राह्यताएव
 उपाधि के गुरु शरीर होने से तथा जातिमात्र का इस प्रकार न मानने की आपत्ति
 आने से, एव अतीन्द्रिय परमाणुओं के रूप में चक्षुर्ग्राह्यतारूप उपाधि धर्म के न
 रहने से भी रूपत्व उपाधि नहीं है, किन्तु जानि यह तात्पर्य यहाँ जानना ।) यदि
 'रूपत्व जाति मानी जाय तो अतीन्द्रिय परमाणुरूप में अतिव्याप्ति दोष आ जायगा'
 ऐसी पूर्वपक्षी दफा नही कर सकता, क्योंकि केवल चक्षुरिन्द्रिय से गृहीत होनेवाली
 जगने के आश्रय को हम रूप कहते हैं, ऐसी जाति होगी रूपत्व, नीलत्व आदि ।
 (वह अतीन्द्रियरूप में रहने से उक्त अतिव्याप्ति दोष न होया) । 'नीलत्व पीतत्व
 आदि रूपत्व की व्याप्य जातिया नही हो सकती, क्योंकि नील, पीत इत्यादि एक ही
 रूप व्यक्ति है, जो नित्य है, तो उनसे एक-एक नील आदि व्यक्तियों में रहने
 के कारण नीलत्वादि जाति क्यों मानी जाय ? ऐसी दफा पूर्वपक्षी नही कर
 सता, ऐसा मानने से (एक-एक ही नीलादि व्यक्ति होने से) नीलतर (अधिक
 नील) नीलतम (अत्यन्त अधिक नील) इत्यादि ज्ञान न होगा । यदि 'देवता गुण के
 मिश्रण के अभाव से उक्त तारतम्यभाव ही उक्त प्रतीति होनी है' ऐसा कहो तो, इसमें
 कोई प्रमाण नहीं है । तथा 'इयाम रूपं नष्ट हुआ' 'रक्त रूप उत्पन्न हुआ' ऐसी नील-

प्रतीतेश्च । न च सा समवायोत्पत्तिविनाशकृतेति वाच्यम् समवायस्य तत्रानु-
संगेत्वात् । तस्य नित्यत्वाच्च, घटादेरनित्यतायामेवंसत्यनाशवासापत्तेः समवा-
यानित्यत्वेनैव तत्राप्यन्यथासिद्धेः सुवचत्वात् ।

ननु नीलपीतादयो गुणा द्रव्याभिन्ना एव धर्मधर्मिणोरभेदादिति चेन्न
रूपं घटः स्पर्शो घट इत्यादिव्यवहारप्रसङ्गात् । ननु नेदमनिष्टं यतो भवत्येव
शुक्लः पटो नीलः पट इत्यादिप्रतीतिरिति चेन्न मतुब्धोपादभेदोपचाराद्वा
प्रतीत्युपपत्तेः । भेदे प्रमाणे सति करूपनेय यथाकथञ्चिदुपपद्यते इति चेन्न चन्द-
नाय रूप चन्दनस्य गन्ध इत्यादिव्यवहारवच्छाब्देऽसिद्धेः, पटस्य रूपाभेदे पटव-
द्रूपमपि त्वगिन्द्रियेण गृह्येत, पटमानयेत्युक्ते यत्किञ्चिद्रूपमानयेत् रूपमानयेत्युक्ते

दिको के उत्पत्ति तथा विनाश की प्रतीति एक तथा नित्य नीलादि व्यक्ति मानने के
पक्ष में न होगी । यदि इयाम नष्ट हुआ रक्त उत्पन्न हुआ इसी प्रतीति का इयामरूप
का समवाय नष्ट हुआ तथा रक्तरूप का समवाय उत्पन्न हुआ यह अर्थ है, ऐसा कहो
तो यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि उस प्रतीति में समवाय का उल्लेख (नामग्रहण)
नहीं है, और वह नित्य भी है, और इस नीलादिको के समान घटादि पदार्थ भी अनित्य
है इस विषय में विश्वास न होगा, क्योंकि घटादि पदार्थों में भी उनके समवाय की
उत्पत्ति तथा विनाश मानकर पट उत्पन्न हुआ, नष्ट हुआ यह अनित्यता ही सबने से
घटादि पदार्थ भी नीलादिको के समान एक तथा नित्य हो जायेंगे यह कहा जा सकता
है । 'नील पीत आदि चरादि द्रव्यों से भिन्न नहीं हैं, क्योंकि धर्म तथा धर्मों का भेद
नहीं होता' ऐसा पूर्वपक्षी आक्षेप करे तो यह नहीं हो सकता, ऐसा धर्म-धर्मों का
अभेद माना जाय, तो रूप पट है, स्पर्श घट है, इत्यादि व्यवहार होने लगेगा । यदि
पूर्वपक्षी कहे कि यह तो इष्ट (अभिमत) ही है, क्योंकि शुक्ल पट है, नील पट है,
इत्यादि धर्म तथा धर्मों में एकता दिवानेवाला ज्ञान तो होता ही है, तो यह नहीं कह
सकने, क्योंकि शुक्ल शब्द के उत्तर शुक्लवर्णवाला इस अर्थ के बोधक मतुप् प्रत्यय
का लोप मानकर अभेद गौण धर्म तथा धर्मों का अभेद मान कर 'शुक्ल पट है' इत्यादि
व्यवहार हो सकता है । यदि 'शुक्ल वर्ण तथा पट के भेदविषय में प्रमाण ही तो यह
मनुर्लोप अथवा गौण अभेद की वल्गना किनी तरह हो सकेगी । अर्थात् जब रूप
और आधार का भेद नहीं है तो उपचार (गौणता) कैसे मानी जाय ? ऐसी शका
नहीं हो सकती, क्योंकि चन्दन का रूप, चन्दन का गन्ध इत्यादि व्यवहार के घट से
चन्दन तथा उसके रूप, और गन्ध का भेद सिद्ध होता है । तथा पट और उसके रूप
को एक माना जाय तो पट के समान रूप का भी अन्व को त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष
होने लगेगा । एव 'पट को ले आओ' ऐसा कहने पर जिस किसी रूप को ले आनेवाला
ले आवेगा । एव रूप को ले आओ ऐसी आज्ञा देने पर जिस किसी घटादि द्रव्य को

यत्किञ्चिद् द्रव्यमानयेत् ! अस्तु तर्हि भेदाभेदः अत्यन्तभेदेऽत्यन्ताभेदे च सामानाधिकरण्यानुपपत्तिरिति चेन्न अवच्छेदभेद विना विरुद्धयोर्भेदाभेदयोरेकत्रासम्भवात् । अन्योन्याभावत्वमव्याप्यवृत्तिवृत्तिनित्याभाववृत्तिधर्मत्वादित्यन्ताभावत्ववदिति चेन्न एकत्र संयोगतदित्यन्ताभावयोः प्रतीतिप्रल्लादित्यन्ताभावस्याव्याप्यवृत्तित्वाभ्युपगमात्, अन्योन्याभावे तु तथाप्रतीतेरभावात् ।

नदेतद्रूप पृथिव्यां मानामकारकम्, पार्थिव तेजसि च शुक्लमेव । क्वचित् पटादीं च विश्रमपि रूपमधिकम् अन्यथा तद्व्याप्तिपत्वापातात् रूपवत् एव व्याप्तिपद्रव्यत्वात् । न च विजातीयरूपै रूपाभारम्भः, नीलपीतादीनामारम्भे रूपत्वेनेह साजात्यस्यापेक्षितत्वात् अन्यथा तद्व्याप्तिवस्थापसेत्कदाह । न चावयवरूपोपमहेतौ वावयविग्रह अवयवानामपि चित्रतया नीलरूपत्वप्रसङ्गात्,

आज्ञा पानेवाला ले आवेगा । यदि 'शुक्ल पट है इस प्रतीति में शुक्लवर्ण तथा पटत्व के एक अधिकरण में प्रतीति के अन्यथा न बन सकने से शुक्लरूप तथा पट का भेद तथा अभेद होना मानेंगे, क्योंकि शुक्लवर्ण तथा पट का अत्यन्त भेद तथा, अत्यन्त ऐक्य मानने के पक्ष में प्रदर्शित सामानाधिकरण्य प्रतीति नहीं हो सकती' ऐसी शका पूर्वपक्षी करे तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि अवच्छेद (विशेषण) के भेद के बिना विरुद्ध भेद तथा अभेद एक पदार्थ में नहीं रह सकते (अर्थात् व्याप्यवृत्ति अन्योन्याभाव (भेद) का अवच्छेद (विशेषण) भेद होना असंगत है) यदि अन्योन्याभावत्व (भेदत्व,) अव्याप्यवृत्ति (भेद) में रहता है, नित्य अभाव में वर्तमान धर्म होने से अत्यन्ताभावत्व के समान, इस अनुमान से भेद को भी अव्याप्यवृत्ति मान लेंगे ऐसी पूर्वपक्षी शका करे तो यह भी नहीं हो सकता, एक वृत्तादिको में अप्रमाण में कपि के समोण तथा मूलभाग में उसके अभाव इन दोनों की प्रतीति होने के कारण अत्यन्ताभाव को अव्याप्यवृत्ति (एकदेशवृत्ति) माना जाता है, किन्तु 'बुद्धावपि सयोगी नहीं है' ऐसी प्रतीति न होने के कारण भेद को अव्याप्यवृत्ति नहीं माना जा सकता ।

अब यह रूप नामक गुण पृथिवी द्रव्य में शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिप, तथा छिन्न भेद से अनेक (सात) प्रकार का, और जल तथा तेजद्रव्य में शुक्लरूप ही है । किसी-किसी पट आदि में चित्र नाम का भी छ रूपों से अधिक रूप है, न ही तो उस चित्र (अनेक रङ्गवाले) पट का चालुप्रत्यक्ष न होगा, क्योंकि रूपाध्य ही द्रव्य का चालुप्रत्यक्ष होता है । 'अवयवों के विरुद्धानिवाले अनेक रूपों से अवयविद्रव्य में एकरूप की उत्पत्ति नहीं हो सकती ।' ऐसी पूर्वपक्षी शका नहीं कर सकता, क्योंकि नील, पीत इत्यादि रूपों के उत्पत्ति में रूपत्व-धर्म से ही समान जातीयता आवश्यक है, नहीं तो उस चित्ररूपवाले पट का प्रत्यक्ष न होगा यह दोष कहा है । अर्थात् रूपत्वरूप से कारणता होने के कारण यदि

यत्र चा पाकान् परमाणुषु चित्रं रूपं तत्रैव तत्परम्परारन्ध्रपटादौ चित्ररूपो-
पपत्तेः । न च हरीतक्या रसोऽपि चित्र इति वाच्यम् हरीतक्या नोरसत्वेऽपि
दोषाभावात्, पट्टसत्त्वव्यवहारस्तु तत्तद्रसगुणकारितया । एवं गन्धोऽपि न
चित्रः सौरभासौम्भवद्वयवद्वयस्यानारम्भकत्वात् । कर्कट्यादौ क्वचिद्वयवे
तैक्त्यं क्वचिन्माधुर्यं तथाच कृतमो रसः कर्कट्यामिति चेन्माधुर्यमेव । गुण-
विरोधेन कथं तथा स्यादिति चेत् तद्वयवे तैक्त्याभावात् । तथाऽनुभवः
कथमिति चेत् कर्कटोभक्षणक्षुभितरसनाप्रवर्त्तिपित्तद्रव्यस्य तिक्ततापलम्भः, तस्य
एव कदाचिन्मुखनपि तिक्तायते । हरीतक्यामपि कथमियं न गतिरिति
चेन्न तद्वयवेपु कपायमाधुर्यलवणादिनानारसानुभवादित्यलं पल्लवेन ।

विरुद्ध जातिवाले अवयवों के अनेक रूपों से चित्ररूप न मानने पर भी अवयवों के
चित्ररूप से उसकी उत्पत्ति होने से कोई बाधक न होने के कारण अवयवों का
प्रत्यक्ष न होगा । किन्तु नवीन नैयायिकों ने चित्ररूप नहीं माना है क्योंकि अवयवों
के विशेषों में वर्तमान रूपों के भेद से ही अवयवों का ग्रहण हो सकता है नहीं
तो चित्ररूप के समान चित्ररस भी मानना पड़ेगा यह उनका आशय है) ॥

‘अवयवों के रूपों के ग्रहण से ही अवयवों का ग्रहण हो जायगा’, यह नहीं कहा जा
सकता, क्योंकि अवयव भी चित्र होने से विरोध के कारण रूपरहित हो जायगे,
अथवा जहाँ पाक से परमाणुओं में ही चित्ररूप होता है वही पर उन परमाणुओं के
द्वयगुणादि क्रमपरम्परा से उत्पन्न पटादि अवयविविद्रव्य में चित्ररूप हो सकता है ।
यदि ऐसा है तो हरीतकी (हरें) में रस भी चित्र होगा’ ऐसा नहीं कहा जा सकता,
क्योंकि हरीतकी (हरें) में रस न होने पर भी दोष नहीं होगा, पट्टस पृथिवी
द्रव्य होता है यह प्रवाद (मत) तो उन २ मधुरादि रसरूप गुणों को करने
के कारण है । इसी प्रकार गन्धगुण को भी चित्र मानने की आवश्यकता नहीं है,
सुरभि तथा असुरभि गन्धवाले विरुद्ध अवयवों से कार्यगन्ध उत्पन्न नहीं
हो सकता । ‘कर्कटी (खीरा) आदिकों में कुछ अवयवों का तिक्त तीता रस
का तथा कुछ अवयवों में मधुर रस का अनुभव होता है, तो उस कर्कटी में कौन
रस माना जाय’, तो मधुररस मानना ही उचित है । ‘तिक्त तथा मधुर रस का
परस्पर विरोध होने के कारण यह कैसे होगा’ ऐसा बहो तो, उसके अवयवों में तिक्त
(तीतापन) न होने से । तो उस ‘कर्कटी में तिक्त रस का अनुभव कैसे होता है’ ?
ऐसा बहो तो उस कर्कटी के छाने से क्षुभित हुए जिह्वा के अग्रभाग में वर्तमान पित्त-
रूप द्रव्य की तिक्तता की उपलब्धि (ग्रहण) होने के कारण, उसी से कदाचित् मुख
का भी तिक्त (तीते) के समान अनुभव होता है । तो ‘हरीतकी (हरें) में भी
यही प्रकार क्यों न माना जाय ।’ ऐसी शंका यदि पूर्वपक्षी करे तो यह नहीं हो
सकता, क्योंकि हरीतकी के अवयवों में कपाय, मधुरता, लवण (खारापन)

तच्च रूपं नयनसहकारि । नन्वेवं वायौ रूपाभावस्य तमसश्च कथं चाक्षुष-
तेति चेन्न भावग्रह एव रूपस्य नयनसहकारित्वात्, विषयालोचकक्षुपां ग्रयाणा-
मपि रूपाणि चाक्षुषप्रतीतिप्रयोजकानि ।

रसोऽपि रसत्वजातिमान् । रसत्वं रसनेन्द्रियमात्रजन्यसाक्षात्कारविषय-
जाति तादृशजातिमत्त्वञ्च रसत्वम् । सोऽयं जीवनपुष्टिवलारोग्यहेतु रसनसह-
कारो । रसनेन्द्रियप्राप्त्युपलब्ध्याप्यजातिमत्त्वं रसत्वम्, तथासति नातोन्द्रिय-
रसाढ्याप्तिः ।

घ्राणमात्रप्राप्तो गुणो गन्धः । घ्राणमात्रप्राप्त्युपलब्ध्याप्यजातिमत्त्वं गन्ध-

इत्यादि नाना प्रकार के रसों का अनुभव होता है। इस विषय में अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है।

वह उक्त स्वरूप रूप नामक विशेषगुण चाक्षुषप्रत्यक्ष की उत्पत्ति में सह-
कारिकारण है। ऐसा मानने से 'वायुद्रव्य में रूप के अभाव, तथा अन्धकार
का चाक्षुषप्रत्यक्ष कैसे होगा?' ऐसा पूर्वपक्षी आक्षेप नहीं कर सकता, क्योंकि
भावरूप पदार्थों के चाक्षुषप्रत्यक्ष में ही रूपगुण चाक्षुषप्रत्यक्ष सहायक होता है।
विषय, आलोक (प्रकाश) तथा अक्षु इन तीनों के रूप चाक्षुषज्ञान होने में प्रयोजक हैं
(अन्यथा रक्तप्रकाश में वर्तमान शल का रक्तरूप से, तथा पित्तदोष से दूषित चक्षुरि-
न्द्रिय के सन्निकृष्ट पदार्थ का पीतरूप से ग्रहण न होगा। किन्तु विषय में वर्तमान रूप
ही कारण है, आलोकादिकों के भी विषय होने से रक्तप्रकाश में स्थित शल का
रक्तरूप से ज्ञान होना भी संगत हो जायगा' ऐसा नवीन नैयायिकों का मत है)।

रसत्वजातिविशिष्ट गुण का नाम रस है। रसनेन्द्रिय (जिह्वा) मात्र से उत्पन्न
प्रत्यक्ष का विषय जाति है रसत्व, उस जाति का आधार होना ही रसगुण में रसत्व
है, वह यह रसगुण जीवन, शरीरपुष्टि, बल तथा आरोग्य (निर्गोमता) का कारण
है (इससे मरण, कृच्छ होना, दुर्बलता भी सूचित होती है, क्योंकि ये भी रस से
उत्पन्न होते हैं। गन्ध, स्पर्श आदि गुण रसग्रहण से ही जीवनावधिकों में उपयोगी होते
हैं अतः उनमें ये सब नहीं कहे हैं)। तथा रस रसनेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष में सहायक कारण
है। रसनेन्द्रिय से ग्रहीत होनेवाली गुणत्वव्याप्यरसत्वजाति का आधार होना
ही रसगुण में रसत्व है, ऐसा लक्षण करने से अतीन्द्रिय रसमात्र रस में अढ्याप्ति
दोष न होगा।

केवल घ्राणेन्द्रिय से प्रत्यक्ष होनेवाले गुण का नाम है गन्ध। केवल घ्राणेन्द्रिय
से ग्रहण होने योग्य गुणत्व की व्याप्य गन्धत्व जाति का आधार होना गन्ध में
गन्धत्व है, ऐसे जातिषट्च लक्षण से अतीन्द्रिय गन्ध में अढ्याप्ति दोष न होगा।

त्वम्, स च सुरभिरसुरमिश्रेति द्विविधः । यद्वा पृथिवीवृत्तिमात्रवृत्तिगुणत्वसाक्षा-
द्व्याप्यजातिमत्त्वं गन्धत्वम् ।

एवं स्पर्शोऽपि स्पर्शत्वजातिमान् गुण । त्वगिन्द्रियमात्रमाह्वगुणत्वसाक्षा-
द्व्याप्य जातिमत्त्वं स्पर्शत्वम् । द्रव्यचतुष्टयवृत्तिश्चायम् । अनुष्णाशीतशीतोष्ण-
भेदात् त्रिविधः ।

इदानीं प्रसङ्गात् पाकजप्रक्रिया चिन्त्यते—तत्र कार्यकारणसमुदाय एव
पश्यते इति पिठरपाकवादिनः ।

पालवः—परमाणव एव स्वतन्त्राः पश्यन्ते, तत्रैव पूर्वरूपनाशामिन्नरूपाद्यु-
त्पत्तिः कारणगुणप्रक्रमेण चावयविनि रूपाद्युत्पद्यते इति पोलुपाकवादिनः ।

अत्रेदं तत्त्वम् । आपाके निक्षिप्तस्य घटादेरामद्रव्यस्य बहिर्नाशोदनाद-
भिघाताद्वा सदास्मभकेषु परमाणुषु द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागोनारम्भक-
संयोगनाशे द्रव्यनाशावश्यमात्रान् । इदं हि स्थाव्यामाहितानां तण्डुलादीना-
मव्यय सन्तापनमात्रेण भर्जनातदानोमेव नाशः, क्षीरनीरादीनाञ्चात्यन्तमुत्प-
ह्य गन्धगुण सुगन्ध और दुर्गन्ध इस भेद से दो प्रकार का है अथवा केवल पृथिवीद्रव्य

मे वर्तमान गुणत्व की साक्षात् व्याप्यजाति का आधार होना ही गन्ध मे गन्धत्व है ।

इसी प्रकार स्पर्शत्व जाति के आधार गुण का नाम है स्पर्शगुण । केवल त्वचा
इन्द्रिय से गृहीत होनेवाली गुणत्व की साक्षात् व्याप्यजाति का अधिकरण होना ही
स्पर्शगुण मे स्पर्शत्व है । यह स्पर्शगुण पृथिवी, जल, तेज तथा वायु ऐसे चार द्रव्यों मे
रहता है, जो अनुष्णाशीत, शीत तथा उष्णभेद से तीन प्रकार का है ।

साम्प्रत प्रसङ्ग से पाकज प्रक्रिया का विचार करते हैं—उसमे कार्य तथा कारणों
का समुदाय ही पाकज (तेज के संयोग से बदलता) है ऐसा पिठर (अवयविद्रव्य) में
पाक माननेवाले नैयायिकों का मत है । और केवल पीलू (परमाणु) ही स्वतंत्र होकर
पकते हैं, उन्हीं मे पूर्वस्यामकपादिकों का नाश होकर आगे रक्तरूप आदि गुणों की
उत्पत्ति होती है, और कारणगुणों के क्रम से अवयविद्रव्य घट फल आदिकों मे
रूप, रसादिगुणों की उत्पत्ति होती है, ऐसा पीलुपाकवादि वैशेषिकों का मत है ।
यहां पर यह तत्त्व (सिद्धान्त) है कि आपाक (आवे) मे रहे हुए घट, फल आदि
आम (कच्चे) द्रव्य का अग्नि, तृण आदि की उष्णता के नोदन अथवा अभिघात
नामक संयोग से घटादि अवयवि द्रव्यों के उत्पादक परमाणुओं मे घटादिद्रव्य के
उत्पादक संयोग के विरोधी विभाग से घटादियों के आरम्भक परमाणुओं का पूर्व
संयोग के नष्ट होने पर घटादि द्रव्य का नाश अवश्य होगा । क्योंकि (स्थाली)
चटुली मे रहे हुए तण्डुल (चावल, दाल) इत्यादिकों का चटुली के नीचे केवल
अग्नि के सन्ताप से मूज जाने से तत्काल नाश हो जाता है, और दूध तथा जल कढ़ने

णता । तथा चापाके बह्विज्जालाजालाभिहतानां द्रव्याणामवस्थानमिति महती प्रत्याशा । किञ्च यदि द्रव्यनाशस्तदा मध्यभागे पाकानुपपत्तिः, न हि दृढत-
रावयवान्तरावरुद्धे मध्यभागे तेजःसंयोगासम्भावना येन तत्र श्यामादिनिवृत्तिः
स्यात्, तथा च श्यामा अवयवाः अवयवी च रक्त इति महद्वैशसम् । ननु
सन्निच्छद्राण्येवावयविद्रव्याणि, कथमन्यथा कुम्भादावन्तर्निहितानां तैर्घृतादीनां
स्यन्दनं अपणश्य, तथा च मध्यभागेऽपि तेजःसंयोगः स्यादेवेति चेन्न मूर्त्तानां

लगता है, यह भी देखने में आता है, तब आपाक (आवे) में रखे हुए अग्नि की ज्वाला से अभिहत (अभिघात संयोगवाले) घटादि द्रव्य पूर्ववत् रहते हैं यह केवल वही आशामात्र है (यदि जहाँ नाश का प्रत्यक्ष होता है वहाँ ऐसा मानेंगे, किन्तु पर-
माणुओं का नाश तो अप्रत्यक्ष है, तस्मात् इसमें क्या प्रमाण, ऐसी पूर्वपक्षी दृष्टा करे तो शकरमित्र दूसरा दोष देते हुए कहते हैं कि) —और यदि आवे में रखे घड़े का नाश होता हो तो, घट के मध्यभाग में पाक नहीं सकेगा, क्योंकि अत्यन्त दृढ दूसरे अवयवी से घिरे हुए मध्यभाग में अग्निरूप तेज के संयोग की सम्भावना नहीं हो सकती, जिससे मध्यभाग में (घट के भीतर) श्यामादिपूर्वरूप की निवृत्ति हो, ऐसा होने से घटके अवयव श्याम तथा घटरूप अवयवी रक्त ऐसा प्राप्त होने से बड़ा भारी वैशस (वैषम्य) होगा । यदि 'घटादि अवयविद्रव्य सन्निच्छद्र होते हैं, अन्यथा घट के भीतर रखे हुए तेल, घृत आदि द्रव्यों का बाहर स्यन्दन (चूना) श्रवण (पकना) यह भी न हो सकेगा, ऐसा होने के कारण घट के मध्यभाग में तेज (अग्नि) का संयोग अवश्य होता है, जिससे उक्त वैषम्यदोष न आवेगा "ऐसी पूर्वपक्षी (पिठर-
पाकवादी) दृष्टा करे तो, यह असंगत है, क्योंकि मूर्त्त अनेक द्रव्यों का समान (एक) देश में रहने का विरोध होता है, अतः दूसरे अवयवी से संयुक्त मध्यभाग में तेज का संयोग नहीं हो सकता ।

इस पिठरवादी के मत का जो खण्डन शंकरमित्र ने पीलुपाकवादियों के मत से किया है उससे यह विचार हो सकता है कि यदि मूर्त्त द्रव्यों के संयोग से समानदेशता का विरोध माना जाय तो वह समानसंयोगविशेष की लेकर ही माना जायगा नहीं तो प्रचय (सिधिलता प्रयोजक) संयोग युक्त तूलक (रई) के भीतर प्रकाश का जाना, तथा सूक्ष्म रेशम के वस्त्र से जल का निकलना, तथा स्पन्दन (हिलना) आदि क्रिया भी जो प्रत्यक्ष से गृहीत होती है नहीं बन सकेगी, अतः अवयवसंयोग, तथा तेज का संयोग आदि समान नहीं हो सकते, उनके समान न होनेसे उक्त संयोग के साथ समानदेशता का विरोध नहीं हो सकता, अतः पिठरपाकवाद भी युक्त ही है । (इस विषय में कणाद (रहस्यग्रन्थ में और विस्तार देख लेना चाहिये) । { आगे पीलु-
वाद पर पूर्वपक्षिमता से शकरमित्र दृष्टा दिसाते हुए कहते हैं कि } —यदि उक्त प्रकार से आवे में डाले हुए घटादि द्रव्य का नाश होता हो तो, बाहर निकालने पर

समानदेशताविरोधात्, अवयवान्तरसंयुक्ते मध्यभागे तेजःसंयोगासम्भवात् । ननु यदि द्रव्यनाशः कथं तर्हि स एवायं घट इति प्रत्यभिज्ञा, कथं वा सर्वोत्पत्त्यास्र आपाकादौ घटादेस्तादृशस्यैव दर्शनम्, घटादेरुपरि निहितानां शरावोद-
घानादीनां सधैव दर्शनं घटादिस्फुटने हि तेषां पातः स्यात्, कथं वा यावन्त एवापाके निहितास्तावन्त एव पुन प्राप्यन्ते परमाणुभिर्द्रव्यणुकादिप्रकृतेण न्यूना-
नामिधकानां वा तदानोगारम्भसम्भवात्, कथं वा सावत्परमाणान्येष घटादौ न्यापाकोत्तोर्णान्युपलभ्यन्ते, रेखोपरेस्तादिष्विद्विबिन्धोषो वा कथं न भवेत्, । तथा आधयविष्येव पाक इति चेत् नैवम्, सूच्यमेव घटादौ त्रिचतुरप्रसरेणुवि-
भागे सन्नि द्रव्यारम्भकसंयोगनाशे द्रव्यनाशे सर्वासामनुपपत्तीनामुभयसमावे-
यत्वात् न हि तत्र द्रव्यं न नश्यतीति पिठरपाकवादिनोऽपि वक्तुमुत्सहन्ते ।

तत्रापि घटादयो न नश्यन्ति कतिपयावयवनाशेऽप्यवशिष्टावयवमात्रित्य कार्यावस्थानसम्भवादन्यथा प्रत्यभिज्ञानाद्यनुपपत्तिरेवेति सोमांसकाः ।

'यही यह घट है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा (पहिचान) कैसे होगी, अथवा संपूर्ण अवयवों में आवे मे वही ही घट कैसे दिखाई पड़ेगा, एव घटादिको पर रते हुए किंतोरे पुरमे आदि धैसे ही क्यों दिखाई पड़ेंगे बल्कि घट के नष्ट होने से वे फिर जायगे, अथवा जिनमे ही आवे में रहे गये थे उतने ही पुन क्यों प्राप्त होते हैं । क्योंकि स्वतन्त्र पर-
माणुओं से द्रव्यणुनादि क्रम से कम (न्यून) अथवा अधिक उस समय उत्पन्न हो सकते हैं । अथवा कैसे आवे से निहालने पर भी उतने ही परिमाणवाले ही क्यों पाये जाते हैं ? अथवा रेखा (लकीर) उपरेखा (गान की लकीर) आदि चिह्नों (निशानों) का लोप कैसे न होगा (अर्थात् घट पर किये हुए निशान क्यों न मिट जायगे), ऐसा होने से यह सिद्ध होता है कि अवयवि घट मे ही पाक होता है इस सका का उत्तर पीलुपाकवादी ऐसा करते हैं कि ऐसा नहीं, क्योंकि सूखी (सूई) के अग्रभाग से घटादि द्रव्यों में छेद होने के समय तीन या चार त्रसरेणुओं का विभाग होने पर उसके घट के उत्पादक पूर्वसंयोग का नाश होने के कारण घटरूप अवयवद्रव्य का नाश होने के कारण संपूर्ण पिठरवादी मे दिये दोषो का पिठर तथा पीलुपाकवाद ऐसे दोनों मत से समाधान होने की योग्यता समान ही है (अर्थात् दोनों का उक्त आपत्तियों का समाधान करना प्राप्त है) क्योंकि उस अव-
स्था मे घटद्रव्य का नाश नहीं होता ऐसा पिठरपाकवादी नैयायिक भी नहीं यह सकते ।

उम अवस्था मे भी घटादि अवयवि द्रव्य नष्ट नहीं होते, क्योंकि कुछ अवयवों का नाश होने पर भी अवशिष्ट (न नष्ट हुये) अवयवों के आश्रय से घटरूप अवयवि द्रव्य की स्थिति हो सकती है, नही वो 'यही यह घट है' यह प्रत्यभिज्ञा न

ते तु तावदवयवाधरस्यानयोग्यस्य घटादेः स्वरूपेणवयवेषु कथं वृत्तिः स्यादिति प्रष्टव्याः । अविनष्ट एव पटे परिमाणसङ्कोचवदेतदुपपत्स्यते इति तेषामुत्तरमिति चेन्न कठिनतरावयवानां काष्ठपाषाणस्तम्भकुम्भादीनां सङ्कोचविकाशयोरदर्शनात् । घटादिनाशकाभिमतैर्न तत्परिमाणमेव नश्यतीति चेन्न परिमाणभ्याभयनाशिकनाशयत्वात् घटादिप्रत्यभिज्ञानवत् सूचोदलनस्थले परिमाणस्यापि प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्, त्वन्मते तन्नानास्याप्यनुपपत्तेरिति दिक् ।

येषां मते द्रव्यारम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्वो सदप्रतिद्वन्द्वो च विभाग एकयैवावयवप्रक्रियया जन्यते तेषां द्व्यणुकनाशमारभ्य नवमक्षणे द्व्यणुकान्तरे रक्ताद्युत्पत्तिरेकस्मिन्नेव परमाणौ क्रियाचिन्तनात् । तथा हि वह्निना मोदनाद् द्व्यणुकारम्भके परमाणौ कर्म, ततो विभागस्ततो द्रव्यारम्भकसंयोगनाशस्ततो द्व्यणुकनाशः तष्टे द्व्यणुके केवले परमाणोर्वाग्निसंयोगाच्छ्रयाभादिनिवृत्तिः । इयामादौ निवृत्ते अन्य-

हो सकेगी, ऐसा भीमासको का मत है । उन भीमासको से हम यह प्रश्न कर सकते हैं कि—उमने (जितने अवयवों से वह बना था) अवयवों में रहने की योग्यता रखनेवाले वे घटादि अवयवों द्वय अल्प (कम) अवयवों में कैसे रह सकते हैं । 'यदि नष्ट न हुये ही पट में परिमाण के सकोच के समान यह भी हो सकेगा' ऐसा भीमासको का उत्तर हो तो, यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि अत्यन्त कठिन (कड़े) अवयव वाले लकड़ी, पत्थर, स्तम्भ (खम्बा) तथा घटादि द्वयों में सकोच तथा विकार देखने में नहीं आता । यदि 'घटादिकों के नाश करनेवाले के अभिप्राय से उनका परिमाण ही नष्ट होता है' ऐसा कहो तो, यह भी नहीं हो सकता क्योंकि परिमाण गुण केवल आश्रय के नाश से ही नष्ट होता है, वही घट है इस प्रत्यभिज्ञा के समान सूची (सूई) से छेव करने के स्थल में परिमाणकी प्रत्यभिज्ञा होती है । आपके मत में (भीमासक के मत में) उनका नाश भी नहीं हो सकता ऐसा भीमासक के मत के खण्डन का प्रकार है ।

जिनके मत में घटादि द्वय के उत्पादक समय का विरोधी तथा अविरोधी दोनों प्रकार का अवयवों का परस्पर विभाग एक ही परमाणुओं की क्रिया से उत्पन्न होता है, उनके मत में द्व्यणुक द्वय के नाश के क्षण से लेकर अवयवों में दूसरे उत्पन्न हुए द्व्यणुक में रक्त आदि गुणों की उत्पत्ति होती है, एक ही परमाणु में क्रिया मानने से । वह इस प्रकार है—वह्नि के मोदनसंयोग से पूर्व द्व्यणुक द्वय के उत्पन्न करनेवाले परमाणु में क्रिया होती है, उससे परस्पर परमाणुओं का विभाग होता है । जिससे पूर्व द्व्यणुक द्वय का उत्पादक परमाणुओं का पूर्वसंयोग नष्ट होकर पूर्वद्व्यणुक का नाश होता है । (१) द्व्यणुक का नाश होने पर केवल स्वतन्त्र परमाणु में अग्निमंयोग से पूर्वस्यामादि रूप निवृत्त हो जाता है (२) इयामादि रूप

स्मादग्निःसंयोगाद्रक्ताद्युत्पत्तिः । रक्तादाद्युत्पत्तेः परमाणुक्रियानिवृत्तिरनन्तर-
मदृष्टवदात्मसंयोगात् परमाणौ कर्म ततो विभागः ततः पूर्वसंयोगनिवृत्तिः
ततः परमाण्वन्तरेण द्रव्यारम्भक- संयोगः ततो द्व्यणुकोत्पत्तिः उत्पन्ने द्व्यणुके
कारणगुणप्रक्रमेण रक्ताद्युत्पत्तिः इति नव क्षणाः । यदि पूर्वक्रियानिवृत्तिक्षण एव
क्रियान्तरमुत्पद्यते तदा, यदि ॥ पूर्वक्रियानिवृत्त्यनन्तरकाले क्रियान्तरमुत्पद्यते
तदा दश क्षणाः ।

विभागजविभागाद्युपगमेऽपि यदि द्रव्यारम्भकसंयोगनाशविशिष्टं कालम-
पेक्ष्य विभागजो विभागस्तदा दशक्षणाः यदि तु द्रव्यनाशविशिष्टं कालमपेक्ष्य
विभागेन विभागान्तरं ज्ञेयते तदैकादशक्षणा प्रक्रिया ! तथा हि-द्व्यणुकनाशवि-
भागजविभागादित्येकः कालःततः पूर्वसंयोगनाशश्यामादिनिवृत्तौ उत्तरसंयोगर-
क्ताद्युत्पत्तौ उत्तरसंयोगेन विभागजविभागक्रियानिवृत्तौ ततो द्रव्यारम्भानुगुणा

निवृत्त होने पर दूसरे अग्निसंयोग से रक्तादि रूप उत्पन्न होता है । (३) रक्तादि
रूप उत्पन्न होने पर पूर्वपरमाणु की क्रिया निवृत्त होने के पश्चात् उस बननेवाले
घट के आगे भोगकर्ता आत्माओं के अदृष्टवाले आत्माओं के संयोग से पुनः दूसरे
परमाणु में उत्पादकक्रिया होती है (४) उससे देवविभाग (५) उससे पूर्वदेव-
संयोग की निवृत्ति (६) पश्चात् इस (परमाणु से दूसरे द्व्यणुक द्रव्य का उत्पादक
संयोग (७) पश्चात् दूसरे द्व्यणुक द्रव्य की उत्पत्ति (८) द्व्यणुक के उत्पन्न होने
पर उसमें परमाणु रूप कारण के रक्तरूप के जन्म से रक्त रूपादिकों की उत्पत्ति
होती है । ऐसे नव क्षण होते हैं, किन्तु यह नव क्षण की प्रक्रिया यदि पूर्वनाशक
क्रिया के निवृत्ति के क्षण ही में दूसरी उत्पादकक्रिया उत्पन्न होती है ऐसा मानने के
मन से है, और यदि पूर्वनाशक क्रिया के निवृत्त होने के पश्चात् दूसरे क्षण में
दूसरी उत्पादकक्रिया उत्पन्न होती है, ऐसा माना जाय तो दश क्षण होते हैं ।

यदि विभाग में विभाग उत्पन्न होता है, ऐसा मानें तो कालविशेष की अपेक्षा
से दश तथा एकादश क्षण की प्रक्रिया होती है, इस अभिप्राय से शंकरमिश्र कहते
हैं कि)—विभागजन्य विभाग आदि मानने में भी यदि द्रव्यारम्भक पूर्वसंयोग-
नाशवाले समय की अपेक्षा कर विभाग से विभाग उत्पन्न हो तो, दश क्षण होते हैं
और यदि द्व्यणुकरूप द्रव्य के नाशवाले काल की अपेक्षा कर एक विभाग से दूसरा
विभाग उत्पन्न होता है तो एकादश क्षण होते हैं, ऐसी प्रक्रिया (प्रकार) है ।
यह इस प्रकार है कि पूर्वद्व्यणुक का नाश, तथा विभागजन्य विभाग यह एक
काल है (१), पश्चात् पूर्वसंयोग का नाश, तथा पूर्वश्यामादि रूप की निवृत्ति (२)
बाद उत्तरप्रदेशमयोग तथा रक्तरूपादिकों की उत्पत्ति (३), पश्चात् उत्तरसंयोग
से विभागजन्य विभाग एव क्रिया की निवृत्ति (४), पश्चात् दूसरे द्व्यणुक द्रव्य

परमाणुक्रिया, क्रियातो विभागो विभागात् पूर्वसंयोगनिवृत्तिस्ततो द्रव्यारम्भकः संयोगस्ततो द्रव्योत्पत्तिः उत्पन्ने द्रव्ये रक्ताद्युत्पत्तिः इति दशक्षणाः ।

यदा तु द्रव्यविनाशविशिष्टं कालमपेक्ष्य विभागेन विभागो जन्यते तदैक-
क्षणवृद्धया एकादश क्षणाः । तथा हि—द्रव्यविनाशः ततो विभागजविभागइया-
मादिनिवृत्ती तत पूर्वसंयोगनाशः तत उत्तरसंयोगरक्ताद्युत्पत्ती ततो विभागज-
विभागकर्मणोर्निवृत्तिः तत परमाणौ द्रव्यारम्भानुगुण्या क्रिया ततो विभागः पूर्व-
संयोगनिवृत्तिः द्रव्यारम्भरसयोगोत्पत्तिः द्व्यणुकोत्पत्तिः रक्ताद्युत्पत्तिश्चेत्येकादश
क्षणाः । एकस्मिन्नेव परमाणौ क्रियाक्रियोपरमचिन्तनादेवम् । परमाण्वन्तरे

की उत्पादक के अनुकूल परमाणुओं में क्रिया (५), क्रिया ही विभाग (६), विभाग से पूर्वसंयोग का नाश (७), पश्चात् दूसरे द्व्यणुव द्रव्य का उत्पादक पर-
माणुओं का परस्पर संयोग (८), पश्चात् उससे दूसरे द्व्यणुकरूप द्रव्य की उत्पत्ति
(९), पश्चात् उत्पन्न हुए द्व्यणुकद्रव्य में रक्तरूपादियों की उत्पत्ति (१०) ऐसी
दश क्षण की प्रक्रिया है ।

किन्तु जब पूर्वद्व्यणुकद्रव्य के नाशवाले काल की अपेक्षा कर परमाणुओं
के परस्पर विभाग से देश के साथ विभाग होता है तब एक क्षण की वृद्धि होने
के कारण एकादश क्षण होते हैं । वह इस प्रकार है—कि पूर्वद्व्यणुक का विनाश
(१), उसके पश्चात् पूर्वप्रदीप्यत विभागजन्य विभाग, तथा इयामादि पूर्वरूप
की निवृत्ति (२), पश्चात् द्व्यणुक का आरम्भक परमाणु द्वय के संयोग का नाश
(३), पश्चात् उत्तरदेशसंयोग, तथा रक्त रूपादिकों की उत्पत्ति (४), पश्चात् विभाग-
जन्य विभाग तथा पूर्वक्रिया की निवृत्ति (५), पश्चात्, परमाणुओं में दूसरे द्व्यणुकरूप-
द्रव्य की उत्पत्ति के अनुकूल उत्पादक क्रिया (६), पश्चात् उससे देश से विभाग (७),
पूर्वदेशसंयोगनाश (८), तथा उसके पश्चात् दूसरे द्व्यणुकरूप द्रव्य के उत्पादक
परमाणुओं के संयोग की उत्पत्ति (९), पश्चात् दूसरे द्व्यणुकरूप द्रव्य की उत्पत्ति
(१०), पश्चात् रक्तादि रूप की उत्पत्ति (११) । इस प्रकार एकादश क्षण होते हैं ।
एक ही परमाणु में पूर्वद्व्यणुकनाशक क्रिया का नाश तथा दूसरे द्व्यणुकद्रव्य की
उत्पादक क्रिया मानने के पक्ष में यह प्रदर्शित एकादश क्षण प्रक्रिया होती है । यदि
दूसरे परमाणु में दूसरे द्व्यणुक की उत्पादकक्रिया मानी जाय तो पूर्वद्व्यणुक के
नाश को लेकर पाँचवें, पष्ठ, सप्तम अथवा अष्टम क्षण में रक्तादि रूप की उत्पत्ति
होती है यह जान लेना चाहिये इसका विवरण कणादरहस्य ग्रन्थ में है जो इस
प्रकार है—उसमें एक परमाणु में नाशक्रिया, उससे विभाग, पश्चात् आरम्भसंयोग
के नाशक्षण में दूसरे परमाणु में क्रिया आरम्भकसंयोगनाश से द्व्यणुकनाश-दूसरे
परमाणु की क्रिया से विभाग, यह एक क्षण है । पश्चात् केवल परमाणु में इयामरूप
नाश विभाग से पूर्वसंयोगनाश यह द्वितीय क्षण है । पश्चात् रक्तरूप की उत्पत्ति,

यद्दि द्रव्यारम्भानुगुणा क्रिया भिन्त्यते तदा द्रव्यगुणविनाशकारभ्य पञ्चमे पष्ठे सप्तमेऽष्टमे वा रक्तोत्पत्तिरूहनाया । विवृञ्चैतत् कणादरहस्ये ॥ ॥

पार्थिवपरमाणुरूपादीनां तेजःसंयोगासमवायिकारणकत्वं साधयितुमाह—

एकद्रव्यत्वात् ॥ ७ ॥

पाकजानामिति शेषः । अत्र च गुणत्वे कार्यत्वे सतीति विवक्षितम् । तदयं प्रयोगः—पार्थिवपरमाणुरूपादयः संयोगासमवायिकारणकाः कार्यगुणत्वे सति

तथा दूसरे द्रव्यगुण का उत्पादक परमाणुसंयोग यह तृतीय क्षण है । पश्चात् दूसरे द्रव्यगुण की उत्पत्ति यह चतुर्थ क्षण है । पश्चात् रक्तरूप की उत्पत्ति यह पंचम क्षण है । द्रव्य-नाश के क्षण में दूसरे परमाणु में क्रिया से पष्ठ क्षण में रूपोत्पत्ति की प्रक्रिया ऐसी है कि परमाणु की क्रिया से दूसरे परमाणु से विभाग, पश्चात् पूर्वद्रव्य के आरम्भक-संयोग का नाश, पश्चात् पूर्वद्रव्यगुण का नाश और उसी समय दूसरे परमाणु में क्रिया (१), पश्चात् श्यामरूप निवृत्ति के क्षण ही में दूसरे परमाणु की क्रिया से विभाग (२), पश्चात् रक्तरूप के उत्पत्ति क्षण में ही दूसरे परमाणु में कर्म मानने से पूर्वसंयोग का नाश (३), पश्चात् दूसरे परमाणु से संयोग (४), पश्चात् दूसरे द्रव्यगुण द्रव्य की उत्पत्ति (५), पश्चात् रक्तरूप की उत्पत्ति (६) । इस प्रकार पष्ठक्षण की प्रक्रिया है । इसी प्रकार श्यामरूपनाश के क्षण में दूसरे परमाणु में क्रिया मानने से सप्तक्षण की प्रक्रिया तथा रक्तरूप की उत्पत्ति के क्षण में दूसरे परमाणु में क्रिया मानने से अष्ठ (आठ) क्षण की प्रक्रिया, एवं रक्तरूप की उत्पत्ति के पश्चात् दूसरे परमाणु में क्रिया मानने से नवक्षण की प्रक्रिया होती है । इनकी प्रक्रिया भी प्रदर्शित प्रक्रिया के समान स्वयं जान लेनी चाहिये । द्रव्यगुणनाश के पश्चात् दूसरा द्रव्यगुण द्रव्य उत्पन्न होकर द्वितीयादि क्षण में गुण की उत्पत्ति की प्रक्रिया शशरमिश्र कृत कणादरहस्य आदिग्रन्थ में स्पष्ट है जो वही पाठको को स्वयं देख लेनी चाहिये (यह ग्रन्थ चौखम्बा संस्कृत सीरीज में मुद्रित हो चुका है) ॥ १ ॥

पाकज परमाणु रूपादि गुणों में तेज का संयोग असमवायि कारण होता है, यह सिद्ध करने के लिये सूत्रकार कहते हैं—

पदमदार्थ—एक द्रव्यत्वात् = एक द्रव्य में अभिहित होने से (पाकज रूपादिगुण अनिसंयोगासमवायि कारण के हैं) ॥ ७ ॥

भावार्थ—पार्थिव परमाणुओं के रूपादि गुण, अनिसंयोगरूप असमवायिकारण-वाले हैं, कार्यगुण होते हुए नित्य में वर्तमान दो में न रहनेवाले गुण होने से, शब्द तथा ज्ञानादिगुणों के समान इस अनुमान से पाकज रूपादिको में तेज का संयोग असमवायिकारण होता है यह सिद्ध होता है ॥ ७ ॥

उपस्कार—सूत्र में अवस्थित 'पाकजाना' इस पद का घेग पूरण करना और 'एकद्रव्यत्वात्' इस सूत्रोक्त हेतु की 'गुणत्वे कार्यत्वे सति' गुण तथा कार्य होते हुए ऐसी

नित्यनिष्ठाद्विप्रगुणत्वात् शब्दवत्, बुद्ध्यादिवच्च । संयोगजत्वमात्रं वा साध्यं तेन विभागजशब्दे न व्यभिचारः वायुसयोगस्य शब्दमात्रे निमित्तकारणत्वात् । पार्थिवरूपादीनाञ्च तेजोऽन्वयव्यतिरेकदर्शनात् तेजःसयोगासमवायिकाण-
कत्वं पक्षधर्मताघटान् सिध्यति ॥ ७ ॥

स्वरसगन्धस्पर्शान्तरमन्येन व्युत्पाद्य परिमाणस्य सर्वसिद्धत्वेन सङ्ख्या-
याञ्च विप्रतिपत्तिबाहुल्यादुद्देशक्रममतिक्रम्य सूचीकटाहन्यायेन प्रथमं परिमाण-
परीक्षामारम्भमाण आह -

अथोर्महत्तुपलब्धनुपलब्धी नित्ये व्याख्याते ॥ ८ ॥

नित्ये,—इति विषयेन विषयिणं नित्यत्वप्रतिपादकं चतुर्थाध्यायमुपलक्षयति ।
उपलब्धनुपलब्धी इति यथायोगमन्वयः, 'येन यस्याभिसम्बन्धो दूरस्थस्यापि

सूत्रकार की कहने की इच्छा है । इस कारण यह अनुमान का प्रयोग है—पार्थिव
परमाणुओं के रूपादिगुण, संयोगरूप असमवायिकारण वाले हैं कार्यगुण होते हुए
नित्य में वर्तमान दो में न रहनेवाले गुण होने से, शब्द के समान और ज्ञानादिगुणों
के समान भी । केवल संयोगजन्यतामात्र इस उक्त अनुमान में साध्य है, जिससे
विभागजन्य शब्द में व्यभिचार न होगा, क्योंकि वायु का संयोग संपूर्ण शब्दों में
निमित्त कारण होता है । पार्थिव रूपादिगुणों में तेज का अन्वय तथा व्यतिरेक विस्तीर्ण
पड़ने से तेज का संयोग असमवायिकारण है, यह पक्ष पार्थिव रूपादिकों में **तु** की
वृत्तिस्वरूप पक्षधर्मता के मत से सिद्ध होगी ॥ ७ ॥

इस प्रकार रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श नामक विशेष गुणों का एक ग्रन्थ (प्रक-
रण) से वर्णन कर परिमाण गुण के सर्वमत (लोकव्यवहारों) में होने के कारण, तथा
सरया नामक गुण में मत्तरूप अनेक (विप्रतिपत्ति) विवाद होने से उद्देशक्रम को
उल्लेखन कर (क्रम प्राप्त सस्या को छोड़कर) सूची (सूई) के बाद बटाह (बड़ाई)
अर्थात् छोटे के बाद बड़े का वर्णन इस न्याय से परिमाण गुण की परीक्षा करने का
सूत्रकार आरम्भ करते हैं—

पदपदार्थः—अणो = अणुपरिमाण की, महत् च=और महत्परिमाण की भी
उपलब्धनुपलब्धि = ग्रहण तथा अग्रहण, नित्ये = नित्य होती हैं, व्याख्याते=मह
व्याख्या है ॥ ८ ॥

भावाार्थः—अणुपरिमाण का ग्रहण न होना, तथा महत्परिमाण का प्रत्यक्षग्रहण
होना गुणों के नित्यताप्रतिपाद के चतुर्थाध्याय में व्याख्या किया गया है ॥ ८ ॥

उपस्कारः—'नित्ये' इस सूत्र के पद से नित्यस्वरूप विषय से उसके विषयी
नित्यता वर्णन करनेवाले चतुर्थाध्याय की सूचना होती है । 'उपलब्धनुपलब्धि'
इन दोनों का योग्यता के अनुसार अन्वय करना, क्योंकि येन = जिस पदार्थ के

तस्य सः' इति न्यायेन । तथा चाणोरनुपलब्धिरिति लभ्यते । तदेव स्यूको नीलः कलश इति प्रत्यक्षिकप्रत्यये यथा नील रूप विषयस्तथा परिमाणमपि, तेन च परिमाणेन परमाणुपर्यन्त परिमाणमुन्नोयते द्रव्यत्वाच्च । किञ्च द्रव्यप्रत्यक्षतायां रूपवत् परिमाणमपि कारण, न हि महत्त्वमन्तरेण द्रव्यं प्रत्यक्षं भवति । तथा च द्रव्यप्रत्यक्षकारणत्वेन स्वयञ्च प्रत्यक्षतया परिमाणं गुणोऽस्तीति निश्चीयते । यदि हि घटादिस्वरूप परिमाणं स्यात् तदा महदानयेत्युक्ते घटमात्रमानयेत् तथा च प्रैषसंप्रतिपत्तो विरुध्येताम् । एवं घटपदात् परिमाण प्रतीयेत परिमाणपदाद्वा घट इति ।

मानव्यवहारासाधारणकारणत्वम्, द्रव्यसाक्षात्कारकारणविषयनिष्ठसामान्यगुणत्वं वा महत्त्वम् । मानव्यवहारो हस्तचित्स्थादिव्यवहारो न तु पलस-

साय, यस्य = जिस पदार्थ का, अभिसम्बन्ध. = सम्बन्ध होता है, दूरस्थस्य अपि = दूर रहनेवाले भी, तस्य = उस पदार्थ का, च = वह सम्बन्ध होता है इस न्याय से ऐसा होने से अणु परिमाण की अनुपलब्धि (अग्रहण) यह सत्य होता है । इस कारण ऐसा होने से 'स्यूल (बड़ा) नील वर्ण का कलश है' इस प्रत्यक्षज्ञान से जिस प्रकार नीलवर्णरूप विषय है उसी प्रकार (बड़ा) महत्परिमाण भी विषय है और उस परिमाण से परमाणुपर्यन्त परिमाणगुण—अणुरूप द्रव्य, परमाणु परिमाणवाला है, द्रव्य होने से घट के समान, इस अनुमान से सिद्ध होता है । और द्रव्य के प्रत्यक्ष होने से रूपगुण के समान परिमाणगुण भी कारण है, क्योंकि महत्परिमाण के बिना द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं होता, ऐसा होने से द्रव्य के प्रत्यक्ष में कारण होने से, स्वयं भी प्रत्यक्ष होने के कारण परिमाण नामक गुण है यह निश्चय होता है । यदि घटादि पदार्थों का स्वरूप ही परिमाण गुण हो तो उसे ले आओ ऐसा कहने पर केवल घट का आनयन होगा, (किन्तु लाना नहीं) ऐसा होने से प्रेष्ट (आज्ञा) तथा संप्रतिपत्ति (उसका ज्ञान) ये दोनों विरुद्ध हो जायेंगे (अर्थात् बड़ा ले आओ ऐसी आज्ञा पाया हुआ मनुष्य 'मैं आपकी आज्ञा के विषय को कैसे निश्चित करूँ, परिमाण का लाना तो ही नहीं सकता, और बिना निश्चितके घटादि पदार्थ को लाना जाय तो, आज्ञा और कार्य के विरुद्ध होने से विरोध होगा' ऐसा उत्तर देगा । (शंकरमिश्र कहते हैं कि)—परिमाण को आधाररूप मानने से घट शब्द से परिमाण का अथवा परिमाणपद से घटपदार्थ का बोध होने लगेगा ।

मानव्यवहार के असाधारण (विशेष) कारण को परिमाणगुण कहते हैं, और द्रव्य के प्रत्यक्षके कारण विषय में रहनेवाले सामान्यगुण को महत्त्व महत्परिमाण कहते हैं । 'एक हाथ' एक वितस्ती (वित्ता) इत्यादि व्यवहार यहां पर मानव्यवहार शब्द का अर्थ है, नकि पल सभ्या (एक तोला) इत्यादि तोल का व्यवहार उक्त परिमाण गुण महत् अणु, दीर्घ और ह्रस्व इस भेद से चार प्रकार का है । उनमें से परम महत्

द्वयादिव्यवहारः । तच्च परिमाणश्चतुर्विधं—महत्त्वमणुत्वं दीर्घत्वं ह्रस्वत्वञ्च । तत्र परममहत्त्वपरमदीर्घत्वे विमुच्यते ध्रुवार्त्तिनी, परमाणुत्वपरमह्रस्वत्वे परमाणुवर्त्तिनी, अवान्तराणुत्वावान्तरह्रस्वत्वे द्व्यणुकवर्त्तिनी, प्रसरेणुमारभ्य महावयवपर्यन्त महत्त्वदीर्घत्वे । एवञ्च सर्वाण्यपि द्रव्याणि परमाणुद्वयवन्ति । दिव्यामलकादावणुत्वव्यवहारः समिदिक्षुश्ण्डादिषु च ह्रस्वत्वव्यवहारो भाक्तः । भक्तिश्चात्रै प्रकर्षभावाभावः । आमलके यः प्रकर्षभावस्तस्याभावः कुवले, विल्वे यः प्रकर्षभावस्तस्याभावः आमलके, स च गौणमुख्योभयमागित्वाद् भक्तिपदवाच्यः । दीर्घत्वह्रस्वत्वे नित्ये न वर्त्तते इत्येकं । परिमाण एव ते न भवत इत्यपरे । महत्सु दीर्घमानोपतामिति बद्ध महत्सु वर्त्तन्ते त्रिकोणश्चानोपतामिति निर्धारणं पलाद्वतुलत्वादीनामप्यापत्तेरिति तेषामाशयात् ॥ ८ ॥

इदानीं परिमाणकारणानि परिसञ्चये—

कारणचतुत्वाच्च ॥ ९ ॥

परिमाणं तथा परमदीर्घं परिमाणं ये दोनो आकाशे से लेकर आत्मातक व्यापक चार द्रव्यों में रहते हैं, परमअणु तथा परमह्रस्व परिमाणं ये दोनो परमाणुओं में रहते हैं, तथा अवान्तर (मध्यम) अणु तथा ह्रस्व ये दोनो परिमाण द्व्यणुक में रहते हैं, प्रसरेणु से लेकर घटादि महावयव द्रव्यों में महत् तथा दीर्घं परिमाण ये दोनों रहते हैं । इनसे यहाँ सिद्ध होता है कि संपूर्ण द्रव्यों में दो प्रकार के परिमाण हैं । बेल, आमलक (आवला) इत्यादिको में यह परिमाण होने पर भी अणु (छोटे) परिमाण को तथा समित् (समिधा की लकड़ी) द्यु (ऊँख) तथा श्ण्ड (श्ण्डा) आदिको में दीर्घता (लम्बापन) होने पर भी ह्रस्वता का व्यवहार भी गौण होता है । प्रकर्षभाव (अधिकता) का अभाव (न होना) है भक्ति शब्द का अर्थ । अतः आमले में जो महत्परिमाण की अधिकता है उसका कुवल (कमलगट्टे) में अभाव है, और बेल में जो महत्परिमाण की अधिकता है उसका आमले में अभाव है, और वह गौण बेल आदिको में तथा मुख्य घटादिको दोनों में रहने के कारण भक्तिपद से कहा जाता है । नित्यपरमाणु आदिको में दीर्घं तथा ह्रस्वपरिमाण नहीं रहता ऐसा कुछ विद्वानों का मत है । “दीर्घं और ह्रस्व यह पृथक् परिमाण ही नहीं है ऐसा दूसरे दार्शनिकों का मत है । क्योंकि महत्परिमाण वाले (बड़े) (बानों में से दीर्घ (लंबे) बान को लाओ इस व्यवहार के समान बड़े बेलों में से गोल बेल लाओ ऐसे निश्चायक व्यवहार होने से (वर्तुलता) गोल का परिमाण भी दीर्घं तथा ह्रस्व के समान मानना पड़ेगा ऐसा उनका अभिप्राय है ॥ ८ ॥

साम्प्रतः परिमाणपुण के कारणों की गणना सूत्रकार करते हैं—

पदपदार्थ—कारण बहुत्वात् चकारणं भवत्मानं (बहुत्व) अनेक सत्ता से भी (परिमाण उत्पन्न होता है) ॥ ९ ॥

चकारो महत्त्वप्रचयौ समुच्चिनोति । परिमाणमुत्पद्यते इति सूत्रशेषः । तत्र कारणबहुत्वं द्व्यणुके महत्त्वदीर्घत्वे जनयति महत्त्वप्रचययोस्तत्कारणेऽभावात् । तत्र बहुत्वमोक्षरापेक्षाबुद्धिजन्यं तदुद्बुद्धेरनेकविषयत्वेऽप्यदृष्टविशेषोपमहो नियामकः । एवं परमाणुद्वयगतं द्वित्वं द्व्यणुके परिमाणोत्पादकं वक्ष्यते । द्वाभ्यां तन्तुम्यामप्रचिनाभ्यामारब्धे पटे केवलं महत्त्वमेवासमवायिकारण बहुत्वप्रचय-योस्तत्राभावात् यत्र च द्वाभ्यां तूलकपिण्डाभ्यां तूलकपिण्डारम्भस्तत्र परिमाणो-त्कर्षदर्शनात् प्रचयः कारणं बहुत्वस्याभावात्, महत्त्वस्य सत्त्वेऽपि परिमाणोत्कर्ष-प्रत्यययोजकत्वात् । एतच्च सति यत्र महत्त्व तत्र कारणं तदा न दोषः । तदुक्त-
'द्वाभ्यामेकेन सर्व्वो' इति । प्रचयश्च आरम्भकः संयोगः । स च स्वाभिमुख-किञ्चिदधयवासयुक्तत्वे सति स्वाभिमुखकिञ्चिदवयवसंयोगलक्षणः । स चाधय-

भावार्थ—कारणगत अनेक सख्या तथा सूत्र के प्रकार से सग्रह किये महत्त्व-परिमाण तथा प्रचय नामक विधिलिखतासपादक संयोगविशेष इन तीन कारणों से जन्म परिमाण ही उत्पत्ति होती है ॥ १ ॥

उपस्कार—सूत्र का चकार महत्त्वपरिमाण तथा प्रत्यय नामक संयोगविशेष इन दोनों का सग्रह करता है । 'परिमाण' उत्पन्न होता है ऐसा सूत्र में अकाशित पद का शेष भाग पूर्ण करना उसमें कारणबहुत्व (अनेक) सख्या त्र्यणुकद्रव्य में महत्त्व तथा दीर्घपरिमाणरूप कार्यंशुण को उत्पन्न करती है । क्योंकि त्र्यणुक के कारण द्व्यणु-कल्प द्रव्य में महत्त्व परिमाण तथा प्रचय संयोग नहीं है । और परमाणुओं में वर्तमान अनेक सख्या परमाणुओं का प्रत्यक्ष करनेवाले यह एक परमाणु है यह एक परमाणु है इस प्रकार की ईश्वर की अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न होती है, ईश्वरबुद्धि के अनेक विषयों में होने में भी अदृष्टविशेष, का उपग्रह (सम्बन्ध) ही नियामक है । इसी प्रकार दो परमाणुओं में वर्तमान द्वित्वसख्याद्व्यणुकद्रव्य में परिमाण को उत्पन्न करती है ऐसा कहा जायगा । प्रचयसंयोग से रहित को तन्तुओं से उत्पन्न पटद्रव्य में केवल महत्त्वपरिमाण ही असमवायिकारण होता है, क्योंकि उन दो तन्तुओं में अनेक सख्या तथा प्रचयरूप कारण नहीं है । और जहाँ दो तूलक (रुई) के पिण्ड (ढेर रूप गोले) से एक तूलक पिण्ड (ढेर) रूप द्रव्य उत्पन्न होता है उसमें कारण-पिण्डों से कार्यपिण्ड में महत्त्वपरिमाण का उत्कर्ष दिखाई पड़नेके कारण प्रचयसंयोग ही कारण है, क्योंकि उन दोनों कारणपिण्डों में अनेक सख्या नहीं है, महत्त्वपरिमाण के रहने पर भी वह कार्यपिण्ड के अधिक महत्त्वपरिमाण होने में प्रयोजक नहीं है । ऐसा होने से यदि उसमें महत्त्वपरिमाण कारण हो तो भी कोई दोष नहीं हो सकता, अतएव 'द्वाभ्यां=दोसे, एकेन=एक से, अथवा सर्व्वे=संपूर्ण कारणों से ऐसा प्रसस्त-देवने भाव्य में कहा है । आरम्भक (उत्पन्न करनेवाला) संयोग, प्रचय कहाता है)

यसंयोग स्वावयवप्रतिथिलसंयोगापेक्ष परिमाणजनकः 'गुणकर्मारम्भे सापेक्ष' इति वचनात् ॥ ९ ॥

महत्त्वदीर्घत्वे व्युत्पाद्याणुत्वं व्युत्पादयति—

अतो विपरीतमणु ॥ १० ॥

अतः प्रत्यक्षसिद्धान्तमहत्तः परिमाणाद्यद्विपरीतं तदणुपरिमाणमित्यर्थः । वैपरीत्यश्चाप्रत्यक्षत्वात् कारणवैपरीत्याच्च । महत्त्वे हि महत्त्वमणुत्वप्रचयानां कारणत्वम् । अणुत्वे च कारणगतस्य द्वित्वत्येवरापेक्षाबुद्धिजन्यस्य कारणत्वम् । एतेन दीर्घत्वविपरीतं ह्रस्वत्वमित्यपि द्रष्टव्यम् । वैपरीत्यश्चात्रापि पूर्ववत् ॥ १० ॥
इदानीं कुपलामलकादावणुत्वव्यवहागे भाक्त इति दर्शयति—

और वह प्रथम अपने समुक्त कुछ अवयवों में समुक्त न होता हुआ अपने अभिमुख (सामने के) कुछ अवयवों से संयोगस्वरूप होता है । और वह अवयवसंयोग अपने अवयवों के अत्यन्त शिथिल (ढीले) संयोग की अपेक्षा से परिमाण की उत्पन्न करता है, क्योंकि गुणकर्मारम्भे=गुण तथा क्रिया की उत्पन्न करने में, सापेक्ष = अपेक्षा करता है, ऐसा वैशेषिकसूत्रकार का वचन है ॥ ९ ॥

महत् तथा दीर्घपरिमाण का वर्णन कर अणुपरिमाण का वर्णन सूत्रकार करते हैं—

पदपदार्थ—अतः = इस प्रत्यक्ष महत्परिमाण से, विपरीत = जो विपरीत (अपरत्यक्ष) हो, अणु = वह अणुपरिमाण है ॥ १० ॥

भाषार्थ—प्रत्यक्ष होने की योग्यतावाले महत्परिमाण से प्रत्यक्ष न होने के कारण अणुपरिमाण उससे विपरीत होता है ॥ १० ॥

उपस्कार—'अतः' अर्थात् इस प्रत्यक्षासिद्ध महत् परिमाण से जो विपरीत (उलटा) होता है वह अणुपरिमाण कहा जाता है, यह सूत्र का अर्थ है । वह विपरीतता दो प्रकार से होती है अणुपरिमाणवाले परिमाण तथा द्व्यणु द्वयो के प्रत्यक्ष न होने से तथा कारण की विपरीतता से भी । क्योंकि महत्परिमाण होने में महत् परिमाण, अनेक सख्या तथा प्रचयसंयोग कारण होते हैं । और द्व्यणुक द्व्य के अणुपरिमाणरूप कार्य में गुणमाणुरूप कारण में वर्तमान ईश्वर की अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न द्वित्व सख्या कारण है । इस कथन से दीर्घपरिमाण के विपरीत ह्रस्व परिमाण होता है । यह भी देख लेना चाहिये । और यह विपरीतता भी पूर्व के समान यहाँ भी देख लेनी चाहिये ॥ १० ॥

साप्रतः कुबल (कमलजटा) आवला आदि में महत्परिमाण होने पर भी अणु है यह व्यवहार गौण होता है । यह सूत्रकार स्वयं कहते हैं—

अणु महादिनि तस्मिन् विशेषभावाद् विशेषाभावाच्च ॥ ११ ॥

इति शब्दो व्यवहारपरतां दर्शयति । तेन कुवलापेक्षया कुवलमाणु कुवलापेक्षयामलकं महन् आमलकापेक्षया चित्त्वं महदिति तावद्व्यवहारोऽस्ति, तत्र महति तेषु व्यवहारो मुख्यः । कुत एवमत आह—विशेषभावात् महत्त्वविशेषस्यैव तरतमादिभावेन भावात्, अणुव्यवहारस्तु तेषु भाक्तः । कुत एवमत आह—विशेषभावात् अणुत्वविशेषस्य तत्राभावात् । अणुत्व हि कार्यं द्व्यणुकमाश्रयति, नित्यं तु परमाणुवृत्तिः, कुवलादौ सदभावात् ।

यद्वा विशेषस्य महत्त्वकारणत्वेनावयवग्रहत्वमहत्त्वप्रचयानां कुवलाद्यवयवेषु लाघात् सद्भावात्, विशेषाभावाद् विशेषस्य अणुत्वकारणस्य महत्त्वासमानाधिकरणद्वित्वस्य कुवलाद्यवयवेष्वभावादसद्भावादित्यर्थः ॥ ११ ॥

पक्षपदार्थ—यह अणु परिमाणवाला है, महत् = यह महत्परिमाणवाला है, इति ऐमा व्यवहार होता है, तस्मिन् = उसमें, विशेषभावात् = महत्परिमाणरूप विशेष होने से, विशेषाभावात् च = और अणुरूप विशेष न होने से, (अणुव्यवहारगण होता है) ॥ ११ ॥

भावार्थ—बेलफल से कमलगट्टा अणु (छोटा) है ऐसा, एवं कमलगट्टे की अपेक्षा ॥ आवला महान् (बड़ा) है ऐसा भी व्यवहार होता है, अतः उनमें महत्परिमाण का व्यवहार महत् परिमाण के रूपविशेष तरतम (अधिक, तथा अति-अधिक) भाव से मुख्य है, तथा अणुव्यवहार जो होता है वह वस्तुतः उनमें अणुत्वरूपविशेष न होने से भाक्त (गण) है ॥ ११ ॥

उपस्कार—सूत्र में इति शब्द व्यवहारबोधकता का दिखाई पड़ता है । इससे बेलफल से कुवल (कमलगट्टा,) अणु है, कुवल से आवला महत्परिमाण (बड़ा) है, आपले से बेल महत् (बड़ा) है । ऐसे व्यवहार लोकप्रसिद्ध होते हैं, उससे महत्परिमाण का उनमें व्यवहार तो मुख्य है । क्यों ? ऐसे प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार ने 'विशेषभावान्' ऐसा हेतु दिया है, जिसका अर्थ है महत्परिमाणरूपविशेष की ही वास्तविक उनमें सत्ता होने से । और उनमें बेल से कुवल अणु है का व्यवहार गण है ऐसा क्यों ? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार हेतु देते हैं—विशेषभावात् = अर्थात् वस्तुतः उसमें अणुत्वविशेष नहीं है । कार्यरूप अणुपरिमाण केवल द्व्यणुक द्रव्य में ही रहता है, और नित्य अणुपरिमाण केवल परिमाणुओं में रहता है । जो कुवलादिक में वस्तुतः नहीं है अथवा महत्परिमाण के कारण ही अवयवों में अनेक संख्या, महत्परिमाण, तथा प्रचयसंघोषरूप (विशेष) के कुवल आदि द्रव्यों के अवयवों में नावात्क्यसत्ता होने से, (विशेषभावात्) अर्थात् अणुपरिमाण के कारण तथा महत्परिमाण के अधिकरण में न रहनेवाली द्वित्वसंख्या के कुवलादिकों

अणुत्वव्यवहारो भाक्त इत्यत्र हेतुमाह—

एककालत्वात् ॥ १२ ॥

महत्त्वमणुत्वञ्च द्वयमप्येकस्मिन् कालेऽनुभूयते, ते च महत्त्वाणुत्वे परस्पर-
विराधिनी नैकत्राश्रये सह सम्भवतः, अतो महत्त्वकारणसद्भावात् महत्त्व-
प्रत्ययस्तत्र मुख्योऽणुत्वप्रत्ययप्रयोगी च भाक्तावित्यर्थः ॥ १२ ॥

महत्त्वप्रत्ययरूप मुख्यत्वे हेतुमाह—

दृष्टान्ताच्च ॥ १३ ॥

दृश्यते तथा वस्तुगत्या महत्त्वेव कुत्रलामलकविरूपेण स्थूलस्थूलतरस्थूल-
मध्यवहारेण भवितव्यामित्यर्थः । यथा वस्तुगत्या शुक्लेऽप्येव पटशब्दस्फाटका-
दि पुशुबलशुक्लतरशुक्लतममध्यवहारः ॥ १३ ॥

के अवयवो मे अभावात् अर्थात् सत्ता न होने से ऐसा सूत्र का अर्थ भी जानना ॥ ११ ॥

प्रदक्षित अणु व्यवहार भाक्त हैं, इससे स्वयं सूत्रकार हेतु दिताते हैं—

पदपदार्थ—एककालत्वात्=एक ही काल में होने से (अणुव्यवहार गौण हैं) ॥ १२ ॥

भावार्थ—एक ही समय में कुत्रलादिकों में महत् तथा अणुपरिमाण का अनु-
भव होता है, परस्पर विरोध होने से दोनों परिमाण एक आशयद्रव्य में नहीं हो
सकते, अतः महत्परिमाण का कारण होने से महत्परिमाण का व्यवहार मुख्य, तथा
अणुपरिमाण का व्यवहार गौण है यह सिद्ध होता है ॥ १२ ॥

उपस्कार—अणु तथा महत्परिमाण दोनों का ही एक समय में अनुभव होता
है, और वह महत् तथा अणुपरिमाण परस्पर विरुद्ध होने के कारण एक आशय-
द्रव्य में नहीं हो सकते, इस कारण महत्परिमाण के कारण की सत्ता होने से मह-
त्परिमाण का कुलव, बेल इत्यादि पापिन द्रव्यादिकों में व्यवहार मुख्य है, तथा बेल
से कमलगट्टा अणु है इत्यादि शब्द प्रयोग तथा ज्ञान दोनों भाक्त (गौण) हैं यह
सूत्र का अर्थ है ॥ १२ ॥

महत्परिमाण की मुख्यता में स्वयं सूत्रकार कारण कहते हैं—

पदपदार्थ—दृष्टान्तात् च = दृष्टान्ति होने से भी ॥ १३ ॥

भावार्थ—वस्तुतः श्वेतवर्णवाले भी वस्त्र शस्त्र तथा स्फटिकमणि आदि
पापिन द्रव्यों में शुक्ल, शुक्लतर (अधिक शुक्ल), शुक्लतम (अतिअधिक शुक्ल)
इत्यादि व्यवहार होता है उसी प्रकार वस्तुतः महत्परिमाणवाले भी कुवल, आमल-
कादि द्रव्यों में स्थूल, स्थूलतर (अधिक स्थूल) तथा स्थूलतम (अतिअधिक स्थूल)
इस प्रकार वास्तविक महत्परिमाण का व्यवहार भी होता है ॥ १३ ॥

उपस्कार—यह दिखाई पड़ता है कि इस प्रकार वास्तविक महत्परिमाण वाले
ही कुवल, आमलक, बिल्वफल आदिकों में स्थूल, अधिक स्थूल, अत्यधिक स्थूल ऐसे

नन्वणु महत्परिमाणमिति व्यवहारबलान्महत्त्वे अपि परिमाणे महत्त्वमणुत्वेऽप्यणुत्वमस्तीति ध्यायते तत् कथं द्रव्यमात्रवृत्तित्वमनयोः कथं वा गुणे गुणवृत्तित्वविरोधो नापद्यत इत्यत आह—

अणुत्वमहत्त्वयोरणुत्वमहत्त्वाभावः कर्मगुणैर्व्याख्यातः ॥ १४ ॥

यथा गुणकर्मणी नाणुत्वमहत्त्ववतो तथाऽणुत्वकहत्त्वे अपि नाणुत्वमहत्त्ववतो इत्यर्थः । प्रयोगश्च भाक्तो द्रष्टव्यः ॥ १४ ॥

ननु यथा गुणा गुणवन्तः,—कथमन्यथा महान् राशे द्वौ शब्दौ एकः शब्दः चतुर्विंशतिगुणा इत्यादिद्व्यवहारः । कर्माण्यपि च कर्मवन्ति प्रतीयन्ते

व्यवहार होने चाहिये यह सूत्र का अर्थ है । जिस प्रकार वास्तविक शुक्ल वर्ण वाले ही वस्त्र, शस्त्र, स्फटिकादि द्रव्यों में शुक्ल १, अधिक शुक्ल २, अतिअधिक शुक्ल ३ ऐसे क्रम से व्यवहार होते हैं (यह रटान्त है) ॥ १३ ॥

“अणु तथा महत् यह परिमाण हैं इस व्यवहार के बल से महत् परिमाण में भी महत्परिमाण, तथा अणुपरिमाण में भी अणुपरिमाण है ऐसा जान पड़ता है, तो महत् तथा अणुपरिमाण ये दोनों द्रव्य ही में रहते हैं ऐसा कैसे हो सकता है ? जिससे गुण में गुण के रहने का विरोध कैसे न आवेगा” इस पूर्णपक्षी की शक्ती के समाधानार्थ सूत्रकार कहने हैं—

पदपदार्थ—अणुत्वमहत्त्वयोः = अणु तथा महत्परिमाण दोनों में, अणुत्वमहत्त्वाभावः = अणु तथा महत्परिमाण दोनों का क्रम से अभाव है, (यह) कर्मगुणं = कर्म और गुण पदार्थों में अणु तथा महत्परिमाण के न रहने से, व्याख्यातः = व्याख्या किया गया ॥ १४ ॥

भाषार्थ—जिस प्रकार गुण तथा कर्मपदार्थों में अणु तथा महत्परिमाण नहीं रहता, उसी प्रकार गुण होने से अणु तथा महत्परिमाण क्रम से अणु तथा महत्परिमाण के आश्रय नहीं होते यह व्याख्यात है ॥ १४ ॥

उपस्कार—जिस प्रकार गुण तथा कर्मपदार्थ अणु तथा महत्परिमाणरूप गुण वाले नहीं होते उसी प्रकार अणु तथा महत्परिमाणरूप दोनों गुण भी क्रम से अणु तथा महत्परिमाण के आधार नहीं होते, क्योंकि गुणों में गुणों के रहने का विरोध है । पूर्णपक्षी के प्रदर्शित अणुपरिमाण है इत्यादिव्यवहार भाक्त (गौण) है ऐसा देखना चाहिये ॥ १४ ॥

यदि गुणों में गुण न माने जाय तो यह शब्द महान् (बड़ा) है, दो शब्द हैं, एक शब्द है, चतुर्विंशति गुण है, यह व्यवहार न हो सकेगा, अतः गुणों में गुण है यह सिद्ध होता है तथा शीघ्र जाता है, द्रुत (बहुत शीघ्र) जाता है इत्यादि व्यवहार के बल से क्रियापदार्थ भी क्रिया का आधार है यह सिद्ध होता है, उसी प्रकार अणु,

कथमन्यथा शीघ्र गच्छति द्रुत गच्छतीति व्यवहारः तथा चाणुत्त्वमहत्त्वे अपि तद्वती इत्यात्मित्यत आह—

कर्मभिः कर्माणि गुणैश्च गुणा व्याख्याताः ॥ १५ ॥

कर्मभिः कर्माणि न तद्वन्ति गुणैश्च गुणा न तद्वन्तस्तथाऽणुत्वमहत्त्वेऽपि न न तद्वती । व्यवहारस्तु सर्वत्र भाक्त इत्यर्थः ॥ १५ ॥

ननु महान्ति कर्माणि अणूनि कर्माणि महान्तो गुणा, अणवा गुणा इत्यादि व्यवहारादणुत्वमहत्त्ववन्ति कर्माणि तदुभयवन्तश्च गुणा प्रसक्ता इत्यत आह—

अणुत्वमहत्त्वाभ्यां कर्मगुणाश्च व्याख्याताः ॥ १६ ॥

यथाऽणुत्वमहत्त्वे नाणुत्वमहत्त्ववती तथा न कर्माणि तदुभयवन्ति न वा गुणास्तदुभयवन्त इत्यर्थः । प्रयोगस्तु पूर्वोक्ता इति भावः ॥ १६ ॥

तथा महत्परिमाण भी अणु तथा महत् परिमाण आश्रय हो जायगे । इस पूर्वपक्षी की शका के समाधान में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थः—कर्मभिः = कर्मपदार्थों से, कर्माणि = कर्मपदार्थ, गुणं च = और गुणपदार्थों से, गुणा = गुणपदार्थ, व्याख्यात = व्याख्या किये गये ॥ १५ ॥

भाषार्थः—जिस प्रकार त्रिरौघ होन से क्रियापदार्थ में क्रिया नहीं रहती, गुणपदार्थ गुणों में नहीं रहते, उसी प्रकार अणु तथा महत्परिमाण भी अणु तथा महत्परिमाण के आश्रय नहीं होते, पूर्वपक्षी के दिताये व्यवहार भाक्त हैं ॥ १५ ॥

उपस्कारः—जिस प्रकार क्रियापदार्थों से क्रियापदार्थ आश्रय नहीं होते, गुणपदार्थों से भी गुणपदार्थ आश्रित नहीं होते, इसी प्रकार अणु तथा महत्परिमाण भी कम से अणु तथा महत्परिमाण के आश्रित नहीं होते । व्यवहार तो संपूर्ण भाक्त होता है यह सूत्र का अर्थ है ॥ १५ ॥

“महान् (बड़े) कर्म, अणु (छोटे) कर्म हैं, तथा महान् (बड़े) गुण एवं अणु (छोटे) गुण हैं, इत्यादि व्यवहार से क्रियापदार्थ में अणु तथा महत्परिमाण की आधारता तथा गुणपदार्थों में भी दोनों परिमाणों की आधारता सिद्ध होगी” ऐसी पूर्वपक्षी की शका के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थः—अणुत्वमहत्त्वाभ्यां = अणु तथा महत्परिमाण से, कर्मगुणा च = कर्म और गुणपदार्थ, व्याख्याता = व्याख्या किये गये ॥ १६ ॥

भाषार्थः—जिस प्रकार अणु तथा महत्परिमाण में अणु तथा महत्परिमाण नहीं रहता उसी प्रकार क्रियापदार्थ में अथवा गुणपदार्थ में भी अणु तथा महत्परिमाण नहीं रहते यह भी व्याख्या किया गया ॥ १६ ॥

उपस्कारः—जिस प्रकार अणु तथा महत्परिमाण अणु तथा महत्परिमाणों के आपार नहीं होते उसी प्रकार कर्म अथवा गुणपदार्थ भी उन दोनों परिमाणों के

अणुत्वमहत्त्वप्रक्रियां दीर्घत्वह्रस्वत्वयोरतिदिशति—

एतेन दीर्घत्वह्रस्वत्वे व्याख्याते ॥ १७ ॥

ह्रस्वत्वदीर्घत्वे अपि न ह्रस्वत्वदीर्घत्वयोरतिदिशति महत्त्वोत्पादकमेव दीर्घत्वोत्पादकमणुत्वोत्पादकमेव ह्रस्वत्वोत्पादकम् । कारणेक्यात् कार्यं कार्यभेद इति चेन्न, प्रागभावभेदेन पाकजवदुपपत्तेः । यत्रैव महत्त्वं सत्र दीर्घत्वं यत्राणुत्वं तत्र ह्रस्वत्वं यत्र नित्यमणुत्वं तत्र नित्यह्रस्वत्वमित्यादिदेशार्थः ॥ १७ ॥

इदानीं विनाशकमाह—

भाष्यार नही होते, यह सूत्र का अर्थ है । पूर्वपक्षी के दिव्यापे गम्भूतं प्रयोग व्यवहार पूर्व के समान गीण है, यह यही आशय है ॥ १६ ॥

अणु तथा महत्परिमाण की एक प्रक्रिया को दीर्घतया ह्रस्व इन दोनों परिमाणों में अतिदेश करने की समानता से कहते हैं —

पदपरार्थ—एतेन = इस पूर्वोक्त कथन में, दीर्घत्वह्रस्वत्वे = दीर्घ तथा ह्रस्व-परिमाण, व्याख्याते = व्याख्या किये गये ॥ १७ ॥

भावार्थ—महत्परिमाण का कारण ही दीर्घपरिमाण भी उत्पन्न करता है, तथा अणुपरिमाण का कारण की ह्रस्वपरिमाण को उत्पन्न करता है, अतः ह्रस्व तथा दीर्घपरिमाण भी ह्रस्व तथा दीर्घपरिमाण के आश्रय नहीं होते यह व्याख्या किया गया ॥ १७ ॥

उपस्कार—ह्रस्व तथा दीर्घ ये दोनों परिमाण भी ह्रस्व तथा दीर्घपरिमाण के आश्रय नहीं होते । क्योंकि महत्परिमाण का जनक ही दीर्घपरिमाण का जनक, तथा अणुपरिमाण का जनक ही ह्रस्वपरिमाण का जनक होता है । यदि ऐसा है तो कारण के एक होने से कार्य में भेद क्यों होगा ? इस दाका का यह समाधान है कि ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि प्रागभाव के भेद से पाकज रूपादि गुणों के भेद के समान कार्य में भेद हो सकता है अर्थात् अग्निसंयोगरूप रूपादि चारों पाकज गुणों का एक कारण होने पर भी जैसे रूप प्रागभाव आदि के भेद से रूप आदि कार्य भिन्न होते हैं, उसी प्रकार (यही भी दोनों प्रकार के परिमाणों का कारण समान होने पर भी, महत्परिमाण का प्रागभाव दीर्घपरिमाण का प्रागभाव ऐसे भेद से कार्य में भेद हो जायगा ।) जहाँ पर महत्परिमाण होता है, वहाँ दीर्घ-परिमाण होता है तथा जहाँ अणुपरिमाण होता है वहाँ ह्रस्वपरिमाण, जहाँ नित्यअणुपरिमाण होता है, वहाँ नित्यह्रस्वपरिमाण यह सूत्र के अतिदेश का अर्थ है ॥ १७ ॥

साप्रत सूत्रकार परिमाणगुण का नाश करने वाक्य कहते हैं—

अनित्येऽनित्यम् ॥ १८ ॥

एतच्छतुर्विधमपि परिमाणं विनाशिनि द्रव्ये वर्तमानमाश्रयनाशादेव नश्यति न तु विरोधिगुणान्तरात् । घटे सत्यपि तत्परिमाणं विनश्यति कथं न्यथा कम्बुभङ्गेऽपि ॥ एवायं घट इति प्रत्यभिज्ञेति चेन्न । आश्रयनाशेन तत्र घटनाशायशक्तत्वात् न हि परमाणुद्वयसंयोगनाशाद् द्रव्यणुके नष्टे तदाश्रितस्य असरेणोस्तदाश्रितस्य चूर्णशर्करादेरविनाश इति युक्तिरभ्युपगमो वा । कथं तर्हि प्रत्यभिज्ञेति चेत् ? सैवेयं दोषकलिकेति प्रत्यभिज्ञानवद् भ्रान्तरत्वात् । प्रक्षीपप्रत्यभिज्ञाऽपि प्रमेयं हस्तवदोघोत्वे परमुत्पादविनाशशालिनो इति चेन्न तादृशनाशस्याश्रयविनाशमन्तरेणानुपपत्तेरुक्तत्वाद् ॥ १८

पदपदार्थः—अनित्ये = अनित्य द्रव्य मे, अनित्यम् = परिमाण अनित्य होता है ॥ १८ ॥

भाषार्थः—पूर्वोक्त चारो प्रकार का विनाशी द्रव्य से रहने वाला परिमाणगुण आश्रय के नाश से नष्ट होने के कारण अनित्य होता है अर्थात् आश्रयनाश अनित्य परिमाण का नाशक होता है विरोधी दूसरे गुणादि नाशक नहीं होते ॥ १८ ॥

वृत्पक्षः—यह पूर्वप्रदर्शित परिमाणगुण नाशवान द्रव्य मे रहने वाला आश्रय के नाश से ही नष्ट होता है, दूसरे विरोधी गुण से नष्ट नहीं होता । 'घट' के रहने पर भी उसके परिमाण का नाश होता है, नहीं तो कम्बु (गर्दन) रूप ऊपरी भाग के टूटने पर भी वही यह घट है ऐसी प्रत्यभिज्ञा कैसे होती है ? ऐसी पूर्वपक्षी शका करे तो यह नहीं हो सकता, क्योंकि वहाँ अवयवरूप आधार के नाश से अवयविरूप घट का नाश होना आवश्यक है । क्योंकि दो परमाणुओं के संयोग के नष्ट होने से द्वघणुक द्रव्य के नष्ट होने पर उसके आश्रित असरेणु तथा उसके आश्रित चूर्ण (मट्टी का चूर), तथा उनके आश्रित शर्करा (कण्ड) इत्यादि द्रव्यों का नाश नहीं होता ऐसा मानने में कोई युक्ति नहीं है, अथवा ऐसा माना भी नहीं गया है । यदि ऐसा है तो घट का नाश न होने पर भी दूसरे तन्तुओं के संयोग से (दूसरे तन्तु उसमें जोड़ देने से) परिमाण अधिक कमो हो जाता है, ऐसी शका नहीं कर सकते क्योंकि वहाँ भी वेमा आदि बुनने के मापनो के अभिघातसंयोग से असम-वायिकारण संयोग के नाश ही से घट का नाश मानना आवश्यक है तथा उस घट के अवयवों में दूसरा जोड़ा तन्तु अवयव है या नहीं ? यदि है, तो उसके पीछे जोड़े जाने वाले तन्तुरूप अवयव के बिना वह उत्पन्न ही कैसे होगा । यदि नहीं है तो उससे परिमाण अधिक नहीं हो सकता । जिस प्रकार समुक्त द्रव्यान्तर से परिमाण अधिक नहीं होता, इस कारण वहाँ दूसरे तन्तुओं का संयोग होने पर पूर्वघट के नाश से दूसरा तण्डपट उत्पन्न हुआ यह मानना होगा उक्त प्रत्यभिज्ञा तो दीपज्वालाओं

तत् किं पार्थिवपरमाणुरूपादिवत् परमाणुगतमणुत्वं शब्दबुद्ध्यादिवदा-
काशादिगतं महत्त्वमपि नश्यतोक्त्यत आह—

नित्ये नित्यम् ॥ १६ ॥

नित्येऽवाकाशादिषु परमाणुषु च यत् परिमाण तन्नित्यं विनाशका-
भावात् ॥ १९ ॥

परमाणुपरिमाणस्य वैशेषिकसिद्धां सङ्गमाह—

नित्यं परिमण्डलम् ॥ २० ॥

के भिन्न होने पर भी वही यह दीप की ज्वाला है। इस प्रत्यभिज्ञा के समान भ्रमा-
चीन है, यह स्वयं आगे शकर्मिय कहते हैं। (पुन पूर्वपक्षी की सका दिखाते हुए
शकर्मिय कहते हैं कि) —“यदि पटनाश आवश्यक है तो ‘वही यह घट है’ ऐसी
प्रत्यभिज्ञा कैसे होगी?” तो इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार दीप की ज्वाला
भिन्न-भिन्न होने पर भी ‘वही यह दीप ज्वाला है’ इस प्रत्यभिज्ञा के समान भ्रम से
होती है। “प्रदीप के ज्वाला की उक्त प्रत्यभिज्ञा भी भ्रमा (यथार्थ ज्ञान) ही है,
केवल उस ज्वाला में ह्रस्वता (छोटापन) तथा दीर्घता (लम्बापन) यह दो
परिमाण ही केवल उत्पन्न तथा नष्ट होते हैं न कि दीपज्वाला की उत्पत्ति तथा
विनाश होता है” ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता, क्योंकि उक्त दोनों परिमाणों का
नाश बिना दीपज्वालात्म्य आधन के नाश के नहीं हो सकता। यह कह चुके
हैं ॥ १८ ॥

तो क्या पार्थिव द्रव्य परमाणुओं के रूपादि गुणों के समान परमाणुओं में वर्तमान
अणुपरिमाण, तथा आकाशादि द्रव्यों में वर्तमान महत्परिमाण भी शब्द ज्ञान
आदि गुणों के समान नष्ट होता है ? इस प्रश्न के ऊपर में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—नित्ये = नित्यो मे, नित्यम् = परिमाण नित्य है ॥ १९ ॥

भाषार्थ—आकाशादि द्रव्य तथा परमाणुरूप नित्यद्रव्यों में वर्तमान अणु
तथा महत्परिमाण नित्य है ॥ १६ ॥

उपस्कार—नित्य आकाश से मन तक द्रव्य तथा पृथिव्यादि परमाणुओं में भी
वर्तमान जो महत् तथा अणुपरिमाण है वह विनाश करने वाला न होने से नित्य
है ॥ १९ ॥

परमाणुओं के अणुपरिमाण की वैशेषिकदर्शन में प्रसिद्ध सज्ञा को सूत्रकार
दिखाने हैं—

पदपदार्थ—नित्य = नित्यअणुपरिमाण, परिमण्डलम् = परिमाण्डल्य नामक
होता है ॥ २० ॥

परिमण्डलमेव पारिमाण्डल्यम्, तदुक्तम्—“अन्यत्र पारिमाण्डल्यादिभ्यः”
इति ॥ २० ॥

अनु कुवलागल्लादिषु समिदिक्षुप्रमृतिषु च व्यर्थाह्वयमाणमणुत्वं ह्रस्वत्वं
वा यदि न पारमार्थिकं तदा परिमार्थिकयोस्तयो किं प्रमाणगत आह—

अविद्या च विद्यालिङ्गम् ॥ २१ ॥

विद्यालिङ्गमविद्या । तदयमर्थः—कुवलागल्लादाशुणुत्वज्ञान समिदिक्षुप्रमृ-
तिषु ह्रस्वत्वज्ञान तावदविद्या तत्र पारमार्थिकाणुत्त्वह्रस्वत्वयोरभावात् । सर्वत्रा-
प्रमा प्रमापूर्विकैश्च भवसोत्पन्नयथाख्यातिर्वादिमिरभ्युपगमात्, तथाच सत्यमणु-

भाषार्थ—वैशेषिकदर्शन में परमाणुओं के नित्य अनुपरिमाण का ‘पारिमाण्डल्य’
यह नाम रक्खा है ॥ २० ॥

उपस्कार—परिमण्डल ही ‘पारिमाण्डल्य’ कहाता है इसीसे प्रसूतपादभाष्य में
‘अन्यत्र पारिमण्डल्यादिभ्यः’ अनुपरिमाणादिको को छोड़कर कारणता समान धर्म है
ऐसा कहा है ॥ २० ॥

कुवल, आगला इत्यादिको में तथा समिधा, ऊँत, इत्यादिको में भी व्यवहार
किया जाने वाला अनु अथवा ह्रस्वपरिमाण यदि पूर्वोक्त रीति से वास्तविक नहीं
है अर्थात् गौण है, तो परमाधिक उन दोनों परिमाणों क्या प्रमाण है ? इस प्रश्न के
समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

यदयमर्थः—अविद्या च=और अविद्या=अपधायज्ञान, विद्यालिङ्ग—यथार्थ
ज्ञान का साधक है ॥ २१ ॥

भाषार्थ—कुवल, आगला आदि के दीर्घ होने पर भी ये ह्रस्व हैं यह ज्ञान
अपधाय ज्ञान है, क्योंकि उनमें वास्तविक ह्रस्वता नहीं है, अब इसका मुख्य ज्ञान
कही जबदय मानना पड़ेगा, क्योंकि सम्पूर्ण स्थलों में मुख्य यथार्थपूर्वक ही (गौण)
अपधाय ज्ञान होता है, अर्थात् कुवलादिषु में गौण ह्रस्वज्ञान के लिये मुख्य ह्रस्व-
ज्ञान कहीं न कहीं अवश्य मानना पड़ेगा ॥ २१ ॥

उपस्कार—अविद्या गौणज्ञानरूप मिथ्याज्ञान, मुख्यरूप यथार्थ ज्ञान का
नाशक होती है । इससे यह अर्थ निकलता है कि—कुवल, आगला आदिको
में अनुपरिमाण का ज्ञान तथा समिधा, ऊँत इत्यादिको में ह्रस्वपरिमाण का ज्ञान
गौणरूप मिथ्याज्ञान (अविद्या) है, क्योंकि उनमें वास्तविक अनु तथा ह्रस्व दोनों
परिमाण धर्म से नहीं हैं । सर्वत्र अप्रमा (अयथार्थ ज्ञान) प्रमा (यथार्थ ज्ञान)
पूर्वक ही होती है, ऐसा अन्यथाख्याति (भ्रमात्मक ज्ञान) मानने वाले नैयायिक
मानते हैं, ऐसा होने के कारण कहीं न कहीं सत्य अनुपरिमाण का ज्ञान एवं सत्य
ह्रस्वपरिमाण का ज्ञान है ऐसा अनुमान से सिद्ध किया जाता है, यह सूत्र का अर्थ

त्वज्ञानं सत्यञ्च ह्रस्वत्वज्ञानमनुमेयमित्यर्थः । एवञ्च भाक्तः शब्दप्रयोगो मुख्य-
मन्तरेण न भवतीति मुख्येऽणुत्वह्रस्वत्वे क्वचिदवश्यं सन्तत्ये ॥ २१ ॥

द्रव्यत्वेन हेतुनाऽऽकाशादीनामनुमितस्य परिमाणस्य स्वरूपमाह—

विभवान्महानाकाशस्तथा चात्मा ॥ २२ ॥

विभवः सर्वमूर्तसंयोगित्वं, तच्च परममहत्त्वमन्तरेणानुपपद्यमानं परम-
महत्त्वमनुमापयति । दृश्यते चेद् वाराणस्यां पाटलिपुत्रे च युगपदेव शब्दो-
त्पत्तिस्तत्रैकमेवाकाश समवायिकारणमित्याकाशस्य व्यापकत्व सिद्धम् ।
व्यापकत्वरूप परममहत्परिमाणयोग एव, नानाऽऽकाशस्वरूपे गौरवमित्येक

है । ऐसा होने से भाक्त (गौण) शब्दों का प्रयोग मुख्य शब्द प्रयोग के बिना नहीं
हो सकता इसलिये मुख्य (प्रधान) अणु तथा ह्रस्वपरिमाण नहीं अवश्य मानने
होगे ॥ २१ ॥

द्रव्यत्व हेतु से आवाणादि द्रव्यों के अनुमान से सिद्ध परिमाण का स्वरूप
सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—विभवान् = व्यापक होने से, महान् = परम महत्परिमाण वाला,
आकाश = आकाश नामक द्रव्य है, तथा च = और वैसे ही है, आत्मा = आत्मारूप
द्रव्य भी ॥ २२ ॥

भाषार्थ—सम्पूर्ण मूर्त द्रव्यों में संयुक्त होने से आकाश जिस प्रकार महत्परि-
माणवान् है उसी प्रकार आत्मा भी उक्त हेतु से महत्परिमाणवाला है ॥ २२ ॥

स्वरूपार—सम्पूर्ण मूर्त द्रव्यों में संयुक्त होना रूप विभुता (व्यापकता) बिना
परममहत्परिमाण के न हो सकने से आकाश, परममहत्परिमाणाश्रय है, संपूर्ण मूर्त
द्रव्यों में संयुक्त होने से इस अनुमान से आकाश द्रव्य में परममहत्परिमाण की सिद्धि
होती है । (यदि आकाश में सर्वमूर्तद्रव्यों में संयोग मानें तो नाना भेरी आदि
देशों में शब्द की उत्पत्ति का असम्भव होने से उन-उन भेरीदि देशों में आकाश का
संयोग उन-उन शब्दों में असमवायिकारण है, अतः असमवायिकारण संयोग के
आधार रूप से भी आकाश की भी सिद्धि यहाँ सूचित होती है । इस प्रकार
आत्मा में भी जानना) । (इसी आशय से शंकरमिथ भी आगे कहते हैं कि)—
वाराणसी तथा पाटलिपुत्र (पटना) शहर में भी एक ही समय शब्द की उत्पत्ति
होती है यह देखने में आता है, जिनमें एक आकाश ही समवायिकारण है अतः
आकाश में व्यापकता सिद्ध होती है । और परममहत्परिमाण का संबन्ध ही तो
व्यापकता शब्द का अर्थ है, अनेक आकाश मानने में गौरव दोष होगा इस कारण एक
ही आकाश द्रव्य मानना होगा । आकाश के निरवयव होने पर भी आकाश का प्रदेश
है यह व्यवहार आकाशप्रदेश वाले घटादि द्रव्यों के संयोग के कारण होने से भाक्त

एवाकाशोऽभ्युपगन्तव्यः । आकाशस्य प्रदेश इति तु व्यपदेशः प्रदेशवद्विघटा-
दिभिः संयोगनिवन्धनो भाक्तः । भक्तिश्च प्रदेशवद्द्रव्यसंयोगित्वम् । तथा-
स्मेति । यथाकाशविभवत् सर्वमूर्तसंयोगित्वात् परममहत् तथात्मापि परमम-
हान् । यथात्मनः सकलमूर्तसंयोगित्वं न भवेत् तदा तेषु तेषु मूर्तेषु अदृष्टवशात्-
संयोगात् क्रिया नोत्पद्येत व्यधिकरणस्यादृष्टस्य प्रत्यासत्त्यपेक्षया क्रियाजन-
कत्वात् । सा च प्रत्यासत्तिरदृष्टवदात्मसंयोग एव । एवं संस्कारिणि शरीरे तत्र तत्र
ज्ञानसुखादीनामुत्पत्तिरात्मनो विभवमन्तरेणानुपपन्नेत्यात्माऽपि व्यापकः ।
स च नाकाशवदेक एव व्यवस्थादर्शनादित्युक्तमिति भावः । तच्च महत्त्वं
सातिशय निन्द्यञ्च परमाण्वणुत्ववत् । एवमाकाशादौ परमदीर्घत्वं परमाणुषु
च परमहृत्स्वरवमूहनीयम् ॥ २२ ॥

ननु मनो विभु सर्वदा निस्पर्शद्रव्यत्वादाकाशवत् ज्ञानाद्यवयववायुकार-
णसंयोगाधारत्वादात्मवदित्याकाशात्मनो साहचर्येण मनोऽपि किं नोक्तमत आह

(गौण) है । आकाशप्रदेश वाले द्रव्यो में संयुक्त होना ही भक्ति शब्द का अर्थ है । 'तथात्मा' इस सूत्राश का अर्थ यह है कि जिस प्रकार आकाश द्रव्य संपूर्ण मूर्तद्रव्यों की संयोगितारूप विभक्त (व्यापकता) में परममहत्परिमाण वाला है, उसी प्रकार उक्त हेतु से ही आत्मा द्रव्य भी परममहत्परिमाण का भागी है । यदि आत्मा आकाश के समान संपूर्ण मूर्तद्रव्यों में संयुक्त न हो तो उन-उन मूर्त द्रव्यों में अदृष्टवान् आत्मा के संयोग से भोगयोग्य क्रिया उत्पन्न न होगी, क्योंकि व्यधिकरण (एक अधिकरण में न रहने वाला) अदृष्ट प्रत्यासत्ति (सनिकर्ष) की अपेक्षा से क्रिया को उत्पन्न करता है और वह प्रत्यासत्ति है अदृष्टवान् आत्मा का संयोग ही और वह आत्मा आकाश के समान एक ही नहीं है, क्योंकि 'व्यवपातो नाता' इस तृतीयाध्याय के द्वितीयाह्निक में कोई सुखी कोई दुःखी इत्यादि व्यवस्था दिखाई है । जिससे आत्मा अनेक है यह सूत्र का तथा आत्मा का आशय है । और आकाश का महत्परिमाण, अतिशयसहित तथा परमाणु के अत्युपरिमाण के समान निरूप है । इसी प्रकार आकाशादि के भी परमदीर्घता तथा परमाणुओं में परम ह्रस्वता जाननी चाहिये ॥ २२ ॥

'मनरूप द्रव्य व्यापक है, सर्वकाल में स्पर्शरहित द्रव्य होने से, आकाश के समान, ज्ञानादि गुणों के अवयववायुकारण संयोग के आधार होने से, आत्मा द्रव्य के समान, इन अनुमानों से आकाश तथा आत्मा के साहचर्य (साथ में रहने) से मनरूप द्रव्य भी व्यापक क्यों नहीं कहा' ? इस प्रश्न के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

तदभावादणु मनः ॥ २३ ॥

तस्य विभक्त्यस्य सर्वमूर्तसंयोगित्वस्याभावादणु मनः । सकलमूर्तसंयोगित्वे तु युगपदनेकेन्द्रियसंगेगे ज्ञानयोगपक्षं स्यात्, तथा च व्यासगो न स्यात् । अनुमाने तु मनो शब्दन्न सिद्धं तावदाश्रयासिद्धे मनःसिद्धिदशायास्तु धर्मिमाहकमानवाधिते । ननु विभक्ताभावादेव नाणुत्वं सिध्यति घटादौ व्यभिचारादिति चेन्न विभक्ताभावेनाव्यापकत्वसाधनम् । तथा चेकस्मिन्देहे मनस्तावदेकं नानाकल्पने गौरवापत्तेः । एकस्याप्यवयवकल्पने कल्पनागौरवान्नि । स्पर्शत्वेनाना-रम्भकत्वाच्चेत्यादियुक्तेणुत्वसिद्धेरिति भावः ॥ २३ ॥

पक्षपक्षार्थ—तदभावात् = सर्वमूर्तद्रव्य संयोगितारूप व्यापकता न होने के कारण, अणु = अणुपरिमाण है, मन = मन नामक द्रव्य ॥ २३ ॥

भावार्थ—सर्वमूर्तद्रव्यों में मन का संयोग मानने से अनेक बाह्य इन्द्रियो में संयोग होने के कारण एक समय में अनेक ज्ञान होने लगेंगे, जिससे मन की दूसरे विषय में आसक्ति न बनेगी, अतः संपूर्ण मूर्तद्रव्यों में मन का संयोग न होने के कारण व्यापकता न बन सकेगी इस कारण मन अणुपरिमाण है ॥ २३ ॥

उपस्कार—उस संपूर्ण मूर्तद्रव्यों में संयोगितारूप विभुता (व्यापकता) न होने से मनरूप द्रव्य अणुपरिमाण का आशय है । यदि संपूर्ण मूर्तद्रव्यों के साथ संयोगिता मन में मानी जाय तो एक समय में अनेक बाह्येन्द्रियरूप मूर्तद्रव्यों में मन का संयोग होने कारण एककाल में अनेक ज्ञान होने लगेंगे ऐसा होने से मन की दूसरे विषय में आसक्ति अर्थात् इन्द्रियो के अपने-अपने विषय में सम्बन्ध होने पर किसी एक इन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान के रहते भी दूसरे इन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान नहीं होता यह नहीं होगा । (लगता) न बनेगा । पूर्वोक्त पूर्वपक्षी के किये हुए दोनो अनुमान मनरूप द्रव्य के न मानने के पक्ष में मनरूप पक्ष के सिद्ध न होने के कारण आश्रयासिद्धि दोष, तथा मानने के पक्ष में मनरूप धर्मों को साधक ज्ञान का युगपत् न होना रूप प्रमाण, उसमें बाधक होने के कारण हेतु बाधित नामक दोष हो जायेंगे । यदि मन में व्यापकता न होने से अणुपरिमाण की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि घटादिकों में किमुत्व न होने पर भी अणुपरिमाण न होने के कारण व्यभिचार होता है ऐसी पूर्वपक्षी धका करे तो यह नहीं हो सकता, क्योंकि किमुत्व के (सर्वमूर्तद्रव्य संयोगित्व के) अभाव से अव्यापकता मन में सिद्ध की जाती है । (ऐसा होने से उक्त व्यभिचार दोष न होगा क्योंकि घट भी व्यापक नहीं है) और ऐसा होने के कारण एक शरीर में एक ही मन है यह सिद्ध होगा है, क्योंकि नाना मन मानने से कल्पनागौरव-दोष होया । एक भी मन के अवयवों के मानने से कल्पना-गौरव दोष होने के कारण स्पर्शानुत्पत्ति होने से तथा दूसरे मन का उत्पादक न होने

दिशः परममहत्त्वे युक्तिमाह—

गुणैर्दिग् व्याख्याता ॥ २४ ॥

गुणैः सकलद्वीपवर्तित्तिपुरुषसाधारणपूर्वापरादिप्रत्ययरूपैः सकलमूर्तनिष्ठपर-
त्वापरत्वलक्षणैर्दिगाप व्यापकत्वेन व्याख्यातेत्यर्थः । परत्वापरत्वयोरुत्पत्तौ
सयुक्तसंयोगभूयस्त्वाल्लोप्यस्त्वविषयापेक्षा बुद्धेः कारणत्वस्य बध्यमाणत्वात् ।
नानादिक्लृपनस्य कल्पनागौरवप्रतिहतत्वात् । कथं तर्हि दश दिश इति प्रती-
तिव्यपदेशाविति चेन्न तत्तदुपाधिनिबन्धनत्वादित्युक्तत्वात् ॥ २४ ॥

कालस्य व्यापकत्वमाह—

कारण्ये कालः ॥ २५ ॥

से भी इत्यादि पूर्वप्रदर्शित युक्ति से मनरूप द्रव्य अनुपरिमाण का आश्रय अनु-
रूप ही होता है यह सूत्र का आशय है ॥ २३ ॥

दिशारूप द्रव्य परममहत्परिमाण का आश्रय है, इसमें सूत्रकार युक्ति देते हैं—

पदपदार्थ—गुणैः=पूर्वापरादि प्रतीतिरूपगुणों से, दिग्=दिशाद्रव्य, व्याख्याता=
व्यापक है ऐसी व्याख्या की गई ॥ २४ ॥

भाषा—संपूर्ण द्वीपों में टापू, में वर्तमान मनुष्यों का पूर्व-पश्चिम इत्यादि
ज्ञानरूप जो संपूर्ण मूर्तद्रव्यों में वर्तमान दैर्घिकपरत्व (दूर होना) तथा अपरत्व
(नमीप होना) इत्यादि रूप हैं उनसे दिशारूप द्रव्य भी व्यापक होता है यह मिट्ट
होता है (अर्थात् परत्वापरत्वज्ञानरूप कार्यों के असमवायिकारणरूप दिशा
तथापि पिण्ड (मूर्तद्रव्य) संयोग के आश्रयरूप से दिशा सिद्ध होती है जो पूर्वोक्त
सर्वत्र समान व्यवहार के कारण व्यापक है यह मिट्ट होता है ॥ २४ ॥

उपस्कार—संपूर्ण मूर्तद्रव्यों में वर्तमान परत्व तथा अपरत्व लक्षणों से जो
मम्पूर्ण जलद्वीप आदि द्वीप में वर्तमान पुरुषों को साधारण रूप से होते हैं । उनसे
दिशारूप द्रव्य भी व्यापक है यह व्याख्यात हुआ यह सूत्रार्थ है । क्योंकि परत्व तथा
अपरत्व गुणरूप कार्य की उत्पत्ति में सयुक्त संयोग की अधिकता, तथा अल्पता विषयक
अपेक्षाबुद्धि कारण होती है, यह आगे सप्तमाध्याय का द्वितीय आह्निक कहा जाने
वाला है । वह दिशा द्रव्य भी अनेक मानने में गौरवदोष आने के कारण एक ही है ।
'यदि दिशा एक है तो दश दिशा हैं ऐसा ज्ञान तथा व्यवहार क्यों होता है ?'
ऐसी शंका नहीं हो सकती, क्योंकि यह ज्ञान तथा व्यवहार वास्तविक नहीं किन्तु
औपाधिक है यह कह चुके हैं ॥ २४ ॥

दिशा के समान काल भी व्यापक है यह सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—कारण्ये=कारापरदि व्यवहार के कारण में, काल = काल ऐसा
नाम है ॥ २५ ॥

परापरव्यतिकरयौगपद्यायौगपद्यविरक्षिपप्रत्ययकारणे द्रव्ये काल इति समाख्या । न चैतादृशः प्रत्यय सर्वदेशपुरुषसाधारणः कालस्य व्यापकतामन्तरेण सम्भवतीति तस्य व्यापकत्वं परममहत्त्वयोग इत्यर्थः ।

यद्वा इदानीं ज्ञान इत्यादिप्रतीतिबलात् सर्वोत्पत्तिमग्निमित्तकारणत्वं कालस्य प्रतीयते तदपि व्यापकत्वाधीनं निमित्तकारणस्य समवाय्यसमवायिकारणप्रत्यासन्नत्वनिश्चयमात्रम् ।

यद्वा अभीतानागतवर्तमानव्यवहारः सार्वत्रिक इति सर्वगत एव कालः ।

यद्वा क्षणलवमुहूर्तयामदिनाहोरात्रपक्षमासत्यंजनसंश्रुतसरादिव्यवहारकारणे द्रव्ये कालाख्येति व्यवहारस्य सार्वत्रिकत्वात् कालः सार्वत्रिक इति परममहत्त्वं, तस्य ज्ञानात्स्वरूपज्ञानाच्च कल्पनागौरवप्रतिहतेत्युक्तम् ॥ २५ ॥

इति श्रोताङ्करे वैशेषिकसूत्रोपस्कारे सप्तमाध्यायस्य

आद्यमाह्निकम् ।

भाषार्थः—यह ज्येष्ठ है, यह कनिष्ठ है, एककाल में, विलम्ब से, शीघ्रता से हुआ इत्यादि ज्ञान के कारण द्रव्य को काल कहते हैं, संपूर्ण देश के पुरुषों का साधारणरूप से होने वाला उक्त ज्ञान बिना काल के व्यापक माने नहीं हो सकता, अतः काल परममहत्परिमाण सम्बन्धरूप व्यापक है । यह मिट्टी होता है ॥ २५ ॥

उपस्कारः—वैशेषिकपरत्व (दूरता) तथा समीपत्वरूप अपर से विपरीत ज्येष्ठतारूप परत्व एव कनिष्ठतावस्थारूप अपरत्व ज्ञान, एककाल में उत्पन्न हुआ, भिन्न काल में हुआ, देर में हुआ, शीघ्र उत्पन्न हुआ इत्यादि ज्ञानों के साधारण कारणद्रव्य को काल यह समाख्या (नाम) है । ऐसा यह सम्पूर्ण देश के पुरुषों को साधारणरूप से होने वाली प्रतीति काल की व्यापकता माने बिना नहीं हो सकती । इस कारण उसमें परममहत्परिमाण के सम्बन्धरूप व्यापकता सिद्ध होती है । अथवा 'इतन समय उत्पन्न हुआ', इत्यादि प्रतीति के यत्न में सम्पूर्ण उत्पन्न होने वाले कार्यों का ज्ञान निमित्त कारण है यह प्रतीत होता है यह भी उसकी व्यापकता के अधीन है, क्योंकि निमित्तकारण समवायि तथा असमवायिकारणों के प्रत्यासत्ति सन्निध में होता है, यह नियम है । अथवा भूत, भविष्य तथा वर्तमान ऐसे व्यवहार सर्वत्र साधारणरूप से होते हैं इस कारण काल सर्वत्र रहता है । अथवा क्षण, लव, मूहूर्त याम, दिन, दिनरात, पक्षा, मास, ऋतु, अयन, स्वतन्त्र आदि पूर्वप्रदर्शित व्यवहारों के कारण द्रव्य को काल कहते हैं, ऐसा व्यवहार सर्वत्र होता है, इस कारण काल द्रव्य सर्वत्र वर्तमान है । इसलिये वह परममहत्परिमाण वाला है, और उसके अनेक मानने में गौणवदोष आने से वह एक है यह कह चुके हैं ॥ २५ ॥

इस प्रकार अवरमिथ्य कृत विशेषिकसूत्रोपस्कार में सप्तमाध्याय का प्रथमाह्निक समाप्त ।

सप्तमाध्याये द्वितीयाह्निकम्

द्वितीयाह्निके एकानेकवृत्तिगुणपरीक्षाप्रकरणम् अनेकमात्रवृत्तिगुणपरीक्षा-
प्रकरणम् । प्रसङ्गाच्छब्दार्थसम्बन्धपरीक्षाप्रकरणम् । विशेषगुणरहितविभुसंयोगा-
समवायिकारणकैकवृत्तिगुणपरीक्षाप्रकरणम् । समवायपरीक्षाप्रकरणञ्चेति । तत्र
महत्त्वेकार्थममवायाधीनं सख्यादीनामपि प्रत्यक्षत्वमिति बोद्धेराक्रममतिक्रम्य
परिमाणनिरूपणानन्तरं सख्या पृथक्त्वञ्च परीक्षितुमाह—

रूपरसगन्धस्पर्शव्यतिरेकादर्थान्तरमेकत्वम् ॥ १ ॥

रूपरसगन्धस्पर्शेति,—संख्यादिपञ्चकभिन्नगुणोपलक्षणम् । व्यतिरेकादिति
व्यभिचारान् । तदयमर्थः—एको घट इति विशिष्टप्रतीतिर्विशेषणजन्या, तच्च,

द्वितीयाह्निक मे एव तथा अनेक द्रव्यो मे रहने वाले गुणों के परीक्षा का प्रकरण
(१), केवल अनेक द्रव्यो मे वर्तमान गुणों की परीक्षा का प्रकरण (२), विशेष
गुणरहित, तथा जिनमे दो व्यापक द्रव्यो का संयोग जसमवायिकरण होता है, एव
एक द्रव्य मे वर्तमान गुणों के परीक्षा का प्रकरण (३) एव समवाय के परीक्षा
का प्रकरण (४) ऐसे चार प्रकरण हैं । उसमे महत्परिमाण के समवाय के अधीन
ही सख्यादि गुणों का प्रत्यक्ष होता है इस कारण उद्देशकम का उल्लेखन कर
परिमाणनिरूपण के पश्चात् सख्या तथा पृथक्त्व गुण की परीक्षा (जो एक तथा
अनेक द्रव्यो मे रहते हैं ।) करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—रूपरसगन्धस्पर्शव्यतिरेकात्—रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्शगुण के
व्यभिचार से, अर्थान्तरम्—दूसरा अर्थ है, एकत्व = एकत्व सख्या ॥ १ ॥

मावार्थ—एकत्व सख्या रूपादि चार गुणों मे भिन्नगुण है न कि रूपादि गुण-
स्वरूप है काल एक है इत्यादि प्रतीति के बल से रूपादि गुणों से भिन्न सत्त्वादि
रूप गुण अवश्य मानना होगा क्योंकि बाल मे रूपादि चार विशेष गुण नहीं है यह
सूत्र का अर्थ है ॥ १ ॥

सपरकार—सूत्र मे रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श यह चार विशेष गुण मह पद मन्दा
से विभाग पर्यन्त पाँच सामान्य गुण से भिन्न गुणों का उपलक्षण लक्षणा से बोधक
है । व्यतिरेकात् इस पद का अर्थ है व्यभिचारात्, अर्थात् व्यतिरेक नाम व्यभिचार
होने से । इससे यह अर्थ विकलता है कि—‘एक घट है’ यह विशिष्ट ज्ञान, विशेषण
से उत्पन्न है और यह विशेषण इस प्रतीति मे रूप मे स्पर्शान्तर तथा सख्यादि पञ्च
सामान्य गुणों से भिन्न गुण नहीं है क्योंकि उक्त गुणों के बिना भी उक्त ‘एक’ यह

विशेषणं न रूपादि, चद्व्यतिरेकेण जायमानत्वात्, न च घटत्वादिकमेव निमित्तम्, पटोऽपि जायमानत्वात् । न चैकत्वं सत्तावत् सामान्यम्, सत्तया महान्यूनानतिरिक्तवृत्तित्वान् । न च द्रव्यमात्रसामान्यं तत्, द्रव्यत्वेनान्यूनानतिरिक्तदेशत्वात् । न चान्यूनानतिरिक्तदेशत्वेऽपि प्रतीतिभेदाद्भेदः, प्रतीतिभेदस्य स्वरूपकृतत्वे सत्ताऽपि भिद्येत, विषयभेदकृतत्वे तु विषयभेदानुपपत्तेरुक्तत्वात्, अन्यथा घटवत्कलमस्वयोरपि भेदापत्तेः । न च स्वरूपाभेद एकत्वमिति भूषणमतं युक्तम्, घटस्वरूपाभेदभेदेकत्व तदा पटादायैकत्वप्रत्ययो न स्यात् । स्वरूपभेदो द्वित्वादिकमित्यपि भूषणमतमनुपपन्नम् स्वरूपभेदस्य त्रिघनुरादिसाधारण्येन व्यवहारवैचित्र्यानुपपत्तेरिति भावः ॥ १ ॥

एकत्वतुल्यतयैकपृथक्त्वमपि साधयितुमाह—

तथा पृथक्त्वम् ॥ २ ॥

प्रतीति होनी है, घटत्वादि जाति भी इस प्रतीति का निमित्त नहीं है, क्योंकि पट में भी 'एक' यह प्रतीति होनी है । एकत्व सत्ता सत्ताजाति के समान जातिपदार्थ भी नहीं है, क्योंकि सत्ता तथा एकत्व के म्यून तथा अधिक में वर्तमान न होने से 'एक' का मानना ही उचित होगा, अर्थात् दोनों पर्याय ही जायगे, यह एकत्व केवल द्रव्यों में ही रहने वाली जाति भी नहीं हो सकती, क्योंकि म्यून तथा अधिक में न रहने से उक्त दोष आ जायगा, अर्थात् द्रव्यत्व तथा एकत्व पर्याय हो जायगे । यदि "अन्यूनानतिरिक्त देश अर्थात् म्यून तथा अधिक देश में रहने पर भी प्रतीति के भेद से भेद होगा" ऐसा कहो तो, वह प्रतीति का भेद यदि स्वरूप से होता हो तो सत्ता-जाति भी भिन्न होगी, और यदि विषय के भेद से हो तो, विषय भेद नहीं हो सकता यह कहा ही है । अन्यथा घटरव तथा कलमत्व भी भिन्न जाति हो जायगी । 'घटादि वस्तु के स्वरूप का भेद न होना यही एक सत्या है' ऐसा भूषणकार का मत, युक्त नहीं है, क्योंकि घट के स्वरूप का अभेद ही एक सत्या हो तो पट आदिको में एक संख्या का ज्ञान न होगा । तथा घटादि पदार्थों के स्वरूप का भेद ही द्वित्रादि सत्या है ऐसा भी भूषणकार का मत असंगत है, क्योंकि स्वरूप का भेद तीन, चार, पाँच आदि पदार्थों में साधारण होने के कारण तीन, चार, आदि विलक्षण व्यवहार न बनेगा ॥ १ ॥

एकत्व मस्या के समान होने से एक पृथक्त्व गुण को भी सिद्ध करने के लिये सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तथा = उसी प्रकार, पृथक्त्वम् = पृथक्त्व गुण भी, दूसरा गुण है ॥ २ ॥

अपोद्धारव्यवहारमावदस्ति—इदमस्मात् पृथगन्यदर्थान्तरमित्याकारः । अपवृत्त्यावधिमपेक्ष्य य उद्धारो निर्धारण स ह्यपोद्धार, तत्र च न रूपादि तन्त्रं व्यभिचारादवध्यनिरूप्यत्वाच्च । नन्वन्योन्याभाव एव पृथक्त्वम्, इदमस्मात् पृथगन्यदर्थान्तरमिति वद्विन्नमिति प्रतीतेरन्योन्याभावावलम्बनत्वात् । न, पृथगादिशब्दानां पर्यायत्वेऽपि नान्योन्याभावात्तत्त्वं तत्र पञ्चमीप्रयोगानुपपत्तेः, इदमस्मात् पृथक् इदमिदं न भवतीति प्रतीत्योभिन्नविषयत्वात् । ■ चान्योन्याभावानर्थः पृथक्त्वम् अघटः पट इत्यत्रापि पञ्चमीप्रयोगानुपपत्तेः । ननु पृथगिति विशिष्ट इति प्रतीत्योरेकाकारत्वाद्देशिष्टमेव पृथक्त्वमिति चेन्न मैत्रायणश्चण्डवैशिष्ट्यदर्शाया मैत्रात् पृथगय मैत्र इत्यपि प्रतीत्यापत्तेः, एवं शब्दविशिष्टे व्योम्नि बुद्धिविशिष्टे चात्मनि पृथक्त्वव्यवहारापत्तेः । अत एव वैधर्म्यमपि न पृथक्त्वपाकरत्ते घटे उयामाद् घटात् पृथगयं घट इति व्यव-

भावाय—जिस प्रकार रूपादि गुणों के व्यवहार होने से एकत्व सख्या भिन्न गुण है उसी प्रकार पृथक्त्व भी रूपादिको छोड़कर 'यह पृथक् है' इसी प्रतीति के बल से दूसरा गुण है यह निश्च होता है ॥ २ ॥

उपस्कार—'यह इससे पृथक् है, अन्य है, भिन्न है', इस आकार अपोद्धार व्यवहार होता है । अपवृत्त्य (अलग कर) अर्थात् अवधि की अपेक्षा 'एक व' जो 'उद्धार' अर्थात् निर्धारण (निश्चय करना) वह अपोद्धार कहता है ।

उक्त अपोद्धार (पृथक्) व्यवहार में रूप आदि गुण प्रयोजक नहीं हैं, क्योंकि काल आकान से पृथक् है इस व्यवहार में काल में रूपादि गुण नहीं हैं । तथा पृथक् व्यवहार के समान रूपादि गुणों के व्यवहार में अवधि की आवश्यकता नहीं होती । 'अन्योन्याभाव (भेद) पृथक्त्व गुण है, क्योंकि यह इससे पृथक् है, अन्य है, दूसरा अर्थ है इन प्रतीतियों के समान यह भिन्न है यह ज्ञान अन्योन्याभावा ही को आलम्बन विषय करता है । ऐसी पूर्ववक्षीयता नहीं कर सकता, पृथक् अन्य इत्यादि शब्दों के पर्याय होने पर भी यह अन्योन्याभाव को नहीं कहते, क्योंकि उनमें पंचमी विभक्ति का प्रयोग नहीं हो सकता, अर्थात् यह फल इस घट से पृथक् है, और यह फल घट नहीं है इन दोनों प्रतीतियों का विषय भिन्न है । अन्योन्याभावा चाला (भेद वाला) अर्थ भी पृथक्त्व गुण नहीं है, क्योंकि ऐसा हो तो 'अघट' घट भिन्न है 'पट' पट इस व्यवहार में भी पंचमी विभक्ति का प्रयोग होने लगेगा । पृथक् है, विशिष्ट है, इन दोनों प्रतीतियों के समान आकार वाले होने के कारण वैशिष्ट्य (विशेषता) ही पृथक्त्व गुण है' ऐसा भी पूर्ववक्षीय नहीं कह सकता, क्योंकि ऐसा मानने से दण्ड हाथ में रखने के समय में मैत्र नामक मनुष्य में यह मैत्र मैत्र से पृथक् है यह भी ज्ञान होने लगेगा । इसी कारण वैधर्म्य (विरुद्ध धर्म) भी पृथक्त्व गुण नहीं हो सकता, क्योंकि पाक से रक्तता में क्या घट यह घट पृथक् है ऐसा व्यवहार

हारापत्तेः, तद्विरोधिर्मवस्त्वमेव हि तद्वैधर्म्यं तत्त्व इयमानन्तरं रक्ताद-
शायामपि । न च सामान्यमेव पृथक्त्वं सामान्यस्यावध्यमित्युच्यते । जाति-
सङ्ग्रहसङ्गाच्च-सन्मात्रवृत्तित्वे सत्तया, द्रव्यमात्रवृत्तित्वे द्रव्यत्वेनाभ्युनान-
तिरिक्तवृत्तित्वापत्तेः ॥ ९ ॥

नन्वेकमेकत्वं-रूपादिभ्यः पृथक् पृथक्त्वमिति व्यवहारादेकत्वेऽप्येकत्वं,
पृथक्त्वेऽपि पृथक्त्वमेव तत्र स्यापोक्त्यत आह—

एकत्वेकपृथक्त्वयोरेकत्वेकपृथक्त्वाभावोऽणुत्वमहत्त्वाभ्यां व्याख्यातः ॥ ३ ॥

यथाऽणुत्वमहत्त्वे नाणुत्वमहत्त्ववत्तो तद्व्यवहारतत्र भाक्तमथैकैकपृथ-
क्त्ववत्तो तद्व्यवहारस्तत्र भाक्त इत्यर्थः । "कर्मभिः कर्माणि"—"गणैर्गुणाः" इत्यपि

होने लगेगा । क्योंकि उनके विरोधी धर्म का आधार होना ही उनका विरुद्ध धर्म है
और वह दशम वर्ण के अनन्तर रक्त होने के दशा में भी है । 'पृथक्त्व एव सामान्य
(जाति) पदार्थ है', ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि जातिपदार्थ पृथक्त्व के समान
अवधि के ज्ञान की आवश्यकता नहीं रहता । तथा जाति सारक्य दोष भी हो जायगा,
क्योंकि केवल सत् द्रव्यादि पदार्थ में रहने से सत्ताजाति, तथा केवल संपूर्ण द्रव्यों में
रहने से द्रव्यत्व को लेकर न्यून तथा अधिक में न रहने के कारण पर्यायिता आ
जायगी अतः पृथक्त्व जातिपदार्थ भी नहीं हो सकता ॥ २ ॥

एकत्व एक है पृथक्त्व गुण रूपादि गुणों से पृथक् है ऐसा व्यवहार होने के
कारण एकत्व सत्ता में एकत्व तथा पृथक्त्व गुण में भी पृथक्त्व, उसमें भी वैसा क्यों
न हो इस शका के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पृथक्त्वार्थः—एकत्वेकपृथक्त्वयोः = एकत्व सत्ता तथा एक पृथक्त्व नामक
दोनों गुणपदार्थों में, एकत्वेकपृथक्त्वाभावः = दूसरी एकत्व सत्ता, तथा दूसरे
एक पृथक्त्व इन दोनों गुणों का अभाव है, (यह) अणुत्व, तथा महत्त्व दोनों परिमाणों
से, व्याख्यातः = व्याख्या किया गया ॥ ३ ॥

भाषार्थः—जिस प्रकार एक अणुपरिमाण में दूसरा अणुपरिमाण तथा एक
महत्परिमाण में दूसरा महत्परिमाण नहीं रहने से यह व्यवहार गौण होता है, उसी
प्रकार एक एकत्व संख्या में दूसरी एकत्व संख्या तथा एक-एक पृथक्त्व गुण में दूसरा-
एक पृथक्त्व गुण नहीं रहता । अतः पूर्वपक्षी का दिगाया हुआ एकत्व एक है, पृथक्त्व
गुण रूपादिकों से पृथक् है इत्यादि व्यवहार भी गौण है यह व्याख्यात हुआ ॥ ३ ॥

उपस्कारः—जिस प्रकार एक अणु तथा महत्परिमाण दूसरे क्रम से अणु तथा
महत्परिमाण के आश्रय नहीं होते उनका व्यवहार यदि होता है तो वह गौण होता
है, उन्हीं प्रकार एक-एक संख्या दूसरी एक संख्या की आश्रय तथा एक-एक पृथक्त्व
गुण भी दूसरे एक पृथक्त्व गुण का आधार नहीं होता, अतः पूर्वपक्षी का

दृष्टान्तध्वजद्वय पूर्वदृष्टान्तसूत्रेणैकवाक्यतापन्नमेवात्र प्रतिभासते यथा कर्माणि न कर्मवन्ति गुणाश्च न गुणवन्तस्तथैकत्वैकपृथक्त्वे न तद्वत्ती इत्यर्थः ॥ ३ ॥

ननु गुणेषु कर्मसु च साधारण एवैकत्वव्यवहारः किमत्र विनिगमक यद्द्रव्येष्वेवैकत्व न गुणादिविचित्राह—

निःसरूपत्वात् कर्मगुणानां सर्वैकत्वं न विद्यते ॥ ४ ॥

सर्वेषामेवैकत्व सर्वैकत्व तन्न विद्यते, कुरु इत्यत आह—निःसरूपत्वात् कर्म-गुणानामिति । सख्याया निष्कान्ता नि सख्यास्तेषा भावो निःसरूपत्वम्, तथा च कर्माणि गुणाश्च निःसरूपानि, संख्याया गुणत्वेन गुणेषु तावत् सख्या न न विद्यते न वा कर्मसु, गुणानां कर्मसु निषेधात् अन्यथा द्रव्यत्वप्रसङ्गात् । साधितश्च सख्याया गुणत्वमेकत्वस्य च सख्यात्वमिति भावः ॥ ४ ॥

दिखाया हुआ व्यवहार गौण है यह सूत्र का अर्थ है । 'कर्मों से कर्म, गुणों से गुण' यह भी पूर्वसूत्रों में दिखाये हुए दोनों दृष्टान्त पूर्वोक्त दृष्टान्तसूत्र के साथ एक वाक्य होता हुआ ही यहाँ मात्तम पड़ता है, अर्थात् जैसे एक कर्म दूसरी क्रिया वाला अथवा एक गुण दूसरे गुण का आधार नहीं होता, वैसे एकत्व सरया तथा एक पृथक्त्व गुण भी दूसरी एक सरया तथा दूसरे एक पृथक्त्व गुण के आधार नहीं होते यह सूत्र का अर्थ होता है ॥ ३ ॥

"गुणों में तथा कर्मपदार्थों में गुण एव है एक कर्म है यह व्यवहार तो साधारण रूप से ही होता है, नो इसमें क्या नियम का कारण है कि द्रव्यों में ही एक सख्या है गुण कर्मादिकों में नहीं ?" इस पूर्वपक्षी की शका के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं—

पदव्यर्थः—निःसरूपत्वात् = सख्यारूप गुण न होने से, कर्मगुणानां = कर्म तथा गुण पदार्थों के, सर्वैकत्व = संपूर्ण पदार्थों में एकत्व, न विद्यते = नहीं रहता ॥ ४ ॥

भावाथः—कर्म तथा गुणपदार्थों में सख्यारूप गुण न रहने के कारण सब में एक सख्या बाले नहीं है, क्योंकि सख्या गुणपदार्थ है इस कारण गुणों में गुणों की वर्तमानता विरुद्ध होने से तथा क्रिया में गुणों का निषेध होने के कारण भी गुण तथा कर्मपदार्थों में एकसख्या की आधारता न हो सकने से द्रव्यादि संपूर्ण पदार्थ एक सख्या के आश्रय हैं यह नहीं हो सकता ॥ ४ ॥

उपसंहारः—सम्पूर्णों भी एक सरया को सर्वैकत्व कहते हैं, वह नहीं है । क्योंकि इस प्रश्न के समाधानार्थ सूत्रकार ने 'निःसरूपत्वात्कर्मगुणानां' अर्थात् कर्म और गुण पदार्थों के सख्यायुक्त होने पर ऐसे हेतु दिया है । सख्या से निष्कान्त (रहित) निरूप्य होते हैं, उनका धर्म है निःसरूपता सख्यायुक्तता, ऐसा होने से कर्म तथा गुणपदार्थ भी सख्या से शून्य हैं, सख्या के गुण पदार्थ होने से गुणपदार्थों में तो सख्या नहीं रहती, अथवा न कर्मपदार्थों में, क्योंकि गुणों का क्रियापदार्थ में निषेध

तर्हि कथमेकं रूपमेको रस इत्यादिज्ञानमित्यत आह—

भ्रान्तं तत् ॥ ५ ॥

गुणधर्मसु यदेकत्वज्ञानं तद् भ्रान्तमित्यर्थः । सूत्रे च ज्ञानमिति शेषः आक्षिप्तपूर्वपक्षत्वात् प्रयोगस्तु भाक्तं ग्यरूपाभेद एव च भाक्त न च तदेवैकत्वमुक्तोत्तरत्वात् ॥ ५ ॥

ननु द्रव्येष्वप्ययमेकत्वप्रयोगो भाक्तोऽस्तु प्रत्ययस्तु तत्र भ्रान्तः किमेकत्वेनेत्यत आह—

एकत्वाभावाद भवितस्तु न विद्यते ॥ ६ ॥

है । अग्राह्य कम पदार्थ में गुण रहे तो वे द्रव्य हो जायेंगे । सख्या गुण है तथा एकरत्न भी सख्या है यह मिथ्य कर चके हैं यह सूत्र का शास्य है ॥ ४ ॥

यदि ऐसा है तो एक रूप है, एक रस है इत्यादि ज्ञान कैसे होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—भ्रान्त = भ्रमरूप है, तत् = वह (एक रूप इत्यादि ज्ञान) ॥ ५ ॥

भावार्थ—गुणों में गुणों के रहने का निषेध होने से एक रूप है, एक रस है इत्यादि ज्ञान भ्रमरूप है ॥ ५ ॥

उपस्कार—गुण तथा धर्मपदार्थों में जो एक है ऐसा ज्ञान होता है वह भ्रमरूप है यह सूत्र का अर्थ है । सूत्र में आकाक्षित 'ज्ञान' ज्ञान ऐसा शेष पद देना, क्योंकि पूर्वापक्षी का ज्ञान का आक्षेप हुआ है । रूप एक है इत्यादि शब्द का प्रयोग भक्त (गीण) ने, स्वरूप का भेदन होना ही भाग्य (गीणता) है, वही एकत्व नहीं है यह उत्तर दे चुके हैं ॥ ५ ॥

'ऐसा है तो गुणों के समान 'एक घट है' इत्यादि द्रव्यों में भी होने वाला 'एक है' यह शब्द का प्रयोग भावन (गीण) हो, उक्त एक घट है, यह ज्ञान भ्रमरूप मानेंगे तो फिर एकत्व सख्या की क्या आवश्यकता है ?' इस शंका के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—एकत्वाभावात् = मुख्य एकत्व सख्या के न होने से, भक्ति तु = किन्तु भक्ति (गीणता), न विद्यते = नहीं हो सकती है ॥ ६ ॥

भावार्थ—यदि वास्तविक एकरत्न सख्या कहीं भी न होगी तो गीण प्रयोग भी न होगा, क्योंकि प्रधान प्रयोगपूर्वक ही गीण प्रयोग होता है तथा भ्रमरूप ज्ञान भी न हो सकेगा, क्योंकि यथार्थ ज्ञानपूर्वक ही भ्रमरूप ज्ञान होता है ॥ ६ ॥

उपस्कार—यदि वास्तविक एक संख्या कहीं न मानी जाय तो एक है यह शब्द प्रयोग भाक्त (गीण) न होगा, क्योंकि मुख्य शब्द प्रयोगपूर्वक ही गीणता होती है, यथा उक्त 'एक है' यह ज्ञान भी भ्रमरूप नहीं होगा, क्योंकि यथार्थ ज्ञानपूर्वक ही

यदि पारमार्थिकमेकत्वं कचिन्नाभ्युपगन्तव्यं तदा न प्रयोगो भाक्. मुख्य-पूर्वकत्वाद्भक्ते, न वा प्रत्ययो भ्रान्त प्रमापूर्वकत्वाद् भ्रमस्य, प्रमितं ह्यारोप्यते नाप्रमितम् असत्त्वात्तेर्निगसाद् अन्यथा ख्यातेः साधनार्थित्वे भावः ॥ ६ ॥

कार्यकारणयोस्तन्तुपटयोरेकत्वमेकपृथक्त्वञ्च, यत् एकत्वमत एवैकपृथक्त्वमपि न हि स्वस्मादेव स्व पृथगिति सम्भवति, न हि पटे पाठ्यमाने प्रत्येकं तन्तुनामाकूपे तद्विन्न पट उपलब्ध्यते, यदि तन्तुभिन्न पटः स्यात् तदा तद्विन्नतयोपलब्ध्येत घटयत्, एष घटेऽपि भग्ने कपालद्वयातिरिक्तस्यानुपलम्भात् घटेऽपि कपालद्वयात्मक एव । तदुक्तं—“नान्योऽवयव्यवयवेभ्यः” इति तदिदं साहचर्यं मतं प्रसङ्गान्निराचिकीर्तुराह—

कार्यकारणयोरेकत्वैकपृथक्त्वाभावादेकत्वैकपृथक्त्वं न विद्यते ॥ ७ ॥

कार्य कारणञ्च द्वयमेकं न भवति, कुत एतदित्याह—एकत्वाभावाद्भेदा-

भ्रमरूपं ज्ञानं भी होता है । क्योंकि निश्चयरूप से ज्ञानं हुए रजत आदि धुक्ति में आरोप किये जाते हैं, न निश्चित किये हुए का आरोप नहीं होता, क्योंकि बौद्धमत के समान असत् रजत पदार्थ की ख्याति (प्रसिद्धि) नैयायिक नहीं मानते किन्तु शुक्ति का अन्वेषा (दूसरे रजतरूप से) इत्यादि आनुरूप भ्रम नैयायिक मानते हैं (सिद्ध करते हैं) । यह सूत्र का आशय है ॥ ६ ॥

तन्तु तथा पटरूप कारण और कार्य दोनों में एकत्व सत्त्वा तथा एकपृथक्त्व गुण है, जिस कारण ही एकत्व सत्त्वा है इसी कारण एक पृथक्त्व भी है, किन्तु अपने से आप पृथक् होना असम्भव है । क्योंकि वस्त्र के फाटने के समय तन्तुओं के छींचने पर तन्तुओं से भिन्न पट की उपलब्धि नहीं होती, यदि तन्तुओं से भिन्न पट हो तो उनसे भिन्न घट के समान पट की उपलब्धि होने लगेगी, इसी प्रकार घट के टूटने पर कपाल द्वय (दो खण्डों) के अतिरिक्त की उपलब्धि न होने के कारण घट भी दो कपालरूप ही है, अतएव न अन्य = दूसरा नहीं है, अवयवी = अवयवी इव, अवयवेभ्यः = अवयवों से, ऐसा कहा है (इस प्रकार के साध्यदर्शनमत का प्रमग से छण्डन करने की इच्छा से सूत्रकार कहते हैं)।—

पदपदार्थ—कार्यकारणयो = कार्य तथा कारण दोनों में, एकत्वैकपृथक्त्वाभावात् = एकत्व तथा एक पृथक्त्व के न होने से, एकत्व तथा एकपृथक्त्व, न विद्यते = नहीं है ॥ ७ ॥

भावार्थ—पटादि कार्य तथा तन्तु आदि कारणों में एकता तथा एकपृथक्त्व न होने से अर्थात् भेद न होने के कारण ऐक्य नहीं है अर्थात् कार्य तथा कारण एक नहीं हो सकते ॥ ७ ॥

उपस्कार—कार्य (पट आदि) और कारण (तन्तु आदि) ये दोनों एक नहीं हैं । ऐसा क्यों ? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार ने : ‘एकत्वैकपृथक्त्वाभावात्’ अर्थात्

भावान् । तर्हि यदेव कार्यं तदेव कारणं तन्तवः पट इति बहुत्वैकत्वयोः सामानाधिकरण्यानुपपत्तेः । भवत्येव सामानाधिकरण्यमेकस्यामपि पाथः कणिकायामाप इति प्रयोगात् एकस्यामपि योपिति दारा इति प्रयोगादिति चेन्न तत्रावयवबहुत्वमादायोपपत्तेः । पाथः परमाणौ तु प्रकृतिगत रूपादिवहुत्वमादायेत्येके । शब्दभावाव्यभिचमपर्यनुयोज्यमित्यपरे । न च रण्डाकरण्डावस्थितास्तन्तवः पटव्यपदेशं लभन्ते, न वा धारणाकर्णणे तन्तवः प्रत्येकं वर्तुमीशते, न वा कार्यं कारणञ्च द्वयमप्येकपृथक्त्वाश्रयः परस्परावधिकत्वप्रतीतेः । कुत इत्यत आह—एकपृथक्त्वाभावात् एकपृथक्त्वमवैधर्म्यं तत्रभावान् कार्यकारणयोरन्योन्यवैधर्म्यानुभवान् सन्तुत्पटत्वयोः घटत्वकपालत्वयोश्च भिन्नमुद्विग्नपदेशयोः

अभेद न होने से हेतु दिया है, क्योंकि कार्य तथा कारण का अभेद माना जाय तो जो ही गट कार्य है वही तत्तु कारण है, ऐसा होने से 'तन्तवः', 'पट' इन दोनों पदों में बहुवचनार्थ अनेक सख्या तथा एकवचनार्थ एक सख्या का एक आश्रय में वर्तमानताकर सामानाधिकरण्य न बनेगा । यदि 'एक भी जल के बूँद में 'आप' ऐसा बहुवचन का तथा एक ही स्त्री में 'दारा' ऐसा बहुवचन का भी प्रयोग होने के कारण अनेक सख्या तथा एक सख्या का एक आश्रय में रहना होता ही है' ऐसी छंका पूर्वपक्षी करे तो यह भी नहीं हो सक्ता, क्योंकि इन प्रयोगों में जल तथा स्त्री के अनेक अवयवों को लेकर बहुवचन प्रयोग हो सकता है । उस के परमाणुरूप प्रकृति में वर्तमान रूपादिकों की अनेक सख्या को लेकर 'आप' ऐसा बहुवचन प्रयोग एक ही जल के बूँद में हो सकता है ऐसा भी कुछ विद्वानों का यहाँ कहना है । 'दारा' पु भूमि अमता' अर्थात् दारा शब्द तथा असत शब्द पुल्लिङ्ग बहुवचन में ही होते हैं इस कोश से तथा 'आप स्त्री भूमि बाधारि' अर्थात् जलवाचक अप्सुशब्द स्त्रीलिङ्ग बहुवचन में होता है । इस कोश के भी बल से भ्युत्पन्न विषये स्वभाव वाले उक्त शब्द होने से शब्द का स्वभाव ऐसा होने के कारण यह आपत्ति ही नहीं आ सकती, ऐसा भी कुछ विद्वानों का मत है । जिस रण्डा तथा करण्डा नाम विशेष औपधि जिसमें रहने वाले तन्तु उत्पन्न होकर पट के व्यवहार को नहीं प्राप्त होते हैं अथवा धारण (पकड़ रखना) तथा आकर्षण (खींचना) वह दोनों कर्म केवल प्रत्येक तन्तु नहीं कर सकते, अथवा पटादि कार्य तथा तन्तु आदि कारण यह दोनों भी एक पृथक्त्व गुण के आधार हैं क्योंकि परस्पर में अवधि का ज्ञान होता है । ऐसा क्यों ? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं—'एकपृथक्त्वामावात्' अर्थात् एकपृथक्त्वप्रथम विरुद्ध धर्म न होना, उसके अभाव से अर्थात् कार्य पट तथा कारण तन्तुओं में परस्पर विरुद्ध धर्म का अनुभव होने से तथा तन्तु और पट एवं घट और कपाल का भिन्न-भिन्न बुद्धियों से व्यवहार होता है यह सर्वसाधारण लौकिक व्यवहार से

सार्धलौकिकत्वात् । कथं तर्हि रूपरसगन्धस्पर्शानां न भेदेनोपलम्भः ? अत्यन्तसारुण्यात्, क्वचित्त्रिपदादौ भेदोपलम्भोऽपि, सद्द्वयापरिमाणादिभेदस्य चातिस्फुटत्वान् ॥ ७ ॥

अनित्ययोरेकत्वेकपृथक्त्वयोः कारणगुणपूर्वकत्वमाह—

एतदनित्ययोर्व्याख्यातम् ॥ ८ ॥

अनित्ययोः सद्द्वयापृथक्त्वयोः कारणगुणपूर्वकत्वं यद्वारयार्तं तदनित्ययोरेकत्वेकपृथक्त्वयोरेव बोद्धव्यम्, अन्येषां सद्द्वयापृथक्त्वयानामपेक्षाबुद्धिजन्यत्वात्, यथाऽनित्ययोस्तेजोरूपस्पर्शयोः कारणगुणपूर्वकत्वं तथैकत्वेकपृथक्त्वयोरप्यनित्ययोरिति भावः । अर्थात् 'अनेकद्रव्या द्वित्वादिका पराद्वान्ता' इत्युपसद्द्वयानाम्, उपसद्द्वयानान्तरञ्च—'तत्समानाधिकरणञ्च द्विपृथक्त्वादिपराध्वपृथक्त्वपर्यन्तम्' ।

सिद्ध है । ऐसा है तो रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श नामक गुणों की भेद से उपलब्धि क्यों नहीं होती अर्थात् गुणों का गुणी से अलग ग्रहण क्यों नहीं होता ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि अत्यन्त समानरूप होने से और कहीं-कहीं अनेक रस के त्रिपदादिकों में गुण तथा गुणी का भेद गृहीत भी होता है, सख्या तथा परिमाण इत्यादि गुणों का भेद तो गुण तथा गुणी में अत्यन्त स्पष्ट प्रतीत होता है ॥ ७ ॥

अनित्य एकसख्या तथा एकपृथक्त्व ये दोनों कारण गुणपूर्वक होते हैं, यह सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—एतत् = यह (कारणगुणपूर्वकता), अनित्ययोः = अनित्य सख्या तथा पृथक्त्व इन दोनों गुणों में, व्याख्यातम् = व्याख्या किया गया ॥ ८ ॥

भावार्थ—जो सख्या तथा पृथक्त्व गुण में कारणगुणपूर्वकता कही है वह अनित्य ही एषत्वमस्या तथा एकपृथक्त्वगुण में जानना चाहिये ॥ ८ ॥

उपस्कार—अनित्य संख्या तथा पृथक्त्व इन दोनों गुणों में जो कारणगुणपूर्वकता व्याख्या की गई है वह अनित्य एकसख्या तथा एकपृथक्त्व नामक दो गुणों में जाननी चाहिये, क्योंकि अन्य द्वित्वादि सख्या इत्यादि अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न होते हैं, जिस प्रकार अनित्य तेजद्रव्य के रूप तथा स्पर्श ये दोनों गुण कारणगुणपूर्वक होते हैं, उसी प्रकार एकसख्या तथा एकपृथक्त्व में दोनों गुण भी कारणगुणपूर्वक होते हैं, यह सूत्र का वाक्य है । अर्थात् 'अनेक द्रव्याद्वित्वादिका परार्थान्ता' ऐसा ('उपसद्वयान्') भाष्य है, जिसका द्वित्व से लेकर परार्थपर्यन्त सख्या अनेक द्रव्य अर्थात् अनेक एकविषयक बुद्धि से उत्पन्न होती है, ऐसा अर्थ है । तथा दूसरा उपसरयान (भाष्य) भी है तत्समानाधिकरणञ्च = द्वित्वादि सख्या के अधिकरण में रहनेवाला होता है, द्विपृथक्त्वादिपराध्वपृथक्त्वपर्यन्तम् = द्विपृथक्त्व से लेकर द्विपराध्व पृथक्त्व गुण तक । तस्मात् द्वित्वादि सख्याओं के उत्पत्ति तथा

तत्रयं द्वित्वाद्युत्पादविनाशक्रम-समानजातीययोरसमानजातीययोर्द्रव्ययोश्चक्षुःसन्निकर्षे सति तन्निष्ठैकत्वसद्व्ययोर्यत्सामान्यमेकत्वं तयोर्निर्विकल्पकानन्तरं तद्विशिष्टगुणबुद्धित्वमुत्पद्यते, सैव चापेक्षाबुद्धिस्तथा तयोर्द्रव्ययोर्द्वित्वमुत्पद्यते उत्पन्नस्य च द्वित्वस्य यत्सामान्यं द्वित्वत्वं तदालोचनं तेनालोचनेनापेक्षाबुद्धेर्नाशो द्वित्वत्वविशिष्टं द्वित्वगुणविषया विशिष्टबुद्धिश्चेकदा भवति, तद्विमिश्रणे च द्वित्वगुणस्यापेक्षाबुद्धिविनाशाद्विनाश-द्वे द्रव्ये इति द्वित्वविशिष्टद्रव्यज्ञानञ्च युगपदुत्पद्यते, एतत्तस्माद् द्वित्वविशिष्टद्रव्यज्ञानान् सस्कारः ।

तत्रयं सक्षेप-उत्पत्त्यमानद्वित्वाधारेणोन्मिश्रसन्निकर्षः १ ततः एकत्वगुणगत सामान्यज्ञानं २ ततः एकत्वस्य सामान्यविशिष्टैकत्वगुणसमूहालम्बनरूपाऽपेक्षाबुद्धिः ३ ततो द्वित्वगुणोत्पत्तिः ४ तद्गमसामान्यस्य ज्ञानं ५ तत्तत्सामान्यविशिष्टद्वित्वगुणज्ञानं ६ ततो द्वित्वगुणविशिष्टद्रव्यज्ञानं ७ ततः सस्कारः ८ इतीन्द्रियसन्निकर्षमार्गस्य सस्कारपर्यन्तमष्टौ क्षणाः ।

नाग का यह क्रम है—समान जाति के दो घट तथा असमान जाति के घट तथा पट-रूप दो द्रव्यों का चक्षुरिन्द्रिय से संयोगरूप सन्निकर्ष होने पर उन दोनों में वर्तमान दो-एक महत्वाओं की जो सामान्य (जाति) एकत्वत्व उन एकत्व महत्वा तथा एतत्त्वत्व सामान्य दोनों का परस्पर विरोधविशेषभाव को विषय न करने वाली निर्विकल्परूप ज्ञान न होने के पश्चात् उन दोनों का विशिष्ट ज्ञानरूप जो ज्ञान होता है वही अपेक्षाबुद्धि है, उसमें उन दोनों द्रव्यों में द्वित्व उत्पन्न होता है, और उत्पन्न द्वित्वगुण की जो द्वित्वत्वरूप जाति उसका निर्विकल्परूप ज्ञान होता है जिसमें अपेक्षाबुद्धि नष्ट हो जाती है, और द्वित्वत्व जानिविशिष्ट द्वित्वगुण को विषय करनेवाला विशिष्ट ज्ञान भी एक समय में होता है, और उसके आगे के क्षण में उस द्वित्व गुण का अपेक्षाबुद्धि के नष्ट होने के कारण नाश हो जाता है, तथा ये दो द्रव्य हैं, ऐसा द्वित्वविशिष्ट द्रव्य ज्ञान भी उत्पन्न होता है, पश्चात् उस द्वित्वविशिष्ट द्रव्य के ज्ञान से सस्कार (भावना) उत्पन्न होता है । इसका तात्पर्य यह है कि—जिसमें द्वित्व गुण आगे उत्पन्न होने वाला है ऐसे द्वित्वगुण के आधार द्रव्यों के साथ चक्षुरिन्द्रिय का संयोगरूप सन्निकर्ष (१) इसके पश्चात् एकत्व सत्त्वाख्य गुण में रहनेवाले एकत्व जाति का ज्ञान (२), पश्चात् एतत्त्वरूप जानिविशिष्ट एकत्वमहत्त्वाख्य गुणों की समूहालम्बन (समूह की आश्रय करनेवाली) रूप अपेक्षाबुद्धि (३), पश्चात् द्वित्वमहत्त्वाख्य गुण की उत्पत्ति (४), तथा उसमें वर्तमान द्वित्वत्वरूप जाति का ज्ञान (५), पश्चात् उस जाति से युक्त द्वित्वमहत्त्वाख्य गुण का ज्ञान (६), पश्चात् द्वित्वगुणविशिष्टद्रव्य का ज्ञान (७), पश्चात् कालान्तर में दो द्रव्यों का स्मरण करनेवाला भावना नागक सस्कार (८), इस प्रकार दो द्रव्यों के इन्द्रिय से संयुक्त होने के काल से लेकर सस्कार तक आठ क्षण होते हैं ।

विनाशक्रमस्त एकत्वत्वसामान्यज्ञानस्यापेक्षाबुद्धितो विनाश द्वित्वत्वसामान्यज्ञानादपेक्षाबुद्धेर्विनाश द्वित्वसामान्यज्ञानस्य च द्वित्वगुणबुद्धितो विनाश द्वित्वगुणबुद्धेश्च द्वित्वविशिष्टद्रव्यज्ञानान् तस्य च सम्कारान् विषयान्तरज्ञानाद्वेति ।

नन्वेकत्वज्ञानान्तर्द्विशिष्टद्रव्यज्ञानमेव कथं नोत्पद्यते तत्सामाग्रीसत्त्वान्, न द्वि गुणज्ञाने भवति द्रव्यज्ञाने विलम्बोऽस्ति तथा च तत् एवापेक्षाबुद्धेर्विनाशे तत्राशान्च तदभिप्रक्षेप एव द्वित्वनाश इति द्वे द्रव्ये इति विशिष्टज्ञानपूर्वक्षेप एव द्वित्वविनाशापत्त्या द्वित्वविशिष्टद्रव्यज्ञानस्यानुत्पत्तिरेवेति चेन्न द्वित्याशुपत्तिसामग्र्यनभिभूताया एवापेक्षाबुद्धेर्द्रव्यविशिष्टज्ञानजनकत्वनिवृत्त्यात् फलवलेन तथा कल्पनान् । ननु तथापि स्वजनितसंस्कारेणैवापेक्षाबुद्धिर्विनाशे पुन स

विनाश का क्रम यह है—एकत्वत्व जाति के ज्ञान का अपेक्षाबुद्धि से नाश होता है, द्वित्वत्व जाति के ज्ञान से अपेक्षाबुद्धि का नाश तथा द्वित्वत्व जाति के ज्ञान का द्वित्वगुणबुद्धि से नाश होता है और द्वित्व सत्त्वारूप गुण के ज्ञान का द्वित्वगुणविशिष्ट 'दो द्रव्य है' ऐसे ज्ञान से, और उसका भावनासंस्कार से, अथवा दूसरे विषयो के ज्ञान से नाश होता है । 'एकत्व सत्त्वा के ज्ञान से उससे युक्त द्रव्य का ज्ञान ही क्यों नहीं उत्पन्न होता ? क्योंकि उसकी सामग्री है, क्योंकि गुण का ज्ञान होने पर द्रव्य के ज्ञान में विलम्ब नहीं होता, ऐसा होने के कारण उसीसे अपेक्षाबुद्धि का नाश होने पर, उसके नाश में ही उसके आगे के क्षण में ही द्वित्वगुण का नाश होने से 'दो द्रव्य हैं' इस विशिष्ट ज्ञान के प्रथम क्षण में ही द्वित्व के नाश की आपत्ति आने के कारण 'दो द्रव्य है' ऐसा द्वित्वविशिष्ट द्रव्यज्ञान उत्पन्न ही न होगा' ऐसी यदि पूर्वपक्षी शका करे तो, यह ठीक नहीं है, क्योंकि द्वित्वादिव गुण की उत्पत्ति की सामग्री से अनभिभूत (विरसृष्ट न होने वाली) ही अपेक्षाबुद्धि द्रव्यविशिष्ट ज्ञान को उत्पन्न करती है यह निश्चय है, क्योंकि फल के बल से ऐसा माना जाता है । तथापि अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न भावनासंस्कार से ही अपेक्षाबुद्धि का नाश होना सम्भव होने से पुन उक्त दोष—'दो द्रव्य है' इत्याकारक द्वित्वविशिष्ट द्रव्यज्ञान की उत्पत्ति न होगा, वैसा ही होगा, ऐसा पूर्वपक्षी आक्षेप नहीं कर सकता । केवल गुण का ज्ञान भी स्मरण को उत्पन्न नहीं करता, क्योंकि केवल द्वित्वादिव गुणों का कही स्मरण नहीं होता, सम्पूर्ण स्थलों में द्रव्य के उपगम (मन्वगम) से ही गुणों का स्मरण होता है । ऐसा होत चापि विशिष्ट ज्ञान के समय में भी द्वित्व गुण का नाश होने पर 'दो द्रव्य हैं' इस प्रकार द्वित्वविशिष्ट द्रव्यज्ञान की उत्पत्ति न हो सकता यह दोष पुनरपि उसी प्रकार होगा, क्योंकि वर्तमान काल की विषय करनेवाली विशिष्ट ज्ञान द्वित्वरूप विशेषण के नाश के समय में नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा देखने में नहीं आता' ऐसी शका का समाधान यह है कि विशेषण का ज्ञान, तथा

दोषस्तदवस्थ एव, द्वित्वविशिष्टज्ञानपूर्वक्षण एव द्वित्वनाशस्य सम्भवा-
दिति चेन्न केवल गुणज्ञानस्य सम्काराजनकत्वात् न हि केवलो गुणः
क्वापि स्मर्यते, सर्वत्र द्रव्योपरागेणैव गुणस्मरणात् । ननु भवत्वेवं
तथा हि विशिष्टबुद्धिकालेऽपि द्वित्वनाशे विशिष्टप्रतीत्यनुदयरतदवस्थ एव,
नहि वर्तमानावभासिनो विशिष्टप्रतीतिविशेषणनाशकाले सम्भवति तथाऽदर्श-
नादिति चेन्न विशेषणज्ञानविशेष्येन्द्रियसन्निकर्षतदुभयासंसर्गग्रहस्य विशिष्ट-
ज्ञानसामग्र्या प्रकृतेऽपि सम्भवात् । यदि तु विशेषणेन्द्रियसन्निकर्षोऽपि मृग्यते
तदा पूर्वक्षणे तदापि सत्त्वात् पूर्वक्षणवत्तिन एव सन्निकर्षस्य कारणत्वेनाभ्युप-
गमात्, विशेषण विशिष्टज्ञानागोचरोऽपि सम्भवति विशिष्टज्ञानजनकज्ञानविषय-
त्वमाश्रमेयं हि विशेषणस्य तन्त्रं न तु विशिष्टज्ञानाविषयत्वमपि । उपलक्षणस्या-
प्येव विशेषणत्वापत्तिरिति चेन्न प्रत्याख्यस्यावृत्तिसामानाधिकरण्यस्य विशेष-
णस्य तन्त्रत्वात्, उपलक्षणन्तु तद्व्यपधिकरणम् । एव यदा देवदत्तगृहे काकवत्ता
तदा काको विशेषण, यदा तु उपरि भ्रमन् असन् तदा उपलक्षणम् । एवं सति रूप-

विशेष के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध तथा इन दोनों के असम्बन्ध का अज्ञानरूप
विशिष्ट ज्ञान की सामग्री प्राप्त होने में भी हो सकती है । किन्तु यदि विशेषण के साथ
इन्द्रिय का सन्निकर्ष भी विशिष्ट ज्ञान में कारण होने से उसका भी अभिवेपण (खोज)
किया जाय तो पूर्वक्षण में यह भी है, पूर्वक्षण में वर्तमान ही सन्निकर्ष को कारण
माना गया है । विशिष्ट ज्ञान का विषय न होनेवाला भी विशेषण हो सकता है क्योंकि
विशिष्ट ज्ञान के जनक ज्ञान का विषय होना ही विशेषण होने में प्रयोजक होता है
न कि विशिष्ट ज्ञान का विषय होना । यदि ऐसा होने से उपलक्षण भी विशेषण
ही जायगा ऐसी सवा पूर्वपक्षी करे तो यह नहीं हो सकता, प्रत्याख्य (बोध कराने
के योग्य) से व्यावृत्ति (भेद) के अधिकरण में रहना विशेषण होने में कारण है,
और उपलक्षण उसके अधिकरण में नहीं रहता । ऐसा होने से जिस समय देवदत्त
नाम के मनुष्य के घर पर काक (बोवा) बैठा रहता है उस समय
काक विशेषण होता है, और जिस समय घट के ऊपर घूमता है, बैठा
नहीं रहता उस समय वह उपलक्षण (सूचक) होता है । ऐसा होने से 'रूप के
आधय में रस है' इत्यादि प्रतीति में रूपादि भी विशेषण हो जायगा । ऐसी आपत्ति
पूर्वपक्षी नहीं कर सकता । क्योंकि इस प्रतीति में रूप का विशेषण होना द्रष्ट ही है ।
'तो उस रूप से भी रस रहेगा' ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता, क्योंकि विशिष्ट में
रहनेवाला विशेषण में रहता है यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि विशेषण तथा
विशिष्ट एक ही सत्त्व (पदार्थ) नहीं होता । यदि द्वित्वगुण के नाश के समय
विशेषण द्वित्व का सम्बन्ध नहीं है तो 'दो द्रव्य हैं' ऐसा द्वित्वविशिष्ट द्रव्य का ज्ञान
कैसे होगा ? ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता, 'अतद्रव्यावृत्तेरेव धर्मात्' उससे भिन्न

यति रस इत्यादी रूपादेरपि विशेषणत्वापत्तिरिति चेन्न इष्टत्वान् । तर्हि तत्रापि रसो वर्ततेति चेन्न विशिष्टवृत्तेर्विशेषणवृत्तित्वानावश्यकत्वात्, न हि विशेषणं विशिष्टमित्येक तत्त्वम् । द्वित्वनाशकाले विशेषणसम्बन्धो नास्ति कुतो विशिष्ट-प्रत्यय इति चेन्न अतद्व्यावृत्तेरेव वैशिष्ट्यपदार्थत्वात्, तद्वानन्तु तत्रापि न किञ्चिदनुपपन्नमित्याचार्याः । एष द्वित्वोत्पत्तिविनाशवत्त्रित्वोत्पत्तिविनाशव-
प्यूहनीयौ ।

द्वित्वमपेक्षाबुद्धिनाशनाशयम्, आश्रयनाश-विरोधिगुणान्तराभावे गुणस्य ससोऽविनाशित्वात् चरमज्ञानवन्, चरमज्ञानस्थादृष्टनाशनाशयत्वात् ।

क्यचिदाश्रयनाशादपि नश्यति यत्र द्वित्वाधारावयवमन्तसमकालमेकत्व-सामान्यज्ञानम् । यथा अवयवकर्मसामान्यज्ञाने विभागापेक्षाबुद्धौ संयोगानाश-

पदार्थ से भिन्न होना ही वैशिष्ट्य पद का अर्थ होता है । 'उसे द्वित्वरूप विशेषण का मान (ज्ञान) वहाँ भी असंगत नहीं है' ऐसा यहाँ उदाहरणाचार्य का मत है । इसी प्रकार द्वित्व गुण की उत्पत्ति तथा नाश के समान द्वित्वादि सख्यारूप गुणों की उत्पत्ति तथा उनका विनाश भी ज्ञान लेना चाहिये । द्वित्वसंख्यारूप गुण अपेक्षाबुद्धि के नाश से नष्ट होता है, क्योंकि आधार का नाश तथा विरोधी दूसरे गुण के न रहते, गुण होते हुए विनाशी न होने से, अंतिम ज्ञान के समान, क्योंकि चरम (अन्तिम, ज्ञान का अदृष्ट के नाश से नाश होता है । वही आधार के नाश से भी द्वित्वसंख्यारूप गुण का नाश होता है—जहाँ पर द्वित्वसंख्या गुण के आधार द्रव्य के अवयव में किया उत्पन्न होने के समय एकत्व जाति का ज्ञान होता है । जैसे द्वित्वाधार द्रव्य के अवयव में क्रिया तथा एकत्व जाति का ज्ञान, क्रम से क्रिया से विभाग तथा यह एक है ऐसी अपेक्षाबुद्धि विभाग से पूर्वसंयोग का नाश तथा अपेक्षाबुद्धि से द्वित्व संख्यारूप गुण की उत्पत्ति, पूर्वसंयोगनाश से द्रव्य का नाश तथा द्वित्वत्व सामान्य का ज्ञान, ऐसे स्थल में द्रव्यनाश से द्वित्व गुण का नाश होता है । सामान्य ज्ञान से अपेक्षाबुद्धि का नाश होता है, अपेक्षाबुद्धि के द्वित्वनाश के समान काल होने के कारण कार्यकारण समान भाव नहीं हो सकता । अर्थात् एक बाल के दो शृंगों के समान द्वित्वाश्रय द्रव्य के अवयवों में क्रिया होने के समान काल के एकत्व ज्ञान स्थल में एक काल में होनेवाला अपेक्षाबुद्धि का नाश द्वित्वगुण का नाशक नहीं हो सकता, किन्तु आधार द्रव्य का नाश हो उसका नाशक होगा यह वाक्य है ।

किन्तु जिस समय द्वित्वगुण के आधारद्रव्य के अवयवों में क्रिया तथा अपेक्षाबुद्धि ये दोनों में एक समय में होते हैं, उस समय उन आधार का नाश तथा अपेक्षाबुद्धि का नाश दोनों मिलकर द्वित्वगुण का नाश होता है । यह इस प्रकार है कि अवयव में क्रिया और अपेक्षाबुद्धि, उनसे क्रम से अवयव विभाग तथा द्वित्वगुण की उत्पत्ति, उनसे पूर्वसंयोग का नाश तथा द्वित्वत्व सामान्य का ज्ञान,

गुणोत्पत्तौ द्रव्यनाशद्वित्वसामान्यज्ञाने तत्र द्रव्यनाशाद्द्वित्वनाशः, सामान्य-
ज्ञानादपेक्षाबुद्धिनाशः, अपेक्षाबुद्धिनाशस्य द्वित्वनाशसमानकालत्वात् कार्य-
कारणसमानभाषाभाषान् ।

यत्र तु द्वित्वाधारावयवकर्मापेक्षाबुद्धयोर्व्यभिचयं तदा द्वाभ्यामावयवनाशापे-
क्षाबुद्धिनाशाभ्यां द्वित्वनाशः । तद्यथा अवयवकर्मापेक्षाबुद्धौ विभागोत्पत्तिद्वि-
त्योत्पत्तौ संयोगनाशद्वित्वसामान्यज्ञाने द्रव्यनाशापेक्षाबुद्धिनाशौ ताभ्यां द्वित्व-
नाशः प्रत्येकं सामर्थ्यग्रहात् । इत्युक्तं प्रक्रिया ज्ञानयोर्वध्यघातकपक्षे परमुपपद्यते
स एव च पक्षः प्रामाणिकः ।

ननु द्वित्वत्रित्वादीनां सामग्रीसाम्ये कथं कार्यवैलक्षण्यं ? द्वाभ्यामेकत्वा-
भ्यां द्वित्व त्रिभिरेतत्वेऽस्मिन्नित्यमिति चेन्न एतत्त्वे द्वित्वाद्यभावात् । समवायिकारण-
गतमेव द्वित्वत्रित्वादिके तन्त्रमिति चेन्न द्वित्वाद्युत्पत्तेः पूर्वं तत्र द्वित्वाद्यभावात्,
तत्रापि कारणचिन्ताया अनिवारणान् अपेक्षाबुद्धावेकत्वेपु च सादृशदिशोपस्था-

उनसे क्रम से द्रव्य का नाश तथा अपेक्षाबुद्धि का नाश होता है, और उन दोनों
से द्वित्व का नाश होगा है, क्योंकि प्रत्येक द्वित्वनाश के सामर्थ्य होने का ग्रहण होता
है । किन्तु यह प्रक्रिया दो ज्ञानों के परस्पर वध्यघातक (नाशनाशक) रूप विरोध
मानने के पक्ष भी हो सकती है, नकि सहानवस्थाप को उनों के साथ में न
रहनेरूप विरोध पक्ष में (क्योंकि इन पक्ष ही में दो द्रव्य हैं ऐसे विशिष्ट द्रव्यज्ञान
की उत्पत्ति न होनी ऐगा प्रसक्तपादभाष्य में देख लेना चाहिये) । शंकरमित्र कहते
हैं कि वध्य घातक पक्ष ही इन कारण भाष्यमत के अनुसार प्रामाणिक है ।
(चित्वादि सख्या के मानने के विषय में विवाद होने से पूर्वपक्षिमत से संका दिखावे
दृष्ट शंकरमित्र कहते हैं कि) —जब द्वित्व त्रित्व आदि सख्याओं की अपेक्षाबुद्धिरूप
सामग्री समान है तो कार्य संख्याओं में विलक्षणता कैसे होगी ? 'यदि दो एक
सख्याओं से द्वित्व सख्या तथा तीन एक सख्याओं से त्रित्व संख्या होती है इस
कारण कार्य में विलक्षणता होती है' ऐसा सिद्धान्ती कहे तो यह नहीं हो सकता,
क्योंकि एक संख्यारूप गुण में (गुणों में गुण का रहने का विरोध होने के कारण)
द्वित्वादिसंख्यारूप गुण नहीं हो सकता । समवायिकारण में वर्तमान ही द्वित्व-
त्रित्व आदि प्रयोजक होगा' ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि द्वित्वादिसंख्याओं
के उत्पत्ति के पूर्व में द्वित्वादिसंख्या गुण नहीं हैं । और उत्पत्ति भी क्या कारण है ? यह
चिन्ता दूर न होगी । अपेक्षाबुद्धि तथा अनेक एक सख्याओं में भी ऐसा कोई
कार्य में विलक्षणता ले जानेवाला विशेष उपलब्ध नहीं होने से धारित है । यदि
विलक्षण क र्थरूप फल के बल से ऐसा विशेष उनमें माना जाय तो द्वित्व-त्रित्वादिसंख्या
कार्य का व्यवहार भी उनी विशेष में हो जायगा तो द्वित्वादिसंख्या मानने की भी क्या
आवश्यकता है ? यदि अदृष्ट को विशेष से द्वित्व त्रित्व आदि सख्या कार्य में

नुपलम्भवोद्धितान्, फलबलेन तत्कल्पने, वा द्वित्वादित्यवहारोऽपि तत एवानु-
कि द्वित्वादिना । अदृष्टविशेषाद्विशेष इति चेदेवं सति द्वित्वारम्भकयाऽपि साम-
ग्रया कदाचित्त्रित्वं चतुष्टयतोत्पद्यतेत्यनियमप्रसङ्गः ।

अत्रोच्यते—प्रागभावविशेषाद्विशेषोपपत्तेः, यथा तुल्यया सामग्रया पाकजानां
रूपरसगन्धस्पर्शानाम् । प्रागभावोऽपि साधारण एवेति चेन्न म्यस्वप्रागभावस्यैव
कार्यं प्रति कारणत्वावधारणान् । यद्वा शुद्धयाऽपेक्षाबुद्ध्या द्वित्वं द्वित्वसहितया
त्रित्वमिति नेयम् । अतः पिपीलिकानां मया कृतमित्यादी समवायिकारणाभावे
द्वित्वं तावन्नोत्पद्यते तथाच गौणस्तत्र सङ्गस्यान्यवहारो द्रष्टव्यः । सेनायनादीं
नियतापेक्षाबुद्धयभावाद्बहुत्वमात्रमुत्पद्यते न तु अतरहस्त्रादिसङ्गयेति श्रीधरा-
चार्याः । पञ्च सति अतसहस्रादिकोटिकस्तत्रसंज्ञयो न स्यात्, न स्याच्च सङ्गी-
महत्तरा सेनेति तेषमित्युक्तयनाचार्याः ।

अत्रैवमालोचनायाम्—त्रित्वादिपरार्द्धपर्यन्ता सङ्गयैव बहुत्वम्, तद्विशेषं वा
वा सङ्गयान्तरम् ? नायं सेनायनादावपि अतसहस्रादिसङ्गयोत्पत्तिनियमान् ।

विलक्षणता मानें, तो ऐसा होने पर द्वित्व की उत्पादक सामग्री से भी वदाचित्
त्रित्व सङ्ख्या तथा चतुष्टय (चार) सङ्ख्या भी उत्पन्न होने लगेगी ऐसे अनियम
(नियम न होने) की आपत्ति आवेगी ।

(इस पूर्वपक्ष का समाधान शङ्करमिश्र ऐसा करते हैं कि)—इस पूर्वपक्ष पर
ऐसा कहा जाता है कि—प्रागभाव के विशेष से कार्य में विशेषता हो जा सकती
है, जिस प्रकार तेजसयोगरूप पाक के कारण की सामग्री एक होने पर भी
रूपप्रागभावादि रूप कारण की विशेषता से रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श कार्यों में
विशेषता होती है । यदि पूर्वपक्षी कहे कि 'प्रागभाव भी तो साधारण ही है' तो
यह नहीं हो सकता । अपने-अपने कार्य का प्रागभाव ही उन उन कार्यों में कारण होता है,
यह, निश्चय है । अथवा शुद्ध अपेक्षाबुद्धि से द्वित्वसङ्ख्या, तथा द्वित्वसहित अपेक्षाबुद्धि
से त्रित्वसङ्ख्या इस प्रकार विशेष बना लेना । 'शनं=सी, पिपीलिकानां=चिडैडियों
को, रंने=महाहूतं=भारा इत्यादि प्रतीत में पिपीलिकारूप समवायिकारण के न
रहने से द्वित्वादिसङ्ख्या तो उत्पन्न नहीं हो सकती, अतः उनमें शत सङ्ख्या का
व्यवहार गौण होता है यह देख लेना चाहिये । सेना, वन, इत्यादिका में नियमित
अपेक्षाबुद्धि न होने से केवल बहुत्वरूप सङ्ख्या उत्पन्न होती है, न कि शत(सी),
सदृश (हजार) इत्यादि सङ्ख्या 'ऐसा कन्दलीता' श्रीधराचार्य का मत है । ऐसा
मानने से सेनायनादिको में शत (सी है) अथवा महम् है ऐसे अनेक कोटि वाला जो सशय
होता है वह न होगा । इस कारण श्रीधराचार्य का मत असंगत है ऐसा उदयना-
चार्य का मत है । किन्तु यहाँ पर यह समालोचन हो सकती है—कि त्रित्व से
चार परार्धपर्यन्त सङ्ख्या ही है बहुत्व सङ्ख्या अथवा उसमें भिन्न सङ्ख्या ? सेना, वन

न द्वितीय त्रित्वादिविलक्षणस्य बहुत्वस्याननुभवात् । तथाच प्रतिनियतैकवा-
नालम्बनापेक्षाबुद्धिजनितशतादिसङ्ख्यैव बहुत्व अताद्यभिप्रेत्यक्तिरतु तत्र न
भवति तादृशव्यञ्जकाभावात् ।

वयन्तु दूमः—त्रित्वादिसमानाधिकरण सङ्ख्यान्तरमेव बहुत्वं त्रित्वादिवन-
कापेक्षाबुद्धिजन्य प्रागभावाभेदादेव भावः कथमन्यथा—'बहुवस्तावत् सन्ति शतं
वा सहस्रं वेति विदिष्य न जानोम' इति । ग्रथैकद्रव्ये महत्त्वं दीर्घत्वञ्च तथै-
कत्रैवाधिकरणे त्रित्वादिक बहुत्वञ्च । भवति हि 'शत वा सहस्रं वा चूतफला-
न्यातयामीसि ?' प्रश्ने बहुवस्तावदानीयन्ता किं विशेषजिज्ञासयेति । पृथक्
द्वित्वसहितापेक्षाबुद्ध्या त्रित्व त्रित्वसहितापेक्षाबुद्ध्या चतुष्पमेवमुत्तरोत्तरोत्तरम्
बहुत्वोत्पत्तौ तु नापेक्षाबुद्धौ पूर्णपूर्वसङ्ख्याधिशिष्टत्वनिगमः । अत एव सेना-
नादिषु बहुत्वमात्रमुत्पद्यते न तु सङ्ख्यान्तर सशयस्त्वसत्कोटिकोऽपि भवत्ये-

आदिको में भी शत सहस्र आदि सङ्ख्या के उत्पत्ति का नियम होने के कारण
प्रथम पक्ष नहीं हो सकता और त्रित्वादिको से विलक्षण बहुत्व सङ्ख्या का अनुभव
न होने के कारण द्वितीय पक्ष भी नहीं हो सकता । ऐसा होने से प्रतिनियत प्रत्येक
पदार्थ में होने वाली एक सङ्ख्या को आश्रय न करने वाली अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न
शत आदि सङ्ख्या ही बहुत्वसङ्ख्या है किन्तु शत (सी) आदि सङ्ख्याओं की सेना-
यनादिको में अभिव्यक्ति (प्रकटता) वहाँ सेना वन आदि में बहुत्व में शतादि सङ्ख्या
का अभिव्यञ्जक (प्रकट करने वाला) न होने से नहीं होती ।

शकरमिश्र कहते हैं—कि हम तो ऐसा कहते हैं कि त्रित्वादि सङ्ख्या के अधिकरण
रहनेवाली बहुत्व एक दूसरी ही सङ्ख्या है जो त्रित्वादि सङ्ख्या की उत्पादक अपेक्षा-
बुद्धि से उत्पन्न होती है, प्रागभावा के भेद से ऐसा भेद है, अन्यथा ऐसा न हो तो
बहुत से है किन्तु सी है अथवा हजार हैं यह विशेषरूप से नहीं जानते ऐसा ज्ञान
कैसे होगा । जिस प्रकार एक त्रिम आदि द्रव्य में महत्परिमाण तथा दीर्घ (लम्बा)
परिमाण भी होता है उसी प्रकार एक ही आधार में त्रित्वादि सङ्ख्या तथा बहुत्व
सङ्ख्या भी रहती है । क्योंकि आत्रफल सी हैं अथवा हजार ? ऐसा प्रश्न करने पर,
बहुत से तो आठों विशेष जिसकी क्या आवश्यकता है, ऐसा उत्तर लोग देते हैं । ऐसा
होने के कारण त्रित्वसङ्ख्या सहित अपेक्षा बुद्धि में त्रित्वसङ्ख्या तथा त्रित्व सहित
अपेक्षाबुद्धि से चतुष्ट्व (चार) सङ्ख्या उत्पन्न होगी है इसी प्रकार पाँच आदि उत्तर-
उत्तर सङ्ख्याओं की उत्पत्ति होती है यह जान सेना चाहिये । किन्तु बहुत सङ्ख्या की
उत्पत्ति में अपेक्षाबुद्धि का पूर्ण पूर्व सङ्ख्या युक्त ज्ञान होने का नियम नहीं है । इसी
कारण सेना, वन आदिको में केवल बहुत्वसङ्ख्या उत्पन्न होती है दूसरी त्रित्वादि
सङ्ख्या नहीं, सेना, वनादिको में शत है अथवा हजार ऐसा सशय तो असन् पक्ष को
छेकर भी हो ही सकता है ।

वेति । 'तत्समानाधिकरणञ्च पृथक्त्वमिति यथा द्वित्वं तथा द्विपृथक्त्व' मित्यादि । ननु द्वित्वत्रित्वादिसमानाधिकरणैरेकपृथक्त्वैरेव तद् व्यवशरोपपत्तौ किं द्विपृथक्त्वादिनेति चेन्न घटात् पटलोष्टौ पृथगिति-द्विपृथक्त्वस्यान्योन्याधिकृत्याप्रतीते प्रत्येकपृथक्त्वे च तत्प्रतीतेरिति वैपम्यात् । न चैवं द्विपरत्वापत्तिः द्विचसमानाधिकरणाभ्या परत्वाभ्यामेव तदुपपत्ते । यथा पृथक्त्वे परस्परत्वधिकत्वाविरोधस्तथा न परत्वे, द्वाविमौ पराविति द्वाविमौ नीलाघितिवदुपपत्ते समानदेशस्थयो न्युक्तसंयोगभूयस्यसाम्येऽपि द्विदिपण्डसंयोगस्यालमवाधिका-रणस्य भेदेन भिन्नकार्योत्पत्तिसम्भवान् । मिलितयोरेकत्वयोर्द्वित्वं प्रति यथाऽसम-वाधिकारणस्य तथा मिलितयोरेकपृथक्त्वयोर्द्विपृथक्त्व प्रत्यसमवाधिकारणत्वसम्भ-वान् द्वयानिर्दिष्टमेक कार्यप्रत्यनेकेषा सयोगान्ता कार्यकार्यसमवायप्रत्ययान्तस्या

(पूर्वप्रदर्शित 'तत्समानाधिकरणञ्च पृथक्त्व' उक्त एकत्वादिको के आशय में पृथक्त्व गता है इत्यादि भाष्य का शररमिष विवरण करते हुए कहते हैं कि)— एक भाष्य का यह अर्थ है कि जिन प्रकार द्वित्वसंख्या है उसी प्रकार द्विपृथ-क्त्वादि गुण भी हैं इत्यादि जानना । द्वित्व तथा त्रित्वादिसंख्या के आशय में वर्तमान अनेक एकपृथक्त्व गुणों से ही द्विपृथक्त्वादि दो पृथक् हैं ? ऐसा व्यवहार हो सकने के कारण द्विपृथक्त्वादि गुण मानने की क्या आवश्यकता है ? इस सवाल का उत्तर यह है कि ऐसा नहीं हो सकता, घट से पट तथा लोष्ठ (मिट्टी का डेला) दोनों पृथक् हैं इस द्विपृथक्त्व में परस्पर अवधि की प्रतीति नहीं होती और प्रत्येक के पृथक्त्व में अवधि की प्रतीति होती है ऐसा वैपम्य है । इसी प्रकार द्विपृथक्त्व के समान द्विपरत्व आदि भी पृथक् होने लगेंगे । ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता, क्योंकि, द्वित्वसंख्या के अधिकरण में वर्तमान दो परत्व गुणों से ही द्विपरत्व का निर्वाह हो सकता है । जिस प्रकार पृथक्त्व गुण में परस्पर अवधि होने का विरोध है उस प्रकार परत्व गुण में नहीं है, क्योंकि वे दोनों नील वर्ण के हैं इस प्रतीति के समान ये दोनों पट हैं ऐसी प्रतीति हो सकती है । क्योंकि समान देश में वर्तमान दो द्रव्यों में संपुक्त संयोग की अधिकरता समान होने पर भी अनमवाधिकरणरूप दिशा तथा पिण्ड (द्रव्य) के संयोग के भिन्न होने से भिन्न कार्य की उत्पत्ति हो सकती है । कारण न होने से द्विपृथक्त्वरूप कार्य कैसे होगा ? (इस प्रश्न के उत्तर में उद्यान्त द्वारा द्विपृथक्त्वरूप कार्य की सिद्धि करते हुए शररमिष कहते हैं कि)—जिस प्रकार मिली हुई एक सख्या द्वित्व संख्या में अनमवाधिकरण होती है उसी प्रकार मिले हुये दो-एक पृथक्त्वगुण द्विपृथक्त्वगुणरूप कार्य में अनमवाधिकरण हो सकते हैं । द्रव्यभिन्न एक कार्य में अनेक संयोग कार्य के साथ एक अर्थ में सन्निरर्थ में मिलकर कार्य की उत्पत्ति करते हैं । यह देखने में नहीं आता । चिन्तु कार्य के समवायि-

सम्भूयारम्भकत्वादर्शनात् । कारणैक्यप्रत्यासत्त्या तु बहवस्तन्तुतुरीसंयोगा एकं पटतुरीसंयोगमारभन्त एवेति दिक् । द्वित्वादिविनाशवद्विषयकत्वादिविनाशोऽप्यहनीयः ॥ ८ ॥

प्रकरणान्तरमारभते—

अन्यतरकर्मज उभयकर्मज संयोजश्च संयोगः ॥ ९ ॥

संयोगे संयुक्तप्रतीतिरवाधिता प्रमाणं ध्यायाणि च,—अवयवसंयोगेषु द्रव्यमग्निसंयोगे पाकजा रूपादयः प्रचये परिमाणविशेष भेर्यामाशसंयोगे शब्द इत्यायूह्यम् । न चाधिरल्लोत्पत्तिरेव संयोगः, क्षणभङ्गपरिणामयोर्निरासात् ।

अप्रतिपूर्विका प्राप्तिः संयोगः । स चान्यतरकर्मजः—क्रियायत्ता इत्येनेन निष्क्रियस्य स्थाणोस्तद्भिमुखक्रियारहितस्य सक्रियस्यापि धावतः यथा धावता

कारण के साथ एक पदार्थ में संनिवर्ण होने से बहुत से तन्तु तथा तुरी के संयोग एक पट तथा तुरी के संयोग को उत्पन्न करते ही हैं—यह रीति है । द्वित्वादिसत्त्वा के नाश के समान द्विषयकत्व आदि गुणों का भी नाश होता है यह भी स्वयं जान लेना चाहिये ॥ ८ ॥

दूसरा संयोग का प्रकरण सूत्रकार आरम्भ करते हैं—

पदपदार्थ—अन्यतरकर्मज = दो द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य की क्रिया से उत्पन्न, (१) उभयकर्मज = दोनों द्रव्यों की क्रिया से उत्पन्न, (२) संयोजश्च = और संयोग से उत्पन्न भी, (३) संयोग = संयोगगुण होता है ॥ ९ ॥

भावार्थ—ये संयुक्त हैं इत्यादि अबाधित ज्ञान तथा द्रव्यादिरूप कार्य से सिद्ध संयोग नामक गुण, दो द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य की क्रिया से उत्पन्न १, दोनों द्रव्यों की क्रिया से उत्पन्न २ तथा संयोग से उत्पन्न ३ । ऐसे तीन प्रकार के संयोग गुण होते हैं ॥ ९ ॥

उपस्कार—‘ये संयुक्त हैं’ ऐसी बाधरहित संयुक्त प्रतीति तथा कार्य भी संयोग नामक गुण है, इसमें प्रमाण है । वह कार्य ऐसे हैं कि अवयवों के संयोग होने में अवयवविरूप द्रव्य, अग्निमयोरूप पाक में पाक से बदलने वाले रक्त आदि रूप प्रचय में परिमाण का विशेष तथा भेरी और आकाश के संयोग में शब्द कार्य इत्यादि स्वयं जान लेना । बौद्ध निरन्तर उत्पत्ति को ही संयोग मानता है किन्तु यह नहीं हो सक्ता, क्षण-क्षण में वस्तु का नाश तथा परिमाण दोनों का नैयामिको ने खण्डन किया है ।

जो पूर्व में प्राप्त (मिले) न थे ऐसे दो या अनेक द्रव्यों की प्राप्ति (मिलने) को संयोग कहते हैं । वह संयोग प्रथम अन्यतर क्रिया से उत्पन्न वह है जैसे एक क्रिया वाले

पुरुषान्तरेण प्रवृत्तेशसंयोग । उभयस्मिन् — मेपयोर्मल्लयोर्वा प्रत्येकं गृहीतसामर्थ्याभ्यामुभयामेव वजननान् । तृतीयस्त्वद्भुलितस्संयोगाद्वस्तुतस्मिन्योग । स चैकस्मादपि भवति यथा—तन्तुवीरणसंयोगान् पटवीरणसंयोगः । क्वचिद्द्व्याभ्यां संयोगाभ्यामेक संयोग यथा—द्व्याभ्यां तन्तुभ्यामाशम्य द्वौ संयोगौ ताभ्यामेक एव द्वितन्तुपटभ्यामाशमेन संयोग । क्वचिच्च बहुभिरपि संयोगैरेक संयोग आगच्छते यथा—दशाभिस्तन्तुभिराकाशस्य दश संयोगा एकमेव दशतन्तुकपटाकाशसंयोगमारभन्ते । क्वचित् पुनरेकस्मादपि संयोगादसमवायिकारणात् संयोगद्वयमुत्पद्यते यथा—पार्थिवपाप्यो परमाण्वो प्रथममनारम्भके संयोगे जाते पार्थिवे परमाणौ पार्थिवपरमाण्वन्तरेण, आप्ये च परमाण्वापाप्यपरमाण्वन्तरेण, द्वयणुकद्वयारम्भके संयोगद्वयमुत्पद्यते, ताभ्यां संयोगाभ्यां सजातीयनिष्ठाभ्यां द्वयणुकद्वय युगपदान्भवेत्, तत्र च पार्थिवपाप्यपरमाण्वोरनारम्भक संयोग

इयेन (वाज) पक्षी की अपट्टारूप क्रिया से क्रियारहित स्थानु (वृक्ष) का जो बाज पक्षी के सामने कोई क्रिया नहीं करता अथवा क्रियारहित होने से दीङ्गनेवाले पुरुष या न दीङ्गने वाले निष्क्रिय दूसरे पुरुष के पुण्डवेश (पीठ) में संयोग १, दूसरा उभय (दोनों) की क्रिया से संयोग वह होता है जैसे दो मड़े अथवा दो मल्लख (पहलवानों) का संयोग, क्योंकि प्रत्येक मड़ा या मल्ल में क्रिया का सामर्थ्य होने के कारण दोनों के क्रिया ही से मेघ तथा मल्ल का परस्पर संयोग होता है २ । तीसरा सयोगजन्य संयोग वह है जैसे अगुली के क्रियासे उत्पन्न वृक्ष के संयोग से उत्पन्न हस्त तथा वृक्ष का संयोग होता है । और वह संयोगजन्य संयोग एक संयोग में भी उत्पन्न होता है । जैसे तन्तु तथा वीरण के एक संयोग से पट तथा वीरण का संयोग । कहीं दो संयोग में एक संयोग होता है, जैसे तन्तुओं से आकाश के साथ दो संयोग होते हैं और उन दो संयोगों में एक ही दो तन्तुवाले पट का आकाश के साथ संयोग होता है । वही बहुत से संयोगों में एक संयोग उत्पन्न होता है, जैसे दस तन्तुओं से आकाश के दस संयोग एक ही दस तन्तु वाले पट तथा आकाश के संयोग को उत्पन्न करते हैं । और वही तो एक ही असमवायिकारण संयोग से दो संयोग उत्पन्न होते हैं, जैसे पृथिवी तथा जल के दो परमाणुओं का प्रथम द्रव्य को न उत्पन्न करने वाला संयोग उनमें से होने पर एक पृथिवी के परमाणु में दूसरे पृथिवी परमाणु का, तथा एक जलीय परमाणु में दूसरे जलीय परमाणु का संयोग होने से पार्थिव तथा जलीय दो द्वयणुक द्रव्यों को उत्पन्न करनेवाले दो संयोग उत्पन्न होते हैं, और उन दोनों संयोगों में (जो अपने समान जातिय वाले में हैं) एक ही समय में पार्थिव तथा जलीय दो द्वयणुक उत्पन्न होते हैं, उनमें जो पार्थिव तथा जलीय दो परमाणुओं का द्वयणुक को उत्पन्न करनेवाला संयोग उत्पन्न हुआ था उसे एक ही संयोग से पार्थिव परमाण और जलीय द्वयणुक के साथ एक संयोग तथा जलीय परमाणु और पार्थिव द्वयणुक

उत्पन्नस्तेनैकेनैव पार्थिवपरमाणुनाऽऽप्यद्वयणुकेनैकः संयोगः आप्यपरमाणुना पार्थिवद्वयणुकेनापरः संयोगो द्व्यणुकयो रूपाद्युत्पत्तिसमकालमेव जायते, कारणकारणसंयोगेन कार्याकार्यसंयोगयोरवश्य जननात् ।

मूर्तविभूनामन्यतरकर्मज एव । विभुनोस्तु न संयोगः कारणाभावान् कर्म तावत्तत्र नास्ति न च कारण तेन कारणकारणसंयोगान् कार्याकार्यसंयोगोऽपि नास्ति । नित्यस्तु संयोगो न सम्भवति अप्राप्तिपूर्विकायाः प्राप्तेः संयोगत्वान् नित्यस्ये तद्विधातान् एवञ्च सति विभागोप्यजतस्तत्र स्यात् । न चेत्प्राप्ति संयोगविभागयोर्विरोधिनोरविनश्यदवस्थयोरेकत्रानुपपत्तेः । किञ्च संयोग प्रति प्रयोजिका युतसिद्धिः, न च विभुनोस्तत्सम्भवः । सा हि द्वयोरन्यतरस्य वा पृथग्गतिमात्रं गुताश्रयाश्रयित्वं वा ।

विनाशस्तु संयोगस्य समानाधिकरणाद्विभागादाश्रयनाशदपि क्वचिन् यथा तन्तुद्वयसंयोगानन्तरमेकस्य तन्तोरवयवस्यैर्जां कर्म जायते तेनाश्वन्तरा-

के माय दूसरा संयोग भी पार्थिव तथा जलीय द्वयणुको मे रूपादि कार्य के उत्पत्ति के समय मे ही उत्पन्न होता है, क्योंकि कारण तथा अकारण के संयोग से कार्य तथा अकार्य का संयोग अवश्य होता है ।

मूर्त द्रव्यो के साथ व्यापक आकाशादि द्रव्यो का संयोग एक मूर्त द्रव्यो की ही क्रिया से उत्पन्न होने के कारण (अन्यतर क्रियाजन्य) ही होता है । दो व्यापक द्रव्यो का संयोग नहीं होता, क्योंकि क्रिया होने का कारण न होने से व्यापक द्रव्य मे क्रिया नहीं होती, न तो व्यापक द्रव्य का कारण होता है, अतः कारण तथा अकारण के संयोग से उनमे कार्य तथा अकार्य का संयोग भी नहीं है ।

अप्राप्तिपूर्वक प्रदत्त के संयोग होने के कारण नित्य संयोग नहीं हो सकता, नित्य मानने से उक्त लक्षण का विघात (अनुपपत्ति) हो जायगी और नित्य संयोग के समान नित्य विभाग गुण भी मानना पड़ेगा । विरोधी तथा विनाशी अवस्था मे न रहनेवाले दो संयोग तथा विभाग गुणो का एक आधार द्रव्य मे रहना अयुक्त होने के कारण, विभाग भी नित्य मान लेंगे ऐसी इष्टापत्ति (मान लेना) भी असंगत है । और संयोग होने मे आधार द्रव्यो का युत (पुष्ट) सिद्धि (होना) भी कारण है, दो व्यापक द्रव्यो मे पुष्ट रहने का सम्भव ही नहीं है । क्योंकि नह दो द्रव्य अथवा दो मे से किसी एक द्रव्य में भिन्न गति का आधार होना अथवा भिन्न आधार द्रव्यो के आधय से रहना युतसिद्धि होती है ।

संयोग के आश्रय मे वर्तमान विभाग से संयोग गुण का नाश होता है, और वही संयोगाधारी द्रव्य के नाश से भी संयोग का नाश होता है, जैसे दो तन्तुओ के संयोग के पश्चात् एक तन्तु के अंशरूप अवयव से क्रिया उत्पन्न होती है, जिसे दूसरे अंश-

द्विभागः क्रियते विभागादारम्भकसयोगनाशस्तत्तन्तुविनाशस्तन्तुविनाशान
सयोगनाशो यत्र तन्तुद्वयं चिरं संयुक्तं सदेनुत्पन्नक्रियं भवति ।

चेचित्तु तन्त्रयवयवकर्मणा यदा तन्त्र्यारम्भकसंयोगनाश क्रियते तदा तन्त्रव-
न्तरे कर्मचिन्तनात् आश्रयनाशविभागाभ्यां युगपदुत्पन्नाभ्यां सयोगो नश्यती-
त्याहुः ।

तच्चानुपपन्न समवायिकारणनाशक्षणे विभागानुत्पत्ते समवायिकारणस्य
कार्यसमकालस्थायित्वनियमात् । स चायं सयोगो द्रव्यारम्भे निरपेक्षो, गुण-
कर्मारम्भे सापेक्षः, स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगी तथैवानुभवान् ।

एवं अवयव से विभाग किया जाता है, विभाग से तन्तु के आरम्भक संयोग का नाश
होता है, उसमें तन्तु का नाश होता है और तन्तु के नाश से संयोग नाश होता है
जहाँ पर दोनों तन्तु चिरकाल तक क्रिया को उत्पन्न न करते हुए आपस में मयुक्त
रहते हैं ।

तन्तु के अवयव की क्रिया से जब तन्तु के उत्पादक संयोग का नाश किया जाता
है तब दूसरे तन्तु में क्रिया मानने से आश्रय का नाश तथा विभाग दोनों से मिलकर
(जो एक ही समय में उत्पन्न हुए हैं) संयोग नष्ट होता है ऐसा कुछ दर्शनियों का
मत है । किन्तु समवायिकारण द्रव्य के नाश के क्षण में विभाग न हो सकने के कारण
यह मत अमंगल है, क्योंकि समवायिकारण कार्य के काल तक स्थिर होता है यह
नियम है । यह सह द्रव्य गुण तथा क्रिया का कारण संयोग द्रव्य को उत्पन्न करने
में किसी की अपेक्षा नहीं रखता और गुण तथा क्रिया को उत्पन्न करने में अपेक्षा
करता है (जैसे तन्तु संयोग द्रव्य पट के एक आत्मा तथा मन का संयोग बुद्धि आदि
गुणों के प्रयत्नवान् आत्मा का संयोग हस्तक्रिया का इत्यादि उदाहरण जानना) ।
इसी में शंकरमिश्र ने विशेष दिखाया है कि-द्रव्यारम्भ में निरपेक्ष होता है ऐसा ।
अर्थात् द्रव्य की उत्पत्ति में संयोग अपने आश्रय तथा निमित्त को छोड़कर दूसरे की
आवश्यकता नहीं रखता । नकि पश्चात् होने वाले दूसरे निमित्त की आवश्यकता
रखता है । अग्यथा स्वामरूप के नाश के उत्तरकाल में होनेवाले अन्तिम परमाणु
अन्तिमसंयोग पारक से उत्पन्न होनेवाले गुणों की उत्पन्न करने में निरपेक्ष कारण होने
सुनेगा ऐसी आपत्ति आ जायगी । गुण तथा कर्म को उत्पन्न करने में वह संयोग
सापेक्ष होता है इस शंकरमिश्र की उक्ति का स्वादि गुणों की उत्पत्ति में अन्तिसंयोग
उत्पत्ता की अपेक्षा रखता है, क्रिया की उत्पत्ति में भी भेदन तथा प्रतिघातसंयोग
उत्पन्नस्वर्त तथा वेग की अपेक्षा करते हैं यह आशय है । तथा यह संयोगगुण
अपने आश्रय में वर्तमान अपने अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होना है अर्थात्
अव्याप्य इति है क्योंकि अग्रभाग में वृक्ष कवि के संयोग का आश्रय है न कि

शाखामात्रावच्छेदेनापि महति न्यग्रोधतरौ वर्तमानः कपिसंयोगः “न्यग्रोधतरौ कपिसंयोगः” इत्यनुभवात् । अवच्छेदमात्रेणान्यथासिद्धौ परमाणुवृत्तिरापद्येत तथा च नोपलभ्येत । विभूनामप्युपाधिभेद एव प्रदेशस्तदवच्छेदेन वर्तमानस्य संयोगस्याव्याप्यवृत्तित्वं परमाणुनिष्ठस्यापि संयोगस्य दिगादयोऽवच्छेदकाच्चिन्तनीयाः ॥ ५ ॥

विभागे सयोगोत्पत्तिप्रकारमतिदिशन्नाह—

एतेन विभागो व्याख्यातः ॥ १० ॥

संयोगवद्विभागोऽप्यन्यतरकर्मज उभयकर्मजो विभागजश्च । श्येनकर्मणा स्थाणुश्येनाविभागः, संयुक्तयोर्मल्लयोर्मपयोर्वा कर्मभ्या तदुभयविभागः । स

मूलभाग से ऐसा अनुभव होता है । मूल तथा शाखा ही क्रम से संयोग तथा उसके अभाववाले वयो नहीं मानते इस बात पर शंकरमिश्र कहते हैं कि—केवल शाखारूप विशेषण से ही वटवृक्ष में वर्तमान कपिसंयोग को ‘न्यग्रोधतरौ’ वटवृक्ष में ‘कपिसंयोग’ बनार का संयोग है, ऐसा अनुभव होता है । यदि आप्रमाणरूप विशेषण ही को लेकर संयोग सिद्ध होता है तो वृक्ष में रहनेवाला संयोग तो अन्यथा सिद्ध होता है । ऐसी शंका करो तो शंकरमिश्र कहते हैं कि—विशेषणाभास से अन्यथामिद्धि मानें तो वह केवल परमाणुओं में होगा, ऐसा होने से उसका ग्रहण न होगा । (यदि ऐसा होने से परमाणु आदि में वर्तमान संयोग न बन सकेगा क्योंकि दशा आदि व्यापक द्रव्यों के प्रदेशरहित होने से उसके विशेषण नहीं होते । ऐसी शंका हो तो शंकरमिश्र कहते हैं कि)—व्यापक विद्या आदि द्रव्यों का भी उपाधि में ही प्रदेश होता है उस विशेषण से वर्तमान संयोग भी व्याप्य वृत्ति होता है, परमाणुओं में वर्तमान भी संयोग के दिशा आदि द्रव्य विशेषण (अवच्छेदक-व्यापक) होते हैं यह विचार कर लेना चाहिये ॥ ९ ॥

विभाग नामक गुण में भी संयोग गुण की उत्पत्ति के प्रकार का सूत्रकार अति-देश करते हैं—

पदपदार्थ—एतेन = इस (संयोग की उत्पत्ति वर्णन) से, विभागः अपि = विभाग गुण भी, व्याख्यातः = व्याख्या किया गया ॥ १० ॥

भावार्थ—संयोग के समान विभाग भी दो वे से एक की क्रिया से उत्पन्न—(१) दो द्रव्यों की क्रिया से उत्पन्न (२) तथा विभाग से उत्पन्न (३) ऐसा तीन प्रकार का जानना ॥ १० ॥

उपस्कार—संयोग के समान विभाग गुण भी अन्यतर क्रिया से उत्पन्न, दोनों की क्रिया से उत्पन्न तथा विभागजन्य ऐसा तीन प्रकार का होता है । जिनमे से प्रथम का श्येन (राज) की क्रिया से उत्पन्न वृक्ष तथा श्येनविभाग उदाहरण है तथा मिले २७ वीं

चायं कर्मोत्पत्त्यव्यवहितशून्योत्पत्तिक अपेक्षणीयान्तराभावात् । तदुक्तं—
 “संयोगविभागधोरनपेक्षकारण कर्म” इति । विभागे जननीये आश्रय,
 संयोगे च जननीये पूर्वसयोगनाशश्चापेक्षणीय इति चेन्न स्वोत्पत्त्यन्तरोत्पत्ति-
 कभाषभूतानपेक्षत्वस्य कर्मणो निरपेक्षत्वात् । विभागजस्तु विभागो द्विविधः
 कारणमात्रविभागजनारणाकारणविभागभेदात् कारणकारणविभागजनकार्या-
 कार्यविभागभेदाच्च । तत्र कारणमात्रविभागात् कारणकारणविभागो यथा-
 कपालद्वयविभागात् कपालाकाशविभागः । कारणकारणविभागात् कार्याकार्य-
 विभागो यथा—ऽङ्गुलीतरुविभागाद्वस्ततरुविभागस्ततः शरीरतरुविभाग इति ।

ननु विभाग एव न प्रमाण संयोगाभावे एव विभागव्यवहारमिति चेन्न
 संयोगाभावाऽत्यन्ताभावश्चेत् शुण्कर्मणोरपि विभागव्यवहारप्रसङ्गात् । द्रव्ययो-
 र्चर्त्तमानः संयोगात्यन्ताभावो विभक्तप्रत्ययहेतुरिति चेन्नावयवावयवचिनोरपि

हुए मल्ल (पहलवाम्) अथवा दो मिले हुए मेप (मेहों) की क्रिया से उत्पन्न
 उन दोनों मल्ल अथवा मेपों का विभाग द्वितीय का उदाहरण है । वह यह विभाग
 शुण् क्रिया की उत्पत्ति के व्यवधानरहित द्वितीय क्षण में उत्पन्न होता है, क्योंकि उसे
 दूसरे किसी की अपेक्षा नहीं करनी होती । यही कहा है—‘संयोगविभागधोरनपेक्षं
 कारण कर्म’ अर्थात् संयोग तथा विभाग दोनों को उत्पन्न करने में क्रिया अनपेक्ष-
 कारण होती है ऐसा । ‘विभाग को उत्पन्न करने में आधार द्रव्य तथा संयोग को
 उत्पन्न करने से पूर्वसंयोगनाश की ती क्रिया की अपेक्षा होती है’ ऐसी पूर्वपक्षी
 शका न करे, क्योंकि क्रिया की उत्पत्ति के पश्चात् उत्पन्न होनेवाले भावपदार्थ
 की अपेक्षा न करना यह कर्मपदार्थ में निरपेक्षता होती है (आधार द्रव्य पहिले
 ही उत्पन्न है, पूर्वसंयोग नाशभावरूप नहीं है घट दोष न होगा) । तृतीय
 विभागजन्य विभाग केवल कारण के विभाग से उत्पन्न, कारण, अकारण के विभाग
 तथा कारण और अकारण के विभाग से उत्पन्न कार्य और अकार्य का विभाग इन भेद
 से । उनमें से कारणमात्र के विभाग से होनेवाला कारण और अकारण का विभाग
 होता है, जैसे दो कपालों के विभागों से कपाल और आकाश का विभाग । अंगुली तथा
 वृक्ष के विभाग से हस्त तथा तरु का विभाग और उससे शरीर तथा वृक्ष का विभाग
 यह कारण तथा अकारण के विभाग से कार्य तथा अकार्य के विभाग का
 उदाहरण है ।

‘विभाग नामक गुण में ही कोई प्रमाण नहीं है, संयोग के अभाव में ही विभाग
 का व्यवहार मान लेंगे’ इस पूर्वपक्षी की शका के उत्तर में शंकरभिरु कहते
 हैं—ऐसा नहीं हो सकता यदि यह संयोग का अभाव उसका अत्यन्ताभाव लिया जाय
 तो गुण तथा कर्म में भी विभाग का व्यवहार होने लगेगा ; यदि दो प्रयोगों में
 वर्तमान संयोग के अत्यन्ताभाव को विभागज्ञान का कारण मानें तो यह भी नहीं
 हो सकता, क्योंकि ऐसा होने से अवयव तथा अवयवी इन दोनों में भी विभक्त

प्रसङ्गात् । अकार्यकारणभूतयोर्द्रव्ययोरिति चेत् विन्ध्यहिमवतोरपिस्यात् । भव-
त्येव तत्रेति चेन्न भ्रान्तस्य गुणकर्मणोरपि भावात् अभ्रान्तमधिकृत्य व्यवहार-
स्य चिन्त्यमानत्वात् । संयोगविनाशो विभाग इति चेत् एकतरसंयोगिनाशेन
नष्टे संयोगे तद्व्यवहारप्रसङ्गात् । संयोगिनोर्विद्यमानयोरिति चेत् एकसंयोगना-
शानन्तरं पुनः संयुक्तयोः कुवलामलकयोः संयोगदशायामपि विभक्तप्रत्ययप्रस-
ङ्गात् तत्र यावदर्थभावात् । तस्मादस्ति विभागोऽर्थान्तरम् ।

स च गुण' विरोधिगुणान्तरनाश' विरोधिन् समानाधिकरणं गुणमन्तरेण
सत्याश्रये गुणनाशानुपपत्तेः । कमव संयोगनाशकं स्यादिति चेन्न विरोधिगुणस्य
गुणनाशकत्वात् । किञ्च यत्राङ्गुलीहस्तभुजशरीराणां स्वस्वकर्मणा तरुसंयोगस्त-

व्यवहार होने लगेगा । कार्य तथा कारण से भिन्न दो द्रव्यों में वर्तमान संयोगात्य-
न्ताभाव को विभाग कहे, तो यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा मानने से
विन्ध्य तथा हिमालय पर्वत में भी कार्यकारण से भिन्न होने के कारण दोनों
पर्वतों का विभक्त हुए हैं ऐसा ज्ञान होने लगेगा । यदि कहो कि दोनों पर्वतों में
विभक्त हैं ऐसा ज्ञान होता ही है, तो धर्म से गुण तथा कार्य में भी विभक्त प्रत्यय
होता है (अर्थात् गुणकर्म के समान धर्म से ही विन्ध्य तथा हिमालय में विभक्त
प्रत्यय होता है) मात्र पुरुष को छोड़कर वास्तविक व्यवहार का ही विचार किया
जा रहा है । यदि संयोग का नाश विभाग होता है ऐसा कहो तो होने से किसी
एक संयोगी का नाश होने के कारण संयोग का नाश होने पर विभाग का व्यवहार
होने लगेगा । यदि विद्यमान दो संयोगियों का ऐसा कहो तो एक संयोग गुण के
नाश के पश्चात् पुनः परस्पर में संयुक्त कुवल तथा आमलक दोनों के संयोग की
भवस्था में भी ये दोनों विभाग हैं ऐसा व्यवहार होने लगेगा । क्योंकि उसमें 'भावत्'
जितने हुए वर्ण का अभाव है । इस कारण विभाग गुण भी एक अधिक गुणरूप
दूसरा पदार्थ है । (द्रव्य के असमवायिकारण में वर्तमान न होते हुए एकमात्र में
वर्तमान न रहनेवाली गुणत्व की साक्षात् व्याप्य विभागत्व जाति का आशय होना
ही विभागगुण से विभागत्व है । तथा संयोगत्व, दो मात्र में वर्तमान गुणत्व की
साक्षात् व्याप्य जाति से भिन्न है, जाति होने से घटत्व जाति के समान, इस अनु-
मान से भी विभागगुण में अर्थान्तरत्व सिद्ध होता है) ।

यह विभाग गुण विरोधी दूसरे संयोगरूप गुण से नष्ट होता है, क्योंकि
एक आश्रय में वर्तमान दूसरे विरोधी गुण के बिना आधार द्रव्य के रहते गुण
पदार्थ का नाश नहीं होता 'क्रिया ही संयोग की नाशक क्यों न मानें' ऐसा पूर्व-
पक्षी नहीं कह सकता । क्योंकि विरोधी गुण ही गुण का नाशक होता है । और
भी जहाँ अंगुली, हस्त, भुजा तथा शरीरों का अपनी-अपनी क्रिया से वृक्ष के साथ

अङ्गुलीमात्रे समुत्पन्नेन कर्मणाऽङ्गुलीतरुसंयोगनाशसम्भवेऽपि हस्ततरुभुजतरु-
शरीरतरुसंयोगनाशप्रसङ्गात् हस्तादीनामक्रियत्वात् अङ्गुलीकर्मणश्च व्यधि-
करणत्वात् । व्यधिकरणस्यापि कर्मणः संयोगनाशकत्वे क्वचिदभ्युत्पन्नौ न कर्मणा
गुणपदेन सर्वसंयोगनाशोपपत्तेः । त्यज्यते तत्र का गतिरिति चेत् अङ्गुलीतरुवि-
भागेन हस्ततरुविभागो जायते । हस्ततरुसंयोगनाशक इत्यभ्युपगमात् । 'व्यधि-
करणेनाङ्गुलीकर्मणैव हस्ततरुसंयोगनाशोऽस्तु, न चातिप्रसङ्ग आश्रयाश्रितपर-
म्परासंयोगस्यैव व्यधिकरणकर्मनाशत्वाभ्युपगमादिति' सर्वज्ञेन यदुक्तम्, तदपि
न युक्तं-विरोधिना समाधिकरणस्यैव सर्वत्र नाशकत्वानुभवात् बाधकमन्तरेण तत्प-
रित्यागानुपपत्तेः । शब्दविभागौ च विभागकार्यौ, तत्र विभागस्य शब्दासमवा-
यिकारणत्वमप्यामहे, न हि यदो पाठ्यमाने दले च चरणयन्त्रणावष्टब्धे दलान्तरे-
षोपरिकृत्यमाणे यः शब्दो जायते तत्र दलाकाशविभागादन्यदसमवायिकारणं

संयोग होता है वहा केवल अङ्गुली मात्र से उत्पन्न क्रिया से अङ्गुली तथा वृक्ष के
संयोग का नाश हो सकने से भी हस्त तथा वृक्ष, भुजा और वृक्ष एवं शरीर तथा
वृक्षों के संयोगों का नाश होवेगा, क्योंकि हस्तादियों में क्रिया नहीं है और अङ्गुली
की अपने आश्रय में न होने से व्यधिकरण है । यदि व्यधिकरण (समाताश्रय
नहीं) ऐसी अङ्गुलि की क्रिया को हस्तादिवृक्ष संयोगों का नाशक माना जाय तो
कही भी उत्पन्न हुई क्रिया से एक काल ही में सम्पूर्ण प्रवक्षित संयोगों का नाश होने
लगेगा । 'व्यधिकरण अङ्गुली की क्रिया से ही हस्त तथा वृक्ष को संयोग का नाश
होता है, आश्रय (हस्त) में आश्रित भुज से वर्तमान (भुजवृक्ष संयोग) ऐसे परम्परा
से संयोग ही का व्यधिकरण अङ्गुली की क्रिया से नाश होता है' । ऐसा मानने से
पूर्वोक्त अतिप्रसंग दोष भी न होगा, ऐसा जो आसर्वज्ञ विद्वान् का यहा मत है, वह
भी असंगत है—क्योंकि विरोधी एक आश्रय में वर्तमान ही सम्पूर्ण हमलों से नाशक
होता है ऐसा अनुभव होता है जिसरा बिना बाधक के त्याग नहीं किया जा सकता ।
(कार्य से कारण का अनुमान दिखाने हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—शब्द तथा
विभाग शब्द के कार्य होते हैं, उसमें विभाग शब्द का असमवायिकारण होता है
यह तो हम मान सकेंगे, क्योंकि वज्र (बास) को बीच में से फाटने के समय एक
दल (भाग) को चरण से निगमन (दबा रखने) में तथा दूसरे दल (भाग)
को उध्वदेश में लींचने के समय जो ध्वनि शब्द (आवाज) होती है उसमें
बास की दोनों दलों के बीच के आकाशप्रदेश के विभाग को छोड़कर दूसरा कोई
असमवायिकारण हमें नहीं दोखता और अरण्य में दावाग्नौ लीं जलकर फटने वाले
वेणु (बास) वृक्षों के चीत्कार (फटने की ध्वनि) में विभाग को छोड़कर

पश्यामः । न च देवदहनदह्यमानस्पृष्टद्वेषुचीत्कारे विभागातिरिक्तमसमवायि-
कारणं पश्यामः । कारणाकारणविभागाच्च कार्याकार्यविभागमनुमन्यामहे कथम-
न्यथा स्वस्वकर्मजनिताङ्गुलीतरुसंयोगहस्ततरुसंयोगभुजतरुसंयोगशरीरतरुसंयो-
गानामङ्गुलीमात्रोत्पन्नकर्मणाऽङ्गुलीतरुविभागे सति अङ्गुलीतरुसंयोगनाशे स-
त्यपि हस्ततरुसंयोगादीनां नाशः, तत्र हि विभागजविभागपरम्परैव तत्तत्सं-
योगनाशिकेत्युक्तत्वात् । कारणद्वयविभागपूर्वके तु कारणाकारणविभागे न
संप्रत्यय यतो वंशदले यदुत्पन्नं कर्म तेन दलान्तरविभागवदाकाशादिबि-
भागस्यापि जननसम्भवात् यावद्भि सयुक्तमासीत् तावद्भिस्तत्कर्मणा
विभागस्य दर्शनात्, न ह्यङ्गुल्यामुत्पन्नेन कर्मणाऽङ्गुल्यन्तरविभागवदाकाशा-
दिदेशेभ्योऽपि विभागः न जन्यन्ते कमलदले चोत्पन्नेन कर्मणा दलान्तरवि-
भागवदाकाशादिदेशेभ्यो वा न विभागा आरभ्यन्ते । द्रव्यारम्भकसंयोगावि-
रोधिनः शतमपि विभागानेकं कर्मारभता यत्तु कर्म द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिनं
विभागभारमते न तत् द्रव्यारम्भकसंयोगाविरोधिनमपि यच्च द्रव्यारम्भकसंयो-
गाविरोधिनं न तद् द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिनमिति ब्रूमः । कुत एतदिति चेत्
कार्यवैचित्र्येण कारणवैचित्र्यस्यावश्यकत्वात् । ननु कर्मणि वैचित्र्यमावश्यकं
तथाचैवं कर्म द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिनं विभागं जनयतु यथा विकसत्कमल-
कुड्मलादावपरञ्च द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिनमविरोधिनञ्चोभयमिति । मैवम्,

दूसरा कोई असमवायिकारण भी नहीं हमें मिलता) तथा कारण और अकारण के
विभाग से कार्य तथा अकार्य के पूर्वप्रदर्शित विभाग को भी हम मानते हैं, ऐसा
न हो तो अपनी-अपनी क्रिया से उत्पन्न अंगुली तथा वृक्ष का संयोग एव हस्त तथा
वृक्ष का संयोग, भुज और वृक्ष का संयोग तथा शरीर वृक्ष संयोगों का अंगुली
मात्र में उत्पन्न क्रिया से अंगुली तथा वृक्ष का विभाग होने पर अंगुली
तथा वृक्ष का संयोग नष्ट होने पर भी हस्त तथा वृक्ष आदि संयोगों का
नाश कैसे होता है, क्योंकि उसमें विभाग से उत्पन्न विभाग की पर-
परा ही उन संयोगों की नाशक होनी है ऐसा कहा है, । किन्तु दो कारणों के
विभाग से उत्पन्न होनेवाले कारण तथा अकारण के विभाग में विश्वास नहीं होता
क्योंकि पूर्वोक्त बंस (बांस) के एक हिस्से में उत्पन्न जो क्रिया उससे दूसरे दल
(भाग) के विभाग के समान आकाशादि प्रदेश से भी विभाग की उत्पत्ति हो सकती
है, क्योंकि जितनों के साथ संयोग था उतनों से उन क्रिया से विभाग होता है यह
देखने में आता है, क्योंकि अंगुली में उत्पन्न क्रिया से दूसरे अंगुलियों से विभाग के
समान आकाशादि प्रदेशों से भी विभाग उत्पन्न नहीं होते । यह नहीं होता, तथा
कमल के दल (पत्तों) में उत्पन्न क्रिया से दूसरे दल से विभाग के समान आकाशादि
प्रदेशों से विभाग नहीं होने यह भी नहीं होता । एक क्रिया द्रव्य के उत्पादक

कार्यविरोधो हि कारणवैचित्र्यकल्पनामूलं स च विरोधः एकस्य द्रव्यारम्भक-संयोगप्रतिद्वन्द्वित्वेन, अपरस्य तु तदप्रतिद्वन्द्वित्वेनेति तथैव वैचित्र्यस्यापि कल्पनोचित्यात् । तच्चेद्वंशदले वर्तमानं कर्म दलद्वयविभागमात्रं जनयति, स च विभागोऽमे आकाशादिदेशाद्विभागद्रव्यारम्भकसंयोगाप्रतिद्वन्द्वित्वं विभागमारभते, तस्य च निरपेक्षस्य विभागजनने कर्मत्वापत्तिरिति द्रव्यनाशविशिष्टं

संयोगों के विरोधी संयोगों विभागों को उत्पन्न करे, किन्तु जो क्रिया द्रव्य के उत्पादक संयोग के विरोधी अर्थात् द्रव्यनाशक विभाग को उत्पन्न करती है वह क्रिया द्रव्यारम्भक संयोग के न विरोध करनेवाले विभाग को भी उत्पन्न करती है, और जो द्रव्य के आरम्भक संयोग के विरोध न करनेवाले विभाग को उत्पन्न करती है, वह द्रव्य के उत्पादक संयोग के विरोधी विभाग को उत्पन्न नहीं करती है, ऐसा शकर-मिश्र कहते हैं । हमारा मत है, ऐसा क्यों ? इस प्रश्न के उत्तर में कार्य की विचि-न्नता से कारण की विचित्रता मानना आवश्यक है यह उत्तर है । वह आरम्भक संयोग विरोधी विभाग के जनक को उसके विरोधी केवल विभागमान की जनकता, कुछ उसके विरोधी केवल विभागमान की जनकता है । क्योंकि खिलनेवाली कमल की कली आदि में कमल द्रव्य के उत्पादक संयोग के अविरोधी विभाग की जनक क्रिया आरम्भक संयोग के विरोधी विभाग को उत्पन्न नहीं करती, नहीं तो खिलती हुई कमल की कली नष्ट हो जायगी यह आशय है । ऐसा होने से वंशदल की कृष्ण यदि वात द्रव्य के उत्पादक संयोग के विरोधी वंशदल तथा आकाशप्रदेश के विभाग को उत्पन्न करेगी, तो दोनों दलों के विभाग को उत्पन्न न करेगी, क्योंकि वह वात द्रव्य के उत्पादक संयोग की विरोधी है यह यहाँ आशय है । इस शकरमिश्र के मत पर—'कर्म में विचित्रता मानना आवश्यक है, ऐसा होने से एक कर्म द्रव्य के उत्पादक संयोग को उत्पन्न करे, जैसे खिलती हुई कमल की कली आदि में और दूसरा कर्म द्रव्य के उत्पादक संयोग के विरोधी, एवं अविरोधी दोनों विभागों को उत्पन्न करे' अर्थात् ऐसा होने में वैसा ही वैचित्र्य होगा । ऐसी यदि पूर्वपक्षी शका करे तो शकरमिश्र कहते हैं, ऐसा नहीं, क्योंकि कार्य का विरोध ही कारण के विचित्रमानने का मूल कारण होता है, और वह विरोध एक में द्रव्य के उत्पादक संयोग की विरोधिता से, और दूसरे में उसके अविरोधी संयोग की विरोधिता से इस कारण उसी प्रकार से वैचित्र्य मानना भी उचित है (ऐसा वैचित्र्य कल्पना करने पर भी विरुद्ध कार्य को उत्पन्न करना रूप विरोध नहीं होता यह समीपान का तात्पर्य है) । (आगे शकरमिश्र कहते हैं कि)—वह यह वंश-दल में क्रिया केवल दोनों वंशदलों के दोनों भागों के विभाग को उत्पन्न करती है, और यह विभाग अन्न में आवाशादि प्रदेश से विभाग को जो द्रव्य के उत्पादक

कालमपेक्षते । ननु तदानीमपि कर्मैव तज्जनयतु अतीतकालत्वात् विभागजनने कर्मण स्वोत्पत्त्यनन्तर एव कालः । नन्वेव विभागन जनिते विभागान्तरे कर्म प्रदेशान्तरसंयोगमपि न जनयेत्, न संयोगजननं प्रति कर्मणोऽनतीतकालत्वात् अन्यथा कर्म न नश्येदेव तस्योत्तरसंयोगमात्रनाशयत्वात् ।

मोऽयं विभाग उत्तरसंयोगनाशः क्षणत्रयस्थायो । क्वचिदाश्रयनाशनस्य, तद् यथा-तन्तोखयवेऽशौ कर्म तदनन्तरमंशुद्वयविभागतदैव तन्त्यन्तरे कर्म ततोऽंशुद्वयविभागेन तन्त्वारम्भकसंयोगनाशस्तन्तुकर्मणा च विभागात्ततो द्रव्या-
रम्भकसंयोगनाशात्तन्तुनाशस्तत्राग्राह्य तन्त्यन्तरकर्मजन्यविभागनाशः । नन्वेवं तन्त्यन्तरोत्पन्नस्य कर्मणो न नाशः स्याद्विनाशकाभावात् उत्तरसंयोगेन हि कालमपेक्षते । ननु तदानीमपि कर्मैव तज्जनयतु, अतीतकालत्वात् विभागजनने

संयोग का विरोधी नहीं है उत्पन्न करता है, यदि वह निरपेक्ष (किमी की अपेक्षा न करता हुआ) विभाग को उत्पन्न करे, तो वह पूर्वोक्त कर्म लक्षण घाने से कर्म हो जायगा इस कारणवत् द्रव्य के नाशवाले समय की अपेक्षा करता है । 'उत्त समय' भी क्रिया ही उस विभाग को उत्पन्न करे, इसमें क्या दोष है' ऐसी पूर्वपक्षी शंका नहीं कर सकता, क्योंकि क्रिया का अपने कार्य को करने का समय व्यतीत हो गया है, क्योंकि विभाग को उत्पन्न करने में क्रिया का अपनी उत्पत्ति का अग्रिम ही क्षण काल होता है । 'इस प्रकार से तो एक विभाग से दूसरे विभाग के उत्पन्न होने पर क्रिया दूसरे देश के साथ उत्तर संयोग को भी न करेगी' । ऐसी शंका नहीं हो सकता क्योंकि उत्तरदेश के साथ संयोग को उत्पन्न करने में क्रिया का काल व्यतीत नहीं हुआ है, अन्यथा ऐसा न हो तो क्रिया का नाश ही न होगा, क्योंकि वह क्रिया केवल उत्तरदेश के संयोग ही में नष्ट होती है ।

वह यह विभागगुण उत्तरसंयोग से नष्ट होता है तथा तीन क्षण तक स्थिर रहता है । कहीं-कहीं व्यापार द्रव्य के नाश से भी नष्ट होता है, वह ऐसा कि तन्तु के अवयव अंशु में क्रिया होती है, इसके पश्चात् दोनों अंशुरूप अवयवों में विभाग होता है, उनी समय दूसरे तन्तु में क्रिया उत्पन्न होती है, पश्चात् दोनों अंशुओं के विभाग में तन्तु का उत्पादक पुर्वसंयोग नष्ट होता है और दूसरे तन्तु की क्रिया से विभाग होता है, पश्चात् तंतु द्रव्य के उत्पादक संयोग के नाश से तन्तु द्रव्य का नाश होता है, और उसके नाश से ही दूसरे तन्तु में क्रिया से उत्पन्न विभाग का नाश हो जाता है । यदि ऐसा होने से दूसरे तन्तु में उत्पन्न क्रिया का नाश न होगा, क्योंकि उसका नाश करनेवाला ही नहीं है, उत्तरसंयोग से ही उसका नाश हो सकता है, और जब विभाग नष्ट हो हो गया तो उत्तरसंयोग कहा है? ऐसी शंका करो तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि तन्तु में जो क्रिया उत्पन्न हुई उससे जिस प्रकार विनाशवस्था में प्राप्त तन्तु का विभाग उत्पन्न हुआ इसी प्रकार उसके अंशु का विभाग

तन्नाशयेत्, विभागे च नष्टे नोत्तरसंयोग इति चेन्न तन्तौ यत् कर्मोत्पन्न तेन यथा चिन्त्यद्वयस्थतन्तोर्विभागो जनितस्तथा तदंशोरपि विभागो जननीयः सोऽप्यारम्भकसयोगाविरोध्येव तेनांशुत्तन्तुविभागेन तन्त्वाकाशविभागस्तेन चोत्तरसयोगस्तेनतत् कर्मनाशः। यद्वा यत्र तन्तौ यदा कर्म तदंशावपि तदैव कर्म तच्च कर्म विनश्यदवश्यतन्तुतदवयवाकाशादिदेशाद्युपभेदेव विभागानारभते सर्वेषां विभागानामारम्भकसयोगाविरोधित्वात्, तथा च कारणमंशुरकारणञ्चाकाशादि तद्विभागात् कार्यस्थ तन्तोरकार्येणाकाशादिना यो विभाग उत्पन्नस्तदन्तरोत्पत्तिकेन संयोगेन तन्तुसमवेतस्य कर्मणो विनाश इति। क्वचिद्वाभ्यां, तद् यथा-तन्तुवीरणयोः संयोगे सति तन्त्ववयवयोः कर्मवीरणे च कर्मोत्पेक काल, अशुक्र्यणाऽश्चन्तरविभागस्तेन च संयोगस्य तन्त्वारम्भकस्य विनाश वीरणकर्मणा च तन्तुवीरणविभागस्तन्तुवीरणसयोगनाशश्च तन्त्वारम्भकसयोगनाशश्च तन्त्वारम्भकसंयोगनाशानन्तरं तन्तुनाशस्तन्तुवीरणसंयोगनाशानन्तरं वीरणस्य प्रदेशान्तरसयोगस्ताभ्यामाश्रयनाशसंयोगाभ्यां विभागनाश ॥ १० ॥

उत्पन्न करेगा, और वह भी उत्पादक संयोग का विरोधी ही है, उसे अशु तथा तन्तु के विभाग से तन्तु का आकाश प्रदेश से विभाग होगा, और उससे उत्तरसंयोग होगा, और उससे क्रिया का नाश होगा। अथवा जिस तन्तु में जिस समय क्रिया होती है, उसके अशु में भी उसी समय क्रिया होती है, और वह क्रिया विनाशावस्था प्राप्त तन्तु उसके अवयव तथा आकाशादि प्रदेश से एक ही काल में विभागों को उत्पन्न करती है क्योंकि ये सम्पूर्ण विभाग द्रव्य के उत्पादसंयोग के विरोधी नहीं हैं, ऐसा होने से अशुरूप तन्तु द्रव्य का कारण तथा आकाशादिरूप अकारण इनके विभाग से तन्तुरूप कार्य तथा आकाशादि प्रदेशरूप अकार्य इनके साथ जो विभाग उत्पन्न हुआ, और उसके उत्तरक्षण में उत्पन्न संयोग से तन्तु द्रव्य में समवेत क्रिया का नाश होता है, इस प्रकार आश्रयनाश से विभागनाश की प्रक्रिया है।

कहीं-कहीं आश्रयनाश तथा उत्तरसंयोग इन दोनों से विभाग का नाश होता है, वह जैसे तन्तु तथा वीरण का संयोग होने पर तन्तु के अवयव अशु में तथा वीरण में भी एक ही काल में क्रिया होती है, पश्चात् अशु की क्रिया से दूसरे अंशु का विभाग होता है, और उससे तन्तु द्रव्य के उत्पादक पूर्वसंयोग का नाश तथा वीरण की क्रिया से तन्तु और वीरण का परस्पर विभाग और तन्तु तथा वीरण के पूर्वसंयोग का नाश और तन्तु द्रव्य के उत्पादक संयोग का नाश भी होता है, और तन्तु के उत्पादक संयोग के नाश के पश्चात् तन्तु द्रव्य का नाश होता है, और तन्तु तथा वीरण के संयोग के नाश के पश्चात् वीरण का दूसरे देश में संयोग होता है, इस प्रकार आश्रयनाश तथा उत्तरसंयोग दोनों से विभाग का नाश होता है ॥ १० ॥

ननु संयोगेऽपि संयोगोऽस्तुविभागेऽपि विभाग इति प्रसङ्गनिवारणार्थ-
माह—

सयोगविभागयो सयोगविभागामावोऽणुत्वमहत्त्वाभ्या
व्याख्यातः ॥ ११ ॥

यथाऽणुत्वमहत्त्वे नाणुत्वमहत्त्ववती तथा संयोगविभागो न संयोगविभा-
गवन्ती ॥ ११ ॥

कर्मभिः कर्माणि गुणैर्गुणा अणुत्वमहत्त्वाभ्यामिति ॥ १२ ॥

द्वितीयञ्च सूत्रं व्याख्यातमेव ॥ १२ ॥

ननु द्रव्ययोरवयवावयविनो संयोगं कथं नेत्यत आह—

‘संयोग में संयोग तथा विभाग में भी विभाग क्यों नहीं रहता’ इस पूर्वपक्षी
की आपत्ति के निवारणार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—संयोगविभागयो = संयोग तथा विभाग दोनों में, सयोगविभागा-
भाव = संयोग तथा विभाग का न रहना, अणुत्वमहत्त्वाभ्यां = अणु में अणु तथा महत्
में महत् परिमाण न रहने से, व्याख्यात = व्याख्या किया गया ॥ ११ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार अणुपरिमाण में दूसरा अणुपरिमाण और एक
महत्परिमाण में दूसरा महत्परिमाण नहीं रहता उसी प्रकार से संयोग तथा विभाग
में संयोग और विभाग नहीं रहते ॥ ११ ॥

उपस्कार—जिस प्रकार एक अणु तथा महत्परिमाण दूसरे अणु तथा महत्परि-
माण के आश्रय नहीं होते उसी प्रकार एक संयोग तथा विभाग दूसरे संयोग तथा
विभागगुणवाले नहीं होते ॥ ११ ॥

पदपदार्थ—कर्मभिः = कर्मपदार्थों से, कर्माणि कर्मपदार्थ, गुणैर्गुणा गुणों से गुण
पदार्थ, अणुत्वमहत्त्वाभ्यां = अणु तथा महत्परिमाणों से, इति = इस प्रकार व्याख्या
किये गये ॥ १२ ॥

भावार्थ—एक क्रिया में दूसरी क्रिया तथा एक गुण में दूसरे गुण नहीं रहते,
यह भी एक अणुपरिमाण में दूसरा अणुपरिमाण और एक महत्परिमाण में दूसरा
महत्परिमाण नहीं रहता, इससे व्याख्या किया जाता है ॥ १२ ॥

उपस्कार—इस दूसरे सूत्र की व्याख्या हो गयी है ॥ १२ ॥

‘अवयव तथा अवयविरूप दो द्रव्यों का संयोग सम्बन्ध कैसे नहीं होता’ इस शंका
के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

युतसिद्धयभावात् कार्यकारणयोः संयोगविभागौ न विद्येते ।

असम्बन्धोर्विद्यमानत्व युतसिद्धिः पृथगाश्रयाश्रितत्वं वा तदभावस्त्ववयवा-
वयविनोरित्यर्थः ॥ १३ ॥

इदानीं प्रसङ्गाच्छब्दार्थयोः साङ्केतिक सम्बन्धं साधयितुं प्ररूपणान्तरम्,
तत्र पूर्वपक्षमाह—

गुणत्वात् ॥ १४ ॥

संयोज्येति शेषः । तथाच गुणस्य शब्दस्य गुणः संयोगः कथं स्यात् अर्थेन
घटादिनेत्यर्थः ॥ १४ ॥

पदपदार्थः—युतसिद्धयभावात्=पुणक् सिद्ध न होने के कारण, कार्यकारणयोः
कार्यं तथा कारण दोनों का, संयोगविभागौ=संयोग तथा विभाग गुण दोनों,
न विद्येते=नहीं होते ॥ १३ ॥

भाषार्थः—अवयव तथा अवयवी दोनों में असम्बन्धों की विद्यमानता तथा
पुणक् आधार में आश्रित होना दोनों प्रकार की युतसिद्धि न होने के कारण संयोग
तथा विभाग अवयव और अवयवी के नहीं होते ॥ १३ ॥

उपस्कारः—सम्बन्धरहित दो पदार्थों की विद्यमानता को अथवा भिन्न आधार
में आश्रित होना युतसिद्धि होती है अवयव तथा अवयवी इन दोनों में उसका
अभाव है यह सूत्र का अर्थ है 'दो विभुद्रव्य सम्बन्धरहित होकर रहते हैं इस
कारण उनकी भी युतसिद्धि हो जायगी' इस शब्द के वारणार्थः 'द्वितीय पक्ष शंकर-
मिथ ने चर्चा दिखाया है पुणक् आश्रय में आश्रित होना । जो दोनों संयोगसम्बन्ध
से भिन्न आधार में रहते हैं वही दोनों युतसिद्ध होते हैं, संयोगसम्बन्ध से घट के
आश्रय से कपाल का आश्रय भिन्न नहीं होता । अतः घट और कपाल अयुतसिद्ध
हैं, यह यहाँ आशय है ॥ १३ ॥

प्रसङ्गसङ्गति से साप्रतः शब्द तथा अर्थ का परस्पर में साङ्केतिक (वाक्यवाच-
कताभावरूप शक्ति नामक सम्बन्ध सिद्ध करने के लिये दूसरी प्रकरण सूत्रवार प्रारम्भ
करते हैं । इसे पूर्वपक्ष कहते हैं—

पदपदार्थः—गुणत्वात्=संयोग के गुण होने से (शब्द का संयोगसम्बन्ध नसे
होगा) ॥ १४ ॥

भाषार्थः—घटादि पदार्थों के साथ घटादि शब्द का संयोग सम्बन्ध नहीं हो
सकता ॥ १४ ॥

उपस्कारः—सूत्र में आश्रित 'संयोगस्य' इस पद का शेष भाग जोड़ना ऐसा
होने से शब्दरूप गुण का संयोगसम्बन्धरूप गुण घटादि पद के अर्थ घटादिकों के
साथ यह पूर्वपक्ष सूत्र का अर्थ है ॥ १४ ॥

किञ्च विषयोऽपि कचिद्रूपरसादिलक्षणस्तेन संयोगो न सम्भवति गुणे गुणानङ्गीकारादित्याह—

गुणोऽपि विभाव्यते ॥ १५ ॥

गुणोऽपि विषय इति शेषः । गुणोऽपि रूपादि-शब्दस्य विषयो न तु तेन समं संयोग-सम्बन्ध इत्यर्थः ।

यद्वा गुणोऽपि शब्देन विभाव्यते प्रतिपाद्यते तेन च शब्दस्य न संयोग-सम्बन्ध इत्यर्थः ॥ १५ ॥

किञ्च कस्यचिदाकाशादेर्द्रव्यस्य नान्यतरकर्मजः संयोगो नोभयकर्मजः शब्दस्यापि निष्क्रियत्वादित्याह—

निष्क्रियत्वात् ॥ १६ ॥

शब्दस्य कस्यचिद्व्यस्य चेति शेषः ॥ १६ ॥

और कहीं-कहीं रूप-रस आदि रूप विषय भी पद का अर्थ होता है, गुण में गुणों के न मानने के कारण, उस रूपादि अर्थ के साथ रूपादि पद का संयोगसम्बन्ध नहीं हो सकता इस आशय से पूर्वपक्षी कहता है—

पदपदार्थ—गुण अपि = गुणरूप विषय भी, विभाव्यते = शब्द में कहा जाता है ॥ १५ ॥

भावार्थ—रूप रस आदि गुण भी रूपादि शब्दों से कहा जाता है, इस कारण गुण में गुणत मानने से रूपादि शब्दों का रूपादि विषयों के साथ संयोगसम्बन्ध नहीं हो सकता ॥ १५ ॥

उपस्कार—रूपादि गुण भी 'विषय' हैं ऐसा शेष सूत्र में पूर्ण करना । रूप रस आदि गुण पदार्थ भी रूपादि शब्द का विषय (वाच्य) होता है, किन्तु उसके साथ संयोगसम्बन्ध नहीं होता, यह सूत्र का अर्थ है । अथवा गुण भी शब्द से विभाव्यते अर्थात् प्रतिपादित किया जाता है, उससे भी शब्द का संयोगसम्बन्ध नहीं हो सकता, यह सूत्र का अर्थ है ॥ १५ ॥

और किसी आकाश आदि द्रव्य का अन्यतर (दो में से एक की) क्रिया से, तथा दोनों द्रव्यों की क्रिया से भी संयोग नहीं हो सकता क्योंकि शब्द भी क्रियारहित है । इस आशय से पूर्वपक्षी कहता है ॥ १६ ॥

पदपदार्थ—निष्क्रियत्वात्=शब्द के निष्क्रिय (क्रियारहित) होने से ॥ १६ ॥

भावार्थ—शब्द गुण के क्रियारहित होने से उभय क्रियाजन्य भी संयोग नहीं हो सकता ॥ १६ ॥

उपस्कार—सूत्र में 'किसी शब्दरूप अर्थ से' ऐसा शेष पूरण करना । (जिससे शब्द के क्रियारहित होने के उभय क्रियाजन्य संयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता, यह सूत्र का अर्थ जानना) ॥ १६ ॥

सम्बन्धे बाधकान्तरमाह—

असति नास्तीति च प्रयोगात् ॥ १७ ॥

असत्यापि घटपटादौ—नास्ति गेहे घट, नास्ति पटः, श्रुतपूर्वोपकारो नास्ति, अभूत् पटः, पटो भविष्यतीत्यादिप्रयोगदर्शनादित्यर्थः । तथाचासता घटादिना गृहद्वयं न संयोगो न वा समवाय इति भावः ॥ १७ ॥

किञ्चात इत्यत आह—

शब्दार्थविम्वन्धौ ॥ १८ ॥

शब्दार्थयोः संयोगश्चेन्नास्ति तदेतदायातं—शब्दार्थावसम्बन्धावेवेत्यर्थः ।

ननु संयोगसमवाययोरन्यतरसम्बन्धः कथं न स्यादित्यत आह—

शब्द तथा अर्थ में दूसरा सम्बन्ध होने से दूसरा बाधक पूर्वपक्षी कहता है—

पदपदार्थ—असति = पदार्थ के न रहने पर, नास्ति इति च = नहीं है ऐसा भी, प्रयोगात् = प्रयोग होने से (शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध नहीं है) ॥ १७ ॥

भावार्थ—‘घर में घट नहीं है’ इत्यादि रूप प्रयोग घटपदार्थ के न रहने पर भी देखा जाता है । अतः असत् घटादि पदार्थ के साथ घटादि शब्द का संयोग अथवा समवायसम्बन्ध नहीं हो सकता ॥ १७ ॥

उपस्कार—घटादि पदार्थ के न रहने पर भी—‘घर में घट नहीं है, पट नहीं है, पूर्व में सुनाया हुआ शब्द नहीं है, पट वा, पट होगा’ इत्यादि प्रयोगों के देखने से यह भयं है । ऐसा होने से असत् (अविद्यमान) घटादि पदार्थ के साथ शब्द का न संयोगसम्बन्ध हो सकता है, अथवा न समवायसम्बन्ध हो सकता है यह सूत्र का भाव है ॥ १७ ॥

यदि सिद्धान्ती प्रश्न करे ‘कि इससे प्रकृत में क्या हुआ’ तो पूर्वपक्षी कहता है—

पदपदार्थ—शब्दार्थो = शब्द तथा अर्थ दोनों, असम्बन्धौ = सम्बन्ध-रहित है ॥ १८ ॥

भावार्थ—जब उक्त प्रकार से शब्द तथा अर्थ का संयोग अथवा समवायसम्बन्ध नहीं हो सकता, अतः शब्द तथा अर्थ का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है ॥ १८ ॥

उपस्कार—जब शब्द तथा अर्थ दोनों का संयोगसम्बन्ध अथवा समवाय सम्बन्ध नहीं है, इससे यह आया कि शब्द, अर्थ तथा परस्पर सम्बन्धरहित नहीं है ॥ १८ ॥

‘संयोग तथा समवाय इन दोनों में से कोई एक शब्द तथा अर्थ का परस्पर में सम्बन्ध क्यों न होगा ऐसी सिद्धान्ती शंका करे तो पूर्वपक्षी कहता है—

संयोगिनो दण्डात् समवायिनो विशेषाच्च ॥ १९ ॥

दण्डी पुरुषः—हस्ती कुञ्जर—इति प्रत्ययौ स्तः, तत्र प्रथमः संयोगात्, द्वितीयः समवायात् हस्तेऽवयवविशेषे कुञ्जरस्य समवायाधीनः प्रत्ययः । हस्तः समवायितया यस्यास्ति स हस्तीति । विशेषादिति । विशेष एव हस्तादौ समवायसम्बन्धाद्विशेषणत्वं न तु तत्त्वादीनामपि तन्तुमान् पट इत्यादिरवयवविशेषणभावेन प्रत्ययो भवति, एवं घटशब्दवान् घटोऽर्थ इति प्रत्ययो न भवति, तथाच शब्दार्थयोर्न संयोगो नापि समवाय इति भावः ॥ १९ ॥

ननु यदि न संयोगो न वा समवायः शब्दार्थयोस्तर्हि केन सम्बन्धेन शब्दो नियतमर्थं प्रतिपादयतीत्यत आह—

सामयिक शब्दादर्थप्रत्ययः ॥ २० ॥

पदपदार्थ—संयोगिनः = संयोगसम्बन्धवाले, दण्डात् = दण्ड से, समवायिनः = समवायसम्बन्धवाले से, विशेषात् च = विशेष होने से भी ॥ १९ ॥

माध्याय—जिस प्रकार दण्डवाला पुरुष है, हस्त (सूडवाला) हाथी है ऐसा दोनों संयोग तथा समवायसम्बन्ध से क्रम से प्रतीति होती है इस प्रकार घट शब्दाश्रय घटरूप अर्थ है ऐसी प्रतीति नहीं होती । अतः शब्द तथा अर्थ का परस्पर संयोग अथवा समवायसम्बन्ध नहीं हो सकता ॥ १९ ॥

उपस्कार—दण्डपाता मनुष्य है—हस्ती (सूडवाला) कुंजर (हाथी) है । ऐसे दो प्रकार के जान होते हैं, उनमें प्रथम प्रयोग संयोगसम्बन्ध से और दूसरा प्रयोग समवायसम्बन्ध से प्रतीत होता है, क्योंकि हस्तनाम सूड नामक विशेष अवयव में हाथी के समवायसम्बन्ध के कारण होता है । हस्त (सूड) समवायि (समवेत) है जिससे वह हस्ती ऐसा कहाता है । सूत्र के 'विरोपात्' इस पद का यह अर्थ है कि हस्त (सूड) आदि अवयव विरोपादिकों में ही समवायसम्बन्ध से विशेषणता है, न कि तन्तु आदि अवयवों में भी, क्योंकि 'तन्तु वाला पट है' ऐसा अवयव को विशेषण मानकर ज्ञान नहीं होता, इसी प्रकार 'घट शब्दवाला घटरूप अर्थ है' ऐसा ज्ञान नहीं होता, ऐसा होने से शब्द तथा अर्थ का परस्पर न संयोगसम्बन्ध है, अथवा न समवायसम्बन्ध है यह सूत्र का आशय है ॥ १९ ॥

यदि 'शब्द तथा अर्थ का संयोग अथवा समवाय नामक सम्बन्ध नहीं है तो किस सम्बन्ध से शब्द अर्थ का प्रतिपादन करता है ।' इस शंका के उत्तर में मिद्धान्ती के पक्ष से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—सामयिकः = सङ्केत से होता है, शब्दात् = शब्द से, अर्थप्रत्ययः = अर्थ का ज्ञान ॥ २० ॥

सामयिक इति । समय ईश्वरसङ्केतः—अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इत्याकारः, य शब्दो यस्मिन्नर्थे भगवता सङ्केतितः स तमर्थं प्रतिपादयति, तथा च शब्दार्थयोरीश्वरेच्छेद्य सम्बन्धः स एव समयस्तदधीन इत्यर्थः । यथा ननुल-दष्टाग्रसृष्टा या काचिदोपधि- सा सर्वाऽपि सर्पविप हन्ति ।

स च समयः कचिन्व्यवहाराद् गृह्यते, यथा—प्रयोजकेन घट मानयंत्युक्ते प्रयोज्यस्य कम्बुप्रोवावन्तमर्थमानयतो ज्ञान तावद् नुमिनोति तदस्थो बाल—इयमस्य प्रवृत्तिर्ज्ञानजन्या प्रवृत्तित्वात् मत्प्रवृत्तिवत् । तच्च ज्ञानमेतद्वाक्यजन्यमेतदनन्तरभाषित्वात् । एतज्ज्ञानविषयोऽयं कम्बुप्रोवावानर्थो घट-पदवाच्य इत्यावापोद्घातप्रक्रियया बालस्य घटपटादावर्थे व्युत्पत्तिः ।

भावार्थः—इस शब्द से यह अर्थ जानना इस प्रकार ईश्वर की इच्छारूप संकेत (शक्ति) सम्बन्ध के अधीन शब्दों से अर्थ का ज्ञान होता है ॥ २० ॥

उपस्कारः—सूत्र में सामयिक इस पद से (इस शब्द से यह अर्थ जानना चाहिये) इस प्रकार के ईश्वर के संकेत को समय कहते हैं । जिस शब्द का जिस अर्थ में भगवान् ने सङ्केत किया है वह शब्द उस अर्थ का प्रतिपादन करता है, ऐसा होने से शब्द तथा अर्थ दोनों का ईश्वर की इच्छा ही सम्बन्ध है, वह यह समय ईश्वर के अधीन है यह सूत्र का अर्थ है । जिस प्रकार भुकल (नेठला) के दण्डा (डाढ़) के अग्रभाग से जिस किसी औपधि में स्पर्श हो वह संपूर्ण ही औपधि सर्पविप की नष्ट करती है और वह समय (सङ्केत) कहीं-कहीं बृद्धों के व्यवहार से गृहीत होता है जैसे आज्ञा करनेवाले ने 'घट को ले आओ' ऐसा कहने पर प्रयोज्य (आज्ञा करनेवाले) ने विषे कम्बुप्रोवा (शस्त्र के समान प्रोवा)वाले घट पदार्थ को ले आनेवाले पुरुष के घट ले आनेरूप ज्ञान को तदस्थ (उपासीन) वहाँ बैठा हुआ बालक इस पुरुष की घट ले आने की चेष्टारूप क्रिया, प्रवृत्ति से उत्पन्न है, चेष्टा होने से, भेरे दुग्धपात की चेष्टा के समान, इस प्रकार चेष्टा से प्रवृत्ति का अनुमान कर, वह इस पुरुष की घट ले आने की प्रवृत्ति, ज्ञान से उत्पन्न है प्रवृत्ति होने से, भेरे स्तनपात की प्रवृत्ति के समान । और वह ज्ञान है, 'इस घट को लाओ' इस वाक्य से उत्पन्न, क्योंकि इस वाक्य के पश्चात् हुआ है । इस ज्ञान का विषय कम्बुप्रोवावाला पदार्थ घट पद का वाक्य है ऐसा आवाप और उद्घात किया गौ की वाप दी और घट को ले आओ इस वाक्य में वर्तमान गौ तथा घट दोनों पदों का 'वापना तथा ले आना' इन दोनों दूसरी क्रियाओं के सम्बन्ध होना ही अपवाय तथा उद्घातक होते हैं । इस प्रक्रिया से बालक को घट पद की घटरूप अर्थ में व्युत्पत्ति (संवेतज्ञान) होता है । कहीं-कहीं साक्षात् प्राप्तपुरुष के वाक्य से भी संकेतज्ञान होता है, जैसे वह कम्बुप्रोवावाला घटरूप अर्थ घट पद का वाक्य (बोध्य) है । इस प्रकार वही-कहीं उपमान से संवेत-

कचिच्च साक्षादाप्तवाक्यादेव यथाऽयं कम्बुग्रीवावानर्यो घटपदवाच्य इति ।

कचिदुपमानात्, यथा-गोसदृशो गवयः, यथा मुद्गस्तथा मुद्गपर्णी, यथा मापस्तथा मापपर्णीत्यादि साधर्म्योपमानात् । कचिन्निन्दाकारादपि वाक्यात्, यथा-धिक् करभमतिलम्बौष्ठं दीर्घग्रीव कठोरकण्ठकाशिनमपसद पशूनामिति निन्दावाक्यश्रवणानन्तरं तादृशपिण्डमुपलभ्यायमसौ करभ इति व्युत्पत्तिः ।

कचित् प्रसिद्धपदसामानाधिकरण्यात्, यथा-प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिवतीति वाक्यश्रवणानन्तरं भवत्ययमसौ मधुकरपदवाच्यः प्रभिन्न-कमलोदरे मधुपानकर्तृत्वात्, यथा वा सहकारतरौ मधुरं पिको रीतीति ।

ज्ञान होता है, जैसे गौ के समान गवय होता है, जैसे मृग होता है वैसे मुद्गपर्णी नाम की ग्रीवधी होती है, जैसे माप (उडदी) होती है वैसे मापपर्णी ग्रीवधी होती है इत्यादि समानधर्म की उपमा से संकेतज्ञान होता है । कहीं-कहीं निंदा रूप विरुद्धधर्म-वाले वाक्य से भी संकेतज्ञान होता है, 'जैसे बहुत लम्बे छोटवाले, लधी गदग-वाले, कड़े काटो को खानेवाले पशुओं में नीच करभ (ऊट) को भिक्कार है' ऐसे निंदा वाक्य सुनने के पश्चात् उस ऊट शरीर को देखकर यह करभ (ऊट) कहा जाता है, इस प्रकार शब्दार्थ संकेतग्रहण होता है । कहीं-कहीं प्रसिद्ध पद के सामानाधिकरण्य एक अधिकरण में बोध होने से भी शक्ति ज्ञान होता है, जैसे विकसित कमल के भीतर मधु (रस) मधुकर (भ्रमर) पीता है ऐसा वाक्य सुनने के पश्चात् यही वह मधुकर शब्द का वाच्य है, विकसित कमल के मध्य में रसपानकर्ता होने से, अथवा सहकार आन्न वृक्ष पर मधुर (भीठेस्वर से) पिक (कोपल) आवाज करता है । इन वाक्यों में कमल से मधुपान करना तथा आन्न वृक्ष पर मधुर शब्द करना इन प्रतिष्ठ पदों के साथ होने के कारण मधुकर तथा पिक शब्द के भ्रमर तथा कोकिलरूप धर्म में संकेतग्रहण होता है । किन्तु यह नैयायिक मत में अनुमानप्रमाण अथवा कुछ नैयायिकों के मत से उपमानविशेष, तथा प्राचीन नैयायिकों से मत में शब्द नामक प्रमाण ही प्रसिद्ध पद के सामानाधिकरण्य के सामर्थ्य से शब्द के शक्ति का ग्राहक होता है, अथवा उपमानविशेष प्रमाण भी हो सकता है, क्योंकि मधुपान की कर्तृता का भ्रमर आदि दूसरे व्यक्ति के समान धर्म से उपमेय (उपमा) से ग्रहण होता है ।

वह यह शब्द का संकेतरूप समय का ग्रहण केवल व्यक्तियों में वर्तमान जाति-मान में ही होता है, अर्थात् शब्द की शक्ति केवल जाति में ही है, जाति के आधार पर व्यक्ति का ज्ञान आक्षेप (लक्षणा) से होता है, ऐसा तौतात्तिक (मट्ट) नामक मीमांसकों का मत है । उनके मत में गौ से आञ्जो, इत्यादि वाक्य से गोत्वादि जाति

तदेतदनुमान वा शब्द एव वा प्रसिद्धपदसामानाधिकरण्यसामर्थ्याद्व्युत्पादक, नपमानविशेष एव वा, मधुपानकर्तृत्वस्य भ्रमरादिव्यक्त्यन्तरसाधर्म्य-स्योपनयान् ।

समयश्च जातिमात्रे, व्यक्तेराक्षेपत एवोपस्थितेरिति तौतातिका ।

(१ जातौ व्यक्तौ चोभय (त्र) अक्ति किन्तु जात्यंशे ज्ञाता व्यक्त्यंशे स्वरूपसत्तौ प्रयोजिकेति प्राभाकरा ।

समय' अक्तिरेव 'व्यक्त्याकृतिजातय. पदार्थ. (अ०२आ०२न्या०सू०६३) इति' प्रस्ता । गवादिपदानामियं गतिः, गुणकर्मादिवाचकपदानान्तु^३ जातिव्यक्ती एवार्थ इति मयूखे विपश्चितम् ॥ २० ॥

इदानीमुद्देशक्रमप्रामे परत्वापरत्वे परस्परानुबन्धव्यवहारकारणतया शिष्यबुद्धिवैशद्यार्थं संक्षेपार्थञ्चैकग्रन्थेनाह—

विषयक आनयनादि त्रिधा वः शब्दज्ञान होता है, क्योंकि गोत्वादि जाति में ही शब्दशक्ति का ज्ञान गोत्वादि जाति में शब्दबोध में ही कारण है, क्योंकि सुपु आदि विभक्ति की कर्मता आदि शब्दज्ञान में स्वाश्रय वृत्तिसम्बन्ध से ही गोरूप प्रकृति के अर्थ की आकाशा है । व्यक्ति का ज्ञान तो कक्षणा से ही उत्तरकाळ में होता है । कर्मता गौ से रहती है, गोत्व में वर्तमान कर्मता होने से । आनयन (ले आना) गो व्यक्ति में वर्तमान कर्मतावाला है, गोत्व में वर्तमान कर्मता होने से ऐसा अनुमान भी इसमें प्रमाण है) ।

जाति तथा व्यक्ति दोनों में शब्द की शक्ति है, किन्तु जाति में शक्तिज्ञान होता आवश्यक है, व्यक्ति में स्वरूप से वर्तमान ही शक्ति व्यक्ति का बोध कराती है ऐसा प्राभाकर भीमासकों का मत है । अर्थात् गोत्वादि रूप जाति में गौ पद की शक्ति है ऐसा ज्ञान गो पद से गोरवरूप जाति का ज्ञान विशेष्यरूप से उक्त शब्दबोध में समवायसम्बन्ध से गोत्व अथवा तादात्म्य सम्बन्ध से गौ नियामक होती है ऐसा उनका आशय है) ।

समय (सङ्केत) का अर्थ शक्ति वह व्यक्ति, आकार तथा जाति दोनों में है, क्योंकि 'व्यक्त्याकृति जातय. पदार्थ, व्यक्ति, आकार, जाति ये हीनो पद के अर्थ होते हैं (अ २ आ २ सू ६३) न्यायसूत्र में प्राचीन नैयायिकों ने कहा है । किन्तु गो इत्यादि पदों में उक्त व्यवस्था है । गुण तथा कार्यवाचक पदों में जाति तथा व्यक्ति ही पद के अर्थ होते हैं ऐसा हमने मयूख ग्रन्थ में स्पष्ट विस्तार किया है । क्योंकि गुणादिकों का आकार नहीं होता ॥ २० ॥

साप्रत उद्देशक्रम से प्राप्त परत्व तथा अपरत्व दोनों गुणों का परस्पर सम्बन्ध से व्यवहार के कारण होने हैं शिष्यों की बुद्धि में स्पष्ट प्रतीति होने के लिये तथा संक्षेप में वर्णन करने के लिये एक ही सूत्र में सूत्रकार दोनों का वर्णन करते हैं—

एकदिक्काम्यामेककालाभ्या सन्निकृष्टविप्रकृष्टाभ्या परमपरश्च ॥२१॥

परमपरञ्चेति भावप्रधानो निर्देशः । उत्पद्यत इति शेषः । यद्वा परमपर-
ञ्चेति व्यवहार इति शेषः । इतिरप्याहार्थम् । एका दिग् ययोस्तावेकदिक्कौ,
ताभ्यामेकदिक्काम्या पिण्डाभ्यामित्यर्थः । तुल्यदेशावप्येकदिक्कौ भवतः न तु
ताभ्यां परत्वापरत्वे उत्पद्येते व्यवहियेते वेत्यत उक्तं सन्निकृष्टविप्रकृष्टाभ्यामिति ।
सन्निकर्षः संयुक्तसंयोगाल्पत्वम्, विप्रकर्षस्तद्भूयस्त्वम्, तद्वद्भ्यामित्यर्थः ।
यत्नेन समवायिकारणमुक्तम् । दिक्पिण्डसंयोगस्त्वसमवायिकारणम्, तथा
हि प्राङ्मुखस्य पुरुषस्य प्राच्यवस्थितयोः पिण्डयोरेकस्मिन् संयुक्तसंयोगभूयस्त्व-
मपरस्मिन् संयुक्तसंयोगाल्पतरत्वञ्चापेक्ष्य परत्वमपरत्वञ्चोत्पद्यते, (असमवा-

पदपदार्थ—एक दिक्काम्या=एक दिशा मे रहनेवाले, एककालाभ्या=एक काल
मे रहने वाले, सन्निकृष्टविप्रकृष्टाभ्या = सन्निहित तथा दूरस्थ, दोनो द्रव्यो से, परत्वं=
परत्व गुण, मपरत्व च =और अपरत्व गुण भी उत्पन्न होता है ॥ २१ ॥

भावार्थ—एक दिशा मे वर्तमान तथा एक ही समय में वर्तमान, जो क्षण और
काल से सन्निहित तथा दूर में वर्तमान हो, ऐसे दो द्रव्यो में क्रम से दैशिक तथा
कालिक परत्व (दूरता) तथा ज्येष्ठता रूप अपरत्व, एवं सन्निहित होगा तथा कनि-
ष्ठता रूप दैशिक एवं कालिक अपरत्व गुण उत्पन्न होते हैं ॥ २१ ॥

उपस्कार—सूत्र मे परं तथा अपरं यह दोनो उनके घर्मों के लिये सूत्रकार ने
कहे हैं, जिनमे परत्व तथा अपरत्व उत्पन्न होते हैं—ऐसा आकाशित पद का शेष
कर भर्ष करना । अथवा पर तथा अपर इत्याकारक व्यवहार होता है ऐसा शेष
करना और 'इति' इस प्रकार इस पद का अध्याहार करना । एक ही दिशा जिन दो
पिण्ड (द्रव्यो) की वे एक दिशा वाले, उन एक दिशा मे वर्तमान दो पिण्डो (द्रव्यो)
से यह एकदिक्काम्या शब्दका अर्थ है । समानदेशवाले भी एक दिशामे वर्तमान होते हैं,
किन्तु उन दोनो मे पर तथा अपर ऐसे दो ज्ञान उत्पन्न होते या उन दोनो मे दूर
है । पास है । यह व्यवहार नहीं होता, इसलिये सूत्रकार ने 'सन्निकृष्टविप्रकृष्टाभ्या'
सन्निहित तथा दूर रहने वाले ऐसा विशेषण दिया है । उनमे संयुक्त संयोग सम्बन्ध
की अल्पता (कम होना) तथा उसकी अधिकता यह दोनो क्रम से सन्निहित होना,
तथा विप्रकर्ष (दूर होना) अर्थ है । इन दोनो वाले पिण्डों (द्रव्यो) से यह भर्ष है ।
इससे पिण्ड (द्रव्य) समवायिकारण दैशिक परत्व तथा अपरत्व गुणरूप कार्यका
कहा गया और दिशा तथा पिण्ड का संयोग असमवायिकारण कहा गया ।
क्योंकि पूर्व दिशा के सम्मुख मुखवाले मनुष्य को पूर्व दिशा मे वर्तमान दो पिण्डो
(द्रव्यो) मे से एकमें संयुक्तसंयोगरूप सम्बन्ध की अधिकता, और दूसरे मे संयुक्त
संयोग सम्बन्ध की अत्यन्त अल्पता (न्यूनता) की अपेक्षा कर कम से परत्व (दूरता)

विकारणमुक्तम्) । सन्निकृष्टविप्रकृष्टाभ्यामिति, - विषयेण विषयिण प्रत्ययमु-
पलक्षयति । तथा चापेक्षाबुद्धेर्निमित्तकारणत्वमुक्तम् । एकदिगवस्थितयोरेव
परत्वापरत्वे उत्पद्येते इति न सर्वत्रोत्पत्तिः । एकस्यैव द्रष्टुरपेक्षाबुद्धिः समु-
त्पद्यते इति न सर्वत्रोत्पत्तिः । अपेक्षाबुद्धिनियमात्र सर्वदोत्पत्तिः । कारणशक्ते-
रुत्पन्नयोः प्रत्यक्षसिद्धत्वाच्च परस्पराश्रयत्वम्, अन्यथा हि नोत्पद्येयाता न वा
प्रतीयेयातां, परस्परापेक्षायां हि द्वयोन्युत्पत्तिरप्रतीतिश्च स्थान्, प्रतीयेते च
परत्वापत्त्वे, प्रतीतिश्च तयोर्नोत्पत्तिमन्तरेणैति ।

एककालाभ्यामिति, - कालिकपरत्वापरत्वे अभिप्रेत्य । तत्रैककालाभ्यामिति, -
एकौ वर्तमान कालो ययोर्युवस्थविरपिण्डयो तावेककाली ताभ्यामेककालाभ्या-
मित्यर्थः । सन्निकर्षोऽल्पतरतपनपरिस्पन्दान्नरिसज्जन्मत्यम् । अत्रापि विषयेण

तथा अपरत्व (समीपता) उत्पन्न होते हैं, (इससे असमवायिकारण कहा गया)
और सूत्र के 'सन्निकृष्ट-विप्रकृष्टाभ्या' इस पद से सन्निहितता तथा दूरत्वना रूप
विषय हैं उनका विषयी ज्ञान सूचित होता है, ऐसा होने से अपेक्षाबुद्धि निमित्त
कारण है यह कहा गया है । एक ही दिशा में वर्तमान दो पिण्डों में उक्त परत्व
तथा अपरत्व गुण उत्पन्न होते हैं, इस कारण सर्व पिण्डों में उनकी उत्पत्ति
नहीं हो सकती । और एक ही देखनेवाले को समीप हैं दूर हैं— यह बुद्धि उत्पन्न
होती है, अतः संबंध उत्पत्ति नहीं हो सकती । तथा अपेक्षाबुद्धि का नियम होनेसे
सर्व समय परत्वा-परत्व गुण उत्पन्न न होंगे । (पूर्वोक्त) अपने-अपने कारण की शक्ति
से उत्पन्न होने के कारण अर्थात् अपने-अपने कारणों के अन्वय तथा व्यतिरेक से
परत्व तथा अपरत्व की उत्पत्ति होने में दोनों की उत्पत्ति होती है—यह प्रत्यक्ष
प्रमाण से सिद्ध होने से परत्व तथा अपरत्व इन दोनों में परस्पर को आश्रय करते
हैं—यह दोष न होगा । अन्यथा ऐसा न हो तो न परत्व की उत्पत्ति होगी न प्रतीति
होगी, यदि परत्व अपरत्व की, अपरत्व परत्व की परस्पर में अपेक्षा करेंगे तो दोनों
की उत्पत्ति एवं प्रतीति नहीं होगी, और प्रतीति तो परत्व तथा अपरत्व की होती है,
और उत्पत्ति के बिना उन दोनों की प्रतीति नहीं हो सकती । 'एककालाभ्या'
एक काल के यह सूत्र का पद कालिक परत्व तथा अपरत्व के अभिप्राय से
है । उसमें 'एककालाभ्या' एक काल ■ इस पद का एक वर्तमान काल
जिन दोनों युवा (तृष्ण) तथा स्थविर (वृद्ध) पिण्ड शरीरों का हो वे दोनों एक
काल के उन दोनों एक काल वाले शरीरों से यह अर्थ है । अति अल्प पूर्ण क्रिया
के अन्तर्गत (मध्यवर्ति) जन्म होना यह सन्निकर्ष शब्द का अर्थ है । यहां भी इस
सन्निकर्ष विषय से उस विषय का ज्ञान सूचित होता है । इससे युवा तथा वृद्ध के
शरीर समवायि कारण हैं काल तथा पिण्ड-शरीर का संयोग असमवायिकारण

विपरिणीं बुद्धिमुपलक्षयति, तेन युवस्थविरपिण्डौ समवायिकारणे, कालपिण्ड-संयोगश्चासमवायिकारणम्, अल्पतरतपनपरिस्पन्दान्तरितजन्मत्वबुद्धिरपरत्वे बहुतरतपनपरिस्पन्दान्तरितजन्मत्वबुद्धिः परत्वे निमित्तकारणम् । एते च परत्वा-परत्वे अनियतदिग्देशयोरपि पिण्डयोरुत्पद्येते ।

तत्र दैशिकपरत्वापरत्वयोः समघा विनाशः । उत्पादस्तु युगपदेव द्वयोर-न्यथाऽन्योन्याश्रयः स्यात् । अपेक्षाबुद्धिनाशात् १, संयोगस्यासमवायिकारणस्य नाशान् २, द्रव्यस्य च समवायिकारणस्य नाशात् ३, निमित्तासमवायिकार-णयोर्नाशान् ४, निमित्तसमवायिकारणयोर्नाशान् ५, समवाय्यसमवायिकारण-योर्नाशान् ६, निमित्तनाशसमवायिकारणनाशसमवायिकारणनाशेभ्यः ७ ।

तत्रापेक्षाबुद्धिनाशात् तावत्-परत्वोत्पत्तिः परत्वसामान्यज्ञानं ततोऽपेक्षा-बुद्धिविनाशस्तद्विनाशान् परत्वविशिष्टद्रव्यज्ञानकाले परत्वनाशः, द्वित्वनाशव-देव सर्वमूहनीयम् ।

असमवायिकारणनाशादपि, तद् यथा-यदेवापेक्षाबुद्धिस्तदैव परत्वाधारे

होता है, अति-न्यून सूर्याग्नि्या के मध्यवर्ति जन्म होने का ज्ञान अपरत्व (कनिष्ठ) बुद्धि में निमित्त कारण है तथा अति अधिक सूर्य क्रिया के मध्यवर्ति काल में जन्म होना-यह ज्ञान परत्व (ज्येष्ठ) बुद्धि में निमित्त कारण है । यह दोनों कालिक परत्व तथा अपरत्व ज्ञान अर्थात् ज्येष्ठ कनिष्ठ अवस्था का ज्ञान अनियत विद्या देश में रहने वाले भी युवा तथा वृद्ध पुरुष के शरीर में उत्पन्न होते हैं ।

उभयमें दैशिक परत्व तथा अपरत्व दो गुणों का नाश सात प्रकार से होता है । किन्तु उत्पत्ति दोनों की एक ही समय में होती है, अन्यथा अन्योन्याधम दोष हो जायगा । सात प्रकार के नाश इस प्रकार हैं—(१) केवल अपेक्षाबुद्धि के नाश से, (२) संयोग रूप असमवायि कारण के नाश से, (३) समवायि कारण रूप द्रव्य के नाश से, (४) निमित्त तथा असमवायिकारण दोनों के नाश से, (५) निमित्त तथा समवायिकारण दोनों के नाश से, (६) समवायि, तथा असमवायिकारण दोनों के नाश से (७) निमित्त, समवायि, तथा असमवायि कारण तीनों के नाश से परत्व तथा अपरत्व का नाश ।

उभयमें से अपेक्षाबुद्धि के नाश से परत्व का नाश इस प्रकार होता है—परत्व गुण की उत्पत्ति परत्व सामान्य का ज्ञान, पश्चात् अपेक्षाबुद्धि का नाश और विनाश से परत्व गुण युक्त द्रव्य ज्ञान के समय में परत्व गुण का नाश, द्वित्वसम्बन्ध का नाश के समान और सब प्रक्रिया जानना ।

असमवायि कारण के नाश से भी परत्व का नाश इस प्रकार होता है—जैसे किसी समय अपेक्षाबुद्धि होती है उसी समय परत्व गुण के व्याख्य पिण्ड (द्रव्य) में क्रिया

पिण्डे कर्म । ततो यदैव परत्वोत्पत्तिस्तदैव दिक्पिण्डविभागस्ततो यदा परत्वसामान्यज्ञानं तदा दिक्पिण्डसंयोगनाशः । ततः सामान्यज्ञानादपेक्षाबुद्धिनाशस्तदैव दिक्पिण्डसंयोगनाशात् परत्वापरत्वयोर्नाशः । तत्र चापेक्षबुद्धिनाशस्य परत्वनाशसमकालत्वान्न तन्नाशकत्वम् । नन्वसमवायिकारणानाशादापि गुणनाशे आत्मजन संयोगनाशादपि सत्कारादृष्टादीनां विनाशे बहु व्याकुलं स्यादिति चेन्न, विप्रकृष्टत्वेन परत्वस्य व्यापनात् परत्वाधारस्यान्यत्र गमने विप्रकर्षाभावात्, परत्यनिवृत्तिरावश्यकी । न च तदा नाशकान्तरमस्तीत्यन्यथाऽनुपपत्त्या संयोगनाश एव नाशकः फल्यते, सत्कारादृष्टादे कार्यस्य स्मृतिसुखादेश्विरेणापि दर्शनान्न तन्नाशकल्पना । उपलक्षणञ्चैतत् अवधेर्द्रष्टुश्च तद्देशसंयोगनाशादापि परत्वापरत्वे विनश्यतः, युक्तेस्तुल्यत्वात् ।

समवायिकारणनाशादापि कश्चित् परत्वनाशः । तथाहि—यदा पिण्डाद्ययवे समुत्पन्नेन कर्मणाऽवयवान्तराद्विभागस्तदैवापेक्षाबुद्धिः, विभागात् पिण्डारम्भ-

होकर जिसी समय परत्व गुण की उत्पत्ति होती है उसी समय दिशा तथा पिण्ड का परस्पर विभाग होता है, इसके पश्चात् जिस काल में परत्व जाति का ज्ञान होना है उस समय दिशा और द्रव्य का संयोग नष्ट होता है । पश्चात् उक्त सामान्य ज्ञान से अपेक्षाबुद्धि का नाश जिस समय होता है उसी समय दिशा तथा द्रव्य के संयोग के नाश से परत्व तथा अपरत्व गुणों का नाश होता है । उसमें अपेक्षाबुद्धि का नाश परत्व गुण के नाश के काल में होने से परत्व तथा अपरत्व का नाशक नहीं हो सकता । असमवायि कारण के नाश से भी गुण का नाश हो तो आत्मा तथा मन के संयोग के नाश से भी भावना सत्कार तथा अदृष्टादिकों का नाश होने से बहुत ही गड़बड़ अव्यवस्था हो जायगी, अर्थात् प्राणी की मृत्यु हो जायगी, ऐसी पूर्वपक्षी शका नहीं कर सकता, क्योंकि विप्रकर्ष (दूरता) से परत्व की व्याप्ति है । यदि परत्वाश्रय द्रव्य दूसरे स्थान में गमन करे तो विप्रकर्ष (दूरता) न रहने से परत्व की निवृत्ति होना आवश्यक है । और उस समय उसका दूसरा कोई नाश करने वाला नहीं है । इस कारण नाश के न बन सकने से संयोग का नाश ही नाशक है यह कल्पना की जाती है, और भावना सत्कार तथा अदृष्टादिकों के स्मरण तथा सुख दुःख आदि कार्य तो विलम्ब से वासान्तर में देखने में आते हैं । अतः उनका नाश न होने के कारण प्राणी पर मृत्यु नहीं हो सकेगा ।

तीसरा—कहीं केवल समवायि कारण द्रव्य के नाश से भी परत्व का नाश होता है, वह इस प्रकार कि—जिस समय पिण्ड (द्रव्य) के अवयव में उत्पन्न भई क्रिया से दूसरे अवयव से विभाग होता है, उसी समय अपेक्षा बुद्धि होती है, विभाग से उस द्रव्य को उत्पादक पूर्व संयोग का नाश, तथा परत्व गुणकी उत्पत्ति

कसंयोगनाशः परत्वोत्पत्तिः, अग्रिमक्षणे संयोगनाशाद् द्रव्यनाशः परत्व-
सामान्यज्ञानं, द्रव्यनाशात् परत्वनाशोऽपेक्षाबुद्धिनाशश्च सामान्यज्ञानात् ।
तथा च योगपद्यान्नापेक्षाबुद्धिनाशात् परत्वनाश इति ।

कचिद् द्रव्यनाशापेक्षाबुद्धिनाशाभ्यां परत्वनाशः । तद्यथा—पिण्डावयवे
कर्मापेक्षाबुद्धेरुत्पादस्ततोऽवयवान्तरविभागः परत्वोत्पत्तिश्च, तत आरम्भ-
वसंयोगनाशसामान्यज्ञाने ततो द्रव्यनाशापेक्षाबुद्धिनाशो ततश्च परत्व-
नाशः ।

कचिद् द्रव्यस्य संयोगस्य च नाशाभ्यां परत्वनाशः, तद् यथा यदा द्रव्या-
वयवविभागस्तदैव पिण्डकर्मापेक्षाबुद्धयोर्मुत्पादस्तदनन्तरमवयवसंयोगनाश-
दिक्पिण्डविभागपरत्वोत्पत्तयः । ततो द्रव्यनाशदिक्पिण्डसंयोगनाशपरत्वसा-
मान्यबुद्धयः । ततो द्रव्यनाशदिक्पिण्डसंयोगनाशाभ्यां परत्वनाशः सामान्य-
बुद्धेरपेक्षाबुद्धिनाश इति ।

होती है, आगे के क्षण में पूर्व संयोग नाश से द्रव्य का नाश और परत्व सामान्य
का ज्ञान होता है, द्रव्य के नाश से परत्व गुण का नाश और उक्त सामान्य ज्ञान से
अपेक्षा बुद्धि का भी नाश होता है, ऐसा होने से एक काल होने के कारण अपेक्षा
बुद्धि के नाश से परत्व का नाश नहीं हो सकता, इस प्रकार केवल द्रव्य रूप
समवायि कारण के नाश से परत्व नाश की प्रक्रिया है ।

चतुर्थ—कहीं पर द्रव्य का नाश, तथा अपेक्षा बुद्धि का नाश दोनों से परत्व का
नाश होता है, वह है जैसे—पिण्ड (द्रव्य) के अवयव में क्रिया तथा अपेक्षा
बुद्धि दोनों की उत्पत्ति के अनन्तर दूसरे अवयवों से विभाग तथा परत्व गुण की
उत्पत्ति भी होती है, पश्चात् द्रव्य का उत्पादक पूर्व संयोग का नाश, एवं परत्व
सामान्य ज्ञान में दोनों होते हैं, और उसके पश्चात् द्रव्य का नाश तथा अपेक्षा बुद्धि
का नाश दोनों होते हैं, इन दोनों से पश्चात् परत्व का नाश होता है ।

पाचवा—कहीं द्रव्य रूप समवायि कारण तथा संयोग रूप असमवायि कारण इन
दोनों के नाश से परत्व का नाश होता है । वह है जैसे—जिस समय द्रव्य के अवयवों
का परस्पर विभाग होता है उसी समय द्रव्य में क्रिया तथा अपेक्षाबुद्धि इन दोनों
की उत्पत्ति होती है, इसके पश्चात् अवयवों के पूर्व संयोग का नाश, दिशा और
पिण्ड (द्रव्य) का परस्पर विभाग एवं परत्वगुण की उत्पत्ति होती है, इसके पश्चात्
द्रव्य का नाश, तथा दिशा और द्रव्य के संयोग का नाश तथा परत्व सामान्य का
ज्ञान होता है, उससे द्रव्य का नाश, तथा दिशा और द्रव्य के संयोग का नाश इन
दोनों से परत्व का नाश होता है, और उक्त सामान्य ज्ञान से अपेक्षा बुद्धि का
नाश होता है ।

कचित् संयोगनाशपेक्षाबुद्धिनाशाभ्यां परत्वनाशः, तथा-परत्वोत्पत्तिपिण्डकर्मणो सामान्यज्ञानविभागो अपेक्षाबुद्धिनाशद्विक्पिण्डसंयोगनाशो ततः परत्वनाशः ।

कचित् समवाय्यसमवायिनिमित्तनाशेभ्यः, तथा-परत्वोत्पत्तिपिण्डावयवविभागपिण्डकर्माणि युगपत्, तदनन्तर परत्वसामान्यज्ञानावयवसंयोगनाशद्विक्पिण्डविभागा तदनन्तरमपेक्षाबुद्धिनाशद्रव्यनाशद्विक्पिण्डसंयोगनाशेभ्यो युगपदुत्पन्नेभ्यः परत्वस्यापरत्वस्य वा दैशिकस्य नाशः ।

कालकृतयोस्तु परत्वापरत्वयोरसमवायिकारणनाशाधीनो नाशो नास्ति, दैशिकयोर्द्विक्पिण्डसंयोगनाशे सन्निकर्षयिप्रकर्षनाशो यथा न तथा कालिकयोरिति तयो समवायिकारणनाशादपेक्षाबुद्धिनाशात् द्वाभ्याञ्चेति त्रयः पक्षाः पूर्ववदूहनीयाः ॥ २१ ॥

छटा—कही संयोग असमवायि कारण तथा निमित्त कारण अपेक्षा बुद्धि इन दोनों के नाशो से परत्व का नाश, वह है जैसे—परत्व गुण की उत्पत्ति, तथा पिण्ड से क्रिया, सामान्य ज्ञान तथा विभाग अपेक्षा बुद्धि का नाश तथा दिशा और द्रव्य के संयोग का नाश और दोनों से परत्व गुण का नाश ।

सातवा—कही समवायि, असमवायि तथा निमित्त कारणों के नाशो से परत्व गुण का नाश होना है । वह है जैसे परत्वगुण की उत्पत्ति, पिण्ड के अवयवों का विभाग और पिण्ड में क्रिया, यह सब एक काल में होने के पश्चात् परत्वरव सामान्य का ज्ञान, पूर्व अवयव संयोग का नाश तथा दिशा और द्रव्य का विभाग क्रम से होते हैं, इसके पश्चात् एक काल में उत्पन्न अपेक्षा बुद्धि का नाश, द्रव्य का नाश, तथा दिशा और पिण्ड के संयोग का नाश इन तीनों से दैशिक परत्व तथा अपरत्व गुण का नाश होता है ।

किन्तु काल से होने वाले कालिक परत्व तथा अपरत्व इन दोनों का संयोग रूप असमवायिकारण के नाश के अधीन नाश नहीं होता, क्योंकि जिस प्रकार दैशिक परत्व तथा अपरत्व के नाश होने में दिशा तथा द्रव्य का संयोग नष्ट होने पर सन्निकर्ष (सानिध्य) तथा विप्रवर्ध (दूरता) का नाश होता है, वैसे कालिक परत्व तथा अपरत्व में नहीं होता, इस कारण कालिक परत्व तथा अपरत्व दोनों गुणों का नाश केवल द्रव्य (शरीर) के नाश, तथा केवल अपेक्षा बुद्धि रूप निमित्तकारण के नाश, तथा दोनों से मिलकर—ऐसे तीन ही प्रकार से कालिक परत्व तथा अपरत्व का नाश होता है, जिसकी दैशिक परत्व तथा अपरत्व के नाश के समान प्रक्रिया स्वयं ज्ञान लेनी चाहिये ॥ २१ ॥

कालिकपरत्वापरत्वे प्रति विशेषमाह—

कारणपरत्वात् कारणापरत्वाच्च ॥ २२ ॥

परत्वापरत्वयोः कारणं कालस्तस्य परत्वापरत्वे परत्वासमवायिकारणकाल-
संयोगोऽपरत्वासमवायिकारणकालसंयोगश्च लक्षणयोक्तः, अन्यथाऽनन्वयापत्तेः,
न हि परत्वापरत्वाभ्यामेव परत्वापरत्वे उत्पद्येते । तस्मात् परत्वापरत्वपदयोस्त-
दुत्पादककालसंयोगावर्थं लक्षणया ॥ २२ ॥

ननु परत्वेऽपि परत्वमपरत्वेऽप्यपरत्व किं न स्यादित्यत आह—

परत्वापरत्वयोः परत्वापरत्वाभावोऽणुत्वमहत्त्वाम्यां व्याख्यात ॥ २३ ॥

कर्मभिः कर्माणि ॥ २४ ॥ गुणैर्गुणा ॥ २५ ॥

कालिक परत्व तथा अपरत्व गुण मे सूत्रकार विद्वेष्ट कहते हैं—

पदपदार्थ—कारणपरत्वात्=काल संयोग रूप कारण के परत्व से, कारणा-
परत्वात् च=और उक्त कारण के अपरत्व से भी (कालिक परत्व तथा अपरत्व
गुण होने हैं) ॥ २२ ॥

भावार्थ—काल के परत्व तथा अपरत्व ■ कारण भी कालिक परत्व
(ज्येष्ठता) तथा कालिक अपरत्व (कमिष्ठता) होती है ॥ २२ ॥

उपस्कार—परत्व तथा अपरत्व गुण दोनों का कारण होता है । काल नामक
द्रव्य उसकी परत्वता तथा अपरत्वता इन दोनों पदों से सूत्र में लक्षणावृत्ति से परत्व
गुण का असमवायि कारण कालसंयोग, तथा अपरत्व गुण कार्य का असमवायि-
कारण काल संयोग कहा है, नहीं तो सूत्र में अन्वय न बनेगा, क्योंकि परत्व तथा
अपरत्व मे ही परत्व तथा अपरत्व की उत्पत्ति नहीं होती, तस्मात् सूत्र में परत्व
तथा अपरत्व इन दोनों पदों का परत्व तथा अपरत्व गुण कार्यो के उत्पन्न करने
वाले काल विप्लव संयोग रूप अर्थ लक्षणा वृत्ति से जानना ॥ २२ ॥

“एक परत्व गुण मे दूसरा परत्व तथा एक अपरत्व मे दूसरा अपरत्व गुण क्यों
न होगा ?” इस शका के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—परत्व तथा अपरत्व में, परत्वापरत्वाभाव = परत्व अपरत्व गुण
का अभाव, अणुत्वमहत्त्वाम्यां=अणु तथा महत्परिमाणो से, व्याख्यात = व्याख्यान
किया गया ॥ २३ ॥ कर्मभिः = कर्मों से, कर्माणि = कर्मपदार्थ ॥ २४ ॥ गुणैः=गुणों
से, गुणा = गुणपदार्थ व्याख्यात हो गये ॥ २५ ॥

भावार्थ—एक अणु परिमाण मे दूसरा अणुपरिमाण, तथा एक महत्परिमाण
मे दूसरा महत्परिमाण जैसे नहीं रहता उसी प्रकार एक परत्व तथा अपरत्व गुण

एतानि सूत्राणि पूर्वमेव व्याकृतकल्पानि नेह व्याक्रियन्ते ॥ २३-२५ ॥

परत्वापरत्वादीना मूर्त्तमात्रसमवेतत्वमुक्तं ज्ञानसुखादीनाञ्चात्मगमवेत-
त्वम् । तत्र समवाय एव क इति श्रिप्याजिज्ञासासामानुरूप्य बुद्धेरुद्देशक्रमप्राप्ताया
अपि लङ्घनात् समवायपरीक्षामाह—

इहेदमिति यत् कार्यकारणयोः स समवायः ॥ २६ ॥

कार्यकारणयोरित्युपलक्षणम्, अकार्यकारणयोरित्यपि द्रष्टव्यम् । तदुक्तं
पदार्थप्रदेशादये प्रकरणे— “अयुतसिद्धानामाध्याधारभूतानां यः सम्बन्ध
इहेतिप्रत्ययहेतु स समवायः” इति । असम्बद्धयोरपिद्यमानत्यमयुतसिद्धिः,
इह कुण्डे दधि इह कुण्डे यद्वर्गणीतिचत् इह तन्तुषु पट इह वीरणेषु कट इह

मे कम से दूसरा परत तथा अपरत गुण नहीं रहता, कम पदार्थ कमबान तथा
गुण पदार्थ गुणवान नहीं होते इत्यादि पूर्वोक्त सम्पूर्ण ज्ञान सेना चाहिये ॥२३-२५॥

उपस्कार—ये तीनों सूत्र पूर्व ग्रन्थ मे ही व्याख्या किये समान स्पष्ट अर्थ बोधक
हैं । अतः इनकी यहा व्याख्या नहीं की जाती है ॥ २३-२५ ॥

परत्व तथा अपरत्व आदि गुण मूर्त्त द्रव्यों में, तथा ज्ञान सुख आदि विशेष
गुण आत्मा मे समवाय सम्बन्ध से रहते हैं—ऐसा कह चुके हैं, उसमे समवाय सम्बन्ध
ही का क्या स्वरूप है—इस शिष्य की जिज्ञासा के अनुरोध से यद्यपि बुद्धि गुणका
उद्देश क्रम से निरूपण करना उचित है तथापि उसके उल्लेखन कर समवाय की
परीक्षा करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—इह = यहाँ, इदं = यह है, इति = इस प्रकार, कार्यकारणयोः =
कार्य तथा कारण मे, स = वह, समवायः = समवाय नामक सम्बन्ध है ॥२६॥

भावार्थ—जिसमे इस कुण्डी मे दही है इत्यादि विशिष्ट प्रतीति के समान
इन तन्तुओं मे पट है, इत्यादि विशिष्ट ज्ञान भी होता है, उसमे दृष्टान्त मे विशेषण
कुण्डी तथा दही रूप विशेष्य का जिस प्रकार संयोग सम्बन्ध विषय है उसी प्रकार
तन्तुओं मे पट है यह भी विशिष्ट ज्ञान होने के कारण उसमे भी कोई सम्बन्ध
मानना पड़ेगा, जो संयोग तथा स्वरूपादि सम्बन्ध न हो सकने से समवाय ही
सम्बन्ध है यह निश्चय होता है ॥ २६ ॥

उपस्कार—मूल मे ‘कार्यकारणयोः’ यह पद कार्य कारण से भिन्नो का भी
समवाय होता है इसका सूचक है । अतः पदार्थ प्रदेश (उद्देश) नामक प्रसस्त-
पाद भाष्यके प्रकरण मे—‘अयुतसिद्धानामाध्याधारभूतानां स सम्बन्ध इहेतिप्रत्यय-
हेतु स समवाय’ अर्थात् युतसिद्धि से रहित आश्रय तथा आश्रित रूप पदार्थों का जो
इह = इसमे, इस प्रतीति का कारण होता है वह समवाय होता है ऐसा कहा है ।

द्रव्ये गुणकर्माणि इह गवि गोत्वम् इहाऽऽत्मनि ज्ञानम् इहाऽऽकाशे गच्छ
इतीहबुद्धिरुत्पद्यमाना न विना सम्बन्धमुत्पत्तमर्हति तेनानुमीयतेऽस्ति कश्चित्
सम्बन्धः । न चासौ संयोग एव, अन्यतरकर्मादीनां तदुत्पादमानामभावात्
विभागपर्यवसानाभावाच्च सम्बन्धिनामयुतसिद्धत्वाच्च नियताविकरणत-
यैवोन्नेयत्वान् अप्रत्यक्षत्वादेकत्वात्रित्यत्वाच्च । नन्वेकत्रेन् समवायस्तदा द्रव्य-
त्वादीनां सङ्गप्रसङ्गः, कर्मत्वादिसमवायस्य द्रव्ये सम्भवान्। मैवम्, आधार-
धेयनियमादेवासङ्करात् । यद्यपि य एव द्रव्यत्वसमवायः न एव गुणत्वकर्म-

सम्बन्ध न होने वाले दो पदार्थों की अविद्यमानता, अर्थात् पृथक् होकर न रहना
अपुनसिद्धि कहाती है (वह जिस प्रकार व्यापक दो पदार्थों में नहीं होती यह
'युतनिम्नभावात्' इस सूत्र में कह चुके हैं ।) 'इन कुण्डी में दही है, इन कुडी में
बैर के फल है' इन प्रतीतियों के समान, 'इन तन्तुओं में पट है, इन बीरण
(सरइयों) में कट (बटाई) है, इस द्रव्य में गुण तथा कर्म हैं, इस गी में गोत्व
है, इस आत्मा में ज्ञान है, इस आकाश में शब्द है' इस प्रकार उत्पन्न होने वाला
'इह' यहा ऐसा ज्ञान विना सम्बन्ध के उत्पन्न नहीं हो सकता । इससे तन्तुओं में पट
है ऐसा विशिष्ट ज्ञान विशेषण तन्तु तथा विशेष्य (पट) इन दोनों के किसी
सम्बन्ध को विषय करता है, विशिष्ट ज्ञान होने से, इन कुण्डी में दही है-इस विशिष्ट
ज्ञान के समान-इस अनुमान से संयोगादि सम्बन्ध का बाध होने के कारण कोई
सम्बन्ध मानना पड़ेगा जो परिशेष से समवाय सम्बन्ध सिद्ध होता है, क्योंकि यह
दो में से एक अथवा दोनों की क्रिया आदि सयोग सम्बन्ध के उत्पादकों का अभाव
होने के कारण संयोग ही सम्बन्ध है यह नहीं हो सकता, तथा इस सम्बन्ध का
सयोग सम्बन्ध के समान विभाग में पर्यवसान (समाप्ति) नहीं होती है, तथा
समवाय के सम्बन्धी सयोग के सम्बन्धिषों के समान युतसिद्ध (पृथक् सिद्ध) भी
नहीं होते । अभेद रूप तादात्म्य सम्बन्ध भी उक्तानुमान का विषय नहीं हो सकता ।
इन जाशय से शकरमिश्र चतुर्थ हेतु देते हुए कहते हैं कि नियत आश्रय रूप ही से
यह जाना भी जाता है । (अर्थात् अभेद सम्बन्ध मानने से शुक्ल वर्ण और पट के
एक ही पदार्थ होने से 'पट-पट' इस प्रयोग के समान 'शुक्ल पट.' यह भी प्रयोग
न होगा । तथा प्रत्यक्ष न होने, एवं एक होने तथा नित्य होने से भी (उक्तानु-
मान में संयोग सम्बन्ध विषय नहीं हो सकता) । "यदि समवाय सम्बन्ध एक हो
वो द्रव्यत्वादिकों के समवाय के समान कर्मत्व गुणत्व जादिकों का भी समवाय
द्रव्यो में होने से साकार्य दोष आ जायगा" पूर्वपक्षी यहा ऐसी शंका नहीं कर
सकता, आश्रयाश्रितभाव का नियम होने से उक्त साकार्य दोष नहीं होगा । यद्यपि
जो ही द्रव्यत्व जाति का समवाय है वही गुणत्व कर्मत्व आदिकों का भी समवाय
है, तथापि उनका द्रव्य पदार्थ आश्रय नहीं है, क्योंकि द्रव्य पदार्थों में गुणत्व तथा

त्वादीनामपि, तथापि चैषा न द्रव्यमाधारस्तत्र तेषामप्रतीते द्रव्येष्वेव द्रव्यत्वं प्रतीयते गुणेष्वेव गुणत्व कर्मस्वेव कर्मत्व न त्वन्यत्रेत्यन्यव्यतिरेकदर्शनादेव नियमः, यथा कुण्डदध्नोः संयोगविशेषेऽपि कुण्डमेवाधारो न दधोत्याश्रयाश्रयिभावनियमस्तथा व्यङ्ग्यव्यञ्जकशक्तिभेदादेवात्रापि नियमः उपपत्स्यते, न हि द्रव्येण द्रव्यत्ववत् कर्मत्वाद्यप्यभिव्यज्यते । तदुक्तम्—

‘सविदेव हि भगवतो वस्तूपगमे न. शरणम्’ इति ।

न ह्याधारत्वं प्रसि विपरीता सविद्वन्ति, न हि भवति द्रव्यं कर्मेति, न वा भवति पटे तन्तव इति । एतेन चायौ रूपसमवायेऽपि चायौ रूपमित्याधारता न चायो. प्रतीयते । तस्मान् स्वभावशक्तिरेव सर्वत्र नियामिका । स चाय नित्य अकारणकत्वात् । भावानां हि समवायिकारणादुत्पत्तिनियमः, तदनुरुद्धे च

कर्मत्व जाति की प्रतीति नहीं होती, पृथिवी आदि नौ द्रव्य पदार्थों में ही ‘द्रव्य है, द्रव्य है’ इस प्रकार अनुगत बुद्धि सामक द्रव्यत्व-जाति का ज्ञान होता है, इसी प्रकार रूपादि चतुर्विधति गुणों में ही गुणत्व जाति, उत्क्षेपणादि पाँच कर्मों में ही कर्मत्व जाति की प्रतीति होती है, अग्न्य द्रव्यादिकों में नहीं होती—इस प्रकार अन्यत्र तथा व्यतिरेक के वर्णन से ही नियम है । जिस प्रकार कुडी में दही है इस प्रतीति में कुडी तथा दही का संयोग सम्बन्ध समान होने पर भी कुडी ही आश्रय होती है और दही ही आश्रित होता है यह नियम है उसी प्रकार व्यञ्ज (प्रगट करने योग्य) तथा व्यञ्जक (प्रगट करने वाला) इन दो शक्तियों के भेद से ही प्रकृत में भी नियम हो सकता है, क्योंकि द्रव्य से द्रव्यत्व जाति के समान कर्मत्व गुणत्व आदि जातियों की अभिव्यक्ति नहीं होती, इसी से बूढ़ोंने कहा है—‘सविदेव = अनुभव ही, हि = जिस कारण, भगवतो = शक्ति, वस्तूपगमे = पदार्थ के मानने में न = हमको, शरणम् = शरण (प्रमाण) है इति = ऐसा ॥ क्योंकि आधारता के विषय में विपरीत अनुभव नहीं होता, कारण यह कि द्रव्य किया है ऐसा कर्मत्व जाति का द्रव्य में विपरीत आश्रय ज्ञान, तथा पट में तन्तु है ऐसा तन्तुओं की पट में आधारता का विपरीत ज्ञान भी नहीं होता । इसी कथन से समवाय के एक होने के कारण वायु में स्पर्श-समवाय के समान रूप का समवाय रहने पर भी, वायु में रूप है ऐसी रूपगुण की विपरीत आश्रयता प्रतीत नहीं होती—यह जान लेना चाहिये । इस कारण स्वभाव की शक्ति (सामर्थ्य) ही सर्वत्र प्रतीति होने में नियामिका (नियम के कारण) है यह सिद्ध होता है । वह यह समवाय सम्बन्ध रूप पदार्थ कारण रहित होने से नित्य है, क्योंकि भाव पदार्थों का सर्वत्र समवायिक कारण से उत्पन्न होने का नियम है, उसके अनुरोध से असमवायि तथा निमित्त कारण भी भाव कार्य में अवश्य होते हैं, ऐसा नियम होने से समवाय सम्बन्ध का जो समवायिकारण होगा

निमित्तासमवायिनी, तथाच समवायस्य समवायिकारण यत् स्यात् तत् समवा-
यान्तरेण तेनैव समवायेन वा ? न तावदाद्यः, अनवस्थापातात् । न द्वितीयः,
न हि स एव समवायः स्वेनैव समवेतः सम्भवतीत्यात्माश्रयात् । तन्तुपु-
पटसमवायः पटे रूपसमवाय इति प्रतीतिः कथमिति चेत् स्वरूपसम्बन्धेन,
समवायान्तराद्वीकारेऽनवस्थापातान् । तर्हीह पटरूपमित्यपीहप्रत्ययः स्वरूप-
सम्बन्धेनैव स्यात् किं समवायेनेति चेन्न, तत्रातिरिक्तसम्बन्धे बाधकाभावात् ।
तर्हीह भूतले पटाभाव इत्यत्रापि समवाय सम्बन्धान्तरं वा स्यादिति चेन्न,
स्वरूपसम्बन्धेनैव तदुपपत्तेः, अन्यथा घटात्यन्ताभावान्न्याभावयोर्नित्ययो-
रनेकसमवेतयोः सामान्यत्वापत्तेः । प्रध्वंसस्य च समवेतकार्यत्वेन विनाशि-
त्वापत्तेः, प्रागभायस्य च समवेतानुत्पन्नत्वेनाविनाशित्वापत्तेश्च । न च
भावत्वं तत्र तन्त्रम्, भावत्वस्यापाद्यत्वात् ।

बहू कया है दूसरे समवाय सम्बन्ध से होगा यद्यवा उसी समवाय से । उस समवाय
का दूसरा समवाय उसका भी दूसरा समवाय इस प्रकार अनवस्था दोष जाने से
प्रथम पक्ष नहीं हो सकता । उसी समवाय से—यह दूसरा पक्ष भी नहीं हो सकता,
क्योंकि वही समवाय सम्बन्ध अपने ही से समवेत है यह भावना भी आरम्भिक दोष
जाने के कारण अतर्गत है । यदि ऐसा है तो तन्तुओं में पट का समवाय है, पट में
रूप का समवाय है यह ज्ञान कैसे होता है ? ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो स्वरूप सम्बन्ध
से यह ज्ञान होता है, क्योंकि दूसरा समवाय मानने से पूर्व अर्द्धित प्रकार से अन-
वस्था दोष आ जायगा । यदि ऐसा है तो प्रस्तुत में यहाँ (पट में) पर भी पट का
रूप है इस प्रकार का 'इह 'प्रत्यय' यहाँ है—यह ज्ञान भी स्वरूप सम्बन्ध से होता
है । ऐसा मान लेंगे तो समवाय सम्बन्ध रूप अतिरिक्त पदार्थ मानने की क्या
आवश्यकता है—पूर्वपक्षी ऐसी दाँका नहीं कर सकता, क्योंकि वहाँ अतिरिक्त
सम्बन्ध समवाय नामक मानने में कोई बाधक नहीं है । (यह बाधक न होना)
स्वरूप सम्बन्धों के अनन्त स्वरूप होनेके कारण उन्हें सम्बन्ध मानने की अपेक्षा
एक समवाय सम्बन्ध मानने में लाघव है—इसकी भी सूचना करता है यह जानना
चाहिये । यदि ऐसा है तो 'इस भूतल में घट नहीं है' इस प्रतीति में भी समवाय
अपका उससे भिन्न कोई दूसरा सम्बन्ध मानना पड़ेगा । ऐसी दाँका पूर्वपक्षी नहीं
कर सकता, क्योंकि उक्त प्रतीति का स्वरूप सम्बन्ध से ही निर्वाह हो सकता है ।
ऐसा न माने तो घटका अत्यन्ताभाव एवं घट का अन्योन्याभाव जो दोनों नित्य
रूपा अनेक में समवेत हैं, उनमें जाति पदार्थ का लक्षण आने से वे दोनों जाति-
पदार्थ हो जायेंगे । और ध्वसरूप अभाव भी कारण समवेत कार्य होने से नाश-
वान् हो जायगा, और प्रागभायरूप अभाव भी कारण में समवेत उत्पन्न न होने
के कारण विनाश रहित हो जायगा 'नाश होने में भावरूप कार्यता प्रयोजक है

अभावेऽस्त्येव वैशिष्ट्याख्यं सम्बन्धान्तरमिति भाट्टा ।

तत्र यदि सर्वाभावव्यक्तीनामेकमेव वैशिष्ट्यं तदा घटवत्यपि घटाभाव-
प्रत्ययप्रसङ्गः पटाभाववैशिष्ट्येनैव घटाभाववैशिष्ट्यसत्त्वात् । घट एव तत्र
घटाभावधोप्रतिबन्धक इति चेत् वैशिष्ट्यसम्बन्धेन प्रतिबन्धकाभावस्त्येव तत्र
सत्त्वान् । न चाश्रयस्वभाव एव तादृशो येन न तत्र घटाभावाभिव्यक्तिः,
घटापभारणानन्तरं त्वैव घटाभावप्रतीतिः । सर्वापि रूपनाशानन्तरं कथं न
रूपवत्ताप्रत्ययः ? समवायस्य नित्यत्वादेकत्वाच्चेति चेत्, रूपनाशादेव तदप्रती-
तेरुपपत्तेः । समवायप्रतिबन्धः (न्दो?) प्रत्यक्षमयूसे मोक्षित एवेत्यास्ताम् ॥ २६ ॥

द्रव्यादिभ्यः पञ्चभ्यो भेदः साधयन्नाह—

द्रव्यस्वगुणत्वप्रतिषेधो भावेन व्याख्यातः ॥ २७ ॥

अतः उक्त दोष न होगा। ऐसा पूर्वपक्षी नही कह सकता, क्योंकि 'व्यस' तथा प्रागभाव
एक सभावो मे भाव पदार्थ हो जायगे यह भी आपत्ति आ जायगी ।

अभाव मे वैशिष्ट्य नामक दूसरा सम्बन्ध है ही ऐसा भाट्टमीमांसको का मत है ।
इस मत का खण्डन करत हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि इस मत में यदि सम्पूर्ण
अभाव व्यक्तियों का एकही वैशिष्ट्य हो तो घट के आश्रय में भी घट के अभाव
का ज्ञान होने की आपत्ति आ जायगी । क्योंकि घट के अभाव के वैशिष्ट्य से बड़ा
पर घट के अभाव का वैशिष्ट्य वर्तमान है । यदि 'वहा पर घट ही घट के अभाव
के बुद्धि का प्रतिबन्धक है ऐसा कहो तो वैशिष्ट्य सम्बन्ध मे प्रतिबन्धक रूप
घटका बड़ा अभाव है । 'आश्रय का ऐसा स्वभाव ही है, जिससे बड़ा घट के अभाव
की अभिव्यक्ति (प्रगटता) होती है' यह भी न हो सकता, क्योंकि घट के अपसারণ
(हटाने) के पश्चात् वही पर घट के अभाव का ज्ञान होता है । समवाय सम्बन्ध
अतिरिक्त मानने वाले सिद्धान्ती के मत में भी श्याम रूप के नाश के पश्चात्
श्याम रूप का प्रतीति क्यों नहीं होती, क्योंकि समवाय नित्य तथा एक भी है' ऐसा
यदि मीमांसक कहे तो श्याम रूप का नाश होने से उसकी प्रतीति न होना ही सकता
है । अर्थात् विशिष्ट ज्ञान में सम्बन्ध तथा विशेषण दोनों का ज्ञान कारण होने है
सम्बन्ध के रहने पर भी श्यामरूप विशेषण न रहने के कारण सिद्धान्ति मत में
उक्त दोष नहीं आ सकता । इस प्रकार मीमांसको के वैशिष्ट्य संबंध पक्ष से
नैयायिकों के समवाय सम्बन्ध मानने में प्रतिबन्ध-समान दोष देना प्रत्यक्ष खण्ड के
मयूख ग्रन्थ मे विस्तार से निराकरण किया है, इस कारण बड़ा अधिक नहीं कहा
जाता ॥ २६ ॥

द्रव्य से लेकर विरोध पर्यन्त पांच पदार्थों से समवाय सम्बन्ध पदार्थों का भेद
सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—द्रव्यत्वगुणत्वप्रतिषेधः = द्रव्यता तथा गुण स्वरूपता का निराकरण,
भावेन = सत्ता से, व्याख्यात = व्याख्या किया गया है ॥ २७ ॥

भावः सत्ता । यथा सत्ता न द्रव्याद्यात्मिका विलक्षणबुद्धिवेद्यत्वात् तथा समवायोऽपि तत् एव द्रव्यादिभ्यो भिन्न । द्रव्यत्वगुणत्वेत्युपलक्षणं कर्मत्वाद्यपि द्रष्टव्यम् ॥ २७ ॥

एकत्वं साधयति—

तत्त्वभावेन ॥ २८ ॥

व्याख्यातमिति शेषः । तत्त्वमेकत्व भावेन सत्तया व्याख्यानम् । यथैका सत्ता सर्वत्र सदबुद्धिप्रवर्तिका तथैक एव समवायः सर्वत्र समवेतबुद्धिप्रवर्तकः खलिङ्गाविशेषाद्विशेषलिङ्गाभावाच्च, न हि समवायस्य विशेषलिङ्गं भेदकं लिङ्गमाकलयामो येन नानात्वमभ्युपगच्छामः । अत एव नित्यः देशकालादि-भेदेऽप्यभिन्नस्य सत्तावदेवानित्यत्वायोगात् । ननु समवायो यद्ययं सम्बन्ध एव तदा तन्तुपटयो पटरूपयोर्वा विश्लेषः स्यादिति, चेन्न, युतसिद्धयभावाद्विश्ले-

भावार्थ—जिस प्रकार विलक्षण ज्ञान से जानने की योग्यता से सत्ता जाति द्रव्य गुण आदिस्वरूप नहीं है उसी प्रकार समवाय भी द्रव्य गुण आदि पदार्थ स्वरूप नहीं है ॥ २७ ॥

उपस्कार—सूत्र में भाव शब्द का अर्थ है सत्तानामक जाति । जिस प्रकार सत्ता जाति द्रव्य गुण आदि पदार्थ स्वरूप नहीं है क्योंकि 'सत् है सत् है' इस प्रकार विलक्षण ज्ञान से जानी जाती है ।

उसी प्रकार समवाय भी 'इह' यहा इस बुद्धि में जानने के योग्य होने के कारण द्रव्यगुणादि पदार्थों से भिन्न है । सूत्र में द्रव्यत्व गुणत्व यह दोनों कर्मत्व सामान्यत्वा-दिनों का भी सूचक है यह देख लेना चाहिए ॥ २७ ॥

समवाय में एकत्व सूत्रकार सिद्ध करते हैं—

पदपदार्थ—तत्त्व=एकता, भावेन=मत्ता जाति से व्याख्यात हुआ ॥ २८ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार 'सत्' बुद्धि की प्रवृत्त करने वाली सत्ता जाति सर्वत्र समान एव है उसी प्रकार समवेत ज्ञान का प्रवर्तक समवाय सम्बन्ध भी सर्वत्र एक है यह आशय है ॥ २८ ॥

उपस्कार—सूत्र में आकांक्षित 'व्याख्यात' इस पद का शेष पूर्ण करना । सूत्र के तत्त्व शब्द का अर्थ है एकत्व यह भाव शब्द के अर्थ सत्ता-जाति से व्याख्या किया गया । जिन प्रकार सत्ताजाति सम्पूर्ण पदार्थों में 'सत् है, सत् है' इस बुद्धि को प्रवृत्त करने वाली एक है, उसी प्रकार एकही समवाय सम्बन्ध सर्वत्र समवेत है इस ज्ञान को प्रवृत्त करने वाला एक ही है, क्योंकि 'इह' यहा इत्याकारक पूर्वोक्त अपना (समवाय) लिङ्गका (साधक) समान है तथा भेद साधक विशेष लिङ्ग (हेतु) भी नहीं है । क्योंकि समवाय सम्बन्ध रूप पदार्थ का कोई विशेष लिङ्ग अर्थात् भेद साधक हेतु हम नहीं जानते जिनसे समवाय अनेक माना जाय । तथा देश तथा कालादिको

पाठपक्षे, न हि रूपरूपवतोरवयवावयविनोर्वाऽसम्बद्धयोर्विशमानत्वमस्ति येन विश्लेष्य म्यात् । युतसिद्धिरेवापाद्यत इति चेन्न, कदाचिदपि तथाऽनुभवनापाद्यवाधात् ।

समवायो नानाऽनित्यश्चेति प्राभाकराः । तत्त्वानुपपन्नम् , रूपं नष्टमिति हि प्रत्ययो न तु रूपसमवायो नष्ट इति कस्यापि प्रत्ययः ।

प्रत्यक्षं समवाय इति नैयायिकाः । तदप्यनुपपन्नम् , समवायोऽतीन्द्रियः आत्मान्यत्वे सत्यसमवेतभावत्वात् मनोवत् , कालादिवद्वा ॥ २८ ॥

इति श्रीशाङ्करे वैशेषिकसूत्रोपस्कारे समाध्यायस्य द्वितीयाह्निम् ।

समाप्तश्चायं सप्तमाध्यायः ।

का भेद होने पर भी सत्ता जाति के समान अभिन्न (एक) होने के कारण अनित्यता न होने के कारण समवाय नित्य है । (यद्यपि नित्यता समवाय में पूर्वं में कथित है तथापि सत्ता के साधर्म्य से पुन कहने के कारण पुनरुक्त दोष नहीं है) ।

यदि यह समवाय पदार्थ सम्बन्ध ही है तो तन्तु तथा पट इन दोनों, तथा पट और उसके रूप को कभी विश्लेष (अलग होना) भी हो जायगा (जैसे संयोग सम्बन्ध के सम्बन्धी अलग हो जाते हैं) । पूर्वपक्षी ऐसी शंका नहीं कर सकता, क्योंकि संयोग सम्बन्ध के सबन्धियों के मगन युतमिद्धि (पृथक् सिद्धि) न होने के कारण विश्लेष (पृथक्ता) नहीं हो सकती । क्योंकि रूप तथा रूपाश्रय द्रव्य प्रयत्न अवयव तथा अवयवि ये दोनों सबन्ध रहित कही भी विद्यमान नहीं होते, जिससे विश्लेष (पृथक्ता) मान जाय । यदि युत मिद्धि (पृथक् सिद्धि) ही की हम आपत्ति देते हैं अर्थात् अवयव और अवयवी आदि पृथक् हो जाय ऐसा हम कहते हैं ऐसी शंका पूर्वपक्षी करते-यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि किसी भी समय उनका पृथक् रूप से अनुभव न होने के कारण आपाद्य (विश्लेष) का बाध है ।

समवाय सम्बन्ध अनेक तथा अनित्य है ऐसा प्राभाकर (मीमांसकी) का मत है । किन्तु श्याम रूप नष्ट हुआ ऐसी प्रतीति होती है न कि उसका समवाय नष्ट हुआ ऐसी प्रतीति किसी पुरुष का होती है, अतः मीमांसक मत असंगत है ।

षोडश पदार्थवादी नैयायिक समवाय सम्बन्ध का प्रत्यक्ष होता है ऐसा जो मानते हैं वह भी ठीक नहीं, समवाय, अतीन्द्रिय अप्रत्यक्ष है, आत्मा से भिन्न होते हुए असमवेत भाव पदार्थ होने से मन के समान, अथवा काल दिशा आदिक द्रव्य के समान—इस अनुमान से समवाय में अप्रत्यक्षता सिद्ध होती है ॥ २८ ॥

इस प्रकार शंकरमिश्र वृत्त वैशेषिक सूत्रों की उपस्कार व्याख्या में

सप्तमाध्याय का द्वितीय आह्निक समाप्त हुआ ।

सप्तमाध्याय भी समाप्त हुआ ।

अष्टमाध्याये प्रथमाह्निकम्

शिष्यजिज्ञासानुरोधात् कमलद्धनम्, इदानीमुद्देशक्रममालम्बते । तत्र बुद्धिपरीक्षा अष्टमाध्यायार्थः । आत्मसाधनाय पूर्वं बुद्धिरुक्ता, तां स्मारयन्नाह—

द्रव्येषु ज्ञान व्याख्यातम् ॥ १ ॥

द्रव्येष्विति, विषयेण विषयिण तृतीयाध्यायमुपलक्षयति । “इन्द्रियार्थप्र-
सिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः” “आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षाद्यभिप्यद्यते
तदन्यत्” इत्येताभ्यां सूत्राभ्यां ज्ञान व्याख्यातमित्यर्थः । तत्र “बुद्धिरुपलब्धि-

शिष्यो के जिज्ञासा के अनुसार क्रम का लंघन (रथान) हुआ, साप्रत पुन उद्देश के क्रम को सूत्रकार ग्रहण करते हैं । जिससे बुद्धि नामक गुण की परीक्षा करना सपूर्ण अष्टमाध्याय का विषय है । जिसमे आत्मा की सिद्धि करने के लिये पूर्व में बुद्धिगुण का वर्णन कर चुके हैं, उसको स्मरण कराते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—द्रव्येषु=द्रव्य के निरूपण होनेवाले तृतीयाध्याय में, ज्ञान=बुद्धि नामक गुण व्याख्यातम्=व्याख्यान किया गया है ॥१॥

भावार्थ—द्रव्य रूप विषय से लिये हुए द्रव्य के निरूपण करते वार्ते तृतीय अध्याय में ‘इन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः । आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षाद्यभिप्यद्यते तदन्यत्’ इन दोनों सूत्रों में ज्ञाननामक गुण की व्याख्या हो चुकी है । वहा पर ‘बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानं प्रत्यय इति पर्याया’ इस समान शास्त्रो ने अ० १ आ० १ सूत्र १५ के सात्वमत के खण्डनार्थ पर्याय भी कहे जाते हैं ॥१॥

उपरकार—सूत्र के ‘द्रव्येषु’ इस पृथिवी आवि द्रवरूप विषय से वक्त विषय वाला तृतीय अध्याय सूचित होता है । इन्द्रियार्थप्रसिद्धिः—इन्द्रिय तथा ज्यों से उत्पन्न ज्ञान, इन्द्रियार्थेभ्यः=इन्द्रिय तथा विषयो से, अर्थान्तरस्य=आत्मारूप दूसरे पदार्थ का हेतु=कारण है, आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षात्=आत्मा, इन्द्रिय तथा पदार्थों के सन्निकर्ष से । यत्=जो, निष्पद्यते=उत्पन्न होता है, तत्-वह, अन्यत्=दुष्ट हेतु से भिन्न है, इन दो सूत्रों से ज्ञानं=ज्ञाननामक गुण, व्याख्यातम्=व्याख्यान किया गया है । उसमे बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान, तथा प्रत्यय ये शब्द पर्याय ॥ (अ० १ आ० १, सूत्र १५) इस समान शास्त्र न्यायसूत्र में वर्णित बुद्धि नामक गुण के लक्षण में सात्वमत का निराकरण करने के लिये पर्याप्त भी कहे हैं । क्योंकि सात्व दर्शन मत के मानने वाले दार्शनिक विद्वानों के बुद्धि आदि शब्दों का अर्थ भिन्न है ऐसा कहते हैं । वह इस प्रकार है—कि “सत्त्व, रज, तथा तम नामक तीन

ज्ञानं प्रत्यय उचि पय्याया ” अ० १ आ १ न्या० सू० १५ इति समानतन्त्रे बुद्धिलक्षणे सादृश्यमतिनिरासार्थं पय्यायाभिधानम् ।

सादृश्या हि बुद्ध्यादिशब्दानामर्थभेदमाचक्षते । तथाहि—“सत्स्वरजस्त-
मसा साम्यावस्था प्रकृतिः, सा चैकैव, पुरुषान्मु परं भिद्यन्ते, ते च कूटस्था
नित्या अपरिणामिनो नित्यनैतन्यस्थभावा । ते च पद्मवोऽपरिणामित्वात्,
प्रकृतिसत्त्वान्धा जडत्वात् । यदा विषयभोगेरुद्धा प्रकृतिपुरुषभेददिदृक्षा च प्रकृ-
तेर्भेदात् तदा सा पुरुषोपरागवशात् पणिमते । तस्याश्चाद्यः परिणामो बुद्धिर-
न्त करणविशेष । बुद्धिरेव महत्तत्त्वं तदुक्तम्—“प्रकृतेर्महान्” इति । आ च
बुद्धिर्नैषणवन्निर्मला, तस्याश्च वहिरिन्द्रियप्रणादिकया विषयाकारो यः परि-

गुणों की समान अवस्था को प्रकृति नामक मुरूप एक तत्व है और वह प्रकृति एक ही है, किन्तु पुरुष (आत्मा) पदार्थ का केवल परस्पर में भेद है और वह पुरुष आत्मपदार्थ कूटस्थ (विचार रहित) नित्य तथा परिणाम रहित, एव नित्य चेतन स्वभाव है । और परिणाम रहित होने के कारण पणु (लगने) है, किन्तु पूर्वोक्त प्रकृति नामक तत्व जड़ होने के कारण अग्नी है । जिस समय विषयों के भोग की इच्छा तथा, तथा प्रकृति और पुरुष (आत्मा) इन दोनों के परस्पर भेद को देखने की इच्छा भी प्रकृति को होती है, उस समय वह पुरुष (आत्मा) के सम्बन्ध होने के कारण परिणाम को प्राप्त होती है । और उसका वह प्रथम परिणाम बुद्धि अर्थात् विशेष अन्त करण होता है । यह बुद्धितत्त्व ही महत्तत्त्व कहाता है, इसी कारण-प्रकृति = प्रकृति से महाम् = महत्तत्त्व, तत् = उससे, अहंकार, तस्मात् = उससे, गण च समुदाय होता है, पौडगक = एकादश इन्द्रिय एव पंचतन्मात्रारूप पौडश तस्मात् अपि = उससे भी पौडशकात् = पौडश तत्व में से, पञ्चम्य = पांच तन्मात्रा रूप तत्व से, पच = पांच, भूतानि = शिवी आदिभूत तत्व” । साक्ष्यकारिका में ऐसा कहा है । और वह बुद्धि दर्शन (सादृश्य) के समान नियंत्रण अच्छा है, और उसके चक्षु आदि वहिन्द्रियरूप प्रणादिक का (नाली) से विषय के आकार वाला ‘पट है पट है’ ऐसा परिणाम विशेष होता है, उसे ज्ञान तथा वृत्ति ऐसा भी कहा जाता है, उक्त स्वच्छ बुद्धि रूप तत्व में वर्तमान ज्ञान से चेतन आत्मा का भेद ज्ञान न होने के कारण, ‘मैं जानता हूँ’ ऐसा जो विशेष अभिमान होता है, वही उपलब्धि कहलाती है । माला, चन्दन इत्यादि विषयों के गुणिकर्ष से वहिन्द्रिय रूप नाली के द्वारा ही मुख, तथा दुःख के आधार वाला जो विशेष परिणाम होता है उसे प्रत्यय कहते हैं । अतएव ज्ञानमुख दुःख इच्छा, द्वेष प्रयत्न, सम्कार, धर्म तथा अधर्म यह सम्पूर्ण ही बुद्धि के विशेष परिणाम हैं जो सूक्ष्म रूप से प्रकृति में ही रहते हुए अवस्था विशेष में प्रगट होते हैं तथा तिरोभूत (अप्रगट) रहते हैं ।

णतिभेदो घट इति पट इत्याद्याकारस्वच्छानं वृत्तिरिति चाख्यायते, स्वच्छायां बुद्धौ वर्तमानेन ज्ञानेन चैतन्यस्य पुरुषस्य भेदाप्रहादहं जानामीति योऽभिमान-
विशेषः सौचोपलब्धिः । स्रक्चन्दनाडिविषयसन्निकर्पादिन्द्रियप्रणादिकयैव सुख-
दुःखाद्याकारो बुद्धेरेव यः परिणामविशेषः स प्रत्ययः । अतएव ज्ञानसुखदुः-
खेच्छाद्वेपप्रयत्नसत्कारधर्माधर्माः सर्व एव बुद्धेः परिणामविशेषाः सूक्ष्ममात्रया
प्रकृतावेव वर्तमाना अवस्थाभेदाद्विभवंति तिरोभवन्ति च । पुरुषस्तु पुष्क-
रपलाशवन्निर्लेपः प्रतिबिम्बते परं बुद्धाविति—यन्मन्यन्ते तदनेन पर्यायाभि-
धानसूचितप्रमाणेन निराक्रियते । तथाहि—बुद्धिशब्दो यदि बुद्धयतेऽनयेति कर-
णव्युत्पन्नस्तदा मन एव तत्पर्यवस्यति । न च मनः प्रत्यक्षम्, बुद्धिस्त्वहं बुद्धये
इति प्रत्यक्षचेद्यैव । न चान्तःकरणस्य ज्ञानादयो धर्माः, कर्तृधर्मत्वेनैव तेषां
सिद्धेः, भवति हि अहं जाने अहं प्रत्येभि अहमुपलभे इत्यहन्त्वसामानाधिकर-
ण्येन प्रतिभास । अभिमानोऽसाविति चेत् सात्त्विकत्वे बाधकाभावात् ।
पुरुषस्यागन्तुकधर्मानाधारत्वं कूटस्थत्वं तदेव बाधकमिति चेन्न, आगन्तुकधर्मा-
धारत्वेऽपि नित्यत्वसम्भवात्, न हि धर्मा धर्मश्चेत्येकं तत्त्वं येन धर्मोत्पादधि-
नाभावैव धर्मोत्पादधिनाशौ भ्याताम् । तथाच य एव चेतयते स एव बुद्धयते
जानात्युपलभते प्रत्येति चेति नार्थान्तरकल्पता युक्तेति दिक् ॥ १ ॥

किन्तु पुरुष (आत्मा) कमल के पत्र के समान निर्लेप (केपरहित) केवल बुद्धि
में प्रतिबिम्बित (छाया देनेवाला) होता है—ऐसा जो सानयबाधनिव मानते हैं,
वह हम पर्याय के कवन से सूचित प्रमाण से खण्डित हो जाता है । वह इस प्रकार
की—यह बुद्धिबुद्धयते-शब्द यदि जाना जाता है, इस प्रकार वरण की विवक्षा से
भ्याकरण द्वारा सिद्ध है तो वह मन ही रूप में पर्यवसित (निश्चित) होता है ।
और वह मन प्रत्यक्ष नहीं है, और बुद्धि तो 'मैं जानता हूँ' इस प्रत्यक्ष ज्ञान से ही
जानी जाती है । और ज्ञान सुख आदि अन्तःकरण के धर्म भी नहीं हैं, क्योंकि
उनकी आत्मारूप कर्ता के धर्म रूप से ही सिद्ध होती है, कारण यह है कि मैं जानता
हूँ, मैं निश्चय करता हूँ, मैं प्राप्त करता हूँ इस प्रकार 'ग्रहत्व' के आधार में ही
ज्ञानादि-गुणों का प्रतिभास (प्रकाश) होगा है । यदि इसे आभिमानिक (गीण) कहो
तो, यथार्थ मानने में कोई बाधक नहीं है । यदि आत्मा में आगन्तुक (आनेवाले)
धर्मों की आधारता न होना ही कूटस्थता (निर्विकारता) होती है, वही बाधक है
ऐसा कहो तो यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि आगन्तुक (अस्वाभाविक) धर्मों का
आश्रय मानने पर भी नित्यता हो सकती है, कारण यह कि धर्म तथा धर्मों यह एक
ही तत्त्व नहीं है, जिससे धर्म की उत्पत्ति तथा विनाश ही धर्मों की उत्पत्ति तथा
विनाश होगा । ऐसा होने से जो आत्मा ही चेतयते (चेतनाग्रय है) वही बुध्यते
(जानता है) उपलभते (प्राप्त करता है) प्रत्येति (निश्चय करता है) । इस प्रकार

तच्च ज्ञान द्विविध-विद्या चाविद्या च । विद्या चतुर्विधा प्रत्यक्षलैङ्गिकस्मृत्यार्पणलक्षणा । अविद्याऽपि चतुर्विधा संशयविपर्ययस्वप्नानध्यवसायलक्षणा । सत्र यल्लैङ्गिक तदतिन्द्रियञ्च, कुत एतदित्याह—

तत्रात्मा मनश्चाप्रत्यक्षे ॥ २ ॥

आत्माऽत्र परमात्मा स्वात्मा वा, स्वात्मनि मानसस्य काचित्काहम्प्रत्ययस्याह गौर कृशो महाबाहुरित्यादिप्रत्ययविरक्तत्वात् स्वात्मनोऽप्यप्रत्यक्षतोक्ता । चकारादाकाशकालदिशा चायोः परमाणूनाञ्च द्रव्याणामुपग्रह ।

उक्तो छोडकर बुद्धि-प्रकृति आदि पदार्थान्तर (दूसरे पदार्थ) की कल्पना करना संगत नहीं है—यह साख्यमत निराकरण की रीति है ॥ १ ॥

और वह ज्ञान विद्या और अविद्या इस भेद से दो प्रकार है । (जिसमें विशेष्य में अवर्तमान विशेषणरहित ज्ञान को विद्या कहते हैं । तथा मिथ्याज्ञान को अविद्या कहते हैं ।) जिसमें प्रत्यक्ष (१), लैङ्गिक (२), स्मृति (३), तथा भार्यज्ञान (४) इस भेद से विद्या चार प्रकार की है । तथा संशय (१), विपर्यय (२), स्वप्न (३), अनध्यवसाय (४) अनिश्चयरूप ज्ञान ऐसी चार प्रकार की अविद्या भी है । उसमें जो लैङ्गिकज्ञान होता है वह इन्द्रियजन्य नहीं होता है । प्रत्यक्ष शब्द से सत्कार तथा योगजन्य धर्म से रहित इन्द्रिय सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान लेना चाहिये । जिससे भार्यज्ञान तथा प्रत्यभिज्ञा का सग्रह न होगा तथा स्मृति शब्द से केवल सत्कारजन्य ज्ञान को लेना चाहिये जिससे प्रत्यभिज्ञा का ग्रहण न होगा । एवं योगजन्य सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञानरूप भार्यज्ञान यहा विवक्षित है । उक्त लैङ्गिक ज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं होता, इसमें हेतु की जिज्ञासा निवारणार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—नत्र = उसमें, आत्मा = जीवात्मा, मन च = और मन, अप्रत्यक्षे = प्रत्यक्ष नहीं होते ॥ २ ॥

भावार्थ—इस सूत्र में ज्ञान का विषय आत्मा और मन अप्रत्यक्ष अर्थात् लिङ्ग-रहित सगृहीत होने हैं । अतः प्रत्यक्ष न होने के कारण लैङ्गिकज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं होता ॥ २ ॥

उपस्कार—इस सूत्र में आत्मा शब्द का परमात्मा (लक्षणा दोष के दारण) अथवा अपनी जीवात्मा अर्थ है । यद्यपि अपने जीवात्मा में कदाचित् होनेवाला 'मैं हूँ' इत्याकारक मानसिकज्ञान प्रत्यक्षरूप होता है तथापि मैं गौरवर्ण तथा कृदा हूँ एवं महाभुजावाला हूँ इत्यादि सरीरविषय में होनेवाले ज्ञान से तिरस्कृत होने के कारण अपने जीवात्मा को भी अप्रत्यक्ष है ऐसा सूत्र में कहा है । सूत्र के प्रकार से आकाश, काल तथा दिशा इन द्रव्यों में तथा वायु और पृथ्वी आदि परमाणु द्रव्यों का भी सग्रह किया गया है । अर्थात् आकाशादि द्रव्य भी प्रत्यक्ष नहीं होते हैं यह सूचित होता है ।

इन्द्रियजमपि द्विविधं—सर्वज्ञीयमसर्वज्ञीयञ्च । सर्वज्ञीयं—योगजधर्मलक्षणया प्रत्यासत्त्या तत्तत्पदार्थसार्थज्ञानं, तथाहि परमाणवः प्रसक्ताः प्रमेयत्वा-दभिधेयत्वात् मत्त्वात् । सामग्रीविरहान् कथमेवं महत्त्वस्यापि प्रत्यक्षं प्रति कार-णत्वात् न च परमाणवो महान्तः, रूपवत्त्वस्यापि चाक्षुषप्रत्यक्षकारणत्वात्, न च दिगाद्यो रूपवन्त इति चेन्न, योगजधर्मसहकारिणा मनसैव तत्सम्भवात्, तदुपग्रहाच्चक्षुरादिना वा, अचिन्त्यप्रभावो हि योगजो धर्मो न सहकार्यन्तरम-पेक्षते । “विवादाध्यासितः पुरुषो न सर्वज्ञः पुरुषत्वादहमिव” इत्यादि तु “प्रा-भाकरो न मीमांसाभिज्ञः पुरुषत्वादहमिव” इत्यादिवद्विपक्षयाधकतर्कशून्यत्वा-दप्रयोजकम् ।

असर्वज्ञीयञ्च प्रत्यक्षं द्विविधं—सविकल्पकं निर्विकल्पकञ्च ।

चार प्रकार की विद्याओं में से प्रत्यक्ष नाम की विद्या भी सर्वज्ञ (सब जानने वाले ईश्वर तथा योगियों का) तथा यसर्वज्ञ (सम्पूर्ण न जाननेवाले) जीवात्माओं का इस प्रकार दो प्रकार का है । उन दोनों में से सर्वज्ञ (ईश्वर योगी) आदिकों का प्रत्यक्ष योगाभ्यास से उत्पन्न धर्मरूप प्रत्याप्ति (सनिकर्ष) से उन २ पदार्थों के समूह के ज्ञान की कहते हैं, वह इस प्रकार है कि—परमाणु प्रसक्तान् परस्पर संयोग वाले हैं, (यह आर्षज्ञान का आकार है) प्रमेय (ज्ञानविषय) होने से, अभिधेय (शब्दवाच्य) होने से अथवा सत्ताजाति वाले होने से ऐसे अनुमानों से परमाणु आदि योगी प्रत्यक्ष के विषय हैं यह सिद्ध होता है । यदि प्रत्यक्ष की सामग्री के न होने से परमाणु आदि का प्रत्यक्ष योगियों को कैसे होगा ? क्योंकि प्रत्यक्ष में महत्परिमाण भी कारण है, और परमाणुओं में महत्परिमाण है नहीं, तथा रूपाधारता भी चाक्षुष प्र-त्यक्ष में कारण होने से दिशा आदि द्रव्यों में रूप न होने के कारण उनका भी योगियों को प्रत्यक्ष कैसे होगा ? ऐसी शंका पूर्वपक्षी करे तो, यह नहीं हो सकता, क्योंकि योगाभ्यास से उत्पन्न धर्म की सहायता से मानसप्रत्यक्ष, अथवा उक्त धर्म की सहा-यता से क्षु आदि इन्द्रियों से परमाणु तथा दिशा आदि द्रव्यों का योगियों को प्रत्यक्ष ही सकता है, क्योंकि योगाभ्यासजन्य धर्म का सामर्थ्य अधिगत्य (जविचार-णीय) है, अतः वह दूसरे सहायक कारण की अपेक्षा नहीं रखता । यदि “विवाद का आधार योगिरूप पुरुष, सर्वज्ञाता नहीं है, पुरुष होने से, मेरे समान इस अनुमान से योगिपुरुषों में सर्वज्ञता के अभाव की सिद्धि प्राभाकर मीमांसक करे, तो प्राभाकर भी, मीमांसादर्शन का ज्ञाता नहीं है, पुरुष होने से, मेरे समान इत्यादि अनुमान के समान विपक्ष में बाध करनेवाले तर्क से रहित होने के कारण मीमांसक का अनुमान अप्रयोजक (योगियों में सर्वज्ञता के अभाव का साधक नहीं हो सकता) है ।

सब न जाननेवाले जीवात्माओं का दूसरा प्रत्यक्ष भी सविकल्पक और निर्वि-कल्पक भेद से दो प्रकार का है । किन्तु सविकल्पक नामक प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं होता

सविकल्पकं ज्ञानं न प्रमाणमिति कीर्त्तिदिङ्नागादयः । तथाहि—अभिलाप-
संसर्गयोग्यप्रतिभास इति तत्, न ह्यभिलापेन नाम्ना सम्भवत्यर्थस्य सम्बन्धो-
येन घट इति पट इति वा नामानुरक्षितः प्रत्ययः स्यात् । न च वात्यादि पर-
मार्थसत्, येन तद्वेशिष्टय विषयेषु इन्द्रियेण गृह्येत । न च सतः स्वलक्षणस्या-
सता सम्बन्धः सम्भवति, न चासत् इन्द्रियगोचरः, तस्मादिन्द्रियेणालोचनं
जन्यते आलोचनमहिम्ना च सविकल्परूपमुत्पद्यमानं तत्रार्थं प्रवर्त्तयत् प्रत्यक्ष-
मिति बोध्यते इति ।

तच्चैतदनुपपन्नम्, अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासञ्च भवेत् प्रमाणञ्चेन्द्रियार्थ-
सन्निकर्षजन्यं स्यादिति सन्दिग्धव्यतिरेकित्वम् । नामवैशिष्ट्यञ्च चाक्षुषज्ञाने

ऐसा कीर्त्ति, दिङ्नाग इत्यादि जैन तथा बौद्ध दार्शनिकों का मत है, अतएव उन्होंने
'कल्पनापोष' = कल्पना से रहित, अमान्त = अमरहित, प्रत्यक्ष = प्रत्यक्ष प्रमाण होता
है, निविकल्पक = निविकल्पक नाम का विकल्प = सविकल्पक ज्ञान, वस्तुनिर्भासासम्-
बाध = क्षण विनाश होने के कारण पदार्थ का प्रकाशक न होने से, असत्तादातु = अय-
पदार्थ होने से, उपह्वय = अप्रमाण है । अर्थात् वस्तु स्वरूप के प्रकाश से असम्बद्ध
विषय में उत्पन्न होने के कारण सविकल्पक प्रत्यक्ष भ्रम है यह कारिका का सारांश
अर्थ है यही शंकरमिश्र ने पूर्वपक्षमत के विवरण में 'तथाहि' यहाँ से कहा है ।
ऐसा उनके प्रमाण ग्रन्थों में वचन प्रमाण माना गया है । वह इस प्रकार है कि वह
सविकल्पक ज्ञान शब्द सम्बन्ध के योग्यता से प्रकाशित होता है, किन्तु अभिलाप
(सत्ता) अर्थात् नाम से पदार्थ का सम्बन्ध नहीं हो सकता, जिससे यह घट है
अथवा यह पट है इस प्रकार नाम (शब्द) से सम्बद्ध क्षणविनाशी अर्थ (वस्तु) का
ज्ञान होगा । जाति आदि भी वास्तविक नहीं हैं, जिससे उनका वैशिष्ट्य
(जाति की आधारता) विषय (पदार्थों) में इन्द्रिय से गृहीत होगा । स्वस्वरूप सदा
पदार्थ का असत् जाति आदिकों के साथ सम्बन्ध भी नहीं हो सकता, और न असत्
पदार्थ इन्द्रियो का विषय हो सकता है, इस कारण इन्द्रिय से वस्तु का आलोचन
(केवल ग्रहण) ज्ञान होता है, और आलोचन (ग्रहण) ज्ञान के सामर्थ्य से ही
उत्पन्न होने वाला सविकल्पक ज्ञान उस विषय में मनुष्य को प्रवृत्त करता हुआ
सविकल्पक ज्ञान भी प्रत्यक्ष ऐसा कहा जाता है ।

(उक्त बौद्धादि मत का खण्डन करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—वह यह
बौद्धादि मत असंगत है, क्योंकि शब्द के सम्बन्ध से प्रकाशित होने की योग्यता भी
हो सकती है तथा इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने से सविकल्पक भी
प्रमाण हो सकता है, अतः पूर्वपक्षी का हेतु सन्दिग्ध व्यतिरेकि नामक दुष्ट हेतु है ।
(अर्थात् सविकल्पक भी शब्द सम्बन्ध से प्रकाशित होने की योग्यता रखता हुआ

सम्भवत्येव, सुरभिचन्दनमिनिवदुपनीतभानसम्भवात् । यद्वा संज्ञावैशिष्ट्यं प्रत्यक्षज्ञाने न भासते संज्ञायाः स्मरणमात्रम्, स्मृतैव सा अर्थव्यावर्त्तिका, अभावज्ञाने प्रतियोगिस्मरणवत् । जात्यादिकञ्च वस्तुभूतं साधितमेवातः सविकल्पकमपोन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वात् प्रत्यक्षम् । ननु निर्विकल्पकं न व्यवहारप्रवर्तकं न वा व्यवहारविषय इति किन्तु प्रमाणमिति चेत्, सविकल्पकमेव । तद्वि विशिष्टज्ञानम्, न च विशेषणज्ञानमन्तरेण तदुत्पद्यते, विशिष्टज्ञाने हि विशेषणज्ञानविशेष्येन्द्रियसन्निकर्षतदुभयासंसर्गाग्रहस्य कारणत्वावधारणात् । यत्र यथा ज्ञानं यत्कारणकञ्च तद्विशदयितुमाह —

भी इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता हुआ प्रमाण हो जायगा । इस कारण बोद्ध के कहा हुआ सविकल्पक का अप्रामाण्य एक में प्रामाण्य के साथ वर्तमान इन्द्रिय सन्निकर्षजन्यता से सिद्ध है, अतः सविकल्पक में अप्रामाण्य का निश्चय नहीं हो सकता । (बोद्धोक्त बाधक का निवारण करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि) — चाक्षुष प्रत्यक्षज्ञान में नाम (संज्ञा) का वैशिष्ट्य (शब्दयुक्तता) तो हो ही सकती है, क्योंकि पूर्व में सुगन्धता न होने के पश्चात् चन्दन काण्ड को देखकर 'यह सुगन्धि चन्दन है' ऐसा कालान्तर में ज्ञानरूप सन्निकर्ष से जिस प्रकार मानसप्रत्यक्ष होता है उसी प्रकार प्रकृत में भी सविकल्पक प्रत्यक्ष में शब्द का सम्बन्ध होने से कोई बाधक नहीं है । (यदि ऐसा है तो नाम के न जानने की अवस्था में इन्द्रिय सन्निकर्ष रहने पर भी प्रत्यक्ष न होना । इस शंका के समाधानार्थ शंकरमिश्र दूसरी प्रकार से सविकल्पक में नाम का सम्बन्ध सिद्ध करते हुए कहते हैं कि) — अथवा प्रत्यक्ष ज्ञान में नाम (शब्द) युक्तता प्रकाशित नहीं होती, किन्तु नाम (वाचक शब्द) का केवल स्मरण होता है । और स्मरण नाम से वह दूसरे पदार्थ को हटा देती है, जिस प्रकार अभाव के ज्ञान में प्रतियोगी का स्मरण दूसरे अभाव को हटा देता है । जाति आदि भी जिस प्रकार भावरूप द्रव्यादिकों से भिन्न पदार्थ है यह पूर्वप्रश्न में सिद्ध कर चुके ही हैं, अतः सविकल्पक प्रत्यक्ष भी इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने के कारण प्रमाण है यह सिद्ध होता है । यदि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष व्यवहार भी प्रवृत्ति नहीं कराता अथवा व्यवहार का विषय नहीं होना इनमें क्या प्रमाण, ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो सविकल्पक ही इसमें प्रमाण है, क्योंकि विशिष्ट ज्ञानरूप सविकल्पक ज्ञान होता है, और वह विशिष्टज्ञान विशेषण ज्ञान के बिना उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि विशिष्ट ज्ञान में विशेषण का ज्ञान, विशेष्य का इन्द्रिय से सन्निकर्ष तथा विशेषण और विशेष्य का परस्पर में सम्बन्ध का अज्ञान कारण होता है ॥ २ ॥

जिस गुणादि पदार्थ में जिस प्रकार ज्ञान होता है तथा जिस कारण से होता है उसे स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार कहते हैं—

ज्ञाननिर्देशे ज्ञाननिष्पत्तिविधिरुक्तः ॥ ३ ॥

ज्ञानान्तरान्निर्देश्य यत्प्रकारकं यद्विषयकं यद्धर्मकं तत्र ज्ञाननिर्देशे कर्तव्ये
ज्ञानस्य निष्पत्तिविधिरूपत्तिप्रकार उक्तः—उच्यते इत्यर्थः । आदिकर्मणि सवि-
धानात् ॥ ३ ॥

कीदृशो निष्पत्तिविधिस्तमाह—

गुणकर्मसु सन्निकृष्टेषु ज्ञाननिष्पत्तेर्द्रव्य कारणम् ॥४॥

गुणेषु रूपादिषु कर्मसु चोत्क्षेपणादिषु यज्ज्ञानं निष्पद्यते तत्र द्रव्यं कारणं
योग्यद्रव्यनिष्ठमेव सदुभय गृह्यत इति द्रव्ययोग्यतेषु तत्र सन्त्रम्, सन्निकर्षश्च

पदपदार्थ—ज्ञाननिर्देशे = विशेष ज्ञान की विधि को कहने के लिये, ज्ञाननिष्पत्ति-
विधि = ज्ञान की उत्पत्ति का प्रकार, उक्त = कहा गया ॥ ३ ॥

भाषार्थ—किसी विशेषरूप से विषय, विशेषण तथा सम्बन्ध को विषय करने
वाले ज्ञान का निरूपण करने के लिए ज्ञान के उत्पत्ति का प्रकार कहा जाता
है ॥ ३ ॥

उपस्कार—एक दूसरे ज्ञान से निर्देश (निरूपण) के योग्य तथा जिस प्रकार
(विशेषण) वाला एव जिस धर्म को लेकर जिस विषय में जो ज्ञान होता है उसमें
ज्ञान का निर्देश करने के लिये ज्ञान के निष्पत्ति (उत्पत्ति) का विधि (प्रकार)
'उक्त' उच्यते अर्थात् कहा जाता है यह सूत्र का अर्थ है, क्योंकि आदि कर्म में
'क्त' प्रत्यय होने का व्याकरण में विधान है ॥ ३ ॥

यह ज्ञान की उत्पत्ति का विधि किस प्रकार है यह सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—गुणकर्मसु = गुण तथा कर्मपदार्थों में, सन्निकृष्टेषु = जो इन्द्रिय से
सन्निकृष्ट द्रव्यों में वर्तमान हों, ज्ञाननिष्पत्ते = ज्ञान के उत्पत्ति का, द्रव्य = द्रव्य
पदार्थ, कारण = कारण है ॥ ४ ॥

भाषार्थ—इन्द्रियो से परम्परा सम्बन्ध से सन्निकृष्ट रूपादिगुण तथा उत्क्षेप-
णादि कर्मों का जो प्रत्यक्षरूप ज्ञान होता है उससे उन गुण तथा कर्मों के आश्रित
द्रव्यों में प्रत्यक्ष होने की योग्यता होता ही तन्त्र (प्रयोजक) है, अर्थात् प्रत्यक्ष
योग्य द्रव्यों में वर्तमान गुण तथा क्रिया के प्रत्यक्षरूप ज्ञान की उत्पत्ति में प्रत्यक्ष
योग्य द्रव्य कारण है ॥ ४ ॥

उपस्कार—रूप आदि गुण, तथा उत्क्षेपण आदि क्रियाओं का जो ज्ञान उत्पन्न
होता है उसमें द्रव्य कारण है, प्रत्यक्ष योग्य द्रव्यों में वर्तमान ही गुण तथा क्रिया का
ग्रहण होता है । इस कारण द्रव्य की प्रत्यक्ष होने की योग्यता ही द्रव्य में वर्तमान
गुण तथा क्रिया के प्रत्यक्ष होने में प्रयोजक है, किन्तु उन गुण तथा कर्मों का सन्निकर्ष

तेषां द्रव्यघटित एव, संयुक्तसमवायेन तेषां ग्रहणात् । यद्यपि विपक्षचम्पकावय-
वकर्पूरभागानामयोग्यातां गन्धो गृह्यते, तथापि सन्निकर्षघटकं तत्रायोग्यमपि
द्रव्यमेव । यद्यपि शब्दप्रदे द्रव्ययोग्यता न तन्त्र, तथापि तत्रैव समवेतः शब्दो
गृह्यत इति तदेव तन्त्रम् । नन्वदृष्टसन्निकर्षकल्पना कुतः कियते इति चेन्न,
ज्ञाननिष्पत्तेः, कार्येण हि कारणमवश्य कल्पनीयमिति भावः ॥ ४ ॥

अपरं ज्ञाननिष्पत्तिविधिमाह—

सामान्यविशेषेण सामान्यविशेषाभावात्तत एव ज्ञानम् ॥ ५ ॥

सामान्यं यत्ता सस्य विशेषा द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वानि एवमेतेषामपि सामा-
न्यानां विशेषाः पृथिवीत्वादिरूपत्वाद्युत्क्षेपणत्वादीनि । तत्र द्रव्यगतानां सा-

द्रव्य को लेकर ही होता है, क्योंकि चक्षु आदि इन्द्रियो से संयुक्त द्रव्यो में गुण तथा
क्रिया समवायसम्बन्ध से गृहीत होते हैं । यद्यपि प्रत्यक्ष के अयोग्य कर्पूर के भागों
को (जो चम्पा पुष्प के अवयवों से सम्बद्ध होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं होते) सुगन्ध
का ग्रहण होता है, तथापि उसमें भी घ्राण इन्द्रिय से सन्निकर्ष के घटक (योजक)
वहा भी प्रत्यक्ष के अयोग्य द्रव्य ही होते हैं । यद्यपि शब्द गुण के ग्रहण होने से उसके
आधार आकाशद्रव्य में प्रत्यक्ष की योग्यता तो तन्त्र (कारण) नहीं है (क्योंकि
आकाश का प्रत्यक्ष नहीं होता), तथापि उस आकाश में समवेत शब्द का ही ग्रहण
होता है । इस कारण वही प्रयोजक है । 'इस प्रकार न दिखाई पड़नेवाले सन्निकर्ष
की कल्पना क्यों किया जाय ?' इस शका का यह उत्तर है कि ज्ञान होता है इस
कारण सन्निकर्ष मानना आवश्यक है, क्योंकि कार्य होने से कारण अवश्य मानना
होगा यह सूत्र का आशय है ॥ ४ ॥

दूसरे ज्ञान के निष्पत्ति का प्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—सामान्यविशेषेषु=द्रव्यत्वगुणत्व आदि सामान्य विशेषों में, सामा-
न्यविशेषाभावात् = दूसरे सामान्य विशेषों के न होने के कारण, ततः एव = इसी
(प्रत्यक्ष योग्य आधारविशेष) से, ज्ञान = ज्ञान होता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—द्रव्यत्व गुणत्व आदि सामान्य के विशेषों में अवस्था के भय के
कारण दूसरे सामान्यविशेष न होने से प्रत्यक्ष योग्य आधारद्रव्य में रहने से ही सम्पूर्ण
इन्द्रियो से ज्ञान होता है ॥ ५ ॥

रूपस्कार—सामान्य नाम सत्ता जाति, उसके द्रव्यत्व, गुणत्व तथा कर्मत्व ये
विशेष हैं, इसी प्रकार इन द्रव्यत्वादि सामान्यों के भी पृथिवीत्व, रूपत्व, उरक्षेपणत्व
ये विशेष हैं । उनमें से द्रव्यो में वर्तमान द्रव्यत्वादि सामान्यों का उसी ही प्रत्यक्ष-
योग्य द्रव्यरूप आशय के विशेष से ही सम्पूर्ण इन्द्रियों से ज्ञान होता है । और उसी
प्रत्यक्षयोग्य द्रव्यरूप आशय के कारण होनेवाले संयुक्त समवायसम्बन्ध से गुण तथा

सामान्यानां तत एव योग्याश्रयविशेषादेव तन्निबन्धनाच्च संयुक्तसमवायात् गुण-
कर्मगतान्तरापि सामान्यानां तत एव योग्याश्रयादेव तन्निबन्धनाच्च संयुक्तस-
मवेतसमवायात् समवेतसमवायाच्च भावेन्द्रिय ज्ञानम्, -गुणत्वे च संयुक्तस-
मवेतसमवायात्, शब्दत्वकत्वादौ समवेतसमवायात् । सत्तायाः संयुक्त-
समवायात् संयुक्तसमवेतसमवायात् समवेतसमवायाच्च सार्वेन्द्रियं ज्ञानम् ।
गुणत्वे च संयुक्तसमवायि समवायश्च न प्रत्यासत्तिरिति । ननु तत एव स्वाश्र-
यसन्निकर्षादेवेत्यवधारणानुपपत्तिः, यत्. सामान्ये विशेषेषु च पृथिवीत्वादेषु
सामान्यविरोधान्तरमात्येव तत्सन्निकर्षोऽपि कारणमेवात आह—सामान्यवि-
शेषाभावादिति । न हि सामान्यविशेषेषु सामान्यविशेषा वर्तन्ते, अनवस्था-
प्रसङ्गात् । तेषां परस्पर भेदप्रतीति स्वरूपत एव, गवेतरावृत्तित्वे सति सकल-
गोवृत्तित्वलक्षणोपाधिरभेदाद्वा । एव घटत्वादावपीति ॥ ५ ॥

कर्मपदार्थों में वर्तमान गुणत्व, कर्मत्व आदि जातियों का ज्ञान भी उसी प्रत्यक्षयोग्य
आश्रय होने से ही होता है । और उसी से इन्द्रिय संयुक्त द्रव्य में समवायसम्बन्ध से
वर्तमान रूपादि गुणों में समवेत रूपत्वादि सामान्यों का भी सम्पूर्ण इन्द्रियो से ज्ञान
मुख्य आश्रय द्रव्य के प्रत्यक्ष योग्य होने से ही होता है । (इसी का आगे विवरण
शकरमिश्र करते हैं)—इन्द्रियसंयुक्तद्रव्य में समवेत रूपादिगुणों में समवायसम्बन्ध
से गुणत्व जाति का ग्रहण होता है, और शब्द में वर्तमान शब्दत्व सामान्य, एवं 'क-
शब्दत्व' आदि विशेष जातियों को भी श्रोत्ररूप आकाश से समवायसम्बन्ध से वर्त-
मान शब्द में समवायसम्बन्ध से रहने के कारण समवेतसमवाय से शब्दत्वादि
जातियों का ज्ञान होता है । और सत्ता जाति को तो इन्द्रियसंयुक्त घटादि द्रव्यों में
समवायसम्बन्ध से तथा इन्द्रियसंयुक्त घट में समवेतरूप में सत्ता जाति का समवाय
होने से संयुक्त समवेत समवाय से, एक श्रोत्र में समवेत शब्द में सत्ता जाति का
समवेत समवायसम्बन्ध से, इस प्रकार सम्पूर्ण इन्द्रियों से ज्ञान होता है । गुणत्व
जाति के ज्ञान में संयुक्तसमवाय तथा केवल समवाय ये दोनों सन्निकर्ष (सम्बन्ध)
नहीं होते । यदि उसी से अर्थात् अपने आश्रय के सन्निकर्ष से ही ज्ञान होता है यह
अवधारण (निश्चय) नहीं हो सकता, क्योंकि एक सामान्य में तथा पृथिवीत्व आदि
विशेषों में भी दूसरे सामान्य तथा विशेष वर्तमान हैं, अतः उनको सन्निकर्ष भी
कारण होगा । इस शक के समाधान के लिये सूत्रकार ने—सामान्यविशेषानावात्
सामान्यविशेष न होने से, यह हेतु दिया है, जिसका यह अर्थ है कि एक सामान्य
विशेषों में दूसरे सामान्यविशेष नहीं रहते, क्योंकि ऐसा न मानने से अनवस्था दोष
हो जायगा । अतः उन सामान्यविशेषों का परस्पर भेदज्ञान उनके स्वरूप से ही होता
है । अर्थात् गौ से भिन्न में न रहते हुए सम्पूर्ण गोवों में वर्तमान होना रूप जाति भिन्न

ननु सामान्यविशेषेषु सामान्यविशेषाभावाद्यथा तन्निरपेक्षमेव ज्ञानं तथा द्रव्यगुणकर्मस्वपि किं तन्निरपेक्षमेव ? नेत्याह—

सामान्यविशेषापेक्ष द्रव्यगुणकर्मसु ॥ ६ ॥

ज्ञानमुत्पद्यते इति प्रकृतम् । द्रव्यगुणकर्मसु द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वविशिष्टबुद्धिस्तावदस्ति. विशिष्टज्ञानञ्च विशेष्यविशेषणेन्द्रियसन्निकर्षादुत्पद्यते इति सामान्यविशेषापेक्षा सत्रायश्यकी । भवति हि द्रव्यमिदं गुणोऽयं कर्मेदमिति विशिष्टज्ञानमिति भावः ॥ ६ ॥

तत् किं द्रव्येऽपि सामान्यविशेषमात्रापेक्षमेव ज्ञानम् ? अत आह—

द्रव्ये द्रव्यगुणकर्मपेक्षम् ॥ ७ ॥

धर्मरूप उपाधि भेद के रहने से मोरवादिरूप सामान्यविशेषों का ज्ञान हो जायगा । इसी प्रकार घटत्व, पटत्व, आदि सामान्यविशेषों में भी ज्ञान लेना चाहिये ॥ ५ ॥

“एक सामान्यविशेष में दूसरे सामान्यविशेष के न रहने से जिस प्रकार सामान्य-विशेष की अपेक्षा न कर ही ज्ञान होता है, उसी प्रकार द्रव्य, गुण तथा कर्मपदार्थों का भी ज्ञान बिना द्रव्यत्व आदि सामान्यविशेषों की अपेक्षा के क्यों न माना जाय” इस पूर्वपक्षी की शंका के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—सामान्यविशेषापेक्ष = द्रव्यत्व गुणत्व, कर्मत्वरूप सामान्यविशेषों की अपेक्षा करनेवाला (ज्ञान होता है), द्रव्यगुणकर्मसु = द्रव्य, गुण तथा कर्म-पदार्थों में ॥ ६ ॥

भावार्थ—विशिष्ट ज्ञान होने के कारण पृथिवी आदि द्रव्य, रूप आदि गुण, तथा उत्क्षेपण आदि कर्मपदार्थों में द्रव्यत्व, गुणत्व तथा कर्मत्व नामक सामान्य-विशेष की आवश्यकता है, क्योंकि यह द्रव्य है, यह गुण है, यह कर्म है ऐसा विशिष्ट ज्ञान होता है ॥ ६ ॥

उपस्कार—सूत्र में ज्ञान उत्पन्न होता है यह प्रस्तुत है । द्रव्य, गुण तथा कर्म पदार्थों में द्रव्यत्व, गुणत्व तथा कर्मत्व का विशिष्ट ज्ञान होता है, और यह विशिष्ट ज्ञान विशेष्य तथा विशेषण के साथ इन्द्रियों के सम्बन्ध होने से उत्पन्न होता है, इस कारण द्रव्यत्वादि सामान्य विशेषों की अपेक्षा आवश्यक है । क्योंकि यह द्रव्य है, यह गुण है, यह कर्म है, ऐसा विशिष्ट ज्ञान होता है यह सूत्र का भाव है ॥ ६ ॥

तो क्या द्रव्य में भी केवल द्रव्यत्वरूप सामान्यविशेष की अपेक्षा से ही ज्ञान होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—द्रव्ये = पृथिवी आदि द्रव्यपदार्थ में, द्रव्यगुणकर्मपेक्षं=द्रव्यगुण, तथा कर्म पदार्थों की अपेक्षा से भी ज्ञान होता है ॥ ७ ॥

भावार्थ—यह द्रव्य है इस द्रव्यत्व सामान्यविशेष की अपेक्षा करने वाली बुद्धि

ज्ञानमुत्पद्यते इति प्रकृतम् । घण्टावान् शुक्लो गौर्गच्छतीति ज्ञानम् । तत्र द्रव्यं घण्टा विशेषणम्, शुक्ल इति गुण, गच्छतीति कर्म । तथाच नागृहीत-विशेषणा विशिष्टप्रतीतिर्न वा विशेषणसम्बन्धमन्तरेणेति भवति द्रव्यगुणक-र्मापेक्षेति भाव ॥ ७ ॥

तत् किं गुणकर्मणोरपि गुणकर्मोपेक्षा ? नेत्याह—

गुणकर्मसु गुणकर्माभावाद् गुणकर्मपि न विद्यते ॥ ८ ॥

ज्ञानमिति शेष । गुणे गुणविशिष्टबुद्धेः कर्मसु कर्मविशिष्टबुद्धेरभावात् गुणकर्मोपेक्षा न तद्वत्बुद्धिः । न हि गुणे गुणो, न वा कर्मसु कर्म, येन तत्र विशेषणत्वेन भासेतेति भाव ॥ ८ ॥

के समान यह घटावाली श्वेत गौ जा रही है' इत्यादि घटरूप द्रव्य, शुक्ल वर्ण-रूप गुण तथा गमनरूप क्रिया की भी लेकर ज्ञान होता है अतः द्रव्य ज्ञान में सामान्यविशेष के समान द्रव्य, गुण तथा कर्म की भी अपेक्षा से ज्ञान होता है ।

उपस्कार—इस सूत्र में ज्ञान उत्पन्न होता है, यह प्रस्तुत है । (अर्थात् द्रव्य में द्रव्य गुण तथा कर्म की अपेक्षा से ज्ञान होता है ऐसा अर्थ जानना) । क्योंकि 'यह घटा वाली श्वेत वर्ण की गाय गमन कर रही है' ऐसा ज्ञान होता है । इसमें घटरूप द्रव्य गौ में विशेषण है, शुक्लरूप गुण तथा गमन करती है इसमें गमन क्रिया भी गौ में विशेषण है । ऐसा होने से विशेषण के ज्ञान के बिना विशिष्ट ज्ञान नहीं होता अथवा विशेषण के सम्बन्ध के बिना नहीं होता । इस कारण सामान्यविशेष के समान द्रव्य, गुण तथा कर्म की भी अपेक्षा होती है यह सूत्र का आशय है ॥ ७ ॥

तो क्या द्रव्य के समान गुण तथा कर्म के ज्ञान में भी गुण और कर्म की अपेक्षा होती है ? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं, नहीं—

पदपदार्थ—गुणकर्मसु = गुण और कर्मपदार्थों में, गुणकर्माभावात् = गुण तथा कर्म के न रहने से, गुणकर्मपि न = गुण और कर्म की अपेक्षा करने वाला, न विद्यते = ज्ञान नहीं होता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—गुण में गुणविशिष्ट ज्ञान तथा कर्म में कर्मविशिष्ट ज्ञान के न होने से गुण तथा कर्म पदार्थ में गुण तथा कर्म की अपेक्षा रखनेवाला ज्ञान नहीं होता ॥ ८ ॥

उपस्कार—सूत्र में आकाशित 'ज्ञान' इस पद का शेष भाग पूर्ण करना । गुण-पदार्थ में गुणविशिष्ट ज्ञान के तथा कर्मपदार्थ में कर्मविशिष्ट ज्ञान के न होने के कारण गुण तथा कर्मपदार्थ में गुण तथा कर्म की अपेक्षा रखनेवाली बुद्धि नहीं होती, क्योंकि गुण में गुण, अथवा कर्मपदार्थ में कर्म नहीं रहता, जिससे विशेषण-रूप से गुण तथा कर्म का ज्ञान (ज्ञान) हो यह सूत्र का आशय है ॥ ८ ॥

ननु गुणकर्मणोः स्फुरणाद् गुणबुद्धौ कर्मबुद्धौ च कथं न गुणकर्मपेक्षेत्या-
शङ्क्य प्रकरणान्तरमारभते—

समवायिन. श्वेत्याच्छ्वेत्यबुद्धेश्च श्वेते बुद्धिस्ते एते कार्यकारणभूते ॥

समवायिन इत्यभिधानात् सम्बन्धस्य कारणतामाह, तथाच गुणे गुणसम-
वायाभावात् कर्मसु कर्मसमवायाभावाच्च न तत्तज्ज्ञाने गुणकर्मपेक्षा विशे-
षणत्वेन विशेष्यत्वेन त्वस्त्येव । एवञ्च श्वेतः शङ्ख इत्यादिप्रतीती श्वेत्यसम-
वायस्य श्वेत्यगुणस्य श्वेत्यविशेषणज्ञानस्य च कारणत्वमित्युक्तम्, तथा च वि-
शेषणसम्बन्धविशेषणतज्ज्ञानानां विशिष्टप्रत्यक्षप्रमा प्रति कारणत्वमिति, तेन
पूर्वोक्तं सर्वं सिध्यति ॥ ९ ॥

ननु यथा घण्टावानित्यत्र द्रव्यापेक्ष द्रव्यज्ञानम्, तथाऽयं स्तम्भः अयं

'गुण तथा क्रिया का स्फुरण (ज्ञान) होने से गुण के ज्ञान में तथा कर्म के ज्ञान
में भी गुण तथा कर्म की अपेक्षा क्यों न होगी ?' इस शका के समाधानार्थं सूत्रकार
दूसरा प्रकरण प्रारम्भ करते हैं—

पदपदार्थ—समवायिन = समवायसम्बन्ध से वर्तमान, श्वेत्यात् = श्वेतगुण
से, श्वेत्यबुद्धे च = और श्वेत्य ज्ञान से भी, श्वेते = श्वेत द्रव्य में, बुद्धि = ज्ञान
होता है । ते एते = वे ये दोनों कार्यकारणभूते = कार्य तथा कारणरूप हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ—'श्वेत शङ्ख है' इत्यादि ज्ञान में श्वेततागुण का समवायसम्बन्ध,
श्वेततारूप गुण, श्वेतता विशेषण ज्ञान भी कारण है, ऐसा होने से विशेषण का
सम्बन्ध विशेषण और उसका ज्ञान यह तीनों विशिष्ट प्रत्यक्षरूप यथार्थ ज्ञान में
कारण हैं जिससे पूर्वोक्त सिद्ध होता है ॥ ९ ॥

उपस्कार—सूत्र में 'समवायिनः' समवायसम्बन्ध के सम्बन्धी इस कथन से
समवायसम्बन्ध की कारण कहा गया है, ऐसा होने से गुणपदार्थ में गुण का सम-
वायसम्बन्ध न होने से, तथा कर्मपदार्थ में कर्म का समवाय न होने के कारण भी
इस ज्ञान में गुण तथा कर्म की विशेषणरूप से अपेक्षा नहीं है, विशेष्यरूप से है ही
ऐसा होने से 'श्वेत शङ्ख है' इत्यादि ज्ञान में श्वेत गुण का समवाय, श्वेततारूप
गुण तथा श्वेततारूप विशेषण का ज्ञान भी कारण है यह कहा गया है, ऐसा होने
से विशेषण का सम्बन्ध, विशेषण तथा विशेषण का ज्ञान ये तीनों विशिष्ट प्रत्यक्ष
के यथार्थ ज्ञान में कारण हैं ऐसा होने से पूर्वोक्त सपूर्ण सिद्ध होता है, अर्थात् गुण
तथा कर्म बुद्धि में गुण कर्म की अपेक्षा नहीं होती, यह सिद्ध हो जाता है ॥ ९ ॥

जिस प्रकार 'घंटाबली गी है' इस ज्ञान में घंटारूप द्रव्य की विशेषणरूप से
अपेक्षा करने वाले गी का ज्ञान होता है, उसी प्रकार 'यह स्तम्भ है, यह कलश है'

कुम्भ इत्यादावपि द्रव्याविशेषणक्रियुद्धौ द्रव्यबुद्धिः कारणम्, तथाच क्वापि प्रथमतो द्रव्यबुद्धिर्न स्यादित्यत आह—

द्रव्येष्वनितरेतरकारणा. ॥ १० ॥

बुद्धय इति शेषः । स्तम्भज्ञानानन्तरकालेनमपि कुम्भज्ञानं न स्तम्भज्ञान-
कार्यं स्तम्भस्य कुम्भ प्रति विशेषणत्वायोगात् ॥ १० ॥

ननु घटपटादिवुद्धीनां क्रमो दृश्यते, क्रमश्च कार्यकारणभावघटित एवेत्यत आह—

कारणायौगवशात् कारणक्रमाच्च घटपटादिवुद्धीना क्रमो न हेतु-
फलमावात् ॥ ११ ॥

इत्यादिक भी द्रव्य को विशेषण न करनेवाले ज्ञानों में भी द्रव्यबुद्धि कारण है, ऐसा होने से कहीं भी प्रथम में द्रव्यबुद्धि न होगी इस शका के समाधान में सूत्र-
कार कहते हैं—

पदपदार्थ—द्रव्येषु = द्रव्यपदार्थों में, अनितरेतरकारणा = परस्परकारणता न
रखने वाली (बुद्धि होती है) ॥ १० ॥

भाषार्थ—स्तम्भज्ञान के पश्चात् होनेवाले भी कलशज्ञान में स्तम्भज्ञान
कारण नहीं है, क्योंकि स्तम्भ कुम्भ का कारण नहीं है, अतः द्रव्यों में परस्पर कार-
णता न रखने वाली बुद्धि होती है ॥ १० ॥

उपस्कार—सूत्र में आकाशित 'बुद्धय' बुद्धिया होती है इस पद में शेषभाग
की पूर्ति करना । स्तम्भज्ञान के पश्चात् काल में भया हुआ भी कलश का ज्ञान
स्तम्भ के ज्ञान का कार्य नहीं है, क्योंकि स्तम्भ, कलश में विशेषण (कारण)
नहीं है ॥ १० ॥

'घट, पट इत्यादि विषयों के ज्ञान का क्रम दिखाई पड़ता है, और वह क्रम
कार्यकारणभाव होने से ही हो सकता है' इस पूर्वसूची की शका के समाधानार्थ सूत्र-
कार कहते हैं—

पदपदार्थ—कारणायौगवशात्=कारण के एक काल में न होने से, कारण-
क्रमात् च = उन कारण के क्रम से भी, घटपटादिवुद्धीना = घट, पट आदि विषयों के
ज्ञानों का, क्रम = क्रम होता है, न = नहीं होता, हेतुफलमावात्=कारण कार्य
भाव होने से ॥ ११ ॥

भाषार्थ—कारणों के युगपत् न होने के कारण, कारण के क्रम से ही घटादि
विषय के ज्ञानों का क्रम होता है नकि परस्पर कार्यकारणभाव होने से ॥ ११ ॥

कारणक्रमाधीनो घटपटादिबुद्धीनां क्रमो, न हेतुफलभावाधीनः । कारण-
क्रम एव कथ्यमत आह—कारणायौगपद्यादिति । बुद्धीनां यौगपद्यं प्रतिपिद्धमतो
नानाबुद्धिकारणानामपि न यौगपद्यम्, यदि तु कारणयौगपद्यं भवेत्तदा कार्य-
यौगपद्यमप्यापद्येत. तथाच युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गमिति बहु भव्येतेति
भावः ॥ ११ ॥

इति श्रीशाङ्करे चैशेषिकसूत्रोपस्कारेऽष्टमाध्यास्य प्रथमाह्निकम् ।



उपस्कार—कारणों के क्रम के अधीन घट, पट आदि विषय ज्ञानों का क्रम
होता है न कि परस्पर घटादिकों के कारण कार्यभाव के अधीन । 'कारणों का क्रम
ही कसे होता है' इस प्रश्न पर सूत्रकार कहते हैं—'कारण के युगपत् न होने से'
ऐसा । ज्ञान एक काल में होते हैं यह लघ्वित्त हो चुका है, अतः अनेक ज्ञानों के
कारणों का भी एक काल में होना निषिद्ध है, यदि कारण एक काल में हो तो
कार्य भी एक काल में होंगे, ऐसा होने से एक काल में अनेक ज्ञानों का न होना
मन का तात्पर्य लिङ्ग है इत्यादि पूर्वोक्त सभी सिद्धान्त असंगत हो जायेगा यह सुत्र
का आशय है ॥ ११ ॥

इस प्रकार शंकरमिश्र कृत उपस्कार व्याख्या में अष्टमाध्यास
प्रथमाह्निक समाप्त हुआ ।



अष्टमाध्याये द्वितीयाह्निकम्

प्रात्यक्षिकस्य सविकल्पकस्य निर्विकल्पकस्य च ज्ञानस्य निष्पत्तिविधि-
भिर्भाष्येदानीं विशिष्टवैशिष्ट्यप्रत्यक्षमभिधातुमेकदेशमाह—

अयमेव त्वया कृत भोजयनमिति बुद्ध्यपेक्षम् ॥ १ ॥

सन्निकृष्टे वस्तुनि तावदयमिति बुद्धिरुत्पद्यते, विप्रकृष्टे च वस्तुन्येव इति
क्रियायां स्वतन्त्रोऽयमिति बुद्धिमपेक्ष्य त्वयेति कर्तृत्वोपरक्ता बुद्धिः । कारणव्या-
पारविषयत्वबुद्धिमपेक्ष्य कृतमिति कर्मबुद्धिः । अयं भुजिक्रियायां कर्ता प्रयो-
जकश्चायमिति बुद्धिमपेक्ष्य भोजयेति । नियोज्यनियोकृतव्यापारस्य विषयोऽय-
मिति बुद्ध्यपेक्षमेवमिति । एवमन्यवपि बुद्ध्यपेक्षमूहनीयम् ॥ १ ॥

सविकल्पक तथा निर्विकल्पक दोनों प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति की विधि
को निरूपण कर, साप्रत विशिष्ट वैशिष्ट्य (विशिष्टज्ञान के विशेषण तथा विशेष
भाव विषय करने वाले) प्रत्यक्ष का निरूपण करने के लिये उसके एकदेश
(एक भाग) को सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अयं=यह है, एव = वह है, त्वया=तुमने, कृतं=किया है, भोजय =
भोजन कराओ, एन = इसे, इति=यह सम्पूर्ण, बुद्ध्यपेक्ष = बुद्धि की अपेक्षा करता
है ॥ १ ॥

भावार्थ—समीप के अनुष्य में वह है, इसके पुरुष में वह है, तुमने किया यह
स्वतन्त्रकर्ता-विषयक ज्ञान, यह भोजन कर्ता है, यह भोजन का प्रयोजक है, इस
बुद्धि की अपेक्षा से भोजन कराया—यह ज्ञान, यह नियोग करने योग्य तथा नियोग
कर्ता का विषय है इस ज्ञान की अपेक्षा से 'एन' इसे ऐसी बुद्धि होती है ॥ १ ॥

उपस्कार—संनिहित प्राणिरूप पदार्थ में 'अयम्' 'यह है' ऐसी बुद्धि उत्पन्न
होती है, और दूरस्थ प्राणी आदि पदार्थ में 'एव' 'वह है' ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती
है । क्रिया में यह स्वतन्त्र है इस ज्ञान की अपेक्षा से 'त्वया' 'तुमने' ऐसी कर्ता के
सम्बन्ध से बुद्धि होती है (अर्थात् किसी क्रिया के सिद्ध होने में कारण में जो
प्रधानरूप पदार्थ होता है, वह स्वतन्त्र होता है उसका ज्ञान कर्ता के ज्ञान में
कारण है, क्योंकि 'स्वतन्त्र कर्ता' स्वतन्त्र को कर्ता कहते हैं—ऐसा व्याकरण का
नियम है । कारण के व्यापार के विषय है इसी बुद्धि की अपेक्षा से 'कृत' 'किया गया'
ऐसी कर्म की बुद्धि होती है । यह प्राणी भोजन किया में कर्ता है और यह उसका
प्रयोजक (प्रेरक) है इस बुद्धि की अपेक्षा से 'भोजय' 'भोजन कराओ' ऐसा ज्ञान
होता है । नियोज्य (आज्ञा के योग्य) तथा नियोजक (आज्ञा देनेवाले) के
व्यापार का यह विषय है इस बुद्धि की अपेक्षा से 'एन' 'इसे' यह कर्म का ज्ञान

अन्वयव्यतिरेकपरिच्छेदमेवैतदित्याह—

दृष्टेषु भावाददृष्टेष्वभावात् ॥ २ ॥

यथाऽयमितिबुद्धेः सन्निकृष्टो विषयः, एष इति बुद्धेर्विप्रकृष्टोऽपि बुद्ध्याह-
तो विषयः, त्वयेतिबुद्धेः सन्निकृष्ट कर्त्ता विषयः, कृतमिति बुद्धेः कर्म विषयः,
भोजयेतिबुद्धेर्नियोज्यनियोक्तारौ विषयौ, एनमितिबुद्धेस्तदुभयव्यापारौ विषयः,
सन्निकृष्टो भवति तदेतादृशो बुद्धिरूपयते, अदृष्टेषु तु विषयेषु नैता बुद्धयः प्रा-
दुर्भवंतीत्यन्वयव्यतिरेकगम्यमेवैतदित्यर्थः ॥ २ ॥

इदानीं प्रकरणान्तरमारभते—

होता है (अर्थात् विशिष्ट के विशेष्य तथा विशेषण भाव को विषय करने वाले
प्रत्यक्ष में विशेषण का तथा विशेष्य का भी ज्ञान कारण होता है इस कारण सूत्र-
कार ने इन सम्पूर्ण बुद्धियों का इस सूत्र में वर्णन किया है) ॥ १ ॥

यह प्रथम सूत्र में कहा हुआ अन्वय तथा व्यतिरेक से जानने योग्य हो है, यह
सूत्रकार द्वितीय सूत्र में कहते हैं—

पदपदार्थ—दृष्टेषु = प्रत्यक्ष किये सनिहित प्राणी आदि पदार्थों में, भावात्=
यह है इत्यादि बुद्धि के होने से, अदृष्टेषु = अप्रत्यक्ष प्राणी आदिकों में, अभावात्=
उक्त बुद्धि के न होने से ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रथम सूत्र में वर्णित 'अयं, एष' 'यह है, वह है' इत्यादि ज्ञान प्रत्यक्ष
होने वाले पदार्थों में होता है। इस अन्वय के ज्ञान तथा प्रत्यक्ष न होनेवाले प्राणि
आदि पदार्थों में यह है वह है, इत्यादि ज्ञान नहीं होता—इस व्यतिरेक के ज्ञान से
जाना जाता ही है यह सूत्र का आशय है ॥ २ ॥

उपस्कार—जिस समय 'अयं यह है' इस ज्ञान का सनिहित प्राणी विषय होता
है, तथा 'एष वह है' इस ज्ञान का इसमें रहनेवाला भी प्राणी बुद्धि में आरुण्य
'विषय' होता है, और 'त्वया तुमने' इस ज्ञान का सनिहित कर्त्ता विषय होता है, एवं
'तृप्तं किया' इस ज्ञान का कर्म विषय होता है, तथा 'भोजय भोजन कराओ' इस
ज्ञान के नियोज्य (आज्ञा देने योग्य तथा नियोक्ता (आज्ञा देनेवाले) दोनों विषय
होते हैं, इस प्रकार 'एन' इसे इस ज्ञान का उक्त नियोज्य तथा नियोक्ता दोनों का
व्यापार विषय सनिहित प्रत्यक्ष होता है उस समय ऐसी बुद्धि उत्पन्न होगी है, और
प्रत्यक्ष न होनेवाले उक्त विषयों में वह सब ज्ञान नहीं होते यह प्रदर्शित
अन्वय तथा व्यतिरेक ज्ञान ही जाना जाता है यह सूत्र का अर्थ है ॥ २ ॥

अप्रति दूसरा प्रकरण प्रारम्भ करते हैं—

अर्थ इति द्रव्यगुणकर्मसु ॥ ३ ॥

एतेषां द्रव्यगुणकर्मणामर्थ्यमानत्वं तेन तेन विधिनोक्तम्, तेन तेषु त्रिषु वैशेषिकाणामर्थ इति परिभाषा, अर्थपदेन त्रयाणामुपस्थिते- । तदुक्तं-प्रशस्तदे-
वाचार्ये “त्रयाणामर्थशब्दाभिधेयत्वञ्च” इति ॥ ३ ॥

प्रकरणान्तरमवतारयति—

द्रव्येषु पञ्चात्मकत्वं प्रतिपिद्धम् ॥ ४ ॥

द्रव्येष्विति द्रव्यपदार्थनिरूपणप्रकरणमुपलक्षयति । प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणामि-
त्यादिसूत्रेण शरीरादीनां पञ्चात्मकत्वं पञ्चभूतात्मकत्वं प्रतिपिद्धं निराकृतम् ।

पदपदार्थ—अर्थ = अर्थ हैं, इति = ऐसी (सज्ञा है), द्रव्यगुणकर्मसु = द्रव्य गुण
तथा कर्म पदार्थों में ॥ ३ ॥

भाषार्थ—उक्त ग्रन्थों में द्रव्य, गुण, तथा कर्म अर्थ शब्द से कहे जाते हैं ऐसा
वर्णित होने से वैशेषिकों की द्रव्य, गुण तथा कर्म इन तीन ही पदार्थों में ‘अर्थ’ यह
परिभाषिक सज्ञा है यह सिद्ध होता है ॥ ३ ॥

उपस्कार—इन पूर्वोक्त द्रव्य, गुण तथा कर्म पदार्थों में अर्थमानत्व (शब्द से
वाच्य होना) उन उस विधि से कहा गया है, इस कारण उन तीन पदार्थों में ही
वैशेषिकदर्शनकारों की ‘अर्थ’ यह परिभाषा (साक्षेयिक नाम) है, क्योंकि अर्थ कहने
से द्रव्य, गुण तथा कर्म इन तीनों की ही उपस्थिति होती है वह यह प्रशस्तपादाचार्य
ने भी बताया = द्रव्य गुण तथा कर्म इन तीनों का, अर्थशब्दाभिधेयत्वम् च = अर्थ
शब्द से कहा जाना भी (साधर्म्य है) । ऐसा साधर्म्य प्रकरण के प्रशस्तपादभाष्य में
कहा है ॥ ३ ॥

सूत्रकार दूसरे प्रकरण का अवतरण करते हैं—

पदपदार्थ—द्रव्येषु = द्रव्य पदार्थ के निरूपण प्रकरण में, पञ्चात्मकत्वं = मनुष्यादि
शरीरों में पञ्चात्मकत्वं = पञ्चमहाभूतरूप होना, प्रतिपिद्धं = निषेध किया है ॥ ४ ॥

भाषार्थ—द्रव्य पदार्थों के निरूपण के प्रकरण में ‘प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणां’ इत्यादि
सूत्र में मनुष्यादि शरीर पञ्चमहाभूतरूप वेदान्तिमत के समान है इस विषय का
खण्डन किया गया है जिससे घ्राणादि इन्द्रियों में भी अनेक कारणों से उत्पत्ति नहीं
होती जिनसे एक-एक इन्द्रिय से अपने-अपने गुणों का ही ग्रहण होता है यह सिद्ध
होता है यह आगे के सूत्र में कहेंगे ॥ ४ ॥

उपस्कार—सूत्र में ‘द्रव्येषु’ इस पद में द्रव्य पदार्थ के निरूपण का प्रकरण
सूचित होना है : ‘प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणां’ (अ० ४, आ० २ सू० २) प्रत्यक्ष तथा
अप्रत्यक्षों का समीप अप्रत्यक्ष होने से मनुष्यादि शरीर पञ्चमहाभूतरूप नहीं है

यथा शरीरस्य न नानाप्रकृतिकत्वं तथा चक्ष्यमाणानां घ्राणादोनाभिन्द्रियाणामपि । तेन तेषां प्रनिनियतगुणमाहकत्वं सिद्धयतीति भावः ॥ ४ ॥

यदर्थमिदमारब्ध तदाह—

भूयस्त्वाद् गन्धवत्त्वाच्च पृथिवी गन्धज्ञाने प्रकृतिः ॥ ५ ॥

गन्धो ज्ञायतेऽनेनेति गन्धज्ञानं घ्राणन्तत्र पृथिवी पृथिवीमात्र प्रकृतिः उपादानकारणम् । कुत एतदित्यत आह—गन्धवत्त्वात् । न हि गन्धवत् निर्गन्धेनारब्धते इत्युक्तम् । गन्धवत्त्वं च बहिरिन्द्रियाणां प्राज्ञातोयगुणवत्त्वनियमात् सिद्धम् । तर्हि पार्थिवत्वाच्चित्तोपेऽपि शरीरावयवान्तराणां न गन्धव्यञ्जकत्वं किन्तु घ्राणस्यैवेति कुतो नियम इत्यत आह—भूयस्त्वादिति । इतरद्रव्यानभिभूतैः

इस सूत्र से शरीरादिकों में पचमहाभूतरूपता का प्रतिषेध अर्थात् निराकरण किया है । जिस प्रकार शरीर अनेक प्रकृति (कारण) वाला नहीं है उसी प्रकार आगे कहे जानेवाले घ्राण आदि इन्द्रियों में अनेकप्रकृतिता नहीं है । इससे उन घ्राणादि इन्द्रियों में अपने-अपने नियत गन्ध आदि गुणों का ग्रहण करना सिद्ध होता है यह सूत्र का भाव है ॥ ४ ॥

जिस लिये यह प्रकरण आरम्भ किया उसे सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—भूयस्त्वात् = अपने ही अवयवों से उत्पन्न होने से, गन्धवत्त्वात् च = और गन्धाधारता होने से भी, पृथिवी = घ्राणेन्द्रिय में पृथिवी द्रव्य, गन्धज्ञाने = गन्ध गुण के ज्ञान में, प्रकृति = कारण है ॥ ५ ॥

भावार्थ—घ्राणरूप इन्द्रिय में गन्धाधारता होने से केवल पृथिवी द्रव्य ही समवायिकारण है । तथा जलादि द्रव्य के अवयवों से रहित केवल पार्थिव परमाणु-रूप अवयवों से उत्पत्तिरूप भूयस्त्व (अधिकता) से और दूसरे शरीर के अवयव पार्थिव होने पर भी गन्ध के व्यञ्जक (प्रकाशक) नहीं होते, किन्तु घ्राणरूप इन्द्रिय ही गन्ध का व्यञ्जक होता है ॥ ५ ॥

उपसंहार—गन्धनामक गुण जिससे जाना जाता है वह गन्धज्ञान इस व्युत्पत्ति-रूप से घ्राण इन्द्रिय इस सूत्र के 'गन्धज्ञाने' इस पद का अर्थ है, उसमें पृथिवी अर्थात् केवल पृथिवी ही प्रकृति अर्थात् उपादान (समवायि) कारण है । 'ऐसा क्यों ?' इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार ने 'गन्धवत्त्वात्' गन्धाधार होने से यह हेतु दिया है । गन्धाधार का गन्धरहित कारण से उत्पन्न नहीं होता यह कह चुके हैं । और वह गन्धादिगुणामारता घ्राण आदि इन्द्रियों में अपने से ग्रहीत होनेवाले गन्धादि गुण की आधारता के नियम से सिद्ध होती है । 'अदि ऐसा है तो पार्थिवता समान होने पर भी दूसरे शरीर के हस्तपादादि अवयव गन्ध गुण को क्यों नहीं ग्रहण करते किन्तु केवल घ्राणेन्द्रिय ही गन्ध को ग्रहण करती है यह नियम क्यों ?' इस प्रश्न के समाधानार्थ सूत्रकार देते हैं—'भूयस्त्वात्' अधिकता होने से । पृथिवी से

पार्थिवाययवैरारब्धत्वमेव भूयस्त्वम् । पारिभाषिकं चैतद् भूयस्त्व समानत-
न्त्रेऽपि ॥ ५ ॥

इन्द्रियान्तरेऽप्येतदतिदिशति—

तथापस्तेजोवायुश्च रसरूपस्पर्शविशेषात् ॥ ६ ॥

रसनचक्षुष्वगिन्द्रियाणां प्रकृतिरिति शेषः । तेन यथासत्य रसनादीना-
मवाद्यं प्रकृतयः, तत्तत्प्रतिनियतार्थग्राहकत्वात् । अत्रापि नियमे भूयस्त्व-
मेव सन्त्रम् । रसादिमस्त्वे च रसनादीनां ग्राह्यजातीयविशेषगुणवत्त्वनियम
एव प्रमाणमित्युक्तम् । एवञ्च विशिष्टादृष्टोपगृहीतकर्णग्रन्थुल्यवच्छिन्नो नभो-
देश एव श्रोत्रम् ॥ ६ ॥

इति श्रीशाङ्करे वैशेषिकसूत्रोपस्कारेऽष्टमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ।

समाप्तध्यायमष्टमोऽध्यायः ।

मिश्र जलादि द्रव्यो से अर्वाभिभूत (न दबाय हुए) पार्थिव द्रव्य के अवयवों से
उत्पन्न होना ही भूयस्त्वहाता है । यह वैशेषिकों की पारिभाषिक (सांकेतिक)
भूयस्त्व व्यापमत्वरूप समान द्वास्त्र में भी वास्त्यायन महर्षि ने कहा है ॥ ५ ॥

द्वयरे इन्द्रियो मे भी इस विषय की समानता को सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तथा = वैसे ही है, आप = जल, तेज = तेज, वायु च=और वायु
भी, रसरूपस्पर्शविशेषात् = रस, रूप तथा स्पर्श के विशेष से ॥ ६ ॥

भावार्थ—रस, रूप तथा स्पर्श की विशेषता से जल, तेज और वायु द्रव्य क्रम
से रसनेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय तथा त्वगिन्द्रिय की प्रकृति (कारण) है ॥ ६ ॥

उपस्कार—सूत्र में आकाशित ‘रसनेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय तथा त्वगिन्द्रिय की
प्रकृति हैं’ ऐसा शेष भाग पूर्ण करना । इससे सख्या के अनुसार रसनेन्द्रियादिकों के
जलादि द्रव्य प्रकृति हैं, क्योंकि अपने-अपने अवस्थित (प्रतिनियत) वर्ग (विषय)
को ग्रहण करते हैं । इस नियम में भी पूर्वं सूत्रों के भूयस्त्व ही कारण है । और रस-
नेन्द्रियादिकों के रस आदि गुणाधार होने से अपने से गृहीत होने वाले विशेष गुणों
की आश्रयता का नियम ही प्रमाण है यह कहा गया है । (‘सूत्र में शब्द गुण का
ग्रहण क्यों नहीं किया’ । इस प्रश्न के समाधानार्थ शकर मिश्र कहते हैं कि)—
ऐसा होने से विशेष शब्द भोगयोग्य अदृष्ट से सम्बद्ध अणुली (गुप्तिषा) रूप
कर्ण से युक्त आकाश प्रदेश ही श्रोत्र इन्द्रिय होता है । अर्थात् यद्यपि श्रोत्र इन्द्रिय
रूप है तथापि नित्य होने के कारण सूत्र्य होने के कारण शब्द का सूत्रकार ने सूत्र में
ग्रहण नहीं किया ॥ ६ ॥

इस प्रकार शकरमिश्रकृत वैशेषिक सूत्रों की उपस्कार व्याख्या में अष्टमाध्याय
का द्वितीयाह्निक समाप्त हुआ । और अष्टमाध्याय भी समाप्त हुआ ।

नवमाध्याये प्रथमाह्निकम् ।

संयोगसमवायान्यतरसन्निकर्षजलौकिकप्रत्यक्षनिरूपणानन्तरं तदितरप्र-
त्यासत्तिजन्यलौकिकप्रत्यक्षव्युत्पादनफलक नवमाध्यायमाह—

क्रियागुणव्यपदेशाभावात् प्रागसत् ॥ १ ॥

कार्यमिति शेषः । प्रागिति कार्योत्पत्तेः प्राक् कार्यं घटपटादि असत् तत्-
कालीनस्वजनभावाद्यप्रतियोगीत्यर्थः । अत्र हेतुः क्रियागुणव्यपदेशाभावात् । यद्वि-
तदानीमपि कार्यं घटादि सदेव स्यात् तदा क्रियावत्त्वेन गुणवत्त्वेन च व्यपदि-
श्येत, यथोत्पन्ने घटे घटस्तिष्ठति घटश्चलति रूपवानयं दृश्यते घट इत्यादिप्रका-

संयोग तथा समवाय इन दोनों में किसी एक सन्निकर्ष से उत्पन्न लौकिक प्रत्यक्ष के वर्णन के परवात् इससे भिन्न सन्निकर्ष से उत्पन्न लौकिक प्रत्यक्ष का व्युत्पादन (वर्णनरूप) विशेषणविशेष्यभाव फल वाले नवमाध्याय का प्रारम्भ करते हुए सूत्रकार कहते हैं (यहा पर महर्षि कणादमुनि के मत में अभाव पदार्थ नहीं है इस अपनिष्ठागत (मिथ्यागत विरुद्ध) के निरास के लिये अभाव के निरूपण करने वाले सूत्र की व्याख्या के लिये प्रारम्भ करते हुए शंकरमिश्र ने 'तदितर' ऐसा कहा है, जिससे विशेष्य-विशेषणभाव नामक सन्निकर्ष से अभाव का प्रत्यक्ष होता है यह तात्पर्य निकलता है)—

पदपदार्थ—क्रियागुणव्यपदेशाभावात् = क्रिया तथा गुण का व्यवहार न होने से, प्राक् = कार्य की उत्पत्ति के पूर्व, असत् = कार्य नहीं था (इस प्रतीति से प्राग भाव सिद्ध होता है) ।

भावार्थ—कार्यं घटादिक उत्पत्ति के पूर्व भी यदि वर्तमान होता तो उत्पन्न हुये घट के समान उससे भी क्रिया तथा गुण का व्यवहार होता, ग्रीर होता तो नहीं अतः यह सिद्ध होता है कि उत्पत्ति के पूर्व घट नहीं था यह चार प्रकार के अभाव में से प्रागभावनामक प्रथम अभाव है ॥ १ ॥

उपस्कार—सूत्र में आकाशित 'कार्यं' कार्य है ऐसा शेष भाग पूर्ण करना । सूत्र के 'प्राक्' पूर्व इस शब्द का अर्थ है कार्य के उत्पत्ति के पूर्व घट, पट आदि कार्य असत् है, अर्थात् उस काल के घटादि कार्य के जनक घटप्रागभाव का घट आदि कार्य प्रतियोगी है यह अर्थ है । इसमें सूत्रकार हेतु देते हैं—क्रियागुणव्यपदेशाभावात् = क्रिया तथा गुण का व्यवहार न होने से । यदि उत्पत्ति के पूर्व काल में भी घटादि कार्य सारूपमत में सत् ही हो ता उग समय में भी क्रिया के तथा गुण के आश्रय रूप से भविष्य असत् घटादि कार्य में भी व्यवहार होने लगेगा, जिस प्रकार उत्पन्न

रेण व्यपदिश्यते न तथोत्पत्तेः प्रागपि व्यपदेशोऽस्ति । तेन गम्यते तदानीमस-
न्निति । स च व्यहृत्मानेषु वीरणेषु योज्यमानेषु तन्तुषु चक्रारूढायां मृदि कुला-
द्यादिव्यापारेषु अनुवर्त्तमानेषु भविष्यत्यत्र कटं पटो घटो वेति सार्धलौकिकी
प्रत्यक्षप्रतीतिः, चक्षुरिन्द्रियानन्तरं जायमानत्वात् । न च संयोगसमवाया-
न्यतरघटिता प्रत्यासत्तिरत्र प्रभवति, तस्मादिन्द्रियसम्बद्धविशेषणता प्रत्यासत्ति-
रत्र तन्त्रम् । ननु चान्योन्याश्रयः सत्या विशेषणतायां सत्प्रतीतिः प्रतीतिः च
विशेषणतेति चेन्न, विशेषणता हि तदुभयस्वरूपमेव उपश्लिष्टप्रत्ययजननयो-
ग्यम् । तच्च प्रतीतेः पूर्वमपि संदेहः, तदुक्तं न्यायवार्तिके—“समवायेऽभावै-
च विशेषणविशेष्यभावः” इति । स चायं प्रागभाव प्रतियोगिजनकः, न हि
घटे जाते स एव घटस्तदानीमेवोत्पद्यते सत्र कारणान्तरसत्त्वेऽपि कारणवैक-

ह्ये घटादि कार्यं मे घट स्थित है, घट चलता है, यह घट रूपाधार है, घट दिखाता
है इत्यादि प्रकार के व्यवहार होते हुए दिखाता है, वैसे घटादिको की उत्पत्ति के पूर्व
समय में उक्त व्यवहार नहीं होते, इससे मिट्ट होता है कि उत्पत्ति के पूर्व घटादि
कार्य द्रव्य धसत् है, ऐसा हेतु का अर्थ है । और वह प्रागभाव जिस समय कट
(चटाई) के वीरण (तृण विशेष) रचे जाते हैं, तथा सूत्र चरखे पर घड़ा रहता
है, एवं चक्र पर मट्टी का ढोका रक्खा रहता है, कुम्भकार (कुहार) जुलाहा
आदिर्षा का अपने-अपने कपड़ा, घटादि कार्य की उत्पत्ति में अनुकूल व्यापार होना
रहता है, उस समय यहा कट (चटाई) बनेगी, कपड़ा बनेगा, घट बनेगा, इस
प्रकार सपूर्ण लोगो का प्रत्यक्ष अनुभव होता है । क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय (आँख)
को छोलते ही उक्त अनुभव प्राणिमान्त्र को होता है । घट होगा, भूतल में घट नहीं
है इत्यादि ज्ञानों में चक्षुरिन्द्रिय से समुक्त भूतल से घट के अभाव का संयोग अथवा
समवाय इन दोनों में से किसी एक को लेकर सनिकर्षं यहा नहीं हो सकता । इस
कारण इन्द्रिय से सम्बद्ध भूतल में अभाव विशेषण अथवा विशेष्य होने से विशेषण-
विशेष्यभाव रूप ही सनिकर्षं अभाव ज्ञान में प्रयोजक है । “यदि विशेषणता के होने
पर ही अभाव का ज्ञान होगा और उसके ज्ञान से ही अभाव में विशेषणता होगी
इस कारण अन्योन्याश्रय दोष आ जायगा” ऐसी पूर्वपक्षी यहा पर सफा नहीं कर
सकता, क्योंकि विशेषणता उपश्लिष्ट (विशिष्ट सम्बन्धो की) प्रतीति की योग्यता
होना ही उक्त विशेषण तथा विशेष्य दोनों के स्वरूप हैं । दूसरे वह विशेषण तथा
विशेष्येय विशिष्ट ज्ञान के पूर्व भी वर्तमान ही है, इसी कारण मारदाज उद्योत-
करने न्यायवार्तिक में ‘समवायेऽभावै च विशेषणविशेष्यभाव’ अर्थात् समवाय के
तथा अभाव के प्रत्यक्ष में विशेषणविशेष्यभाव सनिकर्षं होता है, ऐसा कहा है । वह
यह प्रागभाव प्रतियोगी का उत्पादक है, क्योंकि घट के उत्पन्न होने पर वही घट
उसी समय में पुन उत्पन्न नहीं होगा, इसमें दूसरे कारणों के रहने पर भी यहा

त्यमनुस्त्रियमाणं स्वप्रागभाववैकल्यमेवानुसर्तुं मर्हति । तदूतोत्पत्तौ स एव घटः
प्रतिबन्धक इति चेत्तर्हि प्रतिबन्धकाभावत्वेन तस्य कारणत्वमवर्जनीयम् । ननु
यदि घट एव तस्याभावस्तदा घटे नष्टे तदुन्मज्जनापत्तिरिति चेन्न, घटना-
शम्यापि तद्विरोधित्वात्, न हि विरोधिसत्त्वकालेऽपि विरोध्यन्तरप्रादुर्भाव
इति । न ह्यनयोर्देशकृतो विरोधो येन गोत्वाश्वत्ववत् समानकालीनत्वं
स्यात् । किं तर्हि ? कालकृतस्तथाच कथमेककालावस्थायित्वमभवेत् ॥ १ ॥

अभावान्तरं प्रतीतिबलसिद्धमाह—

सदसत् ॥ २ ॥

यथा कारणव्यापारात् पूर्वं प्रत्यक्षानुमानाभ्यां कार्यस्यासत्त्वं प्रतीयते
तथा विनाशकस्य मुद्रादेर्व्यापारानन्तरं सदेव कार्यं घटादि इदानीमसदिति

कारण नहीं है जिससे पुनः वही घट उत्पन्न नहीं होता, इसका अनुसरण (अनु-
संधान) करने से उस घट का प्रागभाव नहीं है यही अनुसरण करने (मानने)
योग्य है । यदि उस घट की उत्पत्ति में वही घट प्रतिबन्धक है—ऐसा कहे तो प्रति-
बन्धक के अभाव रूप से उस घट-प्रागभाव की कारण मानना आवश्यक है ।

यदि घट ही उस प्रागभाव का अभाव हो तो घट के नष्ट होने पर उसका
उन्मज्जन (पुनरुत्पत्ति) होगी, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि घट का नाश भी
उसका विरोधी होता है । विरोधी की सत्ता के समय में भी दूसरे विरोधी का प्रादु-
र्भाव (प्रकट होना) नहीं हो सकता क्योंकि इन दोनों का देश से विरोध नहीं है
जिसमें मोक्ष तथा अमृतत्व के समान समानकालता हो । तो कैसा विरोध है ? इस
प्रश्न के उत्तर में कालकृत विरोध है । ऐसा होने से एक काल में दोनों की अव-
स्थिति (रहना) कैसे होगी ॥ १ ॥

ध्वस रूप दूसरा अभाव भी प्रतीति के बल से सिद्ध होता है यह सूत्रकार
कहते हैं—

पदपदार्थ—मत् = सत् रूप घटादि, असत् = असत् (नहीं रहना) ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार कारण के व्यापार के पूर्व में घटादि कार्य असत् है ऐसा
प्रतीत होता है उसी प्रकार सत् ही कार्य घटादि बण्ड बगैरह चला देने के पश्चात्
भी अब घट नहीं है नष्ट हो गया ऐसी प्रतीति होती है, जिससे ध्वसरूप द्वितीय
अभाव भी सिद्ध होता है ॥ २ ॥

उपस्कार—जिस प्रकार उत्पादक कारणों के व्यापार के पूर्व में प्रत्यक्ष तथा
अनुमान दोनों प्रमाणों से घटादि कार्य की अमत्ता (प्रागभाव) जानी जाती है,
उसी प्रकार मुद्गर (लट्ट) आदिकों के ध्वसाने रूप व्यापार के पश्चात् वर्तमान

प्रत्यक्षानुनामाध्यामेव प्रतीयते । भवति हि घटो नष्टो ध्वस्त इदानीं श्रुतपूर्वा-
गकारो नाम्नीत्यादिधोरिति भावः ॥ २ ॥

ननु घट एवावस्थाविशेषे ध्वसव्यवहार करोति न तु घटाद्रन्यस्तस्य
ध्वस इत्यत आह—

असतः क्रियागुणव्यपदेशाभावादर्थान्तरम् ॥ ३ ॥

सदिति सूत्रशेषः । असतः सत् अर्थान्तरम् । कुत इत्यन आह—क्रियागुण-
व्यपदेशाभावादिति । न हि प्रध्वंसकालेऽपि वर्तते घटः—अस्ति घटः—
इदानीं रूपवान् घटः—घटमानयेत्यादिव्यपदेशस्तदितो वैधर्म्यादसतः सद-
र्थान्तरमिति ॥ ३ ॥

प्रागभावप्रध्वंसौ साधयित्वाऽन्योन्याभावं साधयितुमाह—

ही घटादि कार्य इस समय असत् अवर्तमान है ऐसा प्रत्यक्ष तथा अनुमान दोनों
प्रमाणों से निश्चित किया जाता है । उस अभाव का नाम है ध्वस क्योंकि घट
नष्ट हुआ, ध्वस्त हुआ, इस समय पूर्व में सुना हुआ अशुद्ध शब्द नहीं है इत्यादि
प्रतीति होती है ॥ २ ॥

यदि “ध्वस्याविशेष मे घट ही उसके ध्वस (नाश) का व्यवहार करता है,
न कि घट से भिन्न घट का नाश (ध्वन) अतिरिक्त अभाव है” इस पूर्वपक्षी की
शका का सूत्रकार समाधान देते हैं—

पदपदार्थ—असत = अविद्यमान पदार्थ से, क्रियागुणव्यपदेशाभावात् = क्रिया
तथा गुण का व्यवहार न होने से, अर्थान्तरम् = भावपदार्थ दूसरा पदार्थ है ॥ ३ ॥

भावार्थ—ध्वसकाल में घटादि पदार्थों में घट है, इस समय घटरूपाधार है
इत्यादि व्यवहार घट के वर्तमानता-समय के समान नहीं होता इस कारण असत्
(अभाव) से भाव पदार्थ दूसरा पदार्थ है यह सिद्ध होता है ॥ ३ ॥

उपस्कार—सूत्र में ‘सत्’ ऐसा आकाशित पद का शेष भाग पूर्ण करना । असत्
(अविद्यमान से) ‘सत्’ विद्यमान, दूसरा पदार्थ है । क्यों ? इस प्रश्न पर सूत्र-
कार हेतु दिखाते हैं—‘क्रियागुणव्यपदेशाभावात्’ अर्थात् ‘क्रिया और गुण का व्यव-
हार न होने से’ ऐसा । क्योंकि घटादि द्रव्यों के ध्वस (निनाश) के समय में भी
घट वर्तमान है, घट की सत्ता है, इस समय घटरूप का आधार है, घट को ले
खाओ, इत्यादि व्यवहार नहीं होता, अतः इस वैधर्म्य के कारण असत् (नष्ट)
घटादि द्रव्य से सत् वर्तमान घटादि द्रव्य दूसरा पदार्थ है ऐसा सूत्र का भाव है ॥ ३ ॥

प्रागभाव तथा ध्वस ऐसे दो अभावों को सिद्ध कर तीसरे अन्योन्याभाव का
सिद्ध करने के लिये सूत्रकार कहते हैं—

सञ्चासत् ॥ ४ ॥

यत्र सदेव घटादि असदिति व्यवहियते तत्र तादात्म्याभावः प्रतीयते । भवति हि असन्नश्यो गवात्मना-असन् गौरश्वात्मना-असन् पटो घटात्मना अघटः पटः-अनश्वो गोः-अगौरश्च इत्यादि प्रतीतिः । तदस्यामश्वान्याभाववान् गोः पटान्योन्याभाववान् घट इत्यन्योन्याभाव एव तादात्म्याभावापरनामा भासते । तदत्र तादात्म्यं प्रतियोगितावच्छेदकम् । प्रतियोगिसमानाधिकरण-आयमभावः, भवति हि पटो न भूतलमिति प्रतीतिः । नित्यश्च, कदापिदपि पटपटयोस्तादात्म्या सम्भवात् ॥ ४ ॥

इदानीं चतुर्थमभावमत्यन्ताभावाख्यमाह—

यञ्चान्यदसदतस्तदसत् ॥ ५ ॥

पदपदार्थः—सत् च = सत् (वर्तमान) पदार्थं भी, असत् = अवर्तमान होता है ॥ ४ ॥

भावार्थः—वर्तमान घटादि द्रव्य भी पट नहीं है इस प्रकार परस्पर वर्तमान ही दो द्रव्यों में जो परस्पर अभाव प्रतीत होता है उसे अन्योन्याभाव कहते हैं ॥ ४ ॥

उपस्कारः—जिसमें वर्तमान होता हुआ ही पट आवि द्रव्य 'असत्' पट नहीं है ऐसा व्यवहार किया जाता है उसमें घट तथा पट की तादात्मता (अभेदरूपता) का अभाव (भेद) प्रतीत होता है । क्योंकि 'अश्व' गोरूप से असत् है, पट घटरूप से असत् है, पट घट से भिन्न है । गो अश्व नहीं है, अश्व गो नहीं है, इत्यादि प्रतीति होती है । इस कारण इस प्रतीति में गो अश्व के अन्योन्याभाववाली (भिन्न) है, घट पट के अन्योन्याभाववाली (भिन्न) है, इस प्रकार तादात्म्यरूप सम्बन्ध से युक्त प्रतियोगितावाला होने से जिसका तादात्म्याभाव दूसरा नाम है ऐसा अन्योन्याभाव ही प्रकाशित होता है । इन कारण इस अन्योन्याभाव में 'तादात्म्य' प्रतियोगिता का नियामक सम्बन्ध है ।

और यह अन्योन्याभाव-प्रतियोगी समानाधिकरण अर्थात् प्रतियोगी के अधिकरण में रहता भी है, क्योंकि घट भूतल नहीं है ऐसी प्रतीति होती है । और वह नित्य भी है, क्योंकि किसी भी समय में घट तथा पट का तादात्म्य (अभेद) नहीं हो सकता ॥ ४ ॥

संप्रति चतुर्थं अत्यन्तभावनामक अभाव को सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थः—यत् च = और जो, अन्यत् = दूसरा, असत् = अभाव है, अतः = इन तीनों अभावों से, तत् = वह, अतत् = अत्यन्ताभाव है ॥ ५ ॥

भावार्थः—इन पूर्वोक्त प्रागभाव, ध्वंस तथा अन्योन्याभाव ऐसे तीन अभावों से मिल जो असत् = (अभाव) है वह अत्यन्ताभाव होता है ॥ ५ ॥

अतः पूर्वोक्तादभावत्रयात्, यदन्यदसत् तदसत् तदत्यन्तासत्त्वम् । अस-
दित्युभयत्र भावप्रधानो निर्देशः । तत्रैकमसदुद्देश्यमपरमसद्विधेयम्, तथा
चोक्ताभावत्रयमिन्नो योऽभाव सोऽत्यन्ताभाव इति पर्यवसन्नोऽर्थः । तत्र
प्रागभावात् उत्तरावधिकत्वम्, प्रध्वंसस्य पूर्वावधिकत्वम्, अन्योन्याभावात्
प्रतियोगिसमानाधिकरणत्वमत्यन्ताभावात् तु त्रितयवैधर्म्यमतश्चतुर्थोऽ-
यमभावः ॥ ५ ॥

इदानीं प्रकरणान्तरमारभते, तत्र प्रध्वंसे तावत् प्रत्यक्षसामग्रोमाह—

असदिति भूतप्रत्यक्षाभावात् भूतस्मृतेर्विरोधिप्रत्यक्षवत् ॥ ६ ॥

असदित्येतिकारेण प्रत्यक्षाकारं ज्ञानमाह, तेनासन् घट-नष्टो घटः-ध्वस्त

उपस्कार—अतः इति पूर्वोक्त तीनों अभावों से जो दूसरा असत् (अभाव)
है वह भी अत्यन्ताभावनामक चतुर्थ अभाव है । सूत्र में दोनों 'असत्' पक्ष 'भाव'
(धर्म) को प्रधान मानकर सूत्रकार से निर्दिष्ट (कथित) है । उन दोनों 'असत्' पक्षों
में से एक 'असत्' पक्ष उद्देश्य तथा दूसरा विधेय है, ऐसा होने से उक्त प्रागभावादि
तीन अभावों से भिन्न जो अभाव है वह अत्यन्ताभाव है ऐसा सूत्र का पर्यवसित
(निश्चित) अर्थ है । उनमें से प्रागभाव के कार्य की उत्पत्ति हो तो यह उत्तर
अवधि (सीमा) है, अर्थात् घटादियों की उत्पत्ति से घटादि-प्रागभाव नष्ट हो
जाते हैं । और ध्वस्त नाम का अभाव पूर्व अवधिवाला होता है, अर्थात् घटादिको
के नाश के होने से घट नहीं रहता । और तीसरा अन्योन्याभाव प्रतियोगी के
अधिकरण में रहता है, किन्तु अत्यन्ताभाव ये उक्त तीनों अभावों के धर्म नहीं
रहते ऐसा तीनों का विरुद्ध धर्म रहता है यह चतुर्थ अत्यन्ताभाव है ॥ ५ ॥

सप्रति दूसरा प्रकरण आरम्भ करते हैं, उसमें ध्वस्त नाम के अभाव में प्रत्यक्ष
की सामग्री को सूत्रकार दिखाते हैं—

पदपदार्थ—असत् (नहीं है), इति = इस प्रकार, भूतप्रत्यक्षाभावात्=उत्पन्न
होकर नष्ट हुए द्रव्य का प्रत्यक्ष न होने से, भूतस्मृति = पूर्व में रहे घटादि के स्म-
रण से, विरोधिप्रत्यक्षवत् = विरोधी घटादिको के प्रत्यक्ष में ममान ॥ ६ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार ध्वस्त के विरोधी घटादिको का स्पष्ट प्रत्यक्ष होता है
और ध्वस्तका भी प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार उत्पन्न होकर नष्ट हुए घटादिको
का प्रत्यक्ष न होने से, एव सूत्र (अवधिमान) घटादिरूप प्रतियोगी के स्मरण से
भी घट असत् है, घट नष्ट हो गया इत्यादि प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, अतः ध्वस्त के
प्रत्यक्ष में प्रतियोगी-का प्रत्यक्ष न होना तथा उसका स्मरण होना कारणरूप
नामग्री है यह निश्चय है ॥ ६ ॥

उपस्कार—सूत्र में 'असत् इति' असत् ॥ इस प्रकार इस 'इति' शब्द से प्रत्यक्ष-
स्वरूप ज्ञान का आकार कहा गया है, इसमें घट असत् (अवधिमान है) घट

इदानीं षट्-इति प्रत्यक्षप्रतीतिरस्ति । तत्र दृष्टान्तो-विरोधिप्रत्यक्षवदिति । विरोधिनी घटादेर्यथा स्पष्टं प्रत्यक्षं तथा तत्प्रध्वंसस्यापि । तत्र कारणमाह-भूतप्रत्यक्षाभावादिति । भूतस्य उत्पत्तौ विनष्टस्य घटादेः प्रत्यक्षाभावात् । एतेन योग्यानुपलब्धिमाह । तत्र चायं तर्कः सहकारी-यद्यत्र घटोऽभविष्यत् भूतलमिवाद्भूतं न च दृश्यते तस्मान्नास्तीति । सहकार्यन्तरमाह-भूतस्मृतेरिति । भूतस्य प्रतियोगिनो घटादेः स्मृतेरिति प्रतियोगिस्मरणमुक्तम् ॥ ६ ॥

प्रागभावे प्रध्वंसप्रत्यक्षताकारमतिदिशमाह—

तथाऽभावे भावप्रत्यक्षत्वाच्च ॥ ७ ॥

सामान्यवाच्यव्ययमभावशब्दः प्रकरणात् प्रागभावपरः । यथा प्रध्वंसे

नष्ट हुआ, इस समय षट् ध्वस्त हुआ इत्यादि प्रत्यक्ष ज्ञान होता है । उसमें सूत्रकार ने विरोधी के प्रत्यक्ष के समान यह दृष्टान्त दिया है । जिस विरोधी घटादि द्रव्य का जिस प्रकार स्पष्ट प्रत्यक्ष होता है उसी प्रकार उसके ध्वस्त का भी यह अर्थ है । उसमें सूत्रकार हेतु देते हैं—'भूतप्रत्यक्षाभावात्' अर्थात् भूत नाम उत्पन्न होकर नष्ट हुये घटादिकों के प्रत्यक्ष न होने से । इससे प्रत्यक्षयोग्य घटादिकों की उपलब्धि न होना अभाव के प्रत्यक्ष में कारण है यह सिद्ध होता है । यहा (अनुपलब्धि में योग्यता विशेषण है । वह योग्यता है प्रतियोगी घटादिकों की सत्ता की भावति से, प्रतियोगी की भावति का जाना उसमें—योग्यानुपलब्धि में यदि यहा पर षट् होता तो भूतल के समान दिखाई पड़ता, नहीं दिखाता, भूत. षट् नहीं है, इस प्रकार का तर्क सहायक होता है । तथा दूसरा सहकारी कारण सूत्रकार ने कहा 'भूतस्मृते' इति । इति अर्थात् भूत (अधिद्यमान) घटादि द्रव्यों के स्मरण होने से इस प्रकार प्रतियोगी का स्मरण भी अभाव-ज्ञान में कारण कहा गया है अर्थात् अभाव के प्रत्यक्ष में प्रतियोगी का स्मरण कारण है । किन्तु स्मरण पद संभव के अभिप्राय से जानना ॥ ६ ॥

प्रागभाव में ध्वंस की प्रत्यक्षता के आकार का अतिदेश सूत्रकार करते हैं—

पदपदार्थ—तथा = प्रध्वंस अभाव के समान, अभावे = प्रागभावरूप अभाव में भावप्रत्यक्षत्वात् च = भाव पदार्थ के प्रत्यक्ष होने से भी ॥ ७ ॥

भाषार्थ—जिस प्रकार स्वतन्त्रनामक अभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है उसी प्रकार रचे जाने वाले वीरण (घटाई)इत्यादि भाव पदार्थों के प्रत्यक्ष से विषय होने के कारण प्रागभावरूप अभाव का भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है ॥ ७ ॥

उपस्कार—सूत्र में सामान्य रूप से अभाव को कहने वाला भी यह अभाव शब्द प्रागभाव के निरूपण के प्रकरण में जाने से प्रागभावरूप विरोध अभाव को कहता

वैशेषिकसूत्रोपस्कारः

प्रत्यक्षज्ञानं तथा प्रागभावेऽपि । कुतः ? भावप्रत्यक्षत्वात् । भावस्य व्यूहमा-
मानवीरणादे प्रत्यक्षत्वात् प्रत्यक्षेण विषयीक्रियमाणत्वात् ।

यद्वा भावस्याधिकरणस्य प्रतियोगिनश्च प्रत्यक्षत्वात् योग्यत्वादित्यर्थः ।
ससर्गाभावग्रहेऽधिकरणयोग्यताया प्रतियोगियोग्यतायाश्च तन्त्रत्वात् । चका-
रात् प्रतियोगिस्मरणमुक्तञ्च तर्कं समुच्चिनोति । अनादेरपि प्रागभावस्या-
नन्तस्यापि प्रथमस्याविशेषमात्रे प्रत्यक्षत्वम् ॥ ७ ॥

अन्योन्याभावस्य प्रत्यक्षनामाह—

एतेनावटोऽगौरधर्मश्च व्याख्यातः ॥ ८ ॥

एतेनेति प्रतियोगिस्मरणाधिकरणग्रहणप्रागुक्ततर्कानतिदिशति । योग्यानु-
पलम्भः सर्वत्र समानः । चकार उक्तसमुक्त्यर्थः । अधर्म इत्यतीन्द्रियस्यापि

है । जिस प्रकार ध्वसरूप अभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है उसी प्रकार प्रागभाव-
रूप अभाव का भी । क्यों? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार ने 'भावप्रत्यक्षत्वात्' भाव
पदार्थ के प्रत्यक्ष होने से, यह हेतु सूत्र में दिया है । अर्थात् रचना किये जाने वाले
(वीरण-बटाई) आदि भाव पदार्थ के प्रत्यक्ष होने से (प्रत्यक्ष प्रमाण के
विषय होने से) अथवा भावरूप अधिकरण तथा प्रतियोगी के भी प्रत्यक्ष अर्थात्
प्रत्यक्ष के योग्य होने में ससर्गाभाव के ग्रहण होने में अधिकरण तथा प्रतियोगी दोनों
की प्रत्यक्षयोग्यता प्रयोजक है । सूत्र के चकार से प्रतियोगी का स्मरण तथा पूर्व
प्रदर्शित तर्क का भी सूत्रकार ने समग्र किया है । यद्यपि प्रागभाव अनादि तथा
ध्वस अनन्त (अविनाशी) है तथापि उन दोनों के अविशेष का ही प्रत्यक्ष होता
है ॥ ७ ॥

तृतीय अन्योन्याभाव का सूत्रकार प्रत्यक्ष होना वर्णन करते हैं—

पदपदार्थ—रातेन = इससे, अघट = घट से भिन्न है, अगो = गो से भिन्न है,
अधर्म = धर्म से भिन्न है, व्याख्यात = व्याख्या की गई ॥ ८ ॥

भावार्थ—यह घट भिन्न है, यह गोसे भिन्न है, यह धर्म से भिन्न है, इत्यादि
रूप से अन्योन्याभाव के प्रत्यक्ष में भी प्रतियोगी का स्मरण, अधिकरण का ज्ञान,
तथा पूर्व-प्रदर्शित तर्क एवं प्रत्यक्षयोग्य की अनुपलब्धि सबसे कारण है यह प्रागभाव
तथा ध्वस के प्रत्यक्ष के समान व्याख्या की गई है ॥ ८ ॥

उपस्कार—सूत्र के 'एतेन' इसमें (इस पद से), प्रतियोगी की स्मरण, अधि-
करण का प्रत्यक्ष तथा पूर्वप्रदर्शित तर्क का अतिदेश वृत्ता है । योग्य की अनुपलब्धि
भी संपूर्ण अभावों के प्रत्यक्षों में समान कारण है । और सूत्र का 'चकार' इन उक्त
कारणों का समग्र करने के लिये सूत्रकार ने दिया है । 'अधर्म' धर्म से भिन्न है,
इससे अतीन्द्रिय (प्रत्यक्ष न होने वाले) भी धर्म का सुख तथा ज्ञानादि भावनाके

धर्मस्य सुखज्ञानादावधिकरणेऽन्योन्याभावस्य प्रत्यक्षतां वदन् अन्योन्याभाव-
प्रदे प्रतियोगियोग्यता न तन्त्रं किन्त्वधिकरणयोग्यतामात्रं सन्त्रमित्युपदर्श-
यति । कथमन्यथा स्तम्भः पिशाचो न भवतीति पिशाचान्योन्याभावः स्तम्भे
गृहीत स्तम्भात्मतया पिशाचानुपलम्भस्य तदन्योन्याभावग्राहकत्वात्, तस्या-
प्यनुपलम्भस्य प्रतियोगिसत्त्वविरोधित्वात् स्तम्भे पिशाचतादात्म्ये सत्यनु-
पलम्भानुपपत्तेः । ननु पिशाचतादात्म्यमिह न प्रतियोगि, किन्तर्हि ? पिशाचः
स च स्तम्भे वर्तमानोऽपि गुरुत्ववज्रोपलभ्यते इति तदनुपलम्भः प्रतियोगि-
सत्त्वविरोधी न भवतीति चेन्न, प्रतियोग्यनुपलम्भवत् प्रतियोगितावच्छेद-
कानुपलम्भस्याप्यभावग्रहकारणत्वात् । ननु प्रतियोगित्वग्रहाधोऽन्योन्याभा-
वग्रहः, प्रतियोगित्वञ्चान्योन्याभावविरहात्मत्वं तत्तच्चान्योन्याभावग्रहाधीन

गुण रूप अधिकरणो मे अन्योन्याभाव की प्रत्यक्षता को कहता हुआ, अर्थात् सुख
धर्म नहीं है' इस अन्योन्याभाव के प्रत्यक्ष मे यमरूप प्रतियोगी के प्रत्यक्ष होने की
योग्यता कारण नहीं है, किन्तु केवल ज्ञानादिरूप अधिकरण की प्रत्यक्षयोग्यता ही
कारण है यह सूत्रकार ने दिलाया है । ऐसा न हो तो 'यह स्तम्भ पिशाच नहीं है
इस प्रकार स्तम्भ मे पिशाच का भेद कैसे गृहीत होगा, क्योंकि स्तम्भ रूप से पिशाच
की उपलब्धि न होना स्तम्भ मे पिशाच के अन्योन्याभाव का ग्राहक (ग्रहण करने
वाला) है, उस स्तम्भ मे पिशाच की अनुपलब्धि की पिशाच रूप प्रतियोगी के सत्ता
का विरोधी होने से स्तम्भ में यदि पिशाच का अभेद हो तो पिशाच की अनुपलब्धि
न हो सकेगी । (यहा पर स्तम्भ मे पिशाच के अभेद की उपलब्धि न होना प्रति
योगी का अनुपलब्धिरूप है, किन्तु पिशाच की अनुपलब्धि तो पिशाच की सत्ता का
विरोध करती है, ऐसा होने से प्रतियोगी पिशाच का विरोध न करने वाली भी
पिशाच की अनुपलब्धि स्तम्भ मे पिशाच के अभाव की क्यों ग्रहण न करामेगी' इस
सका को शंकर मिश्र दिलाते हैं—कि 'यहा पर स्तम्भ पिशाच नहीं है इसपर पिशाच
का अभेद प्रतियोगी नहीं है, तो क्या है', पिशाच, और वह पिशाच स्तम्भ
में वर्तमान होने पर भी गुरुत्व गुण के समान गृहीत नहीं होता, इस कारण उसकी
अनुपलम्भ (उपलब्धि न होना) प्रतियोगी की सत्ता का विरोध नहीं हो
सकता' ऐसी सका पूर्वपक्षी नहीं कर सकता, क्योंकि प्रतियोगी के अनुपलम्भ के
समान प्रतियोगिता के नियामक सम्बन्ध की अनुपलब्धि भी अभाव के ग्रहण मे
कारण होती है । यहा पर प्रतियोगिता के ग्रहण के अधीन अन्योन्याभाव (भेद)
का ग्रहण होता है, और वह प्रतियोगिता है अन्योन्याभाव के अभावरूप यदाकि
(अभावविरहात्मत्वम् = अभाव के अभावरूप होती है, वस्तुतः = पदार्थ मे, प्रति-
गिता = प्रतियोगिता शब्द का अर्थ)' ऐसा उदयनाचार्य ने प्रतियोगी का लक्षण
कहा है) 'जिससे अन्योन्याभाव ज्ञान के अधीन ही अन्योन्याभाव का ज्ञान होने से

एवान्योन्याभावग्रह इति चेन्नाधिकरणावृत्तित्वेन ज्ञायमानो धर्म एव प्रतियोगितावच्छेदकत्वेनापि तद्ग्रहस्तन्नमित्युक्तत्वात् ॥ ८ ॥

अथेदानीमत्यन्ताभावप्रत्यक्षतामाह—

अभूत नास्तीत्यनर्थान्तरम् ॥ ९ ॥

भूतमिदानीं नास्तीतिप्रतीतिर्ध्वंसमालम्ब्यते भूतत्वं नोल्लिखति किन्त्विदं नास्तीतिमात्रोल्लेखिनी प्रत्यक्षप्रतीतिरत्यन्ताभावमालम्ब्यते । अभूतमित्युत्पादयिनाशलम्बनत्वं द्योतयति, अनर्थान्तरत्वमपि तदभिप्रायकमेव यथा जले पृथिवीत्वं नास्ति पृथिव्यां न जलत्वमिति । यदि हि जलावयवमिति

आत्माश्रयदोष होगा' ऐसी पूर्वापत्ती ब्रजा नहीं कर सकता, क्योंकि एक अधिकरण में अवर्तमानरूप से ज्ञायमान (ज्ञान का विषय) धर्म ही प्रतियोगिता का नियामक होता है, न कि प्रतियोगिता-नियामक रूप से उसका ज्ञान कारण होता है यह कह चुके हैं ॥ ८ ॥

इस प्रकार अन्योन्याभाव की प्रत्यक्षता का वर्णन कर अत्यन्ताभाव की प्रत्यक्षता को सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अभूत = नहीं है, न अस्ति = नहीं है, इति = यह दोनो, अनर्थान्तरम् = दूसरा पदार्थ नहीं ॥ ९ ॥

भावार्थ—नहीं था, नहीं है यह दोनो प्रतीति अत्यन्ताभाव को विषय करने के कारण अत्यन्ताभाव को कहती हैं ॥ ९ ॥

उपस्कार—भूत (प्रथम वर्तमान) पदार्थ इस समय नहीं है यह ज्ञान ध्वंस अभाव को विषय करता है, भूतता (वर्तमानता) का उल्लेख (बोध) नहीं करता, किन्तु 'यह नहीं है' इतने को ही विषय करनेवाला प्रत्यक्षरूप ज्ञान अत्यन्ताभाव को विषय करता है, सूत्र में 'अभूतम्' यह पद उत्पत्ति तथा विनाश की अविषयता को प्रगट करता है, तथा सूत्र में 'अनर्थान्तरम्' दूसरा अर्थ नहीं है, यह पद भी उत्पत्ति तथा विनाश के आधार से अतिरिक्त दूसरे अत्यन्ताभाव को ही विषय करता है (अर्थात् यहाँ पूर्व में वर्तमान पदार्थ इस समय नहीं है यह प्रतीति ध्वंसनामक अभाव को विषय करती है । और 'अभूतम्' यह पद आगे न होनेवाले का सूचक है, ऐसा न होने से जो यहाँ न था न होगा, वह यहाँ नहीं है ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष दूसरा अर्थ नहीं है । अत्यन्ताभाव से भिन्न दूसरा जिसका विषय नहीं है यह अनर्थांतर शब्द का अर्थ है) इसी का श्रुकर भिन्न उदाहरण देते हैं कि जिम प्रकार जलरूप भवयवि द्रव्य में पृथिवीत्व नहीं है, पृथिवी में जलत्व नहीं है यदि जलरूप अवयवि द्रव्यो में पृथिवीत्व हो तो उसकी जल में उपलब्धि होगी, उपलब्धि नहीं होती, इस कारण जल में पृथिवीत्व नहीं है इस तर्क की भी

पृथिवीत्वं स्यात् उपलभ्येत न चोपलभ्यते तस्मान्नास्तीति-तर्कपुरस्कारोऽत्रापि द्रष्टव्यः । एवञ्च यद्वस्तु यत्र न कदाऽपि भविष्यति न च कदाचिद् भूतं तस्य वस्तुनस्तत्रात्यन्ताभावो भन्तव्यः । भूतभविष्यतोश्च तत्र प्रभवंसप्रागभावालम्बन एव तत्राधिकरणे नास्तीति प्रत्ययः । अत एवायमात्यन्तिकस्थैकालिक इत्यभिधीयते ॥ ९ ॥

ननु गेहे घटाभावो नात्यन्ताभावः कदाचित्तत्र घटसत्त्वात्, नापि प्रागभावप्रभवंसौ, तयो समवायिकारणमात्रवृत्तित्वात्, नाप्युत्पादविनाशशोलोऽत्यन्ताभाव एव आत्यन्तिकश्चोत्पादविनाशशोलाश्चेति विरोधात्, नापि चतुर्थ एवायं संसर्गाभाव, तस्य त्रैविध्यविभागव्याघातादित्यत्र आह—

नास्ति घटो गेहे इति सतो घटस्य गेहसंसर्गप्रतिषेधः ॥ १० ॥

इसमें अत्यन्ताभाव की सी ही सहायता जाननी चाहिये । ऐसा होने से जो पदार्थ जहाँ कभी भी न होगा, न कभी था, उस पदार्थ का उसमें अत्यन्ताभाव है यह मान लेना चाहिये । और जो पूर्व में था और भागे होगा ऐसा पदार्थों का वहाँ ध्वस प्रागभाव को विषय करनेवाला है । उस अधिकरण में नहीं है' ऐसा ज्ञान होता है । इसी कारण यह अत्यन्ताभाव आत्यन्तिक एवं 'वैकालिक' (जिसका में होने वाला) अत्यन्ताभाव कहा जाता है । (अर्थात् जैसे भवयविरूप पृथिवी में जरूर नहीं है इत्यादि प्रत्यक्ष में ध्वस तथा प्रागभाव का विषय नहीं हो सकता । इस कारण अत्यन्ताभाव ही उसके विषय है, और उसके प्रत्यक्ष में ही इन्द्रिय समुक्त विधोषणता सन्निकर्ष तथा तर्क की सहायता से प्रतिषेधों की उपलब्धि का अभाव तथा प्रतिषेध-गिज्ञान भी कारण है ऐसा मेरे गुरुवरण म० म० स्व० पू० चामाचरण भट्टाचार्य का यहाँ मत जानना चाहिये ॥ ९ ॥

यदि गृह में वर्तमान घट का अभाव कदाचित् घट की 'परमे' सत्ता होने के कारण अत्यन्ताभाव नहीं हो सकता न वह घट का प्रागभाव तथा ध्वस अभाव भी नहीं हो सकता, क्योंकि ये दोनों केवल समवायिकरण में ही रहते हैं । न उस अभाव को उत्पत्ति तथा विनाश-स्वभाव अत्यन्ताभाव ही कह सकते हैं, क्योंकि आत्यन्तिक (सदा होनेवाला) तथा उत्पत्ति-विनाश-स्वभाववाला इन दोनों का परस्पर विरोध होता है । यह चतुर्थ संसर्गाभाव भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसके नैयामिक सिद्धान्त के अनुसार त्रिविध (तीन प्रकार के) विभाग का विरोध था जायगा" इस प्रकार पूर्वपक्षी की टोका के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—न अस्ति = नहीं है, घट = घट, गेहे = गृह में, इति = ऐसा, सत = वर्तमान, घटस्य = घट का, गेहसंसर्गप्रतिषेधः ॥ १० ॥

भावार्थ—'गृह में घट नहीं है' इस प्रतीति में सत् (वर्तमान) घट का गृह में संयोगरूप संबन्ध का निषेध कहा जाता है, वह यदि कभी भी घट न हो तो

गेहे घटस्य यः संसर्गः संयोगस्तस्य प्रतिषेधः, स च यदि कदाचिदपि न घटस्तदात्यन्ताभाव एव, भविष्यत प्रागभावो भूतस्य प्रध्वसाभावः । तर्हि घटमधर्गां गेहे नाम्नीति—प्रतीत्या भवितव्य, मिति चेत् प्रतीत्या भवितव्यमिति कोऽर्थः ? यदि तद्विषयया प्रतीत्या भवितव्यमित्यापादनार्थस्तदापत्तिः अथ तदुल्लेखिन्येति, तदा गेहे इत्याधिकरणोल्लेखस्यैव ससर्गोल्लेखपथ्यवसानमाधारत्वर्येय धर्मसम्बन्धाकारत्वात् । सन् किं घटस्तत्रास्त्येव । अस्त्येवेति कोऽर्थस्तत्र समवेत संयुक्तो या ? नात्र समवेतघटस्य तज्जाभावान् । न द्वितीयः संयोगस्य निषेधात् । नन्वेव घटादौना केवलान्वयित्व-

अत्यन्ताभाव होगा, यदि भविष्य में घट होने वाला हो तो घट प्रागभाव, तथा पूर्वमें वर्तमान हो तो घट का स्वतः अभाव होगा (यहा अवत-ख्याति मानने के मत में आकाशपुण्य के अभाव के समान अत्यन्त असत् का अभाव ही अत्यन्ताभाव है ऐसा भ्रम न हो इसलिये सूत्र में 'सन्' ऐसा घट में विशेषण दिया है ॥ १० ॥

उपस्कार—गृह में घट को संयोगनामक सम्बन्ध का निषेध ही 'नास्ति गेहे घट' घर में घट नहीं है इस प्रतीति का विषय है, और वह यदि कभी भी घट का सम्बन्ध न हो तो घटात्यन्ताभाव ही होगा, और यदि घट का संयोग आगे होने वाला हो तो घट का प्रागभाव होगा और यदि घट का संयोग पूर्व में वर्तमान या तो घट का स्वतः अभाव होगा । "यदि ऐसा है तो गृह में घट का समर्ग (सम्बन्ध) नहीं है ऐसी प्रतीति होगी" ऐसा पूर्वपक्षी को तो प्रतीति होनी चाहिये । इसका क्या अर्थ है ? यदि उस विषय की प्रत्यक्षरूप प्रतीति होनी चाहिये ऐसा आपादन (आपत्ति) का अर्थ हो, तो यह झूठ ही है । और यदि तदुल्लेखनी (शब्द-रूप) प्रतीति की आपत्ति पूर्वपक्षी की है तो गृह में—ऐसे अधिकरण का उल्लेख ही सम्बन्ध के उल्लेख में पर्याप्त होता है, क्योंकि आधारता ही धर्म के सम्बन्ध के आकारवाली होती है । अर्थात् प्रत्यक्षरूप तथा शब्दरूप ऐसे दो पक्ष में से प्रथम पक्ष में तो निश्चिन्ता ही इष्टापत्ति मानकर दूसरे पक्ष में 'तदा' इस ग्रन्थ में शकर मिश्र ने दोष दिखाया है, जिससे 'घर में घट नहीं है' इस प्रतीति में आधारार्थक सम्बन्ध रूप है । छत्ती विभक्ति से घर में वस्तुतः घट के संयोग का अभाव प्रतीत होगा है, और घर में घट का सम्बन्ध नहीं है इस प्रतीति से तो घट के सम्बन्ध में वर्तमान समर्ग का अभाव प्रतीत होता है जिसमें कोई दोष नहीं—यह शकर मिश्र का भाव है । उक्त प्रतीति का समर्ग का निषेध करना अर्थ हो तो पूर्वपक्षी सका करता है कि—'अस्त्येव' है तो इसका क्या अर्थ है ? क्या गृह में समवाय सम्बन्ध से, अथवा संयोग सम्बन्ध से वर्तमान है ? प्रथम पक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि गृह में समवाय सम्बन्ध से घट नहीं है । संयोग का निषेध करने के कारण द्वितीय

प्रसङ्गः, तत्संयोगसमवायान्तरस्यैव सर्वत्र निषेधादिति चेन्न, तदुभयनिषेध-
स्यैव घटनिषेधात्मकत्वात् । इत् किं घटस्तत्संयोगश्चेत्येकं तत्त्वं, येन घट-
संयोगनिषेधो घटनिषेधः स्यात्, तत् किं घटस्तत्संयोगसमवायावेकं तत्त्वं,
येन तद्विधिरेव घटविधिः स्यात्, न हि तो यत्र निषेध्यते तत्र घटान्वयो येन
केवलान्वयित्वं तस्य स्यात् । तथाच यस्य यो विधिस्तन्निषेध एव तन्निषेध
इति । यद्वा घटस्य समवायितया गेहेऽत्यन्ताभाव एव, एव गेहे घटो
नास्तीति प्रतीतिविषयः, कपाले संयोगितयेव । एव सति केवलान्वय्यत्यन्ता-

पक्ष भी नहीं हो सकता । यदि पूर्वपक्षी कहे कि इस प्रकार तो घटादि द्रव्य केव-
लान्वयी सर्वत्र वर्तमान हो जायगा, क्योंकि सर्व प्रतीतियों में घट के संयोग तथा
समवाय में से एक ही का सर्वत्र निषेध होगा ।" तो यह नहीं हो सकता, क्योंकि
समनियत (एक में वर्तमान) अभाव के एक होनेके कारण उन समवाय तथा संयोग-
रूप सम्बन्ध का निषेध ही घट का निषेधरूप होता है । तो क्या घट तथा उनका
भयोग एक ही तत्त्व (पदार्थ) है, जिससे घट के संयोग का निषेध घट का निषेध
होगा" इन शका के समाधान में प्रतिबन्धी (समान) उत्तर यह हो सकता है
कि तो क्या घट तथा उसके संयोग एवं समवाय सम्बन्ध एक ही तत्त्व (पदार्थ)
है जिससे उन दोनों सम्बन्धों की विधि ही घटकी विधि होगी । जिस स्थल में
उन दोनों सम्बन्धों का निषेध होता है उस स्थल में घट का अन्वय (सत्ता) होता
है जिससे घट केवलान्वयी (सर्वत्र अविवक्षित) होगा, ऐसा होने से जिसका जो
विधि होता है उसका निषेध ही उसका निषेध होता है । (अर्थात् सम्बन्धी
सम्बन्ध की सत्ता के नियम सत्तावाला होता है ऐसा नियम होने से घट तथा उसके
दोनों सम्बन्धों में एकत्वता न होने पर भी कोई दोष नहीं आता ऐसा यदि कहो
तो द्रष्टव्य में भी यह समान नहीं है यह शंकरमिश्र का गूढ़ अभिप्राय है ।)

(असत् प्रतीति के न मानने से गृह में वर्तमान घट-संयोग का अभाव प्रतियोगी की
मिथि तथा असिद्धि से व्याहृत (विवृद्ध) है इस अभिप्राय से शंकर मिश्र सूत्र का दूसरा
अर्थ दिखाते हुए कहते हैं कि)—अथवा घट का गृह में समवाय सम्बन्ध न होने के
कारण घट-समवायिता का गृह में अत्यन्ताभाव ही है, वही गृह में घट नहीं है
इस प्रतीति का विषय है, जैसे कपाल में घट का संयोग न होने से घट-संयोगिता
का अभाव । (अर्थात् 'नास्ति घट' इन सूत्र में 'गेहसमगंप्रतिषेध' इस पद में
समगं (समवायेन) प्रतिषेध, गेहे ससमगंप्रतिषेध, 'गेहसमगंप्रतिषेध' ऐसा
समान सूत्रकार की अभिप्रेत है ।) इस पक्ष में सूत्र के 'नत' इस पद की व्युत्पत्ति
की शका दिखाते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि—ऐसा होने से केवलान्वयि (सर्वत्र
वर्तमान) गृह में घट-समवायिता के अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होने के कारण घट
आकाश के समान असत् (अयुक्ति) हो जायगा" यदि ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो

भाषप्रतियोगितया घटोऽसन् स्यादिति चेत् भवेदेवं यदि संयोगित्वसमवायि-
त्वाभ्यां सर्वत्रासन् स्यादिति भावः ॥ १० ॥

तदेव भाषाभाषविषयक लौकिकप्रत्यक्षं निरूप्य योगिप्रत्यक्षं निरूपयितु
प्रकरणान्तरमारभते—

आत्मन्यात्ममनसो. सयोगविशेषादात्मप्रत्यक्षम् ॥ ११ ॥

ज्ञानमुत्पद्यते इति शेषः । द्विविधास्सावद्योगिनः समाहितान्तःकरणे ये
युक्ता इत्यभिधीयन्ते, असमाहितान्तःकरणे ये वियुक्ता इत्यभिधीयन्ते ।
तत्र युक्ता—साक्षात्कर्तव्ये यस्तुन्यादरेण मनो निधाय निदिध्यासनयन्तः,
तेषामात्मनि स्वात्मनि परमात्मनि च ज्ञानमुत्पद्यते । आत्मप्रत्यक्षमिति ।

संकरमित्र उद्धार देते हैं कि—केवलान्वयि अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी होने से अवृ-
त्तिता दोष सब आवेगा, यदि संयोगिता तथा समवायिता दोनों सम्बन्ध से घट सर्व
स्थलों में अवर्तमान हो 'यह सूत्र' का भाव है । (अर्थात् केवलान्वयि 'अत्यन्ता-
भाव की प्रतियोगिता असत्ता की व्यभिचारी है । क्योंकि एक सम्बन्ध से वर्तमान
भी गुणादिकों में संयोगादिरूप दूसरे सम्बन्ध से युक्त प्रतियोगितावाले केवलान्वयि
अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता होगी है यह उत्तर का आशय है) ॥ १० ॥

इस प्रकार भाव अथा अभाव पदार्थों के विषय में लौकिक प्रत्यक्ष का निरूपण
कर योगिप्रत्यक्ष का निरूपण करने के लिये दूसरा प्रकरण सूत्रकार आरम्भ करते हैं—

पदपदार्थ—आत्मनि = आत्मा में, आत्ममनसो = आत्मा तथा मन के, सयोग-
विशेषात् = विशेष संयोग से, आत्मप्रत्यक्षम् = आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न
होता है ॥ ११ ॥

भावार्थ—लौकिक आत्मप्रत्यक्ष के समान आत्मा तथा मन के योगज धर्म-
जन्य संनिकर्ष-निरोध से योगियों को आत्मा का साक्षात्कार करानेवाला प्रत्यक्ष-
ज्ञान होता है ॥ ११ ॥

उपकार—सूत्र में आकाशित 'ज्ञानमुत्पद्यते' 'ज्ञान उत्पन्न होता है' ऐसा शेष
पदपूर्ण करना । योगी दो प्रकार के होते हैं, जिनमें प्रथम समाहित (एकाग्र)
वन्त करणवाले जिन्हें 'युक्त' नामक योगी कहते हैं, तथा दूसरे असमाहित (व्यु-
त्थान) वन्त करणवाले जिन्हें 'वियुक्त' ऐसा कहते हैं । उन दोनों में से प्रत्यक्ष
करनेयोग्य वस्तु (इष्ट ध्येय पदार्थ) में आदर से चित्त को लगा कर निदिध्या-
सन (तत्त्वचिन्तन करनेवाले) योगी युक्तयोगी कहलाते हैं, जिन्हें अपनी आत्मा
तथा परमात्मा में भी वह ज्ञान उत्पन्न होता है, जिसमें आत्मा के साक्षात्कार-
विषयक ज्ञान की उत्पत्ति होने से वह सूत्र में 'आत्मप्रत्यक्ष' कहा गया है । यद्यपि

आत्मा प्रत्यक्षः साक्षात्कारविषयो यत्र ज्ञाने तत्तथा । यद्यप्यस्मदादीनामपि कदाचिदात्मज्ञानमस्ति तथाप्यविद्यातिरस्कृतत्वात् तदसत्कल्पमित्युक्तमात्ममनसोः सन्निकर्षविशेषादिति । योगजधर्मानुग्रह आत्ममनसोः सन्निकर्षे विशेषस्तस्मादित्यर्थः ॥ ११ ॥

तत् किमात्मन्येव युक्तानां ज्ञानं तत् कुत सार्वज्ञ्यमित्यत आह—

तथा द्रव्यान्तरेषु प्रत्यक्षम् ॥ १२ ॥

ज्ञानमुत्पद्यत इति प्रकरणायात्तम् । सद्येति योगजधर्मानुग्रहोतेनैव मनसा, द्रव्यान्तरेषु चतुर्वर्णेषु मनसि वायुदिक्कालाकाशेषु, द्रव्यपदेन तद्गतगुणकर्मसामान्यानां विशेषपदार्थस्य समवायस्य प्रत्यक्षगतस्यापि गुरुत्वस्थितिस्थापकादेरात्मगतस्यापि जीवनयोनित्यन्निर्विकल्पकभावनाधर्माधर्मादेः सङ्ग्रहः सामग्र्या योगजधर्मोपग्रहस्य तुल्यत्वात् अन्यथा सार्वज्ञ्यमुक्तं न भवेत् ॥ १२ ॥

हम जीवों को भी कभी-कभी आत्मा का ज्ञान होता है किन्तु वह अविद्या (अज्ञान) से तिरस्कृत होने के कारण वह असत् कल्प (अविद्यमान के मयान) है । इसी कारण सूत्रकार ने 'आत्ममनसो सन्निकर्षविशेषात्' आत्मा तथा मन के सन्निकर्षविशेष से ऐसा सूत्र में हेतु दिया है, जिसका योगाभ्यास से उत्पन्न धर्म का अनुग्रह (महा-पता) ही आत्मा तथा मन के सन्निकर्ष में विशेषता है यह अर्थ है ॥ ११ ॥

'तो क्या युक्तयोगियों को केवल आत्मपदार्थ का ही साक्षात्कार होता है, तो वह सर्वज्ञ कैसे होगे' इस शका पर सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तथा=उसी प्रकार, द्रव्यान्तरेषु = दूसरे परमाणु भावि द्रव्यों में, प्रत्यक्ष = प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है ॥ १२ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार योगज धर्म के अनुग्रह की सहायता ही से मन से योगी को आत्मा का प्रत्यक्ष होता है उसी प्रकार परमाणु, वायु, दिशा, काल आदि द्रव्यों तथा उनमें वर्तमान गुण, कर्म, जाति आदि का भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है ॥ १२ ॥

उपस्कार—'ज्ञान उत्पन्न होता है' यह ज्ञान-प्रकरण से इस सूत्र में आता है । आत्मा के समान योगजन्य धर्म के अनुग्रह से ही अन्तःकरण पृथिवी आदि पाण्डु पर्यन्त चार द्रव्यों के परमाणु, मन, वायु, दिशा, काल तथा आकाश नामक द्रव्य द्रव्यों का भी योगियों को प्रत्यक्ष होता है, यह सूत्र के 'तथा' पद का अर्थ है । सूत्र के 'द्रव्यपद' से द्रव्यों में वर्तमान गुण, कर्म, सामान्य तथा विशेष पदार्थ और समवाय तथा प्रत्यक्ष पदार्थों में वर्तमान गुरुत्व, स्थितिस्थापक सम्कार एवं आत्मा में वर्तमान जीवनयोनि-नामक प्रयत्न, निर्विकल्पक ज्ञान, भावनासंस्कार, धर्म एवं अप्रमत्त इत्यादिको का संग्रह होता है, क्योंकि योगज धर्म का अनुग्रह सबमें समान है, यदि ऐसा न मानें तो योगी में सर्वज्ञता की उक्ति का समर्थन न होगा ॥ १२ ॥

युक्तानां प्रत्यक्ष ज्ञानमभिधायेदानीं विमुक्तानामाह—

असमाहितान्त-करणा उपसंहृतसमाधयस्तेषां ॥ १३ ॥

असमाहितान्त-करणा इत्यस्यैव व्याख्यानमुपसंहृतसमाधय इति । यद्वा कथमसमाहितान्त-करणा इत्यत आह—उपसंहृतसमाधय इति । उपसंहृतो दूरी-कृत समाधिर्निदिध्यासननात्मको यस्ते तथा । ते हि समाधिप्रभावाद्भिररण-धर्माः अणिमाद्याः शरीरसिद्धोद्भूतश्रवणाद्याश्चेन्द्रियसिद्धोत्पन्नवन्तः समाधावप्य-लप्रत्ययमासादयन्तः “तावदेवास्य चिर यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये” इत्यादि श्रुतिसमाधिगतकृत्यान्तराभावात् । भोगमात्रस्य कर्तव्यतामाफलित्य तेषु तेषु प्रदेशेषु द्वीपोपद्वीपादिषु तेन तेन जन्मना तुरज्जमातङ्गचिदङ्गमुजङ्गादिना (यावदेव चिर यावत्) देवर्षिमानुषभावेन च पूर्वोपात्तान् कर्माशयानुपभु-

इत प्रकार युक्त योगियों के प्रत्यक्षज्ञान को कह कर साप्रत विमुक्त योगियों के प्रत्यक्ष ज्ञान को सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—असमाहितान्त करणा = एकाग्रचित्त न होने वाले को उपसंहृतसमा-धय च = और जिन्होंने योगसमाधि का उपसंहार (समाप्ति) किया है ॥ १३ ॥

भावार्थ—योगसमाधि लगाने के पश्चात् जिन योगियों ने व्युत्थान दशा-प्राप्त की ऐसे समाधि के प्रभाव से बिना इन्द्रियों के व्यापार के भी संपूर्ण विषयों का प्रत्यक्ष करने वाले योगी विमुक्त योगी होते हैं ।

उपस्कार—‘असमाहितान्त करणा’ एकाग्रचित्त नहीं, इसी पद की सूत्रकार ने स्वयं सूत्र में व्याख्या की है ‘उपसंहृतसमाधय’ इस पद में अथवा ‘असमाहितान्त-करण’ क्यों है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा है : ‘उपसंहृतसमाधय, च’ । जिन्होंने निदिध्यासन-नामक योग उपसंहृत अर्थात् दूर कर दिगर् है जिन योगियों ने वे ‘विमुक्त’ नामक योगी होते हैं । यह विमुक्त योगी समाधि की मढ़िमा से विकरण धर्म (इन्द्रिय के व्यापार से रहित) होते हुए अणिमा-महिमा इत्यादि आठ प्रकार की शरीर-सिद्ध तथा दूर से सुनना, देखना इत्यादि इन्द्रियों की मिद्धि को प्राप्त कर, योग-समाधि में भा । आलप्रत्यय (जब समाधि की भी आवश्यकता नहीं है) ऐसा ज्ञान प्राप्त करते हुए “तावत् एव = तभी तक, अस्य = इस मोक्ष के, चिर = विलम्ब है, यावत् = जबतक, ॥ = नहीं, विमोक्ष्ये = शरीर से न्यून्ना, अथ = इसके पश्चात् संपत्स्ये = स्वस्वरूप में मिल जाऊंगा” इत्यादि श्रुति-वाक्यों से दूसरे काव्यों का प्रयोजन न रखनेवाला योगी केवल भोगमात्र पूर्ण कर लेता है यह निश्चय कर उन-उन देश-प्रदेशों में तथा द्वीप और उपद्वीपों और अश्व, हस्ति, पक्षी, सर्प आदि अनेक योनियों में जन्म लेकर तथा कर्मानुसार देवता, ऋषि एवं मनुष्य-रूप जन्म से भी पूर्वसंचित कर्माशय (कर्म-वासनाओं) को भोगकर हम उन निर्वाण भूमि

अमदे तावत् प्राप्ते च निरपाया भगिरित्याकलयन्तः सकलमर्थजातं योगजधर्म-
यलोपवृद्दिनेन्द्रियशक्तयो व्यवहितं विप्रकृष्टञ्च प्रत्यक्षीकुर्वन्ति ॥ १३ ॥

ननु न तावत्तेषु मानसं ज्ञानं मनसो बाहिरस्यातन्व्यान्, नापि बहिरिन्द्रिय-
जन्यम् तेषां सम्बद्धवर्तमानार्थप्राप्तित्वात् यथायोगं रूपोद्वादिषापेक्षत्वात्
आयोक्तादिसव्यपेक्षत्वाच्चेत्याशङ्क्य केपुचित् पदार्थेषु प्रत्यासत्तिमुपपादयन्नाह—

तत्समवायात् कर्मगुणेषु ॥ १४ ॥

प्रत्यक्षज्ञानं जायते इति शेषः । भौतिकानांन्द्रियाणि यदि सन्निर्गमपेक्षन्ते
तदा परमाण्वाकाशदिक्कालसम्बन्धेषु स्वमनःसयोगिसमवायात् इतरद्रव्येषु च
कायव्यूषोपभोगार्थोपगृहीतनानाण्डमनःसंयोगात् तत्संयुक्तसमवायात् तत्तद्-
द्रव्यगुणादिषु ज्ञानमुत्पद्यते । एतच्चोपपत्तिसौकर्यमनुरूप्योक्तम् ।

यन्मुनो बाह्येन्द्रियेषु मनसि च योगज एव धर्मः प्रत्यासत्तिस्तत एव

(स्थान) को अवश्य प्राप्त करेंगे, ऐसा निश्चय करते हुए संपूर्ण विषय-समुदाय
को योग से उत्पन्न धर्म के बल से इन्द्रियो में विरोध सामर्थ्य प्राप्त कर व्यवधान-युक्त
तथा दूरस्थ विषयों का प्रत्यक्ष करने हैं ॥ १३ ॥

यदि उक्त विषयो में योगियो को मानस ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि मन
बाहर के विषयो में स्वन्यत्र नहीं होता, न तो बहिरिन्द्रियो से ज्ञान हो सकता है,
क्योंकि इन्द्रिया अपने में सम्बद्ध वर्तमान पदार्थों को ग्रहण करती हैं, तथा यद्योचित
उद्भूत रुपादि गुणों की भी अपेक्षा करती है एवं आलोक (प्रकाश) आदि सामग्री
की भी आवश्यकता रखती हैं, इस प्रकार पूर्वपक्षी खका करे तो इसके समाधा-
मार्थ कुछ विषयो में सन्निकर्ष को सिद्ध करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तत्समवायात् = उनके समवायसम्बन्ध में, कर्मगुणेषु = कर्म और
गुण पदार्थों में, प्रत्यक्ष होता है ॥ १४ ॥

भावार्थ—भौतिक इन्द्रियो को परमाणु आदि पदार्थों के प्रत्यक्ष ज्ञान होने
में मन ने संयुक्त समवायसम्बन्ध से प्रत्यक्ष रूप ज्ञान उत्पन्न होता है ॥ १४ ॥

उपसंसार—सूत्र में आकाशित 'प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है' ऐसा शेष भाग
पूर्ण करना । अक्षु आदि भौतिक इन्द्रिया यदि सन्निकर्ष की आवश्यकता रखती हैं
तो परमाणु, आकाश, दिशा, काल इनमें समवायसम्बन्ध से रहने वाले में अपने
मन के योगियों में समवायसम्बन्धरूप सन्निकर्ष से, तथा दूसरे द्रव्यों में शरीर-
समुदायो के भोग के लिये गृहीत (अपीकृत) अनेक पण्ड (निष्कल) मन के सयोग
से तथा उन-उन द्रव्यों के गुण-धर्म आदिको में मन से संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष से
प्रत्यक्षरूप ज्ञान उत्पन्न होता है । यह युक्ति की सरलता के अनुरोध से कहा है ।

वस्तुतः बाह्य इन्द्रिय तथा मन से भी योगजन्य धर्म ही सन्निकर्ष है, उसी से
सब प्रकार की अनुपपत्ति (असंगति) की शान्ति हो जायगी जिससे अपस्त्य मुनि का

सर्धानुपपत्तिशान्ते, अगस्त्यसमुद्रपान दण्डकारण्यनिर्माणश्चेति दृष्टान्तः ॥१४॥
तत् किं स्वकीयबुद्ध्यादिव्यपि मनसो द्रव्यान्तरसयुक्तसमवाय एव प्रत्याद्वय
सत्तिः, नेत्याह—

आत्मसमवायादात्मगुणेषु ॥ १५ ॥

योगिनां प्रत्यक्षं ज्ञानमुत्पद्यते इति प्रकृतम् । आत्मसमवेतानान्तु बुद्ध्या-
दीना सयुक्तसमवायादेव प्रत्यक्षे ज्ञानमुत्पद्यतेऽम्मदादीनामिवेति न तत्र
सन्निकर्षान्तरापेक्षेत्यर्थः । तत्रेन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमव्यभिचारिज्ञानं लौकिका-
लौकिकप्रत्यक्षम्, अर्थज्ञं वा । साक्षात्स्वयोगिज्ञानं प्रत्यक्षमिति लौकिकालौकि-
कसाधारणम् ॥ १५ ॥

इति श्रीशाङ्करे वैशेषिकसूत्रोपस्कारे नवमाध्यायस्य प्रथमाह्निकम् ।

समुद्र को सुखाना तथा दण्डकारण्य को निर्माण करना दृष्टान्त मानना चाहिये ॥१४॥

‘तो क्या अपने बुद्धि आदि गुणों में भी मन का दूसरे द्रव्य से सयुक्त-समवाय
ही सन्निकर्ष है’ इस शका के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—आत्मसमवायः = आत्मा के समवाय से, आत्मगुणेषु = आत्मा के
गुणों में योगियों को प्रत्यक्ष होता है ॥ १५ ॥

भावार्थ—आत्मा में समवायसम्बन्ध से वर्तमान ज्ञान आदि गुणों का सयुक्त-
समवायसन्निकर्ष से योगियों को प्रत्यक्ष ज्ञान होता है ॥ १५ ॥

उपस्कार—सूत्र में योगियों को प्रत्यक्षरूप ज्ञान उत्पन्न होता है यह प्रकृत
(प्रस्तुत) है । आत्मा में समवायसम्बन्ध से वर्तमान ज्ञान, बुद्धि आदि गुणों का
सयुक्तसमवायसन्निकर्ष से ही प्रत्यक्षरूप ज्ञान उत्पन्न होता है, हम जीवों के ममान
इस कारण उसमें दूसरे सन्निकर्ष की आवश्यकता नहीं है यह सूत्र का अर्थ है ।
उसमें इन्द्रिय तथा पदार्थों के सन्निकर्ष से उत्पन्न व्यभिचाररहित ज्ञान लौकिक तथा
अलौकिक प्रत्यक्ष होता है अथवा अर्थ (पदार्थजन्य) ज्ञान, प्रत्यक्षात्त्व योग (सम्बन्धी)
ज्ञान प्रत्यक्ष कहा जाता है यह लौकिक तथा अलौकिक दोनों प्रत्यक्षों में वर्तमान साधा-
रण प्रत्यक्ष का लक्षण है ॥ १५ ॥

इस प्रकार शंकरमिश्रकृत वैशेषिक सूत्रोपस्कार में नवमाध्याय
का प्रथमाह्निक समाप्त हुआ ।

नवमाध्याये द्वितीयाह्निकम् ।

तदेवं पूर्वाह्निके योगिप्रत्यक्षमयोगिप्रत्यक्षश्च कारणतः स्वरूपतो लक्षणतश्च निरूपितम् । प्रमाणं द्विविधं प्रत्यक्षं लैङ्गिकञ्चेति यद्विभक्तं तत्र लैङ्गिकमिदानीं निरूपयितुमुपक्रमते—

अस्येदं कार्यं कारण संयोगि विरोधि समवायि चेति लैङ्गिकम् ॥ १ ॥

ज्ञानमिति प्रकृतम् । लिङ्गाज्जातं लैङ्गिकं व्याप्तिविशिष्टः पक्षधर्मो लिङ्गम् । यत्र व्याप्तिरुक्ता, यस्तिपाद्यविर्भावविरोधिप्रमाणाभावो यत्र स तं प्रति पक्षः । सादृशं प्रमाणं साधकं साधकञ्च, सन्तुभयाभाववतः पक्षत्वात् । न हि साधके

इस प्रकार नवमाध्याय के प्रथमाह्निक में योगी तथा योगिभिन्न प्राणिमो के प्रत्यक्ष को कारण तथा स्वरूप का वर्णन कर लक्षण का भी वर्णन किया गया । प्रमाण का भी प्रत्यक्ष तथा लैङ्गिक (अनुमान) रूप से जो दो प्रकार का विभाग किया गया है उसमें लैङ्गिक (अनुमान) प्रमाण का निरूपण करने को सूत्रकार आरम्भ करते हैं—

पदपदार्थ—अस्य = इस कारण का, इदं = यह, कार्य = कार्य है, कारण = कारण है, संयोगि = संयोगसम्बन्धवाला है, विरोधि = विरोधाश्रय है, समवायि च = समवायसम्बन्धवाला है, इति = इस प्रकार, लैङ्गिकम् = लिङ्ग से उत्पन्न, अनुमान होता है ॥ १ ॥

भावार्थ—इस कारण का यह कार्य है, इस कार्य का यह कारण है, इसका यह संयोगसम्बन्धी है, इसका यह विरोधी है, इसका यह समवायसम्बन्धी है, इस प्रकार लिङ्ग से होते वाला अनुमानप्रमाण होता है ॥ १ ॥

उपपत्ति—इस सूत्र में 'ज्ञानं' ज्ञान यह प्रस्तुत है । लिङ्ग (हेतु) से उत्पन्न लैङ्गिक (अनुमान) कहाता है । व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्म का नाम है लिङ्ग । जिसमें 'प्रसिद्धिपूर्वकवादपदेशस्य' इस सूत्र में व्याप्ति पूर्वग्रन्थ में कही है । प्रकृतपक्ष विशेष्यवाले साध्यप्रकारक निश्चय की इच्छा के उत्पन्न न करनेवाले प्रत्यक्षात्मक निश्चय के व्यवधानरहित पूर्वक्षण में वर्तमान उसके समानाधिकरण ज्ञानरूप प्रमाण का अभाव जिसमें हो वह उसमें पक्ष होता है अर्थात् जिस पक्ष के जिस पक्ष तथा साध्यवाले निश्चित इच्छा को न उत्पन्न करने वाला, तथा उसी

बाधके वा प्रमाणे सति कस्यचित् संशयः सिपाधयिपा वा । अत एव सन्दिग्ध-
साध्यधर्मा धर्मो सिपाधयिपितसाध्यधर्मा धर्मो वा पक्ष इति प्राञ्जः ।

एतादृशसाध्यवृत्तानिर्णयनिवर्त्यसंशयोत्पत्तिप्रतिबन्धकमानत्वावच्छिन्नाभावो
यत्र स पक्ष इति जीवनाथमिश्राः । सिपाधयिपाविरहसहकृतसाधकमानाभावो
यत्र स पक्ष इति केचित् । एतन्मते तु बाधस्थब्देऽपि पक्षता । तदेतदनुमानम-
यूखे द्रष्टव्यम् । तदेतस्य पक्षस्य धर्मो लिङ्गमित्युक्तं भवति । लिङ्गञ्च दृष्टमनुमितं
श्रुतं वा यदनुमनरूपं ज्ञानं जनयति तल्लिङ्गम् । तदुक्तम्—

पुरुष के प्रत्यक्ष के व्यवधानरहित पूर्वसर्ण में वर्तमान होने हुए उसके समानाधिकरण
जो ज्ञान उसके सवयवसम्बन्ध से युक्त प्रतियोगितावाले अभाव का आशय जो
हो वह उस पुरुष की अनुमिति में पक्ष होता है । यहा पर परम्परा सम्बन्ध से
निश्चय में वर्तमान जो प्रतियोगिता की नियामकता उसकी निरूपक विशेषता सम्ब-
न्ध से युक्त नियामकता सम्बन्ध से प्रतियोगिता के अभाव का आशय लेना चाहिये ।
आगे शकरमिश्र कहते हैं कि ऐसा प्रमाण दो प्रकार का होता है साधक और बाधक
भी, उन दोनों के अभाव का आशय पक्ष होता है । साधक अथवा बाधक प्रमाण
के रहते किसी पुरुष को सशय अथवा अनुमिति की इच्छारूप सिपाधयिपा नहीं
होती । अर्थात् प्रकृतपक्ष विरुद्धतासाध्य निश्चयरूप सिद्धि का ज्ञान सिपाधयिपा
में प्रतिबन्धक होता है, साधक प्रमाण सिद्धि को उत्पन्न करता हुआ सिपाधयिपा
के सिद्धपक्षारूप वरण के विघटन द्वारा उत्पन्न होने का प्रयोजक है । इसी
प्रकार सिद्धिधर्मिवाला इष्टसाधनता ज्ञानरूप बाधक प्रमाण भी सिपाधयिपा के
दूसरे कारण को बाधनिश्चय द्वारा प्रतिबन्ध करता हुआ अनुत्पाव का प्रयोजक होता
है । प्राचीनों ने सिद्धि के समान सिद्धि-विषय में इष्टसाधनता ज्ञान भी बाधनिश्चय
प्रतिबन्धक होता है ऐसा माना है तद्विषयविषयक ज्ञान तद्विषय होता है । ऐसा
नियम होने से इष्टसाधनता ज्ञान भी पक्ष तथा साध्यविषयक होने के कारण
एक ही उक्त प्रकार में साधक तथा बाधक प्रमाण होने पर भी पक्षता न होगी
यही गूढ़ अभिप्राय है ।

आगे इसी आशय से शकरमिश्र कहते हैं कि—इसी कारण तदेत्युक्त साध्य
धर्मवाला धर्मो अथवा सिपाधयिपित (साधन की इच्छा के विषय) साध्य धर्म वाला
धर्मो पक्ष कहलाता है । ऐसा प्राचीन नैयायिकों का मत है । (ऐसा होने से इस मत
से साध्य के निश्चय से (निवर्त्य) रहने योग्य सवयरूप पक्षता होती है जो निश्च-
य्यता सशय से पूर्वतादिपक्ष में रहती है । उक्त दो मन्त्रों में से दूसरा मत है प्रसन्न-
पादाचार्य का, इनके मत में सिपाधयिपारूप पक्षता विषयता सम्बन्ध से पक्ष
में रहती है यह अभिप्राय जानना) जीवनाथमिश्र का मत दिखाते हुए शकरमिश्र

अनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धञ्च तदन्विते ।

तदभावे तु नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम् ॥ इति ।

एतेन लिङ्गमेवानुमितिकरणं न तु तस्य परामर्शः, तस्य निर्व्यापारत्वेनाकर-
णत्वात्, लिङ्गस्य तु स एव व्यापारः । यत्र धूमादेरतीतत्वमनागतत्वं वा तत्र
कथमनुमितिरिति चेन्न, साध्यस्याप्यतीतानागतत्वयोस्तत्रानुमानात्, तत्रैव

कहते हैं कि—उत्पन्न होने के योग्य साध्यवस्तानिश्चय से निवर्त्य (हटाने योग्य)
संशय की उत्पत्ति में प्रतिबन्धक प्रमाण सामान्य का अभाव जिसमें हो उसे पक्ष कहते
हैं ऐसा जीवनाथ गिरि का मत है । अर्थात् प्रकृतपक्ष तथा साध्य वाले अप्रामाण्य
ज्ञान से प्रतिररकृत अनुमितिरव की व्यापक प्रतिबन्धकता से निरूपित प्रथितवध्यता-
वाले संशय की उत्पत्ति में प्रतिबन्धक प्रमाण के अभाव का नाम है पक्ष । (यहा पर
व्यापक कोटि में अनाहार्यता के निवेद के कारण आनेवाले गौरव दोष के निरासार्थ
निर्णय में 'उत्पाद्य' ऐसा विशेषण अनुमिति के लाभ के लिये दिया है । तथा पूर्वत
यल्लिङ्गान् है, गट रूपवान् है या नहीं इस समूहःलंबनरूप संशय के निरासार्थ
निवर्त्य पर्यन्त संशय में विशेषण दिया है । ऐसा होने से इस प्रकार लि संशय के
प्रतिबन्धक जो मान अर्थात् ज्ञान जो सिद्धि तथा वाचनिश्चय में से एक, उसका
सामान्यमात्राव जिसमें हो वह पक्ष होता है, ऐसा होने से सिद्धि तथा वाचनिश्चय के
उत्तरकाल में पक्षता न होगी यह आशय है ।) आगे बिन्तामणिकार गणेशोपाध्याय
का मत दिखाते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि—सिपाधयिषा के अभाव से सहायित
साधक प्रमाण का अभाव जिसमें हो उसे पक्ष कहते हैं—ऐसा कुछ विद्वानों का मत
है । अर्थात् इस मत में सिपाधयिषा के अभाव से युक्त सिद्धिरूप प्रतिबन्धक के अभाव
ही की पक्षता कहते हैं, और वह स्वप्रतियोगि विशेष्यतासम्बन्ध से पर्वतादिकों में
रहती है, और वह आत्मा में वर्तमान प्रत्यासत्ति (सन्निकर्ष) से अनुमिति का कारण
होती है । (उक्त बिन्तामणिकार के मत का खडन करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)
किन्तु इन मत से बाधस्थल में भी पक्षता होती है । किन्तु बिन्तामणिकार के अनु-
मायि नैयायिकों का ऐसा कथन है कि—उक्त बिन्तामणि ग्रन्थ में अनुमित कारण
पक्षता का निर्वचन (स्वरूप कथन) दिया है, न कि पक्षपद का शक्य (मुख्य) अर्थ
उससे कहा गया है । जिससे वाचनिश्चयविशेष में पक्ष पद के व्यवहार की
आपत्ति होगी, पक्ष पद की मुख्यार्थता का नियामक तो अनुमिति का उद्देश्य होना
ही है । शंकरमिश्र कहते हैं कि इस विषय में और विस्तार हमारे किये अनुमान-
संदे के मग्नसमूह में देख लेना चाहिये । इससे व्याप्ति विदिष्ट पक्ष का धर्म (लिङ्ग)
होता है यह कहा गया है । (यहापर ज्ञान के विषय लिङ्ग से उत्पन्न अनुभव
'लैङ्गिक' तथा 'अनुमिति' ऐसा भी कहा जाता है । सन्निकर्ष के ज्ञायमान अथवा कहीं

प्रतिबन्धात् । अतीतत्वमनागतत्वं वर्तमानत्वञ्च धूमादेर्यत्र न निश्चितं तत्र कथमनुमितिरिति चेत्, न कथञ्चित् तत्र साध्यस्यापि सन्देहात् । पूर्वापरदिनयोः सत्त्वनिश्चये मध्यन्दिने तु सन्देहे कथमनुमितिरिति चेत् तदिनावाच्छिन्नधूमादिना तदिनावाच्छिन्नवह्न्यादेरनुमानात्, तथैव व्याप्तेः कारणत्वावधारणान् । धूलोपदृष्टात् कथं धूमसमादनुमितिर्विरति चेत् व्याप्तत्वेन ज्ञातस्यैव लिङ्गत्वात् ज्ञानस्य च भाषार्थ्यायाथार्थ्याभ्यामनुमितेस्तादृश्यात्, अन्यथा तत्रापि कथं तत्र परामर्शः करण स्यात् । अतीन्द्रियलिङ्गस्थले परामर्शस्य तदज-

लिङ्ग होने पर भी उस रूप से यह प्रत्यक्ष में कारण न होने से अतिव्याप्ति दोष न होगा । विशेष स्मरण में उद्बोधक के रीति से ज्ञानविषय लिङ्ग के कारण होने से अतिव्याप्ति स्मरण के लिये यहां शकरमित्र ने आगे अनुभव पद दिया है यह जानना । आगे शकरमित्र कहते हैं कि—और वह उक्त (प्रत्यक्ष) अनुमित (अनुमान किया हुआ) अथवा धृत (सुना हुआ) जो अनुभव रूप ज्ञान को उत्पन्न करता है वह लैङ्गिक कहा जाता है । इसी विषय (लिङ्गग्रन्थ ज्ञान अनुमिति का कारण है । प्रशस्तपादादि प्राचीनों की सम्मति दिखाते हुए शकरमित्र कहते हैं कि—अनुमेयेन = पक्ष से, सम्बद्ध = सम्बन्ध रखनेवाला, प्रसिद्ध व=और प्रसिद्ध हो, तदन्विते=साध्य निश्चयवाले सपक्ष में तदभावे तु = किन्तु साध्य के अभाव वाले विपक्ष में न अस्ति एव = नहीं ही हो तत् = वह, लिङ्ग = लिङ्ग होता है अनुमापकम् = साध्य का अनुमान कराने वाला इति=ऐसा । अर्थात् 'सम्बद्ध से पक्षवृत्तिना, तदन्विते इत्यन्त से सपक्षसत्ता, और 'नास्त्येव' इत्येते विपक्ष में अवृत्तिना ऐमे तीन रूप लिङ्ग के साध्य की अनुमान से ही सिद्ध करने में कारण है यह अर्थ है । इससे लिङ्ग ही अनुमिति का कारण है, न कि उसका परामर्शरूप ज्ञान, क्योंकि वह व्यापार रहित होने से कारण नहीं हो सकता । और लिङ्ग का तो वह परामर्श ही व्यापार है । 'यदि लिङ्ग की कारण मानने से जहां धूमादि लिङ्ग अतीत (बीत गया) है अथवा अनागत (भविष्य) है, वहां अनुमिति कैसे होगी' ऐसी पूर्वपक्षी शका करे तो यह ठीक नहीं, क्योंकि वहां पर बह्नि आदि साध्य के अतीतता अथवा भविष्यता का ही अनुमान होता है, क्योंकि उसी में प्रतिबन्ध-व्याप्ति है । अर्थात् जहां धूम अतीत नष्ट है वहां बह्नि की वर्तमानता का अनुमान नहीं होता, किन्तु बह्नि की अतीतता का ही अनुमान होता है, ऐसा होने से अतीत हेतुस्थल में अतीत ही साध्य में प्रतिबन्ध (व्याप्ति) है यह शकर मित्र के अक्षरों का अर्थ है । यदि जहां पर धूमादि लिङ्गों की अतीतता तथा भविष्यता का निश्चय नहीं है वहां अनुमिति कैसे होगी ? ऐसा पूर्वपक्षी कहे ध्वस आदि रूप साध्य के सदेह से साध्य का वहां सदेह ही होगा अनुमिति किसी प्रकार न होगी, क्योंकि वहां साध्य का सदेह रहता है ।

न्यतया कथं तद्व्यापारत्वमिति चेत् तत्सत्तानिर्वाहकत्वरूपक्षैमिकसाधनताया-
स्तत्र व्यापारत्वपदकत्वात्, अन्यथा समवायस्य श्रवणादेर्व्यापारत्वानुप-
पत्तेरिति । कार्यालिङ्गात् धूमालोकादेरग्न्याद्यनुमानम् । कारणादपि यथा
वधिरस्य मेरीदण्डसंयोगविशेषात् शब्दानुमानम्, यथा वा धार्मिकस्य
यथाविधियागस्नानाद्यनुष्ठानाद्धर्मस्वर्गाद्यनुमानम्, यथाविधि कारीर्याद्यनुष्ठान-

‘पूर्व नया आने के दिन जहा हेतु की सत्ता का निश्चय है और मध्य (बीच)
दिन में सदेह है, वहा अनुमिति कैसे होगी ? ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो, उस दिन में
वर्तमान धूमादि लिङ्ग से उस दिन में वर्तमान वह्नि आदि साध्य का अनुमान
होगा यह उत्तर है, क्योंकि उसी प्रकार व्याप्ति में कारणता का निश्चय है । अर्थात्
जहा उस दिन में धूम है वहा उसके पूर्व या उत्तर दिन में वह्नि है इस प्रकार उस
स्थल के कालविशेष को लेकर व्याप्ति का ज्ञान होने से ही अतीत वह्निपादिकों का
अनुमान होने से कोई दोष न होगा । ‘वृत्ति के समुदाय में धूम का भ्रम होने
पर उससे वह्नि का अनुमान कैसे होगा ?’ ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो व्याप्तिविशिष्टरूप से
जाना हुआ ही लिङ्ग होता है, ज्ञान की यथार्थता (सत्यता) तथा अयथार्थता (असत्य-
ता)ओं से अनुमिति में यथार्थता और अयथार्थता होती है, अन्यथा आपके मत में भी
वहा परामर्श कैसे कारण होगा । (अर्थात् धूम कारण है यह हम नहीं कहते, किन्तु
व्याप्ति विपर्यय से जाना हुआ ही कारण है यह कहते हैं, ऐसा होने में उक्त स्थल
में धूलि का समूह ही उक्त रूप से जाना गया है, अतः दोष न होगा) । ‘अतीन्द्रिय
(अप्रत्यक्ष) हेतुस्थल में परामर्श के उससे उत्पन्न न होने के कारण कारण का
व्यापार कैसे होगा’ यदि ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो उसके सम्बन्ध या निर्वाह करना
रूप क्षैमिक (कन्याण कारक) कारणता को वहा व्यापार तो हो सकती है, ऐसा
न माने तो श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द के ग्रहण में समवायसम्बन्ध भी नित्य होने के कारण
व्यापार न हो सकेगा । अर्थात् ज्ञानरूप विषयी के स्वरूप के विषय के अधीन
होने से विषयी के अधीन सम्बन्ध में भी विषय की अधीनता है यह तात्पर्य है ।
ऐसा मानने से आचार्य मत में कोई दोष न होगा । और ऐसा होने पर भी लिङ्ग को
करण मानने के पक्ष में यैत्र नामक पुरुष को भये परामर्श के विषय हेतु से जैत्र
नामक पुरुष का अनुमान हो ही जायगा । यह आपत्ति नहीं हो सकती । यदि इस
दोष के वारणार्थ ‘तत्पुषीयता’ उस-उस पुरुष के अनुमिति में ऐसा निवेदन किया जाय
तो लिङ्ग ज्ञान की कारणता अपेक्षा से महागौरव दोष आ जायगा ऐसा चिन्तामणि
का आशय है ।

(सूत्र में दिये कार्यादि लिङ्गों का उदाहरण देते हुए इकरमिश्र आगे कहते हैं
कि)-धूम तथा आलोक (प्रकाश) आदि रूप कार्य लिङ्ग से उसके कारण अग्नि

नाद्वा वर्षानुमानम्, प्रय पूर्णनद्यादौ खन्यमानप्रवाहाद्वा जलनिःसरणानुमानम् ,
 वपरिवृष्टिदर्शनाद्वा नदीवृद्धयनुमानम् । स चायं कार्यकारणभावलक्षण एकस-
 म्बन्ध प्रकारद्वयेनोक्त । सयोगिनः शरीरस्य दर्शनास्त्वग्निन्द्रियानुमानम् ।
 विरोधिनो विस्फूर्जतोऽर्धदर्शनाज्झाटाद्यन्तरितनकुलानुमानम् । समवायिना
 जलीष्णयेन तत्सम्बद्धतेजोऽनुमानम् ॥ ० ॥

नन्वव्यापकमिदं परिसह्यमानम् । न हि चन्द्रोदयेन समुद्रजलवृद्धेः-
 जलप्रसादेनागस्त्योदयस्य-कुमुदप्रकाशेन चन्द्रोदयस्य-चतुर्दशनक्षत्रोदयेनापर-
 चतुर्दशनक्षत्रास्तमयस्य-रसेन रूपस्य-रूपविशेषेण वा रसविशेषेणानुमान-
 मनेन संगृह्यते इत्यत आह—

वा अनुमान होता यह प्रथम कार्यलिङ्ग का उदाहरण है । दूसरा कारण रूप भी
 लिङ्ग से जैसे बधिर मनुष्य को भेरी तथा दण्ड के सयोगविशेषरूप कारण से
 शब्दरूप कार्य का अनुमान अथवा धार्मिक पुरुष का विविपूर्वक यज्ञ, स्नान इत्यादि
 कार्य के अनुष्ठान से, धर्म अदृष्ट (स्वर्ग आदि कार्य का अनुमान, अथवा विविपूर्वक
 कारीरी नामक यागरूप कारण से वर्षारूप कार्य का अनुमान, अथवा जल से पूर्ण
 नदी आदि में या खने हुए जल के प्रवाहरूप कारण से जल के निःसरण (निकलने)
 रूप कार्य का अनुमान, अथवा ऊपर हुई वृष्टि के दर्शन रूप कारण से नदी भी
 वृद्धि होनेरूप कार्य का अनुमान, (यह संपूर्ण कारण से कार्य के अनुमान के
 उदाहरण हो सकते हैं) । और वह यह कार्यकारणभाव रूप एक ही सम्बन्ध
 कार्यत्व तथा कारणत्वरूप दो प्रकार से सूत्र में कहा गया है (इससे वैशेषिकमत
 में वर्णन किये कार्यकारण, सयोगि, समवायि तथा विरोधी ऐसे चार प्रकार के
 सम्बन्धों का वर्णन विरुद्ध नहीं होता) । सयोगी का उदाहरण है शरीर के दर्शन
 से त्वग्निन्द्रिय का अनुमान, क्योंकि त्वग्निन्द्रिय शरीर में सयुक्त है । विस्फूर्जत (फूट
 कारनेवाले) सर्प को देखकर झाड़ी में छिपे नकुल ने (मेऊरे) का अनुमान होना
 विरोधी लिङ्ग का उदाहरण है । जल में समवायसम्बन्ध से वर्तमान दण्डता से
 उसमें सम्बद्ध अग्नि आदि तेज का अनुमान समवायि लिङ्ग का उदाहरण है ॥१॥

यह लिङ्ग की गणना अव्यापक है, क्योंकि चन्द्रमा के उदय से समुद्र के जल
 की वृद्धि का अनुमान, जल की निर्मलता से अगस्त्य नामक ठारा के उदय का अनु-
 मान, कुमुदी के प्रकाश से चन्द्र के उदय का अनुमान, एक चतुर्दश नक्षत्रों के उदय
 से दूसरे पूर्व चतुर्दश नक्षत्रों के अस्त होने का अनुमान, रस से रूप का अनुमान,
 अथवा रूपविशेष से रसविशेष का अनुमान, इनका संग्रह नहीं होता । अर्थात्
 मूलोक्त चार प्रकार के सम्बन्धों में से इन अविश्व दिये उदाहरणों में किसी भी
 सम्बन्ध का सम्बन्ध होने के कारण सम्बन्धगणना अमंगल है—इस पूर्ववर्ती की
 शका के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

अस्येदं कार्यकारणसम्बन्धश्चावयवाद्भवति ॥ २ ॥

अस्येदमित्येतावदेव प्रयोजक भवतीति, अस्य साधनस्य धूमादेरिदं साध्यं बह्व्यादि । यद्वाऽस्य बह्व्यादेरिदं व्याप्यं धूमादि । तथान व्याप्यस्य महमात्रं सन्न न तु कार्यकारणभावादिरपि । ननु पूर्वसूत्रे तर्हि परिसह्यमानमनन्तरमत्र आह—कार्यकारणसम्बन्ध इति । अनेन चोक्त सम्बन्धान्तरमप्युपलक्ष्यति । सम्बन्धपदे च विपर्ययलक्षणा, तेन सम्बन्ध इति सम्बन्धोपन्यास इत्यर्थः । कुतस्तदुपन्यास इत्यत आह—अवयवात् एकदेशात् उदाहरणमात्रात् ल्यब्लोपे पञ्चमी । तेनोदाहरणमनुरुध्य कार्यकारणभावादे सम्बन्धस्योपन्यास इदं दर्शने साहचर्यादिदर्शने च भवतीत्यर्थः ।

पदपदार्थ—अस्य = इसका, इदं = यह है, कार्यकारणसम्बन्ध च = और कार्य तथा कारण का सम्बन्ध भी, अवयवात् = एकदेशरूप अवयव उदाहरण से भवति = होता है ॥ २ ॥

भावार्थ—इस साधन का यह साध्य है इस प्रकार व्याप्यता ज्ञानमात्र अनुमान में प्रयोजक है, सूत्र में कार्यकारण इत्यादि चतुर्विध सम्बन्धों का वर्णन केवल उदाहरण मात्र के आशय से किया गया है ॥ २ ॥

उपस्कार—‘अस्य इदं’ इसका यह है, इतना ही अर्थात् इस धूमादि साधन का यह बह्व्यादि साध्य है, अथवा इस वृत्ति आदि साध्य (व्यापक) का यह धूम आदि व्याप्य है यह ज्ञान ही प्रयोजक है, ऐसा होने से यह सिद्ध होता है कि अनुमिति से केवल हेतु से व्याप्यता ज्ञान ही कारण है न कि कार्यता कारण आदि होना भी । ‘यदि ऐसा है तो प्रथम सूत्र में कार्यकारण आदि चार प्रकार के हेतुओं की गणना करना सूत्रकार का अनवगत है’ इस वाक्य के समाधानार्थ सूत्रकार ने सूत्र में ‘कार्यकारणसम्बन्धश्च’ ऐसा कहा है । इससे सयोगी विरोधी समवाय आदि से दूसरे सम्बन्ध भी सूत्रकार ने सूचित किये हैं । सूत्र में सम्बन्ध पद की विषयी में लक्षणा है इससे ‘सम्बन्ध’ इस पद का सम्बन्ध का उपन्यास ‘वचन’ ऐसा अर्थ है । सम्बन्ध का उपन्यास क्यों किया है ? इस प्रश्न उत्तर में सूत्रकार कहते हैं—अवयवात्—अवयव अर्थात् एकदेश से उदाहरण मात्र के लिये किया गया है, अवयवात् इस पद में ल्यप् प्रत्यय के लोप में पचमी विभक्ति है, जिससे उदाहरण को अनुसरण कर कार्यकारणभाव आदि रूप सम्बन्ध का सूत्र में उपन्यास (वचन) है, ऐसा वैशेषिक तथा साह्यदर्शन में सिद्ध होता है यः सूत्र का अर्थ है । अर्थात् वैशेषिकदर्शन में सूत्रोक्त कार्य कारण, सयोगी, विरोधी तथा समवाय ऐसे चार सम्बन्ध हैं और साह्यमत में भी मात्रा, निमित्त, सयोगी विरोधी, सहचारी, स्वस्वानभिभाव, मध्यमातृभाव ऐसे सात हेतुओं से अनुमिति

एवंच स्वाभाविकसम्बन्धशालित्वं व्याप्यत्वम्। स्वाभाविकत्वं चानीपाधि-
क्यम्। तच्च प्रत्यक्षाणां केषांचित् साध्याव्यापकत्वनिश्रयात्, केषांचित् साधने-
व्यापकत्वनिश्रयादेवानुपाधित्वं ज्ञेयम्। अतोन्द्रियाणां च प्रमाणसिद्धानां केषां-
चिदुभयव्यापकत्वम् उभयाव्यापकत्वं साधनमात्रव्यापकत्वं साध्यमात्रव्याप-
कत्वं वा। तत्राद्ये साधनव्यापकत्वात् द्वितीये साध्याव्यापकत्वात् अतुर्थेऽपि
साधनव्यापकत्वादेवानुपाधित्वं निश्चेयम्। तृतीयेऽपि व्यापकस्य तन्मात्रव्या-
पकत्वानुपपत्तिरित्यरहं तु कथं तन्मात्रव्यापकत्वमित्यत्र तर्कोऽनुमन्वेय इति

होती है, इस प्रकार सात सम्बन्धों का कथन भी केवल उदाहरण मात्र है न कि
गणना में तात्पर्य है यह सिद्ध होता है।

ऐसा होने में स्वाभाविक सम्बन्ध स्वभावता ही हेतु में व्याप्यता है। तथा अनौ-
पधिकत्व (उपाधिशून्यता) ही सम्बन्ध में स्वाभाविकता है। और वह उपाधि-
शून्यता कुछ प्रत्यक्ष उपाधि (जैसे पर्वत वल्लिमान है धूम होने से इस अनुमान से तप्त
अव (लोह) पिण्ड में) वल्लि रूप साध्य के रहने पर भी आर्द्र-धनसंयोगरूप उपाधि
के न रहने के निश्चय से उपाधिशून्यता का ज्ञान होता है। कुछ उपाधियों में
(जैसे यह सुशायब है रस होने से) इस अनुमान में स्नेहादि गुणों में रूप साध्य की
व्यापकता होने पर भी रसमाधन की अव्यापकता न होने से उपाधिशून्यता का
ज्ञान होता है। और प्रमाण से सिद्ध अतीन्द्रिय (अग्र्यश) कुछ उपाधियों में
साध्य तथा साधन दोनों की व्यापकता होती है तथा कुछ उपाधियों में साध्य तथा
साधन दोनों की अव्यापकता होती है, कुछ में केवल साधन की व्यापकता, एवं
कुछ उपाधियों में केवल साध्य की अव्यापकता होती है। उनमें से प्रथम में साधन
की व्यापकता होने से, द्वितीय में साध्य की अव्यापकता होने से, और चतुर्थ में भी
साधन की व्यापकता होने से ही उपाधिशून्यता का निश्चय होता है।

तृतीय में भी "साध्य व्यापक में केवल साध्य व्यापकत्व नहीं हो सकता, किन्तु
उससे भिन्न में तन्मात्र व्यापकता कैसे होगी?" इस शका के समाधानार्थ तर्क का
अनुसरण करना होगा इस प्रकार तुल्ययोगक्षेपत्व (समान आपत्ति तथा समा-
धान) होने के कारण उपाधिशून्यता का ज्ञान होता है यह निश्चय जानना (अर्थात्
उक्त स्थल में प्रमाण से सिद्ध गुरुत्व आदि अतीन्द्रिय उपाधियों में भी उपरोक्त चार
निष्पाधित्व के प्रकारों से अनौपधिकत्व (उपाधिशून्यता) है ही। किन्तु केवल
साधन व्यापकरूप तृतीय पक्ष में यदि यह दूसरों का व्यापक होगा तो केवल
साधन का व्यापक कैसे होगा और व्याप्य हो तो केवल उसी का व्यापक कैसे होगा'
इस तर्क की सहायता से योग तथा रस (अप्राप्त माप्ति तथा प्राप्त का रक्षण) दोनों
में समान होने से उपाधिशून्यता का ज्ञान होगा यह आशय यहाँ जान लेना)।

तुल्ययोगक्षेमत्वादिनाऽनुपाधित्वमव्यवसेयम् । भविष्यति कश्चिदत्रोपाधिरिति-
शङ्कापिशाची सकलविधिनिषेधव्यवहारानास्कन्दतीत्यनादेयेत्यनौपाधिकत्व-
निश्चयसम्भवात् । उपाधिलक्षणं व्याप्तिलक्षणं चोक्तम् ।

तत्रानुमानं द्विविध—स्वार्थं परार्थञ्च । तत्र स्वार्थं स्वयमेव व्याप्तिपक्षध-
र्मतयोरनुसन्धानात् । परार्थञ्च परोदीरितन्यायजन्यव्याप्तिपक्षधर्मताज्ञानात् ।

(आगे शरकरमिश्र कहते हैं कि) उपाधि होगी । इस प्रकार की यहाँ कोई दावा
रूप विधाधि भी तो संपूर्ण शास्त्र में विहित तथा निषिद्ध व्यवहारों को ही आक्रमण
करने के कारण नहीं मानी जा सकती, इस कारण उपाधिसूच्यता का निश्चय हो
सकता है ।

उपाधि तथा व्याप्ति का लक्षण पूर्वग्रन्थ में कहा गया है । इस प्रकार प्रद-
ष्टित लैङ्गिकज्ञानरूप अनुमान म्दार्थ तथा परार्थ भेद से दो प्रकार का है । उनमें
से स्वयं ही व्याप्ति तथा पक्षधर्मता के ज्ञान से उत्पन्न होने वाले अनुमान को स्वार्थ
अनुमान कहते हैं । और दूसरे पुरुष के कहे हुए न्याय से उत्पन्न व्याप्ति तथा पक्ष-
धर्मता के ज्ञान से उत्पन्न अनुमान को परार्थ अनुमान कहते हैं । तृतीय ('तीसरे ')
लिङ्ग परामर्श ज्ञान के प्रयोजक (सपादक) शब्दज्ञान के उत्पन्न करने वाले वाक्य को
न्याय कहते हैं । अर्थात् प्रथम हेतुस्वरूप लिङ्ग का दर्शन होता है, उसके लिङ्ग
निश्चयरूप होने से लिङ्ग परामर्श होने पर भी उसकी विवक्षा (कहने की इच्छा)
नहीं है, किन्तु उससे व्याप्ति का स्मरण होना है और उससे तृतीय क्षण में जो
लिङ्गपरामर्शरूप ज्ञान होता है वही तृतीय लिङ्गपरामर्श कहा जाता है, वह
व्याप्ति तथा पक्षधर्मताविशिष्ट हेतुरूप लिया जाता है, उसके उत्पादक शब्दज्ञान
को उत्पन्न करने वाले वाक्य को न्याय कहते हैं, यह अर्थ है । यहाँ पर वाक्यपद
पूर्वोक्त शब्दज्ञान में वर्तमान कार्यता से निरूपित कारणता के विषयरूप से नियाम-
कता की पर्याप्ति के आश्रय के लाभ के लिये दिया है, नहीं तो न्याय के एकदेश में
लक्षण जाने में अव्याप्ति दोष ही आयागा । उपवय आदिको से उत्पन्न शब्दज्ञान
को दूसरे पुरुष के परामर्श में वाक्यस्वरूप से कारणता गही है, किन्तु विशेषण
ज्ञानरूप से, और पूर्वोक्त परामर्श में तो न्याय से उत्पन्न शब्दस्वरूप से ही कार-
णता है यह अन्वय तथा व्यतिरेक के अनुसरण से मिद है यह यहाँ आशय है । और
यथाश्रुत अर्थ में उपन्यासदिको में अतिव्याप्ति दोष होगा । उसके निरासार्थ प्रयो-
जकपर्यन्त विशेषण केवल प्रतिज्ञादि सम्पूर्ण अवयवों के अर्थ ज्ञान का परिचायक
है न कि उसका लक्षण में निवेश है । ऐसा होने से उक्त प्रकार की यत्किंचित्
(कुछ) शब्दज्ञान से निरूपित तथा शब्दज्ञान में वर्तमान जो-जो कारणता
उस-उस नियामक भाग में प्रविष्ट किसी ज्ञानविशेष की विषयता के आधार वर्ण-

न्यायश्च तृतीयलिङ्गपरामर्शप्रयोजकशाब्दज्ञानजनकवाक्यम् । तदवयवाश्च पञ्च । तत्रावयवत्वं तृतीयलिङ्गपरामर्शप्रयोजकशाब्दज्ञानजनकशाब्दज्ञानजनकवाक्यत्वम् । तानि च वाक्यानि प्रतिज्ञाहेतुदाहरणोपनयनिगमनानि ।

तत्र प्रतिज्ञा-उद्देश्यानुमित्यन्यूनानतिरिक्तविषयकशाब्दज्ञानजनकं न्यायावयववाक्यम् । हेतुश्च प्रकृतसाधनगतपञ्चम्यन्तो न्यायावयव । उदाहरणन्तु

त्व की व्यापक समूहना ही 'न्यायत्व' पदार्थ है यह नव नैयायिकों का भाव गहा जानता ।

आगे शकरमिश्र कहते हैं कि उस न्याय के पाच अवयव हैं । एक तृतीय-लिङ्ग परामर्श के प्रयोजक शाब्दबोधरूप ज्ञान के जनक शाब्दबोध के उत्पन्न करने वाले वाक्य को अवयव कहते हैं । इससे जनक पर्यन्त शाब्दज्ञान का विदोषण है । दूसरे शाब्दज्ञान जनक पद को इस अवयवमामात्र के लक्षण में न दिया जाय तो न्याय में अतिव्याप्ति दोष आ जायगा । न्याय से उत्पन्न शाब्दबोध में अवान्तर वाक्यार्थ ज्ञान कारण होने से और उसके ज्ञान के भी प्रतिज्ञा आदि रूप न्याय के अवान्तर वाक्यों से उत्पन्न होने के कारण भी प्रतिज्ञादि प्रत्येक अवयवों में उक्त लक्षण सगत हो जाता है । न्यायजन्य शाब्दज्ञान से प्रतिज्ञादि एकैक वाक्यजन्य शाब्दबोध की शाब्दत्वेन रूपेण कारणता है । क्योंकि अवयव तथा व्यतिरेक से यह निश्चित है । किन्तु प्रतिज्ञा आदि एकदेश के अर्थज्ञान को ले अवयव के अर्थ के ज्ञान के उत्पत्ति के क्रम से प्रयोजकता है नकि साक्षात् इस कारण उनका निराम हो जायगा । यहाँ भी पूर्व के समान वाक्य पद का एक-एक अवयव से उत्पन्न शाब्द ज्ञान में वर्तमान कार्यता से निरूपित कारणतावच्छेदकनापर्याप्त्यधिकरणरूप अर्थ जानना । उम-उम शाब्दज्ञानस्वविशिष्ट अन्यता से निरूपित कारणता निमित्तक यत्किञ्चित्ज्ञान सम्बन्धि विषयता के निरूपक वर्णममुदाय को अवयव कहते हैं ऐसा नवीन नैयायिकों के मन जानना । इससे अगिच इस विषय में अवयव प्रकरण के ग्रह में देखना चाहिये । (शकरमिश्र कहते हैं कि) —प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन नाम के वे पाच अवयव हैं ।

उनमें से उद्देश्यानुमिति से अग्यून अर्थात् प्रकृतपक्ष तथा प्रकृतसाध्य वाली अनु-
मिति-नैजग्यून-न्यून-नैजग्यून-न्याय-अतिरिक्त-अधिक-नैजग्यून-विषय-जाले
शाब्दबोध के उत्पादक न्याय के अवयववाक्य को प्रतिज्ञा कहते हैं ('पर्वत बलिमान है'
इस प्रकार वे प्रतिज्ञा वाक्य से उत्पन्न ज्ञान के प्रकृत 'पर्वत' पक्ष तथा 'बलि' साध्य
वाले अनुमिति के समान आकार होने से लक्षण समन्वय जानना) हेतु से युक्त पक्षसाध्य
वाली अनुमिति से अनतिरिक्त विषय वाले ज्ञान के उत्पादक हेतुरूप अवयव में
अतिव्याप्ति वारणार्थ अग्यून पद, तथा निगमन में उक्त दोष के वारणार्थ अनतिरिक्त

प्रकृतसाध्यसाधनाविनाभावप्रतिपादको न्यायावयवः । उपनयश्चाविनाभाव-
विशिष्टस्य हेतोः पक्षवैशिष्ट्यप्रतिपादको न्यायावयवः । निगमनस्तु पक्षे प्रकृत-
साध्यवैशिष्ट्यप्रतिपादको न्यायावयवः । एव च प्रवर्तते न्याय-शब्दोऽनित्य
कृतकत्वात् । यद् यत् कृतकं तदनित्यम्, अनित्यत्वव्याप्यकृतकत्वबाधायम्,
तत्मादनित्यः ।

एतेषामेव प्रतिज्ञापदेशनिदर्शनानुसन्धानप्रत्याम्नाया इत्यन्वयार्था वैशेषि-

पद प्रतिज्ञा लक्षण मे दिया है । उदासीन बाध मे उक्त दोष वारणार्थ 'न्यायावयव'
ऐसा विशेष्य पद दिया है यह भी जानना चाहिये ।

(आगे हेतु के लक्षण संकरमिश्र करते हैं कि प्रस्तुत साधन मे वर्तमान पचमी
विभक्ति जिनके अन्त मे हो ऐमे न्यायावयव को हेतु अवयव कहते हैं) अर्थात् प्रस्तुत-
हेतुभावच्छेदक से युक्त हेतु विशेषण वाले स्वार्थ विशेष्य वाले ज्ञान के जनक पचमी
विभक्ति वाले अवयव को हेतु अवयव कहते हैं । 'वर्तिर्धूमात्' वज्रि है धूम होने
से, इन प्रतिज्ञा मे धूमात् इम माध्य निर्देश मे अतिव्याप्ति वारणार्थ बोध में हेतुता-
वच्छेदकावच्छिन्न ऐमा विशेषण दिया है । इस विषय मे अधिक विवेचन शीघ्रित-
रहस्य मे देवना चाहिये ।

(क्रमगत उदाहरण अवयव का संकरमिश्र लक्षण करते हैं कि) — प्रस्तुत साध्य
तथा साधक के अविनाभाव (व्याप्ति) के प्रतिपादक न्यायावयव का उदा-
हरण कहते हैं । अर्थात् प्रकृतसाध्यतावच्छेदकविशिष्ट से निरूपितहेतुतानियामक
विशिष्ट हेतु मे वर्तमान व्याप्ति के बोधक अवयव को उदाहरण कहते हैं । अवि-
नाभाव (व्याप्ति) विशिष्ट हेतु के पक्ष के साथ विशेषणविशेष्यभाव को प्रतिपादन
करनेवाले अवयव को उपनय कहते हैं । अर्थात् प्रकृत हेतु तथा साध्य वाली अनुमिति
मे उपयोगी व्याप्ति विशिष्ट हेतु के आश्रयरूप से पक्ष के प्रतिपादन करनेवाले
न्यायावयव को उपनय कहते हैं । निगमन मे इस लक्षण की अनिव्याप्ति नहीं हो
सकनी, क्योंकि प्रतिपादक शब्द का उसके प्रतिपादन की इच्छा से प्रयुक्त ऐसा अर्थ
है, निगमन तो अवाधिनादि साध्य की प्रतिपादन की इच्छा से प्रयुक्त है ।

पक्ष मे प्रस्तुत साध्य के विशेषण विशेष्य भाव के प्रतिपादन करनेवाले न्याया-
वयव को निगमन कहते हैं । अर्थात् पक्षतावच्छेदक विशिष्ट पक्ष मे बाधरहित
साध्यतावच्छेदक विशिष्ट साध्य प्रकारक बोध के उत्तर करनेवाले न्यायावयव को
निगमन कहते हैं । उक्त न्यायप्रयोग इस प्रकार होता है — शब्द अनित्य है, कार्य
होने से, जो जो कार्य होता है वह वह अनित्य होता है, अनित्यता के व्याप्य कार्यता
वाला यह शब्द भी है, इस कारण शब्द अनित्य है । इन्ही पांच अवयवों की प्रतिज्ञा,
अपदेश, निदर्शन, अनुसन्धान, प्रत्याम्नाय ऐसी प्राचीन वैशेषिक मतानुयायियों के मत

काणा सज्ञा । अत्र च धादजल्पवितण्डानां प्रवृत्तिप्रकारश्छलजातिनिग्रहस्थान-
लक्षणानि च धादिविनोदोऽन्वेष्टव्यानि ॥ २ ॥

प्रमाणान्तराणि लैङ्गिकेऽन्तर्भावयितुं प्रकरणान्तरमारभते—

एतेन शब्द व्याख्यातम् ॥ ३ ॥

शब्दं शब्दस्वरूपकं ज्ञानमिदमिति यन्नैयायिकादीनामभिमतं तदप्येतेन
लैङ्गिकत्वेन लिङ्गप्रभवत्वेनैव व्याख्यातम् । यथा व्याप्तिपक्षधर्मताप्रतिसन्धाना-
पेक्ष लैङ्गिक तथा शब्दमपि । तथाहि एते पदार्था मिथ ससर्गवन्त आकाङ्क्षा-
दिमद्भि स्मारितत्वात् गामभ्याजेति पदार्थसार्थवत् । तत्र हि आकाङ्क्षादिमत्-

मे सज्ञा है । इस प्रकार उक्त इस परार्थानुमान मे बीतराग कथाकारवाद, विजिगीषु-
कषाट्प जल्प तथा वितण्डा वक्ता के तात्पर्य के अविषय की कल्पना से रूपण देना
रूप छल, स्वव्याधातक उत्तररूप जाति तथा वादिपराजयरूप निग्रहस्थानो के
लक्षण भी धादिविनोदनामक शकरमिश्रकृत ग्रन्थ मे देख लेना चाहिए ॥ २ ॥

दूसरे उपमानादि प्रमाणो का लैङ्गिक (अनुमान) प्रमाण मे अन्तर्भाव लिखाने
के लिये इसका प्रकरण आरम्भ करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—एतेन—इस लैङ्गिक (अनुमान) से, शब्द = शब्द से उत्पन्न ज्ञान,
व्याख्यातम् = व्याख्या की गयी ॥ ३ ॥

भावार्थ—पोषणपदार्थवादी नैयायिकादि दार्शनिकों को अभिमत शब्दकरण
से उत्पन्न शब्दज्ञान आदि भी इसी लैङ्गिक (लिङ्ग से उत्पन्न) होने के रूप से
व्याख्या की गयी, अर्थात् शब्दबोध भी अनुमिति मे अन्तर्भूत है न कि उसके लिये
शब्दरूप भिन्न प्रमाण की आवश्यकता है ॥ ३ ॥

उपस्कार—‘शब्द’ इस सूत्र के पद का अर्थ है शब्दरूप करण वाला यह ज्ञान
है ऐसा जो दूसरा प्रमाण नैयायिक आदि दार्शनिकों को अभिमत (मान्य) है, वह भी
इस लैङ्गिकत्व (अर्थात् लिङ्गरूप प्रमाण) से उत्पन्न रूप से ही व्याख्या की गयी ।
जिस प्रकार लैङ्गिक (अनुमिति) रूप ज्ञान व्याप्ति तथा पक्षधर्मता के ज्ञान की
अपेक्षा करना है उसी प्रकार शब्द (शब्द से उत्पन्न ज्ञान) उनकी अपेक्षा करता
है । वह इस प्रकार है कि—यह पदार्थ (‘इस रजत को देखता हूँ, इस वाक्य
मे इदमत्व के आधार रजतादि पदार्थ), परस्पर सम्बन्ध वाले हैं, रजतपद की
आकांक्षा वाले पदो से स्मरण कराये होने से, ‘गामम्याज’ गौ को लाओ, इस प्रकार
के पदार्थों के समूह के संग्रह (ऐसा अनुमान होता है) इसमे आदि पद से योग्यता
ग्रहण करना । इसमे केवल स्मारितत्व घट तथा पट मे भी है इसलिये रजतपद
योग्यता वाले पद से स्मारित ऐसा कहा है ।

त्पदकदम्बमारिस्तत्त्वं पदार्थानां मिथः संसर्गवत्त्वव्याप्यं गृहोत्थैव संसर्गवत्त्व-
मनुमिनोति किं कल्पनीयप्रमाणभावेन शब्देन । ननु नदीतीरे पंच फलानि
सन्तोत्यनाप्रवाक्ये व्यभिचारान्नेदमनुमानमिति चेन्न, आप्तोक्तत्वेनापि विशेष-
णात्, आप्तत्वं हि प्रकृतवाक्यार्थगोचरयथार्थवाक्यार्थज्ञानवत्त्वं न त्वप्रतारक-
त्वमात्रम्, तच्च वाक्यार्थप्रतीतिं पूर्वं दुर्ग्रहमिति चेन्न, शब्दप्रामाण्यवादिभिरपि
व्यभिचारिशब्दव्यावर्तकस्याप्तोक्तत्वस्य ग्राह्यत्वेनामिमत्तत्वात् । तेषां प्रामाण्य-
ग्रहणार्थं नवपेक्षा, शब्दन्तु ज्ञानं तद्ग्रहमन्तरेणाप्युपपद्यते, तथ तु यादृशं लिङ्गं
तादृशग्रहणमावश्यकम्, व्याप्यन्तवाप्तोक्तत्वविशिष्टमिति चेन्न, अयमत्राभ्रान्त

इम पदार्थविशेष्यक अनुमान मे आकाशादि विक्षिप्त पदसमुदाय से स्मारितत्व-
रूप हेतु मे पदार्थों के परस्पर ससर्गवत्त्वरूप साध्य का व्याप्यत्व (व्याप्ति) का ग्रहण
होकर ही इस हेतु से पदार्थों मे संसर्गवत्ता का अनुमान होता है तो फिर अनुमिति
से नाम शब्द मे प्रमाणता मानने की क्या आवश्यकता है ? यदि अनाप्त (वंचक
पुरुष) से कहे 'नदी के तीरे पर पांच फल हैं' इम वाक्य मे व्यभिचारदोष जाने के
कारण यह अनुमान प्रमाण नहीं हो सकता, ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो उक्त दोष धारण
के लिये हेतु मे आप्तोक्तत्व विशेषण देने से उक्त दोष निवृत्त हो जायगा । यदि प्रकृत
(प्रस्तुत) वाक्यार्थ विषय मे यथार्थ वाक्यार्थ ज्ञान का आश्रय होना ही आप्तता
है, न कि केवल अप्रतारकता (न ठगना), और उस आप्तता का ग्रहण वाक्यार्थ के
ज्ञान के पूर्व मे होना असम्भव है, ऐसा पूर्वपक्षी दोष दे तो यह भी नहीं हो सकता,
क्योंकि शब्द के अतिरिक्त प्रमाण मानने वालों को भी व्यभिचारदोष वाले शब्द
से होने वाले ज्ञान के धारणार्थ आप्तोक्तता का ग्रहण अवश्य मानना है । (शब्द
भिन्न प्रमाण है इस बात मे आप्तोक्तता ग्रहणयोग्य होने पर भी साक्षिक ज्ञान होने
मे उसकी अपेक्षा न होने के कारण दोष नहीं हो सकता । इस आशय से पूर्वपक्षी
शका करता है कि) उन शब्दों को प्रामाण्य ज्ञान के लिये आप्तोक्तता की अपेक्षा है
किन्तु साक्षिक ज्ञान आप्तोक्तत्व के ग्रहण के बिना भी हो सकता है, और शब्द को
अनुमान मानने वाले वादी आपके पक्ष में जैसा लिङ्ग हो वैसे का ग्रहण (ज्ञान
होना) आवश्यक है, आप्तताविक्षिप्त ही उक्त पद समुदायरूप हेतु व्याप्य है । इस
शका के उत्तर मे शंकरमिश्र वैशेषिकमत से कहते हैं कि यह पूर्वपक्षी का कहना ठीक
नहीं, क्योंकि यह वाक्य वक्ता पुरुष मे (इस वाक्यार्थ ज्ञान विषय में) भ्रम रहित
है । इम प्रकार सामान्यरूप से ग्रहण हो सकता है । यदि इस पर भी पूर्वपक्षी वहे कि
'अत्र' इसमे इसका प्रस्तुत संसर्ग मे ऐसा ही अर्थ लेना पड़ेगा, ऐसा होने से वाक्यार्थ
के ज्ञान के पूर्व में प्रस्तुत ससर्ग में यह वक्ता भ्रम रहित यह ज्ञान होना असंगत है ।
ऐसा पूर्वपक्ष करे तो यह भी ठीक नहीं है । क्योंकि यमन, मोजन इत्यादि प्रकरण

इति सामान्यतो ग्रहणसम्भवात् । नन्वेवेति प्रकृतसंसर्गे इत्येव पर्यवस्यति तथाच पूर्वमशक्यमेव तद्ग्रहणमिति चेन्न, प्रकरणसमभिव्याहारादिमाहात्म्यात् सामान्यत आप्त्यनिश्चयसम्भवेन लिङ्गनिश्चयसम्भवात्, कदाचित्तत्र विसवा-
देऽपि वाष्पादौ धूमधर्मेणैवानुमानप्रवृत्तेः ।

नन्वेते पदार्था संसृष्टा एवेति वा साध्यम् सम्भावितसंसर्गा इति वा ?
नाहः, अनाप्तोक्ते व्यभिचारात्, न द्वितीय, योग्यतामात्रसिद्धावपि संसर्गा-

तथा पूर्वापर सहोच्चारणरूप समभिव्याहार के महिमा से सामान्यरूप से अर्थात् सामान्यतोऽप्यानुमान से आप्तता का निश्चय होना समब होने से लिङ्ग का निश्चय हो सकता है, कदाचित् उस लिङ्ग के भ्रमज्ञान के समय उसमें विसवाह होने पर भी आप्तता के भ्रम से संसर्ग में अनुमान हेतु भाग से बाध (बरफ) आदि में धूम धर्म के आरोप से समान अनुमान में प्रवृत्ति हो सकती है । अर्थात् जो-जो ज्ञान-जन्य वाक्य होता है वह-वह आपादि युक्त ज्ञानादि से उत्पन्न होता है 'घट को ले आओ' इत्यादि वाक्य के समान, ऐसी व्याप्ति को प्रथम ग्रहण कर परचात् जो इस वाक्य को प्रयोग करने वाला है वह उस धर्म से तथा धर्म के प्रकारविशेष भाव जानता है, 'मैं जाता हूँ इस वाक्य को कहने वाले पुरुष के समान' इस प्रकार व्याप्ति का ग्रहण करता है, उस वाक्य के प्रयोग करने वाले को समानरूप प्रकरण का ज्ञान होने से भी सामान्यरूप से व्याप्तिज्ञान होने के कारण वाक्यार्थ विषय में यथार्थ ज्ञान की सिद्धि होती है यह यहा बाध्य है । (प्रकारान्तर से शकरमिश्र उक्त अनुमान में साध्य का विचार करते हुए पूर्वपक्षितम से शका दिखाते हैं कि)-
उक्त सिद्धान्ती के अनुमान से यह पदार्थ संसर्ग युक्त ही है, ऐसा निश्चित साध्य है, अथवा पदार्थ के संसर्ग की संभावना है ऐसा साध्य है ? अनाप्त (वचक) से उक्त वाक्य में व्यभिचारदोष के कारण प्रथम (निश्चय) पक्ष नहीं हो सकता । संसर्ग की योग्यता (संभावना) के सिद्ध होने पर भी संसर्ग का निश्चय न होने से निर्वप (भयरहित) प्रवृत्ति न होने के कारण द्वितीय (संसर्ग सम्भावना) पक्ष भी नहीं हो सकता । यदि सामान्यरूप से संसर्ग के निश्चय होने से ही प्रवृत्ति होगी ऐसा नहो तो योग्यता के तो साध्यज्ञान के पूर्व ही हेतु के विशेषण रूप में ज्ञान होने के कारण अनुमान व्यर्थ हो जायगा । इस शक्य कर समर्धान करते हुए शकर-मिश्र कहते हैं कि उक्त अनुमान में नियम (संसर्ग निश्चय) ही साध्य है आशोक्तत्व विशेषण देने से अनाप्तोक्ता वाक्य में व्यभिचारदोष न होगा । यह कह चुके हैं । यहा पूर्वपक्षी के मत से पुन ऐसी शंका होती है कि श्रोता (सुनने वाले) में उस वाक्य ज्ञान से उत्पन्न होने वाले पदार्थ संसर्ग ज्ञान के प्रागभाव को अर्थात् श्रोता में वर्तमान उस वाक्य ज्ञान से उत्पन्न शब्द धोष का प्रागभाव उस वाक्य में जग्य

निश्चयान्निष्कम्पप्रवृत्त्यनुपपत्तेः, योग्यतायाश्च पूर्वमेव हेतुविशेषणत्वेन ज्ञात-
त्वात् किमनुमानेनेति चेन्न, नियमस्यैव साध्यत्वात् आप्तोक्तत्वेन विशेषणाच्च
न व्यभिचार इत्युक्तत्वात् ।

नन्वाकाङ्क्षा श्रोतरि तदुत्पाद्यसंसर्गावगमप्रागभावः, स च स्वरूपसन्नेव
हेतुलज्ज्ञाने च संसर्गज्ञानस्य पूर्वमेव भावाद्यनुमानवैयर्थ्यमिति चेन्न, न हि
संसर्गावगमप्रागभावमात्रमाकाङ्क्षां ब्रूमः । किं तर्हि ? स्मारिततदाक्षिप्ताविना-
भावविशिष्टम् सथा च विशेषणांशज्ञानादेवाकाङ्क्षाया ज्ञानात् । तर्हि साध-
देवाकाङ्क्षाऽस्त्विति चेन्न, विमल जलं नद्या कच्छे महिषश्चरतीत्यत्रापि

उस प्रकार के शाब्दबोध में आकाक्षा (जिज्ञासा योग्यतारूप आकाक्षा) कारण होती
है, और वह प्रागभावरूप आकाक्षा स्वरूप से वर्तमान ही का कारण है, यदि उसका
ज्ञान कारण हो तो संसर्ग का ज्ञान प्रथम ही वर्तमान होने से पुनरपि अनुमान
व्यर्थ हो जायगा । (उक्त आकाक्षा लक्षण में एक पुरुष को उक्त प्रागभाव होने पर
भी दूसरे पुरुष को वेत्ता शाब्दबोध न होने से समवायसम्बन्ध से शाब्दबोध में
स्वरूप से आकाक्षा कारण होती है यह दिखाने के लिये 'श्रोतुनिष्ठ' ऐसा श्रोता
में वर्तमान प्रागभाव में विशेषण दिया है । 'घट कर्मत्व' इत्यादि वाक्य में घट-
विशिष्ट कर्मता है इस प्रकार भेदान्वय बुद्धि में होने के लिये 'तदाक्यज्ञानजग्य'
उस वाक्य ज्ञान से उत्पन्न ऐसा कहा है) । (उक्त शंका के समाधानार्थं शंकरमिश्र
कहते हैं कि)—हम केवल संसर्ग ज्ञान के प्रागभाव को ही आकाक्षा नहीं कहते हैं । प्रश्न
तो किसे कहते हैं ? (उत्तर)—पदों से स्मरण कराये तथा लक्षण से उपस्थित
अविनाभाव (व्याप्ति) विशिष्ट संसर्ग ज्ञान प्रागभाव को आकाक्षा हम कहते
हैं, ऐसा होने से विशेषण (व्याप्ति) रूप अश के ज्ञान ही से आकाक्षा का ज्ञान
हो जाता है (अर्थात् उक्त अविनाभावरूप विशेषण का ज्ञान अनुमान ही से होने
कारण अनुमान व्यर्थ न होगा) । 'ती उतना (पदों से स्मारित तथा आश्लेष
से लब्ध व्याप्ति) ही आकाक्षा पदार्थ माना जाय' ऐसा यदि पूर्वपक्षी कहे तो 'विमलं
जल नद्या, कच्छे महिषश्चरति' 'निर्मल जल नदी का है, तीर (किनारे) पर महिष
चरता है' इस वाक्य में भी नदी तथा उसके तीर का अविनाभाव (व्याप्ति)
होने से नदी के तीर पर ऐसा शाब्दबोध होने लगेगा, तथा 'नील उत्पलं' नीला
कमल है । यहाँ पर (हम वाक्य में) नील और कमल की व्याप्ति न होने पर
भी शाब्दबोध होने लगेगा, क्योंकि उन दोनों पदों से आश्लेष से लब्ध द्रव्य तथा गुण
का अविनाभाव (व्याप्ति) हो सकती है (अर्थात् नील में ही उत्पलता न होने
पर भी, तथा उत्पल में ही नीलता न होने पर भी नील में वर्तमान गुणत्व का
उत्पल में वर्तमान द्रव्यत्व के साथ व्याप्ति ही है, क्योंकि गुणाभाववान् द्रव्य नहीं

नदीकच्छयोरविनाभावसत्त्वेनान्वयबोधापत्तेः, नीलमुत्पलमित्यत्र नीलोत्पल-
योरविनाभावाभावेऽपि तदाक्षिप्तयोर्द्रव्यगुणयोरविनाभावसम्भवान् ।

यद्वा पदस्मारिनगोचरा जिज्ञासैवाकाङ्क्षा अभिधानापर्यवसान वा ।
तथापि तज्ज्ञानमाश्रयकं ज्ञायमानकारणे ज्ञानोपयुक्तव्यभिचारिवैलक्षण्यात्
व्याप्तिवत् । अत एवानन्वयनिश्चयविरहो वा, बाधरूपमाणाभावो वा, सजा-
तीये दर्शनं वा, इतरपदार्थसंसर्गेऽपरपदार्थनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वप्रमा-
यिगोचरत्वं वा योग्यताऽस्तु, तज्ज्ञानमाश्रयकम् । आसत्तेरप्यव्ययघटनेन

होता) । (उक्त अविनाभाव युक्त प्रागभावविशेष को आकाक्षा मानने से गौरव-
बोध होगा इस आशय से शंकरमिश्र कहते हैं कि)—अथवा पदों से स्मारित को
विषय करने वाली जिज्ञासा ही । अर्थात् सहोष्धारित पदों से स्मरण कराये पदार्थों
की जिज्ञासा ही अथवा अभिधान (उक्ति का) अपर्यवसान (न बन सकना) ही
आकाक्षा पदार्थ है । इसमें प्रथम लक्षण में चतु आदि से संस्कार के कारण उपस्थित
घटादिकों में उस प्रकार उपस्थित नीलादि गुण के शाब्दज्ञान की इच्छा होने पर
'नील घट है' इस वाक्य से घटादिक में नीलादिकों के शाब्दबोध के वारणार्थ
'पदस्मारित' ऐसा विशेषण दिया है । इस प्रथम लक्षण में 'घट कर्मत्व ज्ञानयनं
कृति इत्यादि वाक्य में जिज्ञासित न ज्ञानयनादि की आकाक्षा होने लगेगी, इस दोष
के कारण 'अभिधानापर्यवसान' रूप दूसरा लक्षण शंकरमिश्र ने दिया है । जिससे-जिस
पद के बिना जिन पद से शाब्दबोध नहीं होता उस पद के साथ उस पद का होना
उस शाब्दबोध में अभिधानापर्यवसान कहता है । अर्थात् घट पद के उत्तर कर्मता
बोध के लिये अनुस्वार रूप विभक्ति न रहे तो घटरूप कर्म विषय का बोध न
होने से घट इस प्रतिपदिक की अम् विभक्ति में अभिधानापर्यवसानरूप आकाक्षा
है । आगे शंकरमिश्र कहते हैं कि उक्त रूप आकाक्षा का ज्ञान होना आवश्यक है,
क्योंकि ज्ञायमान (ज्ञानविषय) कारण में ज्ञान के उपयुक्त व्यभिचारी के वैल-
क्षण्य होने से व्याप्ति के समान, अर्थात् व्याप्ति ज्ञान के समान उक्त अनुमान से
आकाक्षादियों में ज्ञान की उपयोगिता का साधन होता है ।

योग्यता का वर्णन करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि इसी कारण पदार्थ के
अन्वय के निश्चय का अभाव, अथवा बाधक प्रमाणों का अभाव, अथवा समान
जातीय में दर्शन या दूसरे पदार्थ के सर्वत्र में अन्य पदार्थ में वर्तमान अत्यन्ताभाव
के अप्रतियोगिता के यथार्थ ज्ञान का विशेष्य होना ही योग्यता पदार्थ हो, किन्तु
उसका ज्ञान आवश्यक है । अर्थात् उस कार्य में अन्वयितानियामक सम्बन्ध से
युक्त उस धर्म से युक्त प्रतियोगिता वाले अभाव को प्रकार करने वाले निश्चय की
विशेषतावच्छेदकत्व का अभाव उस धर्मविशिष्ट में उस उस धर्मविशिष्ट की

स्मरणरूपाया ज्ञानं तन्त्रम् । संसर्गे च संसृज्यमानविशेषादेव विशेष इति
नानभिमतविशेषसिद्धिः ।

यद्वा एतानि पदानि स्मारितार्थसंसर्गज्ञानपूर्वकाणि आकाङ्क्षायोग्यता-
गतिमत्पदकदम्बत्वात् गामभ्याजेति पदकदम्बयदित्यनुमानात् ज्ञानावच्छेदक-
याऽभिमतविशेषसिद्धिः ।

यत्तु एतानि पदानि स्मारितार्थसंसर्गवन्तीति साध्यम्, तत् पदानां
दार्थसंसर्गवत्त्वं बाधितमित्युपेक्षणीयम् । न च लिङ्गतया संसर्गज्ञापकत्वमेव
दानां संसर्गवत्त्वम्, तस्यानुमानात् पूर्वमसिद्धत्वेन व्याप्तेरग्रहात् ।

योग्यता होती है । इस पक्ष में 'बह्विना सिचति' बह्वि से सीचता है । इस वाक्य से
अमरूप शब्दबोध न हो सकेगा । इस बोध के कारणार्थ बाधकप्रमाणाभावरूप
योग्यता पक्ष का ग्रहण संकरमिश्र ने किया है । अर्थात् उसमें उसके संसर्ग के अभाव
ऽ यथार्थ ज्ञान की विशेष्यता न होना उसमें उसकी योग्यता होती है, इसी योग्यता
का ज्ञान शब्दबोध में कारण है । इस कारण बह्वि से सीचता है—इस वाक्य से
अमरूप शब्दज्ञान की असंगति न होगी । बाध निश्चय कालमें इस योग्यता का ज्ञान
न हो सकेगा । इस कारण उस काल में शब्दबोध का अतिप्रसंग बोध न होगा ।
तथापि अन्ध में वर्तमान जो बह्विकरणकत्वादि संसर्गाभाव प्रमाविशेष्यकत्व उसका
अभाव सेवादिक में होने से प्रयोग्य भी 'बह्विना सिचति' इत्यादि वाक्य में योग्यता
का जायेगी । इस बोध के कारणार्थ 'सञ्जातीय में दर्शनरूप' सीचता पदा दिखाया है ।
उस-उस सामान जाति वाले में उस-उस समान जाति के सम्बन्ध का दर्शन योग्यता
कहाती है जैसे 'पयसा निचति, जल से सीचता है' इत्यादि वाक्य में प्रस्तुत सेचन के
समान जाति वाले दूसरे जल से होने वाले सेचन में प्रस्तुत जल करणता समान जातीय
दूसरे जल से होनेवाले का संसर्ग निश्चय होने से शब्दबोध होता है 'बह्विना सिचति'
इत्यादिक में कही भी सिचन में अग्निकरणता को समानजातीय में सेच की करणताके
निश्चय न होने से योग्यता नहीं है यह तात्पर्य है । यहाँ पर जिस किसी रूप से साजात्य
व्यावर्तक नहीं हो सकता, पदार्थता नियामकरूप से लिया जाय तो 'अद्य जातः पयः
पिबति' आज उत्पन्न भया दुग्धा दूध पीता है, इत्यादिकों का समग्र न कर सकेगा ।"
इस शका के समाधानार्थ चतुर्थ पक्ष का आश्रय संकरमिश्र ने किया है, इसमें इतरता
तथा अपरता विवक्षित नहीं है, क्योंकि उसकी बुद्धि कारण नहीं है, किन्तु उसके
सम्बन्धितानियामक सम्बन्ध में उसमें वर्तमान अत्यन्ताभाव के प्रतियोगिता विशेषण
वाले यथार्थ ज्ञान की विशेष्यता का अभाव उसमें योग्यता होती है यह अर्थ है ।
'बह्विना सिचति' इत्यादिक में बह्वि में वर्तमान कारणता के निरूपस्वरूप अन्व-
यितानियामक सम्बन्ध में सेक में वर्तमान अत्यन्ताभाव प्रतियोगिता प्रकारक प्रमा-
विशेष्यता की सत्ता होने से अतिव्याप्ति बोध नहीं होगा । यहाँ पर 'पयसा सिचति'

फेचिच्चेष्टा प्रमाणान्तरमिति वदन्ति ।

तत्रोच्यते—चेष्टा द्विविधा कृतसमयाऽकृतसमया च । तत्र कृतसमया अभिप्रायस्थं शब्द स्मारयति न ॥ संसर्गप्रमामपि जनयति लिपिवत्, स्मृत्यारूढ शब्द एव तत्र प्रमाण शब्दस्य च लिङ्गत्वमुक्तम् । न च शब्दस्मरणं चेष्टाया अवान्तरव्यापार, चेष्टामन्तरेणापि शब्दार्थप्रत्ययात् व्यापारत्वे तु चेष्टानेयत्वापत्तेः । नन्वेवं कथमेडमूकस्य चेष्टाधीनो व्यवहारः ? तस्य तत्र समयप्रहाभावादिति चेन्न, सस्य चेष्टात् कथमर्थेऽपि संप्रत्यय इति चिन्तनीयत्वात् तस्यार्थेऽपि सङ्गतिप्रहाभावात् । व्यवहारस्तु तस्याविनाभावप्रहात् करितुरगयोरिव कशाङ्कुशाभिघातात्तत्तद्व्यवहारपादवोपपत्तेः ।

हर्मादिक में जलनिष्ठ करणता के उक्त रूप सम्बन्ध में सेक में वर्तमान अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी को विषय करने वाले भ्रमरूप ज्ञान की विशेष्यता रहने से असंभवदोष कारण के लिये प्रमापद दिया है । (इस प्रकार योग्यता सम्बन्ध में विचार कर आसत्ति के सम्बन्ध में शंकरमित्र आगे कहते हैं कि)—अवधान रहित स्मृतिरूप आसत्ति का भी ज्ञान शाब्ददोष में कारण है । संसर्ग में सम्बन्ध होने वाली के विशेष से ही विशेषता आ जायगी जिससे अनभिमत (अनिष्ट) विशेष की सिद्धि न होगी ।

अथवा प्रकारान्तर से भी शब्द का अनुमान में अन्तर्भाव हो सकता है—इस अभिप्राय से शंकरमित्र पदपक्षक अनुमान दिखाते हुए कहते हैं कि—यह पक्ष स्मरण कराये हुए अर्थ संसर्ग के ज्ञानपूर्वक है, आकाशा, योग्यता तथा आसत्ति मुक्त यह समुदाय होने से, 'गामभ्याज' गी की से आधो' इस पदसमुदाय के समान इस अनुमान से ज्ञान के अवच्छेदक (विशेषण) रूप से अभिमत पदार्थ संसर्ग की सिद्धि हो सकती है (क्योंकि बिना संसर्ग के प्रतीति के वाक्य की रचना नहीं हो सकता) । वक्ता का अनुमान किया जाने वाला संसर्गविषयक अनुमान बिना संसर्ग को विषय किये नहीं हो सकता, और संसर्ग में सम्बन्ध होने वालों में भिन्न विशेष नहीं है, किन्तु पूर्वानुमान में साक्षात् संसर्ग की सिद्धि होती है और उत्तर में वक्ता के ज्ञान के अवच्छेदक (विशेषण) रूप से यह आशय है । (आगे शंकरमित्र मत-विशेष का स्पष्टन करते हुए कहते हैं कि)—कुछ विद्वान् यह पद, स्मरण कराये अर्थ के संसर्गवान हैं, ऐसा उक्त अनुमान में साध्य करते हैं, किन्तु वह मत पदों में पदार्थ संसर्गवत्ता बाधित होने से उपेक्षा करने योग्य है । लिङ्गरूप से संसर्ग को ज्ञापन करना ही पदों में संसर्गवत्ता नहीं वहीं जा सकती, क्योंकि उसके अनुमान के पूर्व असिद्ध होने से व्याप्ति का ग्रहण नहीं है ।

कुछ विद्वान् चेष्टा भी प्रमाणान्तर हैं ऐसा कहते हैं । उसके निरासार्थ ऐसा कहा जाता है—कि चेष्टा कृतसमया तथा अकृतसमया ऐसे दो प्रकार की होती

अकृतसमया तु या कृत्यान्वयिनी सा प्रयोजकामिप्रायं स्मारयन्ती प्रयोज्यं प्रवर्त्तयति, न तु कुत्रचित् प्रमा जनयति । यथा शङ्खध्वनी त्वया गन्तव्यमिति श्रुतशङ्खध्वनि- प्रतिष्ठेते, तथा यदा मया तर्जन्यूर्ध्वोक्रियते उदा त्वयाऽसौ ताड-
नीय इति तदा ताडयति, न तु किञ्चित् प्रमिणोति । ह्यप्यन्वयिनी त्वकृत-
समया यथा-दशानामङ्गुलीनामूर्ध्वकरणेन दश सह्या मुद्राणां पुराणानां वा
त्वया ज्ञातव्येति - कारकप्रधाना । हस्ताङ्गुलान्दर्शनात्त्वया समागन्तव्यमिति
क्रियाप्रधाना । तथाचानया चेष्टया पदार्था एव स्वतन्त्राः परं स्मार्यन्ते न तु
तेषां परस्परमन्वयोऽपि बोध्यते, सद्वोधककर्तृकर्मादिविभक्तियत् प्रकृते चेष्टे-

है । प्रपात् एक अंगुली से 'क' दूसरी अंगुली से 'ख' जानना ऐसा शाब्दज्ञान होने के लिये होने वाली चेष्टा कृतसमया कहाती है उससे भिन्न अकृतसमया होती है । उन दोनों में से प्रथम कृतसमया चेष्टा वर्णलिपि के समान चेष्टा करने वाले के अभिप्राय में वर्तमान शब्द का स्मरण कराती है न कि ससर्ग के यथार्थ ज्ञान को भी उत्पन्न करती है, स्मरण में चढ़ा हुआ (विषय) रूप शब्द ही उसमें प्रमाण है, शब्द लिङ्ग (अनुमापक हेतु) होता है यह कही चुके हैं । शब्द का स्मरण चेष्टा का अवान्तर व्यापार भी नहीं है, क्योंकि बिना चेष्टा के भी शब्द से अर्थ का ज्ञान होता है, यदि व्यापार ही तो चेष्टा आवश्यक होगी । 'यदि ऐसा है तो एकमूक (मूठे) का चेष्टा के अधीन व्यवहार कैसे होगा, क्योंकि उसे उसमें समय (संकेत) का ग्रहण नहीं है' ऐसी पूर्वपक्षी शंका नहीं कर सकता, क्योंकि उसकी चेष्टा से अर्थ का निश्चय कैसे होगा यह भी विचारणीय है । क्योंकि उसे अर्थ में भी संकेत का ग्रहण नहीं है । किन्तु व्यवहार तो उसका अविनाभाव (व्याप्ति) ग्रहण होने से हो सकता है, जैसे हाथी सया अश्व को चाबुक, अटुश इनके अभिघात (थोट) से क्षीप्रातिरूप व्यवहार होता है । (दूसरी अकृतसमया नाम की चेष्टा भी कृत्यान्वयिनी (कृति से सम्बद्ध तथा शप्यन्वयिनी ज्ञान से सम्बद्ध) ऐसी ही प्रकार है जिसके क्रम से श्रुतिमय वर्णन करते हैं कि) - कृत्यान्वयिनी नाम की जो अकृतसमया चेष्टा होती है वह प्रयोजक (चेष्टा करनेवाले के ज्ञातप को स्मरण कराती हुई) 'प्रयोज्य (चेष्टानुसार कार्य करनेवाले) का कार्य में प्रवृत्त करती है, न कि किसी विषय में ज्ञान उत्पन्न करती है । जैसे शङ्ख की ध्वनि होते ही तुम जाना ऐसी चेष्टा (संकेत) होने पर शङ्खध्वनि सुनते ही जिसे उक्त संकेत दिया रहता है वह पुरुष प्रस्थान करता है, ऐसे ही जब मैं तर्जनी अंगुली को ऊपर उठाऊँ तब तब तुम उसे पीटना ऐसी चेष्टा (संकेत) पानेवाला अंगुली उठते ही पीटता है न कि कुछ जानता है । जति (ज्ञान) से सम्बन्ध रखनेवाली अकृतसमया चेष्टा का यह उदाहरण है कि जैसे दस अंगुलियों को ऊपर उठाने पर तुम दस रूपया व्यय

कदेशानां नियतानामभावात् । तर्हि संसर्गबोधमन्तरेण चेष्टातः कथं प्रवृत्ति-
निवृत्ति इति चेत् सस्यप्रतिभयोरन्यतरम्मादिति गृहाण । तस्मान्न चेष्टाऽपि
प्रमाणमिति ॥ ३ ॥

ननु शब्दं कथं लिङ्गं अश्रुत्यापदेशस्वभावत्वेन लिङ्गभिन्नत्वादित्या-
शङ्क्याह—

हेतुरपदेशो लिङ्गप्रमाणकरणमित्यनर्थान्तरम् ॥४॥

अपदिश्यते कथ्यतेऽनेनार्थ इत्यपदेशः शब्दः, स च हेतुलिङ्गपर्याय एव
प्रमाणमिति । लिङ्गविधया प्रमाकरणमित्यर्थः । एव करणशब्दोऽपि लैङ्गिक-

पुराणो (पुराणो)की जानना ऐसी कारक (कर्म) के प्रधान रखनेवाली । हस्त के
आहुंषन (सिक्किने) के देखने से तुम चले जाना ऐसी क्रिया को प्रधान (मुख्य)
करनेवाली भी चेष्टा । ऐसा होने से इस चेष्टा से केवल पदार्थों को स्मरण कराया
जाता है, न कि उन पदार्थों को परस्पर अवयव (अवयव) भी जाना जाता है, क्योंकि
चेष्टा के एकदेश कोई नियत नहीं है, (प्रकृत में चेष्टा जिस प्रकार परस्पर अवयव-
बोधक कर्ता, कर्म इत्यादि विभक्ति होती है उस प्रकार) । यदि ऐसा है तो पदार्थों
के संसर्गज्ञान के बिना चेष्टा से प्रवृत्ति तथा निवृत्ति कैसे होती है ? ऐसा पूर्वपक्षी
प्रश्न करे, तो सस्य तथा प्रतिभा इन दोनों में से किसी एक से प्रवृत्ति तथा निवृत्ति
हो जायगी ऐसा जानो । इस कारण चेष्टा भी दूसरा प्रमाण नहीं है ॥ ३ ॥

शब्द के अपदेश स्वभाव होने से (स्वरूप के आश्रयादकरूप होने से) लिङ्ग से
भिन्न होने के कारण शब्द लिङ्ग (अनुभाषक) कैसे होगा ? इस पूर्वपक्षी के
आक्षेप के समाधानार्थ मूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—हेतु = हेतु है, अपदेश = अपदेश है, लिङ्ग = लिङ्ग है, प्रमाण =
प्रमाण है, करण = करण है, इति—यह सब अनर्थान्तरम्—भिन्न अर्थ नहीं है ॥ ४ ॥

भावार्थ—अपदेश (शब्द) ही हेतु, लिङ्ग तथा प्रमाण पर्याय वाला लिङ्ग रूप
से प्रमाण होता है ॥ ४ ॥

उपस्कार—अपदेश किया जाय अर्थात् जिससे अर्थ बहा जाय । इस व्युत्पत्ति से
वह अपदेश शब्द कहाता है और वह हेतु, लिङ्ग पर्यायवाला ही प्रमाण
होता है (अर्थात् उक्त व्युत्पत्ति से शब्द ही अपदेश शब्द है, और वह लिङ्गरूप से
लिङ्गजन्म ज्ञान में (अनुमान में) ही हेतु है, शब्द भी अनुमिति ज्ञान का कारण
होता है इसी प्रकार शब्द में लिङ्गरूप से करणता है, ऐसा होने से हेतु, अपदेश,
लिङ्ग, प्रमाण, करण यह सम्पूर्ण शब्द पर्याय हैं यह सूत्र का अर्थ है) ।

ज्ञानकरणे लिङ्ग एव वर्तते । द्वयो हि करण्यति, किञ्चित् सन्निकर्षाधीन-
प्रवृत्ति किञ्चिन्वाविनाभावबलप्रवृत्ति । शब्दस्य तु अर्थेन न सन्निकर्षो नाप्य-
विनाभाव इति कथमर्थं गमयेत् । सङ्केताद् गमयतीति चेत् सङ्केतो हि पदार्थे
न तु तत्संसर्गे । तत्रापि सङ्केत इति चेन्न, तस्यानेकविधत्वेन सङ्केतविषयभावा-
नुपपत्तेः । पदार्थसङ्केतबलादेव वाक्यार्थोऽपि भासते इति चेन्न, अन्यसङ्केते-
नान्योपस्थितावतिप्रसङ्गात्, शब्दस्मारितिसंसर्गत्वेन नियम इति चेत् तथा-
चैतन्नियमबलेनानुमानस्यैव लब्धावसरत्वात् । सङ्केतस्यापि इच्छामात्रत्वेनाति-

इसी प्रकार करण शब्द में वैज्ञानिक ज्ञान (अनुवृत्ति) के करण रूपवर्जित में प्रवृत्त होता है । अर्थात् करण शब्द को अनुमितिकरण हेतु वैसा अर्थ है । करण शब्द दो प्रकार से प्रवृत्त होता है, कोई करण शब्द इन्द्रियायं सन्निकर्ष के अधीन प्रवृत्त होता है, और कोई अविनाभाव (व्याप्ति) के बल से प्रवृत्त होता है । शब्द का तो अर्थ के साथ न सन्निकर्ष है न व्याप्ति है तो वह अर्थ को कैसे बोधित करेगा । यदि 'संकेत (वाक्ति) सम्बन्ध से अर्थ को शब्द बोधित करेगा' ऐसा कहो तो संकेत तो पदार्थ में होता । नकि पदार्थों के संसर्ग में । 'यदि संसर्ग भी संकेत मानेंगे' ऐसा कहो तो, संसर्ग अनेक प्रकार का होने से वह संकेत का विषय नहीं हो सकता । 'पदार्थ में शब्द के संकेत के बल से ही एक पदार्थ से निरूपित संसर्गवाले अन्य पदार्थरूप वाक्य का अर्थ भी प्रकाशित होता है' ऐसी शका करो तो यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि दूसरे के संकेत से दूसरे का बोध हो तो अतिप्रसक्ति दोष होगा । अर्थात् वाक्यार्थ तथा पदार्थ का भेद होने से भेद के समाप्त होने के कारण घटपदार्थ के संकेत से पदपदार्थ की उपस्थिति होने की आपत्ति आ जायेगी । यदि 'शब्द से स्मरण कराये संसर्ग को लेकर नियम माना जाय तो, इस नियम के बल से अनुमानप्रमाण ही को अवसर प्राप्त हो जायगा । (जो संकेत जिस अर्थ में होता है वह उस अर्थ के संसर्ग के उपस्थिति का कारण होता है—इस नियम के बल से उन अतिप्रसंगदोष का वारण होने पर भी वैशेषिकों का ही मत्व निष्ठ हो जाता है, अर्थात् तुम्हारे कहे व्याप्ति के बल से संसर्ग के उपस्थिति की अनकता का अनुमान करने में सत्पदार्थ के संसर्ग विषय होने से केवल संसर्ग के ज्ञान के अमक होने के कारण आपके माने हुए शब्द में प्रमाणान्तरत्व संगत नहीं हो सकता) । (इसी प्रकार दूसरा भी दोष हो सकता है इस वाक्य से शंकरमिश्र आगे कहते हैं कि)—संकेत भी केवल इच्छारूप होने से अतिप्रसंग दोष आ जायगा । अर्थात् सामान्यरूप से इच्छा मात्र ही संकेत होता है अथवा ईश्वर की इच्छा ऐसा विकल्प कर प्रथम पक्ष में शंकरमिश्र ने अतिप्रसंग दोष दिया है कि भ्रान्त पुरुष को घटशब्द से घट जानना इस इच्छा से घट शब्द से घट का बोध होने लगेगा । (दूसरे पक्ष का अनुवाद कर शंकरमिश्र खंडन करते हैं कि)—'ईश्वर

प्रसक्तत्वान् । ईश्वरेच्छा नातिप्रसक्तेति चेन्न, तदिच्छामन्तरेणापि गङ्गादि-
पदात्तोराद्युपस्थितैरित्यल नैयायिकेषु दृष्टतयेति ॥ ४ ॥

उपमानादीनामपि पराभिमतानाम् अविनाभावबलप्रवृत्तिकानां लैङ्गिक
एवान्तर्भाव इति प्रतिपादयितुमाह—

अस्येदमिति बुद्ध्यपेक्षितत्वात् ॥ ५ ॥

उपमानार्थापत्तिसम्भवाभावाणामिति शेषः । अस्य व्यापकस्य इदं व्याप्य-
मित्याकारा या बुद्धि सा जनकत्वेनापेक्षिता येषां ते तदपेक्षितास्तस्य भाव-
स्तदपेक्षितत्वं तस्मादित्यर्थः । आहिवाग्निपाठात् कान्तेन बहुव्रीहिः, तारका-
दिपाठादितो वा ।

की इच्छा मे उक्त अतिप्रसंग दोष न होगा' ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि ईश्वर
की इच्छा के बिना भी गंगा आदि पद से तीर आदि अर्थ की उपस्थिति होती है
इस प्रकार हम इस विषय में अधिक नैयायिकों से वृद्धता (ठिठई) नहीं कर
सकते ॥ ४ ॥

अस्य दार्शनिकों को अभिमत उपमानादि प्रमाणों का जो व्याप्ति के बल से ही
अर्थ के सिद्धि में प्रवृत्त होते हैं लैङ्गिक (अनुमान) ज्ञान में ही अन्तर्भाव होता है
यह प्रतिपादन करने के लिये सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अस्य = इसका, इदं = यह है, इति = इस प्रकार, बुद्ध्यपेक्षितत्वात् =
ज्ञान की अपेक्षा रखने से ॥ ५ ॥

भावार्थ—उपमान, (अर्थापत्ति आदि प्रमाणों से भी इस व्यापक का यह व्याप्य
है ऐसी बुद्धि की अपेक्षा होने के कारण उपमादिकों का भी अनुमान ही में अन्तर्भाव
होता है ॥ ५ ॥

पदपदार्थ—सूत्र में आकाशित 'उपमानार्थापत्तिसम्भवाभावानमु = उपमान अर्था-
पत्ति, सम्भव तथा अभाव का इस समस्त पद का शेष भाग पूर्ण करना । (इसमें
सम्भव पद से ऐतिह्य का भी ग्रहण करना चाहिये । इस व्यापक का यह व्याप्य है
इत्याकारक जो ज्ञान वह कारणरूप से जिनमें अपेक्षित है वे उस ज्ञान के अपेक्षित है
उनका भाव है तदपेक्षिता उसके होने से ऐसा सूत्र का अर्थ । आहिवाग्नि गण में पाठ
होने से 'क्त' प्रत्यय जिसके अन्त में है ऐसी बहुव्रीहि समास 'बुद्ध्यपेक्षितत्वात्' इस पद
में जानना । अथवा 'तारकादिपाठ' से यह अर्थ लेना (अर्थात् इसका यह है इस ज्ञान
की अपेक्षा हुई है जिनको ऐसा विग्रह से 'इतच् प्रत्यय' से यह अर्थ जानना चाहिये) ।
उनमें से उपमान अनुमान शब्द के द्वारा नहीं प्रमाण है । अर्थात् शब्द ही से उपमान
में शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध का ज्ञान होने से, शब्द का अनुमान में अन्तर्भाव होने
से यह आशय है ॥ ५ ॥

तत्रोपमानं तावदनुमानमेव शब्दद्वारा । तथाहि गोसदृशो गवय इति वाक्यन्तावत् आरण्यकेन कीदृक् गवय इति नागरिकजिज्ञासायामभिधीयते तत्र यो गोसदृशः स गवयश्चन्द्रवाच्य इति सामानाधिकरण्यावलात् अतिदेशवाक्य-श्रवणानन्तरमेव परिच्छिन्नमिति, वनं गतस्तु तादृशं पिण्डमुपलभ्यायमसौ गवय-शब्दवाच्य इति प्रतिसन्वते । अतिदेशवाक्यश्रवणसमये गवयत्वं प्रवृत्तिनिमित्तं न ज्ञातमस्ति, कथं संज्ञापरिच्छेद इति चेत् लक्षणया तत्प्रतीतिसम्भवान् । गोसदृशो गवय इति वाक्येऽन्वयानुपपत्तिधरिहान् कथं लक्षणेति चेत् तात्प-

वह इस प्रकार है कि—नागरिक मनुष्य ने गवय कंसा होता है ऐसा आरण्यवासी को प्रश्न करने पर गो के सदृश गवय होता है । ऐसे वाक्य को आरण्यक से प्रयोग दिया जाता है, उसने जो गो के समान होता है वह वाक्य शब्द से कहा जाता है । इस प्रकार सामानाधिकरण्य (एक ही में गो सदृशता तथा गवय शब्द वाच्यता) के ज्ञान के वल से उक्त कहे हुए वाक्य के श्रवण के पश्चात् ही नागरिक मनुष्य गो सदृश ही गवय होता है ऐसा जानता है, आरण्य में जाने के पश्चात् गो सदृश पिण्ड-धारी को पाकर यह वह गवय शब्द का वाच्य (अर्थ) है ऐसा निश्चय करता है । यदि गोसदृश गवय होता है' इस आरण्यक के कहे वाक्य के श्रवण के समय में गवय-त्व गवय शब्द के गवयरूप अर्थ को जानने में प्रवृत्ति का कारण है यह ज्ञान तो नागरिक को हुआ नहीं है तो उसे उक्त संज्ञा का ज्ञान कैसे होगा ? अर्थात् गवय-त्वरूप प्रवृत्ति के निमित्त से यह पिण्ड (धारी) गवय पद से वाच्य है, ऐसा यथार्थ ज्ञान केवल वाक्य से उत्पन्न नहीं है, क्योंकि उसकी उस समय उपस्थिति नहीं है तो सत्यतावच्छेदक गवयत्व प्रकार से शक्ति ज्ञान का निश्चय कैसे हो सकता है । यह पूर्वपक्षी की छाया का आशय है । इस संका के समाधानार्थ शंकर-मिश्र कहते हैं कि लक्षणा से उसे (गवयरूप प्रवृत्ति निमित्त) का ज्ञान हो सकता है । यदि 'गोसदृश गवय होता है' इस वाक्य में अन्वय की अनुपपत्तिरूप लक्षणा का बीज न होने से लक्षणा कैसे होगी ? ऐसी पूर्वपक्षी छाया करे तो, अन्वयानुपपत्तिरूप लक्षणा का बीज न होने पर भी तात्पर्यानुपपत्तिरूप बीज हो सकता है । अर्थात् तात्पर्यानुपपत्ति ही लक्षणा का बीज है नहीं तो 'बट्टी, प्रवेश्य' छड़ियों को बेजो, इत्यादि वाक्य में छड़ी में प्रवेश क्रिया के अन्वय की अर्थभावना न होने से लक्षणा न होगी अतः तात्पर्य (छड़ी वाले बूढ़ पुरुषों के प्रवेश का तात्पर्यानुपपन्न होने से तात्पर्यानुपपत्ति ही लक्षणा बीज है । उसी को आगे दिखाते हुए शंकर मिश्र कहते हैं कि)—गवय शब्द की शक्ति का ज्ञान करने की इच्छा रखने वाले नागरिक पुरुष के लक्षण (भाग को लेकर) गवयरूप अर्थ के प्रवृत्ति का निमित्त दिखाना आरण्यक पुरुष से उचित नहीं है, इस कारण अलक्षण (भाग रहित) गवयत्वरूप जातिविशेष में उसका

र्यानुपपत्तेः सत्त्वात्, न हि व्युत्पत्सुं प्रति गोसादृश्यस्य सम्यग्दृश्यं प्रवृत्ति-
निमित्तत्वेनोपदर्शनमनुचितं तस्माद्व्यग्राज्जातिविशेषे तात्पर्यमस्येति लक्षणा-
सम्भवात् ।

यद्वा गवयशब्दो गवयवाचकः असति वृत्त्यन्तरे शिष्टैस्तत्र प्रयुज्यमान-
त्वात्, असति वृत्त्यन्तरे यः शब्दो यत्र शिष्टे प्रयुज्यते स तस्य वाचको यथा
गोशब्दो गोरित्यनुमानादेव गवयसंज्ञा परिच्छिनत्ति । तर्कश्च यत्स्वयोपमान-
संस्कारो वाच्यः अथ वरमनुमाने कल्पप्रमाणभावेऽस्तु किं कल्पनीयप्रमाणभावे-
नोपमानेनेति, अनुमानमयूखे विस्तरोऽत्रान्वेष्यः ।

तात्पर्यं है इस कारण लक्षणा हो सकती है । जिस स्थल में प्रवृत्तिनिमित्त के विशेष
के ज्ञान से तात्पर्य नहीं है किन्तु जो गो सदृश होता है वही गवय शब्द का वाच्य है
इस प्रकार केवल स्वरूप का वर्णन है सो वहाँ भी उक्त सामग्री से उक्त गवयरूप
प्रवृत्तिनिमित्त के विशेष का ज्ञान होना ही है, वहाँ तात्पर्य न होने से लक्षणा कैसे
होगी ? इस शब्द के उत्तर में (दूसरा प्रकार सकारमिथ्य दिखाने हुए कहते हैं कि) —
अथवा गवय शब्द, गवय का बोधक है, दूसरे अर्थ में जकिन न होते हुए शिष्ट पुरषों से
गवयरूप अर्थ में प्रयोग करने के कारण, दूसरे अर्थ में शक्ति के न रहते जो शब्द जिस
अर्थ में शिष्टों से प्रयोग किया जाता है, वह शब्द उस अर्थ का वाचक होता है, जैसे
गो शब्द गोरूप अर्थ का बोधक होता है, इस अनुमान से ही गवय संज्ञा (गवय शब्द
की गवयरूप अर्थ में संकेत) को नागरिक पुरुष जानता है । गो-सादृश्य की अपेक्षा से
गवयरूप अलङ्घ्य जाति से तात्पर्य है ऐसा लाघवरूप तर्क को आप उपमान का सहा-
यक कहेंगे, अनुमान में वह जिसका प्रामाण्य स्वीकृत है । ऐसे ही सहायक होगा, तो
उपमान में अधिक प्रमाणता मानने की क्या आवश्यकता है, (अतः उपमान पुष्क-
प्रमाण नहीं हो सकता) । इस विषय का अधिक विस्तार अनुमानलक्षणे के मूल
व्याख्या में देख लेना चाहिये ।

इसी प्रकार अर्थापत्ति भी अनुमान ही है, वह इस प्रकार है कि जीते हुए
चैत्र नामक मनुष्य की अत्यन्त बड़ प्रमाण से निश्चित गृह ॥ असत्ता से बहि (घर
के बाहर) मत्ता (रहना) की अर्थात् कल्पना करना दृष्टार्थापत्ति भीमासको में
मानी है । उसमें उपपाद्य (सिद्ध करने योग्य) तथा उपपादक (साधक) इन दोनों
के व्याप्य-व्यापक भाव के निश्चय के अधीन ही चैत्र की बहि- सत्ता (बाहर रहना)
प्रतीत होता है, क्योंकि जीवित चैत्र को गृह में असत्त्व (न रहना) बहि सत्त्व
(बाहर रहने) के साथ होता है, अथवा बिना बहि सत्ता का जीवित चैत्र का
गृहामत्त्व (घर में में न रहना) अनुपपन्न है (नहीं हो सकता है) । ऐसा ज्ञान
होना है ।

इन दोनों में से प्रथम सहनार पक्ष में अन्वय व्याप्ति ही है, अन्तिम (ज्ञान)
पक्ष में तो व्यतिरेक व्याप्ति का ही ज्ञान होता है । इति इस कारण अर्थापत्ति का

अर्थापत्तिरप्यनुमानमेव । तथाहि दृष्टावपि तस्मात्तद्विज्ञोद्यतश्च ग्रस्य गृहाम-
स्त्वेन दृष्टतरप्रमाणावधृतेन बहिःसत्त्वं कल्पयति । तत्रोपपाद्योपपादक्याभ्यां-
प्यव्यापकभावावधारणाधीनैव बहिःसत्त्वप्रतीतिः, भवति हि जीवतो गृहाम-
सत्त्वं बहिःसत्त्वेन सहचरितं, बहिःसत्त्वं विना जीवतो गृहामस्यमनुपप-
न्नमिति वा ज्ञानम् । तत्राद्येन्वयव्याप्तिरेवान्त्ये तु व्यतिरिक्तव्याप्तेरेव प्रद-
ष्टति । व्याप्तिरस्ति न तस्य ग्रहणमिहोपयुज्यते इति चेत् व्याप्तिग्रहमन्तरेणार्था-
पत्त्याभासानवकाशान्, स्वरूपमत्या व्याप्त्या यन्तुतो यदुपपादक तस्यैव कल्पना
स्यादिति दिक् । संशयकरणिनाया विरोधकराण्यस्याश्चानुमानान्तर्भाव उदनी-

अनुमान में अन्तर्भाव हो सकता ॥ । 'यदि व्याप्ति होने पर भी उसके ग्रहण (ज्ञान)
को इसमें कोई उपयोग नहीं है' ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो स्वरूप में मत् (वर्तमान)
व्याप्तिभाव के विषय में न रहने से व्याप्ति ज्ञान के भिन्न अर्थापत्ति के आभाव (आम-
रूप से अपर्थापत्ति को) स्थान न मिलेगा, स्वल्प से मत् (वर्तमान) व्याप्ति का
जो वास्तविक उपपादक (उपपादन करने वाला) है उसी की कल्पना होगी ऐसी
अर्थापत्ति के अग्रहण की रीति है । मटेहरणवाली, तथा विरोधकरणवाली
अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव होता है यह ज्ञान लेना, क्योंकि माय में रहना
रूप विरोध भी अगति से सम्बद्ध होता है । अर्थात् देवदत्त मनुष्य के अन्वय में जीना
तथा गृहवृत्तिता के अभाव निश्चय के पश्चात् किसी प्रकार गृहवृत्तिता का निश्चय
होने पर जीवितता का तथा गृह से भिन्न में अवर्तमानता इन दोनों के निश्चयों में
प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का निश्चय न होने से देवदत्त जीना है या नहीं ऐसा मटेह
होता है, उसके निवारणार्थ बहिःसत्ता की कल्पना करना ऐसा एक मत है । दो
प्रमाणों के विरोध के निश्चय से उत्पन्न दोनों प्रमाणों में वर्तमान अप्रामाण्य द्वारा
उनके अविरोध का उपपादन करनेवाला ज्ञान भी अर्थापत्ति होती है । इसमें दो
प्रमाणों के विरोध का निश्चय कारण है, वह इस प्रकार है देवदत्त में शत्रु वर्ण जीना,
तथा घर में भिन्न स्थल में न रहना इन दोनों प्रमाणों में से शत्रु वर्ण के मध्य में
घर में अवर्तमान देवदत्त में विरुद्ध अर्थ विषय निश्चय हुआ है, उसमें दोनों प्रमाणों
में अप्रामाण्य का संशय होता है, पश्चात् एक प्रमाण के बखराव होने के ज्ञान से
बहिःसत्त्व की कल्पना होती है, इससे दुर्वैत तथा बलवान दो प्रमाणों का विरोध
न होना—अर्थापत्ति से सिद्ध होता है ऐसा दूसरा मत है । पर इन दोनों का गृह-
मात्र में वर्तमानता के अभाव से व्याप्य अन्वय जीविततावा यह देवदत्त है इस प्रकार
विरोध निश्चय रूप प्रामाण्य से बहिःसत्त्व की सिद्धि अनुमान में ही अन्तर्भाव होती है—
यह वास्तव यही जानना ।) इस प्रकार अर्थ में सम्बद्ध दृष्टावपि तस्मात् का अनुमान में
अन्तर्भाव दिष्टाकर शब्द से सम्बद्ध अर्थापत्ति का भी अनुमान में अन्तर्भाव दिष्टावे

यः । विरोधस्यापि सहानवस्थाननियमलक्षणस्य व्याप्तिघटितत्वात् । श्रुतार्थापत्तिरप्यनुमितानुमान-पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते इत्यनेन वाक्येन पीनत्वमनुमितं तेन च पीनत्वेन रात्रिभोजनानुमानम्-देवदत्तो रात्रौ भुङ्क्ते दिवाऽभोजित्वे सति पीनत्वासम्भवादिति ।

सम्भवोऽप्यनुमानमेव, तदुदाहरणं हि—सम्भवति स्वार्थ्या द्रोण सम्भवति द्रोणे आढकम् सम्भवति सहस्रे शतमित्यादि तत्रेयं खारी द्रोणवती तद्वदितत्वात् यद्येन पटितं तत्तेन तद्वत्, यथाऽवयववान् घट । एवमन्यदप्युक्तम् । यस्तु सम्भवति ग्राहणे विद्या-सम्भवति क्षत्रिये शीर्ष्यमित्यादि, तत्प्रमाणमेव न भवति अनिश्चायकत्वात् ।

हुए शकरमिश्र कहते हैं कि श्रुतार्थापत्ति भी अनुमित का अनुमान रूप है—जैसे पीन (मोटा-माजा) देवदत्त नामक मनुष्य दिन में भोजन नहीं करता इस वाक्य से पीनत्व का अनुमान होकर, उस पीनत्व से रात्रि में भोजन का 'देवदत्त रात्रि में भोजन करता है, दिन में भोजन न करते हुए पीनता का असंभव होने से' इस प्रकार अनुमान होता है । अर्थात् शब्द की आकांक्षा शब्द ही से पूरी होती है, इस न्याय से रात्रि में भोजन करता है ऐसे शब्द की कल्पना श्रुतार्थापत्ति कहलाती है जिसका अनुमितानुमान में उपरोक्त प्रकार से अन्तर्भाव जानना चाहिये ।

व्याप्ति की अपेक्षा न करनेवाला सम्यक् भी दूसरा प्रमाण है ऐसा कुछ दार्शनिकों का मत है । वह भी व्याप्ति सापेक्ष होने से अनुमान में अन्तर्भाव है—इस आशय से शकरमिश्र आगे कहते हैं कि सम्यक् भी अनुमान ही है, उसका खारी (१० सेर) में द्रोण (५ सेर) का सम्यक् है, द्रोण में आढक (अढ़ाई सेर) का सम्यक् है, हजार में सौ का सम्यक् है, इत्यादि उदाहरण । किन्तु यह खारी परिमाण पदार्थ द्रोण परिमाण वाली है, उससे युक्त होने से जो जिससे घटित (युक्त) होता है वह उससे युक्त होता है, जैसे अवयवों का आश्रय घट इत्यादि अनुमान में ही सम्यक् प्रमाण का अन्तर्भाव हो सकता है । इसी प्रकार गौर भी उदाहरण में जान लेना । ब्राह्मण में विद्या हो सकती है, क्षत्रिय में धूरता हो सकती है, इत्यादि जो सम्यक् प्रमाण का कुछ विद्वान् उदाहरण देते हैं, वह निश्चयजनक न होने से प्रमाण ही नहीं हो सकता ।

कुछ भीमासकादि विद्वान् अनुपलब्धिरूप अभाव को दूसरा प्रमाण मानते हैं, अर्थात् भावपदार्थों की व्याप्ति ही अनुमान का अङ्ग होती है यह उनका आशय है, किन्तु भावनिष्ठ व्याप्ति के समान अभाव में वर्तमान व्याप्ति भी अनुमान का अङ्ग होती है । इस कारण अनुमान में ही अनुपलब्धि का अन्तर्भाव हो सकता है ऐसा यहाँ नैयायिकों का मत है । इस आशय से शकरमिश्र कहते हैं कि—कार्य

अमायोऽपि न मानान्तरं कार्येण कारणानुमानवत् कार्योभावेन कारणा-
भावानुमानस्य व्याप्तिमूलकत्वेनानुमान एवान्तर्भावात् ।

भट्टमते तु भूतलादावभावप्रादुर्भाव प्रमाणमनुपलम्भाख्यम् । यत् क्वचित्
प्रत्यक्षे क्वचिद्वानुमानेऽन्तर्भूतं चक्षुरादिनैवाभावप्रमात् । न चेन्द्रियमधिकरण-
प्रद एवोपक्षेपम्, अभावमहपर्यन्तं तद्व्यापारसत्त्वात् ।

ऐतिह्यमविज्ञातप्रवक्तृकं प्रवादपारम्पर्यम् । इति हेति निपातसमुदाय
पुरावृत्ते वर्तते, तस्य भाव ऐतिह्यम् । तत् यदि याचितार्थं न भवति तदा
शब्दान्तर्निवेशादनुमानम् । यदि षटे यक्षो मधूक्तरौ गौरोत्यादि, तद् यथा-
सोक्तं तदा पूर्ववत् । नामोक्तश्चेत्तदा न प्रमाणम् । तदेवं प्रत्यक्षमनुमानश्चेति
सिद्धं द्वयमेव प्रमाणमिति ॥ ५ ॥

ये कारण के अनुमान के समान कार्ये अभाव से कारण के अभाव का अनुमान
भी व्याप्तिमूलक होने से अनुमान में ही अभाव का अन्तर्भाव होने के कारण अभाव
भी दूसरा प्रमाण नहीं है ।

अधिकरण के प्रत्यक्ष होने से ही इन्द्रियो का व्यापार शाश्व हो जाता है तो
उससे अमान का प्रत्यक्ष कैसे होगा, तथा अलीक (असत्) स्वरूप अभाव के
साथ इन्द्रियो के सम्बन्ध के न होने से प्रत्यक्ष न हो सके ॥ कारण एवं शब्दादिकों
के अनुत्धारण दसा में भी अभाव का ज्ञान होने से भी उसका ग्रहण करने वाला
अनुपलब्धि नामक प्रमाण मानना पड़ेगा—ऐसे भीमाचको के मत पर तो शंकरमिश्र
कहते हैं कि—इस मत में तो सुनलादि अधिकरण में अभाव को ग्रहण करने वाला
अनुपलब्ध नामक प्रमाण माना गया है, किन्तु वह कहीं-कहीं प्रत्यक्ष तथा कहीं-कहीं
अनुमान में अन्तर्गत होता है, क्योंकि चक्षुरादिको से ही अभाव का ग्रहण होता है ।
यह पूर्वपक्षी नहीं कह सकता कि—अधिकरण भूतलादिकों के ग्रहण में ही इन्द्रिय
उपक्षी (चरितार्थ) है, क्योंकि अभावज्ञान तक उसका व्यापार रहता है । पीरा-
गिको के माने हुए जिसके वक्ता का ज्ञान न हो ऐसे प्रवाद (कहावत) के परम्परा ही
को ऐतिह्य प्रमाण कहते हैं । इस ऐतिह्य 'वद' मे 'इति ह' मे दोनो निपातो का समुदाय
है जो पुरावृत्त (पूर्व में हुए) वृत्त (वृत्तान्त) का वाचक है, उसके जर्म को 'ऐतिह्य'
कहते हैं । ऐसा ऐतिह्य प्रमाण का यदि दूसरे किसी प्रमाण से विषय बाधित न हो
तो शब्द के अन्तर्भाव होने से वह वैशेषिक मत से अनुमानप्रमाण होगा । क्योंकि
इस वह के पेट पर यरा (देवताविशेष) है इस मधुक (महुषा) वृक्ष पर गौरी
नाम की चिड़िया बोल रही है, इत्यादि ऐतिह्य प्रमाण का उदाहरण ऐतिह्य प्रमाण-
वादी देते हैं, वह यदि आत्मपुरुष से कहा गया हो तो उपरोक्त के समान उसका
शब्द मे अन्तर्भाव होगा । यदि आत्मपुरुष से उक्त न हो वो प्रमाण ही न होगा ।

लैङ्गिकं व्याख्याय इदानीं प्रकरणान्तरमारभते—

आत्ममनसोः सयोगविशेषात् सस्काराच्च स्मृतिः ॥ ६ ॥

उत्पद्यत इति शेषः । सयोगविशेषः प्रणिधानादिसन्निधानम् । एतस्मात् समवायिकारणादात्मनि समवायिनि स्मृतिर्विद्याविशेष उत्पद्यते । निमित्त कारणमाह—संस्कारादिति । चकारेण व्यापारी पूर्वानुभव समुच्चयीयते । अनुभवयाथार्थ्यायाथार्थ्यमियमनुविधत्ते, रज्जुं भुजङ्गतयोपलभ्य पलायितस्तथैव स्मृतेः । न च सतत स्मृतिप्रसङ्गः, सस्कारोद्बोधाधीनत्वात्, तदुपशस्तरेवपादै—“लिङ्गदर्शनेच्छानुस्मरणायपेक्षाद्वैतमनसोः संयोगविशेषात् पट्यभ्यासादप्रत्ययजनिताच्च संस्काराद्दृष्ट श्रुवानुभूतेषु शेषानुव्यवसायरणेच्छाद्वेपदेतुरतीतविषया स्मृतिः” इति ।

इस कारण उक्त प्रकार से प्रत्यक्ष और अनुमान ऐसे दो ही प्रमाण वैशेषिक मत माने गये हैं यह सिद्ध होता है ॥ ५ ॥

इस प्रकार लैङ्गिक (अनुमान) की व्याख्या कर सांप्रत दूसरे प्रकरण का सूत्रकार आरम्भ करते हैं—

पदपदार्थः—आत्ममनसो = आत्मा तथा मन के, सयोगविशेषात् = सयोगविशेष से, सस्कारात् च = और भावना नामक सस्कार से भी, स्मृतिः = स्मरणरूप का होता है ॥ ६ ॥

भावार्थः—आत्मा तथा मन के असमवायिकारण प्रणिधानादि सन्निधानरूप सयोगविशेष तथा भावना नामक सस्काररूप निमित्त कारण से आत्मारूप समवायिकारण में स्मरणरूप कार्य उत्पन्न होता है ॥ ६ ॥

उपस्कारः—सूत्र में व्याख्यित ‘उत्पद्यते’ उत्पन्न होता है ऐसा शेष पद पूर करना । सूत्र में सयोगविशेष पद का प्रणिधान (चित्त की स्वस्थता) आदि समीप होना अर्थ है—इस सयोगविशेषरूप असमवायिकारण से समवायिकारण आत्मा में स्मृति नाम का विशेष विद्या (ज्ञान) उत्पन्न होता है । इसके निमित्त कारण सूत्रकार कहते हैं—‘सस्कारात्’ इति । चकार से व्यापार वाला पूर्व का अनुभव संग्रह किया गया है । यह स्मृति पूर्वानुभव की यथार्थता एवं अवयवार्थता का अनुस्मरण करती है, क्योंकि रस्सी को सर्प समझकर भागे हुए मनुष्य को अवयवार्थ स्मरण होता है । सस्कार के उद्बोधक के अधीन होने के कारण सर्वदा स्मृति ही की आपत्ति नहीं आ सकती । यही भाष्य में प्रशस्तदेवपाद ने कहा है—कि लिङ्ग का दर्शन, इच्छा पश्चात् स्मरण, प्रणिधान आदि की अपेक्षा करनेवाले आत्मा तथा मन के संयोगविशेष से पटु, अभ्यास तथा आदर-ज्ञान से उत्पन्न भी सस्कार दृष्ट, श्रुत तथा अनुभव किये विषयो में, अविशिष्ट अनुव्यवसाय, स्मरण, इच्छा तथा द्वेषरूप कार्य की उत्पादक, अतीत (व्यतीत) विषयो में स्मृति होती है, ऐसा

आर्षं ज्ञानं सूत्रकृता प्रयच्छन् लक्षितं योगिप्रत्यक्षान्तर्भावितम् । पदार्थ-
प्रदेशालये तु प्रकरणे तदुक्तं तद्यथा—“आम्नायविधातृणामृषोणामतीतानागत-
वर्तमानेष्वतीन्द्रियेष्वर्थेषु धर्मादिषु ग्रन्थोपनिबद्धेषु लिङ्गाद्यनपेक्षादात्मम-
नसो संयोगाद्धर्मविशेषाच्च प्रातिभं ज्ञानं यदुत्पद्यते तदार्पम्” इति । तच्च
कदाचिन्नैकिकानामपि भवति यथा ‘कन्यका वदति श्रो मे श्राताऽऽगन्तेति
हृदय मे कथयतीति’ ॥ ६ ॥

तदेव चतुर्विधां विद्या व्युत्पाद्य इदानीमविद्यां व्युत्पादयितुमर्हति । तत्र
संशयविपर्ययौ प्रसङ्गात् पूर्वमेव निरूपिणौ, स्वप्नं निरूपयितुमाह—

तथा स्वप्नः ॥ ७ ॥

योगिप्रत्यक्ष मे अन्तर्गत होने के कारण आर्षज्ञान सूत्रकार ने अविक विद्या
नहीं कही है । किन्तु पदार्थप्रदेश नामक प्रत्यक्षपाद भाष्य के प्रकरण में वह इस
प्रकार कहा गया है कि—“आम्नायविधातृणा = भाग्य के निर्माता, ऋषीणा = ऋषियों
के, अतीतानागतवर्तमानेषु = श्रुत भविष्य तथा वर्तमान, अतीन्द्रियेषु = अप्रत्यक्ष, ग्रंथो-
पनिबद्धेषु = ग्रन्थों में दणन दिये हुए, धर्मादिषु = धर्म अधर्म आदि पदार्थों में, लिङ्गाद्य-
नपेक्षा = हेतु आदि की आवश्यकता न रखने वाले, आत्ममनसो.सयोगाद् = आत्मा
तथा मन के संयोग से, धर्मविशेषात् = और विद्या, तदर्थ्या तथा समाधि से
उत्पन्न उत्कृष्ट विशेष धर्म से भी, प्रातिभ = जो प्रातिभ (प्रतिभ से उत्पन्न) ‘ज्ञानं
ज्ञान, उत्पद्यते = उत्पन्न होता है, तत् = वह, आर्षं = आर्षज्ञान कहाता है ।” इति =
ऐसा । और वह प्रातिभज्ञान कभी-कभी लौकिक पुरुषों को भी होता है, जैसे कोई
कन्या को तैरा भाई कब आयेगा ? ऐसा प्रश्न करने पर वह कहती है कि मेरा
भाई कल आयेगा ऐसा मेरा हृदय कहता है, ऐसा और वह उसका कहना आर्षज्ञान के
समान मत्त भी हो जाता है ॥ ६ ॥

इस प्रकार चार प्रकार की विद्या का वर्णन करने के पश्चात् साप्रत भविद्या का
वर्णन करना उचित है, जिसमें सशय तथा अनध्यवसाय रूप विपर्यय का वर्णन प्रसंग
से पूर्वपक्ष में ही कर चुके हैं, अब तृतीय स्वप्न नामक अविद्या का सूत्रकार वर्णन
करते हैं ।

पदपदार्थ—तथा = स्मृति के समान, स्वप्न = स्वप्नज्ञान भी होता है ॥ ७ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार आत्मा तथा मन के संयोगविशेष और सस्कार से स्मरण-
ज्ञान होता है उसी प्रकार स्वप्नज्ञान भी होता है । इन्द्रियों के व्यापारों के शान्त
होने पर जिसका मन स्वरूप में लीन रहता है ऐसे मनुष्य को इन्द्रिय व्यापार से
होने के समान जो अनुभव होता है उसे स्वप्नज्ञान कहते हैं ॥ ७ ॥

३३ वै०

यथाऽऽत्ममनसोः सयोगविशेषात् सस्काराच्च स्मृतिस्तथा स्वप्नज्ञान-
मपोत्यर्थः । उपरतेन्द्रियग्रामस्य प्रलीनमनस्कस्य इन्द्रिन्द्वारेण यदनुभव-
मानसम्, तत् स्वप्नज्ञानम् ।

तच्च त्रिविधम् । किञ्चित् संस्कारपाटवात् कामी क्रुद्धो वा यमथमादृत-
श्चिन्तयन् स्वपिति तस्य तस्याभवस्थायां प्रत्यक्षाकारं ज्ञानं पुराणादिभ्रवणजनि-
तसंस्कारवशाज्जायते कर्णार्जुनोयं युद्धमिदमित्यासरम् । किञ्चिद्वातूनां वात-
पित्तश्लेष्मणा दोषात् । तत्र वातदोषादाकाशगमन-यसुन्धरापर्यटन-व्याघ्रा-
दिभयपलायनादीनि पश्यति । पित्तोपचयदोषमग्निना बहिःप्रवेश-बहिःश्वाला-
लिङ्गन-कनकपर्वत-विद्युज्ज्वालिस्फुरण-दिग्दाह्यदिक् पश्यति । श्लेष्मदोषप्रा-
धल्यात्तु समुद्रमन्तरण-नदीमञ्जन-धारासागवर्षण-रजतपर्वतादि पश्यति ।
अदृष्टवशादपि तज्जन्मानुभूतेषु जन्मान्तरानुभूते वा सिद्धोपलुप्तान्तं करणस्य

उपस्कार—जन्म प्रकार आत्मा तथा मन के विशेष सयोग और संस्कार से भी
स्मरणज्ञान होता है उसी प्रकार स्वप्नज्ञान भी होता है यह सूत्र का अर्थ है ।
२. १० के व्यापार में रहित तथा लीन (लयावस्था में वर्तमान) मन वाले प्राणी
को जो इन्द्रियो के व्यापार होने के समान मानस अनुभव होता है, वह स्वप्नज्ञान
कहाता है । और वह तीन प्रकार का है । कोई स्वप्नज्ञान तो संस्कार के पाठ
व सामर्थ्य में होता है जैसे कामी अथवा क्रोधी प्राणी जिस कामिनी, शत्रु आदि
पदार्थ को आदर से चिन्तन करता हुआ निद्रा करता है, उस प्राणी को उस अवस्था
में प्रत्यक्षरूप कामी को कामिनी अथवा क्रोधी को पुराण-भारतादि इतिहास के
वर्णन से उत्पन्न संस्कार के कारण यह कर्ष तथा अर्जुन का युद्ध हो रहा है ऐसा
ज्ञान स्वप्न में होता है । और कोई स्वप्नज्ञान वात, पित्त तथा कफ इन तीनों के
दोष से होता है । जिसमें वायु दोष से आकाश में गमन पृथिवी में भ्रमण, व्या-
घ्रादि हिंसक जीवों के भय से भागना, इत्यादि प्राणी स्वप्न में देखता है । पित्त के
वृद्धि के दोष में अग्नि में प्रवेश, अग्नि की ज्वाला से अलिप्तन, भुवर्ण का पर्वत,
विद्युत्कृत लता का चमकना दिशाओं में दह इत्यादि पित्तरोगी प्राणी स्वप्न
में देखता है । श्लेष्म (कफ) दोष की प्रबलता से तो समुद्र में तैरना, नदी में डूबना,
जल की वर्षा की धाराओं की वृष्टि, चादी का पर्वत इत्यादि कफरोगी प्राणी
स्वप्न में देखता है । अदृष्ट के अधीन भी उस जन्म में अनुभव किये, या जन्मान्तर
(पूर्व दूसरे जन्म) में अनुभव किये पदार्थों का व्याकुल चित्त वाले प्राणी को जो
ज्ञान उत्पन्न होता है (वह अदृष्ट हेतुक स्वप्न होता है) उसमें धर्मरूप अदृष्ट से
गज पर चढ़ना पर्वत पर चढ़ना, छत्र की प्राप्ति, पायस (खीर) का भोजन, राजा
का दर्शन इत्यादि, भावी शुभसूचक तथा अधर्मरूप अदृष्ट से तेल से अम्यंग स्नान,

यज्ज्ञानमुत्पद्यते, तत्र शुभावेदक धर्मात् गजारोहण-पर्वतारोहण-उबलाभ-पायसभक्षण-राजसन्दर्शनादिविषयकम् । अधर्मात् तु तैलाभ्यञ्जनान्धकूपपतनो-प्रारोहण-पङ्कमज्जन-स्वविवाहदर्शनादिविषयकं स्वप्नज्ञानमुत्पद्यते । त्रयाणां मिलितानामेवात्र कारणत्वं गुणप्रधानभावमाश्रित्यायं विभागो द्रष्टव्यः ॥ ३ ॥

ननु यज्ज्ञानं स्वप्नमध्ये स्वप्नज्ञानानुभूतस्यैवार्थस्य स्मृतिरूप जायते तत्र स्वप्नत्वं न वर्तते स्वप्नस्यानुभवरूपत्वात् तथा च कस्मात् कारणात्तदुत्पत्तिरित्यत आह—

स्वप्नान्तिकम् ॥ ८ ॥

तथेति पूर्वसूत्रादनुवर्तते । तेनस्ममनसोः संयोगविशेषात् संस्काराश्च यथा स्वप्नस्तथा स्वप्नान्तिकमपीत्यर्थः । एतावानेव विशेषो यत् स्वप्नज्ञानं पूर्वानुभवजनितान् संस्कारात्, स्वप्नान्तिकं तु तत्कालोत्पन्नानुभवजनित-संस्कारादेव । सदुक्तं प्रशस्तदेवाचार्यै—“अतीतज्ञानप्रत्यवेक्षणात् स्मृतिरेव”

अपेरे कुर्मे मे गिरना, कैंट पर चढ़ना, पंक (कीचट) मे कमना, अपना बिवाह देखना इत्यादि विषय वाले भावी अशुभ के सूचक स्वप्नज्ञान धार्मिक तथा अधार्मिकी की क्रम से होते हैं । इस स्वप्नज्ञान मे संस्कार नाटक, वातु दोष तथा अदृष्ट इन मिले हुए तीनों को कारणना है जिससे एक प्रधान बी बीण (विशेषणता) रूप से ऐसा विभाग देखना चाहिये ॥ ७ ॥

स्वप्नज्ञान के मध्य मे स्वप्नज्ञान मे अनुभव किये हुए पदार्थों का जो स्मरण रूप ज्ञान होता है, वह स्वप्न नहीं हो सकता, क्योंकि स्वप्नज्ञान अनुभवरूप होता है, तो किस कारण से उत्पन्न होना है ? इस प्रश्न के उत्तर मे सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—स्वप्नान्तिकं—स्वप्न के मध्य मे होने वाला स्मरणरूप ज्ञान कैसे होता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—आत्मा तथा मन के संयोगविशेष तथा संस्कार से भी जिस प्रकार स्वप्नज्ञान होता है उसी प्रकार (स्वप्नान्तिक) स्वप्न मध्य में स्वप्न स्मरणरूप ज्ञान भी होता है ॥ ८ ॥

उपरान्त—इस सूत्र में पूर्व सूत्र से ‘तथा’ इस पद की अनुवृत्ति (आगमन) होती है इससे आत्मा तथा मन के संयोगविशेष संस्कार से भी जिस प्रकार स्वप्न-ज्ञान होता है उसी प्रकार स्वप्नान्तिक (स्वप्न मध्य में स्वप्न स्मरण) भी होता है यह सूत्र का अर्थ है । इनका ही विशेष है कि स्वप्नज्ञान पूर्व में अनुभव किये पदार्थ के अनुभव से उत्पन्न संस्कार से उत्पन्न होता है किन्तु स्वप्नान्तिक स्मृति

इति । उक्तञ्च वृत्तिकारैः—“अनुभूतवस्तुस्फुरणार्थतया न स्मरणार्थान्तरं स्वप्नज्ञानम्” इति ।

स्वप्नमध्ये प्रभाभूतं यज्ज्ञानं तत् स्वप्नान्तिकमिति केचित् । यथा शय्याया शयानोऽस्मीत्यादि ॥ ८ ॥

स्वप्नस्वप्नान्तिकयोः कारण समुच्चिनोति —

धर्माच्च ॥ ९ ॥

अधर्मसमुच्चयार्थश्चकारः । कृतव्याख्यानमेतत् ॥ ९ ॥

इदानीं पर्यायमधिकृत्याह—

इन्द्रियदोषात् सस्कारदोषाच्चाविद्या ॥ १० ॥

ज्ञान केवल उन स्वप्न काल के अनुभव से उत्पन्न सस्कार ही से । यह प्रघटत देव आचार्य ने भी भाष्य में कहा है—अतीतज्ञानप्रत्यवेशणात्—बीते हुए स्वप्न के पुनर्दर्शन से, स्मृति एव = वह स्वप्नान्तिक स्मरण ही है’ ऐसा । अर्थात् स्वप्नान्तिक यद्यपि इन्द्रिय व्यापार रहित हीन मनवाले को होता है तो भी स्वप्न में अनुभव किये विषय का प्रत्यवेशण होने से वह स्मरण ही है । जिससे अविद्या चार ही प्रकार की है वह निम्न होना है । स्वप्न के मध्य में यथार्थरूप जो ज्ञान होना है उसे स्वप्नान्तिक कहते हैं ऐसा कुछ विद्वानों का मत है जैसे मैं खट्या पर सोया हूँ इत्यादि—इस प्रकार ॥ ८ ॥

स्वप्नज्ञान तथा स्वप्नान्तिक दोनों के कारण का समग्र करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—धर्माच्च च=और धर्म तथा अधर्मरूप अदृष्ट से स्वप्नान्तिक ज्ञान होता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—स्वप्नज्ञान तथा स्वप्नान्तिक दोनों में धर्म तथा अधर्मरूप अदृष्ट भी कारण है ॥ ९ ॥

उपस्कार—सूत्र में चकार से अधर्म का समग्र होता है, इस सूत्र की सातवें सूत्र में व्याख्या की गई है ॥ ९ ॥

साप्रत (पर्याय) भाषात् विषयं रूप अविद्या को उद्देशकर सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—इन्द्रियदोषात् = इन्द्रियों के दोष से, सस्कारदोषात् च = सस्कार के दोष से भी, अविद्या = मिथ्याज्ञान होता है ॥ १० ॥

भावार्थ—विषयं (मिथ्या ज्ञान) रूप अविद्या इन्द्रियों के तथा सस्कार के दोष से उत्पन्न होती है ॥ १० ॥

अविद्येति सामान्यवाच्यपि पदं विपर्यये वर्तते प्ररूपात् संशयत्वप्ता-
नध्यवसायानामुक्तत्वात् । तत्रेन्द्रियदोषो वातपित्ताद्यभिभवकृतमपादवम् ।
संस्कारदोषो विशेषादर्शनसाहित्यं तदधीनं हि मिथ्याज्ञानं जायते ॥ १० ॥

अविद्यासामान्यलक्षणमाह—

तददुष्टज्ञानम् ॥ ११ ॥

तदित्यव्ययपदं सर्वनामसमानार्थकमविद्यां परामुशति । साऽविद्या दुष्ट-
ज्ञानं—व्यभिचारिज्ञानभूतस्मिन्तदिति ज्ञानं—व्यधिकरणप्रकारावच्छिन्नं—
विशेष्याद्युत्तिप्रकारकमिति यावत् । दोषश्च ज्ञानस्यानिश्चयरूपत्वमपि । तेनै-
ककोटिसत्त्वेऽपि संशयो दुष्ट एवानवधारणात्मकत्वात् । तदनेन संशयविपर्यय-
त्वप्तानध्यवसायानाञ्चतुर्गमप्युपग्रहः ॥ ११ ॥

अदुष्टं विद्या ॥ १२ ॥

उपस्कार—सूत्र में सामान्यरूप से अज्ञानवाचक अविद्या शब्द विपर्यय
(गिप्पाज्ञान) का बोधक है, क्योंकि संशय, स्वप्न, तथा अनध्यवसायों के
वर्णित होने से उसी का प्रकरण है । उसमें वात, पित्त, श्लेष्म आदिकों के आक्रमण
में भये हुए इन्द्रियों के असामर्थ्य को इन्द्रिय दोष कहते हैं । विशेष के अदर्शन (न
दिखाई पड़ने को) माहित्य (सामग्री) को संस्कार दोष कहते हैं, क्योंकि उन्हीं के
अधीन ही मिथ्याज्ञान उत्पन्न होता है ॥ १० ॥

अविद्या सामान्य का सूत्रकार लक्षण कहते हैं—

पदपदार्थ—तत् = यह अविद्या, दुष्टज्ञान=दोष युक्त ज्ञान होती है ॥ ११ ॥

भाषार्थ—व्यभिचारी ज्ञान को अविद्या कहते हैं ॥ ११ ॥

उपस्कार—सूत्र का 'तत्' यह अव्यय पद है जो सर्वनाम शब्दों के समान अर्थ
वाला होने से अविद्या को ग्रहण करता है । अतः 'सा' यह अविद्या, अर्थात् उस
धर्म से रहित अर्थ में उस धर्म को विपर्यय करने वाला व्यभिचारि ज्ञान—अथवा व्यधि-
करण (अन्य अर्थ में वर्तमान) विशेषण से युक्त ज्ञान, अर्थात् विद्वेक्ष्य में न रहनेवाले
धर्मरूप विशेषण वाला ज्ञान दुष्टज्ञान कहा जाता है । निश्चय न होता यह भी एक
ज्ञान या दोष होता है । इसी से एक कोटि (भाग) के होने पर भी संशयरूप
ज्ञान निश्चयात्मक न होने के कारण दुष्ट ही है । इस प्रकार इस सूत्रोक्त सामान्य
लक्षण से संशय, विपर्यय, स्वप्न, तथा अनध्यवसाय चारों का भी संग्रह होता
है ॥ ११ ॥

पदपदार्थ—अदुष्ट = दोषरहित (ज्ञान). विद्या = विद्या कहाती है ॥ १२ ॥

भाषार्थ—दोषरहित इन्द्रियादिकों से होनेवाले ज्ञान को विद्या कहते हैं ॥ १२ ॥

ज्ञानमित्यनुवर्त्तते । अदुष्टमदुष्टेन्द्रियजन्यं यत्र यदस्ति तत्र तदनुभवो वा समानाधिकरणप्रकारानुभवो वा विशेष्यावृत्त्यप्रकारानुभवो वा विद्येत्यर्थः । तथाध्यक्षं लैङ्गिकञ्च द्वयमेव ॥ १२ ॥

अन्वार्पणमपि ज्ञानं समानाधिकरणप्रकारकमेव तच्च नेन्द्रियजन्यमसन्निकृष्टार्थगोचरत्वात् । न लैङ्गिक लिङ्गानुसन्धानमन्तरेण जायमानत्वात् । तथा चैतत्करणं तृतीयं प्रमाणमायातमत आह—

आर्पं सिद्धदर्शनञ्च धर्मैर्मयः ॥ १३ ॥

अयोणा गालवप्रभृतीनां यदतीतानागतविषयक ज्ञानं तदार्पम् । यच्च सिद्धानां मन्त्रौषधिगुटिकाञ्जनादिना व्यवहितविप्रकृष्टार्थगोचरज्ञानं प्रतिसिद्धिगतानां यदर्शनं तदुभय धर्मैर्मयो यथार्थसाक्षात्कारि ज्ञान जायते । तयो-

उपस्कार—सूत्र मे 'ज्ञान' ज्ञान यह पद पूर्वसूक्त से अनुवृत्त होता है (जाता है) दोपरहित इन्द्रियो से उत्पन्न होने से अदुष्ट (दोपरहित) अर्थात् जिसमे जो धर्म हो उसमे उस धर्म का अनुभव अथवा समानाधिकरण (एक आश्रय मे वर्तमान) विशेषण का अनुभव (अर्थात् उस विशेषण वाले विशेष्य मे उसका ज्ञान) । यहा स्मृति ॥ करण मे प्रमाणता के कारणार्थ अनुभवपद दिखाया है । अथवा विशेष्य मे न रहनेवाले धर्म को विशेषण न रखनेवाला अनुभव विद्या कहाती है यह सूत्र का अर्थ है । निर्विकल्पक ज्ञान मे प्रमात्व के लाभ के लिये यह द्वितीय कल्प शकरमिश्र ने किया है और वह प्रमाण विद्या प्रत्यक्ष और लैंगिक के ऐसी वैशेषिकमत मे दो प्रकार है ॥ १२ ॥

आर्पज्ञान भी समानाधिकरण विशेषण वाला ही होता है, जो इन्द्रिय तथा अर्प के सन्निकर्ष से उत्पन्न न होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । तथा लिङ्ग के अनुसन्धान (अर्थात् विशिष्टज्ञान) के बिना होने मे लैंगिक (अनुमान) भी नहीं हो सकता, ऐसा होने से आर्पज्ञान का करण तीसरा प्रमाण है यह प्राप्त होता है इस पूर्वपक्षी की दाका का सूत्रकार उत्तर देते हैं—

पदपदार्थ—आर्प = ऋषि सम्बन्धी ज्ञान, सिद्धदर्शन च = और सिद्धों का दर्शन भी, धर्मैर्मय = अदृष्टरूप धर्मों से होता है ॥ १३ ॥

भावार्थ—ऋषियों का ज्ञान, अविध्य तथा वर्तमानविषयक ज्ञान तथा सिद्धि को प्राप्त सिद्ध पुरुषों को ज्ञान होता है वह धर्म से प्रत्यक्षात्मक होता है ॥ १३ ॥

उपस्कार—गालव, वसिष्ठ आदि ऋषियों को जो ज्ञान, अविध्य तथा वर्तमान विषयों का ज्ञान होता है वह आर्पज्ञान कहाता है । और जो यन्त्र, औषधि, गुटिका (गोली), अञ्जन (काजल) इत्यादि सिद्ध कर उनसे व्यवधान युक्त तथा इष्ट के विषयों का जो ज्ञान प्रत्येक सिद्धिप्राप्त सिद्धों को दर्शन (प्रत्यक्षज्ञान) होता है वह

गिप्रत्यक्षेऽन्तर्भावान्न विद्यान्तरमिति वृत्तिकृतः । आर्पं ज्ञानं चतुर्थी विधैव, सा च श्रुतीणां लौकिकानाञ्च भवति । तच्च मानसं प्रत्यक्षमेव तत्प्रेक्षासह-
कृतेन मनसा जनितं नियमसन्दर्शनादि-लिङ्गजनितं वा । प्राग्भवीयसंस्का-
राधीनैवात्र व्याप्तिधीः, स्तनपानेष्टसाधनताव्याप्तिप्रवृत्तः ।

प्रशस्ताचार्यास्तु सिद्धदर्शनं न ज्ञानान्तरमित्याहुः । तथा हि यदि सिद्धा-
नां गुटिकाञ्जनादिसिद्धिनिमित्तप्रभव व्यवहितविप्रकृष्टविषय तदुच्यते तदा
प्रत्यक्षमेव । यदि तु दिव्यान्तरीक्षभौमानां ग्रहनक्षत्रसंस्कारादिनिमित्ताधीनं
तदा तत्त्वैङ्गिकमेव तथा सहचारदर्शनेन व्याप्तिपरिच्छेदादिति ॥ १३ ॥

इति श्रीशाङ्करे वैशेषिकसूत्रोपस्कारे नवमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ।

समाप्तश्चायं नवमोऽध्यायः ।

दोनो (आर्पं तथा सिद्धदर्शनं) धर्मों से जैसा पदार्थ है वैसे ही पदार्थ को दिखाने
वाला ज्ञान उत्पन्न होता है । वह योगिप्रत्यक्ष के अन्तर्गत होने से दूसरी विद्या नहीं
है ऐसा बुनिकार का मन है । किन्तु भाव्यकार प्रवृत्तदेव के मत से आर्पनामक-
ज्ञान भी चतुर्थी विद्या ही है, किन्तु वह भी श्रुति तथा लौकिक द्रव्यों को भी होती
है और वह मानसप्रत्यक्ष ही है जो सम्भावना के सहायता से मन से उत्पन्न होता
है अथवा व्याप्ति स्मरणादि विशिष्ट लिङ्ग से उत्पन्न होता है । क्योंकि पूर्वजन्म से
उत्पन्न व्याप्ति ज्ञान के संस्कार के अधीन व्याप्ति का ज्ञान होता है, जैसे पूर्वजन्म में
किये दुग्धपान के दृष्टमायनताज्ञान से बालक को व्याप्ति ज्ञान होता है ।

किन्तु प्रवृत्तदेवाचार्य के मत में सिद्धदर्शन प्रमाणान्तर नहीं है क्योंकि यदि सिद्धो
का पूर्वोक्त गुटिका, अञ्जन इत्यादि सिद्ध होने के कारण उत्पन्न हुआ व्यवहित तथा
दूर के विषयो का ज्ञान सिद्धदर्शन कहा जाय तो वह प्रत्यक्ष में ही अन्तर्गत होता है और
यदि स्वर्ग, अन्तरिक्ष (आकाश) तथा पृथ्वी पर रहनेवालों को सूर्योदि ग्रह अश्विनी
आदि नक्षत्रों के सवार (भ्रमण) इत्यादि निमित्तों से उत्पन्न सिद्धदर्शन लिया
जाय तो वह लैङ्गिक (अनुमान) ही होगा । क्योंकि उस प्रकार के सहचार के
देखने से व्याप्तिज्ञान के अधीन ही वह होता है ॥ १३ ॥

इस प्रकार दशरमिश्रकृत वैशेषिकसूत्रोपस्कार व्याख्या में नवमाध्याय का

द्वितीय आह्निक और नवम अध्याय भी समाप्त हुआ ।

दशमाध्याये प्रथमाह्निकम्

आत्मगुणानां कारणतो भेदव्युत्पादनं दशमाध्यायार्थः । तत्र “आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमानं प्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गोस्तु प्रमेयम्” अ० १ आ० १ सू० ९ इति गौतमोये प्रमेयविभागसूत्रे सुखमन्यनभिधानात् दुःखाभिन्नमेव सुखमिति भ्रमनिरासार्थं सुखदुःखयोरेव प्रथमं भेदमाह—

इष्टानिष्टकारणविशेषाद्विरोधाच्च मिथः सुखदुःखयोरर्थान्तरभावः ॥ १ ॥

सुखदुःखयोर्मिथः परस्परमर्थान्तरभावो भेदो वैजात्यमिति यावत् । कुत इत्यत आह—इष्टानिष्टकारणविशेषात् इष्ट इष्ट्यमाण सकृच्चन्दनधिनतादि अनिष्टमनिष्ट्यमाणमहिष्कण्टिकादि तद्रूपं यत् कारणं तस्य विशेषाद्भेदात्, कारणवै-

आत्मा के गुणों का कारण से भेद का वर्णन करना दशमाध्याय का विषय है । उसमें ‘आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमानं प्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गोस्तु प्रमेयम्’ आत्मा १, शरीर २, इन्द्रिय ३, अर्थ ४, बुद्धि ५, मन ६, प्रवृत्ति ७, दोष ८, प्रेत्यभाव ९, फल १०, दुःख ११ और अपवर्गों १२ ऐसे बारह प्रकार के प्रमेय पदार्थ हैं (अ १ आ २ सू. ९) ऐसे गौतम मुनिप्रणीत न्यायदर्शन के प्रमेय-पदार्थ के विभाग सूत्र में सुख के न कहने से दुःख से अभिन्न (दुःखरूप ही) भुल गुण हैं, ऐसे भ्रम के निवारणार्थं सुख तथा दुःख इन दोनों का ही सूत्रकार प्रथम भेद करते हैं—

पदपदार्थ—इष्टनिष्टकारणविशेषात् = त्रिय तथा अत्रियरूप कारणों का विशेष होने से, विरोधात् च=और परस्पर सुख तथा दुःख का विरोध होने से भी, सुख-दुःखयो = सुख तथा दुःख का, अर्थान्तरभाव=भेद है ॥ १ ॥

भावार्थ—माता पालन आदि प्रिय, तथा सर्प, कण्टक आदि अप्रिय पदार्थ रूप कारणों के भेद से, तथा परस्पर साथ न रहना रूप विरोध होने से भी सुख तथा दुःख रूप आत्मा के गुणों का परस्पर भेद, नकि दुःख रूप से सुख है ॥ १ ॥

उपसंसार—सुख तथा दुःख का मिथः (परस्पर) अर्थान्तरभाव अर्थात् विजातीय-तारूप भेद है यह तात्पर्य है । क्यों ? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार ने ‘इष्टानिष्टकारणविशेषात्’ यह हेतु दिया है जिसका यह अर्थ है कि इष्ट नाम इष्ट्यमाण (चाहा जानेवाला) माता, पालन, कामिनी इत्यादि, तथा अनिष्ट नाम अनिष्ट्यमाण (न चाहा जाने वाला) अहि (सर्प) कण्टक (काटा) आदि स्वरूप जो

ज्ञात्याधीनं कार्यवैजात्यमावश्यकं यतः । भेदकान्तरमाह—विरोधात् सहान-
वस्थानलक्षणात् न ह्येकस्मिन्नात्मन्येकदा सुखदुःखयोरनुभवः । चकारादनयोः
कार्यभेदे भेदकं यमुचिनोति । तथाहि—अनुग्रहाभिष्वङ्गनयनप्रसादादि सुख-
स्य, दैन्यमुखमालिन्यादि दुःखस्य कार्यमिति ततोऽप्यनयोर्भेदः । तदुक्तं प्रश-
स्ताचार्यैः—“अनुग्रहलक्षणं सुखं स्रगाद्यभिप्रेतविषयसान्निध्ये सति इष्टोत्पन्न-
धीन्द्रियार्थसन्निकर्षाद्वर्माद्यपेक्षादत्मनसो. संयोगाद् यदनुग्रहाभिष्वङ्गनयना-
दिप्रमोदजनकमुत्पद्यते तत् सुखम्” इति । तदिदमतीतेषु स्रक्चन्दनादिषु
स्मृतिजमनागतेषु सङ्कल्पजम् । गौतमीये सूत्रे सुखापरिगणनं वैराग्याय सुख-
मपि दुःखत्वेन भाषयतो वैराग्य स्यादेतदर्थमिति ॥ १ ॥

नन्वास्तां सुखदुःखे परस्परं भिन्ने ज्ञानादभिन्ने स्यातां स्मृत्यनुभववदि-
त्यत आह—

क्रम से सुख तथा दुःख के कारण उनके विनोप अर्थात् भेद से, क्योंकि कारण के विल-
क्षणता के अर्धीन कर्म में वैलक्षण्य अवश्य होता है । दूसरा भेद तात्पर्य हेतु सूत्रकार
देते हैं कि—तात्पर्य न रहनारूप विरोध होने से भी, सुख तथा दुःख का भेद है, क्योंकि
एक काल में एक आत्मा में सुख तथा दुःख का अनुभव नहीं होता । सूत्र के चकार
से सुख तथा दुःख दोनों के कार्य के भेद से भी इन दोनों का भेद है इसका सप्रह
होता है । वह इस प्रकार है कि अनुग्रह (दया) का सम्बन्ध तत्त्व की प्रसन्नता
इत्यादिक सुख गुण का, तथा दीनता, मुख की मलिनता आदि दुःख गुण का कार्य
होता है । अतः कार्य के भेद से भी सुख तथा दुःख गुण का परस्पर भेद है । यह
प्रशस्तपादाचार्य ने भी कहा है—“अनुग्रहलक्षणं=अनुग्रहस्वरूप, सुखं=सुख,
स्रगाद्यभिप्रेतविषयसान्निध्ये=माला आदि प्रिय पदार्थों की समीपता, सति=होने
पर, इष्टोत्पन्नधीन्द्रियार्थसन्निकर्षात्=प्रिय पदार्थों में उत्पन्न ज्ञान तथा इन्द्रिय और
प्रियपदार्थ के सन्निकर्ष से तथा वर्माद्यपेक्षात्=वर्मादिकों की अपेक्षा रहनेवाले
आत्ममनसो संयोगात्=आत्मा तथा मन के संयोगाविवर्धनसे, यत्=जो, अनुग्रहा-
भिष्वङ्गनयनादिप्रमोदजनकं=अनुग्रहसम्बन्ध, नेत्रादि के हर्ष का जनक, उत्प-
द्यते=उत्पन्न होता है, तत्=वह, सुखं=सुख कहा जाता है” इति=ऐसा । वह यह सुख
अपीन हुये माला चन्दनादि विषयों में स्मरण से उत्पन्न होता है, और पविष्य
उक्त विषयों में संकल्प (मानस कर्म) से उत्पन्न होता है । यदि ऐसा है तो—न्याय-
सूत्र में गौतम महर्षि ने इसकी क्यों न गणना की ? इस प्रश्न के समाधानार्थ शंकर-
मिश्र कहते हैं कि गौतम मुनि ने सूत्र में वैराग्योत्पादन के लिये सुखगुण की गणना
नहीं की है, क्योंकि सुख को भी दुःखरूप से भावना करने वाले प्राणी को वैराग्य
होगा इस लिये ऐसा तात्पर्य है ॥ १ ॥

“सुख तथा दुःख परस्पर भिन्न गुण हो, किन्तु वे दोनों ज्ञान से भिन्न न होंगे,

संशयनिर्णयान्तराभावश्च ज्ञानान्तरत्वे हेतुः ॥ २ ॥

सुखदुःखयोर्ज्ञानान्तरत्वे ज्ञानभिन्नत्वे संशयनिर्णयान्तरत्वाभावो हेतुर्लिङ्गमित्यर्थः । तदयमर्थः—सुखं दुःखं वा ज्ञानं भवत् संशयरूपं वा स्यात् निर्णयरूपं वा ? नायं कोटिद्वयानुल्लेखितत्वात् । न द्वितीय एककोट्यनुल्लेखितत्वात् । तथा च यावद्विशेषवाधात् सामान्यबाधः । द्वावेव हि ज्ञानस्य विशेषौ संशयत्वं निर्णयस्यञ्च, सदुभयञ्च सुखे दुःखे च बाधितमिति ज्ञानत्वमपि तत्र बाधितम् । अकारादनुभावबाधं समुच्चिनोति । सुखदुःखयोरहं सुखी दुःखीति मानसोऽनुभवो न त्वहं जाने सन्देहि निश्चिनोमोत्याकारोऽनुभव इति ॥ २ ॥

भेदकान्तरमाह—

तयोनिष्पत्तिं प्रत्यक्षलैङ्गिकाभ्याम् ॥ ३ ॥

जसे स्मृति और अनुभव ज्ञान से भिन्न नहीं हैं" ऐसी शका का उत्तर सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थः—संशयनिर्णयान्तराभावः च=संशय तथा निर्णय में कोई न होना भी, ज्ञानान्तरत्वे = ज्ञान से भी भिन्न होने में, हेतु = कारण है ॥ २ ॥

भावार्थः—सुख तथा दुःख न संशयरूप ज्ञान हो सकती है न निर्णयरूप इस कारण ज्ञान से सुख तथा दुःख भिन्न हैं ॥ २ ॥

उपस्कारः—सुख तथा दुःख गुण के ज्ञानान्तर अर्थात् ज्ञान से भिन्न होने में संशय तथा निर्णय के अन्तर्गत न होना हेतु नाम साधक लिङ्ग है ।

अतः यह अर्थ निकलता है कि सुख अथवा दुःख गुण यदि ज्ञान हो तो वह सशयरूप ज्ञान होगा या निश्चयरूप ज्ञान । उनमें से सशयज्ञान के समान सुख तथा दुःख में दो विषय कोटियों का उल्लेख न होने से प्रथम सशयपक्ष नहीं हो सकता तथा एक कोटि का उल्लेख न होने से निर्णयरूप द्वितीय पक्ष भी नहीं हो सकता । ऐसा होने से ज्ञान के संशयादि रूप विशेषों के बाध से सामान्यरूप से सुख दुःख ज्ञान नहीं है । ऐसा बाध सिद्ध होता है । क्योंकि ज्ञान के संशय तथा निश्चय ऐसे दो ही विशेष हैं, वह दोनों उक्त प्रकार से बाधित होने के कारण सामान्यरूप से ज्ञानना भी सुख तथा दुःख में ही बाधित है । सूत्र में अकार से अनुभव के बाध का सप्रह होता है । सुख तथा दुःख का मैं सुखी हूँ मैं दुःखी हूँ, ऐसा अनुभव होता है, न कि मैं जानता हूँ, मैं सन्देह करता हूँ, मैं निश्चय करता हूँ, ऐसा अनुभव होता है । इति इस प्रकार सुख तथा दुःख ज्ञान से भिन्न हैं यह सिद्ध है ॥ २ ॥

सुख तथा दुःख के ज्ञान से भिन्न होने में दूसरा हेतु देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थः—तयो = उन संशय तथा निर्णय दोनों की, निष्पत्ति = उत्पत्ति होती है, प्रत्यक्षलैङ्गिकाभ्याम् = प्रत्यक्ष तथा अनुमान से ॥ ३ ॥

तयोः संशयनिर्णययोर्निष्पत्तिरुत्पत्तिः प्रत्यक्षाल्लिङ्गाच्च सुखं दुःखं वा न प्रत्यक्षसामग्रोजन्यं न वा लिङ्गजन्यम् । चतुर्विधं हि सुखं—वैषयिकं मानोरथिकम् आभिमानीकमाभ्यासिकञ्च । तत्र त्रयाणामिन्द्रियसन्निकर्षप्रभवत्वं नास्त्येव । प्रथममिन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वात् ज्ञानं स्यादिति चेन्न सामग्र्येकदेशस्य कार्यस्य साजात्यानापादकत्वात् अन्यथा दिक्कालसाधारण्येन सकलकार्यैकजात्यापत्तेः । किञ्च इन्द्रियार्थसन्निकर्षादुत्पद्यमानं सुखं निर्विकल्पकं वा स्यात् सविकल्पकं वा ? नाद्यः अतीन्द्रियत्वप्रसङ्गात् । न द्वितीयः विशेष्यविशेषणभावो द्वयोरनाकलनरूपत्वात् । किञ्च मुखदुःखयोरवश्यसंबन्धत्वात् ज्ञानस्यावश्यसंबन्धत्वेऽनवस्थाप्रसङ्गात् । लैङ्गिकमिति लिङ्गमेव वैषयिकवत् ।

वृत्तिकृतस्तु तयोर्ज्ञानसुखयोर्निष्पत्तिः प्रत्यक्षलैङ्गिकाभ्यां प्रत्यक्षलैङ्गिकज्ञान-

भाषार्थ—संशय तथा निर्णय इन दोनों ज्ञानों की प्रत्यक्ष तथा अनुमान से उत्पत्ति होती है, सुख या दुःख की न प्रत्यक्ष की सामग्री से न हेतु से उत्पत्ति होती है, परंतु सुख तथा दुःखज्ञान में अन्तर्भाव नहीं हो सकता ॥ ३ ॥

उपस्कार—उन संशय तथा निर्णय दोनों की प्रत्यक्ष सामग्री तथा व्याप्ति-विशिष्ट लिङ्ग से उत्पत्ति होती है, सुख अथवा दुःख न प्रत्यक्ष की सामग्री से उत्पन्न होता है अथवा न व्याप्तिविशिष्ट लिङ्ग से उत्पन्न होता है । १. वैषयिक (विषय से होनेवाला), २ मानोरथिक (केवल मन से होनेवाला), ३ आभिमानीक (केवल अहंकार से होनेवाला), तथा ४. आभ्यासिक (अभ्यास में उत्पन्न) ऐसे चार प्रकार का सुख संसार में होता है । उनमें मानोरथिक का द्वितीय सुख तो इन्द्रिय सन्निकर्ष से उत्पन्न हो ही नहीं सकते । “प्रथम वैषयिक सुख तो इन्द्रिय तथा पदार्थ विषयो के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने के कारण प्रत्यक्ष ज्ञान हो जायगा” इस वांका का शक-मित्र उत्तर देते हैं कि ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि सामग्री का एकदेश कार्य में समान जातीयता नहीं ला सकता । ऐसा नहीं तो दिशा तथा काल के साधारण होने से संपूर्ण जगत के कार्य एक ही जाति के हो जायेंगे और पूर्वपक्षी यह वतावे कि इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होनेवाला सुख निर्विकल्पक प्रत्यक्ष हीगा अथवा सविकल्पक प्रत्यक्ष । सुख में अतीन्द्रिय हो जाने की आपत्ति जाने के कारण प्रथम (निर्विकल्पक) पक्ष नहीं हो सकता तथा सुख एवं दुःख दोनों के विशेष्य-विशेषणभावस्वरूप से ज्ञान न होने के कारण सविकल्पक प्रत्यक्ष में भी सुख तथा दुःख का अन्तर्भाव नहीं हो सकता और सुख तथा दुःख दोनों के ज्ञान से अवश्य जानने योग्य होने के कारण ज्ञान की अवश्य जानने की योग्यता मानने से अनवस्था दोष आ जायगा । सूत्र में (लैङ्गिक) इस पद में स्वार्थ में प्रत्यक्ष होने से उसका ‘लिङ्ग’ ही अर्थ है जैसे स्वार्थ में, ‘वैषयिक’ पद होता है । तयोः=उन दोनों ज्ञान-

व्याख्यानाभ्यां व्याख्याता । प्रत्यक्षं ज्ञानमिन्द्रियजनम्, लेङ्गिकन्तु लिङ्गजनम्, सुखादिकन्तु नैतादृशमिति व्याचक्षुः ॥ ३ ॥

लेङ्गिकज्ञानात् सुखादेः प्रकारभेदाधीनं भेदमात्र—

अभूदित्यपि ॥ ४ ॥

इतिशब्दः प्रकारे । अपिशब्दो भविष्यतीत्याकारान्तरसमुच्चये । तथा च पर्वते बहिरभूद्विष्यति चेति लेङ्गिके ज्ञानेऽतीतादि प्रकारो दृश्यते, न चैवं प्रकारं सुखं दुःखं धोत्पद्यमानमुपलब्धम् ॥ ४ ॥

भेदकान्तर समुच्चिनोति—

सति च कार्यदिशनात् ॥ ५ ॥

सति इन्द्रियार्थसन्निकर्षे सति च व्याप्तिपक्षधर्मसादिप्रतिसन्धाने कार्यस्य सुखस्य दुःखस्य धाऽदर्शनात् न प्रत्यक्षमात्रं सुखं दुःखं धा, न लेङ्गिकमात्रं

मुख्यो = ज्ञान तथा सुख की उत्पत्ति 'प्रत्यक्षलेङ्गिकान्धा' = प्रत्यक्षज्ञान तथा लेङ्गिक-ज्ञान की व्याख्याओं से व्याख्यात हुई । इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष होता है और किङ्क से उत्पन्न ज्ञान लेङ्गिक कहाता है । सुख-दुःख आदि ऐसे नहीं होते, ऐसी वृत्तिकार ने इस सूत्र की व्याख्या की है ॥ ३ ॥

लेङ्गिकज्ञान से प्रकार के अधीन सुखादिकों का भेद सूत्रकार कहने हैं—

पदपदार्थ—अभूत् हुआ था, इति अपि=ऐसा भी ॥ ४ ॥

भाषार्थ—लेङ्गिकज्ञान में भूत, भविष्य इत्यादि व्यवहार होने से, सुख तथा दुःखगुण में वक्त व्यवहार न होने के कारण भी सुखादि लेङ्गिकज्ञान नहीं हो सकता ॥ ४ ॥

उपस्कार—सूत्र में इति शब्द का अर्थ है प्रकार । और अपि शब्द 'भविष्यति' होगा, इत्यादि दूसरे प्रकारों को कहना है । ऐसा होने से पर्वत में बह्नि था या होगा इस प्रकार लेङ्गिकज्ञान में प्रकार देखा जाता है, किन्तु उत्पन्न होनेवाला सुख अथवा दुःख इस प्रकार के व्यवहारवाला उपलब्ध (गृहीत) नहीं होता ॥ ४ ॥

दूसरे भेदसाधकहेतु का सूत्रकार सप्रह करते हैं—

पदपदार्थ—सति च = और इन्द्रिय तथा अर्थ का सन्निकर्ष रहते, कार्यदिशनात्-सुख अथवा दुःखरूप कार्य देखनेमें नहीं आता ॥ ५ ॥

भाषार्थ—इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष तथा व्याप्तिविशिष्ट हेतु हैं रहने पर भी सुख दुःख आदि कार्य देखने में नहीं आते, अतः सुख तथा दुःख केवल प्रत्यक्षरूप अथवा लेङ्गिक (अनुमान) रूप नहीं हो सकते । इससे यह अर्थ निकलता है कि—सुख तथा दुःख सामान्यज्ञानरूप नहीं हो सकते । ऐसा तृतीय सूत्र में कह चुके हैं ।

वा । तदयमर्थः—ज्ञानसामान्यं तावत् सुखदुःखे न भवत इत्युक्तम् । ज्ञानविशेषः प्रत्यक्षज्ञानं वा भवेदनुमितिरूपं वा ? इन्द्रियार्थसन्निकर्षे सकचन्दनादिप्रत्यक्षे सुखत्वानुभवाभावात् । न द्वितीयः, चन्दनाद्यनुमितौ बन्धाद्यनुमितौ वा सुखत्वदुःखयोरननुभवान्न वह्निलेपोऽपीति ॥ ५ ॥

भेदवान्तरमाह—

एकार्थसमवायिकारणान्तरेषु दृष्टत्वात् ॥ ६ ॥

सुखदुःखयोरिति शेष । सुखं प्रति एकार्थसमवेतानि असाधारणकारणानि धर्मः सुखे रागः सुखकारणेच्छा तदुपादानयत्नः स्तब्धचन्दनादिज्ञानम् । दुःखं प्रति तु—अधर्मः अनिष्टकण्टकादिज्ञानम्, एषु एकार्थसमवायिषु कारणेषु दृष्टत्वाव-
त्यर्थः । ज्ञानानुनिर्विकल्पकमेकार्थसमवेतमसाधारणकारणं नापेक्षत एव । सवि-
बलपञ्चत्वपेक्षते विशेषणज्ञानं तच्च कारणान्तरं स्वयिजातीयकारणं न भवति,
मनःसंयोगस्तु साधारणत्वादविवक्षितः । यद्यपि स्मृतिः संस्कारमसाधारणमपे-

यदि सुखदुःख ज्ञानविशेष रूप होंगे तो क्या वे प्रत्यक्षज्ञानरूप होंगे, अथवा अनुमितिरूप । इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष एवं माला, चन्दन आदि के प्रत्यक्षज्ञान सुखस्वरूपता का अनुभव नहीं होता इन कारण प्रथम पक्ष नहीं हो सकता । तथा चन्दन आदि की अनुमिति अथवा वह्नि आदि की अनुमिति में सुखरूपता तथा दुःखरूपता इन दोनों में एक किसी का अनुभव भी नहीं होता । अतः द्वितीय पक्ष भी नहीं हो सकता । इन प्रकार प्रत्यक्ष अथवा अनुमिति के विशेषों में सुख तथा दुःखरूपता का अनुभव न होने के कारण सुख तथा दुःख प्रत्यक्ष तथा अनुमिति-
रूप ज्ञान के विशेष भी नहीं हो सकते ॥ ५ ॥

और दूसरा भेदसाधक हेतु सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—एकार्थसमवायिकारणान्तरेषु—सुख तथा दुःख के दूसरे असा-
धारण कारणों में, दृष्टत्वात्=दिखाई पड़ने से ॥ ६ ॥

भावार्थ—तथा सुख और दुःख के अपने अपने दूसरे विशेष कारणों में देखाने से भी सुख तथा दुःख का ज्ञान से भेद है ॥ ६ ॥

उपस्कार—सूत्र में आकाशिन 'सुखदुःखयो' इस पद का शेष पूर्ण करना । सुख-
गुण के एकार्थसमवेत अर्थात् असाधारण कारण ये हैं जैसे सुख के धर्म, सुख के कारण
की इच्छा, उसके ग्रहण का प्रयत्न, तथा चन्दन आदि विषयों का ज्ञान । दुःखगुण
में तो अधर्म, अश्रिय वाटे आदि का ज्ञान, इन एकार्थसमवायि (असाधारण)
कारणों में दिखाई पड़ने से यह सूत्र का अर्थ है । निर्विकल्पक प्रत्यक्षज्ञान तो मात्र अर्थ
में समवेत असाधारण कारण की अपेक्षा नहीं ही करता । सविकल्पक प्रत्यक्षज्ञान
तो विशेषणज्ञान की अपेक्षा रखता ही है, किन्तु वह दूसरा कारण अपने से विच्छेद

व्याख्यानाभ्यां व्याख्याता । प्रत्यक्ष ज्ञानमिन्द्रियजनम्, लैङ्गिकन्तु लिङ्गजनम्, सुखादिकन्तु नैतादृशमिति व्याचकुः ॥ ३ ॥

लैङ्गिकज्ञानान् सुखादे प्रकरभेदाधीन भेदमाह—

अभूदित्यपि ॥ ४ ॥

इतिशब्द प्रकारे । अपिशब्दो भविष्यतोऽत्याकारान्तरसमुच्चये । तथा च पर्वते बहिरभूजविष्यति चेति लैङ्गिके ज्ञानेऽस्तीति । प्रकारो दृश्यते, न चैवंप्रकारं सुखं दुःखं योत्पद्यमानमुपलब्धम् ॥ ४ ॥

भेदकान्तरं समुच्चिनोति—

सति च कार्यादर्शनात् ॥ ५ ॥

सति इन्द्रियार्थसन्निकर्षे सति च व्याप्तिपक्षधर्मतादिप्रतिसन्धाने कार्यास्य सुखस्य दुःखस्य वाऽदर्शनात् न प्रत्यक्षमात्रं सुखं दुःखं वा, न लैङ्गिकमात्रं

सुखयो = ज्ञान तथा सुख की उत्पत्ति 'प्रत्यक्षलैङ्गिकाम्बा = प्रत्यक्षज्ञान तथा लैङ्गिक-ज्ञान की व्याख्याओं से व्याख्यात हुई । इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष होता है और लिङ्ग से उत्पन्न ज्ञान लैङ्गिक कहाता है । सुख-दुःख आदि ऐसे नहीं होने, ऐसी वृत्तिकार ने इस सूत्र की व्याख्या की है ॥ ३ ॥

लैङ्गिकज्ञान से प्रकार के अधीन सुखादिको का भेद सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अभूत् हुआ था, इति अपि=ऐसा भी ॥ ४ ॥

भावार्थ—लैङ्गिकज्ञान से भूत, भविष्य इत्यादि व्यवहार होने से, सुख तथा दुःखगुण में उक्त व्यवहार न होने के कारण भी सुखादि लैङ्गिकज्ञान नहीं हो सकता ॥ ४ ॥

उपस्कार—सुत्र में इति शब्द का अर्थ है प्रकार । और अपि शब्द 'भविष्यति' होगा, इत्यादि हमारे प्रकारों को कहना है । ऐसा होने से पर्वत में बह्लि या या होगा इन प्रकार लैङ्गिकज्ञान में प्रकार देखा जाता है, किन्तु उत्पन्न होनेवाला सुख अथवा दुःख इस प्रकार के व्यवहारवाला उपलब्ध (बहीत) नहीं होता ॥ ४ ॥

हमारे भेदसाधकहेतु का सूत्रकार समझ करते हैं—

पदपदार्थ—सति च = और इन्द्रिय तथा अर्थ का सन्निकर्ष रहते, कार्यादर्शनात्-सुख अथवा दुःखरूप कार्य देखनेमें नहीं आता ॥ ५ ॥

भावार्थ—इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष तथा व्याप्तिविशिष्ट हेतु के रहने पर भी सुख दुःख आदि कार्य देखने में नहीं आते, अतः सुख तथा दुःख केवल प्रत्यक्षरूप अथवा लैङ्गिक (अनुमान) रूप नहीं हो सकते । इससे यह अर्थ निकलता है कि—सुख तथा दुःख सामान्यज्ञानरूप नहीं हो सकते । ऐसा तृतीय सूत्र में कह चुके हैं ।

वा । तदयमर्थः—ज्ञानसामान्यं वावत् सुखदुःखे न भवत इत्युक्तम् । ज्ञानविशेषः प्रत्यक्षज्ञानं वा भवेदनुमितिरूप वा ? इन्द्रियार्थसन्निकर्षे स्वकचन्दनादिप्रत्यक्षे सुखत्वानुभवाभावात् । न द्वितीयः, चन्दनाद्यनुमितौ चन्दनाद्यनुमितौ वा सुखत्वदुःखयोरननुभवान्न तद्विशेषोऽप्योति ॥ ५ ॥

भेदकान्तरमाह—

एकार्थसमवायिकारणान्तरेषु दृष्टत्वात् ॥ ६ ॥

सुखदुःखयोरिति शेषः । सुखं प्रति एकार्थसमवेतानि असाधारणकारणानि-धर्मः सुखे रागः सुखप्रारणेच्छा तदुपादानयत्नः स्वकचन्दनादिज्ञानम् । दुःखं प्रति तु—अधर्मः अनिष्टकण्टकादिज्ञानम्, एषु एकार्थसमवायिषु कारणेषु दृष्टत्वादि-त्यर्थः । ज्ञानान्तु निर्विकल्पकमेकार्थसमवेतमसाधारणकारणं नापेक्षत एव । सविकल्पकत्वपेक्षेते विशेषणज्ञानं तत्तु कारणान्तरं स्वयिजातीयकारणं न भवति, मनःसंयोगस्तु साधारणत्वाद्विषयवृत्तिः । यद्यपि स्मृतिः संस्कारमसाधारणमपे-

यदि सुखदुःख ज्ञानविशेष रूप होने तो क्या वे प्रत्यक्षज्ञानरूप होंगे, अथवा अनुमिति-रूप । इन्द्रिय तथा अर्थ के मन्तिकर्षे एव भावा, चन्दन आदि के प्रत्यक्षज्ञान सुखस्वरूपता का अनुभव नहीं होता इन कारण प्रथम पक्ष नहीं हो सकता । तथा चन्दन आदि की अनुमिति अथवा यत्नि आदि की अनुमिति में सुखरूपता तथा दुःखरूपता इन दोनों में एक किसी का अनुभव भी नहीं होता । अतः द्वितीय पक्ष भी नहीं हो सकता । इस प्रकार प्रत्यक्ष अथवा अनुमिति के विशेषों में सुख तथा दुःखरूपता का अनुभव न होने के कारण सुख तथा दुःख प्रत्यक्ष तथा अनुमिति-रूप ज्ञान के विशेष भी नहीं हो सकते ॥ ५ ॥

और दूसरा भेदसाधक हेतु सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—एकार्थसमवायिकारणान्तरेषु—सुख तथा दुःख के दूसरे असाधारण कारणों में, दृष्टत्वात्—दिखाई पड़ने से ॥ ६ ॥

भाष्यार्थ—तथा सुख और दुःख के अपने अपने दूसरे विशेष कारणों में देखाने से भी सुख तथा दुःख का ज्ञान से भेद है ॥ ६ ॥

सपत्कार—सूत्र में आकाशित 'सुखदुःखयो' इस पद का शेष पूर्ण करना । सुख-गुण के एकार्थसमवेत अर्थात् असाधारण कारण में हैं जैसे मूल में धर्म, सुख के कारण की इच्छा, समके ग्रहण का प्रयत्न, तथा चन्दन आदि विषयों का ज्ञान । दुःखगुण में तो अधर्म, अनिष्ट काटे आदि का ज्ञान, इन एकार्थसमवायि (असाधारण) कारणों में दिखाई पड़ने से यह सूत्र का अर्थ है । निर्विकल्पक प्रत्यक्षज्ञान तो सब अर्थ में समवेत असाधारण कारण की अपेक्षा नहीं ही करता । सविकल्पक प्रत्यक्षज्ञान तो विशेषणज्ञान की अपेक्षा रखता ही है, किन्तु वह दूसरा कारण अपने से विच्छेद

क्षते तथापि तद्भेदः स्फुटसिद्ध एवेत्यनुभवमादाय भेदचिन्तनात् । छैद्विके यद्यपि व्याप्तिस्मृतिपक्षधर्मादिज्ञानापेक्षा तथाप्यन्तरक्षन्देनैव तद्व्युदासः । तदयं प्रमाणार्थ—सुखदुःखे अनुभवभिन्ने स्वसमानाधिकरणस्वजातीयासाधारणस्मरणजन्यत्वात् स्मृतिवदायशब्दवच्च ॥ ६ ॥

ननु यदि कारणभेदाधीनो ज्ञानात् सुखदुःखयोः सुखाच्च दुःखस्य स्तम्भ-कुम्भादिवदेव परस्पर भेदः, तदा शरीरस्य तदवयवानाञ्च शिरःपादपृष्ठोदरादीनां न परस्पर भेदः स्यात्, तत्र हि परमाणुद्वयणुकादीनां लोहितरेतसोर्वा कारणानामविशेषादित्यत आह—

एकदेशे इत्येकस्मिन् शिरः पृष्ठमुदर मर्माणि तद्विशेषेभ्यः ॥ ७ ॥

जाति का कारण नहीं होता, मन का मयोग तो साधारण कारण होने से विवक्षित (कठमे की इच्छा का विषय) नहीं है यद्यपि स्मरणरूप ज्ञान साधारण सत्काररूप कारण की अपेक्षा रखता है, तथापि उस स्मरण से सुख-दुःख आदि का भेद है यह स्पष्ट ही ज्ञात है । इसी कारण प्रत्यक्षादि अनुभवरूप ज्ञान को लेकर सुख तथा दुःखज्ञान से भेद का विचार इस प्रकार किया गया है । लैङ्गिकज्ञान में व्याप्तिस्मरण, पक्षधर्मतादि ज्ञान की अपेक्षा होती है, तथापि अन्तर शब्द से उसकी व्युदास (निवृत्ति) हो जाती है । इस कारण यह प्रमाणभूत अर्थ महा सिद्ध होता है, अर्थात् सुख तथा दुःख, अनुभव से भिन्न है, अपने आश्रय में वर्तमान तथा अपने जाति के विशेष कारण से उत्पन्न होने के कारण, स्मरण तथा आदि शब्द के समान—इस अनुमान से सुख-दुःख का अनुभवरूप ज्ञान से भेद सिद्ध होता है ॥ ६ ॥

“यदि ज्ञान से सुख तथा दुःख का कारण के भेद के अधीन भेद हो तथा सुख से भी दुःख का 'स्तम्भ (सभा) कुम्भ (कवच) इन दोनों के भेद के समान परस्पर में भेद हो तो, शरीर तथा उसके शिर (शिरः पाद पैर) पृष्ठ (पीठ) आदि अवयवों का भी परस्पर में भेद न होना, क्योंकि उनमें परमाणु द्वयणुक आदि अवयव लोहित (रक्त) रेत (वीर्य) रूप कारणों में विशेष नहीं हैं” इस शंका के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—एकदेशे=अवयव में, इति=ऐसा, एकस्मिन्=एक (शरीर) में, शिर=सिर है, पृष्ठ=पीठ है, उदर=पेट है, मर्माणि=हृदयादि मर्मस्थान हैं, तद्विशेष=इनकी विजातीयता, तद्विशेषेभ्यः=उनके कारणों की विजातीयता से होती है ॥ ७ ॥

भावार्थ—एक ही अवयवरूप शरीर में यह शिर रूप एकदेश (अवयव) है, यह पृष्ठ है, यह उदर है, ये मर्मस्थान हैं ऐसा विशेष (विलक्षण) व्यवहार उनके अव-

एकदेश इति । अवयवे इत्यर्थः । एकस्मिन्निति शरीरे इत्यर्थः । शिर इत्येक-
देशः उदरं पुष्टं मर्माणि च स्नायुप्रमृतीनि तेषां विशेषो वैजात्यम्, तद्विशेषेभ्य
स्तत्कारणविशेषेभ्यः । तत्रावि कारणवैजात्यादेव वैजात्यम्, न हि यजातीयं
शिरःसमवायिकारणं तज्जानीयमेवोदरपुष्टादेरपि, तन्तुकपालादयुपादानवैजा-
त्यात् पटघटादौ वैजात्यवत् तत्रापि वैजात्यसम्भवात् । तन्तुकपालादेरपि अंशु-
शर्करादिवैजात्यात् । एवं तत्र तत्राप्यन्वेष्टव्यम् । परमाणना साधारण्येऽपि
स्वस्वोपादानवैजात्यस्य सर्वत्र वैजात्यप्रयोजकत्वात् । द्रव्यत्वेन नृपादानसावात्यं
न वैजात्यप्रयोजकमिति दिक् ॥ ७ ॥

इति श्रीशाङ्करे वैशेषिकसूत्रोपस्कारे दशमाध्यायस्य प्रथममाह्निकम् ॥

यवादि रूप कारणो के विशेष (विलक्षणता) से होता है । अतः शिर आदि अवयव
तथा शरीर अवयवों का परस्पर में भेद हो सकता है ॥ ७ ॥

उपस्कार—सूत्र के एकदेश शब्द का अर्थ है अवयव । एकस्मिन् इस पद का
अर्थ है शरीररूप अवयव । शिर यह एकदेश (अवयव) है तथा उदर, पुष्ट तथा
स्नायु (चरबी) आदि मर्मस्थान, इनके विजातीयतारूपविशेष, उनके कारणों के
विशेषों से होता है । वहा भी कारणों की विजातीयता से ही विजातीयता है, क्योंकि
शिर को समवायिकारण जिन जानि का है उमी जाति का उदर, पुष्ट इत्यादि अव-
यवों का कारण नहीं है, कारण यह कि तन्तु, कपाल आदि समवायी कारणों के विजा-
तीय होने से पट, घटा आदि कारणों ने विजातीयता वहा भी विजातीयता हो सकती है,
तथा तन्तु, कपाल इत्यादि की विजातीयता उनके अणु तथा (शर्कर) कपाल
के टुकड़ों की विजातीयता से होती है । इसी प्रकार उनके उनके भी विजातीयता में
उनके अवयवों की विजातीयता कारण है यह जान लेना । परमाणुओं के साधारण
होने पर भी अपने-अपने कार्य के समवायिकारणों की विजातीयता अपने-अपने
कार्य के विजातीयता की प्रयोजक (कारण) हो सकती है । द्रव्यत्व सामान्यरूप
से समवायिकारणों की समानजानीयता कार्य में विजातीयता की प्रयोजक नहीं
ऐसी दिक् (उक्त कथन) की रीति है ॥ ७ ॥

इम प्रकार वैशेषिकसूत्रोपस्कारे दशमाध्याय में प्रथममाह्निकम्

प्रथमाह्निक समाप्त हुआ ।



दशमाध्याये द्वितीयाह्निकम्

इदानीं यसङ्गतश्रवणां कारणानां विशेषविवेचनमारभते—

कारणमिति द्रव्ये कार्यसमवायात् ॥ १ ॥

कारण समवायिकारणमिदमिति—प्रतीतिप्रयोगौ द्रव्ये द्रष्टव्यौ । कुत एवमत आह—कार्यसमवायात् । कार्याणि द्रव्यगुणरूपाणि तत्रैव समवेयन्ति यतः ॥१॥

तन् किं समवायिकारणत्वमात्रं द्रव्याणामत आह—

सयोगाद्धा ॥ २ ॥

साप्रत प्रमगस्यति से सामान्यरूप से कारणों वा विशेषरूप से विवेचन (वर्णन) सूत्रकार आरम्भ करते हैं—

पदपदार्थ—कारण = समवायिकारण है, इति = इस प्रकार (व्यवहार होता है), द्रव्ये = द्रव्यपदार्थ में, कार्यसमवायात् = द्रव्य गुण आदि कार्यों में समवाय सम्बन्ध होने में ॥ १ ॥

भावार्थ—द्रव्य, गुण तथा कर्मरूप कार्यों के द्रव्यपदार्थ में समवायसम्बन्ध से रहने के कारण (यह) द्रव्य समवायिकारण है ऐसी प्रतीति तथा शब्द का प्रयोग होता है इनसे द्रव्य कार्यमात्र में समवायिकारण होने हैं यह सिद्ध होता है ॥ १ ॥

उपस्कार—सूत्र के कारण शब्द से यह समवायिकारण है ऐसी प्रतीति तथा शब्द का प्रयोग देखने में आता है । (अर्थात् अन्यथामिद्वि से शून्य होते हुए जो कार्यों के नियम से पूर्व में रहता है उसे सामान्यरूप से कारण कहते हैं ।) वह समवायि, असमवायि तथा निमित्तकारणरूप से तीन प्रकार है । उनमें से समवाय-सम्बन्ध से पटादि कार्यों को उन तन्तुआदि पटादिकों का समवायिकारण होता है, अर्थात् समवाय सम्बन्ध से कार्य का आधार होना सामान्यरूप से समवायिकारण कहाना है वह द्रव्य ही होते हैं दूसरे नहीं । ऐसा क्यों ? इस प्रश्न का उत्तर में सूत्रकार ने 'कार्यसमवायात्' ऐसा हेतु दिया है जिसका द्रव्य, गुण तथा कर्मरूप कार्यों (द्रव्यों) में ही समवायसम्बन्ध से रहते हैं जिन कारण ऐसा अर्थ है ॥ १ ॥

तो क्या द्रव्य केवल समवायिकारण ही होते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—सयोगात् वा = अथवा मयोग के द्वारा (द्रव्य निमित्तकारण) भी होते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—पटकार्य की उत्पत्ति में जैसे तन्तु समवायिकारण होते हैं, वैसे तुरी तन्तुमयोग के पट में कारण होने से उसके द्वारा तुरी तथा तन्तु पट में निमित्तकारण भी होते हैं ॥ २ ॥

पटोत्पत्तौ तन्तूनां समवायिकारणत्ववत् निमित्तकारणत्वमपि तुरीतन्तुसं-
योगस्यापि पटकारणत्वात्, वत्संयोगद्वारा सूर्यास्तन्तोश्च पटनिमित्तकारणत्व-
मपि । वाकार' समुच्चये । तुरीतन्तुसंयोगं प्रति तन्तोः समवायिकारणत्वेऽपि
पटं प्रति तदुद्घाता निमित्तकारणत्वात् ॥ २ ॥

कर्मणि यादृशकारणत्वं तदाह—

कारणे समवायात् कर्मणि ॥ ३ ॥

असमवायिकारणानोति शेषः । असमवायिकारणत्वञ्च कार्यकारणभावस-
म्बन्धेकार्यसमवेतकारणत्वम् । तच्च कार्यकार्यसमवायात् कारणकार्यसमवा-
याद्वा । तथाचा लघ्वो द्वितीया महतीति वैशेषिकपरिभाषा । तत्र कया प्रत्यास-
र्या संयोगविभागसंस्कारान् प्रति कर्मणामसमवायिकारणत्वमन्यत आह-का-

उपस्कार—पट की उत्पत्ति में तन्तुओं में समवायिकारणता के समान निमित्त
कारणता भी है, क्योंकि तुरी तथा तन्तुओं के संयोग की भी पट में कारणता होने
से उस संयोग के द्वारा तुरी तथा तन्तु पट-कार्य के निमित्त कारण भी होते हैं ।
सूत्र में 'वा' शब्द सप्रहार्यक है, जिससे तुरी तथा तन्तुओं के संयोग में तन्तु में सम-
वायिकारणता होने पर भी पट में उसके द्वारा निमित्तकारण होने से (उसका भी
संग्रह होना है) ॥ २ ॥

कर्मपदार्थ जैसे कारण होते हैं यह सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—कारणे = संयोगादि समवायिकारण में, समवायात् = समवेत होने
से, कर्मणि = कर्मपदार्थ (असमवायिकारण होते हैं) ॥ ३ ॥

भावार्थ—संयोग विभाग आदि कार्यों में, उनके समवायिकारण में समवेत
होने के कारण कर्मपदार्थ असमवायिकारण होते हैं ॥ ३ ॥

उपस्कार—सूत्र में आकाशित 'असमवायिकारणानि' ऐसा दोष पद पूरण करना ।
कार्यकारणभावसम्बन्ध के सम्बन्धी एक अर्थ में सगवायसम्बन्ध से वर्तमान
कारण को असमवायिकारण कहते हैं । अर्थात् समवाय तथा स्वसमवायिसमवे-
तत्व इन दोनों में से किसी एक सम्बन्ध से समवायिकारण में वसतिहित होनेवाले
कारण को असमवायिकारण कहते हैं । उसमें संयोग आदि कार्यों के असमवायि-
कारण कर्मपदार्थ में समवायसम्बन्ध से उनके समवायिकारण में प्रत्यासन्न होने से
असमवायिकारणता का व्यवहार होता है यह आशय यहाँ जानना चाहिये ।
आगे शकविभ्र कहते हैं कि वह असमवायिकारणता कार्यों के साथ एक अर्थ में
समवेत होने से, अथवा कार्यों के समवायिकारण के साथ एक अर्थ में समवेत होने से
दो प्रकार की होती है । इन दोनों में से प्रथम असमवायिकारणता की 'लघ्वी'
लघु तथा द्वितीय की 'महती' (बड़ी) ऐसी वैशेषिकों की परिभाषा (साकेतिक
नाम) है । इन दोनों में से किसे सन्निकर्ष से संयोग, विभाग तथा संस्काररूप

एवं समवायिनिरूपितां कारणता निरूप्य निमित्तकारणता निरूपयितुं प्रकरणान्तरमारभते—

सयुक्तसमवायादग्नेर्वैशेषिकम् ॥ ७ ॥

अग्नेर्वैशेषिक विशेषगुणमौष्ण्य सयुक्तसमवायात् पाकजेषु निमित्तकारणम् । उपलक्षणञ्चैतत् ज्ञानं प्रति सर्वेषां निमित्तकारणत्वं, बुद्धिसुखदुःखेच्छा-द्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावनानां निमित्तकारणत्वमेव । सुखादीनां भेदप्रतिपादनाय प्रपञ्चोऽयं द्रष्टव्यः ॥ ७ ॥

इदानीमात्मनायप्रामाण्यं दृढयितुमुक्तमेवार्थमाह—

दृष्टानां दृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोगोऽभ्युदयाय ॥ ८ ॥

होने हैं महत् परिमाण से परम्परारूप गुरुसम्बन्ध से असमवायिकारण होता है ॥ ६ ॥

उपस्कार—तूलपिण्ड (घने रई के गोलेरूप अवयव) में वर्तमान प्रचय नामक संयोग, तूल के अवयवीरूप पिण्ड में महत् परिमाण को उत्पन्न करता है उसमें भावार्थ के प्रदर्शितरूप से कारणकार्यसमवायरूप सन्निकर्ष है यह सूत्र का अर्थ है ॥ ६ ॥

इस प्रकार समवायिता से (समवायसम्बन्ध से वर्तमानता) निरूपण की गई कारणता का निरूपण कर, निमित्तकारणता का वर्णन सूत्रकार करते हैं—

पदपदार्थ—संयुक्तसमवायात्=संयुक्त में समवायसम्बन्ध होने से, अग्ने = अग्नि का, वैशेषिक = विशेषगुण, (निमित्त कारण होता है) ॥ ७ ॥

भावार्थ—अग्नि का उष्णत्वरूप विशेष गुण पाकज रूपादि गुणों में निमित्त-कारण होता है ॥ ७ ॥

उपस्कार—अग्नि का वैशेषिक अर्थात् उष्णत्वरूप विशेष गुण सयुक्तसमवाय सम्बन्ध से पाक से घटादिकों में उत्पन्न होनेवाले रूपादि कार्यों में निमित्त कारण होते हैं । यह सूत्रकार का कहना ज्ञानगुण में संपूर्ण निमित्तकारण होते हैं अर्थात् ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा भावना ये इतने गुण निमित्त-कारण ही होते हैं । यह सब बिस्तार सूत्रकार ने सुखादि गुणों के भेद दिखाने के लिये किया है यह यहाँ आनना चाहिये ॥ ७ ॥

मात्रत आत्मनाय (वेद) में पूर्व उक्त प्रामाण्य को दृढ करने के लिये सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—दृष्टानां = देखनेवाले, दृष्टप्रयोजनानां = सिद्धप्रयोजन (कार्य) वाले (कर्मों का), दृष्टाभावे = पुरुष दोष न दिखाने से, प्रयोग = अनुष्ठान, अभ्युदयाय = अदृष्ट के उत्पत्ति के लिये (होता है) ॥ ८ ॥

भावार्थ—प्रत्यक्षादि प्रमाणों से दिखाई पड़ने वाले शाय, स्नान, तथा दान इत्यादि पुण्य क्रियाओं के (जिनका प्रयोजन (कार्य) वेदादि प्रमाणों में सिद्ध है) तत्काल

दृष्टानां-प्रमाणत उपलब्धानां कर्मणा यागदानस्नानादीनां, दृष्टप्रयोजना-
नां-दृष्टमुपदिष्टं प्रयोजनं येषां, तथाहि “स्वर्गकामो यजेत” “अग्निहोत्र जुहु-
यात् स्वर्गकाम” इत्यादी विधिसमभिव्याहृतमेव फलम्, क्वचिदार्थवादिक
यथा “य एता रात्रोरघोयीत तस्य पितरो, घृतकुल्या मधुकुल्या क्षरन्ति”
इत्यादी, क्वचिर्चाओपादानिकम् यथा “विश्वजिता यजेत” इत्यादी, अत्र हि
न विधिसमभिव्याहृतं नार्थवादोपस्थितमित्यौपादानिकं—काल्पनिकं स्वर्ग-
स्यैव स्वतःसुन्दरस्य फलस्य कल्पनीयत्वान्, तथा चाशुतरयिनाशिनामेतेषां
कर्मणां चिरमाविने फलाय कारणत्वमनुपपद्यमानमत एतेषां प्रयोगोऽनुष्ठानम-
भ्युदयायापूर्वायेत्यर्थः । ननु श्रुतिप्रामाण्ये सति स्यादेवं तदेष तु दुर्लभम्, न हि
सीमांसका नामिष नित्यनिर्दोषत्वेन श्रुतिप्रामाण्यं त्वयेष्यते, पीरुपेयत्वेनाभ्युप-

नष्ट हो जाने से विलम्ब से होनेवाले स्वर्गादि फल में कारण न होने की आपत्ति
के कारणार्थ मध्य में जो अदृष्ट माना जाता है वह उक्त कर्मों का अवान्तर फल
होता है ॥ ८ ॥

उपरकार—सूत्र के ‘दृष्टान्त’ इस शब्द का अर्थ है—प्रमाण से उपलब्ध
(दिखाई पड़नेवाले) याग, दान, स्नान आदि कर्मों के तथा दृष्टप्रयोजनाना
—जिनका प्रयोजन (कार्य) वेदादिओं में उपदिष्ट है, जैसे ‘स्वर्गकाम = स्वर्ग
की इच्छा करनेवाला, यजेत=याग करे’ “अग्निहोत्र=अग्निहोत्र नामक याग में,
जुहुयात्=हवन करे, स्वर्गकाम =स्वर्ग की इच्छा करनेवाला” इत्यादि विधिवार्यों
में प्रतिपादन किया हुआ स्वर्गादिफल है । कहीं-कहीं अर्थवाद (प्रशसा) वाक्य से
(फल सिद्ध होता है) जैसे ‘य=जो पुरुष, एता रात्री = इव रात्रियों में, अघोयीत=
वेदाध्ययन करे, तस्य=उक्त पुरुष के, पितर=माता पितादि पितृपण, घृतकुल्या =
घृत की नदिया, तथा मधुकुल्या=सहृद की नदियों को, क्षरन्ति=बहाते हैं”
इत्यादिकों में । नही-कहीं औपादानिक (समवायिकारण से होनेवाला फल होता है)
जैसे ‘विश्वजिता = विश्वजित् नामक याग से, यजेत=याग करे—इत्यादिकों में । इस
वाक्य में विधिवान्वय से वहाँ हुआ, तथा अर्थवाद से उपस्थित फल भी नहीं है
अतः वह औपादानिक है—अर्थात् काल्पनिक (श्रुति वरूपता से सिद्ध) है,
जो दुःख के न होने से स्वयं सुन्दर होने के कारण स्वर्ग ही मानने योग्य है, ऐसा
होने में आशु (शीघ्र) नष्ट होनेवाले इन यागादि कर्मों से विलम्ब से होनेवाले स्वर्ग-
रूप फल में पूर्ववन्नितारूप कारणता के असम्भव होने के कारण उक्त इन कर्मों
का अनुष्ठान (आचरण) अभ्युदय अर्थात् ‘अपूर्व’ अदृष्ट (धर्माधर्म) रूप मध्यवर्तिफल
को उत्पन्न करता है, यह सूत्र का अर्थ है । यदि वेद प्रमाण हो तो यह पूर्वोक्त सिद्ध हो
सकेगा, किन्तु यही वेद का प्राप्ताप्य ही तो सिद्ध होना दुर्लभ (कठिन) है, क्योंकि

गमात्, पुरुषस्य च भ्रमप्रमादविप्रलिप्सादिसम्भवादत् आह-दृष्टाभावे इति ।
दृष्ट पुरुषान्तरेऽसम्भवादी भ्रमप्रमादविप्रलिप्सादिकं पुरुषदूषणं तदभावे सती-
त्यर्थः । क्षितिकर्तृत्वेन वेदवक्तृत्वेन वाऽनुमितस्य पुरुषधौरेयस्य निर्दोषत्वेन-
वोपस्थिते । तथाच तद्वचसां न निरभिधेयता न विपरीताभिधेयता न नि-
ष्प्रयोजनाभिधेयता, भूतेन्द्रियमनसः क्षीपात् भ्रमप्रमादकरणपाटवादिप्रयुक्ता
एव वचसामविशुद्धयः सम्भाव्यन्ते । न चेश्वरवचसि तासां सम्भवः, तदुक्तम्
रागाशानादिभिर्वक्ता प्रस्तत्वादनृत वदेत् ।

ते चेश्वरे न विद्यन्ते स प्रयात् कथमन्यथा ॥ इति ॥ ८ ॥

ननु तेनेश्वरेण वेदः प्रगीत इत्यत्रैव विप्रतिपत्तिरत आह--

मीमांसको के समान आप (नैयायिक) नित्य दोषराहित्य के कारण वेद को प्रमाण
नहीं मानते हैं । किन्तु आप तो ईश्वररूप पुरुष से निर्मित होने से वेद को पौष्टेय
कहते हैं, और पुरुष को तो भ्रम विप्रलिप्सा (ठगना), प्रमाद आदि दोष हो सकते
हैं" ऐसी पूर्वपक्षी की शक्त के कारणार्थ सूत्रकार ने 'दृष्टाभावे' ऐसा हेतु अर्थ में
विशेषण दिया है । जिनका देखा गया है हमारे ईश्वर से भिन्न हमारे ऐसे जीवात्माओं
में भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा (ठगने की उच्छा), इन्द्रियों की असमर्थता इत्यादि
पुरुष दोषों का अभाव रहना ऐसा अर्थ होता है (अर्थात् मीमांसकमत के समान
न्यायमत में वेद स्वयं प्रमाण नहीं है, किन्तु ईश्वरोक्त होने से ऐसा महा वैशेषिकों
का आशय है ।) इसी आशय से गकरमिश्र आगे कहते हैं कि पृथिव्यादि कार्य के
कर्तारूप से, अथवा वेद के वक्ता के रूप से पूर्वोक्त अनुमानप्रमाण द्वारा सिद्ध पुरुष
धौरेय (क्षेष्ठ) आत्माओं में अग्रेसर ईश्वररूप आत्मा की दोषरहितरूप से ही
उपस्थिति होती है । ऐसा होने से उक्त रूप निर्दोष ईश्वररूप आत्मा के वचनों में
निरभिधेयता (अर्थ से धूम्यता) तथा विपरीत अभिधेयता (विपरीत अर्थयुक्तता),
तथा निष्प्रयोजनाभिधेयता (प्रयोजनरहित अर्थबोधकता) नहीं हो सकती, क्योंकि
पृथिवी आदि भूतद्रव्य, इन्द्रिय तथा मन के दोष से भ्रम, प्रमाद तथा इन्द्रियों की
असमर्थता इत्यादिको के कारण ही वचनों में अशुद्धियां हो सकती हैं, और ईश्वर
के वचनों में उन अशुद्धियों का होना असम्भव है, इसी कारण विद्वानों ने—रागा-
शानादिभिः=अनुराग, अज्ञान अङ्गकार आदि दोषों के कारण, वक्ता=वक्ताकेवाला,
प्रस्तत्वात्=प्रस्त होने के कारण, अनृत=मिथ्या वचन को, वदेत्=कहेगा । ते च=
और ये रागादि दोष, ईश्वरे=ईश्वर में, न विद्यन्ते=नहीं हैं, स=यह ईश्वर, ब्रूयात्
=कहेगा, वच=कैसे, अन्यथा=विपरीत (असत्य) " इति=ऐसा कहा है ॥ ८ ॥

'इस ईश्वर ने वेद बनलाया है इसी में विवाद है ? ऐसी शक्त के समाधानार्थ
सूत्रकार कहते हैं—

तद्वचनादात्मनायस्य प्रामाण्यमिति ॥ ९ ॥

इति शास्त्रपरिसमाप्तौ । तद्वचनात्तेनेश्वरेण वचनात् प्रणयनादात्मनायस्य वेदस्य प्रामाण्यम् । तथाहि वेदास्तावन् पौरुषेया वाक्यत्वादिति साधितं न चास्मदादयस्तेषां सहस्रशःखावच्छिन्नानां वक्तारः सम्भाव्यन्ते, अतीन्द्रियार्थत्वात्, न चातिन्द्रियार्थदर्शिनोऽस्मदादयः । विश्वाप्तोक्ता वेदा महाजनपरिगृहीतत्वात्, यन्नाप्तोक्तं न तन्महाजनपरिगृहीतं महाजनपरिगृहीतत्वेद तस्मादाप्तोक्तम् । स्वतन्त्रपुरुषप्रणीतत्वश्चाप्तोक्तत्वम् । महाजनपरिगृहीतत्वञ्च सर्वदर्शनान्तःपानिपुरुषानुष्ठीयमानार्थत्वम् । क्वचिन् फलाभावः कर्मकर्तृसाधनदेगुण्यादित्युक्तम् । कर्तृस्मरणाभावात्तर्वामिति चेन्न, कर्तृस्मरणस्य पृथमेव साधितत्वात् । तत्प्रणीतत्वञ्च स्वतन्त्रपुरुषप्रणीतत्वादेव सिद्धम्, न त्वस्मदादीना

पदपर्यवर्त्य—तद्वचनात्=उस ईश्वर से उक्त निमित्त होने के कारण, आत्मनायस्य=वेद की, प्रामाण्यं = प्रमाणता है, इति = इस प्रकार ॥९॥

भावार्थ—लौकिक वाक्यों के समान वेदवाक्यों में भी समानरूप से पुरुषोक्तता की सिद्धि पूर्वप्रणय में सिद्ध कर चुके हैं, अतः ईश्वररूप पुरुषविशेष से निमित्त होने के कारण वेद प्रमाण हैं, यह सिद्ध है ॥ ९ ॥

उपसर्कार—इस सूत्र में 'इति' यह शब्द वैदिकदर्शनशास्त्र की समाप्ति का बोधक है । 'तद्वचनात्' इस पद का अर्थ है ईश्वर से 'वचनात्' उक्त निमित्त होने से आत्मनाय (वेद) प्रमाण है । वह इस प्रकार है कि वेद पुरुषविशेष से उक्त हैं, वाक्य होने से, ऐसा पूर्व में सिद्ध कर चुके हैं । हजारों शाखाओं में विस्तृत उन वेदों के हमारे ऐसे जीवात्मा वक्ता नहीं हो सकते, क्योंकि वेद में हमारे ऐसे जीवों की अतीन्द्रिय (प्रत्यक्ष न होनेवाले) स्वर्ग, अपूर्व तथा देवता आदि पदार्थों का वेदों में वर्णन किया गया है । तथा वेद, आत्म पुरुष से उक्त नहीं होता यह महाजनो से स्वीकृत नहीं होता, और यह वेद तो महाजनो से स्वीकृत है इस कारण आत्म ईश्वर पुरुष से उक्त है । स्वतन्त्र पुरुष से निमित्त होना ही आप्तोक्तता होती है । सम्पूर्ण दर्शनशास्त्रों की माननेवाले पुरुषों से जिसके विषयों का आचरण बिना जाय वह सम्पूर्ण महाजनो से स्वीकृत कहाता है । यदि कहीं वैशेषिक कर्म से फल नहीं होता तो वह कर्तृ, कर्म, साधन इनके वंगुण्य (अगहनीयता) के कारण नहीं होता ऐसा कह चुके हैं । यदि 'वेद के कर्ता का स्मरण नहीं होने से वेद पुरुषोपेय (ईश्वरोक्त) नहीं हो सकता' ऐसी पूर्वपक्षी संका करे तो, यह ठीक नहीं है, क्योंकि वेद के कर्ता का स्मरण है यह भी पूर्वप्रणय में सिद्ध कर चुके हैं । स्वतन्त्र पुरुष से निमित्त होने से ही वेद में ईश्वर से निमित्त होना सिद्ध होता है, क्योंकि हमारे ऐसे जीवात्माओं की हजारों शाखा वाले वेद के निर्माण करने में स्वतन्त्रता

सहस्रशास्त्रवेदप्रणयने स्वातन्त्र्यं सम्भवतीत्युक्तत्वात् । किञ्च प्रमाया गुणजन्य-
त्वेन वैदिकप्रमाया अपि गुणजन्यत्वमावश्यकम् । तत्र च गुणो वक्तृयथार्थ-
वाक्यार्थज्ञानमथ वाच्यः, तथाच तादृश एव वेदे वक्ता, यः स्वर्गोपूर्वादिविष-
यकसाक्षात्कारवान्, तादृशश्च नेश्वरान्य इति सुष्ठु ॥ ९ ॥

अकृत भवानीतनयो भवनाथमुतो भवार्चने निरत ।

एत ऋणसूत्रोपस्कारः सङ्कुरः श्रीमान् ॥

इलाघास्पदं यद्यपि नेतरेषामियं कृतिः स्यादुपहासयोग्या ।

तथापि शिष्यैर्गुरुगौरवेण परस्सहस्रैः समुपासनीया ॥

इति श्रीशाङ्करे वैशेषिकसूत्रोपस्कारे दशमाध्यायस्य

द्वितीयमाह्निकम् । समाप्तश्चायं दशमाध्यायः ।

समाप्तश्चेद राक्षम् ।

नहीं हो सकती यह भी कह चुके हैं । इसी प्रकार प्रमा (यथार्थ ज्ञान) की गुणो
से उत्पत्ति होने के कारण, वेद के अर्थ का यथार्थ ज्ञान का भी गुणो से उत्पन्न होना
आवश्यक है । और उसमें वह गुण वक्ता का यथार्थ वाक्य के अर्थ को विषय करनेवाला
ज्ञान ही यह कहना पड़ेगा, ऐसा होने से उसी पुष्टविशेष को वेद का वक्ता कहना
होगा, जो वेद में उक्त स्वर्ग, अपूर्व तथा देवता आदिको का प्रत्यक्षरूप ज्ञान का
आधार हो, ऐसा वक्ता ज्ञानगुह्य ईश्वर से भिन्न नहीं हो सकता यह कहना
ठीक है ॥ ९ ॥

अकृत = किया, भवानीतनय = भवानी नामक माता के पुत्र, भवनाथमुत =
भवनाथ नामक पिता के पुत्र, भवार्चने = शिव की आराधना में, निरत = तपस्व, एत
= इस, ऋणसूत्रोपस्कार = ऋणादिमुनि के बनाये सूत्रों की उपस्कार नामक व्याख्या
को, वाकर = शहरमिश्र, श्रीमान् = श्री युक्त ने ।

इलाघास्पद = प्रथमा के योग्य, यद्यपि = यद्यपि, न = नहीं होगी, इतरेषा = दूसरों
के लिये, इय = यह, कृति = व्याख्या करता, स्यात् = होगी, उपहासयोग्या = हँसी के
योग्य । तथापि = तथापि, शिष्यैः = शिष्यों से, गुरुगौरवेण = गुरु के गौरव के कारण,
परस्सहस्रैः = हजारों में अधिक शिष्यों से, समुपासनीया = उपासना की जाने
योग्य है ।

इस प्रकार श्रीशङ्करमिश्र कृत वैशेषिक सूत्रोपस्कार नामक व्याख्या में दशमाध्याय
का द्वितीयाह्निक समाप्त हुआ । दशमाध्याय भी समाप्त हुआ । और यह
वैशेषिकदर्शन शास्त्र भी समाप्त हुआ ।

वैशेषिकसूत्रानुक्रमणिका

अ	अ.	आ.	स.	अ.	आ.	स.
अग्नेरूपवैजलजम्	५	२	१३	अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन्	३	१ १५
अज्ञानाच्च	३	१	६	अप्सु तेजसि	७	१ ४
अशुत्वमहावयो	७	१	१४	अप्सु क्षीतता	२	२ ५
अशुत्वमहृष्वाम्याम्	७	१	१६	अमिद्यस्तत्रे	५	१ ३
अणु महदिति	७	१	११	अभिघाताम्मुसल	५	१ ५
अणुसंयोगा	४	२	४	अभिम्यक्तौ दीपाश्च	२	२ ३०
अणोर्महत्तम	७	१	८	अभिषेचनोपवास	६	२ २
अतो विपरीतम्	७	१	१०	अभूतं नास्तीत्यनर्थान्तरम्	९	१ ९
अधातो धर्मम्	१	१	१	अभूदित्यपि	१०	१ ४
अदुष्टं विद्या	९	२	१२	अपतस्य शुचि	६	२ ८
अदृष्टाच्च	६	१	१२	अयमेव त्वया	८	२ १
अद्रव्यत्वेन	२	१	१३	अरुपित्यवाप्नुयानि	४	१ १२
अद्रव्यवत्त्वेन	२	१	११	अर्थ इति द्रव्यगुणकर्मसु	८	२ ३
अनित्य इति	४	१	४	अर्थान्तरं च	६	२ ७
अनित्यश्चायम्	२	२	२८	अर्थान्तरं ह्यर्थान्तरस्य	३	१ ८
अनित्येऽनित्यम्	७	१	१८	अविद्या	४	१ ५
अनित्येष्वनित्या	७	१	५	अविद्या च	७	१ २१
अनियतदिग्देश	४	२	६	अशुचीति	६	२ ६
अनेकद्रव्यवत्त्वेन	१	२	११	असत् क्रियागुण	९	१ ३
अनेकद्रव्यसमवायाच्च	४	१	८	असति चाभावात्	६	२ ९
अन्यतरकर्मज	७	२	९	असति नास्तीति	७	२ १७
अन्यत्रान्येभ्यो	१	२	६	अमदिति भूत	९	१ ६
अन्यदेव हेतु	३	१	७	असमवायाच्च	१	१ २६
अपरस्मिन् परम्	२	२	६	असमाहितान्ति कर्णा	९	१ १३
अपसर्पणमुपसर्पणम्	५	२	१७	अस्येदं कार्यकारण	९	२ २
अपा सङ्घातो	५	२	८	अस्येदं कार्यम्	९	२ १
अपा संयोगाच्च	५	२	११	अस्येदमिति	९	२ ५
अपा संयोगाभावे	५	२	३	अहमिति प्रत्यगाहमनि	३	२ १४

	अ	आ	सू-		अ	आ	सू-
अहमिति मुख्योप	३	२	१८	एकद्वयमगुणम्	१	१	१७
अहमिति शब्दस्य	३	२	९	एकार्थममवाधि	१०	१	६
आ				एतदनित्ययो	७	२	८
आत्मकर्मसु	६	२	१६	एतेन कर्माणि	५	२	२२
आत्मकर्म हस्त	५	२	६	एतेन गुणत्वे	४	१	१३
आत्मन्यारममनसो	९	१	११	एतेन दिगन्तरालानि	२	२	१६
आत्ममनःसयोग	९	२	६	एतेन दीर्घत्वद्वस्वरवे	७	१	१७
आत्मसमवायात्	९	१	१५	एतेन नित्येषु	७	१	३
आत्मसयोग	५	१	३	एतेन विभागो	७	२	१०
आत्मात्तरगुणानाम्	६	१	६	एतेन द्वाद्द्व्यख्यातम्	९	२	३
आत्मेन्द्रियमनोऽर्थ	५	२	१५	एतेन हीनसम	६	१	१२
आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षात्	३	१	१८	एतेनाऽधटो	९	१	८
आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे	३	२	१	एतेनोष्णता	२	२	३
आदित्यसयोगात्	२	२	१४	क			
आर्यं सिद्धदर्शनम्	९	२	१३	कर्म कर्मसाध्यम्	१	१	११
इ				कर्मभिः कर्माणि	७	१	१५
इच्छाद्वेपपूर्विका	६	२	१४	कर्मभिः कर्माणि	७	२	१२
इत इवमिति	२	२	१०	कर्मभिः कर्माणि	७	२	२४
इन्द्रियवैपात्	९	२	१०	कर्मसु भावात्	१	२	१५
इन्द्रियार्थाऽप्रसिद्धि	३	१	२	कारणगुणपूर्वक	२	१	७४
इयाव युगपत्	५	१	१६	कारणगुणपूर्वका	७	१	६
इष्टाऽनिष्टकारणे	१०	१	१	कारणपरत्वात्	७	२	२२
इहैदमिति यत्	७	२	२६	कारणवहुत्वाच्च	७	१	९
उ				कारणमिति द्वये	१०	२	१
उक्ता गुणा	७	१	१	कारणसमवायात्	१०	२	५
उत्प्रेषणमपक्षेपणम्	१	१	७	कारणसामाग्ये	१	१	३१
उभयथा गुणा	१	१	१३	कारणाऽकारणसमवायाच्च	१०	७	६
ए				कारणाऽज्ञानात्	३	१	४
एककालत्वात्	७	१	१२	कारणान्तरानु	२	१	२२
एकत्वाभावात्	७	२	६	कारणाभावात्	१	२	१
एकवैकपृथक्त्वयो	७	२	३	कारणमावात्	४	१	३
एकद्विकाभ्याम्	७	२	२१	कारणाऽभ्युपपत्त्यात्	८	१	११
एकदेशे इत्येकस्मिन्	१०	१	७	कारणे काल	७	१	२५
एकद्वयत्वात्	७	१	७	कारणेन काल	५	२	२६
एकद्वयत्वाच्च	२	२	२३	कारणे समवायात्	१०	२	३
				कारणं त्वसमवायिनो	५	२	२४
				कार्यकारणयोरेकत्वैक	७	२	७

अ. आ. सू.	अ. आ. सू.
कार्यविरोधि	१ १ १४
कार्यविरोधेण	२ २ १३
कार्य कार्यान्तरस्य	३ १ १०
कार्यान्तराऽप्रादुर्भावाच्च	२ १ २५
कार्येषु ज्ञानात्	३ १ ५
क्रियागुणवत्	१ १ १५
क्रियागुणव्यपदेशाभावात्	९ १ १
क्रियावत्त्वात्	२ १ १२
ग	
गुणकर्मसु गुण	८ १ ८
गुणकर्मसु च	१ २ ९
गुणकर्मसु सन्निकृष्टेषु	८ १ ४
गुणत्वात्	७ २ १४
गुणवैधर्म्यात्	१ १ २४
गुणस्य सत्तोऽपवर्ग	२ २ २५
गुणान्तराऽप्रादुर्भावाच्च	४ २ ३
गुणैर्गुणा	७ २ २५
गुणैर्दिग्व्याप्यता	५ २ २५
गुणैर्दिग्व्याप्यता	७ १ २४
गुणोऽपि विभाव्यते	७ २ १५
गुणत्वप्रयत्न	१ १ २९
घ	
चातुराश्रयम्	६ २ ३
ज	
जातिविशेषाच्च	६ २ १३
ज्ञाननिर्देशे	८ १ ३
त	
त आकाशे	२ १ ५
तच्च शरीरम्	४ २ ५
तत्र विस्फूर्ज्युर्लिङ्गम्	५ २ ९
तत्राग्रा मनश्च	८ १ २
तत्पुन श्रुतिव्यादि	४ २ १
तत्त्वम्भावेन	२ १ २९
तत्त्वम्भावेन	५ २ ८
तत्त्वम्भावेन	२ २ १२
तत्त्वम्भावेन	७ २ २८
तत्त्वमथायात्	९ १ १४
तत्त्वयोगो विभाग.	६ २ १८
तथा गुणः	१ १ १९
तथा गुणेषु	१ २ १३
तथात्मसंयोगो	५ १ ४
तथा दक्षिणा	२ २ १५
तथा दग्धस्य	५ १ १२
तथा द्रव्यान्तरेषु	९ १ १२
तथापस्तेजो	८ २ ६
तथा धृषण्यम्	७ २ २
तथा प्रतिग्रह.	६ १ ४
तथाऽभावे भाव	९ १ ७
तथा रूपे कारणैकार्थ	१० २ ४
तथा विरुद्धानाम्	६ १ १३
तथा स्वप्न	९ ३ ७
तथा हस्तसंयोगात्	५ १ २
तददुष्टे न विद्यते	६ १ ९
तदनारम्भ	५ २ १६
तदनुविधानात्	२ १ ३१
तदभावादणु मन	७ १ २३
तदभावे संयोगाभावो	५ २ १८
तदलिङ्गम्	२ १ २१
तद्वदुष्टज्ञानम्	९ २ ११
तद्वदुष्टभोजने	६ १ ६
तन्मयत्वाच्च	६ २ ११
तद्वचनादात्मनायस्य	१ १ ३
तद्वचनादात्मनायस्य	१० २ ९
तद्विशेषेणादृष्ट	५ २ २
तयोर्निष्पत्ति.	१० १ ३
तस्मादागमिक	३ २ ८
तस्मादागमिकम्	२ १ १७
तस्य कार्यं लिङ्गम्	४ १ २
तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे	३ २ २
तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे	३ २ ५
तस्य समभिव्याहरणे	६ १ ८
तस्याभावादव्यभिचारः	४ १ १०

अ. आ. सू	अ. आ. सू
सुखजानीयेत्वर्थांतर २ १ २२	ध
सृजे कर्म ५ १ १४	धर्मविशेषप्रसूतात् १ १ ४
तेजस उष्णता २ २ ४	धर्मविशेषाच्च ४ २ ७
तेजसो द्रव्यान्तरेणावरणाच्च ५ २ २०	धर्माच्च ९ २ ९
तेजो रूपस्पर्शवत् २ १ ३	न
तेन रसगन्धस्पर्शेषु ४ १ ९	न च दृष्टानां स्पर्श २ १ १०
अपुंसि सङ्गौह २ १ ७	न चाऽग्निद्वयम् २ २ २९
इ	न तु कार्याभावात् १ २ २
द्विकालावाकाशं च ५ २ २१	न तु क्षरोर *ज्ञान विषय ३ २ १७
दुष्ट हिंसायाम् ६ १ ७	न द्रव्य कार्य कारणञ्च
दृष्ट आत्मनि ३ २ ११	वधति १ १ १२
दृष्टञ्च दृष्टवत् २ २ १८	न द्रव्याणां गुणकर्म १ १ २१
दृष्टादृष्टप्रयोजनानाम् ६ २ १	नाह्यो वायुसंयोगात् ५ २ ५
दृष्टानां दृष्टप्रयोजनानाम् १० २ ८	नाऽपि कर्म २ २ २४
दृष्टागताच्च ७ १ १३	नाऽस्ति घटो गोहे ९ १ १०
दृष्टेषु भावात् ८ २ २	नित्यम्परिमण्डलम् ७ १ २०
देवदत्तो गच्छति ३ २ १२	नित्यवैधर्म्यात् २ २ २७
देवदत्तो गच्छतीत्युपचारात् ३ २ १५	नित्ये नित्यम् ७ १ १९
द्रव्यात् स्वयन्दनम् ५ २ ४	नित्येत्वभावात् २ २ ९
द्रव्यगुणकर्मणाम् १ १ १८	निष्क्रमणं प्रवेशनम् २ १ २०
द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्ति ५ २ १९	निष्क्रियत्वात् ७ २ २३
द्रव्यगुणकर्मण्यो १ २ ८	निष्क्रियाणाम् ५ २ १६
द्रव्यगुणयो १ १ ९	नि सक्यत्वात् ७ २ ४
द्रव्यत्वगुणात् ७ २ २७	नोदनविशेषादुदसनम् ५ १ १०
द्रव्यत्वनित्यत्वे २ १ २८	नोदनविशेषाभावात् ५ १ ८
द्रव्यत्वमित्यस्ये २ २ ७	नोदनादाद्यमित्यो कर्म ५ १ १७
द्रव्यत्वनित्यत्वे २ २ १२	नोदनापीडनात् ५ २ ६
द्रव्यात्वं गुणात् १ २ ५	नोदनाभिघातात् ५ २ १
द्रव्याणां द्रव्यम् १ १ २३	प
द्रव्याणि द्रव्यान्तरम् १ १ १०	परत्र समवायात् २ १ २६
द्रव्याभ्रव्यगुणवान् १ १ १६	परत्वाऽपरत्वयो ७ २ २३
द्रव्ये द्रव्यगुण ८ १ ७	परिशेषात् २ १ २७
द्रव्येषु ज्ञानम् ८ १ १	गुनविशिष्टे ६ १ १०
द्रव्येषु पञ्चात्मकावम् ८ २ ४	गुणवस्त्रयो २ २ १
द्रव्येष्वनितरेतर ८ १ १०	पृथिवीकर्मणा ५ २ १२
द्रव्योस्तु प्रवृत्त्योरभावात् २ २ ३३	पृथिव्यादिरूपरस ७ १ २
द्वित्वप्रभृतयः १ १ २५	

	अ.	आ.	सू.		अ.	आ.	सू.
एधिव्यापस्तेजो	१	१	५	र			
प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात्	२	१	१९	रूपरसगन्धस्पर्शवती	२	१	१
प्रत्यक्षाऽप्रत्यक्षाणाम्	४	२	२	रूपरसगन्धस्पर्शव्यति	७	२	१
मान्शब्दात्	२	२	३४	रूपरसगन्धस्पर्शा.	१	१	६
विशिरोषात्	५	१	९	रूपरसस्पर्श	२	१	२
ज्ञाऽयौगपद्यात्	३	२	३	रूपाणां रूपम्	१	१	२८
वृत्तिनिवृत्ती च	३	१	१९	ल			
सेदा इन्द्रियायां.	३	१	१	लिङ्गाच्चानित्यः	२	२	३२
सेद्विपूर्वकात्वात्	३	१	१४	व			
णापाननिमेषोन्मेष	३	२	४	वायुसन्निकर्ष	२	१	१५
य				वायोर्वायुसम्पर्दनस	२	१	१४
विपूर्वा वाक्यवृत्तिः	६	१	१	विद्याऽविद्यातश्च	२	२	२०
विपूर्वो ददाति.	६	१	३	विभवान्महानाकाशः	७	२	२२
अग्ने संज्ञाकर्म	६	१	२	विरोध्यभूतम्	३	१	११
भ				विशिष्टे आत्मत्याग	६	१	१६
भावदोष	६	२	४	विपाणी ककुभान्	२	१	८
भावोऽनुवृत्तेरेव	१	२	४	वृत्ताभिसर्पणम्	५	२	७
भूतमभूतस्य	३	१	१२	वेद लिङ्गाच्च	४	२	११
भूतो भूतस्य	३	१	१३	वेदिकं च	५	२	१०
भूयस्त्वात्	८	२	५	व्यतिरेकात्	१	१	२२
भ्रान्तं तद्व	७	२	५	व्यवस्थातो नाना	३	२	२०
भ				व्यवस्थित	२	२	२
भणिगमनम्	५	१	१५	श			
महत्पनेक	५	१	६	शब्दलिङ्गाविशिषात्	२	१	३०
य				शब्दार्थाविसम्बन्धौ	७	२	१८
यच्चान्यदसत्.	९	१	५	शास्त्रसामर्थ्याच्च	३	२	२१
यज्ञदत्त इति	३	२	६	श्रोत्रग्रहणो योर्यः	२	२	२१
यतोऽभ्युदय	१	१	२	स			
यन्नाभावे	५	१	१३	सञ्ज्ञासत्	९	१	४
यथादृष्टम्	२	२	१९	सति च कार्यादर्शनात्	१०	१	५
यदि दृष्टमहमन्वेषम्	३	२	१०	सतो लिङ्गाभावात्	२	२	२६
यदिद्विरूपरस	६	२	५	सत्यपि द्रव्यस्वमहत्वे	४	१	७
यस्माद्विपाणी तस्माद्द्वौ.	३	१	१७	सदकारणवशित्वम्	४	१	१
यस्माद्विपाणी तस्मादस	३	१	१६	सद्वितित्वम्	१	१	८
युतसिद्धपभावात्	७	२	१३				

अ. भा. सू.	अ. भा. सू.
सद्वत्	९ १ २
सदिति यतो	१ २ ७
सदिनि लिङ्गाविशेषात्	१ २ १७
सन्त्ययोनित्वा	४ २ १०
सन्दिग्धस्तूपचारा	३ २ १६
सन्दिग्धा सति	२ २ ३६
सन्दिग्धास्तूपचारा	३ २ १३
समवायिन शैत्यात्	८ १ ९
समाख्याभावाच्च	४ २ ८
समे भान्त्याग	६ १ १५
समे हीने वा	६ १ ११
सम्प्रतिपत्तिभावाच्च	२ २ ३५
सपिर्जनु	२ १ ६
सामयिक	७ २ २०
सामान्यतो दृष्टाच्चाविशेष	२ १ १६
सामान्यतो दृष्टाच्चाविशेष	३ २ ७
सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषा-	
प्रत्यक्षात्	२ २ १७
सामान्यविशेषापेक्षम्	८ १ ६
सामान्यविशेषा	१ २ १०
सामान्यविशेषा	१ २ १२
सामान्यविशेषा	१ २ १४
सामान्यविशेषा	१ २ १६
सामान्यविशेषापेक्षु तत्	
एव ज्ञानम्	८ १ ५
सामान्यं विशेष इति	१ २ ३
सुषुप्तज्ञान	३ २ १९
सुखाद्रागः	६ २
सोऽनपदेश	३ १
संज्ञाकर्म	२ १
संज्ञायाम् आदिख्यात्	४ २
संख्याभावः	२ २
संख्या परिमाणानि	४ १
संयुक्तसमवायात्	१० २
संयोगविभागयोः	७ २
संयोगविभागवेगानाम्	१ १
संयोगविभागाच्च	१ १
संयोगादभाव	२ १
संयोगाद्वा	१० २
संयोगाद्विभागाच्च	२ २
संयोगानां द्रव्यम्	१ १
संयोगाभावे	५ १
संयोगिनो दण्डात्	७ २
संयोगिसमवायेकार्यं	३ १
संशयनिर्णयान्तराभावश्च	१० १
संस्काराभावे	५ १ १
स्पर्शवान् वायु	२ १
स्पर्शश्च वायो.	२ १
स्वप्नान्तिकम्	९ २
ह	
हस्तकर्मणा दारकर्म	५ १ १
हस्तकर्मणा मनस	५ २ १
हीने परे त्याग	६ १ १
हेतुरपदेशो	९ २

